

॥ श्री ॥

हरिकर्मनाम्ना सखारामात्मजेन पुरुषोत्तमशर्मणा भिषजा विरचितं

ग्रन्थकृद्विहितया समीक्षाख्यया व्याख्यया समुपबृंहितम् ।

देवपाण्डे इत्युपनाम्ना वामनात्मजेन हरिहरशर्मणा भिषजा कृतेन

हिन्दीभाषानुवादेन संस्कृतम् ।

शारीरतत्त्वदर्शनम् ।

230.038
9-46 511

नाम

यातादिदोषविज्ञानम्



गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तकालय



विषय संख्या

430.039

पुस्तक संख्या

पु-४६३

आगत पंजिका सं

विषय संख्या

430.039

पुस्तक पर

पु-४६३

लगाना वर्जित है।

आगत पंजिका संख्या

य तक पुस्तक अ

पुस्तकालय

४६३

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

4 FEB 1970

A231/33

JUN 1970

30/5

1971

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

R
530.
SHA-S

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या

आगत संख्या.....

47963

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

8231-8231 6381 67 523



F. S. Hildreth

Wm. T. Hildreth, a Son of F. S. Hildreth, Esq.
Amherst, Mass.

Wm. T. Hildreth, Esq.
Amherst, Mass.

F. M. Felt, Esq.
Business Representative of the Amherst, Mass. Board of
Commons, Amherst, Mass.

Published by—

P. S. Hirlekar,

Working President Bharateeya Ayurvedya Shikshan Samiti
Amraoti (Berar)

ग्रन्थकृदधीनाः पुनर्मुद्रणानुवादादयः सर्वेऽधिकाराः ।

ALL RIGHTS RESERVED BY THE AUTHOR

Printed by—

T. M. Patil Manager

Saraswati Mudranalaya of the Shri Hanuman Vyayam
Prasarak Mandal, Amraoti (Berar).

॥ ॐ ॥

हिलैंकरोपनाम्ना सखारामात्मजेन पुरुषोत्तमशर्मणा भिषजा विरचितम्

ग्रन्थकृद्विहितया समीक्षाख्यया व्याख्यया समुपबृंहितम् ।

देशपाण्डे इत्युपनाम्ना वामनात्मजेन हरिहरशर्मणा भिषजा कृतेन

हिन्दीभाषानुवादेन समलंकृतम् ।

शारीरं तत्त्वदर्शनम् ।

नाम

CHECKED 1973

वातादिदोषविज्ञानम् ।

अमरावत्यां (विदर्भप्रान्ते) श्रीहनुमान व्यायाम प्रसारकमण्डल्य

सरस्वतीमुद्रणालये मुद्रयित्वा

हिलैंकरोपनाम्ना पुरुषोत्तमशर्मणा

भारतीयआयुर्विद्याशिक्षणसमितिकार्याध्यक्षेण प्रकाशितम् ।

R530.SHA-S



47963

मूल्यं ६ रूप्यकाः ।

फा. शु. ६ शके १८६३

ता. २१-२-१९४२ इ.

● अन्ते शाखा वृत्तिः ●

प्रकाश सं०.....
मासः व०.....
दिनि०.....

मुद्रित प्रधान कार्यालय.

430.038
पु 5627

ॐ



श्रीप्राणाचार्यबालशास्त्रिलावगनकरमहोदयाः ।

श्रीमदात्रेयचरकमुश्रुतवाग्भटप्रमुखप्राचीनायुर्वेदसूरिसूक्तीनां यथावदर्थगौरवावि-
ष्कारादायुर्वेदतत्त्वरूपाणां वातादिदोषाणां यथार्थत्वप्रतिपादनात्सुकृष्टातंक्रमशा-
तुरनिवहानां स्वास्थ्यसुखसंवर्धनेनायुर्वेदीयचिकित्सासाफल्यप्रस्थापनादयथा-
कल्पनोदभूतदुर्ग्रहग्रहापवारणादायुर्वेदविज्ञाभास्करं विमलालोकापवारित-
व्याधिव्यूहध्वान्तं विधातुमार्जावनमश्रान्तमेषणापूर्णधिषण्य आयु-
र्वेदाक्षेपनिरासवाग्भटेभ्य आतंकस्मन्तापोपशमनसुधाकरेभ्यः सुतनि-
विशेषेणानुरागेणान्तेवासिजनप्रतिपत्त्रबोधनमित्रेभ्य आयुर्वि-
द्यान्वयविरख्यातलावगनकरान्वयमलंकुर्वद्भ्यो मिषग्वृ-
न्दविभूषणेभ्यः सुप्रथितनामधेयेभ्यःसुरावासवासिभ्यः

श्रीबालशास्त्रिशर्मभ्यो गुरुचरणेभ्यः

शारीरंतत्त्वदर्शनं नाम वातादिदोषविज्ञानम्

इत्याख्योऽयं ग्रन्थः

सश्रद्धादरं समर्पितः ।



भारतीय आयुर्विद्याशिक्षणसमिति, अमरावती

की ओरसे

पाठकोंसे विज्ञप्ति ।

भारतीय आयुर्विद्याशिक्षणसमितिके कार्याध्यक्ष वैद्यभूषण पुरुषोत्तमशास्त्री हिल्लेकरजीका यह 'शरीरं तत्त्वदर्शनम्' नाम वातादिदोषविज्ञानम्' ग्रंथ प्रकाशित करनेमें समितिको नितान्त हर्ष होता है। वै. भू. हिल्लेकरजीका अधिकार आयुर्वेदीयक्षेत्रमें सर्वतोमान्य है। भा. आ. शि. स. के कार्याध्यक्षके नाते आपने समितिके सदस्योंके साथ जो चर्चा की और अपने अद्ययावत् अनुसंधान तथा अनुशीलनका जो परिचय दिया उनको ध्यानमें लेते हुए अपने विचार ग्रंथनिबद्ध करनेकी समितिने आपसे अभ्यर्थना की इस अभ्यर्थनाका स्वीकार कर आपने अतिपरिश्रमपूर्वक इस ग्रंथको निर्माण किया है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रंथके पूर्वार्धके मूलश्लोक शास्त्रीजीने सन १९३० के पूर्वही विरचित किये थे। १९३० के नि. भा. वैद्यसम्मेलनके मैसूरके अधिवेशनमें इस प्रबन्धको प्रथमवर्गीय प्रशंसापत्र तथा स्वर्णपदक प्राप्त हुआ था। और वैद्यसम्मेलनपत्रिकाके १९३१ जनवरीके अंकमें वह प्रकाशित भी किया गया था। उसीके उत्तरभागके मूलश्लोक और समस्त ग्रन्थपर 'समीक्षा' नामकी टीका शास्त्रीजीने समितिके साग्रह अनुरोध करनेपर विरचित की। इसप्रकार यह संपूर्ण व सटीक ग्रंथ प्रकाशमें लानेका सौभाग्य समितिको अब प्राप्त हुआ है। समिति शास्त्रीजीकी कृतज्ञ है।

मूलग्रंथ और टीकाका हिंदी भाषानुवाद समितिके सइमंत्री वैद्यराज श्री. हरिहर वामन देशपांडे, वाङ्मयविशारद, ने कर दिया है। वै. देशपांडेजीने ग्रंथकर्ताके प्रतिपाद्य विषयका अभिप्राय यथावत् ध्यानमें लेकरही अनुवाद लिखा है। मूल संस्कृत श्लोक, उनपर 'समीक्षा' टीका, और दोनोंका मिलकर हिंदी प्रबन्ध-इस प्रकार त्रिविधरूपमें यह ग्रंथ शास्त्री-पंडितों, एवं सामान्य पाठकोंकोभी सुगमावबोध हो सकेगा।

भा आ. शि. समितिके वैद्य तथा डॉक्टरभी सदस्य हैं। आयुर्वेद यह एक केवल पुराना शास्त्र होनेके कारणहि आदर्श मानना चाहिये, इस भूमिकापर समितिका कोईभी सदस्य आरुढ़ नहीं है। बुद्धिवाद एवं शास्त्रीयताके निष्कर्षपर यदि आयुर्वेद टिक न सकेगा तो वह स्वयं उपेक्षाई सिद्ध होगा। और यही समितिके सदस्य वैद्योंकीभी धारणा है। इसी समान भूमिकापर समितिके वैद्यों तथा डॉक्टरोंका सहकार्य चलता आया है।

विज्ञप्ति—लेखकके नाते हमारी निजी भूमिका कुछ भिन्न हो जाती है। “समितिके अध्यक्ष व प्रधानमंत्रीके नाते तो इस ग्रंथकी और हम आयुर्वेदपारंगत विद्वज्जनोंका तथा आयुर्वेदाध्ययनशील छात्रोंका लक्ष्य आकर्षित करना चाहतेही हैं; किंतु साथहीमें पाश्चात्यवैद्यकशास्त्रके उपाधिप्राप्त चिकित्सकके नातेमी हम हमारे सहव्यवसायियोंका ध्यान इस ग्रंथकी ओर खींचना चाहते हैं।” आयुर्वेदीय क्रियाविज्ञान एवं विकृति-विज्ञानके साथ, आयुर्वेदशास्त्रके अधिष्ठाभूत सिद्धान्तोंका इस ग्रंथमें सरल, सुबोध एवं बुद्धिग्राह्य भाषामें संपूर्ण आविष्करण किया गया है। हमारा निजी मत है कि, शास्त्रजिज्ञासु लोगोंकी बुद्धि अंध न होनी चाहिये। एलोपाथीके विकासकी और नेत्रनिमीलन करना, जिस प्रकार आयुर्वेदीय पंडितोंके लिये हितकर न होगा, उसीप्रकार पाश्चात्यवैद्यकविज्ञानवेत्ताओंकाभी यह कर्तव्य हो जाता है कि, लगभग पांच सहस्रवर्षोंसे जिस शास्त्रने संसारके एक बड़े भारी विभागपर अपना अधिकार जमा रखा है और १५० वर्षोंके पश्चिमी विज्ञानके आक्रमणके बादभी जो शास्त्र आज न केवल यथातथा जीवित है, अपितु राज्यशासनकर्ताओंकेभी पुरस्कारको प्राप्त हो रहा है, उसकी वे उपेक्षा नहीं कर सकते और न उसके संबंधमें अज्ञानमें रहना उचित मान सकते हैं।

हम जानते हैं कि, हम स्वयं आयुर्वेदके पंडित नहीं हैं। अर्थात् प्रस्तुत जैसे ग्रन्थपर अभिप्राय प्रकट करना न हमारा कर्तव्य है, न मन्तव्य। किंतु इतना प्रतिपादन कियेबिना हमसे नहीं रहा जाता कि, वातादि तीन दोष, रस-रक्तादि सात धातु और मलमूत्रादि मल—इनकी आजतक हमलोग जो रूढ़ व

स्थूल कल्पना करलेते थे, वह कितनी अयथार्थ थी और उनका वास्तविक स्वरूप क्या है आदि बातोंका प्रस्तुत ग्रंथद्वारा जितना सम्यक् परिचय हो सकता है उतना आयुर्वेदीय प्रणालीके याथार्थ्यका परिचायक अन्य ग्रंथ हमारे निदर्शनमें अभीतक नहीं आया है।

आयुर्वेदीय संसारकी सामान्य भाषा संस्कृत होनेके कारण, आसेतुहिमाचलप्रसृत वैद्यसमाजकी दृष्टीसे इस ग्रंथकी रचना संस्कृत भाषामें करना उचित समझा गया। तथा राष्ट्रभाषा हिंदीमें उसका सरल अनुवाद किया जानेसे संस्कृतानभिज्ञ जिज्ञासु लोगोंकीभी सुविधा हो गयी है।

ग्रंथके साथमें जिन खनामधन्य आयुर्वेदीय पंडितों एवं विद्वज्जनोंके अभिप्राय प्रकाशित किये गये हैं, उन्होंने अपनी अधिकार वाणीसे ग्रंथस्वरूपका आविष्करण किया है। समितिके पदाधिकारीके नाते हमारा इतनाही कर्तव्य है कि, ग्रंथ जनताके सन्मुख उपस्थित करें। इस पूर्ण विश्वासके साथ हम इस ग्रंथका प्रकाशन कर रहे हैं कि, आयुर्वेदीय पंडितों, विद्वज्जनों, आयुर्वेदविद्यालयोंके अध्यापकों एवं छात्रों, तथा ऐलोपाथीकेभी चिकित्सकोंके आदरको यह ग्रंथ पात्र होगा।

स्थानीय हनुमानव्यायामप्रसारक मंडलके सरस्वती मुद्रणालयने बहुत परिश्रमके साथ ग्रंथका मुद्रण किया है। अतः वह धन्यवादई है। ग्रंथप्रकाशनके लिये वर्तमानपरिस्थिति सर्वथा प्रतिकूल है। मुद्रणमूल्य बढ़ गया है। कागजका मूल्य तो अतिशय बढ़ गया है और फिर समयपर मिलनाभी कठिन है। किंतु सब अडचनोंको लांघकर सरस्वती मुद्रणालयने इस ग्रंथका मुद्रणकार्य अंततक कर दिया, व्यवसायव्यापृतताके कारण संभाव्य मुद्रणदोषोंके लिये हम पाठकोंसे क्षमा प्रार्थना करते हैं और शुद्धिपत्रकी ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हैं।

अध्यक्ष— (डॉ.) क. वि. भिवापुरकर, एम्. बी. बी. एस्.
डी. ओ. एम्. एस्. (लंदन) (नेत्रचिकित्सा-
विशारद—मेयो हॉस्पिटल, नागपुर.)

प्रधानमंत्री— (डॉ.) (रावसाहेब) श्री. वि. भागवत, बी. एस्सी.
एम्. बी. बी. एस्.

भारतीय आयुर्विद्याशिक्षणसमिति, अमरावती।



श्री लोकनाथक नामदार माधव श्रीहरि उर्फ बापूजी अणे

यांचा अभिप्राय—

श्री. वैद्यभूषण पुरुषोत्तम शास्त्री हिलेंकर यांनी आयुर्वेदाच्या उद्धारार्थ जो उद्योग चालविला आहे त्याबद्दल मी त्यांचें मनःपूर्वक कौतुक करतो. कारण या विपरीत काळांत कठिण मार्गानें जाण्याचा कोणीही विचार देखील करीत नाही. पाणी ज्याप्रमाणें खोल भागाकडे आपोआप वळतें त्याप्रमाणें मानवी प्रवृत्तिहि सुलभतेस अनुसरून चालूं लागते. आयर्ती तयार औषधें, खलांत घालून घोटण्याची जरूरी नाही व उखळींत ठेऊन कुटण्याची अवश्यकता नाही किंवा विस्तवावर ठेऊन तापविण्याचीही पंचाईत नाही, अशी विनकटी शुश्रूषा करणारे दवाखाने पाश्चात्य पद्धतीच्या वैद्यांनी काढले व आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रतिष्ठाच्युत होऊन गांवांतील प्रतिष्ठित वस्ती सोडून सैरावैरा भटकूं लागली. खेड्यापाड्यांतून जंगली व रानटी वगांतून व्हावयाच्या संचारालाहि मिशनरी दवाखाने आणि धर्मार्थ [मोफत] दवाखाने निघूं लागल्यामुळे व्यत्यय यावयास लागला. सारांश ती देशोधडीस लागण्याचा कठिण प्रसंग निर्माण झाला. आयुर्वेदविशारद वैद्य आणि “ नाका डोळ्याचा वैदू ” यांमध्ये पोषाख करण्याची पद्धति व बोलण्याची भाषा यापेक्षां फारसा फरक नाही; अशी या आयुर्वेदज्ञांची टवाळी करण्यांत भूषण मानणारे विद्वान् आपल्या तिरस्कारपूर्ण उद्दारांनी आयुर्वेदाचे अस्तित्वावरच कुठार घालून एकाद्या मारेकऱ्याप्रमाणें ठार करण्यास सिद्ध झालेले आजही दृष्टीस पडतात. वात पित्त कफ या त्रिदोषांचें मर्म समजून घेण्याचे ऐवजी पळसास पानें तीन, बेलास पानें तीन, आरतीत वाती तीन, त्रिफळ्यांत औषधी तीन, त्याप्रमाणें दोषही तीन; याशिवाय ते तीन मानण्याचें दुसरे कारण नाही, असें विद्वान् समजल्या जाणाऱ्या डॉक्टरांनें लिहून ठेवले आहे. “ वाग्भटाच्या बडोदें संस्थानचे आश्रयाखालीं प्रसिद्ध झालेल्या ग्रंथास कै. डॉ. गर्दे यांनी जी विस्तृत प्रस्तावना लिहिली आहे ती वाचून पाहिली असतां अलोपॅथीच्या शास्त्रीयत्वाच्या वृथा अभिमानास बळी पडून आमच्यांतील कांहीं विशिष्ट तऱ्हेचे

लोक कसे निर्बुद्ध व स्वाभिमानरहित होत गेले हैं चांगलेंच प्रत्ययास आल्याशिवाय रहात नाहीं.” आयुर्वेद हा धन्वन्तरिप्रणीत वेद आहे. जगतांत निरामयता निर्माण करण्याकरतां धन्वन्तरि जो अमृतकुंभ हातांत घेऊन समुद्र-मंथनसमयीं अवतीर्ण झाल्याची कथा पुराण ग्रंथांतून वर्णिलेली आहे तो अमृतकुंभ ह्मणजे हा आयुर्वेदच होय, असें मला वाटतें. देवांना हें शास्त्र पूर्णपणें अवगत झालें. अश्विनीकुमारांनीं तें अधिगत करून देवानां अमर करून सोडलें. असुर हे या शास्त्ररूप अमृतपानास मुकले. ते मृत्यूच्या पंथास लागले. आपसांतील कलहानें, वृथाभिमानानें, आसुरी संपत्तीच्या मदनें बहुविध आधिव्याधींच्या भक्ष्यस्थानीं पडून ते नामशेष झाले. हा आयुर्वेदरूप अमृतकुंभ आमच्यासमोर धन्वन्तरिसंप्रदायांतील मोठमोठ्या चरक, सुश्रुत इत्यादि आचार्यांनीं जगद्विख्यात संहिता लिहून स्वर्गांतून या मर्त्यलोकांत आणून ठेवला. व या पृथ्वीतलावरील मनुष्यजातीवर अपरिमित उपकारांचें ऋण करून ठेवलें आहे. त्या ऋषिऋणाची फेड ब्रह्मयज्ञानें ह्मणजे त्यांनीं उपलब्ध करून दिलेल्या ज्ञानाचें मननपूर्वक परिशीलन करून व त्याचा जगद्धितार्थ विस्तार करून करणें अवश्य आहे. पण या मार्गानें जाण्याकडे इंग्रजी वैद्यकज्ञानी डॉक्टरांची प्रवृत्ति नाही. सरासरीं २०-२५ वर्षांपूर्वी आयुर्वेद हा आपल्या अंतिम शय्येवर पडून आपले उरलेले दिवस कंठीत आहे व शेवटले श्वास सोडीत आहे असें अनुक्रमणीय दृश्य डोळ्यांसमोर येऊन हिंदी संस्कृतीच्या अभिमान्यांचे मनावर एक प्रकारची विषण्णता निर्माण होत होती. त्यांतच आयुर्वेदाचे ग्रंथ संस्कृत भाषेत व ती मृतभाषा समजण्यांत आल्यामुळें तिच्या अध्ययनाविषयींची अनास्था वाढत्या प्रमाणावर होऊं लागली आहे. आणि शास्त्र व त्याच्या अध्ययनाचें साधन या दोन्हीची उपेक्षा वरिष्ठ वर्गाकडून होत असल्यामुळें आयुर्वेदाची मुळी टिकवून कशी ठेवतां येईल, असा प्रश्न उपस्थित झाला. अमृताला आपण जिवंत कसें रहावे व आपणांस मृत्यु अथवा अपमृत्यु कसा टाळतां येईल असा प्रश्न त्याचेसमोर येऊन पडला.

परंतु सुदैवानें गेल्या २५ वर्षांत आयुर्वेदाचा पुनः उद्धार होण्याची सुचिन्हें दिसूं लागलीं. भारतीय अभ्युत्थानाचे युगास आतां आरंभ झाला आहे. अजून पहाट फुटावयास वेळ आहे हें खरें; सूर्योदय तर लांबच आहे. पण

मध्यरात्रि संपून कालोखाच्या साम्राज्यास ओहोटी लागली आहे, व क्षितिजावर प्रभातताऱ्यांची भावी भाग्योदयाची आशा निर्माण करणारी निर्मल व तेजस्वी किरणें आपल्या उत्साहवर्धक स्पर्शानें गारठलेल्या जीवनांत नवीन आशेची उब निर्माण करीत आहेत. प्राचीन विद्यांचा, कलांचा आणि संस्कृतीचा उद्धार करण्याचे प्रयत्न लहानमोठ्या प्रमाणांत चोहोंकडे सुरू आहेत. त्यांतच आयुर्वेद-परिषदा, आयुर्वेदशिक्षणालये, आयुर्वेदीय दवाखाने, आयुर्वेद-ग्रंथसंपत्तींत नूतन संस्कृत व देशीय भाषांतून ग्रंथ निर्मितीनें होणारी भर इत्यादि प्रकार सुरू असलेले दृष्टीस पडतात. आयुर्वेदांत नवीन शास्त्रीय ज्ञानाची भर घालण्याठी कांहीं ग्रंथ संस्कृतमध्ये लिहिण्यांत येत आहेत. कविराज् डॉ. गणनाथसेन, डॉ. मुंजे वगैरेनीं या दिशेनें केलेला उद्योग आयुर्वेदज्ञानाच्या क्षेत्रविस्ताराच्या दृष्टीनें फार महत्वाचा आहे. आयुर्वेदसिद्धांत नवीन परिभाषा व विचारसरणीच्या आश्रयानें समजून सांगण्याचे प्रयत्नांत तपस्वी बाबासाहेब परांजपे व प्रस्तुत ' शारीरं तत्त्वदर्शनम् ' या ग्रंथाचे कर्ते वैद्यभूषण हिल्लेकर शास्त्री यांचे उद्योग विशेष उल्लेखनीय आहेत. असल्या प्रयत्नांचा परिणाम आयुर्वेदाच्या सशास्त्र व सोपपत्तिक अध्ययनास व त्याच्या व्यावहारिक उपयोगास फार सहाय्यक व प्रोत्साहक होईल यांत शंका नाही. या विषयावर अधिक लिहिण्याचा माझा अधिकार नसल्यामुळे शास्त्रीबोवांच्या या अपूर्व सुंदर कृतीबद्दल त्यांचें मनःपूर्वक अभिनंदन करून त्यांनीं आरंभलेल्या उद्योगांत त्यांना परमेश्वर पूर्ण यश देवो अशी भगवंताची प्रार्थना करतो.

मा. श्री. अणे
(नवी दिल्ली)



। श्रीः ।

प्राक्कथनम् ।

निगमागमपारीणश्रीपुरुषोत्तमशर्महिंलैकरीलिखितग्रन्थमधिकृत्य भूमिकालेखोऽपि स्वसम्मान इत्यत्रैमि, स्वीकरोमि चामुमर्थ सहर्षम् ।

अस्मिन्नुपोद्घात आयुर्वेदशास्त्रं, प्रस्तुतग्रंथं शारीरतत्त्वदर्शनं, तथैतल्लेखकं श्रीपुरुषोत्तमशर्माणमधिकृत्य किमपि संक्षिप्य निर्देष्टुमुत्सहे ।

आयुर्वेदः—

आयुर्वेदस्वरूपं साधु स्पष्टीकृत्य निर्णीतं यथाऽत्रैव ग्रन्थकृता तथा नात्रावशिष्यते वक्तुं पिष्टपेषणमन्तरा । अतः केवलमाधुनिकपाश्चात्यचिकित्साप्रणालीसिद्धान्तसमतामधिकृत्य किमपि वाञ्छामि वक्तुम् ।

प्रायो हि प्राच्यपाश्चात्यचिकित्साविधिसिद्धान्तसमता प्राप्यते विरला आकास्मिकी च न मौलिकी । यद्यप्रांशिकमुभयपद्धतिसाम्यं संभवि, सम्भवेच्च भविष्यति त्रिद्वत्समाज आंशिकसामंजस्यसंवर्धने सफलः । तथापि तथाविधसामंजस्यकल्पनातः प्राक् चिकित्साप्रणालीद्वितयमेतत् वैकल्पिकमेव निश्चीयेत, नैकत्वेन ।

अयमभिसन्धिः—आयुर्वैदिकसिद्धान्तानां केनापि प्रकारेण ऐलोपैथीरूपीकरणप्रयत्नः किल *प्रोक्स्टीज्कृताऽऽतिथ्यमिव विरूपताहेतुर्धातक एवाऽऽयेत ।

यथा—ऐलोपैथीयथार्थज्ञानायावश्यकं तदीयमूलविज्ञानं (Basic Sciences)

* प्रोक्स्टीज् आसीद्गोमदेशीयो रक्षः । तस्यासीत् खट्वा यत्रासौ शाययतिस्म तन्मायाजालमथान् पथिकान् । तत्र शय्यातो न्यूनदीर्घताकान् शिरसि पादयोर्वाऽऽकृष्य शय्यासमदीर्घान् असावकरोत् । शय्यातः प्रलम्बांश्च तेषां शिरो बलाद्वक्षसि प्रवेश्य पादौ च निकृत्य वा शय्यासमान् विधातुमसौ प्रायतत् । एवं हि ते वराका बहवो व्यापादिता आसन् क्रूरकर्मणा । तथैव बहवो राक्षसकल्पा आयुर्वेदशरीरं ऐलोपैथीशय्यासमानपरिमाणमाकलयितुं प्रयतन्तो नूनं नाशयन्ति वैज्ञानिकं रूपमायुर्वैदिकम् ।

प्रथमतोऽध्येतुम् । तथैव आयुर्वेदं यथार्थतो बोधुं तदीयतत्त्वज्ञानोपयोगि सांख्यन्याय-
वैशेषिकादि दर्शनशास्त्राध्ययनमप्यावश्यकम् । यथा च पाश्चात्यचिकित्साविज्ञानं
षड्दर्शनसम्बन्धनिरपेक्षं तथैव आयुर्वेदाध्ययनेऽपि पाश्चात्यमूलविज्ञानाध्ययनं सर्वथा
व्यर्थमसङ्गतं च ।

अत्रेदं वक्तुमुचितं यद्विशतितमशतकादारभ्य पाश्चात्यपदार्थविज्ञाने विशेष-
तश्च भौतिकविज्ञाने जाजायमानमास्ते तादृशं परिवर्तनं यथा तद्विहाय स्वं रूपं
भारतीयपदार्थविज्ञानानुसरणोन्मुखं प्रतीयते । भौतिकविज्ञानस्य वर्तमाने प्रमुखो नेता
“ एल्बर्ट आइन्स्टाइनः ” (Albert Einstien) सिद्धान्ततः भूतपूर्वं स्वःस्थं
श्री आइजकन्यूटनं (Sir Isase Newton) पराभूय भारतीयदार्शनिकदृष्टिकोण-
सामीप्यमालम्बते भूयस्तराम् । यद्यपि सामीप्यमेतत् प्रथमत एव नाधिरोहति दृष्टिपथं
प्रतिपण्डितं, तथापि गूढं विवेचयन्तो निश्चितमेतत् सविस्मयं प्रतीयन्त्येव ।

एकेनोदाहरणपथा स्पष्टयाम्येतत् । तथा हि—पाश्चात्यभौतिक-शास्त्र
(Physics) मनुसृत्य सन्ति ९२ मूलतत्त्वानि (Elements) द्रव्यस्वरूपाणि
(Matter) द्रव्यं (Matter) हि शक्तितः (Energy) पृथक्, यतः शक्तिः
(Energy) चलस्वभावा (Active) द्रव्यं हि गुरु निरोधकं च शक्तेः । फलतः
ऐलोपैथिकभौतिकशास्त्रानुसारं द्रव्यं सर्वथा तमोमयं (Inertia) । यदुक्तम्—“ गुरु
वरणकमेव तमः ” । शक्तिश्च रजोमया (Energy) । ऐलोपैथिकविद्यालयेषु अधुनापि
भौतिकविज्ञानांशोऽयमनेनैव रूपेण पाठ्यते । परमेतत् न्यूटनकालिकं ज्ञानं भौतिकम् ।
आइन्स्टाइनकालिकं भौतिकं ज्ञानं सत्यप्रत्ययमपि अंतिगहनतया विद्यालयेषु नाद्यापि
लब्धावकाशम् ।

आयुर्वेदिकं भूतविज्ञानं सांख्यं तत्त्वतो न्यूटनीयभौतिकज्ञानतः सर्वथा
भिन्नमेव । आधुनिकाः पाश्चात्यडाक्टरा आयुर्वेदीय-मूलतत्त्व-प्रकृत्येकत्वबोधेऽसमर्थाः ।
तथा द्रव्यं शक्तिं च अथवा तमो (Inertia) रजश्च (Energy) सर्वथा
पृथक्त्वेनाभिप्रयन्त आयुर्वेदानुसारं मूलभूतप्रकृतौ तयोः समकालसत्तां, तिरोभावे
साम्यावस्थायां च तदवस्थानमसम्भवं मन्यन्ते । परंतु नवीनं भौतिकज्ञानमायुर्वेदीय-
प्रकृतिवादेन बहु च समतामारोहति ।

आइन्स्टाइनिये भौतिकविज्ञाने मूलतत्त्वानि न ९२ मितानि प्रत्युत मूल-
तत्त्वमेकमेवास्ति सांख्योक्तप्रकृतिवत् । प्रत्येकं तत्त्वानां परमाणुः (Atom) क्रियतामपि
विद्युत्कणानां (electrons protons) समूह एव । एषां शक्तिकणानां संख्या
प्रत्येकतत्त्वपरमाणुनिर्माणे भिद्यते । यथा लोहपरमाणौ २७ कणाः सन्ति । संख्येयं
लोहाणुनिर्माणकारणम् । अतो न्यूनाधिककणसद्भावे तदणुर्न लोहाणुः । अपि तु
द्रव्यान्तराणुरेव भवेत् । वस्तुतः केवलमेतत्कणसंख्याभेद एव द्रव्यभेदे कारणम् । वस्तुतो
नास्ति मूलतो द्रव्यभेदः । केवलं शक्तिकणा एव संख्याभेदेन भिन्नरूपतामाकलयन्ति
द्रव्यभेदस्वाभासिक एव ।

एवं हि सिद्धमेतत् यन्मूलतत्त्वमेकमेव । परमेतन्मूलपदार्थरूपं सांख्योक्त-
प्रकृतितो भिन्नमिव प्रतीयते, इमे हि शक्तेः कणाः न प्रकृतेः, इमे केवलं रजः-
स्वरूपाः, प्रकृतिश्च सत्त्वरजस्तमोरूपा त्रिगुणात्मिका । इति चेत्, अत्रार्थे ब्रूमः —

वस्तुतः — आधुनिकं मूलतत्त्वं न कणस्वरूपं यतस्तात्त्विकान्वेषणेन सिद्ध-
मेतत् यत् विविधतत्त्वाणूनामिमे सूक्ष्मा अंशाः न कणस्वरूपाः (Particels) न
वा तरङ्गरूपाः (Waves) इमे हि रिक्ते दिगवकाशे केवलं मूलतत्त्वप्रभावमात्राः ।
एवं हि जगति शुद्धं रजोगुणमयं पदार्थं (energy) विहाय नैव किंचिदवशिष्येत
यदि विविधप्रयोगैरेतन्नसाध्येत । यत् अस्मिन्नेव शक्तिकणे तमोगुणमपि विद्यमानम-
स्तीति । यतः केवला शक्तिर्नास्तित्वमधिरोहति । परमाणौ गुरुत्वमवष्टम्भकत्वं च
यदस्ति तदखिलमेतन्मूलपदार्थगुणः । एतद्धि तमोमयं रजोमयं च । यद्यत्र सत्त्वं नाम
गुणान्तरं न भवेत् तदा न भवेदेतद् बुद्धिग्राह्यम् । यत उद्भूतत्वेनैव बुद्धिग्राह्यता,
उद्भूतत्वं च सत्त्वजन्यम् । एवं सति सिद्धं त्रिगुणात्मकत्वं मूलतत्त्वस्य । एतच्च न विदूरं
सांख्योक्तप्रकृतेः । सगारम्भे एतदनन्तावकाशे तत्सर्वथाऽव्यक्तरूपम् । अस्मादेव
चाव्यक्ताख्यान्मूलतत्त्वात् त्रिगुणन्यूनाधिकवैषम्यद्वारा जाजायते व्यक्तपदार्थसर्गः ।

सिद्धं नः समीहितम् । न चापेक्ष्यतेऽत्रोदाहरणान्तरं, कृत विस्तरेण । सुस्प-
ष्टाभिप्रायोऽस्माकम् । आयुर्वेदोक्तं पदार्थविज्ञानं यदासीदसम्भवमितः प्राक् पाश्चा-
त्यानां सन्निधौ तदेवाधुना सत्यमिति निश्चप्रचम् । आधुनिकमुन्नतं भौतिकं समधिरोहति
तुलनामायुर्वेदिकभौतिकेन । परं मिथ्याऽपि मध्यकालीनं भौतिकं सुगमतयैव

अधितिष्ठति वर्तमानेऽपि शिक्षणालयेषु । हन्त विचित्रेयं परिस्थितिः — ये हि नाम नैवात्मना अध्येतुं बोधुं वा शक्तुवन्ति भौतिकमुन्नतं विज्ञानं त एव मध्यकालीन-खण्डितापूर्णभ्रान्तभौतिकज्ञानसन्निवेशैकदुराग्रहप्रस्ताः कलुषयन्ति काका इव काक-लीकण्ठं करालाः कुटिलाः । x

दुराग्रहोऽयं लब्धवान् सफलतामधुना । यतः सन्ति कतिपये विद्यालयाः समुद्घाटिताः शिक्षितुमायुर्वेदनाम्ना दुर्विज्ञानमैदमिकमधुनातनीयम् । इदं हि पाश्चा-त्यभौतिकं न केवलमप्रासंगिकमपि तु विपरीतमायुर्वेदसिद्धान्तेभ्यः सर्वथा । न वयं विब्रूमः केवलाय एतस्मै, किन्तु हन्त ! कतिपयप्रान्तीयराजकीयरक्षकैरपि दुःशिक्षेयं तथाकृताऽनिवार्या यथा केवलं वास्तविकमायुर्वेदानुशीलनं विधाय चिकित्साप्रयत्नः

x मद्रासपत्तनीयदर्शनपरिषदि व्याख्यानमातन्वता मया आधुनिकभौतिकविज्ञानालोके स्पष्टीकृता सांख्योक्ता प्रकृतिः । “अस्य हि जगतः कारणं प्रकृतिर्नाम पदार्थान्तरं मौलिकं यत्र रजस्तमश्च परस्परमभिभूय समबलीभूय प्रवर्तते ।” मया अयमेवाशयः प्रकटितः समक्षमेकस्य, डाक्टरमहोदयस्य, यो हि “इण्डियन मेडिकल एसोसियेशन पंजाब” सभास्यसमितेरध्यक्ष. “आय् एम्. एस्.” पदाधिकारी चेति । असौ आसीदाश्चर्यमग्नो यदा स प्रतिपेदे तादृशं सामंजस्यमस्य । परमस्य न विश्वसिति स्म चेत् । किन्तु तादृशप्रामाणिकव्याख्याने न चासीदविश्वासस्याप्यवकाशः । सेयमासीदुभयतः पाशरज्जुस्तस्मै । अथाचकलदसौ कतिपयान् प्रश्नविवहान् । अहं न्यवेश्यम् समुचितान्युत्तराणि । असात्रासीदातङ्कपङ्कममः । प्राह च सनिर्वेदम् — “You are mischievous ynu are taking advantage of our ignorance of modern physics. I will refer your article to some professor of physics.”

सेयं धूर्तता युष्माकम्, डाक्टराणामाधुनिकभौतिकविज्ञानविषयमज्ञानमाधिकृत्य नोपादी-यतामनुचितो लाभः अहं हि युष्मदभाषणं कस्यापि भौतिकविज्ञानविदुषः समसमुपहरिष्ये निर्णेष्ये च सत्यं मिथ्यात्वं वाऽत्र इति ।

समीक्ष्यतामस्य गूढोर्थः । पश्यत च डॉक्टरदुराग्रहान् । ते हि प्रतीयन्ति यदवश्यमध्ये-तव्य एवास्माभिः सदोषोऽपि न्यूटनीयसिद्धान्तः ।

अयमभिसन्धिः — वयमायुर्वेदिकेन पथा तदैव चिकित्सां कर्तुमधिकृताः यदि वयमवश्यं पठेम तदभौतिकं विज्ञानं विनैव यदध्ययनं डाक्टरो भवत्यधिकारी सर्वोच्चपदमारोढुम् । हा हन्त ! कीदृशं पतनं वराकाणाम् ॥

“ मदीय स्यालकोटीयाध्यक्षवैखरीतः ”

प्रक्षिप्तः किल दण्डपक्षे । सोऽयं मूले कुठाराघातः । तदिदमसन्तोषकारणं
सकलवैद्ययानाम् ।

शरीरं तत्त्वदर्शनं नाम वातादिदोषविज्ञानम् ।

एवं हि विपात्तिमेघाऽऽच्छन्ने आयुर्वेदभास्करे कर्तव्यमेतत् विदुषां यत् एकतः
संगठनं विधाय प्राप्य बलं क्रियते शत्रुसंहारः । परतश्च निर्माय आयुर्वेदसिद्धान्तसमर्थकान्
ग्रन्थनिवहान् तादृशान् ये किल सुगमया सरण्या तत्त्वप्रधानेन विवरणेन प्राञ्जलया
भाषया साक्षादुपकुर्वन्तु जिज्ञासुजनान् ।

प्रस्तुतो हि ग्रन्थः शुभप्रयत्नस्यैवंविधस्यैव सफलमेकमुदाहरणम् ।

वस्तुतः आयुर्वेदज्ञानोपार्जनाय प्रकृतिपुरुषपञ्चमहाभूतत्रिदोषसिद्धान्तानाम-
विकलं ज्ञानमनिवार्यम् । एष्वपि त्रिदोषसिद्धान्तो नाम महत्त्वपूर्णो विषयो वैद्यस्य ।

प्रस्तुतं हि पुस्तकमस्यैव विषयस्य सरलं, विशदं, विस्तृतं, योग्यतापूर्णं च
व्याख्यानम् । अयं हि सकलायुर्वेदोदधिग्रन्थनोत्तरं प्रयत्नो ग्रन्थकृतः । यावदुपलब्धि
एकत्रिताऽत्र त्रिदोषसिद्धान्तसामग्री । आयुर्वेदिकदृष्टिकोणमाश्रित्य त्रिदोषसिद्धान्त-
प्रतिपादनं सप्रतिभं सरलं च सुष्ठु समुज्ज्वलितमत्र ।

इतः पूर्वमप्यस्ति त्रिदोषमधिकृत्य विविधपुस्तकपुस्तिकासमुदायसमुदयः ।
परमुच्चश्रेणिषु पाठ्यपुस्तकत्वेन नियोज्यः शरीररचना--क्रियादिप्रतिविभागमधिकृत्य
विशदविवेचनचणः आयुर्वेदसम्मतमतप्रातिष्ठापनपटुः प्रथमोऽयमेव ग्रन्थ इति
दृढं वक्तुं प्रभवामः ।

ग्रन्थकर्ता-श्री पुरुषोत्तमशर्मा शास्त्री हिलेकरः ।

नैवंविधग्रन्थलेखनं साधारणजनशक्यं कर्म । आयुर्वेदमर्मज्ञः सकलदर्शन-
निष्णातमतिः, प्रचुरप्रतिभाप्रतीतः प्रकाण्डपण्डित एवैतादृशकार्यपूर्णपटुः प्रतीयेत
परामर्शपरैः प्राज्ञैः ।

एवमाकारप्रकारविचारचारुरेव कोऽपि केवलमेतादृगग्रन्थग्रथनकल्पनामाक-

लयेत् । न चेदमप्यावश्यकं वक्तुं यत् श्री पुरुषोत्तमशास्त्रिहिलेकरमहोदयाः
सकलकलापूर्णाः सम्पूर्णसंस्कृतवाङ्मयमाहिताश्च । अहमासं व्यक्तितः प्रभावित एव
पं. पुरुषोत्तमशर्मप्रकाण्डपाण्डित्येन । किंत्वधुना एतद्ग्रन्थावलोकनोत्तरं सकलोऽपि
वैद्यवर्गः श्री हिलेकरशास्त्रिणा योग्यतया मुग्धो भविष्यतीति दृढं प्रत्यवैमि ।

विनिर्माय ग्रन्थरत्नमेतत् पण्डित श्री हिलेकरशास्त्रिमहाभागाः आयुर्वेदोत्थान-
युगप्रवर्तकाः निवर्तकाश्चायुर्वेदविरोधिनामिति सकलोऽपि वैद्यव्रातः साम्प्रतमधमर्णः
सम्पन्नो भविष्यति चेति—

विनिवेदयति—

प्रसादभवनम्
लवपुरम्

}

शिवशर्मा.

श्रीमतामायुर्वेदाचार्याणां पुरुषोत्तमशास्त्रिणां' नानल, इत्युपनामधेयानामभिप्रायः —

भारतीयमिदमायुर्वेदशास्त्रं करुणावरुणालयैः आत्रेय, धन्वंतरि, चरकप्रभृ-
तिभिः भारतीयजनतायाः स्वास्थ्यसंपादनार्थं व्याधिमोक्षार्थं च यन्निरमायि ।

शास्त्रस्यास्य साहाय्यमवलम्ब्य परःसहस्रवर्षात्कालादद्य यावद्भारतीयजनतायाः
व्याधिमोक्षः स्वास्थ्यरक्षणं चाभवत् किन्तु गतहायनशतद्वयादद्यपर्यन्तम् यद्वरीवर्ति
भारते परकीयमाङ्गलसाम्राज्यशासनं तस्मात् नैकविद्याकलाप्रादुर्भावो लाभश्च
समजनि । तन्मध्ये यूरोपीयअॅलोपॅथीइत्यारव्यस्य वैद्यकसम्प्रदायस्यापि अभिवृद्धिः
अभवत् । तदेतत्पाश्चात्यवैद्यकविज्ञानं इदानीं सर्वजगद्व्यापकं दृश्यते ।

जगति यावन्तो विद्यन्ते देशास्तेषु प्रायः विद्यमानजनतायाः स्वास्थ्यसंपादने
तथा रोगविध्वंसने प्रभवति तदेतत् यूरोपीयं वैद्यकशास्त्रम् ।

प्रायः सर्वेऽपि देशेषु स्थानीनवैद्यकस्य नामापि न श्रूयते । भारतेऽपि
आरवेटकमस्यैव यूरोपीयवैद्यकस्य प्रसरो दरीदृश्यते आंग्लराजशासनपरिपुष्ट्य
नैकवितानसाधनसमुपबृंहितस्यास्य वैद्यकशास्त्रस्य अध्ययनाध्यापनात् ये विद्वांसः भारते
विद्यन्ते तेषां सर्वोऽपि व्यवहारः यूरोपीयवैद्यकतत्त्वप्रणाल्या एव भवतीति
किमाश्चर्यावहम् !

गतपंचाशद्वर्षादारभ्य कतिचन यूरोपीयवैद्यविद्यानिपुणाः दक्षतराः प्राचीना-
युर्वेदशास्त्रे दृष्टिक्षेपमकार्षुः ।

गीर्वाणवाण्यामेव सर्वमपि भारतीयवैद्यकं विद्यते, सूत्रमयं च । इदानीं यथा
आंग्लशासनप्रभावादासीदितरप्राचीनशास्त्राणां विनाशः तथैवास्य सर्वजनसंजीवकस्या-
युर्वेदस्यापि । अद्यवर्षशतद्वयम् — भारतीयवैद्यकस्य केवलमेव पुस्तकज्ञानयुक्तमध्ययन-
मध्यापनं च प्रचलति राजशासनसंरक्षणाभावात् प्रत्यक्षवितानसाधनानां पूर्णतयाऽभाव
एव दृश्यते ।

तदेतद्वैद्यकविज्ञानं शास्त्रतः प्रत्यक्षतश्च विज्ञातं चेदेव स्वातःसंतोषं निःशंकतां च जनयति । आयुर्वेदविदोऽपि वैद्याः शास्त्रतत्त्वं सम्यक्तया प्रतिपादयितुम्-समर्था एव दृश्यन्ते । तत्कारणं तु प्रत्यक्षज्ञानयुतविज्ञानस्याभाव एव ।

आधुनिकवैद्यकविज्ञानयुतानां विदुषां मनसां निःशंकत्वम् तदैव भवेद्यदा सेयं प्राचीनायुर्वेदसिद्धान्तसराणिः तेषां विदुषां सन्तोषं जनयेत् । राजशासनाभावा-दस्मदादीनां आलस्यसमुदयाद्वारतीयतत्त्वज्ञानविषये बुद्धिहतानां सर्वमपि पाश्चि-मात्यविज्ञानं श्रेष्ठं संजीवकं च विद्यते इति मन्यमानानां ये च प्रयत्नाः पूर्वशास्त्र-विषयकाः ते सर्वेऽपि तेषां सन्तोषं न सम्पादयेयुः ।

यूरोपीयवैद्यकनिपुणैः आयुर्वेदस्य अकारि अभ्यासः । तदभ्यासफलन्तु तेषां लेखनेषु एवं दृश्यते —

यदस्मिन्प्राचीने वैद्यकशास्त्रे ये च मूलभूता विद्यन्ते सिद्धान्तास्ते सर्वेऽपि कल्पनामूला एव, न प्रत्यक्षमूलाः न वा तेषामवस्थितिः प्रत्यक्षफलविषये समर्था भवि-तुमर्हति इति । अतः विमलविपुलसूक्ष्मधिषणप्रयुक्तं कल्पनामनोहारि चैतच्छास्त्रं भारतीयवैद्यकं नाम पुस्तकालयेष्वेव पदं लभताम् न कदाचिदपि प्रत्यक्षज्ञानयुतस्य-वैद्यकस्य पदवीमधिकर्तुं शक्यते ।

करालकलिकालप्रभावादेव विनाशमयप्रसंगे प्राप्ते सति यैश्चायुर्वेदशास्त्रपा-रीणधुरीणैः स्वदेश-स्वशास्त्र संजीवने बद्धादरैः भारतीयविद्वाद्भिः नैकविधप्रयत्नाः स्वशास्त्रसंरक्षणविधौ कृताः दृक्पथमानन्दयन्ति ।

त एते स्वनामधन्याः वंग-कर्नाटक-गुर्जरादिदेशीयाः आयुर्वेदप्रवीणाः त्रिंशत्संख्याकाः पण्डिताः विद्यन्ते, तन्मध्ये पंडितमण्डलमण्डनायमानविग्रहैः वैद्य-भूषणैस्तादिउपाधीनभिभूषयद्भिः अस्मत्सुहृद्भैः ‘ पंडित पुरुषोत्तमशास्त्रि हिलेंकर ’ महाशयैः यश्च प्रयत्नः “ शारीरं तत्त्वदर्शनम् ” इत्याख्यः प्राचीनायुर्वेदसिद्धान्त-संस्थापनचणः कृतो विद्यते, तदर्थं ते सर्वथा धन्यवादाहार्ताः ।

भारतीयायुर्वेदजनकैः आत्रेय, धन्वन्तरि, चरक, सुश्रुत, काश्यपप्रभृतिभिः लोकाहितार्थं याश्च संहिताः विरचिता विद्यन्ते तासु आदावेव जगन्निर्माणतत्त्वविचारच-तुराणां सांख्यादितत्त्वज्ञानामेव जगन्निर्माणविचारः संगृहीतो दृश्यते ।

प्रकृतिपुरुषतन्मात्रसंयोगादेव एतत्सर्वं स्थावरजंगमात्मकं जगत्सम्भूतमिति दृश्यते ।
पांचभौतिकेऽस्मिन् जगत्संसारे कथमासीदादौ जगत्ः प्रतिष्ठा तदुत्कर्षः विनाशश्च कथं
भवतीति विज्ञानं कपिलकणादादिभिः सुनिश्चितमेव, स एव विचारो आयुर्वेदस्य
मूलभूतः । तेषामेव सांख्यादीनां सूक्ष्मातिसूक्ष्मां जगन्निर्माणप्रणालीं स्वीकृत्य निर्मापितं
विद्यते वैद्यकशास्त्रम् ।

सर्वजगत्कारणभूतानां एकत्र समवेतानां पंचमहाभूतानामेव समवायः मानवदेहः ।
मानवदेहनिर्माणविधौ कथं प्रवर्तन्ते तानीमानि पंचभूतानि तेषां च कार्यकारणं सम्यक्त-
याऽवलोक्य देहोत्पादकत्रिदोषाणां कया रीत्या संग्रहः कृतः, ते च दोषाः के, कथं
ते मानवदेहनिर्माणकाः अभिवर्धकाः नाशकाश्च भवन्तीति विषये सप्रपंचं व्याख्यातं
स्वीयसंहितासु पूर्वाचार्यैः ।

विद्यमानचरकादिसंहितासु यद्यपि प्रतिपृष्ठं प्रतिपंक्तौ, दृश्यते दोषादीनां
कार्यकर्तृत्वम् पथापि अल्पमेधसां भिषजां तथा च जिज्ञासूनां छात्राणां च सुलभवि-
ज्ञानार्थं, प्रवेशार्थं, शंकानिवृत्त्यर्थं च सोऽयं पं. हिलेकरवैद्यवराणां शारीरं तत्त्वदर्शनं
इत्यारव्यः प्रबंधः प्रभवेदिति गरीयान्नो विश्वासः । यतः चतुर्विंशतिप्रकरणात्मकेऽस्मि-
न्प्रबन्धे प्रतिभागं दोषधातुमलानां तथा विवरणमकारि, तथा सर्वेषामपि सम्यक्
ज्ञानं भवेत् ।

चरकप्रभृतिभिः स्वीयसंहितासु प्रसंगानुरूपं यद्वर्णनमकारि, तस्य आयुर्वेद-
प्राणभूतस्य दोषधातुमलाख्यविषयस्य क्रमशः यत् दृश्यते प्रतिपादनं, तत्सर्वमस्मिन्प्रबन्धे
सरलया, सुबोधया, ललितया च गीर्वाणवाण्या कृतं यते ।

विषयस्यास्य प्रतिपादनविधौ स्वकृतानि, नूतनान्येव विद्यन्ते पद्यानि, अनुष्टुब्-
छंदोमयानि । पद्यगतसूक्ष्मश्लिष्टार्थविवरणक्षमा तथा च नैकविधगंभीर विषयप्रकाशकारिणी
टीकाऽपि व्यरचि ग्रंथकृता । सोऽयमस्य प्रबंधस्य विशेषः विद्यते यदयं ग्रंथकारः टीकाकृत्
च एक एव । येषां च विषयाणां विषयांशानां अपेक्षतेऽधिकं विवरणं तत्तु ग्रंथकृता कृतं
चेदतीव उपकारि सुलभं च भवति । प्रायः सर्वभारतीयविज्ञानस्य विदुषां च विद्यते
गीर्वाणभाषा । तस्याः समाश्रयादयं प्रबंधः सर्वदेशीयपंडितानां सहजसुलभः समभवत् ।

यद्यपि दोषविज्ञानमिममुररीकृत्येदानीं विद्यन्ते त्रिंशत्संख्याकाः प्रबंधाः
तथाऽपि तेषां हिंदी-बंग-गुर्जर-महाराष्ट्रादिभाषासमाश्रितत्वात् ते प्रबंधाः न
सर्वभारतीयविदुषां ज्ञानपिपासातृप्तये अलं भवन्ति इति निवेदनं यथार्थमेव ।

यद्यपि अस्मिन्नूत्ने प्रबंधे प्रथमविभागकक्षायां कतिचन विषयाः नूतनशब्दाः
विचारप्रणालिश्च विदुषां मनःसु मतवैभिन्यं समुत्पादयेत् । तथापि साकल्यविचारसमये
सोऽयं प्रबंधः दोषादीनां विज्ञानविषये समर्थः स्यादिति निवेदनं वस्तुस्थितिदर्शकमेव ।
इदानीं विषयप्रधानाऽध्यापनपद्धतिस्तु पंडितजनसमादृता दृश्यते । तामेव विचार-
सरणीमनुसृत्य आयुर्वेदपाठशालासु अयं प्रबंधः अध्यापनार्थं स्वीकृतश्चेत्सुमहानेव
भवेच्छाभः अध्यापकानां छात्राणां चेति । अतः सर्वविदुषां कृते इयमस्म-
दभ्यर्थना विद्यते यदस्य ग्रंथस्य पठनपाठनेन सर्वेऽपि आयुर्वेदपारावारपरीणाः
विद्वांसः चिकित्साकौशलमीप्सवः बटवश्च सफलयन्तु पं. हिल्लेकरपरिश्रमान् ।
प्रचलिते आयुर्वेदसंक्रमणकाले पं. हिल्लेकरशास्त्रिभिः सुमहांतं परिश्रमं कृत्वा योऽयं
प्रबंधः व्यरचि यच्च त्रिदोषविज्ञानं जिज्ञासुजनसुलभमकारि, तदर्थं ते सर्वथा धन्य-
वादाहर्ताः । अनयैव रीत्या प्राचीनशास्त्रसिद्धान्तसरणीमनुसृत्य प्रतिविषयमायुर्वेदस्य
ग्रंथरचनां कुर्युः तर्हि आयुर्वेदाध्यापकानां छात्राणां च ते सर्वदा धन्यवादाहर्ताः
भवेयुः इति निवेद्य विरमति ।

नानलः पुरुषोत्तमशर्मा ।

(पुण्यपत्तनम्)

श्रीमतामायुर्वेदविभूषणानां जोशीइत्युपनामधेयानां
गणेशशास्त्रिमहोदयानामभिप्रायः ।



“ शारीरं तत्त्वदर्शनं नाम वातादिदोषविज्ञानम् ” इति नामधेयो ग्रंथोऽम-
रावतीनिवासिभिरस्मत्सतीर्थैर्हिल्लैकरोपनामभिः पुरुषोत्तमशास्त्रिमहोदयैर्विद्वद्भ्यै वैद्य-
विद्यानदीणैः प्रेषितोऽवलोकनार्थम् । पंचविंशतिवर्षेभ्यः प्रागेकत्राध्ययनार्थं गुरोः
सकाशे निवसद्विरस्माभिर्बहुतरं दोषविषयकं वाङ्मयं गुरोर्मुखात् श्रुतमासीत् । परं
तस्य एवंविधः संग्रहो न केनापि कृतो दृश्यते । श्रीमदत्रेयमुखात् श्रुतं आग्निवेशेनेव
लावगनकरोपाह्वेभ्यः बाबासाहेबमहोदयेभ्यः बहुवारं श्रुतं त्रिदोषविषयकं शारीरतत्त्वं
श्री. पुरुषोत्तमशास्त्रिभिरस्मिन्ग्रन्थे लिखितमिति मन्ये । “ गत्याख्यं पचनाख्यं च
पोषणाख्यं यदीरितम् । शरीरे कर्म सर्वत्राविरतं संप्रवर्तते ” (शारीरतत्त्वदर्शन-उत्त-
रार्धे प्रथमदर्शने पंचमं पद्यम्) इत्यादिपद्यान्यस्मिन्ग्रन्थे वाच्यतो मे गुरूणां पुर-
तःस्थितस्येव तेषामुच्चैरुच्चारितानि वाक्यानि स्मृतिपथमायान्ति । अहो निपुणता
पुरुषोत्तमशास्त्रिणाम् । यद्विद्यार्थिदशायां समासादितं ज्ञानं तद्विंशतिवर्षेभ्य ऊर्ध्वमपि
याथातथ्येन गीर्वाणवाण्या पद्यरूपेण परिणमय्य अल्पमधोत्कृष्टमेधसां वैद्यविद्याप्रवि-
विद्वद्भिः प्रविष्टानां च सुबोधतया दोषविज्ञानं भवतु एतदर्थं ते एतादृशं ग्रन्थं निर्मातुं
समर्था अभवन्ति ।

अस्त्वेतदान्तरंगिकं गुरुचरणस्मृतिसुखदं अमन्दानन्दकरं विद्यार्थिदशा-
स्मारकं कथनम् ।

अस्ति च ग्रन्थस्यास्य प्रयोजनमस्मिन्काले विशेषेण । भारतीयानां दैवदुर्विपा-
केनाङ्ग्लैराक्रान्तं भारतवर्षम् । तदाप्रभृति एतद्देशीयानां सर्वासां विद्यानां कलानां च
विनाशोऽभवत् । पाश्चात्यवैद्यविद्याप्रवीणेषु बहवो द्वेतुपुरस्सरं भारतीयवैद्यविद्याविना-
शार्थं प्रयतमाना दृश्यन्ते । राजकीयेनोपबृंहणेन पुष्टास्ते आक्षिपन्ति प्राचीनतमं
वैद्यकशास्त्रम् । निन्दन्ति चिकित्साम् । तिरस्कुर्वन्ति निदानपद्धतिम् । धिक्कुर्वन्ति
वैद्यान् । अशास्त्रीयं वदन्ति बहुशोऽनुभूतं त्रिदोषसिद्धान्तम् । गतपंचाशद्वर्षात्प्रभृति
पाश्चात्यवैद्यकविद्याप्रवीणैरायुर्वेदसिद्धान्ता आक्षिप्ताः । महाराष्ट्रदेशे डॉ. कुण्टेमहोद-

यैस्तथाऽस्मद्गुरुचरणैर्बात्रासाहेबमहाभागैर्वहुवारं खण्डनं कृतमासीदायुर्वेदविरुद्धानामा-
 क्षेपाणाम् । तत्खण्डनं व्याख्यानरूपेणासीन्न ग्रन्थरूपेण । श्री. हिल्करमहोदयैः
 खण्डनमण्डनरूपेण सुश्लोकनिबद्धं सुलभावबोधिण्या गीर्वाणवाण्या जिज्ञासुजनसुलभं
 वातादिदोषविज्ञानं कृतमित्यभिनन्दामि ग्रन्थकर्तारम् । ग्रंथकर्तुराशयस्य स्पष्टीकरणार्थं तथा
 ग्रन्थोक्तसिद्धान्तानां प्राचीनग्रन्थाधारनिरूपणार्थं समीक्षणाम्नी टीकाऽपि ग्रन्थकर्त्रा
 विरचिताऽस्मिन् ग्रन्थे दृश्यते । टीकयानयाऽनेकानि सन्देहस्थलानि ग्रन्थकर्त्रा
 पुरुषोत्तमशास्त्रिणा स्वाभिप्रायानुसारेण विशदीकृतानि वर्तन्ते । तेन ग्रन्थावबोधेच्छूनां
 निरतिशयं सहाय्यं स्यात् । तथा चास्मिन् ग्रन्थे संस्कृतभाषावबोधनासमर्थानां कृते
 ग्रंथस्थविषयाणां तात्पर्यं राष्ट्रभाषायां (हिन्दीत्यपर्यायायाम्) विलिखितं तेन प्राकृ-
 तजनसुलभताऽस्य ग्रंथस्य संजाता । सुस्पष्टमुद्रिताक्षरयुतानि पञ्चशताधिकानि पृष्ठानि
 ग्रंथस्यास्य विद्यन्ते । एवमस्य ग्रंथस्य बहिरंगनिरीक्षणं समाध्यान्तरंगनिरीक्षणं समारभ्यते ।

पूर्वार्धोत्तरभागरूपौ द्वौ भागौ ग्रन्थस्यास्य भवतः । प्रतिभागं द्वादश
 दर्शनानि नाम अध्यायाः । साम्प्रतिकैः पाश्चात्यपौर्वात्यवैद्यशास्त्रविशारदैः कृतानामा-
 क्षेपाणां निरसनपूर्वकं स्वपक्षस्थापनं तथा चरकसुश्रुतादिग्रन्थोक्तानां गूढविषयाणां
 युक्तियुक्तविवरणसहितं प्रत्यध्यायमेकैकस्य विषयस्य स्पष्टीकरणं विद्यते । प्रथमे दर्शने
 दोषधातुमलानां संज्ञाविपर्यासं न कारयेदित्यस्य सिद्धान्तस्य प्रतिपादनमस्ति ।
 त्रिधातुशब्देन त्रिदोषा वाच्या इति पनवेलग्रामे समागतैः कैश्चिद्वैद्यत्रैः प्राचीन-
 ग्रन्थविरोधि भणितम् । तस्योत्तरमस्मिन् प्रथमे दर्शने युक्तिसिद्धं दत्तं ग्रन्थकर्त्रा ।
 तद्यथा—“दोषधातुमलाल्येषु वैशिष्ट्यं चैव विद्यते । भिन्नसंज्ञाभिराहूतिरायुर्वेदे कथं
 भवेत् । अतः संज्ञाविपर्यासं दोषादीनां न कारयेत् ।” (शा. त. द. प्रथमं
 दर्शनम् ।) मनुष्यत्वसामान्येऽपि राजकार्यकर्तृत्वात् राजा इति संज्ञां संप्राप्तस्य
 राजकार्यमकुर्वतोऽपि यथा राजा इति संज्ञयैव आहूतिर्भवति तथैव दूषणस्वभावान्मुख्यां
 दोषमज्ञां संप्राप्तस्य शरीरद्रव्यस्य शरीरधारणकर्मण्यपि युक्तस्यदोषसंज्ञयैव व्यवहारः
 प्राचीनैर्ग्रन्थकृद्भिः कृतः । संज्ञा यदर्थव्यभिचारिण्यो भवेयुस्तेन तन्त्रार्थावबोधे हानिः
 स्यादिति सर्वैरंगीक्रियते एव ।

“दोषधातुमलानां स्वरूपम्” इति ग्रन्थस्यास्य पूर्वार्धस्य द्वितीयं दर्शनं
 विद्यते । इदमेव दर्शनं ग्रंथेऽस्मिन्सर्वश्रेष्ठमिति भाति । दर्शनेऽस्मिन् प्रत्येकं पद्यं

बहुवारं विचार्यैव लिखितं दृश्यते । दोषाणां शक्तिरूपत्वं नवमे दशमे वा पद्ये प्रति-
पादितमस्ति परन्तु ये केचन विद्वांसो दोषाः केवलं शक्तिस्वरूपा एव न द्रव्याणि
इति वदन्ति तेषां मतं नानुसृतमनेन ग्रन्थकारेण । कुतः, दशमश्लोकस्य टीकायां
ग्रन्थकृल्लिखति स्पष्टम् “ शक्तिरूपा इति न केवलं शक्तिस्वरूपाः किन्तु सौपेक्ष-
तयाधिकतरशक्तिसम्पन्नाः सामर्थ्यातिशययुक्ता दोषाः ” । शक्तिवादिनां मते दोषा
न द्रव्यं, केवलं ते गुणस्वरूपाः । अस्मिन् दर्शने दोषा द्रव्यमित्युक्तम् । यद्यपि-
प्रथमे श्लोके “ द्रव्यशक्तिविभेदेन स्थूलसूक्ष्मविभेदतः । दृश्यादृश्यस्वरूपेण शरीरं
द्विविधं स्मृतम् । ” इति लिखता ग्रन्थकारेण दोषाणां शक्तिस्वरूपं वर्णितम् । तेन
ग्रन्थकारोऽयं केवलं शक्तिपक्षपाती वर्तते इति सन्देहः स्यात् । परमस्माकं नैतद्गोचरे ।
कुतः ग्रन्थकारेणैव प्रथमश्लोकटीकायां “ द्रव्यशक्तिशब्दावत्र तारतम्यापेक्षिणौ ” इति
लिखितम् । तथा “ सूक्ष्मद्रव्याश्रिता शक्तिः शक्तिनाम्नाऽभिधीयते । ” इति अस्यैव
दर्शनस्य पंचमे पद्ये शक्तिशब्दस्य ग्रन्थकर्तुरभिप्रायः स्पष्टीकृतो विद्यते । पण्डित-
परिषदि काश्यां तथा पनवेलनगरे सम्मिलितानां वैद्यानां परिषदि त्रिदोषविषयको यः
प्रस्तावो बहुमतसम्मतस्तेन साकं नास्ति विरोध एतद्ग्रन्थकारस्य । एवं सति पनवेल-
नगरे समागतैर्वैद्यैर्हिर्लेकरभट्टाभागानामेतन्मतं विरोधीत्यवगणितमिति वाचयतो मे
आश्चर्यपूर्णं भवति चेत्तः । सिद्धान्तानां कारणनिरूपणपूर्वकं कथनमित्यस्ति ग्रन्थस्यास्य
विशेषः । चरकसुश्रुतादिग्रन्थेषु स्थाने स्थाने दृष्टानां सिद्धातानामनुक्रमेण कारणपूर्वकं
तथा सम्भवच्छिष्यशंका निरसनपूर्वकं ग्रन्थेऽस्मिन् प्रतिपादनं कृतम् । तृतीये
“ स्वरूपकर्मसंज्ञाविशेषदर्शननाम्नि ” दर्शने कार्यकारणनिर्देशपूर्वकं यद्दोषादीनां
वर्णनं कृतं तदतीव समीचीनमिति प्रतिभाति । आयुर्वेदसंहितासूक्तानां भिन्नानां
मतानां युक्तियुक्तं समाधानमपि बहुषु स्थलेषु दृश्यते । यथा शीतोष्णभेदेन वीर्यं
द्विविधं तथा शीतोष्णरूक्षतीक्ष्णादिभेदेनाष्टविधं भवति वीर्यमिति पक्षद्वयं अष्टांगहृद-
यादिषु वर्तते । उभयोरपि पक्षयोरेवं समाधानं ग्रन्थेऽस्मिन् कृतम् । “ शीतोष्णयोः
क्रमाद्वेदाः प्रत्येकं कथितास्त्रयः । शीतस्य भेदाः स्निग्धत्वं गुरुत्वं मृदुता तथा ” रौक्ष्यं
तैक्ष्ण्यं लघुत्वं च भेदाश्चोष्णस्य कीर्तिताः । (अष्टमदर्शनश्लोक १३।१४) स्निग्धगु-
रुमृदूनां गुणानां बहुषूदाहरणेषु सहकारित्वं वर्तते तथापि ते गुणाः शीतस्यैव भेदा
इति प्रतिपादयतो ग्रन्थकारस्य मतं विचारणीयं वर्तते । गुणा गुणेषु न वर्तन्ते इति

सिद्धान्तोऽपि विचारणीयोऽस्मिन् विषये । तथा माषनिष्पावादिषु गुरुत्वं न वर्तते शीतसहकारि । विषयोऽयं विद्वद्विचिचारणीयः ।

ग्रन्थस्यास्योत्तरार्धे दोषाणां गुणा आश्रयस्थानविशेषाः, कर्माणि, विकारा-
श्चिकित्सा चेत्यादयो विषयाः सम्यक्तया वर्णिताः । दोषाणां विसर्गादानविक्षेपादीनां
क्रियाणां प्रमाणपुरस्सरं युक्तियुक्तं च विवेचनं कृतम् । तथापि कुत्रचित्स्थलेषु
मतभेदजनकमपि वर्णनं विद्यते । उदाहरणद्वयं प्रदर्शयते विदुषां पुरतो विचारार्थम् ।
“ पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहण्याख्या कला हि सा । ” (प्रथमदर्शनस्य श्लो. ४६)
अस्य श्लोकस्य टीकायां “ पक्वामाशयमध्यस्था इति स्थूलान्त्रक्षुद्रान्त्रयोर्मध्ये
स्थिता । आमाशयशब्दोऽत्र क्षुद्रान्त्रवाची ” इति स्पष्टार्थः कृतः । नाभिस्तनान्तरं
जन्तोरामाशय इति स्मृतः । इति संहितावाक्यविरोधी तथा प्रत्यक्षविरोध्यपि सोऽर्थ
इति मे मतम् । उभयशरीरविद्विर्महामहोपाध्यायगणनाथसेनादिभिरपि क्षुद्रान्त्र-
मामाशय इति नोक्तम् । तथा ग्रहणीशब्दार्थोऽपि ग्रन्थकारस्यास्य विवादास्पद इति
भाति । स्वमतप्रतिपादनार्थं ग्रन्थकृता बहूनि प्रमाणानि युक्तिवादाश्चानेके कृता
वर्तन्ते । परन्तु ते सर्वेप्याकाशपुरवदेवेति मे मतम् ।

अस्यैवोत्तरार्धस्य दोषभेदस्वरूपमिति नाग्नि द्वितीये दर्शने पंचमश्लोकटीकायां
[२३५ पृष्ठे] “ ततश्च संज्ञायाः संग्रहार्पणाभ्यां शिरोगतं मस्तिष्करूपं रसधातोश्च
संग्रहार्पणाभ्यामुरोगतमिति हृदयशब्दवाच्यमवयवद्वितयमनुमीयते ” इति लिखितम् ।
एतदपि विवादास्पदमेव । संहिताग्रंथेषु हृदयं कोष्ठांगमिति प्रतिपादितम् । तथा
हृदयमेकमिति सर्वासु संहितासु वर्तते । कोष्ठांगस्य हृदयस्यैव हृद्रोगा भवन्ति न
मूर्ध्नि स्थितस्य । प्रत्यक्षशरीरद्रष्टुभिरपि मस्तिष्कगता ये रोगाः पक्षवधादयो वर्णिता-
स्ते संहिताग्रन्थेषु न हृद्रोगेष्वन्तर्भूताः । हृदयद्वितयकल्पनया ग्रन्थकारेण
साधकपित्तस्य स्थानमपि मस्तिष्कमेवेति कथितम् । सर्वमेतद्विवास्पदं मन्ये । अस्तु ।
एवंविधानि द्वित्राणि स्थलानि मुक्त्वा ग्रन्थोऽयं संहिताग्रन्थतात्पर्यावबोधक एव । दोषाणां
ये पंचदश भेदा वर्णिताः संहिताग्रन्थेषु तेषां विशेषेण कृतं विवरणं आधुनिकानामपि
सम्मतं भवेदिति मन्ये । पेय्यादीनां कार्यं कथं भवतीत्यादयो विषया अर्वाचीनपद्धत्या
स्पष्टीकृताः । अद्यावधि वैद्यकग्रन्थेषु दोषविषयकं यद्यत् दृश्यते तस्य सर्वस्य संग्र-
होऽस्मिन्ग्रन्थे दृश्यते । दोषज्ञानं चिकीर्षुभिरेतत्पुस्तकमवश्यमेव पठनीयं तेन दोषवि-
षयकं सर्वं विज्ञातं स्यात् । श्री. हिल्लेकरमहाभागैरेतद्ग्रन्थलेखने ये च परिश्रमाः
कृतास्तदर्थमभिनन्दनं कृत्वा विरमाग्यस्मदीयादभिप्रायलेखात् । इति शम् ।

गणेशशास्त्री जोशी [पुण्यपत्तनम्]

श्रीमतां वैद्यभूषणानां दातारोपनामधेयानां वामनशास्त्रिणां
(जनस्थाननिवासिनाम्) अभिप्रायः ।

श्रीमते वैद्यराजाय पुरुषोत्तमशर्मणे ।
 प्रव्हीमावं समाश्रित्य निवेदयति वामनः ॥ १ ॥
 श्रीमत्कृतं ग्रन्थराजं “ शरीरं तत्त्वदर्शनम् ।
 वातादिदोषविज्ञाननामानं प्राप्तवानहम् ॥ २ ॥
 पर्यालोच्य यथामत्या स्वाभिप्रायोऽत्र दीयते ।
 वातादिदोषविज्ञानविषयो जटिलीकृतः ॥ ३ ॥
 पाश्चात्यसंस्कारशास्त्रभक्तैस्तद्देशजैस्तथा ।
 राजशासनमर्मज्ञैर्हठात् कुटिलबुद्धिभिः ॥ ४ ॥
 आर्यज्ञास्त्रार्थहान्यै च स्वशास्त्रार्थविवृद्धये ।
 बुद्ध्या हतास्तु ये लोकास्सुहृतास्ते भवन्त्यथ ॥ ५ ॥
 इमं न्यायमनुसृत्य चेष्टमानैः पदे पदे ।
 तद्वत्तत्तत्शिक्षणोत्पन्नाऽश्रद्धावद्भिरपि स्वकैः ॥ ६ ॥
 विषयोऽयमशास्त्रीयो कल्पनैव हि केवलम् ।
 आयुर्वेदो दोषमूलो न शास्त्रमिति घोषितम् ॥ ७ ॥
 त्रिदोषमूलायुर्वेदेऽत्युत्पन्ने घोरसंकटे ।
 यत्नस्तत्परिहारार्थं सुधीर्भिर्बहुभिः कृतः ॥ ८ ॥
 आयुर्वेदाभ्यासलोपो जातश्च बहुकारणैः ।
 देशेऽस्मिन् विषये तेन नैकमत्वं विलोक्यते ॥ ९ ॥
 शास्त्रसद्भावमालोच्य गाढाऽभ्यसनयोगतः ।
 तत्त्वविद्विषजमैकमत्वं खल्वत्र बांछितम् ॥ १० ॥
 तथाच ‘ कल्पना ’ दोषाः सच्छास्त्रं नार्यवैद्यकम् ।
 इत्याक्षेपनिरासश्च भिन्नैरेभिर्मतैः कृतः ॥ ११ ॥

विषयेऽस्मिन् नैकग्रन्थाः प्रबन्धा बहुभिः कृताः ॥

साम्प्रतं विद्यमानाश्च लभन्ते शोभनं हि तत् ॥ १२ ॥

पूर्वं श्रीमद्भिरप्यस्मिन् विषये देशभाषया ।

निर्माय ग्रन्थं स्वमतं विशिष्टं संप्रकाशितम् ॥ १३ ॥

वारंवारं समुत्पन्ने मतभेदेऽपि श्रीमता ।

लेखैरनेकैः स्वीयानां मतानां मण्डनं कृतम् ॥ १४ ॥

श्रीमतामस्मदीयानां नैकेषां भिषजां तथा ।

भिन्ना विचारसरणिर्विद्यते प्रथितं तु तत् ॥ १५ ॥

“ वाताद्याः केवलं दोषा गुणरूपाश्च शक्तयः ।

धात्वाश्रिताः पदार्थाश्च स्वसंज्ञासंज्ञिताश्च ते ॥ १६ ॥

कार्याऽनुमेयाः परमसूक्ष्मास्तर्क्या भवन्मतम् ” ।

स्थूलसूक्ष्मातिसूक्ष्माश्च तेऽवस्थावशतस्तथा ॥ १७ ॥

मूर्ता दृश्या मानगुणकर्मशक्तियुताश्च ते ।

उत्तत्तिमन्तो नित्यं हि पदार्थाः कथिता हि ते ॥ १८ ॥

देहधारणमालिन्यकरणाद्वातवो मलाः ।

दोषसंज्ञासंज्ञितास्तु द्रव्याण्येवेति मन्मतम् ॥ १९ ॥

उभयोः पक्षयोर्भिन्नविचारप्रथितैर्मतैः ।

वैद्यसम्मेलनसमावृत्तपत्रादिकेष्वपि ॥ २० ॥

चर्चया भाषणैर्लेखैः संघर्षोऽभूत्पुरा महान् ।

सत्येवं मतवैभिन्ये श्रीमद्भिर्प्रथितं त्विदम् ॥ २१ ॥

‘ वातादिदोषविज्ञानं शरीरं तत्त्वदर्शनम् ’ ।

सर्वेषां वैद्यवृन्दानां शास्त्राभ्यसनशालिनाम् ॥ २२ ॥

ज्ञातव्यवैद्यशास्त्राणां सर्वान्तेवासिनां मुदा ।

पक्षान्तरमताऽलोकार्थं पुरस्क्रियते मया ॥ २३ ॥

हठाग्रहं समुत्सृज्य निर्विकारेण चेतसा ।

स्वमतानां पुरस्कारप्रवणेनापि निष्ठया ॥ २४ ॥

ग्रन्थेऽस्मिन् बुद्धिकौशल्यं रचनापाटवं तथा ।
 भाषाप्रभुत्वं सारल्यं सुबोधत्वं हि व्यज्यते ॥ २५ ॥
 कुशाग्रया धिषणया स्वमतप्रतिपादनम् ।
 पांडित्यपूर्णपद्धत्या कृतमित्यवधार्यते ॥ २६ ॥
 श्लोकार्थान् विशदीकर्तुं टीका या रचिता शुभा ।
 साऽपि ग्रन्थाशयं सर्वं सुरपष्टं प्रकरोति च ॥ २७ ॥
 कानिचिद्दर्शनान्यस्मिन् रमणीयतमानि च ।
 गूढार्थैः सुनिगूढानि शोभनानि विशेषतः ॥ २८ ॥
 त्रिदोषविषये चैता या विवेचनपद्धतिः ।
 सत्याऽसत्याऽशास्त्रीया वा शास्त्रीया सम्प्रवर्तिता ॥ २९ ॥
 तस्य :सर्वं सुविस्पष्टं ग्रन्थेऽस्मिन् वर्णनं कृतम् ।
 ग्रन्थोऽयं शोभनः श्रेष्ठोऽभ्यसनीयश्च सर्वथा ॥ ३० ॥
 सर्वैरवश्यं संग्राह्यस्तत्त्वजिज्ञासुभिर्बुधैः ।
 पठितेनापि ग्रन्थेनामुनाऽस्मन्मतविच्युतिः ॥ ३१ ॥
 न मनागपि संजाता स्वमते निर्भरोऽस्म्यहम् ।
 तथापि ग्रन्थकृद्बुद्धिपाण्डित्यादीनि सर्वथा ॥ ३२ ॥
 श्रेष्ठान्यादरणीयानि मुक्तकण्ठं वदाम्यहम् ।
 ग्रन्थकर्त्रे प्रभुर्दद्यात्पुण्यायुवृद्धिकृद्गणम् ॥ ३३ ॥

वामनशास्त्री दातारः (जनस्थानम्)

श्रीमतां प्राणाचार्यकृष्णशास्त्रिदेवधर (नासिक)

॥ १ ॥ महोदयानामाभिप्रायः ।

श्रीमदीय पत्रं “शारीरं तत्त्वदर्शनं नाम वातादिदोषविज्ञानम्” नामकः ग्रन्थश्च प्राप्तः । महता प्रयत्नेन सरलया संस्कृतभाषया लिखितोऽयं ग्रन्थो विषयविशदीकरणपरया समीक्षाख्यया व्याख्यया हिन्दीभाषानुवादेन चालंकृत आयुर्वेदीयतत्त्वजिज्ञासूनां सुगमो भवेदित मन्थे । ग्रन्थस्य तत्प्रतिपादितविषयस्य च महत्त्वमवलोक्य स्वल्पीयसा कालेन तदुपरि विशेषाभिप्रायाविष्करणं दुःशकं मन्यमानोऽयं जनः प्रचलितत्रिदोषवादविषये निर्णयोपकारको भविष्यत्ययं ग्रन्थ इत्याशास्ते ।

जनस्थान [नासिक] निवासी
देवधरोपनामा कृष्णशर्मा, वैद्यः

श्रीमान् वैद्यरत्न रसायनाचार्य कविराज् प्रतापसिंहजी

(काशी) का अभिप्राय ।

“शारीरं तत्त्वदर्शनम्” का अवलोकन कर परम प्रसन्नता हुई । यह ग्रन्थ मेरे परममित्र पं. पुरुषोत्तम सखारामजी हिलेकर महोदयने बड़े परिश्रम और वर्षोंकी खोजके बाद लिखा है । आप सिद्धहस्त, संस्कृतभाषाके सुकवि और विज्ञ वैद्य हैं । आपका यह ग्रन्थरत्न ऐसे समयमें प्रकाशित हो रहा है, जब प्राच्यप्रतीच्य चिकित्साशास्त्रके अध्ययन-अध्यापनके विषयमें परम संघर्षता चल रही है । आयुर्वेदके पुरातत्त्वको प्रतिपादित करते हुए भी आपने अनेक प्रत्यक्ष-सिद्ध शारोतत्त्वोंका ऐसे सुन्दर ढंगसे समन्वय किया है कि वे आयुर्वेद-शारीरके अंगीभूत हो गये हैं ।

इस ग्रंथका जितना प्रचार होगा उतनीही आयुर्वेदकी उन्नतिमें सहायता मिलेगी । मैं वैद्यसमाजके कर्णधारोंसे प्रार्थना करता हूं कि, वे इसको अपना कर आयुर्वेदकी प्रगतिशीलतामें सहायक हों ।

लेखक महोदयको इस सफल प्रयत्नके लिये हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूं । ग्रन्थ परम उपादेय और पाठ्य ग्रंथोंमें सम्मिलित करनेके लिये सर्वथा उपयुक्त है ।

कविराज प्रतापसिंहजी
(बनारस)

श्रीमतां ' घुले ' इत्युपाव्हानां कृष्णशास्त्रिमहोदयानां
नागपुरनिवासिनामभिप्रायः ।

अमरावतीनिवासिभिस्तत्रभवद्भिर्हिल्लैकरोपाव्हैः पुरुषोत्तमाभिधानैः भिष-
ग्वर्यैः खलु शरीरं तत्त्वदर्शनं नाम भागद्वयात्मको ग्रन्थः प्रणीतस्तस्मत्संस्कारं सानु-
ग्रहं प्रेषितवद्भिः सुबहूपकृताः स्मः । विषयश्चास्य ग्रन्थनाम्नैव सुस्पष्टं प्रतीयमानोऽपि
ग्रन्थकृद्भिर्ग्रन्थारम्भे स्व ' निवेदने ऽत्र ग्रन्थे प्राधान्येन प्रतिपाद्यमानस्य वातादिदोष-
विज्ञानस्य प्रतिपादनोपयुक्ता ये बहवो विषयाः सप्रपञ्चं निरूपितास्तेषां पठनमात्रेण
महतोऽप्यस्य ग्रन्थस्य स्वरूपमनायासेन विशदं भवति । श्लोकनिबद्धोऽप्ययं ग्रन्थः स्वयं
सुबोधोऽपि ग्रन्थकृद्भिरेवं पुनः स्वविरचितया व्याख्यया समलंकृत्य तथा सुबोधतरः
सम्पादितो यथा ह्यनभिज्ञा अपि वयमायुर्वेदस्य पठन्तस्तं प्रतिपन्नमुत्तरोत्तरमेधमान-
मानन्दमन्वभूम । इयतीं सुबोधतामापादितोऽपि स संस्कृतभाषानभिज्ञानामगोचरो मा-
भूदिति तेषां प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं समधिगतायुर्वेदतत्त्वज्ञैर्देशपाण्डे इत्युपाव्है-
र्हरिहराभिधानैर्भिषग्भिर्विहितो हिन्दीभाषानुवादोऽपि तैश्च संगृहीतः । एतावतो महतो
यत्नस्य द्रव्यादिव्ययस्य प्रयोजनं खल्वधुनातनानामाङ्गलभैषज्यशिक्षाभिभूत-
शेमुषीकाणामनाघ्रातार्तुवदगन्धानामपि आयुर्वेदोक्तं शरीरस्य वातपित्तादिदोषत्रय-

वत्त्वमशास्त्रीयं कल्पनामात्राधिष्ठानमित्येवमादि प्रलपतां मुखस्तम्भनमेव । तच्च निश्चयेन विधास्यमानेनानेन ग्रन्थेन त्रिदोषाविषयिका विप्रातिपात्तिरपुनर्भवायावसास्यतीति दृढं विश्वासिमः । अंतः खल्वायुर्वेदतत्त्वं जिज्ञासमाना आर्याः संस्कृतभाषाभिज्ञाः संस्कृत-भाषानभिज्ञाश्चापीमं ग्रन्थं सादरं सगृह्य श्रीहिल्लैकरमहाभागान् श्रीदेशपाण्डेमहाशयांश्च सफलश्रमान्करिष्यन्तीति बलवदाशास्महे वयम् ।

घुलेइत्युपाव्हाः कृष्णशास्त्रिणः ।

(नागपुरम्)

श्रीमदायुर्वेदाचार्यगुलराजशर्ममहोदयानां नागपुरनिवासिना-
मभिप्रायः ।

धन्यः स खलु भगवान् परमकारुणिकः श्रीधन्वन्तरिर्यस्य प्रसादान्मयाऽद्य विद्याविनयादिगुणगणालंकृतैरुमरावतीवास्तव्यहिल्लैकरोपावहश्रीमत्पण्डितप्रवरवैद्य-भूषणाद्यनेकविरुदावलिबिभूषितैः पुरुषोत्तमशर्मशास्त्रिमहोदयैर्विनिर्मितं “ शारीरं तत्त्वदर्शनम् ” वातादिदोषविज्ञानापरपर्यायं साद्यन्तं व्यलोकि निर्भरेणेति ।

जानन्ति विपश्चितोऽस्मिन् वैज्ञानिके युगेऽन्यदेशेभ्यो भारतस्य निकृष्टां दशां वातपित्तकफदोषाणां विषये वैज्ञानिकत्वाज्ञानध्वान्तान्तःकरणानां पाश्चात्यमतावल-म्बिनामितरेषां च विदुषामूशपोहं च । किन्तु ग्रन्थरत्नस्यास्य प्रभाभरेण समुत्सारितं तदज्ञानतमः ।

अहह, ग्रन्थेऽस्मिन् शास्त्रिचणानां गुणगणगरिमाचमत्कृतचातुरीसंकलना चन्दयति चेतांसि गुणप्राहिणामत्सराणां विदुषाम् । ग्रन्थोऽयं ग्रन्थकर्तुःप्रवरपा-ण्डित्यं, विषयविवरणपाटनं, आयुर्वेदे कृतभूरिपरिश्रमं च प्रकटयति । किम्बहुनाऽत्र प्रतिपादिता दोषधात्वादिकाः शारीरा भावगाम्भीर्या अपि वैज्ञानिकपरिष्कृतविषया विरचनसरणिवैचक्षण्यचातुर्येण मूर्तीभूता इवाभाति विषयान्तस्तलं जिज्ञासूनां

भिषजाम् । अपि च, ईदृशैरेव ग्रन्थरत्नैरायुर्वेदशास्त्रं प्रात्यहिकीमभिवृद्धिमाप्स्यतीति नो दृढीयान् विश्वासः । यस्य ग्रन्थस्य बहोः कालात्प्रतीक्षाऽऽसीत् स एवाद्यात्मदृग्गोचरीभूतो वर्तते । अतः पुस्तकमिदं सर्वैरप्यगदङ्कारैरध्यापकैश्चात्रैश्चावश्यमादेयं प्रचारणीयं चेत्यभ्यर्थयते साग्रहम् ।

श्रीगुलराजशर्मा मिश्रः ।

(नागपुरम्)

श्रीमतां शंकर रंगो रानडे इत्याख्यानामायुर्वेद-
विशारदानामभिप्रायः ।

संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ।

श्रीमद्भिरायुर्वेदविभूषणैः पुरुषोत्तमशास्त्रिहिल्लेकरमहाभागैर्विरचितः शरीरं तत्त्वदर्शनं नाम वातादिदोषविज्ञानम् इत्याख्योऽयं ग्रन्थः सवर्थाऽभिनव-स्वरूपो वातादिदोषाणां मायुर्वेदतत्त्वस्वरूपाणां यथावदवबोधार्थं यथा जिज्ञासुजन-सहायस्तथैवाक्षेपकाणामाक्षेपनिरासपूर्वमायुर्वेदस्य शास्त्रीयत्वप्रस्थापनेऽप्युत्तमं साधन-मित्यत्र ग्रन्थार्थप्रतिपत्तिमन्तरा नान्यदवश्यं प्रत्ययान्तरम् ।

चरकसुश्रुतादिप्रणीतप्राचीनसंहितागतानां वातादिदोषसंबन्धिनां वाक्यानां समुच्चयार्थमवधार्य सरलसुगमावबोधया संस्कृतभाषया पद्यरूपेण विरचिते ग्रन्थेऽस्मिन् तथा ग्रन्थकृतकृतायां व्याख्यायां च समीक्षाख्यायां वातादीनां यथार्थत्वं वैद्यकव्ययहारोप-युक्तत्वं च तथा वर्णितं यथा तर्कयुक्तिविचक्षणानामपि चेतःस्वायुर्वेदविज्ञानादरः सुप्रतिष्ठितो भवेदवश्यम् ।

पंचभूतविकारशरीरिसमवायस्वरूपे शरीरे समवायितानां दोषाणां वातपित्त-श्लेष्मणां पांचभौतिकांशसम्बन्धो, गुणविशेषाः, गुणविशेषाणां स्वरूपम्, क्रिया-स्वरूपम्, धातुमलेभ्यो वैशिष्ट्यं, व्यापित्वं, स्थानान्तरानुसारेण स्वरूपगुणक्रियाविशेषस्तथा विषयाणामेतेषां स्पष्टीकरणार्थं शारीरद्रव्याणामुत्पत्तिवृद्धि-हासादीनां विवेचनमस्मिन् ग्रन्थे सुविशदमकारि ग्रन्थकृता तेन च वातादिविज्ञानविषयः सुस्पष्टः सुगमावबोधश्च

भवेत् भेदेच्चायुर्वेदसम्बन्धिनामयथाकल्पनामूलानामवास्तवानामाक्षेपाणामाशंकानां च निरासः इत्यवधार्यते मया ।

ग्रन्थस्यास्योत्तरार्धे स्थानान्तरसम्भवानां क्रियाविशेषाणां, विकृतिविशेषाणां तदवस्थानां चोत्पादकत्वं, विकारसंख्यानं, शीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनां गुणानां, वेगोत्साहादीनां कर्मणाम्, शोथशूलदाहपाकादीनां विकृतिविशेषाणां चाविष्करण-मित्याद्यायुर्वेदीयव्याधिविज्ञानतत्त्वजिज्ञासूनां विशेषेणोपकारकं मन्ये ।

दोषभेदानां स्थानकर्मोपवर्णने प्राणाद्यस्य वायोः साधकापित्तस्यावलम्बकस्य च श्लेष्मभेदस्योपवर्णनं मतभेदविषयमप्यवश्यं चिन्तनीयं स्यात्प्रेक्षावताम् ।

सर्वथा प्राचीनायुर्वेदीयतन्त्रानुगतार्थोऽप्ययं ग्रन्थो ग्रन्थान्तरगतसूक्तिसंग्रहान्मुनिप्रतिपादितानामर्थानामभिव्यक्तीकरणाच्च साकल्येन सौलभ्येन च वातादिविज्ञानसाधन इत्यायुर्वेदमाधिगन्तुमिच्छद्भिश्चात्रैर्विद्वद्भिश्चादरणीयः संवृत्तः ।

संप्रत्यायुर्वेदप्रतिपादितविषयानुसारं विशदविस्तृतविवेचनयुक्तानां प्रतिविषयं स्वतंत्रतया विरचितानां ग्रन्थानामवश्यकतायां प्रतीयमानायामायुर्वेदतत्त्वरूपवातादिदोषविषयमनुसृत्यैवंविधं ग्रन्थं विनिर्मायानुगृहीत आयुर्वेदतत्त्वजिज्ञासुजन इत्यभिनन्द्य ग्रन्थकर्तारमेवंविधग्रन्थान्तरनिर्माणार्थमायुरारोग्यादिकं विपुल ग्रन्थकर्त्रे दद्याद्वन्न्तरिर्भगवानित्यभ्यर्थयामि ।

रानडे इत्युपाह्वः शंकरशर्मा

चिकित्सकः ।

श्रीमतां वैद्यविभूषणानां गोपाल कृष्ण शास्त्री केतकर-

महाशयानामभिप्रायः ।

आधुनिक कालांत प्राचीन भारतीय विद्यांचें महत्त्व प्रस्थापित करणें ही अत्यंत कठिण व परिश्रमाची गोष्ट समजली पाहिजे; आणि त्यांतल्यात्यांत आयुर्वेदासारख्या प्राचीन शास्त्राच्या यशाचा डिंडिम, पाश्चात्यवैद्यकांनं सुशिक्षित भारतीयांना संमोहित करून टाकलें असताना तें संमोहन नष्ट करून टाकूं शकेल इतक्या प्रभावपूर्ण रीतीने वाजविणें हें तर विशेषच कठिण यांत शंका नाही. परंतु अलीकडे, अशाही दुर्विद्याग्रस्त व दुराग्रही लोकांचा देशी वैद्यकावर होणारा प्रचंड आघात निरस्त करून आयुर्वेदाचा भाग्योदय घडवून आणणारे व म्हणूनच प्राच्यविद्यापंडितांच्या भूषणास पात्र झालेले जे कांही थोडे लोक भारतवर्षाच्या नभःप्रांगणांत आपल्या बुद्धिवैभवानें चमकूं लागले आहेत त्यांत आमचे गुरुबंधु व सुहृद्वर्य वैद्यविद्यापारंगत वैद्यभूषण पुरुषोत्तमशास्त्री हिलेंकर यांची गणना होऊं शकते. गेल्या १५।२० वर्षांत त्यांनी आपल्या वक्तृत्वपूर्ण वाणीनें व प्रभावी लेखणीनें आयुर्वेदाची आणि विशेषतः आयुर्वेदाचा अधिष्ठानभूत असा जो त्रिदोषसिद्धांत त्याची शास्त्रीयता अनेक संमेलनांच्या अध्यक्षीय व्यासपीठावरून आणि अनेकविध नियतकालिकांतून प्रस्थापित केली आहे.

परंतु गेल्या २०।२५ वर्षांचा आयुर्वेदाचा अध्यवसाय, मनन, निदिध्यास व अध्यापन यांचा संपूर्ण परिपाक त्यांनी जो नुक्ताच शारीरं तत्त्वदर्शनं, अथवा 'वातादिदोषविज्ञानम्' नांवाचा ग्रंथ लिहिला आहे त्यांत दिसून येत आहे. गु. बाळशास्त्री उर्फ बाबालावगनकर यांच्या जवळ २५।३० वर्षांपूर्वी बसून ज्यांनी त्यांच्या अगाध ज्ञानोदधीतील आयुर्वेदशास्त्रामृत प्राशन केलें आहे त्या अस्मत्सदृश लोकांना हा ग्रंथ वाचीत असतानां ग्रंथरूपानें गुरुवर्यांची मूर्तिमंत प्रतिकृति आपल्या समोर उभी आहे, असा मास होतो व निरतिशय आनंदानें अतःकरण भरून येतें.

या ग्रंथाचें वाचन करीत असतांना सुलभ परंतु प्रवाही संकृत भाषेतून आयुर्वेदाच्या गहन अशाही सिद्धांताचा सुलभ व आनंददायी रीतीनें आविष्कार होत जातो. वात, पित्त व कफ हे तीन दोष, रसरक्तादि सात धातु आणि पुरीषमूत्रादि तीन मल यांच्या वास्तविक स्वरूपाचा परिचय ह्या ग्रंथाच्या वाचनानें जितका यथार्थ परिणामक होतो तितका दुसऱ्या कोणत्याहि ग्रंथानें आजवर होऊं शकला नाहीं. विषयप्रतिपादन भाषा, विवरणशैली आणि प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रंथांचा मार्मिक समन्वय इ. सर्व प्रकारे हा ग्रंथ व त्यावरील ग्रंथकर्त्यानें लिहिलेली समीक्षा नामक टीका अपूर्व आहेत यांत शंका नाहीं. असा अपूर्व ग्रंथ लिहून हल्लींच्या अत्यंत विकट आर्थिक परिस्थितीच्या काळांतही प्रसिद्ध केल्याबद्दल वै. भू. हिर्लेकर शास्त्री यांचे मनःपूर्वक अभिनंदन करतो व या पुढें उत्तरोत्तर त्यांच्या हातून अशीच आयुर्वेदसेवा घडो व गु. बाबांच्या, उज्ज्वल संप्रदायानें आयुर्वेदाचा अभ्युदय होवो अशी भगवान् धन्वंतरीची प्रार्थना करतो.

वैद्य गोपाल कृष्ण शास्त्री केतकर

एलिचपूर शहर.

श्रीः ।

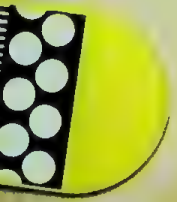
हिल्लैकरोपनाम्ना सखारामात्मजेन पुरुषोत्तमशर्मणा भिषजा विरचितं ग्रन्थकृद्विहितया
समीक्षाख्यया व्याख्यया समुपबृंहितम् ।

देशपाण्डे इत्युपनाम्ना वामनात्मजेन हरिहरशर्मणा भिषजा कृतेन
हिन्दीभाषानुवादेन समलंकृतम् ।

शारीरं तत्त्वदर्शनम् ।

नाम

वातादिदोषविज्ञानम् ।



उत्तरार्धे च स्थानविशेषाश्रयिणां वातादीनां गुणकर्मविशेषाः श्वसनपचनोत्सर्ज-
नादिक्रियाविशेषाभिनिर्वर्तनं चोपदिश्य विकृतानां स्वरूपं, विकारोत्पादकत्वं, विका-
राणां सामान्यं विशिष्टं च स्वरूपं व्याधीनां व्याध्यवस्थानां चोत्पादकत्वं हेतुस्थानसंस्था-
नभेदाद्विविधानामपि व्याधीनां वाताद्यनुसारेण त्रैविध्यं, संसर्गसन्निपातभेदस्वरूपं, व्याधि-
विनिश्चये चिकित्सायामौषधादिद्रव्यगुणकर्मविवेचने चावबोधकत्वमित्यादि स्फुटीकृतं
येनायुर्वेदीयतन्त्रान्तरेषु प्रतिपादितानां वातपित्तश्लेष्मणां तदनुसारेणोपवर्णितानां च
स्वस्थानुरहितसम्बन्धिनां विषयाणां नानाविधानामवबोधो भवेद्यथावदिति ।

ग्रन्थोक्तार्थस्याभिव्यञ्जनार्थं च कृता व्याख्या समीक्षा नाम । यस्यां वातपित्त-
श्लेष्मणां स्वभावगुणकर्मभिर्यायार्थप्रतिपत्तिर्भवेत्समीक्षकाणामेवं विशदीकृतो ग्रन्थामिप्रायः
प्राचीनायुर्वेदीयग्रन्थान्तरोक्तिभिः प्रमाणीकृतश्च ।

(व्याख्यायां विवक्षितार्थप्रमाणत्वेनोपयुक्तानि ग्रन्थान्तरीयवाक्यान्यकाराद्यनुक्रमेण
ग्रन्थावसाने संगृहीतानि ।)

‘ शारीरं तत्त्वदर्शनं ’ नामायं ग्रन्थः संस्कृतभाषायामल्पानुरागिणामब्रह्मानुरागि-
णामपि भवेत्सुगमावबोध इति हिन्दीभाषानुवादेन समलंकृतः । ग्रन्थप्रतिपादितानां
व्याख्यायां विशदीकृतानां च विषयाणां यथावदभिव्यञ्जनं विहितं हिन्दीभाषायामित्यनु-
वादकारिणः श्रीदेशपाण्डे इत्युपनामधेया वामनात्मजा हरिहरशर्माणो बाङ्गमयविशारदा
भिषक्प्रवराः सर्वथा धन्यवादार्हाः ।

नानाविधानां विज्ञानविषयाणां संस्कृतभाषायाश्च बाढावबोधाभावाच्च दोषविवर्जितो-
ऽप्यायुर्वेदतत्त्वरूपाणां वातपित्तश्लेष्मणां तदनुरोधादुपवर्णितानां स्वस्थानुरहितविषयाणां
यथावत्त्वदर्शनप्रयत्नस्वरूपोऽयं ग्रन्थः “ शारीरं तत्त्वदर्शनं ” “ वातादिदोषविज्ञानं ”
वा नाम विद्वद्भिरायुर्वेदविद्विरायुर्वेदतत्त्वार्थमधिगन्तुमिच्छाद्भिश्च प्रेक्षावद्भिः समादरणीय
इत्यभ्यर्थना—

विद्वत्सुविनीतस्य-ग्रन्थकर्तुः

हिल्लैकरोपाभिधानस्य भिषजः

पुरुषोत्तमशर्मणः ।



ग्रन्थकर्तुर्निवेदनम् ।

अथ संवत्सराणां सहस्राणि यावदारोग्यसंरक्षणसंवर्धनस्य सम्यक् सम्पादनात्प्रधानं पुरुषार्थसाधनं भिषग्विज्ञानं भारतीयानामायुर्वेदो नाम इति सादरो विश्वासः कालेन शिथिलीभूतः सन्देहश्च प्रादुरभूदायुर्वेदस्य शास्त्रीयत्वविषये स्वस्थातुरहितसम्पादनक्षमत्वे च केषांचनान्तरेष्वित्यत्र कारणवैविध्येऽप्यायुर्वेदतत्त्वरूपाणां वातपित्तश्लेष्मणां यथावत्प्रतिपत्त्यभावः प्राधान्येनोपलक्ष्यते । शारीरक्रियाविक्रियोपक्रमाद्यखिलं वातादिदोषत्रयानुसारेणैवोपवर्णितमप्यायुर्वेदीयतन्त्रातरेषु वातादीनां सुविशदं स्वतन्त्रतया विहितं स्वभावगुणकर्मोपवर्णनमेकत्र नोपलभ्यते । तत्र तत्र विवेचनप्रसंगेनाभिहितानां वाक्यानां समन्वयादधिगन्तव्यं स्वरूपं वातादीनामिति चरकसुश्रुतवाग्भटप्रणीतानां प्रमाणत्वेनाधिकृतानां ग्रन्थानामभिप्रायाद्विरचितोऽयं ग्रन्थः “ शरीरं तत्त्वदर्शनं ” नाम ।

किं वा स्वरूपं वातादीनां, के गुणाः कानि वा कर्माणि, कीदृशं शरीरोत्पादनाभिवर्धनकरत्वं, के भेदाः, के च स्थानकर्मविशेषाः किं नाम वैषम्यं विविधव्याध्युत्पादकं, कीदृशो विकारोपक्रमेषु सम्बन्धः, कथं वा यथावदधिगता आयुर्वेदोपदेशावबोधसहाया भवन्तीत्यादिकमखिलमस्मिन्निवेचितं यथाविशदं येनायुर्वेदप्रतिपादितानां विषयाणां विविधानां विज्ञानं भवेद्यथावदिति ।

भागद्वयात्मकस्यास्य ग्रन्थस्य पूर्वार्धे वातादिदोषाणां स्वरूपं कर्म च सर्वशरीरगतं सामान्येनोपदर्शितम् । पञ्चभूतविकाराणां समुदायाच्चेतनासहितात्समुद्भूतस्य शरीरस्यांगप्रत्यंगगतानां सूक्ष्मानुसूक्ष्माणामवयवानां द्रव्याणां च स्वभावो, विशेषः कर्माण्युत्पत्तिवृद्धिविकासोत्क्रान्त्यादिस्वरूपाणि, परस्परानुबन्धश्चेत्यादिकं विविच्य तद्गतानां वातादीनां स्निग्धशीताद्या गुणास्तेषां पांचभौतिकांशसंयोगः विशेषश्चोपदिष्टः । देहक्रियाणां जीवनसाधनानां स्वरूपमभिधाय चलनपचनपोषणानां कर्तारस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माण एवैतत्संस्थादका इति गंगावद्विशदीकृतम् ।

शारीरं तत्त्वदर्शनं नाम वातादिदोषविज्ञानम् ।

प्रकरणानि

पूर्वार्धम् ।

श्लोकसंख्या

मंगलादि प्रस्तावनम् ।	...	१०
(१) दोषधातुमलसंज्ञादर्शनम् ।	...	४१
(२) दोषधातुमलानां स्वरूपम् ।	...	५१
(३) स्वरूपकर्मसंज्ञाविशेषदर्शनम् ।	...	६१
(४) धातूत्पत्तिक्रमस्वरूपदर्शनम् ।	...	३०
(५) शारीरद्रव्यसामर्थ्यदर्शनम् ।	...	६५॥
(६) शरीरस्य संघातात्मतादर्शनम् ।	...	४४
(७) शरीरधातूनां सामर्थ्यविशेषदर्शनम् ।	...	२९॥
(८) शारीरपदार्थानां गुणविशेषदर्शनम् ।	...	२९
(९) गुणविशेषदर्शनम् ।	...	३३
(१०) दोषाणां गुणसमुदायत्वदर्शनम् ।	...	४९
(११) दोषाणां सामर्थ्यविशेषदर्शनम् ।	...	४३
(१२) वातादीनां दोषाभिधेयत्वदर्शनम् ।	...	२०
उक्तार्थसंग्रहः	...	१३

१२

५१९

उत्तरार्धम् ।

(१) दोषगुणाश्रयस्थानविशेषदर्शनम् ।	...	६३
(२) दोषभेदस्वरूपदर्शनम् ।	...	४६
(३) दोषत्रयानुसारेण कर्मत्रितयप्राधान्यदर्शनम् ।	...	१०९
(४) दोषत्रितयानुसारेण विकारत्रितयदर्शनम् ।	...	५८
(५) वातादिदोषाणां विकारसंख्यास्वरूपदर्शनम् ।	...	९२
(६) शूलदाहशोथात्मकविकारत्रैविध्यदर्शनम् ।	...	८८॥
(७) संसर्गसन्निपातस्वरूपदर्शनम् ।	...	४२
(८) विकृतिविशेषोत्पादकदोषानुबन्धदर्शनम् ।	...	५२॥
(९) चिकित्सायां दोषानुबन्धदर्शनम् ।	...	५३
(१०) चिकित्साविशेषे वाताद्यनुबन्धदर्शनम् ।	...	२९
(११) द्रव्यगुणवर्णने दोषानुबन्धदर्शनम् ।	...	५९
(१२) समासतो वातादीनां विज्ञेयविषयदर्शनम् ।	...	९६
उक्तार्थसंग्रहः	...	१४

१२

२४

८०२॥

१३२१॥

पाठकेभ्योऽभ्यर्थनम् ।

ग्रंथगतानां मुद्रणदोषाणां संशोधनं ग्रंथावसानेऽवलोकनीयं कृपयेति ।

॥ श्रीः ॥

शारीरे तत्त्वदर्शने प्रतिपादितानां विषयाणामनुक्रमः ।

विषयः

पृष्ठम्

पूर्वाधे ।

१ मंगलपूर्वं प्रस्तावनम् ।

...

१-७

प्रथमं दर्शनम् ।

१	समाप्तो देहसंख्यानम् ।	...	८
२	अंगोपांगानां दोषधातुमलययत्वम् ।	...	९
३	सुसूक्ष्मावयवानामपि दोषधातुमलरूपत्वम् ।	...	१०
४	दोषधातुमलानां देहोपादानत्वम् ।	...	१०
५	दोषधातुमलानां शब्दार्थानुसारं कर्माणि ।	...	११-१२
६	शब्दार्थानुसारं कर्मस्वीकारे विरोधः ।	...	१२
७	दोषाणां स्वस्थानुरवृत्तिरूपत्वम् ।	...	१३
८	वातपित्तश्लेष्माणो न केवलं दूषयितारः ।	...	१३
९	मला अपि शरीरधारकाः ।	...	१३
१०	धातुसंज्ञासामान्यं दोषधातुमलानाम् ।	...	१४
११	दोषधातुमलानां संज्ञाभिदेहेतुः ।	...	१४-१५
१२	दोषधातुमलानां कर्मभेदः ।	...	१६
१३	रसादीनां धातुत्वम् ।	...	१७
१४	शारीरकर्मकर्तुर्निश्चये कर्मस्वरूपज्ञानं साधनम् ।	...	१८
१५	दोषाणां शक्तित्वरूपं धातूनां च द्रव्यरूपत्वम् ।	...	१९
१६	सृष्टपदार्थानां द्वैविध्यम् ।	...	१९
१७	कर्मरूपं जीवित्वम् ।	...	२०
१८	आहारादिधारकं द्रव्यम् ।	...	२१
१९	वातादयो धातुसंज्ञया न वाच्याः ।	...	२२
२०	दोषधातुमलानां धातुसंज्ञयाऽख्याने तद्विशेषबोधस्याभावः ।	...	२३
२१	दोषादिशब्दानां स्वसंज्ञावत्त्वम् ।	...	२३
२२	स्वसंज्ञानामव्यभिचारित्वम् ।	...	२३-२४

[२]

द्वितीयं दर्शनम् ।

विषयः

पृष्ठम्

१ स्थूलसूक्ष्ममेदात् द्वैविध्यं शरीरस्य ।	...	२७
२ स्थूलसूक्ष्मयोर्द्रव्यशक्तित्वम् ।	...	२७
३ शक्तिद्रव्ययोरन्योन्यावलम्बित्वम् ।	...	२८
४ व्यवहारार्थं संज्ञापरिकल्पनम् ।	...	२९
५ द्रव्यरूपस्य स्थूलरूपस्य वा द्वैविध्यं शरीरस्य ।	...	२९
६ दोषधातुमलानां स्वरूपविनिश्चयः ।	...	३०
७ जीवनं नाम ।	...	३१
८ जीवलोकस्य पंचभूतान्युपादानम् ।	...	३१
९ संयोगतो वियोगतश्च उत्पत्तिविनाशौ ।	...	३२
१० समानासमानत्वं वृद्धिक्षयकारणम् ।	...	३३
११ व्यक्तरूपाणां रसादिधातूनामुत्क्रांतिक्रमः ।	...	३३
१२ मलोत्पत्तिदर्शनम् ।	...	३४
१३ शरीरावयवानां क्रांतिरूपावस्थानम् ।	...	३५
१४ शरीरस्य क्रियाकरोऽशः ।	...	३६
१५ शरीरस्याधाररूपद्रव्योऽशः ।	...	३६
१६ क्षीयमाणस्वरूपः शरीरोऽशः ।	...	३६
१७ दोषधातुमलानां सामर्थ्यतारतम्यम् ।	...	३६
१८ शरीरं प्रमुखं त्रिविधं कर्म ।	...	३७-३८
१९ त्रयःकर्तारः ।	...	३८
२० दोषसंज्ञानामर्थानुगामित्वम् ।	...	३८
२१ शरीरोपकारकाणामेव दोषाणां दूषकत्वम् ।	...	३९
२२ घनद्रवविभेदाद्वातूनां द्वैविध्यम् ।	...	३९
२३ घनद्रवयोश्च प्रत्येकं द्वैविध्यम् ।	...	३९-४०
२४ मलमेदास्त्रयः ।	...	४१
२५ मलानां देहमूलकत्वं मलिनीकरणत्वं च ।	...	४३
२६ सर्वकर्मणां धात्वाश्रयत्वम् ।	...	४४
२७ रसादीनामेव यथार्था धातुसंज्ञा	...	४४

तृतीयं दर्शनम् ।

१ षड्धातवः शरीरस्य ।	...	४७
२ षड्धातूनां भूम्यादीनां भावाः ।	...	४७-४८

विषयः

पृष्ठम्

३	स्थूलसूक्ष्माभिधानं सापेक्षम् ।	...	४९
४	भूमेः सृष्टवस्तुधारकत्वम् ।	...	५०
५	भूमेराकर्षकत्वं स्थूलत्वं च ।	...	५०
६	भूतविशेषाधिक्याद्द्रवत्वादिकं द्रव्येषु ।	...	५१
७	सृष्टवस्तूनां पार्थिवत्वम् ।	...	५२
८	चेतनायाः प्रेरकत्वम् ।	...	५२
९	पंचभूतानां स्थूलसूक्ष्मत्वम् ।	...	५४
१०	भूमेर्गुणः कर्म च ।	...	५४
११	वायोर्गुणः कर्म च ।	...	५५
१२	सर्वकर्मणां चलनात्मकत्वम् ।	...	५५
१३	स्थिराश्चलाश्च परमाणवः ।	...	५६
१४	पदार्थान्तराणां मूर्तत्वममूर्तत्वं च ।	...	५७
१५	परमाणूनामुत्पत्तिविनाशे हेतुः संग्रहवियोगौ ।	...	५७
१६	संग्रहः पार्थिवो वियोगश्च वायव्यः ।	...	५८
१७	पदार्थोत्पत्तिक्रमः रसस्वरूपं च ।	...	५९
१८	उत्पत्तिविनाशस्वरूपं जीवितम् ।	...	६०
१९	मूर्तत्वहेतुः ।	...	६०
२०	उत्पत्तिविनाशे रसरूपस्यापरिहार्यत्वम् ।	...	६१
२१	पदार्थानां संघरूपत्वम् ।	...	६१
२२	गतिभेद एव आकर्षणमपकर्षणं च ।	...	६२
२३	गतेः संयोगवियोगकारित्वे हेतुः ।	...	६३
२४	सृष्टिप्रलयौ वातकृतौ ।	...	६४
२५	विभाजनाख्यं कर्म ।	...	६५
२६	संग्रहादि कर्मत्रयं संसर्जनकारणम् ।	...	६५
२७	श्लेष्मपित्तानिलानां धात्वर्थानुसारेण संग्रहादिकं कर्म ।	...	६६
२८	संग्रहादीनां पर्यायाः ।	...	६७
२९	दोषाणां न केवलं शक्तिरूपत्वम् ।	...	६८
३०	श्लेष्मपित्तानिलानां विशिष्टद्रव्यत्वम् ।	...	६८

चतुर्थं दर्शनम् ।

१	सूक्ष्मावयवे पंचभूतसम्बन्धः ।	...	७१
२	जीवात्मा नाम ।	...	७१
३	चैतन्यं नाम ।	...	७२

विषयः

पृष्ठम्

४	देहस्याभिवर्धनम् ।	...	७३-७४
५	सन्ततिर्नाम ।	...	७५
६	रसधातुः ।	...	७५
७	रक्तधातुः ।	...	७७
८	मांसधातुः ।	...	७७-७८
९	मांसशब्दस्यार्थः ।	...	७९
१०	रसशब्दस्यार्थः ।	...	८०
११	रक्तशब्दस्यार्थः ।	...	८०
१२	मांसं नाम ।	...	८०
१३	रसत्वं मेदसः ।	...	८०
१४	अस्थिशब्दस्यार्थः ।	...	८०
१५	मज्जाशब्दस्यार्थः ।	...	८०
१६	शुक्रशब्दस्यार्थः ।	...	८०
१७	रसादिधातूनामाद्येऽपि शरीरावयवे-वस्थितिः ।	...	८२

पंचमं दर्शनम् ।

१	देहस्य वृद्ध्यादिकं बीजाणुसारि ।	...	८४
२	धातूनां मूर्तामूर्तत्वम् ।	...	८५
३	मूर्तामूर्तसामान्येऽपि धातूनां विशेषाः ।	...	८५
४	विशेषाणुसारं संज्ञाभेदः ।	...	८६
५	मूर्तामूर्तभेदाद्धातूनां द्वैविध्यम् ।	...	८८
६	रसादिशब्दैर्धातूनां स्वरूपाणुमानम् ।	...	८९
७	मलप्रसादरूपेण धातूनां द्वैविध्यम् ।	...	९३
८	संघीभावहेतुराकर्षणम् ।	...	९४
९	आकर्षणगुणो द्रव्यान्तर्निष्ठः ।	...	९४
१०	संयोगकर्ता श्लेष्मा ।	...	९५
११	विभाजकं पित्तम् ।	...	९५
१२	वियोजको वायुः ।	...	९६
१३	सूक्ष्मावयवेऽपि सर्वधातवः ।	...	९६-९७
१४	स्त्रीदेहे गर्भोत्पादकस्य शुक्रधातोरभावः ।	...	९९
१५	आर्तवं पुंजीवत् न गर्भकारणम् ।	...	९९
१६	स्त्रीशरीरगतं शुक्रं शरीरावयवोत्पादकम् ।	...	१००

विषयः	पृष्ठम्
१७ पुरुषदेहस्य स्त्रीदेहस्य च लक्षणम् ।	१००
१८ स्त्रीपुंस्त्वं शरीरस्य वासनाकारणम् ।	१००
१९ उत्पादनाकांक्षित्वं पुंदेहस्य संवर्धनाकांक्षित्वं च स्त्रीदेहस्य ।	१०१
२० बीजातुसारिणी देहवृद्धिः ।	१०३
२१ बीजार्तवयोर्लक्षणम् ।	१०३
२२ शरीरावयवानां स्त्रीपुंनपुंसकत्वम्	१०५-१०६

पष्ठं दर्शनम् ।

१ शक्तिरूपाः श्लेष्मपित्तानिलाः ।	१०८
२ द्रव्यरूपा धातवः ।	१०८
३ शक्तिहीनद्रव्यरूपा मलाः ।	१०८
४ दोषधातुमलानां पुंस्त्रीनपुंसकत्वम् ।	१०८
५ दोषाणामुत्पादकत्वम् ।	१११
६ उत्पाद्यत्वं धातूनाम् ।	१११
७ उत्पादनसंवर्धनाक्षमत्वं मलानाम् ।	१११
८ बीजं नाम ।	१११
९ बीजस्योपबृंहणम् ।	११२
१० जीवस्य व्यक्तत्वम् ।	११२
११ त्रिरूपिणी वृद्धिः ।	११२
१२ वृद्धिस्वरूपम् ।	११२
१३ विकासस्वरूपम् ।	११३
१४ उत्क्रान्तिस्वरूपम् ।	११३
१५ शरीरावयवानामुत्पत्तिक्रमः ।	११३
१६ शरीरावयवानां समुदायात्मकत्वम् ।	११४
१७ अवयवानां मूर्तत्वम् ।	११५
१८ सूक्ष्मावयवानामपि आकृतिमत्त्वम् ।	११६
१९ आकृतेर्मासास्थिजन्यत्वम् ।	११६
२० आकारोत्पादनं सृष्टिरिति ।	११६
२१ आकारादर्शनं विनाशः ।	११६
२२ विनष्टानां रसरूपत्वम् ।	११६
२३ शरीरसृष्टेर्द्वैविध्यम् ।	११७
२४ मांसरूपिणी सृष्टिः ।	११७

विषयः

पृष्ठम्

२५	अस्थिरूपा सृष्टिः ।	...	११८
२६	अस्थिस्वरूपेणोत्क्रान्तेः पूर्णता ।	...	११९
२७	मांसास्थोः मूर्तत्वम् ।	...	१२०
२८	रसादीनाममूर्तत्वम् ।	...	१२०
२९	सर्वावयवानां मांसमुपादानम् ।	...	१२१
३०	अवयवानां स्थिरत्वमस्थिजम् ।	...	१२१
३१	संघात्मकं शरीरम् ।	...	१२२

सप्तमं दर्शनम् ।

१	देहस्य बालतरुणस्थविरत्वम् ।	...	१२५
२	बाल्याधानां वयोऽवस्थानामायुषश्चानियतत्वम् ।	...	१२७
३	बालदेहे सामर्थ्याधिक्यम् ।	...	१२८
४	तारुण्ये देहान्तरोत्पत्तिक्षमेऽपि स्वशरीरवर्धनाक्षमत्वम् ।	...	१२८
५	स्थविरे उत्पादनाल्पत्वम् ।	...	१२९
६	मूर्तावयवानां रसावलितत्वम् ।	...	१२९
७	रक्तादीनामपि रसरूपत्वम् ।	...	१२९
८	धातूनामुत्पादनपरम्परा ।	...	१३०
९	धातूनां धात्वाहारत्वम् ।	...	१३०
१०	रसादिशुक्रान्तानां धातूनां निर्मलत्वं चिरजीवित्वं च ।	...	१३१
११	धातूनामुत्पत्तिर्यावज्जीवनम् ।	...	१३२
१२	संयोगवियोगाख्यं कर्म स्थित्यन्तरकारणम् ।	...	१३२
१३	संयोगवियोगौ चलनभेदौ ।	...	१३२
१४	सृष्टेर्युगकारणत्वम् ।	...	१३३
१५	कर्मवत् गुणभेदाः ।	१३३
१६	शीतोष्णाख्यं मुख्यं गुणद्वयम् ।	...	१३४
१७	शीतस्य संयोगकारित्वम् ।	...	१३४
१८	उष्णस्य वियोगकारित्वम् ।	...	१३४
१९	द्रव्यगुणकर्मभेदात्सृष्टेस्त्रैविध्यम् ।	...	१३४
२०	द्रव्यगुणकर्माणां स्वरूपम् ।	...	१३४

अष्टमं दर्शनम् ।

१	द्रव्यचैतन्योद्भवत्वं कर्मजातस्य ।	...	१३५
२	आधारूपिणी पृथ्वी ।	...	१३५

विषयः	पृष्ठम्
३ कर्मकर्ता वायुः ।	... १३५
४ पार्थिवौ संयोगवियोगौ ।	... १३६
५ संयोगवियोगकारको गतिभेदः ।	... १३६
६ अपसंयोगादाकर्षकत्वम् ।	... १३७
७ तेजोयोगादपकर्षस्वरूपम् ।	... १३७
८ शीतोष्णत्वे स्पर्शविशेषरूपे ।	... १३७
९ अपामाकर्षकत्वम् ।	... १३७
१० तेजसोऽपकर्षकत्वम् ।	... १३७
११ अवकाशो नमःस्वरूपम् ।	... १३८
१२ आल्हादादाकर्षणम् ।	... १३८
१३ उद्वेगादपकर्षणम् ।	... १३८
१४ शीतमुष्णं चेति गुणद्वयं प्रधानं कारणम् ।	... १३९
१५ शीतोष्णयोः स्निग्धत्वतीक्ष्णत्वादिविशेषाः ।	... १३९
१६ अष्टौ वीर्यसंज्ञका गुणाः ।	... १३९
१७ स्निग्धादिगुणानां स्वरूपं लक्षणं च ।	... १४१-१४५

नवमं दर्शनम् ।

१ द्रव्याधारत्वं गुणानाम् ।	... १४६
२ सामर्थ्यभेदा गुणा नाम ।	... १४६
३ नित्यानित्यस्वरूपं भूतचतुष्टयम् ।	... १४७
४ नित्याश्रितं सामर्थ्यं गुणः ।	... १४७
५ गुणानां कार्यरूपेऽनुभवः ।	... १४७
६ भूतांशसमवायाद्गुणान्तरोत्पत्तिः ।	... १४८
७ गुणानां न पृथगुपलब्धिः ।	... १४८
८ स्निग्धत्वस्वरूपम् ।	... १४८
९ द्रवत्वस्वरूपम् ।	... १४९
१० रूक्षत्वस्वरूपम् ।	... १४९
११ स्निग्धत्वरूक्षत्वे कार्याऽनुमये ।	... १५०
१२ मन्दगुणस्वरूपम् ।	... १५१
१३ सूक्ष्मत्वादीनां स्वरूपम् ।	... १५१
१४ तीक्ष्णत्वादीनां स्वरूपम् ।	... १५२
१५ संयोगादि त्रिविधं कर्म ।	... १५३

विषयः	पृष्ठम्
१६ गुणभेदानां कर्मविशेषोत्पादकत्वम् ।	१५३
१७ सर्वेषां गुणानां शीतोष्णयोरन्तर्भावः ।	१५४
१८ कर्मत्रितयवत् त्रयो गुणसंघाताः ।	१५४
१९ श्लेष्मस्वरूपो गुणसमुदायः ।	१५५
२० पित्तस्वरूपो गुणसमुदायः ।	१५५
२१ वायुस्वरूपो गुणसमुदायः ।	१५५
२२ दोषाणां गुणसमुदायरूपत्वम् ।	१५६

दशमं दर्शनम् ।

१ क्षिधादयः श्लेष्मगुणाः ।	१५८
२ तीक्ष्णादयः पित्तगुणाः ।	१५८
३ रौक्ष्यादयो वातगुणाः ।	१५८
४ श्लेष्मपित्तानिलाः केवलं गुणरूपा द्रव्यरूपा वा ।	१६१
५ श्लेष्मपित्तानिलाः कर्मकर्तारः ।	१६२
६ श्लेष्मपित्तानिलानां द्रव्याश्रयित्वम् ।	१६३
७ गुणा अपि न केवलं शक्तिरूपाः ।	१६२
८ गुणलक्षणम् ।	१६२
९ गुणानामपि द्रव्याधारत्वम् ।	१६३
१० चतुर्विधाः परमाणवः ।	१६४
११ नित्यानित्यद्रव्यलक्षणम् ।	१६४
१२ सृष्टेः स्थूलत्वम् ।	१६४
१३ उत्पत्तिविनाशावनित्यभूतगतौ ।	१६४
१४ गुणसंघातरूपाश्च दोषाः सूक्ष्मद्रव्याश्रयाः ।	१६५
१५ दोषा न केवलं शक्तिरूपाः न च वा द्रव्यरूपाः ।	१६५
१६ वातादयो न पंचभूताति ।	१६५
१७ भूतगुणांशसंयोगात्सृष्टिः ।	१६६
१८ पंचभूतानां सृष्ट्युत्पत्तिकरा गुणाः तेषां कर्मस्वरूपं च ।	१६७
१९ भूम्यम्भःसम्भवः श्लेष्मा ।	१६७
२० पृथिवीजलतेजोभिः पित्तम् ।	१६९
२१ शरीरस्थो वायुरप्संयुतः ।	१८०
२२ चैतन्यं प्रधानं कारणम् ।	१७२

विषयः

पृष्ठम्

एकादशं दर्शनम्

१	भूम्यादीनां संहताः परमाणवः पदार्थाः ।	...	१७७
२	विकारकारी चैतन्यांशः ।	...	१७८
३	अनुमानविज्ञेयं चैतन्यम् ।	...	१७८
४	पृथिव्यां स्थूलत्वमधिकम् ।	...	१७८
५	सचेतनमचेतनं च द्रव्यम् ।	...	१८९
६	आधिकात्सचेतनचितनव्यवहारः ।	...	१७९
७	चेतनांशः सामर्थ्यम् ।	...	१८०
८	सृष्टपदार्थस्य शक्तिद्रव्यरूपं द्वैविध्यम् ।	...	१८१
९	शरीरस्य शक्तिद्रव्यभेदात् द्वैविध्यम् ।	...	१८१
१०	धातवो द्रव्यरूपाः ।	...	१८१
११	दोषाः शक्तिस्वरूपाः ।	...	१८१
१२	रसादीनां धातुत्वम् ।	...	१८२
१३	धातुषु तद्विन्नरूपस्य सामर्थ्यस्यावस्थितिः ।	...	१८३
१४	रसादयो दृश्यरूपा धातवः ।	...	१८५
१५	धातूनां वृद्ध्यादिकम् ।	...	१८५
१६	सामर्थ्यस्य न स्थित्यन्तराणि ।	...	१८६
१७	बाल्ये वृद्धिकरं सामर्थ्यम् ।	...	१८६
१८	तारुण्ये स्थितिभावरं सामर्थ्यम् ।	...	१८६
१९	सामर्थ्यनाशाद्देहनाशः ।	...	१८६
२०	वृद्ध्यभावे जरठत्वम् ।	...	१८६
२१	शरीरं वृद्ध्यादिषु नियतम् ।	...	१८६
२२	शक्तिः धात्वाश्रया ।	...	१८७
२३	धातूनां संयोजनादिकं कर्म जीवनं नाम ।	...	१८८
२४	कर्मानुरोधात् शक्तिभेदादयः ।	...	१८९
२५	शक्तिरूपं सूक्ष्म द्रव्यमेव सामर्थ्यम् ।	...	१८९
२६	श्लेष्मा संयोजकः विभाजकं पित्तं वायुर्वियोजकः ।	...	१९०
२७	अन्वर्थका दोषाः श्लेष्मादयः ।	...	१९०

द्वादशं दर्शनम् ।

१	श्लेष्मादीनां शास्त्रे दोषसंज्ञा ।	...	१९२
२	श्लेष्मादीनां दोषसंज्ञा न धात्वर्थानुसारिणी ।	...	१९३

विषयः	पृष्ठम्
३ श्लेष्मपित्तानिलाः केवलं न देहदूषकाः ।	... १९४
४ श्लेष्माद्या त्रिषमा विकारोत्पादकाः ततश्च दोषसंज्ञाः ।	... १९४
५ वातादयो रसादयः पुरीषाद्याश्च सर्वे देहधारकाः ।	... १९५
६ दोषधातुमलानां धारणाख्यं कर्म न साधारणम् ।	... १९५
७ दोषधातुमलानां धारणकर्मविशेषः ।	... १९५
८ दोषधातुमलानामेकसंज्ञयोपदेशे गुणकर्मभेदो दुर्वोधः ।	... १९६
९ कफपित्तानिला दोषा इति (आयुर्वेदे) अभिभाषिताः ।	... १९६
१० रसाद्या धातव इत्यन्वर्थसंज्ञाः ।	... १९८
११ सामर्थ्यहीनो धातुविभागो मलसंज्ञः ।	... १९८
१२ दोषधातुमलानां स्वरूपविशेषः ।	... १९९
१३ उत्पादका दोषा उत्पाद्या धातवः ।	... १९९
१४ धातूनां क्षीयमाणविभागा मलाः ।	... २००
१५ दोषधातुमलस्वरूपास्त्रयो मुख्याः शारीरपदार्थाः ।	... २००

उक्तार्थसंग्रहः

२०२-२०४

उत्तरार्धे ।

प्रथमं दर्शनम् ।

१ देहस्य मुख्याः क्रियास्तत्कर्तारश्च ।	... २०५
२ सर्वक्रियासु गतेः प्राधान्यम् ।	... २०६
३ कर्मकर्ता वायुः प्रधानः ।	... २०६
४ चलनस्य सर्वक्रियाकारित्वम् ।	... २०६
५ दोषवर्णने वायुः पित्तं कफश्चेति क्रमः ।	... २०६
६ गत्यादीनां सर्वदेहव्यापित्वम् ।	... २०७
७ कर्मभेदानुसारं दोषभेदाः ।	... २०७
८ स्थानविशेषेषु वातादीनां प्राधान्यम् ।	... २०८
९ रसविक्षेपणादिकं वायोः कर्म ।	... २०८
१० पचनादिकं पित्तकर्म ।	... २०९
११ पोषणादि श्लेष्मकर्म ।	... २०९-१०
१२ सर्वत्र दोषगुणा न समप्रमाणाः ।	... २११
१३ घवद्रवभेदाद्धातूनां द्वैविध्यम् ।	... २११-१२

विषयः

पृष्ठम्

१४	दोषविशेषाश्रया धातुविशेषाः ।	...	२१२
१५	रसधातोरपि श्लेष्मस्थानत्वम् ।	...	२१३
१६	मेद आदीनां श्लेष्मस्थानत्वम् ।	...	२१४
१७	रक्तधातोः पित्तस्थानत्वम् ।	...	२१४
१८	अस्त्रां वातस्थानत्वे विचारः ।	...	२१५
१९	मलानां स्वरूपम् ।	...	२१६
२०	पोषणादीनां कर्मणां स्थानान्तरेषु विशेषाः ।	...	२१७
२१	वायोः स्थानविशेषाः ।	...	२१८
२२	पित्तस्थानानि ।	...	२१८
२३	श्लेष्मस्थानानि ।	...	२१८
२४	पक्वाशयादिगतस्य वायोः कर्माणि ।	...	२२०
२५	नामिप्रभृतिषु स्थानेष्वाश्रितस्य पित्तस्य क्रियाविशेषाः ।	...	२२२
२६	आमाशयविचारः ।	...	२२४
२७	आमाशयशब्दवाच्यमवयवद्वितयम् ।	...	२२४
२८	क्षुद्रांत्रस्य पच्यमानाशय इत्यन्वर्थकं नाम ।	...	२२५
२९	रसधातुरपि द्रवत्वात्पित्तस्थानम् ।	...	२२६
३०	श्लेष्मा नाम ।	...	२२७
३१	दोषगुणकर्मणां सर्वशरीरे सामान्यम् ।	...	२२८
३२	गुणकर्मभेदानुसारं दोषस्थानभेदाः ।	...	२२९

द्वितीयं दर्शनम् ।

१	वातस्य प्राणादयः पंच भेदाः ।	...	२३२
२	पित्तस्य पाचकादयः पंच भेदाः ।	...	२३२
३	अवलम्बकाद्याः श्लेष्मभेदाः पंच ।	...	२३२
४	प्राणवायोः स्थानकर्मविशेषाः ।	...	२३३
५	उदानवायोः स्थानकर्मविशेषाः ।	...	२३५
६	प्रयत्नस्वरूपम् ।	...	२३५
७	उत्साहस्वरूपम् ।	...	२३६
८	उदानवायोः वर्णकरत्वम् ।	...	२३६
९	व्यानवायोः स्थानकर्मविशेषाः ।	...	२३७
१०	व्यानस्य सर्वक्रियाकारित्वम् ।	...	२३७
११	प्रयत्नाद्या विविधा गतिः ।	...	२३७

विषयः	पृष्ठम्
१२ गतिभेदानां त्रयाणां साधकाः क्रमात् प्राणोदानव्यानाः ।	... २३८
१३ समानवायोः स्थानकर्मविशेषाः ।	... २३९
१४ अपानवायोः स्थानकर्मविशेषाः ।	... २३९
१५ वायोः पञ्चभेदप्रकल्पने युक्तिः ।	... २३९
१६ पाचकपित्तस्य स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४०
१७ ग्रहणीविवेचनम् ।	... २४०-४१
१८ रंजकपित्तस्य स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४२
१९ साधकपित्तस्य स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४३
२० आलोचकस्य स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४३
२१ भ्राजकपित्तस्य स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४३
२२ अवलम्बकस्य श्लेष्मणः कर्मविशेषाः ।	... २४४
२३ क्लेदकश्लेष्मणः स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४५
२४ श्लेष्मणः क्लेदकसंज्ञाविषये यथार्थत्वम् ।	... २४६
२५ बोधकश्लेष्मणः स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४७
२६ तर्पकश्लेष्मणः स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४७
२७ श्लेष्मकाख्यस्य श्लेष्मणः स्थानकर्मविशेषाः ।	... २४७

तृतीयं दर्शनम् ।

१ वृद्धिक्षयसातत्यं जिवितं नाम ।	... २५१
२ पचनादि कर्मपञ्चकं जीवनस्य साधकतम् ।	... २५२
३ चलनात्पचनादिकर्मत्रयस्य सम्भवः ।	... २५२
४ चलनकारणं संवेदना ।	... २५२
५ सर्वेऽवयवाः प्रायः पेशीसमुद्भवाः ।	... २५३
६ मांससंचाताः पेश्यो नाम ।	... २५३
७ मांससंधातसंभवत्वं प्रायः सर्वाङ्गानाम् ।	... २५३
८ कला नाम ।	... २५४
९ बाहिन्यो नाम ।	... २५४
१० सिरा नाम ।	... २५४
११ धमन्यो नाम ।	... २५४
१२ स्नायवो नाम	... २५४
१३ स्रोतांसि नाम	... २५४

विषयः

पृष्ठम्

१४	पेश्यो नाम ।	...	२५४
१५	चलनात्मकानां क्रियाणां प्रवृत्तिक्रमः ।	...	२५५-५६
१६	संवेदनायाः षट् प्रमुखा जीवनहेतवः ।	...	२५६
१७	सर्वक्रियाणां संवेदनादयः षड्हेतवः प्रमुखाः ।	...	२५६
१८	आहारपचनस्य प्राधान्यम् ।	...	२५७
१९	आहारपचनस्थानानि ।	...	२५७
२०	पचनक्रियाभेदाः ।	...	२५८
२१	आहारद्रव्यभेदाः ।	...	२५८
२२	पचनकर्मणि बोधकश्लेष्मणः सम्बन्धः ।	...	२५८
२३	पचने क्लेदकश्लेष्मणः सम्बन्धः ।	...	२६०
२४	आमाशयस्वरूपम् ।	...	२६१
२५	क्लेदकश्लेष्मणः स्वरूपम् ।	...	२६१
२६	पचनकर्मणि आहारस्य माधुर्योत्पादनम् ।	...	२६१
२७	विक्लेदनमधुरीकरणयोर्भिन्नत्वम् ।	...	२६२
२८	विक्लेदमाधुर्योत्पादनस्य द्रव्यस्य च भिन्नत्वम् ।	...	२६२
२९	क्षुद्रान्नगतः पचनकर्मविशेषः ।	...	२६३
३०	ग्रहणीगतस्य पाचकपित्तस्य स्वरूपम् ।	...	२६३
३१	अन्नरसस्य यकृद्गमनम् ।	...	२६४
३२	किट्टस्य पकाशयमूत्राशययोः संचयः ।	...	२६४
३३	मलमूत्रोत्सर्गकरो वायुरपानः ।	...	२६५
३४	उत्सर्जकस्य उत्सर्जनाहस्य च वायोः स्वरूपम् ।	...	२६६
३५	आहाररसस्य स्वरूपं कार्यं च ।	...	२६६-६७
३६	धानूनामाहार्यद्रव्याणां च पांचमौतिकत्वम् ।	...	२६७
३७	शरीराणां भूताणूनामन्नगतैरभिवर्धनम् ।	...	२६८
३८	मौतिकांशस्याभिवर्धनमाहार्यं द्रव्यम् ।	...	२६८
३९	तैजसानामभिवर्धनमाहार्यं द्रव्यं तेजश्च ।	...	२६८
४०	शरीरगतस्य वायोरभिवर्धनमाहार्यद्रव्यं वायुश्च ।	...	२६८
४१	तेजो वायुश्च जीवनसाधनम् ।	...	२६९
४२	शरीरगतस्य वायोर्वायुराहारः ।	...	२७१
४३	श्वसनस्वरूपम् ।	...	२७१
४४	श्वसनस्थानम् ।	...	२७२
४५	श्वसनकर्मकृदाकुंचनप्रसरणम् ।	...	२७२

विषयः	पृष्ठम्
४६ श्वसनकर्मणि वायोः संचयोत्सर्गौ ।	२७२
४७ फुफ्फुसपेशीनामाकुंचनप्रसरणक्षमं स्वरूपम् ।	२७३
४८ वायोः श्वासकरत्वम् ।	२७३
४९ श्वसनादाहृतो वायुः सर्वशरीरगतवायोरुपवृहणः ।	२७४
५० रसविक्षेपणं कर्म वायोः ।	२७४
५१ सर्वशरीरे रससंचारः ।	२७५
५२ रसविक्षेपकर्ता वायुव्यानः ।	२७५
५३ रसधातुस्वरूपम् ।	२७६-७७
५४ सर्वदेहगतो रसधातुर्नाहाररसः ।	२७७
५५ रससंज्ञाया निरुक्तिः ।	२७९
५६ रक्तधातोः स्वरूपं निरुक्तिश्च ।	२७९
५७ मांसशब्दनिरुक्तिर्मांसस्वरूपं च ।	२८०
५८ उत्सर्जनाद्याः क्रियाः सर्वा दोषातुबद्धाः ।	२८१
५९ शकृन्मूत्रादीनामुत्सर्जने हेतुर्वायुः ।	२८२
६० आकुंचनप्रसरणादिकर्मसम्पादको वायुः ।	२८२
६१ व्यक्तमव्यक्तं चेति चलनं द्विविधम् ।	२८२
६२ धातुपाचकं पित्तम् ।	२८३
६३ पित्तस्य तैजसं कर्म ।	२८३
६४ संश्लेषणात्मकं त्रिविधं श्लेष्मणः कर्म ।	२८४

चतुर्थं दर्शनम् ।

१ वातादयो विकृता व्याधिकारणाः ।	२८५
२ दोषाणां त्रिविधा विकृतिः न्हासो वृद्धिवैपरीत्यमिति ।	२८५
३ क्षीणानां वातादीनां लक्षणानि ।	२८६
४ वृद्धानां वातादीनां लक्षणानि ।	२८६-८७
५ वैपरीत्यलक्षणम् ।	२८७
६ पीडाकरत्वलक्षणं रोगत्वं वैपरीत्योद्भवम् ।	२८८
७ कुपितवायोः कर्माणि ।	२८९
८ कुपितपित्तस्य कर्माणि ।	२९०
९ कुपितस्य श्लेष्मणः कर्माणि ।	२९०
१० त्रिश्लेषणादिकर्मणां विकृतयः शूलादिसंज्ञाः ।	२९१
११ त्रिविधानां विकाराणां शूलादित्रयेऽन्तर्भावः ।	२९१

विषयः	पृष्ठम्
१२ शूलस्वरूपम् ।	२९२
१३ दाहस्वरूपम् ।	२९३
१४ शोथस्वरूपम् ।	२९३
१५ शूलात्मकत्वादिभेदेन व्याधीनां त्रैविध्यम् ।	२९४
१६ वातप्रकोपात् शूलात्मका व्याधयः ।	२९५
१७ पित्तप्रकोपाद्वाहात्मका व्याधयः ।	२९५
१८ श्लेष्मप्रकोपात् शोथात्मका व्याधयः ।	२९५
१९ व्याधीनामवस्थास्तिस्र आभावस्थायाः ।	२९५
२० आमस्वरूपम् ।	२९६
२१ आमद्रव्यस्य सर्वशरीरे परिसर्पणम् ।	२९८
२२ आमद्रव्यस्य स्थानविशेषे विकारोत्पादकत्वम् ।	२९९
२३ व्याधिविज्ञाने दोषशब्दार्थः ।	२९९
२४ आमयुक्तानां दोषाणां संचयप्रकोपौ ।	३००
२५ वातादिभिरामद्रव्येषु त्रैविध्यम् ।	३००
२६ व्याधिविज्ञाने आमदोषशब्दयोरैकार्थकत्वम् ।	३००
२७ आमस्योत्पत्तिः ।	३०१
२८ स्थानान्तरेष्वामस्य संचयः ।	३०३
२९ धात्वन्तरेष्वामप्रवेशः ।	३०४
३० आमद्रव्योत्सर्जनात् व्याध्युपशमः ।	३०४
३१ व्याधीनामामावस्था ।	३०५
३२ व्याधीनां पच्यमानास्था ।	३०५
३३ व्याधीनां पक्वावस्था ।	३०६
३४ स्वाभाविकमार्गैर्दोषोत्सर्जनम् ।	३०६
३५ व्रणस्वरूपम् ।	३०६
३६ विविधव्याधीनां हेतवस्त्रयः ।	३०७

पंचमं दर्शनम् ।

१ शरीरे दोषप्रसर्पणात् बहवो विकाराः ।	३१०
२ अशीतिवातविकाराणां परिसंख्यानम् ।	३११-१२
३ भेदतोदादयः शूलभेदाः ।	३१५
४ आकुंचनोद्भवा आवेष्टादयः ।	३१५-१६
५ रौक्ष्यसम्भवाः शोषस्वरूपाः ।	३१६

विषयः	पृष्ठम्
६ स्तम्भसम्भवा विकाराः ।	३१६
७ क्षोभात्प्रलापादयः ।	३१६
८ संज्ञाविकृतिकारणानि ।	३१६
९ भेदस्य द्वैविध्यम् ।	३१७
१० वातविकारेषूक्तस्य विड्भेदस्य चिन्तनीयत्वम् ।	३१७
११ शूलस्वरूपम् ।	३१८
१२ मारुतस्यावरोधहेतुः ।	३१८-१९
१३ ग्रीवास्तम्भादीनां स्वरूपम् ।	३१९
१४ पृष्ठग्रहादीनां स्वरूपम् ।	३१९
१५ कुञ्जत्वादीनां स्वरूपम् ।	३१९
१६ स्तम्भादीनां हेतुः ।	३१९
१७ कम्पादीनां हेतुः ।	३२०
१८ स्रोतरोधहेतुः ।	३२१
१९ स्रोतरोधसम्भवा विकाराः ।	३२१
२० संज्ञाहानिहेतुः ।	३२२
२१ संकोचस्तम्भरूपवातविकाराणां द्वैविध्यम् ।	३२२
२२ शूलवर्जिता शूलयुताश्च वातविकाराः ।	३२३
२३ वातविकारोक्तसारुण्यत्वस्य हेतुः ।	३२३
२४ वातविकारोक्तस्य श्यावत्वस्य हेतुः ।	३२३
२५ चत्वारिंशत्पित्तविकाराणां परिसंख्यानम् ।	३२४-२५
२६ औण्यतैक्ष्ण्ययोः सर्वविकारेष्वनुवृत्तिः ।	३२७
२७ अम्लोद्गारताकण्ठाम्लत्वयोः हेतुः ।	३२७
२८ कोष्ठदाहहेतुः ।	३२७
२९ अन्नदाहहेतुः ।	३२७-२८
३० अन्नावदरणहेतुः ।	३२८
३१ मांसशोणितक्लेदहेतुः ।	३२८
३२ रक्तकोठ-मण्डलहेतुः ।	३२८
३३ रक्तपित्तहेतुः ।	३२८
३४ पाकहेतुः ।	३२८
३५ पीतहरितत्वादिहेतुः ।	३२८
३६ सर्वेषु पित्तविकारेषु दाहाकोथोष्मणां प्राप्सुख्यम् ।	३२८
३७ उष्माभिवृद्धयुद्धवा विकाराः ।	३२९
३८ द्रवरूपे पित्ते विकृते विकाराः ।	३२९

विषयः	पृष्ठम्
३९ परिसंख्यातेषु पित्तविकारेषु पौनःपुन्यम् ।	३३१
४० श्लेष्मविकाराणां परिसंख्यानम् ।	३३२
४१ शीतत्वं संचयाधिक्यमग्निमान्द्यमित्येतेषां श्लेष्मविकारेष्वनुवृत्तिः ।	३३३
४२ मधुरास्यतादीनां स्वरूपम् ।	३३४
४३ वातादिविकारसंख्याने युक्तरनुपलब्धिः ।	३३५
४४ वातादीनां विपरीतं कर्म विकाराः ।	३३५
४५ व्याधीनां सौम्यता तीव्रता च ।	३३७
४६ आहाराद्यपथ्यचतुष्टयम् ।	३३८
४७ स्थानेष्वबलेषु दोषो व्याधिकारकः ।	३३८
४८ दोषाणां स्वयमेवोपशमनम् ।	३३८
४९ हीने स्वाभाविके बले व्याधुत्पत्तिः ।	३३९
५० व्याधीनां सुसाध्यकृच्छसाध्यासाध्यत्वम् ।	३३९

पष्ठं दर्शनम् ।

१ व्याधीनां त्रिविधत्वेऽपि शरीरक्षयकरत्वं सामान्यम् ।	३४२
२ व्याधीनां सार्वदं हि कप्रदेशिकभेदात् द्वैविध्यम् ।	३४२
३ शरीरसामर्थ्यात् दोषप्रतिकारे व्याधिविनाशः ।	३४३
४ सामर्थ्यहीनत्वाच्च धातुसंक्षयः ।	३४४
५ धातुक्षयस्य द्वैविध्यम् ।	३४४
६ देहकर्मवैषम्याद्वातूत्पादनाभावः ।	३४४
७ देहकर्मणामतियोगाद्वातुक्षयः ।	३४५
८ स्रोत संकोचात् धातुपोषणाभावः ।	३४५
९ स्नेहक्लेदातियोगाद्वातुक्षयः ।	३४६
१० विदाहात्पोषणाभावः ।	३४६
११ क्षीणधातुषु कोथोत्पत्तिः ।	३४७
१२ शोषक्लेदकोथस्वरूपं त्रिविधं क्षयकारणम् ।	३४७
१३ त्रयो व्याधिभेदाः शोषोद्भवाः क्लेदोद्भवाः कोथोद्भवाश्चेति ।	३४७
१४ सर्वेषां कालेन कोथत्वम् ।	३४७
१५ धातूनां वृद्धिकारणं संश्लेषणं विश्लेषणं च क्षयकारणम् ।	३४८
१६ कोथस्वरूपम् ।	३४८
१७ कोथं विना धातवो न विशीर्यन्ते ।	३४८
१८ क्लेदवर्जितो न कोथः ।	३४९

विषयः

पृष्ठम्

१९	शोषक्लेदकोथानां क्रमेणोत्पत्तिः प्रारम्भतो वा ।	...	३४९
२०	शोषस्वरूपम् ।	...	३४९
२१	शोषात्क्लेदकोथक्रमेण राजयक्ष्मसम्भवः ।	...	३४९-५०
२२	क्लेदकोथहीना व्याधयः शोषसंज्ञकाः ।	...	३५०
२३	क्षयकरं विश्लेषणं मिथ्यायोगः ।	...	३५२
२४	तीव्ररूजाकरो मिथ्यायोगः कोथसंज्ञकः ।	...	३५२
२५	शोषस्तु न व्याधिः अपि तु व्याधिकारणम् ।	...	३५३
२६	क्लेदहेतुः ।	...	३५३
२७	संक्लेदात् शोथोत्पत्तिः शोथोद्भवा विकाराश्च ।	...	३५४
२८	अविपाको मिथ्यापाकश्चेति क्लेदहेतुर्द्विधा ।	...	३५४
२९	अविपाकोद्भवः शोथकरः ।	...	३५४
३०	मिथ्याविपाकोद्भवः कोथकर इति ।	...	३५४
३१	शोथकोथात्मभेदात् द्वैविध्यं व्याधीनाम् ।	...	३५५
३२	क्लेदश्चाभिम्यन्दसंज्ञः ।	...	३५६
३३	अभिम्यन्दोद्भवाश्च प्रायशो विकाराः ।	...	३५६
३४	द्रवद्रव्यरूपे कर्माणि शारीराणि ।	...	३५६
३५	धातुरूपो मलरूपश्च द्रवः ।	...	३५६
३६	मलरूपो मूत्रसंज्ञः ।	...	३५७
३७	देहधारकं मूत्रं नाम सर्वशरीरगतो द्रवः न वस्तिसंचितः ।	...	३५७
३८	मूत्रस्याभिवृद्ध्या क्लेदः संक्षयात् शोषश्च ।	...	३५८
३९	मूत्राभिवृद्ध्या मेहसंज्ञका मूत्रविकाराः ।	...	३५९
४०	प्रमेहेषु मांसाभिम्यन्दः ।	...	३५९
४१	प्रमेहाणां सर्वदेहव्यापित्वम् ।	...	३५९
४२	दूष्यस्थानभेदात्क्लेदभेदाः ।	...	३६०
४३	क्लेदभेदाद्विविधा व्याधयः सर्वशरीरव्यापिनः प्रादेशिकाश्च ।	...	३६१
४४	क्लेदोद्भवानां व्याधीनां शोथसामान्यत्वम् ।	...	३६३
४५	श्लेष्मोद्भवा व्याधयः शोथलक्षणाः ।	...	३६३
४६	कोथोत्पत्तिहेतुः ।	...	३६३
४७	कोथभेदाः ।	...	३६३
४८	कोथभेदोद्भवा विविधा व्याधयः ।	...	३६३-६५
४९	पित्तोद्भवा व्याधयः कोथलक्षणाः ।	...	३६६
५०	शोषक्लेदकोथाः व्याधिकारणं ततस्त्रिविधा व्याधयः ।	...	३६६

विषयः

पृष्ठम्

५१	वातादिभ्यः शोषादिसम्भव इति त्रिदोषा व्याधिसम्भवहेतवः ।	...	३६६
५२	विकृतो रुद्धगतिर्वायुः शूलकरः ।	...	३६७
५३	विकृतं पित्तं तैक्षण्याद्विदाहकारणम् ।	...	३६७
५४	अतिसंचयात् श्लेष्मा शोथकरः ।	...	३६७
५५	सर्वेषां व्याधीनां शूलदाहशोथेष्वन्तर्भावः ।	...	३६८
५६	दोषा एव विकृतिमापन्ना व्याधिहेतवः ।	...	३६८

सप्तमं दर्शनम् ।

१	एकद्वित्रिदोषजनिता व्याधयः ।	...	३७१
२	संसर्गलक्षणम् ।	...	३७२
३	सन्निपातलक्षणम् ।	...	३७२
४	परस्परविरुद्धानां दोषगुणानां न संकरः संसर्गे सन्निपाते वा ।	...	३७२
५	संसर्गसन्निपातेषु परस्परविरुद्धानां दोषलक्षणानां न संकरः ।	...	३७३
६	संकराभावस्योदाहरणानि ।	...	३७३-७४
७	दोषाणां कर्मद्वयस्य कर्मत्रयस्य च वैषम्यं कर्मात्संसर्गसन्निपातसंज्ञम् ।	...	३७५
८	एककर्मवैषम्यसंभवो विकार एकदोषजः ।	...	३७६
९	कर्मद्वयस्य वैषम्याज्जातः संसर्गजः ।	...	३७६
१०	कर्मत्रयस्य वैषम्याज्जातः सन्निपातजः ।	...	३७६
११	गतिवैषम्यजा विकारा वातजाः ।	...	३७६
१२	पचनवैषम्यजा पित्तजाः ।	...	३७६
१३	संग्रहवैषम्यजा श्लेष्मजाः ।	...	३७६
१४	कर्मद्वयवैषम्यसम्भवानां संसर्गोद्भवानां विकाराणां विशदीकरणम् ।	...	३७७
१५	कर्मत्रयविकृतिसम्भवानां सन्निपातोद्भवानां व्याधीनां विशदीकरणम् ।	...	३७८
१६	व्याधिकारणं द्रव्यम् ।	...	३७९
१७	एकद्वित्रिदोषाणां प्रकोपणं द्रव्यम् ।	...	३८०
१८	विषस्वरूपम् ।	...	३८०
१९	सन्निपातोद्भवेषु विकारेषु विषरूपाणि ।	...	३८०
२०	एकद्वित्रिदोषोद्भवा व्याधयः कर्मात्साध्याः कृच्छ्रसाधा असाध्याश्च ।	...	३८१

अष्टमं दर्शनम् ।

१	दोषाधिव्याप्तिसारेण व्याधिभेदाः ।	...	३८२
२	इतरदोषानुबन्धेऽपि उत्पादकदोषस्य प्राधान्यम् ।	...	३८३

विषयः	पृष्ठम्
३ दोषानुबन्धात् व्याधिलिंगेषु सौम्यतातीव्रतारूपो भेदः । न लिंगान्तरम् । ..	३८४
४ दोषानुबन्धात् व्याधिभेदानामुदाहरणानि । ...	३८४-८५
५ लिंगं नाम । ...	३८६
६ दूष्यस्थानविभेदतो लक्षणभेदेऽपि वैलक्षण्यं न जायते । ...	३८९
७ शोथोदाहरणाद्विशदीकरणम् । ...	३८९-९०
८ दोषान्तरानुबन्धात् व्याधिलिंगानां विशेषज्ञानं तदुदाहरणानि च । ...	३९१
९ स्थानभेदानुसारेण रोगविशेषाः । ...	३९२
१० रोगविशेषोदाहरणानि । ...	३९२
११ स्थानदुष्टिविशेष एव विशिष्टव्याधिकारणम् । ...	३९३
१२ स्थानदुष्टिसम्भवा व्याधिविशेषाश्चोदाहरणरूपाः । ...	३९३-९४
१३ सर्वाङ्गा एकाङ्गा उभयस्वरूपाश्चेति त्रिविधा व्याधयस्तदुदाहरणानि च । ...	३९६-९७
१४ स्थानसंज्ञाभेदेऽपि व्याधिषु दोषवैषम्यं सामान्यम् । ...	३९८
१५ दोषानुबन्धेऽपि मुख्यं विकृतिलक्षणं सर्वेषु सामान्यम् । ...	३९९
१६ लिंगानां तारतम्यावबुद्धये दोषान्तरोपदेशः । ...	३९९

नवमं दर्शनम् ।

१ दोषप्रशमनं सामान्यं चिकित्सितम् । ...	४००
२ वृद्धानां ह्रासनं दोषाणां क्षीणानां चाभिवर्धनमिति चिकित्सितं समासेन । ...	४०१
३ दोषाभिवर्धनात्प्राधान्येन विकारोत्पत्तिः । ...	४०१
४ सर्वरोगेषु कर्मवैषम्यलक्षणं शूलादिकं सामान्यम् । ...	४०२
५ क्षीणेषु मारुतादिषु वृद्धेषु च सामान्या विकाराः । ...	४०३
६ दोषः क्षीणो विकारोत्पादनेऽक्षमः । ...	४०४
७ लघनबृंहणभेदात् द्विधा चिकित्सितम् । ...	४०५
८ देहाभिवर्धनं बृंहणाख्यम् । ...	४०५
९ शोधनशमनस्वरूपं लंघनं दोषनाशनम् । ...	४०५
१० दोषोपशमकारिणी चिकित्सा । ...	४०६
११ पञ्चविधं शोधनम् । ...	४०७
१२ सप्तविधं शमनम् । ...	४०७
१३ शरीराद्विनिर्गते रोगकारणे द्रव्ये रोगशान्तिः । ...	४०८
१४ शोधनरेककालं रोगद्रव्यविनिर्हरणम् । ...	४०८
१५ शमनैश्च क्रमान् रोगद्रव्यविनिर्हरणम् । ...	४०८

विषयः

पृष्ठम्

१६	वमनादीनां शोधनानामुपयोगविशेषाः ।	...	४०९
१७	स्नेहनं स्वेदनं च शोधनसहायम् ।	...	४१०
१८	शमनानि दोषाणां स्वाभाविकमार्गोत्सर्जनानि ।	...	४१२
१९	दोषा व्याधयश्च स्थानान्तराश्रिताः संशमनैः सर्वदेहगाश्च शोधनैरुपशमं यान्ति ।	...	४१३
२०	वमनं विरेचनं वस्तिश्च श्लेष्मोपत्तानिलानां शोधनानि ।	...	४१४
२१	पाचनादीनां शमनानामुपयोगविशेषाः ।	...	४१५-१६
२२	दोषाः स्वभावतो धातुशुद्धयर्थं प्रयन्तते ।	...	४१७
२३	दोषविशोधनं पाकादि कर्म दाहशूलादिकारणम् ।	...	४१८
२४	सामान्येन व्याधिकारणं द्रव्यम् ।	...	४१८
२५	दोष आमो मूलश्चेति शब्दाः पर्यायवाचिनः ।	...	४१८
२६	व्याधिविनाशनस्य शरीरकर्मणः सहायका उपायाश्चिकित्सितम् ।	...	४१९
२७	व्याधिहेतूनां दोषाणां त्रैविध्यात्समासतः प्रशमनं (चिकित्सितं) त्रिविधम् ।	...	४१९
२८	बृंहणस्य चिकित्सितं देहवर्धनमपि न व्याधिनाशनम् ।	...	४२०
२९	दोषविरेचकत्वात्सर्वाणि वमनादिसंज्ञानि विरेचनान्येव ।	...	४२०
३०	शमनसामान्याः क्षुत्पृष्ठानिग्रहादिकं शमनम् ।	...	४२०
३१	तेलं घृतं माक्षिकं च वातपित्तश्लेष्मणां परं संशमनम् ।	...	४२१
३२	व्याधीनां नानाविधत्वे वाताद्या हेतव इति चिकित्सिते दोषानुबन्धश्चितनीयः ।	...	४२२

दशमं दर्शनम्

१	स्थानदुष्टिर्विकारहेतुः प्रधानः ।	...	४२५
२	स्थानवैगुण्योपशमाद्विकारोपशमः ।	...	४२५
३	व्याधिस्थानवैगुण्यनाशनं ज्वरादीनां चिकित्सितम् ।	...	४२५
४	हेतुव्याधिविपर्यस्तभेदात् द्विविधं चिकित्सितं तद्वृत्तिं च ।	...	४२६
५	दोषप्रशमनैरौषधैः सर्वदेहगतानां दाहादीनामुपशमः स्थानान्तरगतानां च व्याधिप्रशम- नीयैः ।	...	४२७
६	हेतुविरुद्धाया व्याधिविरुद्धायाश्च चिकित्साया उपयोगविशेषः ।	...	४२८
७	व्याधिविरुद्धोपक्रमेऽपि दोषाणां बलाबलं चिन्तनीयम् ।	...	४२९
८	दोषान्तरसम्बन्धानुसारतो व्याधिविपरीतोपक्रमणामुदाहरणानि ।	...	४२९-३०
९	केवलं दोषहरं भेषज्यं न व्याधिविनाशनम् ।	...	४३२
१०	व्याधिचिकित्सिते दोषानुबन्धो नोपेक्षणीयः ।	...	४३२
११	दोषानुसारिणी व्याधि (विपरीत) चिकित्सा आशुफलप्रदा ।	...	४३३
१२	व्याधीनां तदवस्थानां च हेतवो वातादयश्चिकित्सायां चिन्तनीयाः ।	...	४३४

एकादशं दर्शनम् ।

१	शरीरवदाहारः पंचभूतांशसम्भवः ।	...	४३५
२	विविधमाहार्यं द्रव्यं पंचभूतसमुद्भवम्	...	४३५
३	द्रव्यं बहुसख्यमपि रसभेदतः षड्विधम् ।	...	४३५
४	अभिव्यक्तलक्षणा रसाः षट् स्वाद्वादयः ।	...	४३६
५	भूयसां रसान्तरेण द्रव्याणां मधुराम्लादिसंज्ञया व्यपदेशः ।	...	४३६
६	पंचभूतात्मकत्वेऽपि धातवः परस्परं विभिन्नाः ।	...	४३७
७	भूतानां परिमाणविभेदतः द्रव्याणि विभिन्नानि ।	...	४३७
८	धातूनां समानैर्द्रव्यैरभिवर्धनं विरुद्धैश्च न्हासः ।	...	४३७
९	धातूनां वैलक्षण्येऽपि वृद्धिक्षयात्मकं कर्म सामान्यम् ।	...	४३७
१०	देहधातुगाः स्निग्धादयो गुणा आहार्यद्रव्यगुणैः सामानाः ।	...	४३८
११	स्वस्थहितं नाम द्रव्यम् ।	...	४३८
१२	विकारात्पादकं द्रव्यम् ।	...	४३९
१३	धातूनामभिवृद्ध्या क्षयेण च दोषाः प्रकुप्यन्ति ।	...	४३९
१४	धातुस्था दोषगुणाः ।	...	४३९
१५	धातुस्थानां दोषगुणानां भुक्तद्रव्यगतैर्गुणैरभिवर्धनं क्षयश्च ।	...	४४०
१६	गुणवैषम्यकृद्भुक्तं दोषप्रकोपणम् ।	...	४४०
१७	आरोग्यकरं द्रव्यम् ।
१८	स्वस्थहितं कोपनं शमनं चेति त्रिविधं द्रव्यं पंचभूतांशसमुदायोद्भवम् ।	...	४४०
१९	स्वस्थहितं द्रव्यमाहारसंज्ञकं शमनं कोपनं च औषधसंज्ञकम् ।	...	४४१
२०	सर्वक्रियाकरा गुणाः ।	...	४४२
२१	द्रव्याणां सूक्ष्मांशेषु गुणानामवस्थितिः ।	...	४४२
२२	धातूनां गुणस्वरूपः सूक्ष्मोऽंशो दोषसंज्ञकः ।	...	४४२
२३	द्रव्याणां गुणयुक्तः सूक्ष्मोऽंशो रससंज्ञकः ।	...	४४२
२४	द्रव्याणां रससामान्येऽपि व्यक्तिभेदाद्भिन्नं कर्म ।	...	४४३
२५	व्यक्तिभेदानुसारेण गुणभेदानामुदाहरणानि ।	...	४४४-४५
२६	वाताद्यन्यतमप्रकोपणमेव द्रव्यं व्याधिविशेषोत्पादकं न भवेत् ।	...	४४६
२७	वाताद्युपशमनं च द्रव्यं व्याधिविशेषोपशमनं न भवेत् ।	...	४४६
२८	समावानुगतैर्गुणैः द्रव्यं व्याधिविशेषस्योत्पादकं शमनं वा ।	...	४४७
२९	द्रव्याश्रिताः स्निग्धशीतादयो गुणा वीर्यसंज्ञकाः ।	...	४४७
३०	द्रव्यस्वभावः प्रभावः ।	...	४४८
३१	द्रव्याणां प्रभावेण व्याधिप्रशमः ।	...	४४९

विषयः

पृष्ठम्

३२	प्रभावस्वरूपम् ।	...	४५०
३३	युक्तादाहारात् शरीरक्रियासंपादनमयुक्ताच्च शरीरकर्मसंदूषणम् ।	...	४५०
३४	दोषाणां साम्यवैषम्यकारणा द्रव्यरसाश्रया गुणाः । ततश्च दोषानुसारतो द्रव्यगुणा- ख्यानम् ।	...	४५१
३५	वातादीनामेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा द्रव्यं शमनं प्रकोपणं च ।	...	४५२
३६	द्रव्याणां गुणा दोषानुसारेण धात्वनुसारेण व्याध्यनुसारेण च उपवर्णिताः शास्त्रे ।	...	४५३
३७	द्रव्यगुणवर्णनोदाहरणानि ।	...	४५३-५४
३८	स्वस्थवृत्तिकरा रोगोत्पत्तिकरास्तथा दोषप्रशमना आहार्यौषधानां गुणाः दोषानुसारेणाधिगन्तव्याः ।	...	४५४

द्वादशं दर्शनम् ।

१	दोषधातुमलमयानि शरीरद्रव्याणि ।	...	४५६
२	दोषधातुमलानां स्वरूपम् ।	...	४५७
३	प्रमुखानि शरीरकर्माणि तत्कर्तारश्च ।	...	४५७
४	दोषाणां विशेषाधारा धातवो मलाश्च ।	...	४५८
५	दोषाणां विशिष्टान्याश्रयस्थानानि ।	...	४५९
६	स्वस्थानां विकृतानां च दोषाणां प्रधानस्थानानि ।	...	४६०
७	वातादीनां भेदाः ।	...	४६२
८	वातभेदानां नामस्थानानि ।	...	४६२
९	पित्तभेदानां नामस्थानानि ।	...	४६३
१०	श्लेष्मभेदानां नामस्थानानि ।	...	४६३-६४
११	दोषाणां सर्वशरीरगतं सामान्यं कर्म ।	...	४६४
१२	प्राणवायोः कर्माणि ।	...	४६४-६५
१३	उदानवायोः कर्माणि ।	...	४६६
१४	व्यानवायोः कर्म ।	...	४६६
१५	समानवायोः कर्म ।	...	४६६
१६	अपानवायोः कर्म ।	...	४६६
१७	पाचकपित्तस्य कर्म ।	...	४६६
१८	रजकपित्तस्य कर्म ।	...	४६७
१९	रक्तगतो रजकपित्तभेदः ।	...	४६७
२०	साधकपित्तस्य कर्म ।	...	४६७

विषयः	पृष्ठम्
२१ आलोचकपित्तस्य कर्म ।	४६८
२२ भ्राजकपित्तस्य कर्म ।	४६८
२३ अवलम्बकारणस्य श्लेष्मणः कर्म ।	४६८
२४ क्लेदकश्लेष्मणः कर्म ।	४६८
२५ बोधकस्य श्लेष्मणः कर्म ।	४६९
२६ तर्पकस्य श्लेष्मणः कर्म ।	४६९
२७ श्लेषकस्य श्लेष्मणः कर्म ।	४६९
२८ प्रकृतिभेदाः ।	४६९-७०
२९ वातप्रकृतिलक्षणम् ।	४७०
३० पित्तप्रकृतिलक्षणम् ।	४७०
३१ श्लेष्मप्रकृतिलक्षणम् ।	४७१
३२ संसर्गसन्निपातोद्भवाः प्रकृतिभेदाः ।	४७१
३३ वयोमानानुसारं वातादीनां प्राधान्यम् ।	४७२
३४ अहोरात्रे वातादीनां प्राधान्यम् ।	४७२
३५ भुक्तपचनावस्थानुसारं दोषाणां प्राधान्यम् ।	४७२
३६ अहोरात्रादिसम्भवा दोषाभिवृद्धिः ।	४७३
३७ कालस्वभावादिर्वैषम्यहेतुः ।	४७३
३८ दोषाणां चयप्रकोपप्रशमकारणा क्रतवः ।	४७३
३९ चयप्रकोपकारणानां क्रतुभेदानां स्वभावविशेषाः ।	४७३
४० क्रतुस्वभावात्प्रकुपितानां वातादीनां प्रशमनानि ।	४७५
४१ वातवृद्धिक्षयकारणानि द्रव्याणि ।	४७५
४२ पित्तवृद्धिक्षयकाराणि द्रव्याणि ।	४७६
४३ श्लेष्मवृद्धिक्षयकाराणि द्रव्याणि ।	४७६
४४ आहारमात्राभेदा वातादीनामभिवृद्धिकराः ।	४७६
४५ वातादिदोषाभिवर्धनं शरीरं कर्म । (विहारः)	४७७
४६ दोषाभिवृद्धिकराणि मानसकर्माणि ।	४७७
४७ दोषाणां त्रिविधा विकृतिस्तल्लक्षणं च ।	४७८
४८ वृद्धेः प्रकोपस्य च स्वरूपम् ।	४७८
४९ वातवृद्धिलक्षणानि ।	४७९
५० वातक्षयलक्षणम् ।	४७९
५१ कुपितस्य वायोर्लक्षणानि ।	४७९
५२ पित्तवृद्धिलक्षणानि ।	४८०

विषयः

पृष्ठम्

५३	पित्तक्षयलक्षणानि ।	...	४८०
५४	पित्तप्रकोपलक्षणानि ।	...	४८०
५५	श्लेष्मवृद्धिलक्षणानि ।	...	४८१
५६	श्लेष्मक्षयलक्षणम् ।	...	४८१
५७	श्लेष्मप्रकोपलक्षणानि ।	...	४८२
५८	संसर्गसन्निपातस्वरूपम् ।	...	४८२
५९	संसर्गसन्निपातकर्माणि ।	...	४८२
६०	संसर्गसन्निपातादिभिर्दोषभेदाः ।	...	४८३
६१	दोषभेदानां त्रिषष्टिसंख्याकानां परिसंख्यानम् ।	...	४८३
६२	संसर्गसन्निपातेषु दोषलिङ्गानां तारतम्यम् ।	...	४८५
६३	वृद्धिक्षयसाम्यावस्थावस्थितानां दोषसंसर्गाणां स्वरूपम् ।	...	४८७
६४	दोषभेदानुसारं व्याधिविशेषलक्षणानि ।	...	४८८
६५	औषधानां प्रधानं स्वरूपम् ।	...	४८८
६६	शोधनशमनयोरुपयोगविशेषः ।	...	४८९
६७	दोषभेदानुसारं शोधनशमनविशेषाः ।	...	४८९
६८	वातादीनां सर्वश्रेष्ठानि प्रशमनद्रव्याणि ।	...	४९०
६९	वातादीनां सामान्या चिकित्सा ।	...	४९०
७०	स्थानान्तरेषु प्रदुष्टानां वातादीनां प्रशमनम् ।	...	४९०
७१	वातादीनां साम्यं स्वास्थ्यकारणम् ।	...	४९१

उक्तार्थसंग्रहः

... ४९२-४९५



शारीरं तत्त्वदर्शनम् ।

नाम

वातादिदोषविज्ञानम् ।

पूर्वार्धम् ।







॥ श्रीः ॥

श्रीमच्चरकसुश्रुतधन्वन्तरिप्रभृतिभ्य आयुर्वेदप्रणेतृभ्यो नमः ॥

शारीरं तत्त्वदर्शनं नाम—वातादिदोषविज्ञानम् ।

समीक्षाख्यया व्याख्ययोपबृंहितम् ।

पूर्वार्धम् ।

प्रणम्य कनकादित्यं भुवनस्यैकदर्शनम् ।

गुरुं च बालशर्माणमायुर्वेदार्थदर्शनम् ॥ १ ॥

शारीराणां वातपित्तश्लेष्मणां मूलरूपिणाम् ।

आयुर्वेदोपदिष्टानां स्वरूपगुणकर्मभिः ॥ २ ॥

आयुर्वेदीयतंत्राणामभिप्रायानुसारतः ।

विरच्यतेऽवबोधार्थं शारीरं तत्त्वदर्शनम् ॥ ३ ॥

समीक्षया हि शारीरं दर्शनं विशदं भवेत् ।

भावाभिव्यंजका व्याख्या समीक्षेयं विधीयते ॥ १ ॥

अथ चिकीर्षितार्थसिद्धिसाधने श्रेष्ठदेवताप्रणामः साधकतम इति विनिर्धार्य शारीरतत्त्व-

॥ श्रीः ॥

श्रीमच्चरकसुश्रुतधन्वन्तरिप्रभृतिभ्य आयुर्वेदप्रणेतृभ्यो नमः ॥

शारीर तत्त्वदर्शन ।

अथवा

वातादिदोषविज्ञान

(' समीक्षा ' नामक टीकासे उपबृंहित)

पूर्वार्ध ।

अपनी इष्टदेवताओंको प्रारंभमें प्रणाम करनेसे इच्छित कार्यकी निर्विघ्न सिद्धि होती है यह ध्यानमें रखकर “ शारीर तत्त्वदर्शन ” ग्रंथके प्रारंभमें ग्रंथकार अपनी इष्ट देवताको प्रणाम करते हैं । ग्रंथकर्ताकी कुलदेवता त्रिभुवनसाक्षी श्री कनकादित्य तथा गुरु आयुर्वेदशास्त्रके परमद्रष्टा श्री बालशास्त्री लावणकर को प्रणामकर शरीरस्थित वात-पित्त-कफोंके—जो शरीरके मूलघटक हैं याने जिनके कारण शरीरकी उत्पत्ति विकास आदि हुआ करते हैं और जिनका आयुर्वेद शास्त्रमें

दर्शनारम्भे ग्रंथकृत् खेष्टदेवतां प्रणोति । प्रणम्येत्यादिना । कनकादित्यमिति ग्रंथकर्तुः कुलदैवतं कनकादित्याभिधानं आदित्यम् । भुवनस्य इति जात्यैकवचनादखिलभुवनानामिति । दर्शनं चक्षुः । श्रीमतो भगवत आदित्यस्यैवालोकादालोकवन्ति भुवनानांति । गुरुं आयुर्वेदोपदेष्टारं बालशर्माणं ग्रंथकर्तुर्गुरुपूज्यपादान् आयुर्वेदार्थदर्शनं आयुर्वेदार्थ-द्रष्टारं (१)

शारीराणामिति शरीरसंबन्धिनां शरीरस्थितानामिति यावत् । वातापित्तश्लेष्मणां वातपित्तश्लेष्मणामधेयानाम् । मूलरूपिणां शरीरस्य मूलरूपिणामिति । यत उक्तं सुश्रुतसंहितायाम्—वातपित्तश्लेष्माणेषु देहसंभवहेतवः । तैरेव व्यापनैः शरीरमिदं धार्यत इति । आयुर्वेदोपदिष्टानामिति आयुर्वेदतंत्रेषु उपवर्णितानाम् । स्वरूपगुणकर्मभिः स्वरूपं स्वभावः, गुणाः कर्मसाधकाः रूक्षस्निग्धादयः, कर्माणि श्वसनपचनसंश्लेषणादीनि । तैः स्वरूपगुणकर्मभिः । किंवा स्वरूपं वातपित्तश्लेष्मणां के गुणाः कानि च कार्याणि इत्येवंरूपेण । (२)

आयुर्वेदीयतंत्राणामिति आयुर्वेदीयानां चरकसुश्रुतादीनां तंत्राणि ग्रंथाः तेषां । अभिप्रायानुसारतः अभिप्रेतार्थमनुलक्ष्य । विरच्यते निबध्यते अवबोधार्थं वातादीनां सम्यगवबोधाय । शारीरतत्त्वदर्शनमिति । आयुर्वेदोपदिष्टानां शरीरमूलरूपाणां वातपित्तश्लेष्मणां आयुर्वेदाभिप्रायानुसारं यथावदवबोधाय विरच्यते शारीरं तत्त्वदर्शनमिति । (३)

प्रतिपादन किया गया है—स्वरूप याने स्वभाव, रूक्ष स्निग्धादि कर्मसाधक गुण एवं श्वसन उत्सर्जन विश्लेषण आदि कर्म इनके विषयमें सुस्पष्ट ज्ञान होनेके लिये आयुर्वेदीय ग्रंथोंके अभिप्रायानुसार प्रस्तुत “ शारीरं तत्त्वदर्शनं ” नामक ग्रंथकी रचना करते हैं । तथा उसकी “ समीक्षा ” नामकी व्याख्याभी इसलिये लिखते है कि ग्रंथप्रतिपादित विषयका अधिक विशदीकरण हो और ग्रंथांतर्गत भाव अधिक स्पष्टतासे प्रकट हो ।

शारीरतत्त्वविज्ञानद्वारा ऐहिक (भौतिक) तथा पारलौकिक सभी प्रकारके सुखप्राप्तिका साधन बननेके संबंधमें आयुर्वेदकी योग्यता प्रथम जानना आवश्यक है । पुरुषका अर्थ है विशेष ज्ञानवान् व्यक्ति—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष । ऐसा ज्ञानवान् व्यक्ति जिस चीजकी इच्छा—अपेक्षा करता है उसका नाम है पुरुषार्थ । पुरुषार्थ चार हैं । धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष । पुरुषार्थोंकाभी साधन है आरोग्य । आरोग्यका अर्थ है स्वास्थ्य अर्थात् आधिव्याधिरहित शरीर व मनकी स्वाभाविक अवस्था । जिन इहलौकिक या पारलौकिक सुखोंकी मनुष्य अपेक्षा करता है

धमार्थकाममोक्षारव्यः पुरुषार्थश्चतुर्विधः ।

तस्यारोग्यं साधनं स्यादायुर्वेदोऽस्य साधनम् ॥ १ ॥

शारीरतत्त्वविज्ञानादैहिकामुष्मिकसुखावासिसाधनभूतस्यायुर्वेदस्य योग्यतानिदर्शनार्थ-
मुच्यते । धमार्थकामेत्यादि । पुरुषार्थः पुरुषेण विशेषज्ञानवता नरेण । नार्याचेत्युपलक्षणम् ।
विशिष्टज्ञानवता शरीरिणा अर्थ्यत अपेक्ष्यत इति पुरुषार्थः । आरोग्यं स्वास्थ्यं । आधिव्याधिरहितः
शरीरमनसोः स्वभावः । आयुर्वेदः आयुषो वेदः । आयुःसंवधि विज्ञानमिति यावत् । ऐहिका-
मुष्मिकसुखस्वरूपं पुरुषस्यापेक्षितं येन साध्यते शारीरमानसेनारोग्येण तस्य साधनमायुर्वेद इति । (१)

स्वास्थ्यसंरक्षणं व्याधिविनाशनमिति स्मृतम् ॥

द्वेधा साध्यं सुविज्ञात आयुर्वेदस्तु साधयेत् ॥ २ ॥

पूर्वोक्तस्य विशदीकरणार्थमाह स्वास्थ्यसंरक्षणमित्यादि स्वे स्वभावे तिष्ठति
स्थीयते वा इति स्वस्थः । तस्य भावः स्वास्थ्यं । व्याधिर्नाम शरीरे पीडाकरं स्वभाववैषम्यं ।
स्वास्थ्यसंरक्षणदेव व्याधिविनाशे सिद्धे पुनस्तदुपदेशोऽनर्थ इति न वाच्यम् । यतो हिताहारविहार-
सेवादिभिः स्वास्थ्यसंरक्षणपरायणानामपि कालवैषम्यादिव्याधिहेतुरपरिहार्यः । अन्यच्च स्वास्थ्य-
नियमानां सर्वेषां सर्वदा परिपालनमशक्यमाड्यैः स्वामिमिरपि किं पुनराजीविकाव्यवहारपरवशैरिति
व्याधिसंभवः । द्वेधा द्विप्रकारं साध्यं सुविज्ञातो यथावदधिगत आयुर्वेदः साधयेत् ॥ (२)

उनकी प्राप्ति शारीरिक व मानसिक आरोग्यके द्वाराही हो सकती है । और इस
आरोग्यका साधन है आयुर्वेद ॥ १ ॥

आयुर्वेद जिस साध्यको प्राप्त कर देता है उसका अधिक स्पष्टीकरण
करना अवश्यक है । स्वास्थ्यका अर्थ है मनुष्यके मूल या नैसर्गिक स्थितिका भाव ।
इस स्वाभाविक स्थितिमें जब विषमता या बिघाड पैदा होता है तब उसको
व्याधि कहते हैं । आयुर्वेदसे स्वास्थ्यकी रक्षा तथा उत्पन्न व्याधिका विनाश इन
दोनों प्रकारका साध्य प्राप्त होता है । यहांपर शंका उत्पन्न हो सकती है कि, यदि
स्वास्थ्य ठीक रहा तो व्याधिकी उत्पत्तिही न हो सकेगी । इसलिये स्वास्थ्यरक्षा यह
एकही आयुर्वेदका साध्य मानना चाहिये । दो साध्य बतलाना निरर्थक है । किंतु
यह शंका निर्मूल है । कारण, हितकारक आहारविहारादिद्वारा अपने स्वास्थ्य
रक्षाका उद्यम करनेवाले लोगोंकोभी जल वायु या कालवैषम्यादि कारणोंसे व्याधि-
संभव होही जाता है । तथा स्वास्थ्यरक्षाकारक सभी नियमोंका हरसमय पालन
करना धनी-श्रीमान् लोगोंके लियेभी अशक्य है-फिर गरीबोंकी बातही दूर रही ।

स्वस्थानुरहितं सर्वमायुर्वेदेऽभिभाषितम् ॥

वातपित्तकफाख्यांस्त्रीन्दोषांस्तदनुवर्तते ॥ ३ ॥

स्वस्थानुरहितसाधनार्थं दोषत्रयविज्ञानमवश्यमित्यभिप्रायेणोच्यते स्वस्थानुरहितमित्यादि । आयुर्वेदेऽभिभाषितं प्रोक्तं यत्स्वस्थानुरहितं तत्सर्वं वातादिदोषत्रयानुसारेणैति सुगमोऽर्थः । (३)

स्वाभाविकाः शरीरस्य क्रियाश्च विषमा अपि ।

दोषत्रयानुसारेण वर्णिताः स्युर्यथायथम् ॥ ४ ॥

नानाविधानां व्याधीनामुत्पत्तिः प्रसरस्तथा ।

वर्णिताश्च शमोपायास्तेषां दोषानुरोधतः ॥ ५ ॥

गुणकर्माण्यौषधानामाहार्याणां रसादयः ।

दोषत्रयानुसारेणाऽयुर्वेदे विशदीकृताः ॥ ६ ॥

हेत्वन्तरेदोषविज्ञानस्य प्राधान्यमुच्यते—स्वाभाविका इत्यादि । स्वाभाविका निसर्गजाः श्वसनोत्सर्जनाद्याः स्वभावप्रवृत्तिरूपाः । विषमाः विरुद्धाः हीनातिमिथ्यायोगस्वरूपाः । यथायथं वातादिस्वभावानुसारं । दोषत्रयानुसारेण वर्णिताः । (४)

नानाविधानां ज्वरातिसारगुल्मादीनां । प्रसरः स्थानाः स्थानान्तरगमनं । एकस्मिन् स्थाने समुत्पन्नो व्याधिः स्वभावाद्धेतुवर्तरेवां स्थानान्तरं दूषयित्वाऽन्यं व्याधिमुत्पादयति । यथा कासा-

अर्थात् हो गरीब अथवा धनाढ्य सबको व्याधि उत्पन्न होही जाता है । और यही जानकर आयुर्वेदका साध्य द्विविध बतलाया गया है—एक स्वास्थ्यरक्षा, दूसरा व्याधिविनाश ॥ २ ॥

आयुर्वेदमें स्वस्थ व रोगी दोनोंका हितसाधन वात, पित्त व कफ इन् दोषोंके विज्ञानानुसार वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

श्वसन—उत्सर्जनादि शरीरकी स्वाभाविक क्रियायें, आहारविहारादिके हीन-मिथ्या अतियोगसे होनेवाली विषम क्रियायें, नानाविध व्याधिओंकी उत्पत्ति एवं प्रसर तथा उनके शमनके उपाय, औषधिओंके गुणकर्म, खाद्य-पदार्थोंके रस आदि सभी विषयोंका वर्णन आयुर्वेदमें त्रिदोष सिद्धान्तके अनुसारही स्पष्ट किया गया है । ज्वर, अतीसार, गुल्म आदि व्याधिओंकी उत्पत्ति किसप्रकार होती है, उनका प्रसर याने एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन कैसा होता है । अपने स्वभावसे या अन्य किसी कारणसे एक व्याधि जब अपने मूलस्थानसे अन्य स्थानमें जाता है तब वह दूसरे व्याधिको पैदा कर देता है । जैसे काससे यक्ष्मा, ज्वरसे रक्तपित्त

यक्ष्मा ज्वराद्रक्तपित्तमित्यादि । शमोपाया दीपनपाचनादयो ज्वरातिसारादिव्याधिविपरीता-
श्चिकित्साविशेषाः । दोषानुरोधतः दोषानुसारेण वर्णिताः । (५)

औषधानां रोगप्रतिकारार्थमुपयोज्यानां द्रव्यविशेषाणां **गुणकर्माणि** । **गुणाः** रुक्ष-
स्निग्धोष्णशीतादयः । **कर्माणि** वमनविरेचनस्वेदनस्तंभनादीनि व्याधिविशेषविनाशकत्वस्वरूपाणि च ।
आहार्याणां भोज्यद्रव्याणां **रसादयः** रसविपाकवीर्याणि । आहार्यद्रव्येषु स्थानविशेषोद्भवस्य
कर्मविशेषस्य प्रभावसंज्ञस्याभावः । रसरक्तादीनां धातूनां विविधानामवयवानां च स्वभावानुसार-
मभिवृद्धिकराणि द्रव्याण्याहार्याणि नाम । **स्वस्थहित**संज्ञया परिगणितान्येवंविधानि द्रव्याणि ।
द्रव्यस्वभावविशेषान् स्थानान्तरेषु विशिष्टं कर्म प्रभावः । द्रव्याणां विशिष्टं कर्म कदाचिद्दोषप्रकोपणं कदा-
चिद्दोषप्रशमनं तदनुसारेण च द्रव्याणि कानिचित्प्रकोपणानि कानिचिच्छमनानि चेत्याख्यातानि ।
आहार्यद्रव्याणि न प्रकोपणानि न च वा शमनानि ततश्चाहार्येषु प्रभावस्याभावः । दोषत्रयानुसारेण
आयुर्वेदे विशदीकृताः स्पष्टीकृताः । (६)

वातपित्तकफाश्चातो विज्ञेयाः स्युश्चिकित्सकैः ।

नैवायुर्वेदविज्ञानं दोषज्ञानादृते भवेत् ॥ ७ ॥

अतः सर्वस्वस्थानुरहितं दोषत्रयानुसारेणोपवर्णितामिति हेतोः **चिकित्सकैः** भिषग्भिः
स्वस्थानुरहितार्थं प्रयतमानैः न केवलं व्याधिचिकित्सकैः । वातपित्तकफा विज्ञेयाः सम्यगवग-

उत्पन्न होता है, व्याधिओंके शमनके दीपनपाचनादि उपाय किसप्रकार करने
चाहिये औषधिके रुक्ष, स्निग्ध, उष्ण, शीत आदि गुण तथा वमन,
विरेचन, स्वेदन, स्तंभन, आदि कर्म—जिनसे विशिष्ट व्याधिओंका विनाश होता
है—कौनसे होते है, खाद्य पदार्थोंके रस, वीर्य व विपाक कैसे होते है,
आदि सब वर्णन आयुर्वेदमें तीन दोषोंके अनुसारही विशद किया गया
है । आहार्यद्रव्योंके रसादिमें रस वीर्य व विपाक इन तीन क्रिया-
ओंकाही समावेश होता है । प्रभावका नहीं । कुछ द्रव्य या औषध ऐसे होते हैं
कि, वे शरीरके किसी विशिष्ट स्थानपरही परिणाम करते हैं । ऐसे स्थानविशेषमें
होनेवाले परिणामकोही प्रभावसंज्ञा है । आहार्यद्रव्योंमें प्रभाव नहीं होता । कारण
रसरक्तमांस आदि धातुओंकी तथा हृदय फुफ्फुसादि अवयवोंकी अपने स्वभावा-
नुसार वृद्धि करनेवाले खाद्यपदार्थोंकोही आहार्यद्रव्य कहते हैं । इन द्रव्योंको
'स्वस्थहित' संज्ञासे परिगणित किया गया है । जो द्रव्य स्वस्थहित नहीं होते,
या तो वे दोषोंका प्रकोप करते हैं या शमन । यही उनका विशिष्ट कर्म अर्थात्

न्तव्याः । यतो दोषज्ञानादृते दोषज्ञानं विना आयुर्वेदविज्ञानं आयुर्वेदस्य ज्ञानं न भवेत् । दोषज्ञानं विहायायुर्वेदस्य विज्ञानं न भवेदिति वा व्याख्येयम् । (७)

गुणाः स्वरूपं कर्माणि देहे तेषामवस्थितिः ।

सामर्थ्यं चावगन्तव्यं वातादीनां सुनिश्चितम् ॥८॥

कथं देहं वर्तयन्ति व्याधीन्संजनयन्त्यपि ।

कथं व्याधिविनाशश्च स्याद्विदोषानुरोधतः ॥९॥

कथं वातादयो दोषा विज्ञेया इति स्पष्टीकरणार्थमुच्यते । गुणाः स्वरूपमित्यादि—
गुणाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षादयो विंशतिसंख्याः । स्वरूपं स्वभावः स्थूलत्वसूक्ष्मत्वद्रव्यत्वगुण-
त्वादिरूपः । कर्माणि श्वसनपचनपोषणोत्सर्जनादीनि । देहे तेषामवस्थितिः देहे कुत्र को
दोषः केन स्वरूपेणावस्थित इति । सामर्थ्यं शरीरकर्मनिर्वर्तने शक्तिः । सुनिश्चितं सन्देह-
हितम् अवगन्तव्यं बोद्धव्यम् । (८)

वाताद्या दोषाः कथं देहं वर्तयन्ति जीवयन्ति क्रियास्वरूपेण धारयन्ति । यतः
क्रियास्वरूपमेव जीवितं नाम । व्याधीन् ज्वरगुल्मादीन् । संजनयन्ति क्रियावैषम्यादुत्पाद-
यन्ति । विदोषानुरोधतश्च व्याधिविनाशः क्रियावैषम्यपरिहारः । कथं स्यात् । इत्यवगन्तव्यमिति
पूर्वोक्तानुसंधेयम् (९)

प्रभाव होता है । अर्थात् आहार्यद्रव्य, जो अपने स्वभावसे शारीरिक धातुओं व
अवयवोंकी वृद्धि करते हैं । न प्रकोपण होते हैं न शमन । और यही कारण है
कि, उनका कोई प्रभाव नहीं है । इस लिये आहार्यद्रव्योंके रसादिमें प्रभावका
समावेश नहीं किया जा सकता । (४।५।६)

इसप्रकार आयुर्वेदमें स्वस्थ व आतुर दोनोंका हित त्रिदोषोंके अनुसारही
वर्णन किये जानेके कारण स्वस्थोंका स्वास्थ्यरक्षण व आतुरोंका व्याधिविनाश कर-
नेका प्रयत्न करनेवाले वैद्योंको चाहिये कि, वात, पित्त कफोंको उचित रीतीसे
जानलें । कारण दोषोंको जानेविना आयुर्वेद समझमें न आ सकेगा । दोषविज्ञानको
छोडकर आयुर्वेद शास्त्रही हो नहीं सकता ॥ ७ ॥

वातादिदोषोंका ज्ञान किस प्रकार होगा यहभी स्पष्ट करना अवश्य है ।
दोषोंके स्निग्ध, रूक्ष शीत उष्ण आदि बीस गुण, उनका स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, द्रव्यत्व,
गुणत्व आदि स्वरूप याने स्वभाव, उनके श्वसन, पचन, पोषण उत्सर्जन आदि
कर्म, उनका शरीरमें अवस्थान—याने शरीरके किस स्थानमें कौनसा दोष किस स्वरूपमें

स्वस्थानुराणां हितसाधनायायुर्वेदशास्त्रं भुवि सम्प्रवृत्तम् ।

वायुश्च पित्तं च कफस्त्रिदोषास्तत्तत्त्वरूपाः प्रथमं परीक्ष्याः ॥१०॥

स्वस्थानुरहितसाधनार्थमायुर्वेदेऽधिगन्तव्ये दोषविज्ञानमवश्यमिति प्रतिपादयन्नाह । स्वस्थानुराणामिति—

स्वस्थानां आतुराणां च हितसाधनाय आयुर्वेदशास्त्रं आयुर्वेदारव्यं शास्त्रं विज्ञानं भुवि सम्प्रवृत्तं लोकहितैषया कारुणिकैर्विमलविपुलधिषणावद्भिर्मुनिभिः प्रवर्तितम् । तत्तत्त्वरूपाः आयुर्विज्ञानतत्त्वरूपाः । वायुःपित्तं कफश्चेति त्रिदोषाः प्रथमं परीक्ष्याः यथावदवगन्तव्याः । वातादिज्ञानादेव तदनुसारेणोपवर्णितानां स्वस्थानुरहितोपदेशानामभिप्रायः सम्यगाधिगतो भवेदिति ॥ (१०)

रहता है इसका ज्ञान, शरीर कर्मोंके होनेमे उनका सामर्थ्य याने शक्ति यह सब संदेहरहित रीतीसे समझ लेना चाहिये ॥ ८ ॥

वातादिदोष शरीरकी जिवितयात्राको किस तरह चलाते है । क्रियास्वरूपही जीवित है । जीवनक्रियामें बिघाड होनेसे वेही ज्वर गुल्म आदि रोगोंको किस तरह उत्पन्न करते है, उनके अनुरोधसेही व्याधिविनाश कैसा हो सकता है; यहभी अवश्य जान लेना चाहिये । ९ ॥

स्वस्थ व आतुर दोनोंका हित साधनेके लियेही परमकारुणिक और शुद्ध व महान् बुद्धिमान् ऋषियोंने आयुर्वेदशास्त्रका निर्माण किया है । इस आयुर्वेदशास्त्रके तत्त्वरूप जो वात पित्त कफ नामके तीन दोष उनको सबके पहिले ठीक समझ लेने चाहिये । कारण उनका ज्ञान पहिले होनेसेही उनके अनुसार वर्णित स्वस्थानुरहितोपदेशका अभिप्राय विदित हो सकेगा । १० ॥

पूर्वार्धम् ।

। प्रथमं दर्शनम् ।

(दोषधातुमलसंज्ञादर्शनम्)

अथातो देहसंख्यानं दोषधातुमलाख्यः ।

समासतः शरीरेऽस्मिन् शरीरं तन्मयं मतम् ॥ १ ॥

शरीरस्थानां वातादिदोषाणां स्वरूपविशेषनिदर्शनार्थं शरीरोपादानद्रव्याणि निदर्शयितुमाह । अथातो देहसंख्यानमिति—अथेति मांगल्यानंतर्यारंभसूचकं । दोषविज्ञानयोग्यताप्रतिपादनानन्तरं मंगलोच्चारपूर्वमारभ्यते शरीरं तत्त्वदर्शनमिति । अतः स्वस्थानुरहितसाधनस्यायुर्वेदस्य यथावत् विज्ञानहेतोः । देहसंख्यानं देहस्य द्रव्यांगादिभिः परिगणनं । कानि क्रियन्ति वा द्रव्याणि देहे कानि चांगान्युपांगानामुपादानानीति परिगणनम् । अस्मिन् संख्यानविषये शरीरे दोषधातुमलाः त्रिसंख्याख्याताः त्रयः समासतः संक्षेपण । विद्यन्त इति वाक्यशेषः विस्तारे पुनर्दोषधातुमलानां भेदाश्चांगोपांगानि चानेकानि संख्येयानि । शरीरं तन्मयं दोषधातुमलमयं दोषधातुमलविकाररूपम् । यथा कस्यचित्सुवर्णमयस्यालंकरणस्याभावः स्यात्सुवर्णाभावे तथैव दोषधातुमलानामभावे शरीरस्याप्यभाव इति तन्मयत्वम् । मतं शरीरविदामभिमतम् ।

ननु सृष्टवस्तुजातस्य पंचभूतान्युपादानमुक्तम् । शरीरमपि चेतनासहितैः पंचभूतैर्जायते

पूर्वार्धम् ।

दर्शन १ ला

(दोषधातुमलसंज्ञादर्शनम्)

दोषविज्ञानकी योग्यता वर्णन करनेके बाद मंगलोच्चारणपूर्वक स्वस्थानुरहित-साधनभूत आयुर्वेदका यथावत् ज्ञान होनेके लिये अब शरीरके मूल तत्त्वोंका वर्णन करते हैं । याने देहसंख्यान-शरीरके द्रव्यांगादिकी परिगणना करते हैं । देहमें कौनसे व कितने द्रव्य हैं ? अंग कौनसे हैं ? उनके उपादान (मूलकारण द्रव्य) कौनसे व कितने हैं ? इसकी गणना करना अवश्यक है । इस संख्यानके याने गणनाके विषयमें संक्षेपमें यह कहा गया है कि, दोष, धातु व मल ये तीन शरीरके उपादान हैं । [दोष-धातु-मलोंके भेद व अंगोपांग अनेक हैं ।] और शरीर तन्मय याने दोष-धातु मलोंकाही बना हुआ है । जैसे सुवर्णका अभाव होनेसे सुवर्णालंकारोंकाभी अभाव हो जाता है, उसी प्रकार दोष-धातु-मलोंके

इत्युक्तं । यथा—‘खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः’ । इति चरकः । तत्कथं दोषधातुमलाः शरीरस्योपादानमिति । पृथिव्यादिपंचभूतानां शरीरस्योपादानत्वेऽभिहितेऽपि पंचभूतविकाराणां समुदायः शरीरं न पंचभूतानां स्वभावस्थितानामिति दर्शनान् पंचभूतविकाराः शरीरस्योपादानमिति प्रतिपद्यते । यदुक्तं चरकेण—“ तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचभूतविकारसमुदायात्मकमिति ” । पंचभूतविकारा एवैते शरीरस्था दोषधातुमलशब्दवाच्याः । सृष्टवस्तुजातस्याखिलस्योपादानस्वरूपाणि पंचभूतान्यपि तद्विकारा एव व्यक्तवस्तुगता इति दर्शनान् शरीरविज्ञाने व्यवहारसौकर्यार्थमायुर्वेदप्रवर्तैरंगीकृताः संज्ञाः पंचभूतविकाराणां शरीरगतानां त्रयाणां दोषो धातुर्मलश्चेति । ततश्चोक्तं दोषधातुमलमूलं हि शरीरमिति (१)

अंगोपांगान्यनेकानि शिरःशास्त्रादिकानि वै ।

आमपक्वाशयाद्याश्चानेके अवयवास्तथा । २ ॥

त्वक्कलास्नायुधमनीस्रोतांसि विविधान्यपि ।

मूलद्रव्याणि सर्वेषां दोषधातुमलास्त्रयः ॥ ३ ॥

शरीराण्यंगोपांगानि सर्वाणि दोषधातुमलेश्वन्तर्भवन्तीति निदर्शनार्थमुक्तं । अंगोपांगान्यनेकानीति—अंगं विभागः उपांगं अंगस्य विभागः । शिरः उत्तमांगम् । शास्त्राः द्वौ हस्तौ द्वौ च पादौ । आदिशब्देन कर्णनयननासादीनां गुल्फजातुमणिबंधकूर्परादीनां च ग्रहणम् । आमपक्वादि-

अभावमें शरीरकाभी अभाव हो जाता है । इसलिये शरीरशास्त्रवेत्ताओंने शरीरको तन्मय याने दोष—धातु—मलमय बतलाया है ।

यहांपर शंका उत्पन्न होती है कि, दोषधातुमल शरीरके उपादान कैसे कहे जा सकेंगे ? कारण हरएक सृष्टवस्तुमात्रके उपादान पंचभूतोंको बतलाया गया है । कहाभी गया है कि, चेतनासहित पंचभूतोंसेही शरीरका निर्माण हुआ है । चरकनेभी कहा है कि, पंचभूत और छठी चेतना येही मनुष्यशरीरके मूलघटक है । फिर दोष-धातु-मल शरीरके उपादान कैसे हो सकते हैं ? किन्तु इस शंकाका परिहार किया जा सकता है । यद्यपि पृथिव्यादि पंचभूतोंको शरीरके उपादान बतलाया है, थोडा विचार करनेसे विदित हो सकता है कि, शरीर पंचभूतोंके विकारोंका समुदाय होनेके कारण मूलस्वरूपमें पंचभूत शरीरका उपादान नहीं हो सकते (मूल स्वरूपमें वे जैसे के वैसेही रहते हैं उनसे कोई दूसरी चीज नहीं बनती) अपितु पंचभूतोंके विकारही शरीरके उपादान हो सकते हैं । चरकने ठीकही कहा है कि ‘ तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचभूतविकारसमुदाया-

संज्ञा आमाशयपक्वाशयादिसंज्ञाः । आदिशब्दात् वाय्वादीनामाशयाः पंचावशिष्टाः । अवयवाः विशिष्टान्यंगानि । (२)

त्वगिति शरीरस्य बाह्यमावरणम् । **कला** तन्वी त्वगेवांतर्गतानां धातूनामाशयानां चावरणं मर्यादाभूतम् । **स्नायवः** सूत्रस्वरूपा रज्जुस्वरूपा वा । **धमन्यो** वातवाहिन्यः । **स्रोतांसि** स्थूलसूक्ष्माणि न्हस्वदीर्घाण्ययनानि अभिवहनसाधनानि । सर्वेषामेषां दोषधातुमला **मूलद्रव्याणि** उपादानद्रव्याणि । (३)

परमाणुस्वरूपाश्च सूक्ष्मा अवयवा अपि ।

विभज्यन्ते स्वरूपेण दोषधातुमला इति ॥ ४ ॥

सुसूक्ष्माणामप्यवयवानां दोषधातुमलमयत्वं सूच्यते । परमाणुस्वरूपाश्चेत्यादिना । **परमाणुस्वरूपाः सूक्ष्मा इति** । सूक्ष्मतरत्वसूचकं परमाणुपदम् । न नित्यद्रव्यलक्षणम् । शरीरावयवास्तु सूक्ष्मा अपि वृद्धिक्षयशीलाश्चापत्तिविनाशमन्तः । **स्वरूपेण** आत्मभावेन दोषधातुमला इति विभज्यन्ते । प्रत्यवयवं दोषो धातुर्मलश्चेति त्रयो विभागाः ।

(शरीरावयवः सूक्ष्मतरस्त्रेधा विभज्यते ।

दोषोधातुर्मलश्चेति देहस्तन्मूलको यतः ॥१॥)

उपादानं हि देहस्य दोषधातुमलास्त्रयः ।

सदा सर्वत्र विद्यन्ते शरीरावयवेषु ते ॥५॥

त्मकम्' । इन पंचभूतविकारोंकोही दोष-धातु-मल ये नाम दिये गये हैं । हरएक सृष्टवस्तुके उपादानस्वरूप पंचभूतोंके होते हुएभी उनके विकारोंसेही वस्तु व्यक्तत्वको प्राप्त करती है । इसलिये शरीरविज्ञानमें व्यवहारकी सुलभता के लिये आयुर्वेदप्रवर्तक ऋषिओंने शरीरमें स्थित तीन प्रधान पंचभूतविकारोंको दोष, धातु व मल ये संज्ञायें दी है । और कहा है कि, शरीरके मूल घटक दोष-धातु-मल है । १ ॥

शरीरके अंग याने विभाग और उपांग याने अंगोंकेभी विभाग अनेक है । जैसे शिर, हात, पैर, कान, नयन, नासा, गुल्फ [एडी], जानु (घुटना), कलाई, कूर्पर आदि । अवयवभी विशिष्ट अंगही है । आशयभी अनेक हैं जैसे आमाशय पक्वाशय आदि । त्वचा याने शरीरका बाह्य आवरण, कला (धातु और आशयोंके बीचमें मर्यादाभूत जो एक सूक्ष्म त्वचामय पर्दा रहता है उसको कला संज्ञा है और स्वरूपसाम्यसे उसका त्वचामेंभी अंतर्भाव हो सकता है ।), सूत्रस्वरूप या रज्जुस्वरूप छोटेबड़े स्नायु, धमनी याने वातवाहिनी, स्रोतस् (ये भी स्थूल व

उक्तार्थस्यैव स्पष्टीकरणार्थमुच्यते—यस्मादोषधातुमला देहस्योपादानं तस्मात् ते सर्वत्र शरीरावयवेषु सदा विद्यन्ते । दोषधातुमलाः सर्वशरीरव्यापिनः सर्वदा इति भावः । (५)

शरीरदूषणादोषा धातवो देहधारणात् ।

मलिनीकरणाच्चापि शरीरस्य मलाः स्मृताः ॥ ६ ॥

एवं संज्ञाभिरिताभिरभिप्रायोऽनुमीयते ।

दोषाणां कर्म देहेऽस्मिन् केवलं दूषणात्मकम् ॥ ७ ॥

मुख्याधाराः शरीरस्य धातवस्ते समीरिताः ।

मलिनीकरणादेव मला इत्यभिभाषिताः ॥ ८ ॥

दोषधातुमलानां शब्दार्थानुसारेण स्वरूपानुमानं दर्शयति—**शरीरदूषणादित्यादिना**—**शरीरस्य दूषणं** क्रियावैषम्योत्पादनम् । **देहस्य धारणं** क्रियारूपेणाकृतिरूपेण च । **मलिनीकरणं** शरीरद्रव्येषु सत्वहीनत्वोत्पादनम् । हीनसत्त्वाः शरीरद्रव्याणामंशा मलसंज्ञाः । मलस्वरूपत्वं प्राप्ताः शरीरद्रव्यांशाः शरीरे धात्वन्तरोत्पादनायासमर्था भवन्ति । यथासमयमुत्सजनाभावे स्वसंसर्गाच्छरीरद्रव्याणि मलिनीकुर्वन्ति । (६) **एवं संज्ञाभिरिति** संज्ञाभिः दोषधातुमलशब्दैः **एवं** वक्ष्यमाणप्रकारोऽभिप्रायोऽनुमीयते । दोषाणां वातादीनां शरीरे केवलं दूषणात्मकं कर्म नान्यत् । धातवो रसाद्या एव धारका मुख्याः नेतरे । मलाश्च शरीरस्य मलिनीकरणादेवाख्याताः न तेषां मलिनीकरणादन्यत् कर्म इति । (७+८)

सूक्ष्म हैं और इनमेंसे शरीर पदार्थोंका अभिवहन होता है ।) आदि उपरिवर्णित सभी शारीरिक अंगोपांगोंका उपादान (मूलघटक द्रव्य) दोष-धातु-मलही है । ॥ २ ॥ ३ ॥

इतनाही नहीं किन्तु शरीरके जो परमाणुस्वरूप अतिसूक्ष्म अवयव हैं उनका भी उपादान दोष-धातु-मलही हैं । परमाणुका अर्थ यहांपर नैय्यायिकोंने बतलाया हुआ नित्यस्वरूपका द्रव्य नहीं लेना चाहिये, किन्तु शरीरका सूक्ष्मतर विभाग लेना चाहिये । शरीरके हरएक सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म विभागमेंभी वृद्धि-क्षय और उत्पत्ति-विनाशकी क्रियायें होती रहती हैं । सारांश, इन परमाणुस्वरूप सूक्ष्म अवयवोंमेंभी (प्रत्येक परमाणुमें) अपने २ स्वरूपमेंही दोष-धातु-मल ये तीनों विद्यमान रहते हैं । प्रत्येक परमाणुके दोषरूप, धातुरूप व मलरूप ऐसे तीन विभाग होते हैं । ४ ॥

उक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि, देहके मूलघटक दोष-धातु-मल होनेके कारण प्रत्येक सूक्ष्मतर अवयवमेंभी दोष-धातु-मल रहतेही हैं । चूंकी दोष-धातु-मल शरीरके उपादान (मूलघटक द्रव्य) है वे शरीरके हरएक अवयवमें सर्वदा

शब्दार्थस्यानुरोधेन यद्येवमुपगम्यते ।

आयुर्वेदीयतंत्राणामभिप्रायोऽन्यथा भवेत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थानुसारेण दोषादीनां केवलं दूषणत्वादिकमेव कर्म शरीरेऽत्यनुमानस्य निराकरणार्थं मुच्यते । शब्दार्थस्यानुरोधेनेति—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण दोषादीनां दूषणादिक्रियामात्रत्वं शब्दार्थस्य दूषणादोषाः धारणाद्वातवः मलिनीकरणाच्च मला इत्यर्थस्यानुरोधेन उपगम्यते अनुमीयते । किन्तु तत्स्वीकारात् आयुर्वेदीयतंत्राणामभिप्रायः अन्यथा भवेत् । शब्दार्थानुसारेण दोषादीनां केवलं दूषणात्मकत्वादि कर्म इत्यभिप्राय आयुर्वेदीयतंत्रविरुद्ध इति । (९)

दूषणं केवलं कर्म मलिनीकरणं तथा ।

दोषाणां च मलानां च यद्यायुर्वेदसम्मतम् ॥ १० ॥

देहस्य मूलमित्येते तदा वक्तुं न पार्यते ।

कथमायुर्वेदतंत्राभिप्रायविरुद्धमिति दर्शयन्नाह । दूषणं केवलमित्यादि । दोषाणां दूषणं मलानां च मलिनीकरणं कर्मेति यद्यायुर्वेदसम्मतं स्यात्तदा एते दोषा मलाश्च देहस्य मूलमिति वक्तुं न पार्यते न शक्यते । ‘ दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य ’ । इत्यायुर्वेदीयतंत्रेऽप्युपदिष्टं । अथ चेद्दोषाः केवलं दूषणकर्तारः मलाश्च मलिनीकरणास्तर्हि देहमूलत्वेन तेषामुपदेशोऽप्यर्थः । (१० ॥)

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ॥ ११ ॥

विकृताऽविकृता देहं गन्ति ते वर्तयन्ति च ।

रहतेही हैं, अर्थात् वे सर्वशरीरव्यापी हैं । ५ ॥

अब दोष-धातु-मलोंकी शब्दार्थानुसार व्याख्या करते हैं । जो शरीरका दूषण याने शारीरिक क्रियाओंमें विषमता बिघाड उत्पन्न करते हैं उनको दोष, जो क्रिया व आकृति दोनों रूपसे शरीरका धारण करते हैं उनको धातु और जो शरीरका मलिनीकरण करते हैं याने शरीरद्रव्योंमें सत्त्वहीनता उत्पन्न करते हैं उनको मल ऐसी संज्ञायें दी गयी है । शरीरद्रव्योंके जो अंश हीनसत्त्व हो जाते हैं उन्हीको मलसंज्ञा दी गयी है । कारण जिन शरीरद्रव्यांशोंको मलस्वरूप प्राप्त हो जाता है वे फिर शरीरमें अन्य धातुके उत्पादनमें असमर्थ होते हैं । और यदि यथासमय उनका उत्सर्जन न हुआ तो वे अपने संसर्गसे अन्य शरीरद्रव्योंकोभी मलिन कर देते हैं । ६७ ॥ ८ ॥

यद्यपि शब्दार्थके अनुसार दोष-धातु-मलोंकी उपरिनिर्दिष्ट व्याख्यायें हो सकती हैं, वे आयुर्वेदीय तंत्रों (ग्रंथों) के अभिप्रायके अनुकूल नहीं हैं । उनका अभिप्राय कुछ औरही है । कारण यदि दोषोंका व मलोंका दूषण व मलिनिकरण

इत्यासीद्वर्णितं तस्माद्वातादीनां न केवलम् ॥१२॥

संदूषणात्मकं कर्म तैः शरीरं विधार्यते ।

पूर्वोक्तस्यार्थस्य प्रमाणार्थमुच्यते वायुःपित्तमित्यादि । समासतः संक्षेपतः । स्थानांतराश्रयानुसारेण संसर्गसंनिपातादिभेदाच्च दोषाणामानंल्यमभिहितम् । त्रयो वातः पित्तं कफ-
श्चेति त्रयो दोषाः । अविकृताः स्वभावावस्थिताः शरीरं वर्तयन्ति जीवयन्ति । विकृताः सन्तो देहं
घ्नन्ति नानाव्याधिभिरुपतापयन्ति मारयन्त्यपि । इति शास्त्रे आयुर्वेदीयग्रंथेषु वर्णितं तस्मान्-
वातादीनां न केवलं दूषणात्मकं कर्म यतः तैः शरीरं विधार्यते । वातपित्तकफास्त्रिदोषा यथा
विकृतिमापन्नाः शरीरसंदूषकास्तथा स्वभावावस्थिताः शरीरधारका अपि । यदुक्तं सौश्रुते ॥
वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः । तैरेवाव्यापनैः शरीरमिदं धार्यत इति । (१२॥)

दोषा एव हि मुख्याः स्युर्दोषधातुमलेष्वपि ॥१३॥

यतः शरीरं तैरेवाव्यापनैर्धार्यते सदा ।

दोषधातुमलेष्वपि दोषाणामेव प्राधान्यं दर्शयति । दोषा एवेत्यादिना । दोषैरेवा
व्यापनैः शरीरं धार्यत इति सर्वेषु दोषधातुमलेषु देहमूलेष्वपि दोषा एव प्रधाना देहधारकाः ।
तस्माद्दूषणमेव तेषां कर्मेत्यभिप्रायो न युक्तः ॥ (१३॥)

अवष्टंभादिकं कर्म मलानामप्युदीरितम् ॥१४॥

देहसंधारकं तस्मान्मला इत्यपि धारकाः ।

कर्म आयुर्वेदको संमत होता, आयुर्वेद उनको वे देहके मूल (उपादान) हैं
यह न कहता । आयुर्वेदीय तंत्रोंमें स्पष्ट रीतीसे कहा है 'दोषधातुमला मूलं
सदा देहस्य ।' यदि दोषोंका केवल दूषणात्मक और मलोंका केवल मलिनीकर-
त्मकही कर्म मान लिया जाय, तो आयुर्वेदका उक्त वचन अयर्थ हो जाता है ।

९ ॥१०॥

संक्षेपमें वात पित्त व कफ ये तीन दोष हैं । संक्षेपमें कहनेका कारण यह
कीं, भिन्न २ स्थानोंके आश्रयानुसार उनके कई भेद होते हैं । और संसर्ग (दो
दोषोंका संयोग) व सन्निपात (तीन दोषोंका संयोग) के कारण उनके अनंत
भेद बतलाये गये हैं । ये तीनों दोष अविकृत याने स्वाभाविक स्थितिमें शरीरकी
जीवितयात्रा चलाते हैं । और विकृत स्थितिमें याने उनमें कुछ बिघाड पैदा होनेपर
वेही अनेक प्रकारके व्याधिओंका निर्माण कर शरीरका नाशभी करते हैं । आयुर्वे-
दीय ग्रंथोंके इस अभिप्रायसे विदित होता है कि, वातादि दोषोंका केवल दूषणा-
त्मकही कर्म नहीं है । अपितु शरीरधारणाका कार्यभी वे करते हैं । स्वाभाविक-

मला अपि न केवलं मलिनीकरणा इति दर्शयन्नाह अवष्टम्भादिकमित्यादि। अवष्टम्भः संरक्षकमावेष्टनं। मलैर्हीनसत्त्वैरंशैरवगुंठिताः शरीरावयवाः सूक्ष्मा वृद्धिक्षयस्वरूपं कर्मसातत्यं सम्यगनु भवन्ति। देहसंधारकं देहस्यावष्टम्भेन संधारकं कर्म कुर्वाणा दोषा अपि शरीरस्य धारकाः। न केवलं मलिनीकरणहेतवः। विकृतिमापन्नाः सन्तो मलिनीकुर्वन्त्यपि स्वभावस्थिता धारणहेतवः। (१४॥)

दोषधातुमला मूलं देहस्यातः प्रकीर्तितम् ॥१५॥

अत उक्तकारणादेव दोषधातुमला देहस्य मूलमिति प्रकीर्तितमायुर्वेदविद्विरिति। (१५)

देहसन्धारणादोषा धातवश्च मला अपि।

धातवश्चेति निर्देष्टुं शक्यते संज्ञयैकया ॥१६॥

देहसन्धारणात् शरीरधारणात् सामान्यात् दोषा धातवो मलाश्चेति त्रयोपि धातवः इति एकया संज्ञया अभिधानेन निर्देष्टुं शक्यते। सर्वेषामपि धातुसंज्ञया व्यवहारः सम्भाव्यः। (१६)

भिन्नसंज्ञाभिरितेषां कथं वा परिकीर्तनम्।

आयुर्वेदीयतंत्रेषु चिन्तनीयमिदं भवेत् ॥ १७ ॥

भिन्नसंज्ञाभिरिति सर्वेषां धातुशब्दवाच्यत्वे आयुर्वेदीयतंत्रेषु दोषा धातवो मलाश्चेति भिन्नसंज्ञाभिः कथं परिकीर्तनमिति चिन्तनीयम्। (१७)

दोषधातुमला एव शरीरमिति भण्यते।

कस्य वा धारकास्ते स्युः शरीरस्येतरस्य वा ॥ १८ ॥

अविकृत स्थितिमें शरीरका धारण करना और विकृति प्राप्त होनेपर शरीरको बिघाडना इन दोनों प्रकारका कार्य वातादि दोष करते हैं। सुश्रुतने कहा है 'वात-पित्तश्लेष्माही शरीरोत्पत्तिके कारण है और उनसेही अविकृत अवस्थामें शरीरकी धारणा होती है'। ११ ॥ १२ ॥

अव्यापन—अविकृत अवस्थामें वातादि दोषही शरीरका धारण करते हैं, इसलिये देहके मूल घटक दोष-धातु-मल इन द्रव्योंमें दोषोंकोही प्रधान्य है। अतः केवल दूषणही उनका कर्म है यह कहना अयुक्त होगा। १३ ॥

अब यहभी देखना चाहिये कि, मलोंका कर्मभी केवल मालिनीकरण नहीं है। मलोंका अवष्टम्भादि कर्मभी बतलाया गया है। अवष्टम्भ का अर्थ है संरक्षक कार्य। मलोंसे याने हीनसत्त्वांशोंसे अवगुंठित अवस्थामेंही सूक्ष्म शरीरावयवोंमें निरंतर वृद्धिक्षयस्वरूप कर्म सुचारुरूपसे चलता रहता है। इस अवष्टम्भक क्रियासे शरीरधारणामें मल सहायता करते हैं। केवल मलिनीकरणही उनका कर्म नहीं है। अपितु दोषोंके समान अविकृत स्थितिमें वे शरीरधारणाका कार्य करते हैं। और

किंवा चिन्तनीयमित्याह दोषधातुमला एवेत्यादिना । दोषधातुमला एव शरीरम् । तर्हि तदितरस्य कस्य वाऽन्यस्य शरीरस्य ते धारका इत्येवं चिन्तनीयम् । त्रयोपि धारकाः शरीरस्य । तद्विन्नं तु शरीरं न विद्यते । एवं स्थिते शरीरं धारयन्तीति प्रतिपादनस्य कोवाऽभिप्राय उपपद्यत इति चिन्ताविषयः । (१८)

परस्परं धारकाः स्युरित्यर्थोऽत्रावगम्यते ।

दोषधातुमलाः परस्परं धारका इत्यत्र चिन्तनीयविषये अर्थः अभिप्रायः अवगम्यत उपपद्यते । दोषधातुमलाः कस्य धारका इत्याशंकायां परस्परधारका इति समाधीयते । (१८ ॥)

एवं त्रयो धातुसंज्ञामपि ते प्राप्नुवन्ति हि ॥ १९ ॥

एवमिति परस्परधारकत्वात् त्रयोपि ते दोषधातुमलाः धातुसंज्ञां प्राप्नुवन्त्यपि लभ्युरपि । सर्वेऽपि धातुशब्दवाच्या भवेयुः ॥ १९ ॥

एवं धातुत्वसामान्ये तद्विशेषावबुद्ध्ये ।

दोषधातुमलाश्चेति तेषां संज्ञाः प्रकल्पिताः ॥ २० ॥

दोषधातुमलानां धातुशब्दवाच्यत्वे संज्ञान्तरहेतुमाह । एवं धातुत्वसामान्ये इति । दोषधातुमलानां एवं धातुत्वसामान्येऽपि तद्विशेषावबुद्ध्ये तेषां दोषधातुमलानां विशेषस्य स्वरूपगुणकर्मविशेषस्य अवबुद्ध्ये प्रतिपत्त्यर्थं दोषा धातवो मलाश्चेति संज्ञाः प्रकल्पिताः । (२०)

विकृत स्थितिमें मलिनीकरणका । उक्त कारणोंसेही आयुर्वेदशास्त्रवेत्ताओंने बतलाया है कि, दोषधातुमलही देहके मूल घटक है । १४ ॥ १५ ॥

चूँकी उक्त प्रकारसे दोष, धातु, मल तीनों शरीरका संधारण करते हैं, उनको धातु इस एक संज्ञासेभी संबोधन कर सकते हैं ॥ १६ ॥

जब धातु इस एकही संज्ञासे तीनोंका व्यवहार हो सकता है, फिर आयुर्वेदाय ग्रंथोंमें उनको भिन्न २ संज्ञाये क्यों दी गयी हैं इसकाभी विचार करना अवश्य है । १७ ॥

दोष-धातु-मलोंकाही अगर शरीर बना है तो वे धारण किसका करते हैं-शरीरका या अन्य किसी वस्तुका ? यहभी विचारणीय प्रश्न है । तीनोंको शरीरधारक बतलाया है और शरीर तो उनसे भिन्न नहीं है, फिर वे शरीरको धारण करते हैं इस प्रतिपादनका अभिप्राय क्या, इसका विचार इस प्रश्नमें उपस्थित होता है । १८ ॥ इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि, दोष-धातु-मल परस्परोंका धारण करते हैं । इसलिये तीनोंको धातु यह सामान्य संज्ञा दी जा सकती है । १९ ॥

पृथक् त्वत्वं दोषधातुमलानां यदुदाहृतम् ।

स्पष्टो विशेषश्चैतं पु सामर्थ्यगुणकर्मभिः ॥ २१ ॥

सामर्थ्यादिभेदः संज्ञाभेदहेतुरिति दर्शनायाह । पृथक् त्वत्त्वमित्यादि । एतेषु दोषधातु-
मलेषु सामर्थ्यगुणकर्मभिर्विशेषो यत् यस्मात्तस्मात् पृथक्त्वं त्वत्वं च उदाहृतम् आख्यातम् । (२१)

सामर्थ्यस्य स्वरूपस्य विशेषो न भवेद्यदि ।

पदार्थानां ततो भिन्नसंज्ञानामसमुद्भवः ॥ २२ ॥

पदार्थेषु सृष्टवस्तुषु सामर्थ्यस्य स्वरूपस्य च यदि विशेषो न भवेत् तर्हि भिन्न-
संज्ञानामसंभवः । (२२)

दोषधातुमलाख्येषु वैशिष्ट्यं चेन्न विद्यते ।

भिन्नसंज्ञाभिराहूतिरायुर्वेदे कथं भवेत् ॥ २३ ॥

दोषधातुमलाख्येषु इति दोषधातुमलानां मध्ये वैशिष्ट्यं विशेषत्वं यदि न
विद्यते । आयुर्वेदे तेषां भिन्नसंज्ञाभिः आहूतिः संकीर्तनं कथं भवेत् । भिन्नसंज्ञाख्यानेनैव वैशिष्ट्यं
सूच्यत इति भावः । (२३)

शरीरमूलं सामान्यादोषधातुमला अपि ।

परस्परं ते भिन्नाः स्युः स्वरूपगुणकर्मभिः ॥ २४ ॥

इसप्रकार यद्यपि दोष-धातु-मलोंमें धातुत्व सामान्य है—शरीरधारणाका समान
गुण है किंतु उनके विशिष्ट स्वरूप, गुण व कर्मोंका विशिष्ट ज्ञान होनेके लिये
दोष, धातु व मल ऐसी भिन्न संज्ञायें दी गयी हैं । शरीरधारणाका सामान्य कर्म
करते हुएभी उनके सामर्थ्य, गुण व कर्म इनमें जो न्यूनाधिक विशेष है उसको
स्पष्ट करनेके हेतुसेही उन्हें तीन पृथक् नाम दिये गये हैं । २० ॥ २१ ॥

दोष-धातु-मलोंके सामर्थ्य व स्वरूपमें अगर कोई पृथक् विशेषता न होती
तो आयुर्वेदमें भिन्न संज्ञासे उनका व्यवहारही न किया जाता । भिन्न संज्ञासे
सूचित होता है कि, उनके सामर्थ्य व स्वरूपमें विशेषता अवश्य है । जैसे सृष्ट
पदार्थोंकोभी उनके २ सामर्थ्य व स्वरूपके पृथक् विशेषताके अनुसार भिन्न २
नाम दिये जाते हैं । २२ ॥ २३ ॥

दोष-धातु-मलोंमें शरीरमूलतत्त्वका सामान्य होते हुए भी अपने २ स्वरूप
गुण व कर्मोंमें वे परस्परसे भिन्न हैं । स्वरूपका अर्थ है स्वभाव, गुणोंका अर्थ है
कार्यकारी विशिष्ट सामर्थ्य, और कर्मोंसे उत्पादन, धारणा, अवच्छेदादि क्रियाओंका

शरीरमूलमिति सामान्यात् साधारण्येन दोषधातुमलाः शरीरमूलमपि स्वरूपं स्वभावः गुणाः कार्यकारिणः सामर्थ्यविशेषाः कर्माणि उत्पादनधारणावष्टंभारव्यानि तैर्हेतुभिः परस्परं भिन्नाः भिन्नरूपाः । यथा शरीरावयवेषु हृदयोदरमस्तिष्कादीनां जीवनाधारत्व-सामान्येऽपि रसविक्षेपणं हृदयस्य भुक्ताहारपचनमुदरस्य संज्ञाविवेचनं मस्तिष्कस्येति च कर्मभेदः कर्मभेदानुसारं स्वरूपभेदश्चैवमेव शरीरधारणाख्यं कर्म कुर्वाणा दोषधातुमलाः परस्परं भिन्नाः । भिन्नत्वाच्च तत्तत्कर्मस्वरूपावबोधनीभिः संज्ञाभिरेव तेषां व्यवहारो युक्तः । न चैक्या संज्ञया स्वभावगुणकर्मणां भेदस्यावबोधनामिति । (२४)

धारणाख्यं कर्म मुख्यं धातूनामिति धातवः ।

रसादयः समाख्याताः प्रमुखा न तथेतरो ॥२५॥

वातादिभ्यो रसाद्याश्च श्रेष्ठा इत्यवगम्यते ।

धारणकर्मसूत्रकधातुसंज्ञया रसादय एव मुख्या धारकाः शरीरस्येति शंकासंभवं दर्शयन्नाह । धारणाख्यमित्यादि । धारणाद्धातव इति व्युत्पत्त्या धातूनां धातुशब्देनाख्यातानां धारणाख्यं मुख्यं कर्म ततश्च रसादय एव प्रमुखा धारकत्वेन मुख्य्याः । इतरां दोषमलौ न तथा । किन्तु वातादिभ्यः रसाद्या एव श्रेष्ठा इत्यवगम्यते उपपद्यते । शब्दार्थानुसारेण वातादिभ्यः श्रेष्ठा रसादय इत्यर्थोऽनुमायत इति । (२५॥)

शरीरसंवृद्धिकरास्तथा तद्वृत्तिकारकाः ॥२६॥

निर्देश माना जाता है । उदाहरणार्थ, शरीरावयवोंमें हृदय, उदर, मस्तिष्कादि का जीवनाधारकत्व यह सामान्य कर्म होते हुएभी हृदयका रसविक्षेपण, उदरका भुक्ता-हारका पचन, व मस्तिष्कका संज्ञाविवेचन इसप्रकार उनमें कर्मभेद पाया जाता है । कर्मभेदानुसारही उनके स्वरूपमेंभी भेद रहता हैं । उसी प्रकार शरीर धारणाका सामान्य कर्म करते हुयेभी दोष-धातु-मल परस्परसे भिन्नता रखते हैं । और उनमें भिन्नता होनेके कारणही उनके कर्म व स्वरूपोंका जो ठीक बोध करा देंगी ऐसी संज्ञाओंसेही उनका व्यवहार करना योग्य होगा । एकही संज्ञासे उनके स्वभाव, गुण व कर्मोंके भिन्नताका बोध न हो सकेगा । २४ ॥

यहांपर ऐसी शंका फिर पैदा हो सकती है कि, धारण कर्म रसरक्तादि धातुही प्रमुखतासे करते हैं, धातुशब्दकी व्युत्पत्तिभी ' धारणाद्धातवः ' ऐसीही है और उससेभी धारणकर्म मुख्यतया धातुओंकाही सूचित होता है । इसलिये वातादि दोषोंसेभी रसरक्तादि धातुओंकोही श्रेष्ठ मानना चाहिये । शरीरधारणाके कर्ममें दोष व मल धातुओंसे कनिष्ठ मानना चाहिये । व्युत्पत्तिके बलसे यही सिद्ध होता है ॥२५॥

वाताद्या एव कथिताश्चयुर्वेदे न धातवः ।

किन्तु रसादीनां श्रेष्ठत्वमायुर्वेदाभिप्रायानुगतं न स्यादिति निदर्शनार्थमुच्यते । शरीर-
संवृद्धिकरा इति । शरीरस्य शरीराणां द्रव्याणां धातूनामिति यावत् । संवृद्धिकराः ।
तद्वृत्तिकारकाः शरीरस्य वृत्तेः वर्तनस्य जीवनस्य कारकाः स्वाभाविकक्रियाकरा इति भावः ।
वाताद्या वातपित्तश्लेष्माण एव आयुर्वेदे कथिताः । धातवो रसादयो न कथिताः । तैरेवाव्यापनैः
शरीरमिदं धार्यत इत्यादिवचनैः शरीरधारकत्वं वातादीनां प्रतिपादितमायुर्वेदीयैरिति । (२६॥)

कर्तारश्चाथ मुख्याः के धारणाख्यस्य कर्मणः ॥२७॥

वाताद्या वा रसाद्या वा चिन्तनीयमिदं भवेत् ।

दोषादीनां श्रेष्ठतरो देहधारणकर्मणि ॥२८॥

कर्तारश्चेति धारणाख्यस्य कर्मणः वाताद्या वा रसाद्याः के मुख्याः । दोषादीनां
दोषधातुमलानां मध्ये देहधारणकर्मणि कः श्रेष्ठतरः इदं चिन्तनीयं भवेत् । (२८)

शरीरधारणाख्यं तत्कथं कर्म प्रवर्तते ।

इति निश्चीयमाने तत्कर्ता निश्चीयते खलु ॥२९॥

शरीरधारणकर्तृत्वस्य निश्चयार्थमाह । शरीरधारणाख्यमिति । शरीरस्य धारणं
क्रियानिर्वर्तनादिस्वरूपेण धारणं तदाख्यं कर्म कथं प्रवर्तते इति निश्चीयमाने तत्कर्ता धारणकर्मकर्ता
निश्चीयते । कर्मस्वरूपनिश्चयात्तत्कर्तुरपि निश्चय इति । (२९)

किन्तु आयुर्वेदमें रसरक्तादि धातुओंका वातादि दोषोंकी अपेक्षा मुख्यत्व
माना नहीं गया है । आयुर्वेदमें स्पष्ट बतलाया गया है कि, शरीरद्रव्योंकी—याने
अर्थात् रसरक्तादि धातुओंकी वृद्धि दोषोंहीके कारण होती है । और वे शरीरवृत्ति-
कारक याने शरीरकी स्वाभाविक क्रियाओंकोभी चलाते हैं । आयुर्वेदने वातपित्त
कफोंकोही शरीरसंवृद्धिकर व तद्वृत्तिकारक बतलाया है रसरक्तादि धातुओंको
नहीं । 'वेहि अविकृत अवस्थामें शरीरका धारण करते है ' आदि आयुर्वेदीय वच-
नोंसे दोषोंकाही शरीरधारकत्व प्रतिपादित है । २६ ॥

धारणानामक कर्मके प्रमुख कर्ता कौन ? वातादिदोष या रसरक्तादि धातु ?
देहधारणके कर्ममें दोष-धातु-मलोंमें श्रेष्ठतर कौन है ? दोष या धातु या मल ?
इसका विचार करना चाहिये । यह विचार करते समय प्रथम शरीरधारणाका कर्म
किसप्रकार चलता है इसका निश्चय करनेसेही उसके कर्ताकाभी निश्चय हो
सकेगा । कर्मका स्वरूपनिश्चय होनेपरही उसके कर्ताकेभी स्वरूपका निश्चय हो
जायगा । २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

दोषा वातादयो देहे मताः सर्वक्रियाकराः ।

शक्तिस्वरूपास्ते देहं वर्तयन्त्यपि धातवः ॥३०॥

रसाद्या द्रव्यरूपेण धारयन्त्याकृतिं तथा ।

वातादीनां रसादीनां च धारकत्वमेदं विशदीकुर्वन्नाह । दोषा इत्यादि । शक्ति-
स्वरूपाः शक्त्युत्कर्षयुताः दोषधातुमलानां मध्ये तास्तम्याद्वातुमलेभ्यो विशेषसामर्थ्ययुता वाता-
दयः सर्वक्रियाकराः स्वाभाविकानां सर्वावयवगतानां क्रियाणां कर्तारः । देहं वर्तयन्ति
जीवयन्ति क्रियास्वरूपेणेति । अपि तु रसाद्या रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणीति सप्तसंख्याः
धातुसंज्ञयोपवर्णिताः द्रव्यरूपेणाकृतिं विशिष्टाकारत्वं धारयन्ति । शरीरस्य सर्वेषामवयवानां च
यद्विविधं स्वरूपं दृश्यं तद्वातुमी रसाद्यैर्धार्यते । कर्म च सर्वशरीरगतं वातादिभिर्निर्वर्त्यत इति
धातूनां दोषाणां च शरीरधारणकर्मणि विशेष इति । (३०)

द्वौ विभागौ पदार्थस्य द्रव्यशक्तिविभेदतः ॥३१॥

साकारत्वं द्रव्यतः स्यात्क्रियात्वं च शक्तिततः ।

शरीरस्य क्रियाकारमेदस्पष्टीकरणार्थं सृष्टजातस्य द्विविधत्वं दर्शयति । पदार्थस्येति
पदार्थशब्देनात्र विशिष्टाकारक्रियावद्भस्तु सृष्टमभिप्रेतम् । न न्यायादिशालोपदिष्टसप्तपदार्थानामन्य-
तम् । द्रव्यगुणादिभेदादुपवर्णितानां सप्तसंख्यानां पदार्थानां विभागास्तु भिन्नसंख्याः । यथा नव

वातादि दोष व रसरक्तादि धातु इनके शरीरधारकत्वके विषयमें भेद अब
अधिक विशद करते हैं । दोष-धातु-मलोंमेसे वातादि दोष धातुमलोंकी अपेक्षा
शक्तिस्वरूप याने उनके शक्तिका उत्कर्ष सबसे अधिक है । वे विशेष सामर्थ्यवान्
हैं । वे शक्तिस्वरूप होनेके कारण शरीरके सर्व अवयवोंके स्वाभाविक क्रियाओंके
कर्ताभी वेही हैं । इसप्रकार अपने सामर्थ्यसे शरीर क्रियाओंके कारक बनकर
क्रियाद्वारा शरीर-जीवनको चलाते हैं । रसरक्तादि धातुओंका धारणाकार्य इससे भिन्न
प्रकारसे चलता है । धातुओंकी संख्या सात है-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा
व शुक्र । दोषोंकी तीन वात, पित्त व कफ । दोष शक्तिस्वरूप हैं तो धातु
द्रव्यस्वरूप । धातु अपने द्रव्यस्वरूपके कारण शरीरके भिन्न २ अवयवोंको भिन्न २
स्वरूप, आकार देते हैं । अन्यान्य शरीरांगों तथा उपांगोंको-हृदय, अंत्र, फुफुस,
हात, पैर आदिका जो भिन्न २ स्वरूप दिखाई देता है वह धातुओंकेही कारण ।
इस प्रकार धातु शरीर धारणाका कार्य करते हैं । किन्तु शरीर अवयवोंकी-अंगो-
पांगोंकी जो क्रियाएं चलती हैं उनके कर्ता वातादि दोषही है । और दोष व

द्रव्याणि । गुणाश्चतुर्विंशतिः । कर्माणि पञ्चैवादि । यद्यपि पदार्थशब्देन सृष्टवस्तुनिर्देशरूपो व्यवहार-
श्चातुभूयते । पदशब्दस्य अर्थः पदार्थः । नराश्चादिवदानामुपयोजनं विशिष्टाकृतिरूपाणां
नराश्चादीनामभिप्रायेण यथावर्तमानं भूयते । तथा च शक्तिरसंभवव्याकुलं पदार्थसमूहस्य सृष्टवस्तुवाच-
कोऽयं पदार्थशब्द इति सिद्धायः स्वीकरणीयः । द्रव्यशक्तिविभेदतः । द्रव्यं गुणकर्माश्रयरूपं
शक्त्याधाररूपमिति यावत् । शक्तिः शुद्धाः शक्तौणादिव्याः कार्यसंपादनसाधनाः । अस्मात्पदा-
दयज्ज्ञेयं बोद्धव्यं इतीश्वरसंज्ञेतः शक्तिः इति न्यायादिप्रतिपादितशक्तिपदार्थग्रहणमस्मिन्नाभिप्रेतम् ।
शिन्नाभिप्रायान् शास्त्रान्तरीयाणां शब्दानाम् । आगुर्वेदाभिज्ञाने शक्तिशब्देन वीर्यसंज्ञकानां गुणानां
ग्रहणम् । यथा येन कुर्वन्ति तर्हीर्यम् । इति चरतुमुद्यतयोः । “सृष्टीक्षणगुणलुप्तगुणध्वरक्षोष्णशीत-
लम्” वीर्यस्य विधातेति वक्तव्यम् । वीर्यसंज्ञागुणा अष्टौ इति सुश्रुतम् । तथा हि—वीर्यं शक्तिरुत्पत्ति-
विशेषः साधनं प्रसाध इत्यनर्थान्तरम् । इति वीर्यपर्यायः । वीर्यताः श्रौद्धृणाचार्यवीर्यविवेचने ।
एवं पदार्थशब्दस्य द्रव्यं शक्तिरिति द्वौ विभागौ भवतः । तयोर्विषयतः पदार्थस्य साकारत्वं विशिष्टा-
कारत्वं शक्तितत्त्वम् । तद्वत्त्वं नियायुक्तत्वं स्यात् । सृष्टवस्तुसाधनशक्तिविशेषोपादकं द्रव्यं
क्रियाविशेषोपादकं च शक्तिरिति द्वौ विभागौ परिकथिताविति तावर्थम् । (३१॥)

द्रव्यसाक्षिणोऽपि शक्तिरित्यपि शक्तिरिति ॥३२॥

कर्मरूपं पदार्थस्य जीवित्वं प्रतिपद्यते ।

श्रेष्ठा शक्तिरित्यस्याध्याधारे द्रव्यमेव हि ॥३३॥

धातुओंके शरीरधारकवों यह विशेष भेद है । ३० ॥

प्रत्येक पदार्थके द्रव्य व शक्ति भेदसे दो विभाग होते हैं । पदार्थका
साकारत्व—यह द्रव्यके कारण होता है, और क्रियावत्त्व शक्तिके कारण होता है ।
यहांपर पदार्थ शब्दका प्रयोग न्यायशास्त्रमें वर्णित सप्त पदार्थोंके अभिप्रायसे
नहीं किया गया है । किन्तु विशिष्ट आकार व क्रियाकी उत्पन्न वस्तुको वर्णन—
सैकार्यके लिये पदार्थ नाम दिया है । आगुर्वेदीय परिभाषासे न्यायशास्त्रकी
परिभाषाप्रणाली भिन्न है । उदाहरणार्थ, न्यायशास्त्रके पदार्थ सात हैं, द्रव्य
नव, गुण चौबीस, कर्म पांच इत्यादि । व्यवहारमें हरएक सृष्ट वस्तुका निर्देश
पदार्थ शब्दसे किया जाता है । शब्दनिरुक्तीके अनुसार (पदस्य-शब्दस्य-अर्थः)
पदार्थका अर्थ है शब्दार्थ । वहभी विशिष्ट आकारादिका ज्ञान होनेसेही मनुष्य,
घोडा आदिका बोधक होता है । अन्य अर्थ होनेपरभी पदार्थ शब्दका प्रयोग
यहांपर सृष्टवस्तुके अभिप्रायसेही किया गया है । द्रव्यका अर्थ स्पष्ट है । गुण
व कर्म द्रव्यकेही आश्रयसे रहते हैं और शक्तिका आधारभी द्रव्यही है । शक्तिका



शक्तिद्रव्यस्वरूपे विभागद्वये शक्तिः श्रेष्ठः ईश्वरः। द्रव्यमित्यादि। आकृतिरूपेण विशिष्टाकृत्या द्रव्यं पदार्थं धारयति। अपि पदार्थस्य जीवित्वं जीवयुक्तत्वं कर्मरूपं क्रियायुक्तं प्रतिपद्यते। यतः क्रियात्मकत्वेन जीवित्वं नाम। हस्तपादाद्यवयवविशेषैरुपलब्धेऽपि शरीरे चलन-श्वसनादीनां क्रियाणामभावाज्जीवाभावः। अतः हेतोः शक्तिः श्रेष्ठा। द्रव्यं चाधारः शक्तेरिति ॥ (३३)

आकारस्य क्रियाणां चाभिधानस्यापि धारकम्।

द्रव्यं तद्भातुरित्याख्यां यथार्थां प्रतिपद्यते ॥३४॥

द्रव्यस्वरूपाणां रसादीनां धातुसंज्ञा कथं यथार्था इति निदर्शनार्थमुच्यते। आकार-स्येत्यादि। आकारस्य, क्रियाणां अभिधानस्य संज्ञाया नराश्वादिरूपायाः धारकं अभिवाहकं द्रव्यं। ततो यथार्था धारणाद्भातव इति निरुक्त्यनुसारं धातुसंज्ञां प्रतिपद्यते लभते। 'धातू', धारणपोषणयोरिति धतोस्य धारणं पोषणं चेत्यर्थेद्रव्यं समाख्यातं। तत्र धारणं नाम अभिवहनम्। पोषणं संदर्शनमिति सुगमावबोधोऽर्थः। यथा धुरंधर इत्याख्यया धुरं रथावयवविशेषं धारयन्तो बलीवर्दाभादयस्तथा कार्यविशेषस्य धुरं भारं धारयन्तः पुरुषाश्चाद्वयन्ते। तत्र बलीवर्दा-श्वर्दीनां धोर्वहनं नामाभिवहनं पुरुषाणां च कार्यपोषकत्वमभिप्रेत्यैव सार्थत्वम्। तथैव शरीरधा-रणाख्ये कर्मण्यपि धारकत्वं नाम पोषकत्वमभिवाहकत्वमिति भेदाद्विभक्त्यर्थम्। रसाद्या धातुशब्द-वाच्यास्त्वयमेवाभिवहनसंज्ञेण धारणेन शरीरं धारयन्तो यथार्था धातुसंज्ञां लभन्त इत्यभिप्रायः। (३४)

अर्थ है गुण। वे शीतोष्णादिरूप है और कार्यसंपादनमें वेही साधनीभूत होते हैं। यहांपर फिर ध्यानमें रखना चाहिये कि, (अमुक पदसे अमुक अर्थका बोध लेना चाहिये यह जो ईश्वरसंकेत वही शक्ति है) न्यायशास्त्रप्रतिपादित शक्तिकी व्याख्या आयुर्वेदीय प्रतिपादनमें अभिप्रेत नहीं है। कारण भिन्न शास्त्रोंमें एकही शब्दका प्रयोग भिन्न २ अर्थसे किया जाता है। आयुर्वेद विज्ञानमें शक्ति शब्दसे वीर्यवाचक गुणोंका ग्रहण होता है। वीर्यका अर्थ चरक व सुश्रुत दोनोंने क्रियाकारी सामर्थ्य ऐसाही माना है। चरक कहता है कि, 'वीर्य अष्टविध है—मृदु, तीक्ष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण व शीतल।' सुश्रुतभी कहता है कि, 'आठ गुणोंकोही वीर्य संज्ञा है। तथा उल्लणाचार्यनेभी वीर्यका विवेचन करते समय कहा है कि, 'वीर्य, शक्ति उत्पत्तिविशेष, सामर्थ्य, प्रभाव ये सब एकही अर्थके पथोपशब्द हैं भिन्न अर्थ के नहीं है।' सारांश प्रत्येक पदार्थके याने सृष्टवस्तुमात्रके दो विभाग होते हैं—एक द्रव्य व दूसरा शक्ति। उनमेंसे द्रव्यके कारण पदार्थ साकारत्वको प्राप्त करता है और

द्रव्यरूपाः शरीरेऽस्मिन् रसाद्याः सप्त धातवः

तदाश्रिता वातपित्तकफाः सूक्ष्माः क्रियाकराः ॥ ३५ ॥

शक्तिरूपाः कारकास्ते धारणार्था न धातवः ।

वातादीनां धारकत्वं नाम कारकत्वं दर्शयति । द्रव्यरूपा इत्यादिना । द्रव्यरूपा धारकद्रव्यरूपाः शरीरे रसाद्या धातवः सप्त । तदाश्रितास्तेषु रसाद्येषु आश्रिताः वातपित्तकफाः सूक्ष्माः रसाद्यपेक्षया । शक्तिरूपा इति शक्तिविशेषसम्पन्नाः । धारणार्था अभिवहनार्था न धातवः किन्तु कारकाः क्रियाकारिणः । यथा स्थूलदृश्यस्वरूपेण धारणो स्थाणुरागारभारस्य धारकोऽपि तदन्तर्वर्तिना सामर्थ्यविशेषेणैव भारसहो भवति । सामर्थ्यक्षयाच्च भारमसहन्मग्नतां याति । तथैव रक्तमांसादयो धातवः स्वान्तर्वर्तिनः सामर्थ्यस्याभावात् क्रियासंपादनेऽसमर्थाः सन्तो विशीर्यन्ते । ततश्चोपपद्यते वातादीनां धारकत्वं नाम कारकत्वं न रसादीनां यथा धारकत्वमभिवहनस्वरूपमिति । ॥ ३५ ॥

धात्वाख्यया शक्तिरूपं तेषां कर्तृत्वमित्यपि ॥ ३६ ॥

स्यादस्फुटमतस्ते न वाच्याः स्युर्धातुसंज्ञया ।

सामान्यां धातुसंज्ञां विहाय वातादीनां विशिष्टसंज्ञयोद्देशे हेतुं दर्शयति । धात्वाख्य-
येति धातुरित्याख्यया संज्ञया तेषां वातादीनां शक्तिरूपं सामर्थ्यस्य स्वरूपं कर्तृत्वं च अस्फुटं
अव्यक्तं स्यात् । अतः सामान्यया धातुसंज्ञया न वाच्या न निर्दिश्याः । (३६॥)

शक्तिके कारण क्रियावत्त्वं एवं क्रियायुक्तत्वको । प्रत्येक सृष्टवस्तुको द्रव्य विशिष्ट
आकार देता है और शक्ति विशिष्ट क्रिया देती है । ३१ ॥

द्रव्य व शक्ति इनमें शक्ति श्रेष्ठ है । विशेष आकृतिके द्वारा द्रव्य
पदार्थका धारक बनता है । तथापि पदार्थका क्रियारूप जीवित्व शक्तिकेही कारण
बनता है । कारण जीवित्वका अर्थही क्रियात्मकत्व है । शरीरमें यदि चळन
श्चसन आदि क्रिया न होगी, हात पैर आदि अन्यान्य अवयवोंके होते हुएभी
शरीरमें जीवनाभावही माना जायगा । इसीलिये द्रव्यसे शक्ति श्रेष्ठ मानी गयी है ।
द्रव्य शक्तिका आधार है । ३२ ॥ ३३ ॥

रसरक्तादि द्रव्यस्वरूप धातुओंको धातुसंज्ञा कैसी यथार्थ है यह स्पष्ट
करते हैं । विशिष्ट आकार, क्रिया व अभिधान याने मनुष्य, अश्व आदि संज्ञा
इन् सबका धारक याने अभिवाहक द्रव्य है । अतः 'धारणात् धातवः । यह
धातु शब्दकी निरुक्ति यथार्थ है । 'धा, धातुके धारण व पोषण दो अर्थ बतलाये
हैं । धारणका अर्थ है अभिवहन तथा पोषणका अर्थ है उत्पादन—संवर्धन ।

वातादयो रसाद्या वा एकया धातुसंज्ञया ॥ ३७ ॥

देहमूलत्वसामान्याच्छकृदाद्यास्तथैव च ।

समाहृतास्ततस्तेषु विशेषो नाधिगम्यते ॥ ३८ ॥

वातादय इति वातादयो रसाद्यास्तथा शकृदाद्याश्च देहमूलत्वसामान्यादेकया धातुसंज्ञया समाहृताः संबोधिताश्चेतेषु विशेषो नाधिगम्यत इति पूर्वोक्तस्यैव विशदीकरणम् । (३८)

दोषो धातुर्मलश्चेति संज्ञाः संज्ञार्थवाचकाः ।

आयुर्वेदीयतंत्रेषु 'स्वसंज्ञा' इति निश्चिताः ॥ ३९ ॥

दोषधातुमलानामायुर्वेदीयतंत्रप्रतिपादितसंज्ञादेशं दर्शयति । दोषो धातुरित्यादिना । दोषो धातुर्मलश्चेति संज्ञाः संज्ञार्थवाचकाः । न धात्वर्थानुसारिण्यः । ताश्च आयुर्वेदीयतंत्रेषु 'स्वसंज्ञा' इति निश्चिताः । स्वसंज्ञा नाम स्वाभिप्रायानुसारमुपयोजिता संज्ञा । यथोक्तं सौश्रुते 'अन्यशास्त्रा-सामान्या संज्ञा' इति । अन्यानि शास्त्राणि आयुर्वेदादपराणि व्याकरणादीनि तेषु असामान्या असाधारणा तत्र अननुगता स्वशास्त्रेष्वेव प्रयोजनवतीऽत्यर्थः । इति च उल्लेखाचार्येण व्याख्यातम् ततश्च दोषो धातुर्मलश्चेति संज्ञानां दूषणादोषाः धारद्धातवः मलिनीकरणान्मलाः इत्यादिनिरुक्त्यनुसारमभिप्रायाङ्गीकारो न युक्तः । (३९)

व्यभिचारिण्यश्च न स्युर्धात्वर्थस्यानुसारतः ।

‘धा, धातुसे साधित धातुशब्दके दो अर्थ होते हैं । एक धारकत्व याने बाहकत्व तथा दूसरा पोषकत्व । धुरंधर शब्दसे रथकी धुरा धारण करनेवाले अश्वदि तथा किसी कार्यविशेषका भार धारण करनेवाले पुरुष भी निर्देश किया जा सकता है । किंतु दोनोंके धुरंधरत्वमें भेद होता है । इसीप्रकार शरीरधारणाके कर्ममेंभी पोषकत्व व अभिवाहकत्व ये दो भेद स्पष्ट हैं । रसादि धातु अभिवाहन स्वरूप धारणासे शरीरको धारण करते हैं जिससे उनकी धातुसंज्ञा चरितार्थ है । ३५ ॥

अब वातादि दोषोंका धारकत्व किस प्रकार है यह बतलाते हैं । शरीरमें रसरक्तादि सात धातु द्रव्यरूप याने धारक द्रव्यरूप हैं । और उनमें आश्रित होकर वात-पित्त-कफ, जो रसादि धातुओंसे सूक्ष्म व शक्तिरूप याने विशिष्ट शक्तिसंपन्न हैं, रहते हैं । वेही क्रियाकर हैं । उनका कार्य धारण याने अभिवहन नहीं है, अपितु शरीर घटकोंमें क्रियाका निर्माण करना यह उनका कार्य है । उदाहरणार्थ, जैसे बाहरसे स्थूल दिखनेवाला स्तम्भ घरका भार धारण करता है ।

तंत्रार्थमनुबद्धाःस्युस्तंत्रार्थप्रतिपत्तये ॥४०॥

व्यभिचारिण्य इति अवस्थाभेदात्कार्यान्तरोत्पादनाच्च न व्यभिचरन्ति । अविकृता-
वस्थायां वातादीनां दूषणकर्माभावात् दोषसंज्ञां विहाय धातुसंज्ञा, विकृतानां रसादीनां विकृतिर-
णात् दोषसंज्ञा, स्वमानावस्थितानां शकृदादीनां देहधारकत्वाद्धातुसंज्ञा एवमनया रीत्या वातादीनां
रसादीनां शकृदादीनां चावस्थाभेदात्कदाचिद्धातुसंज्ञया कदाचिदोषसंज्ञया मलसंज्ञया च कदाचि-
दाख्यानं न विहितम् । सर्वेषां दोषधातुमलानां संज्ञाश्चैताः सर्वावस्थालूपयोज्यास्तंत्रांतरप्रतिपादिताः
'स्वसंज्ञा, इति । एवमेव च व्यवहार आयुर्वेदीयतंत्रेषु दृश्यते । स्वाभाविकस्य जीवनाख्यस्याविकृत-
स्यापि कर्मणः कर्तारो वाताद्याः शकृदाद्याश्च दोषसंज्ञया मलसंज्ञया च व्याहृताः । 'दोषधातुमल-
मूलं हि, शरीरमित्यत्र शरीरमूलत्वेनाभिहिता अपि दोषा मलाश्च तत्तत्संज्ञा एवेत्यतो निश्चीयते
संज्ञाश्चाव्यभिचारिण्य इति । तंत्रार्थप्रतिपत्तये तंत्रोक्तार्थज्ञानाय तंत्रार्थमनुबद्धाः
तंत्राभिप्रेतार्थेन अनुबद्धाः संवद्धाः । (४०)

अतः संज्ञाविपर्यासं दोषादीनां न कारयेत् ।

तत्त्वार्थ एषां निर्णयः शारीरज्ञानहेतवे ॥ ४१ ॥

अत इति तंत्रोक्तसंज्ञानामव्यभिचारात् दोषादीनां संज्ञाविपर्यासं न कारयेत् । किन्तु
शारीरज्ञानहेतवे शारीरज्ञानार्थ एषां दोषधातुमलानां तत्त्वार्थः निर्णयः निश्चेतव्यः ।

वातादीनां रसादीनां शकृदादीनां चायुर्वेदीयतंत्रेषूपयुक्तासु दोषा धातवो मलाश्चेति संज्ञासु

वह कुछ अपने दृश्य स्थूल आकारसे उस भारको धारण नहीं करता । किन्तु
उसके अंतस्थ विशिष्ट सामर्थ्यसे वह भारसह बनता है । और यह सामर्थ्य क्षीण
हो जानेपर वह भार सहनेमें असमर्थ होकर टूट जाता है । उसीप्रकार रस-रक्त-
मांसादि धातुभी अपने २ अंतवर्ति सामर्थ्य-शक्तिसेही अपना २ कार्य करनेकी
क्षमता रखते हैं । और यह अंतवर्ति सामर्थ्य नष्ट हो जानेपर क्रियासंपादनमें
असमर्थ हो जाते हैं—जीर्ण—शीर्ण होने लगते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि
वातादि दोषोंका धारकत्व रसादि धातुओंके समान अभिवहन स्वरूपका नहीं है
अपि तु कारकस्वरूपका है । ३५ ॥

वातादिदोषोंको धातुसंज्ञा न देकर दोषसंज्ञा देनेका मुख्य कारण यही है
कि, धातुसंज्ञासे उनके वात-पित्त-कफोंके सामर्थ्यका स्वरूप व कर्तृत्व अस्फुट
याने अव्यक्तही रहता है । इसलिये उनका निर्देश सामान्यधातुसंज्ञासे करना
अनुचित है ।

शरीरके मूलद्रव्य होनेके कारण वातादि, रसादि एवं शकृदादिका एकही

विपर्यासमविधायैव “ वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः । रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः । मलाः शकृन्मूत्रस्वेदाः । इति तेषां संज्ञा एव व्यवहर्तव्याः । शारीरविज्ञानार्थं च दोषधातु-मलानां तत्त्वार्थनिर्णयो विधेय इति शरीरे तत्त्वदर्शनं प्रथमं दोषधातुमलसंज्ञादर्शनम् ।



धातुसंज्ञासे व्यवहार हो सकता है । किन्तु उनके विशेषत्वका बोध नहीं हो सकता । (अतः संज्ञाभेद अवश्य है ।)

दोष-धातु-मल ये तीनों संज्ञाये अपने २ संज्ञार्थकी वाचक हैं । वे धात्व-र्थानुसारिणी नहीं हैं । आयुर्वेदीय तंत्रोंमें उनका ‘स्वसंज्ञा’ कहकर निश्चय किया गया है । स्वसंज्ञाका अर्थ है स्वाभिप्रायानुसार उपयोजित । सुश्रुतने कहा है ‘अन्यशास्त्रासामान्या संज्ञा’ अर्थात् आयुर्वेदेतर व्याकरणादि अन्यशास्त्रोंमें जो असामान्या असाधारणी हो याने उनमें जो उपयोजित न हो (उस विशेषार्थसे) और अपने (आयुर्वेदीय) शास्त्रमेंही उपयोजित हो । डल्लणाचार्य ने भी यही स्पष्टीकरण दिया है । इससे स्पष्ट होता है कि दूषित करनेके कारण दोष, धारण करनेके कारण धातु व मलिनीकरणसे मल ये निरुक्तिके अनुसार की हुई संज्ञायें यहांपर अभिप्रेत नहीं हो सकती ॥ ३९ ॥

कुछ लोगोंका प्रतिपादन है कि दोष-धातु-मल तीनोंको अविकृत अवस्थामें धातुसंज्ञा और अवस्थांतरोंमें अन्य संज्ञायें देनी चाहिये । जैसे दोष जब

अविकृत स्थितीमें रहते हैं, उनको धातु कहना चाहिये कारण उस अवस्थामें वे दूषणका कर्म नहीं किया करते । एवं, इसीप्रकार रसरक्तादिओंको विकृत स्थितिमें दोषसंज्ञा और शकृदादिओंको उनके स्वाभाविक स्थितिमें वेभी देहधारणका कर्म करते हैं अतः धातु संज्ञा देनी चाहिये । सारांश वातादि, रसादि व शकृदादिओंकोही अवस्थाभेदसे कभी धातु संज्ञा कभी दोष संज्ञा और कभी २ मलसंज्ञा दी जाती है । परंतु यह प्रतिपादन शास्त्रविरुद्ध है । कारण शास्त्रका वास्तविक प्रतिपादन तो यही है कि, वातादिको किसीभी अवस्थामें दोषही कहा जाना चाहिये, रसरक्तादिओंको धातु और शकृदादिओंको मलही । यही उनकी अपनी 'स्वसंज्ञा' है । आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें व्यवहारभी ऐसाही दिखायी देता है । जीवनकर्मके स्वाभाविक व अविकृत स्थितीमेंभी कर्ता दोषही है और शकृदादिको मलही कहा गया है । 'दोषधातुमूलं हि शरीरम्' इस वचनमेंभी दोष व मल दोनोंको शरीरके मूल बतलाया है । इसलिये शास्त्रके अभिप्रेत अर्थसे निगडित संज्ञाका उस शास्त्रके वास्तविक अभिप्रायके ज्ञानके लिये उसी शास्त्रके अभिप्रेत अर्थसे प्रयोग होना चाहिये । इसलिये केवल धात्वर्थके अनुसार संज्ञाके स्वशास्त्राभिप्रेत भावको बिघाडना उचित नहीं है । अर्थात् दोषादिओंका संज्ञाविपर्ययस कभी न करना चाहिये किंतु शारीरज्ञानके लिये उनके (दोषधातु मलोंके) तत्त्वार्थका निर्णय करना चाहिये । ४०॥४१॥

सारांश वातादि, रसरक्तादि व शकृदादिओंको आयुर्वेदीय शास्त्रोंमें जो अनुक्रमसे दोष, धातु व मल ये संज्ञायें दी गयी हैं उनका विपर्ययस न कर वात, पित्त व कफ इन तीनोंका दोष संज्ञासेही, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्रका धातुसंज्ञासे तथा शकृत्, मूत्र व स्वेदका मलसंज्ञासेही व्यवहार करना चाहिये ।

‘शारीरतत्त्वदर्शनं’ नामक इस ग्रंथका ‘दोषधातुमलसंज्ञा’ नामक प्रथम दर्शन समाप्त ।

२ द्वितीयं दर्शनम् ।

(दोषधातुमलानां स्वरूपम्)

द्रव्यशक्तिविभेदेन स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ।

दृश्यादृश्यस्वरूपेण शरीरं द्विविधं स्मृतम् ॥ १ ॥

शरीरमूलत्वेनोक्तानां दोषधातुमलानां पञ्चभूतविकारत्वं प्रतिपादयितुमाह । द्रव्यशक्ति-
विभेदेनेत्यादि । द्रव्यं शक्तेराधाररूपं । शक्तिश्च क्रियानिर्वर्तनसामर्थ्यं । स्थूलसूक्ष्मवि-
भेदत इति । स्थूलं दृग्विषयभूतम् । सूक्ष्मं दृष्टिविषयं न भवेदेवंस्वरूपम् । दृश्यादृश्य-
स्वरूपेणेति दृश्यं चादृश्यं चेतिभेदात् शरीरं द्विविधं स्मृतम् । शरीरविभागः कश्चित् द्रव्यस्वरूपः
स्थूलो दृश्यस्तथा कश्चित्छक्तिरूपः सूक्ष्मोऽदृश्यश्चेति । द्रव्यं शक्तिश्च केवलस्वरूपे नाधिगच्छते ।
कस्यचिद्द्रव्यस्याश्रयेणैव शक्तिः प्रतीयते । द्रव्यं च शक्तिर्विहीनं न स्यात् । ततश्च द्रव्यशक्तिसन्धा-
वत्र तारतम्यापेक्षिणौ यथाऽत्रे वक्ष्यते । (१)

द्रव्यरूपः स्थूलभागः शरीरस्याकृतिर्भवेत् ।

शक्तिरूपः सूक्ष्मभागो देहकर्मकरो भवेत् ॥ २ ॥

द्रव्यरूप इति द्रव्यरूपः स्थूलो भागः शरीरस्याकृतिः विशिष्टाकारः । शक्ति-
रूपः सूक्ष्मभागश्च देहस्य संबर्धानि सर्वकर्माणि करोतीत्येवंविधो भवेदिति हुगभावबोधम् । (२)

द्वितीय दर्शन

(दोषधातुमलानां स्वरूपम्)

अत्र शरीरके मूल (उपादन) दोष-धातु-मल पञ्चभूतोंकेही विकार किस
प्रकार है इसका प्रतिपादन करना अवश्य है । शरीर, द्रव्य-शक्ति, स्थूल-सूक्ष्म,
दृश्य-अदृश्य इस प्रकार द्विविध है । द्रव्य शक्तिका आधाररूप है । क्रिया
निर्वर्तनसामर्थ्यको शक्ति कहते हैं । स्थूलका अर्थ है दृष्टिसे दिखनेवाली वस्तु ।
और जो दृष्टिगोचर नहीं है उसको सूक्ष्म कहते हैं । शरीरमें कुछ विभाग द्रव्य-
स्वरूप, स्थूल व दृश्य है तो कुछ शक्तिरूप, सूक्ष्म व अदृश्य है । केवल द्रव्य
व केवल शक्ति कभी रह नहीं सकती । किसी द्रव्यका आश्रय लेकरही शक्ति
रहती है और सर्वथा शक्तिहीन द्रव्यभी कहीं मिल नहीं सकता । इसलिये यहांपर
तारतम्यसेही द्रव्य व शक्ति इन शब्दोंका अर्थ ग्रहण करना चाहिये । १ ॥

शरीरका जो द्रव्यरूप व स्थूल भाग होता है उसीसे शरीरकी आकृति

सामर्थ्येन विना कार्यं न किञ्चित्संभवत्यपि ।

द्रव्याधारं विना शक्तिरवस्थातुं न शक्नुयात् ॥ ३ ॥

सामर्थ्येनेति सामर्थ्येन विना शक्तिं विना किञ्चिदपि कार्यं प्रकृतत्वात् शरीर-
संबन्धि न संभवति । सामर्थ्याभावे कार्याभाव इति । अपि तु द्रव्याधारं विना द्रव्यरूपमाश्रयं
विना शक्तिरवस्थातुं न शक्नुयात् । द्रव्याश्रयिणी शक्तिरिति । (३)

नैव शक्तिर्द्रव्यहीना कदाचिदुपलभ्यते ।

द्रव्यं शक्तिविहीनं च न किञ्चिदुपलभ्यते ॥ ४ ॥

शक्तिद्रव्ययोः परस्परापेक्षमवस्थानमुच्यते । नैव शक्तिरित्यादिना । द्रव्यहीना द्रव्या-
श्रयहीना शक्तिः द्रव्यं च शक्तिविहीनं नोपलभ्यत इति । कार्यकारिणी शक्तिः स्थूलं सूक्ष्मं वा
द्रव्यमाश्रिता एव कार्यं करोति । द्रव्यमपि सर्वं सर्वदा प्रमाणस्वरूपमेदभिन्नेन सामर्थ्याद्विरेणाश्रित-
मेवोपलभ्यत इति शक्तिद्रव्ययोनित्यसंबन्धः । (४)

सूक्ष्मद्रव्याश्रिता शक्तिः शक्तिनाम्नाऽभिधीयते ।

स्वल्पशक्तियुतं द्रव्यं द्रव्यनाम्नाऽभिधीयते ॥ ५ ॥

शक्तिद्रव्ययोः परस्परावलंबनत्वादविभाज्यत्वेऽपि व्यवहारसौकर्यार्थं भिन्नत्वनिर्देशो विधि-
यत इति दर्शयति । सूक्ष्मद्रव्याश्रिता इत्यादिना । सूक्ष्मे सापेक्षत्वेन सूक्ष्मे द्रव्ये आश्रिता

याने विशिष्ट दृश्यरूप बनता है । और सूक्ष्मभागसे—जो शक्तिरूप है—देहसंबन्धी
सब क्रियायें हुआ करती हैं । कोईभी कार्य विना शक्ति या सामर्थ्यके हो
नहीं सकता और विना द्रव्यका आश्रय मिले शक्ति रह नहीं सकती ।
द्रव्यहीन शक्ति या शक्तिहीन द्रव्य कहींभी मिल नहीं सकते । कार्य-
कारिणी शक्ति किसी स्थूल या सूक्ष्म द्रव्यका आश्रय लेकरही कार्य करती है ।
तथा प्रत्येक द्रव्यमेंभी कभी अधिक प्रमाणमें क्यों न हो शक्तिकी अधिष्ठान होताही
है । इस प्रकार द्रव्य व शक्तिकी नित्यसंबन्ध है । २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

द्रव्यशक्तिका इसप्रकार नित्यसंबन्ध होते हुएभी व्यवहारसुगमताके लिये
उनके पृथक्त्वका निर्देश कियाही जाता है । सापेक्षतासे सूक्ष्मद्रव्याश्रित शक्तिकी
शक्ति कहते हैं और स्वल्पशक्तियुक्त द्रव्यको द्रव्य कहते हैं । व्यवहारमें
सुविधाके लिये यह व्यवस्था की गयी है । व्यवहारके लिये संज्ञाओंका अर्थ संज्ञा-
दाताओंके संकेतानुसारही करना चाहिये । दूसरोंके अभिप्रायके अनुसार नहीं ।
कभी २ स्थूलद्रव्य, सूक्ष्मद्रव्य ऐसाभी निर्देश किया जाता है । स्थूलद्रव्यमें उसके

शक्तिः शक्तिनाम्ना द्रव्यं च स्वल्पशक्तियुतं द्रव्यनाम्ना अभिधीयत इति सुगमम् ।
व्यवहारार्थं व्यवस्थेयमिति । (५)

संज्ञाश्च व्यवहारार्थं संकेतार्थानुगाश्च ताः ।

स्थूलद्रव्यं तथा सूक्ष्मद्रव्यमित्यपि भण्यते ॥ ६ ॥

संज्ञाश्चेत्यादि व्यवहारार्थं संज्ञाः । ताश्च संकेतार्थानुगाः । उपयोक्तुः संकेतमनुसार्यैव
तेषामर्थः । न शब्दाद्यन्यतरशास्त्रार्थानुसारेण । स्थूलद्रव्यमित्यादि तारतम्यानुसाराच्च स्थूल-
द्रव्यं सूक्ष्मद्रव्यं च इत्यपि भण्यते निर्देशो विधीयते । (६)

शक्तिः शक्तिस्वरूपं वा द्रव्यं सूक्ष्मं समाश्रितं ।

स्थूलद्रव्ये व्यक्तरूपेऽविभक्तं न विभज्यते ॥ ७ ॥

शक्तिरिति शक्तिर्वा शक्तिस्वरूपं द्रव्यं नाम । सूक्ष्मं सापेक्षत्वात् । अव्यक्तं व्यक्त-
रूपे दृश्यरूपे समाश्रितं न विभज्यते, पृथक् न भवति । स्थूलदृश्यद्रव्याश्रय एव शक्तेः
प्रतीतिः । (७)

शरीरमेवं द्विविधं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ।

द्रव्यशक्तिविभागाद्वा द्रव्यरूपं पुनर्द्विधा ॥ ८ ॥

सामर्थ्ययुक्तं सामर्थ्यहीनमेवं विभज्यते ।

शरीरमिति एवमविभाज्यरूपेण स्थूलसूक्ष्मविभेदतः द्रव्यशक्तिविभागाद्वा द्विविधं

आश्रयसेही जो शक्तिस्वरूप सूक्ष्मद्रव्य रहता है उसीको शक्ति कहना चाहिये ।
उस व्यक्तरूप स्थूलद्रव्यसे वह शक्तिरूप सूक्ष्मद्रव्य पृथक् नहीं किया जासकाता
अर्थात् यह माननाही चाहिये कि स्थूल व दृश्य द्रव्यके आश्रयसेही शक्तिका
अनुभव हो सकता है । ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

इसप्रकार यद्यपि स्थूल सूक्ष्म द्रव्य पृथक् नहीं किया जा सकता, शरी-
रके स्थूल व सूक्ष्म अथवा द्रव्य व शक्ति ये दो भेद माननेही पडते है । द्रव्य-
केभी दो भेद मानने पडते हैं—एक सामर्थ्ययुक्त द्रव्य और दूसरा सामर्थ्यहीन ।
सर्वथा सामर्थ्यहीन द्रव्य हो नहीं सकता इसलिये यहांपर सामर्थ्यहीनसे अभिप्राय
है अत्यल्पसामर्थ्ययुक्त । ८ ॥

शरीरका स्वरूपभी शक्तिके तारतम्यसे त्रिविध माना जाता है—१ शक्ति-
रूप, २ शक्तियुक्त और ३ शक्तिहीन । शक्तिरूप शरीरको दोष, शक्तियुक्त शरी-
रको धातु व शक्तिहीन शरीरको मल संज्ञायें दी गयी हैं । सारांश शक्तिरूप
होनेके कारण दोष सूक्ष्म हैं । धातु शक्तियुक्त हैं और मल शक्तिविहीन । दोष—

द्विप्रकारं शरीरम् । तस्मिन् द्रव्यरूपं पुनः द्विधा विभज्यते । शरीरस्य द्रव्यरूपं द्रव्यरूपो विभागः पुनः सामर्थ्ययुक्तं सामर्थ्यहीनं चेति स्वरूपभेदात् द्विधा विभज्यते । सामर्थ्यहीनं द्रव्यं न किञ्चिद्विद्यत इति सामान्यनियमात्सामर्थ्यहीनत्वं नाम स्वल्पतरसामर्थ्ययुतम् । (८)

शक्तिरूपं शक्तियुक्तं शक्तिहीनं तथैव च ॥ ९ ॥

शरीररूपं त्रिविधं दोषधातुमलाह्वयम् ॥

शक्तेस्तारतम्यादुरोधेन दोषधातुमलत्वं सूचयति । शक्तिरूपमित्यादिना । शक्तिरूपं, शक्तियुक्तं शक्तिहीनं चेति क्रमादोषधातुमलभेदात् शरीररूपं त्रिविधं । (९)

दोषाः सूक्ष्माः शक्तिरूपाः शक्तियुक्ताश्च धातवः ॥ १० ॥

मलाः शक्तिविहीनाश्च भूतार्थोऽयं सुनिश्चितः ॥

चिन्तनीयो दोषधातुमलानां तत्त्वनिर्णये ॥ ११ ॥

पूर्वश्लोकेनमिहितं विशदीक्रियते दोषा इत्यादिना । शक्तिरूपाः सूक्ष्माश्च दोषाः । शक्तियुक्ता धातवः शक्तिविहीनाश्च मलाः इत्ययं सुनिश्चितः सन्देहविवर्जितो भूतार्थः । दोषधातुमलानां शक्तेस्तारतम्यं दर्शितमनेन । शक्तिरूपा इति न केवलं शक्तिस्वरूपाः किन्तु सापेक्षतया अधिकतरशक्तिसम्पन्नाः सामर्थ्यातिशययुक्ताः दोषाः । शक्तियुक्ताः दोषेभ्यो न्यूनया मलेभ्यश्चाधिकया शक्त्या युक्ताः धातवः । शक्तिविहीनाः स्वल्पतरसामर्थ्ययुक्ताश्च मला इति तात्पर्यार्थः । दोषधातुमलानां तत्त्वनिर्णये समुत्पन्ने चिन्तनीयः । (११)

धातु-मलोंका शक्तिके संबंधमें यह तारतम्य अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये । और ध्यानमें यहभी रखना चाहिये कि, दोष शक्तिरूप हैं इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि, वे केवल शक्तिस्वरूप हैं, किन्तु सापेक्षतया-धातुमलोंकी तुलनामें वे विशेष शक्तिसंपन्न-अतिशय सामर्थ्ययुक्त हैं । धातु दोषोंसे कम किन्तु मलोंसे अधिक शक्तियुक्त हैं । और दोषों व धातुओंसेभी मल शक्तिविहीन याने अत्यल्पसामर्थ्ययुक्त हैं । ९। १० ॥

अब दोषोंका कर्मसामर्थ्य किसप्रकार होता है यह दर्शानेके लिये कर्म-स्वरूपका वर्णन करते हैं । शास्त्रज्ञोंने अनुक्रमसे उत्पत्ति, वृद्धि, उत्क्रांति, न्हास व विनाश इन कर्मोंकोही जीवन कहा है । उत्पत्तिका अर्थ है विशिष्ट आकृति धारणकर प्रकट होना । वृद्धिका अर्थ है अपने स्वभावसेही अभिवर्धित होना-बढ़ना । उत्क्रांतिका अर्थ है स्वभावसेही उत्तम अवस्थामें परिणत-विकासित होना । न्हासका अर्थ है स्वभावसेही क्षीण होना । और विनाशका अर्थ है स्वभावसेही आकृतिका नष्ट होना-अदर्शन । अव्यक्त पंचभूतोंसे प्रथम व्यक्त शरीर उत्पन्न

समुत्पत्तिश्च संवृद्धिः क्रमादुत्क्रांतिरेव च ।

ऋहासो विनाश इत्येवं जीवनं परिकीर्तितम् ॥ १२ ॥

दोषाणां कर्मसामर्थ्यप्रदर्शनार्थं कर्मस्वरूपं निरूप्यते । समुत्पत्तिरित्यादि । समुत्पत्तिः आकृतिविशेषेणाभिव्यक्तिः । संवृद्धिः स्वभावेनाभिवर्धनम् । उत्क्रान्तिः स्वभावादुत्तमावस्थायां परिणतिः । ऋहासः स्वभाव एव क्षयः । विनाशः स्वभाव स्वाकारे वाऽदर्शनम् । इत्येवं कर्माणीमानि जीवनमिति परिकीर्तितमाख्यातम् । प्राज्ञैरिति शेषः । अव्यक्ताद्भूतग्रामात्-व्यक्तीभावस्ततस्तद्भावेऽभिवर्धनं कैश्चिदशैस्तत्तमावस्थायां संक्रमणं कालेन ऋहासो विनाशश्च क्रमादिति क्रियानुवृत्तिर्जीवितं नाम । (१२)

भूमिरापश्च तेजश्च वायुश्चाकाशमेव च ।

पंचभूतान्युपादानं जीवलोकस्य कारणम् ॥ १३ ॥

समुत्पत्त्यादिकर्मस्वरूपस्य जीवनस्य विवेचनात्प्राक् तदुपादानं दर्शयति । भूमिरित्यादि । भूमिरापस्तेजो वायुराकाशमिति पंचभूतानि जीवलोकस्य जीवसृष्टेरुपादानकारणम् । एतेभ्यो मूलद्रव्येभ्यः सर्वो जीवलोकः समुत्पन्न इति । (१३)

क्षित्यादीनान्तु भूतानां चतुर्णां परमाणवः ।

सम्भूयमानाश्चाकाशे चेतनायाः प्रभावतः ॥ १४ ॥

प्राप्नुवन्ति पदार्थत्वमाकारगुणकर्मभिः ।

होता है । फिर वह अपने स्वभावसेही अभिवर्धित होने लगता है । अभिवर्धित होते २ वह उत्तम अवस्थाको पहुंचता है । फिर क्रमशः उसका ऋहास होने लगता है । अंतमें उसका विनाश हो जाता है । जीवनमें ये क्रियायें अनुक्रमसे होती रहती हैं । १२ ॥

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, व आकाश इनको पंचभूत कहते हैं और वेही समस्त जीवसृष्टिके उपादान (मूल) कारण हैं । इन मूलद्रव्योंसेही समस्त जीवसृष्टिका निर्माण हुआ है । १३ ॥

पृथ्वी, अप्, तेज, व वायु इन चार भूतोंके परमाणु चेतना याने जीवात्माके प्रभावसे—स्वभावसामर्थ्यसे अवकाशरूप आकाशमें एकत्र आकर परस्परमें विलीन होते हुए एकीभावको प्राप्त करते हैं । उनकी कुछ विशिष्ट आकृति बनती है । उसमें कुछ गुण याने विशिष्ट सामर्थ्य व क्रियायेंभी पैदा होती हैं । और इसप्रकार आकार, गुण व कर्मोंसे वे (चार भूतोंके चेतनाप्रभावसे अवकाशरूप आकाशमें एकीभूत परमाणु) पदार्थत्वको प्राप्त करते हैं । पदार्थोंमें जो गुण, कर्म

गुणकर्माकारभेदादभिधानान्तराणि च ॥ १५ ॥

उत्पत्तिविनाशसातत्यस्वरूपं जीवनाख्यं कर्म विवृणोति । श्रित्यादीनामिति । भूमिरापस्तेजो वायुरिति चतुर्णां भूतानां परमाणवः । चेतनायाः जीवात्मनः । प्रभावतः स्वभाव-सामर्थ्यात् । आकाशावकाशे अवकाशरूप आकाशे एकत्र संभूयमानाः परस्परं विर्लिनाः एकी-भावमागताः इति यावत् । (१४) आकारगुणकर्मभिः आकार आकृतिविशेषः । गुणाः सामर्थ्यविशेषाः । कर्माणि चैतैः पदार्थत्वं व्यक्तिविशेषत्वं प्राप्नुवन्ति । गुणकर्माकारभेदात् गुणकर्माकारविशेषानुरोधात् अभिधानान्तराणि भिन्नानि नामानि । प्राप्नुवन्ति लभन्ते । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां सृष्टवस्वुपादानत्वेऽपि आकाशवर्जं चतुर्णां परमाणवः समुदायत्वं गच्छन्ति । आकाशस्तु नित्य एव । ततश्चतुर्णां परमाणवः संहतीभावमुपयान्तीत्यारव्यातम् । (१५)

भूतांशानां तु संयोगादुत्पत्तिवृद्धिरेव च ।

ऋासो विनाशश्च भवेत्पदार्थानां वियोगतः ॥ १६ ॥

वस्तुनः संसर्जने विनाशे च भूतांशानां संयोगवियोगौ कारणमित्याह । भूतांशाना-मिति । भूतांशानां क्षित्यादिभूतचतुष्टयस्यांशानां संयोगात् परस्परसंमिश्रणान् । उत्पत्तिवृद्धिश्च भवेत् । वियोगाच्च विनाश इति । यदुक्तं चरकसंहितायाम् । तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्दः । षड्-धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकशब्दः । षड्धातुविभागो वियोगः स जीवापगमः इति । (१६)

पदार्था वृद्धिमायान्ति नवीनैरुपबृंहिताः ।

व आकारका भिन्नत्व रहता है उससे प्रत्येक पदार्थको भिन्न २ नाम प्राप्त होता है । यहांपर विशेष ध्यानार्ह विषय यह है कि, सभी पंचभूतोंको सृष्टवस्तुमात्रका उपादान माना गया है, वस्तुतः आकाश छोड़कर शेष चारभूतों (पृथ्वी, अप्, तेज व वायु) के परमाणुही एकत्र होते हैं । आकाश तो नित्यही है । इसीलिये कहा है कि, चार भूतोंके परमाणुही संहतीभाव को प्राप्त होते हैं—उन्हीका समुदाय होता है । १४ ॥ १५ ॥

पृथ्वी, अप्, तेज व वायु इन भूतोंके परमाणुओंके संयोगसे पदार्थोंकी उत्पत्ति व वृद्धि होती है और वियोगसे ऋास व विनाश । संयोगका अर्थ है पार-स्परिक संमिश्रण और वियोगका है पृथक् होना । चरकसंहितामेंभी कहा है ' लोकशब्दको संयोगकी अपेक्षा है । षट् धातुओंके संयोगसेही सामान्यतः सृष्टि बनती है । और वियोगसे उसका नाश होता है । ' १६ ॥

अब दोष-धातु-मलरूप शारीर पदार्थोंका वृद्धिक्षय किस कारणसे होता है यह वर्णन करते हैं । दोष-धातु-मल ये शारीर पदार्थ हैं । आहार्य (खाद्य)

आहारादिगतैर्बाह्यैः समानगुणकर्मभिः ॥ १७ ॥

विपरीतगुणैरेवमाहाराद्युपयोजितैः ।

क्षीणा भवन्ति शरीरा दोषधातुमलास्तथा ॥ १८ ॥

शरीराणां दोषधातुमलरूपाणां पदार्थानां वृद्धिः क्षयश्च कस्माद्भवतीत्याह । पदार्था इति । दोषधातुमलाः शरीराः पदार्थाः । आहारादिगतैः आहार्यादिद्रव्येष्ववस्थितैः । समानगुणकर्मभिः समाना गुणाः कर्माणि च येषां तैः । बाह्यैर्द्रव्यैरुपबृंहिताः परिपोषिता वृद्धिं यान्ति । (१७) विपरीतगुणैः शरीरविरुद्धगुणैः । आहारादिस्वरूपेणोपयोजितैश्च क्षीणा भवन्ति । यदाह चरकः । ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणास्तु विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्ति । “ वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः ” इति च वाग्भटः । (१८)

व्यक्तरूपाः शरीरेऽस्मिन् रसाद्याः सप्त धातवः ।

आहारेणाभिवर्धन्ते क्रमात्क्षीणा भवन्ति च ॥ १९ ॥

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।

अस्थनो मज्जा ततः शुक्रमित्युत्क्रांता भवन्ति च ॥ २० ॥

व्यक्तरूपा इति दृश्यरूपाः । रसाद्याः रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिज्जशुक्राख्याः सप्त धातवः आहारेण क्रमात् अभिवर्धन्ते । क्षीणाश्च भवन्ति । क्षीणत्वं स्वभावात् न आहारदिति

आदि द्रव्योंमें अवस्थित समान गुणकर्मोंके अंशोंसे उपबृंहण याने परिपोष होकर उनकी वृद्धि होती है । शरीर पदार्थोंके विपरीत गुणोंके द्रव्य आहारादिद्वारा शरीरमें जानेके कारण दोष-धातु-मल क्षीण होते हैं । चरक व वाग्भटनेभी यही कहा है कि, समान गुणोंके रसोंसे (खाद्य पदार्थोंसे) सब शरीर पदार्थोंकी वृद्धि होती है और विपरीत गुणके रसोंसे क्षय । १७ ॥ १८ ॥ ॥

इस शरीरमें रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र ये सात धातु व्यक्तरूप याने दृश्यरूप है । उनकी आहारसे क्रमशः वृद्धि होती और क्षयभी । रसधातुसे रक्तधातु पैदा होता है और रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे शुक्र एवं उत्क्रांत होते हैं । १९ ॥ २० ॥

पहिले धातुसे दूसरा धातु बननेकी प्रक्रियामें पूर्वधातुका सत्वहीन अंश पृथक् हो जाता है जिसको किट्ट अथवा मल कहते हैं । उपभुक्त आहार का सार-रूप रसधातु बनता है और वही अनुक्रमसे धात्वग्निसे विपाचित होते होते शुक्रावस्थाको पहुँचता है । वह पहिले धातुस्थितिमेंसे दूसरे धातुकी अवस्थामें

वाच्यम् । (१९) रसादिति रसधातोः शुक्रान्तं यावत्कमादुत्क्रांताश्च भवन्ति । (२०)

धात्वन्तरं यदा धातोः पूर्वस्मादुपजायते ।

किट्टं संजायते तद्धि मलनाम्नाऽभिधीयते ॥ २१ ॥

धातूनामुत्क्रान्तौ किट्टस्वरूपाणां मलानां सम्भवं दर्शयति । धात्वन्तरमिति अन्यो धातुर्धात्वन्तरम् पूर्वस्माद्रसादेर्धातोर्न्यो रक्तादिर्यदा धातुरुपजायते तदा किट्टं सत्वहीनः पूर्वधातो-
रंशः किट्टं नाम । संजायते । तन्मलनाम्नाऽभिधीयते । “ कफः पित्तं मलः खेपु प्रसेदो नखरो-
म च । स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः अत्र कफपित्तौ मलरूपेणाख्यातौ ।
इति रसादिधातूनां क्रमान्मलाः । आहारस्योपभुक्तस्य साररूपो रसः कमाद्धात्वभिभिर्विपच्यमानः
शुक्राख्यामवस्थां प्राप्नोति । यदा धात्वन्तरस्वरूपेण विपरिणमते तदा पूर्वधातोः कैचिदंश
उत्तरधात्वपेक्षया हीनसत्त्वाः पृथग्भवन्ति । तदेव किट्टं मलशब्दवाच्यम् । धातवः सर्वेऽप्येवमनिशं
वृद्धिक्षयस्वरूपं क्रियासातत्यमनुभवन्तोऽवस्थात्रयेऽवतिष्ठन्ते । स्वरूपावस्था, उत्क्रान्तावस्था, किट्टावस्था
चेति तिस्रोऽवस्थाः । यथोक्तं डल्लणाचार्येण । स्थूलसूक्ष्ममलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा । स्वः स्थूलोऽंशः
परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः । ” इति रसादीनां धातूनां सप्तसंख्याकानां विपाकात्सप्तसंख्याः
श्लेष्मादयो मलाः कीर्तिताः । अपि तु शकृन्मूत्रस्वेदाख्यानां त्रयाणां प्राधान्यमुपदर्शितम् । त्रिष्वेव
सर्वेषामंतर्भाव इति । ? (विशदीकरणमस्य षष्ठदर्शने विलोकनीयम् । (२१)

नवीनाश्चोपजायन्ते जाताः केचित् नृहसन्ति च ।

परिणत होते समय उस दूसरे धातुके सामर्थ्यकी अपेक्षा हीनसत्त्व अथवा अल्प-
शक्तिमान् द्रव्यांश उससे पृथक् हो जाता है । उस पृथक्भूत हीनसत्त्व द्रव्यांशकोही
किट्ट अथवा मल कहते हैं । सभी धातु इसप्रकार निरंतर वृद्धिक्षयरूप क्रियासा-
तत्यका अनुभव करते हुए तीन अवस्थाओंमेंसे जाते हैं । ये तीन अवस्थायें हैं
—१ स्वरूपावस्था २ उत्क्रांतावस्था व ३ किट्टावस्था । डल्लणाचार्य ने भी कहा
है ‘ धातुओंके तीन भेद होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म व मल । उसकी अपनी
स्वाभाविक अवस्था स्थूल भेद है, दूसरी याने उत्क्रांत अवस्था सूक्ष्म होती है ।
और तिसरी मल । प्रत्येक धातुका इसप्रकार मल होताही है अर्थात् रसादि सात
धातुओंके सातही मल बतलाये गये हैं । वे इसप्रकार—रसका मल कफ, रक्तका
पित्त, मांसका नाक कान आदि सच्छिद्र इंद्रियोंमें पाये जानेवाले मल, मेदका
खेद, अस्थिके नख व केश, मज्जाका नेत्र त्वचा आदिपर दृश्यमान स्नेह और
शुक्रका ओज । इसप्रकार सात धातुओंके पचनसे सातही मलोंका निर्माण होता
है । यहांपर सात मलोंमें कफ व पित्तका जो निर्देश आया है वह उनके दोष-

क्रमादंशाः शरीरस्य पदार्थानां निरन्तरम् ॥ २२ ॥

नवीनाश्चेत्यादि । शरीरस्य पदार्थानां केचिदंशा नवीना जायन्त उत्पद्यन्ते । जाताश्च केचित् न्हसन्ति क्षीयन्ते । उत्पत्तिः क्षयश्चायं क्रमात् निरन्तरं च भवति (२२)

क्रमादुत्पद्यमानश्च क्षीयमाणस्तथा क्रमात् ।

एवं शरीरावयवः क्रान्तिरूपोऽवतिष्ठते ॥ २३ ॥

क्रमादिति । एवं क्रमादुत्पद्यमानः क्षीयमाणश्च शरीरावयवः क्रान्तिरूपोऽवतिष्ठते । उत्पत्तिविनाशक्रमरूपमेवावस्थानं शरीरावयवानामिति ॥ (२३)

जीवित्वे न स्थिरत्वं स्यात्क्रान्तिरूपं हि जीवितम् ॥

जीवित्व इति । जीवनावस्थायां स्थिरत्वं न स्यात् । हि यतः जीवितं क्रान्तिरूपं । कर्मसातत्यस्वरूपे जीविते स्थिरत्वस्याभावः यतश्चलनात्मकं कर्मेति नियमात् चलनाभावे कर्माभावः कर्माभावाच्च जीवितस्याभावः सम्पद्येत । जीवित्वे चोत्पत्तिक्षयरूपं कर्मसातत्यं । संसृतिसंज्ञया जीवलोकस्य कान्यवस्थावस्थानरूपं संसरणं सूच्यते । (२३॥)

उत्पद्यमानो धात्वाख्यः क्षीयमाणो मलः स्मृतः ॥ २४ ॥

एवमुत्पद्यमानावस्थायामवस्थितः शरीरस्य द्रव्यस्वरूपः स्थूलो दृश्यो विभाग एको धात्वाख्यः धातुसंज्ञः । क्षीयमाणो क्षीयमाणावस्थायामवस्थितश्चांशो मलः मलसंज्ञः स्मृतः । दोषधातुमलानां द्रव्यस्वरूपवर्तितौ धातुमलो समाख्यातौ । (२४)

रूपका नहीं है, मलरूपका है । यद्यपि उक्त वर्णनमें मलोंकी संख्या सात बतलायी गयी है, वस्तुतः शकृत्, मूत्र व स्वेद ये तीनही मल प्रमुख माने गये हैं । इन तीनोंमेही उन सबका अंतर्भाव होता है । (इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण षष्ठ दर्शमें किया है ।) २१ ॥

शरीर पदार्थोंमें निरंतर क्रमसे कुछ नवीन अंशोंकी उत्पत्ति होती रहती है और उत्पन्न अंशोंका न्हास होते जाता है । नवीन उत्पन्न होनेका तथा न्हास पानेका यह क्रम शरीरावयवोंमें नित्य चालू रहनेके कारण वह (शरीरावयव) क्रान्तिरूपही रहता है । जीवित्व क्रान्तिरूप होनेके कारण उसमें स्थिरता कभी आंहीं नहीं सकती । उपर बतलाया जा चुका है कि, जीवनका अर्थही कर्मसातत्य है । और कर्मसातत्य जहांपर है वहां स्थिरत्वका अभाव होनाही चाहिये । कर्म चलनात्मक है । इस नियमके अनुसार चलनाभावसे कर्माभाव और कर्माभावसे जीवित्वकाही अभाव उत्पन्न हो जायगा । अर्थात् जीवित्वमें प्रवर्तित कर्मसातत्य-उत्पत्तिक्षयरूप है । संसृति संज्ञासे जीवसृष्टिकाभी क्रान्तिरूप संसरण सूचित

संग्रहः पोषकांशानां तत्सात्मीकरणं तथा ।

किट्टस्योत्सर्जनं शुद्धधातोरुत्क्रान्तिरुत्तमे ॥ २५ ॥

शक्तिरूपेण सूक्ष्मेण सर्वमन्तर्विवर्तिना ।

क्रियते येन भागोऽसौ शरीरस्य हि कर्मकृत् ॥ २६ ॥

शक्तिरूपं शरीरस्य विभागं विवृणोति । संग्रह इति । पोषकांशानां । शरीरधातु-
पोषणोपयोगिनामंशानामाहारात् संग्रहः समाकर्षणम् तत्सात्मीकरणं तेषां पोषकांशानां
सात्मीकरणं धातुभिरैकीभावोत्पादनम् । किट्टस्य उत्सर्जनं वहिः । शुद्धधातोरुत्क्रान्तिरुत्तमे
धातावुत्तम उत्क्रान्तिः । (२५) सर्वमेतत् शरीरोपजीवनसंबन्धि कर्म अन्तर्विवर्तिना धात्वव-
यवान्तर्निष्ठेन शक्तिरूपेण सूक्ष्मेण येन क्रियते संपाद्यते असौ विभागः कर्मकृत् । (दोषसंज्ञः) । (२६)

यस्मिन् क्रियाः प्रवर्तन्ते यस्योत्पत्तिः क्षयोऽथवा ।

आधारो द्रव्यरूपश्च भागोऽन्यो द्विविधो हि सः ॥ २७ ॥

उत्पद्यमानावस्थायां सामर्थ्याधिक्यसंयुतः

हीनशक्तिः क्षीयमाणावस्थायामितरस्तथा ॥ २८ ॥

त्रयश्चैते दोषधातुमलनाम्ना क्रमात्स्मृताः ।

शरीरस्य शक्तिस्वरूपं प्राधान्येन क्रियाकारिणं दोषाख्यं विभागमुक्त्वा द्रव्यरूपं विवेचयति
यस्मिन् क्रियाः इति । यस्मिन् द्रव्यस्वरूपे शरीरविभागे सर्वाः पचनपोषणाद्याः क्रियाः

होता है । २२ ॥ २३ ॥

उत्पद्यमान याने निर्मितिकी अवस्था में रहनेवाला शरीरका जो द्रव्य-
स्वरूप स्थूल व दृश्य विभाग उसीको धातु कहते हैं । और क्षीयमाण याने
ह्रासकी अवस्थामें रहनेवाले अंशको मलसंज्ञा दी गयी है । दोष-धातु मलोंमेंसे
धातु व मल दोनो द्रव्यस्वरूप बतलाये गये हैं । २४ ॥

अब शरीरके शक्तिरूप विभागका वर्णन करते हैं । उपभुक्त आहारमेंसे
शरीरधातुओंके पोषणोपयोगी अंशोंका संग्रह करना—आकर्षण करना, बादमें उन
पोषकांशोंका सात्मीकरण याने उनका धातुओंके साथ एकीभाव उत्पन्न करना,
मलका शरीरके बाहर उत्सर्जन करना, पहिले धातुकी दूसरे में दूसरेकी तीस-
रेमें इस प्रकार धातुओंकी उत्तमताकी ओर उत्क्रान्ति करना—इन शरीरके
जीवनसंबन्धी सभी कर्मोंको जो करता है वही धात्वंशोंके अन्तर्निष्ठ सूक्ष्म शक्ति-
रूप विभाग कर्मकारी विभाग है और उन्हीको दोषसंज्ञा दी गयी
है । २५ ॥ २६ ॥

प्रवर्तते । यस्य उत्पत्तिः क्षयश्च भवेत् सः शक्तेराधारः आश्रयः द्रव्यस्वरूपो भागो द्विविधः ।
(२७) **उत्पद्यमानावस्थायामिति** आहारादिगैर्द्रव्यैः शारीरद्रव्याणामुत्पादनसमये **सामर्थ्या-
धिक्यसंयुतः** सापेक्षतया क्षीयमाणावस्थावस्थितेभ्यः सामर्थ्येन अधिकः एको विभागः तथा
हीनशक्तिः सापेक्षत्वेन । क्षीयमाणावस्थायां अवस्थितः इतरो विभाग इति द्वैविध्यम् । (२८)
त्रय इति एकः कर्मकृत् शक्तिरूपः द्वितीयः सामर्थ्याधिक्यसंयुतः तृतीयश्च हीनसामर्थ्य इति
एते त्रयः क्रमात् दोषधातुमलनामभिः **स्तृता** आख्याताः । शरीरद्रव्याणां उत्तममध्यमहीन-
शक्तिसंपन्ना विभागाः क्रमात् दोषा धातवो मलाश्चेति । (२८॥)

सामर्थ्यरूपो दोषाख्यो धात्वाख्यः शक्तिसंयुतः ॥ २९ ॥

हीनशक्तिर्मल्लाख्यश्च देहमूलमिमे त्रयः ॥

उक्तार्थं विशदीकुर्वन्नाह । **सामर्थ्यरूप** इत्यादि । शक्तिसंपन्नत्वसामान्यात्सर्वेऽपि
दोषधातुमलाख्याः शारीरद्रव्यविभागाः शक्तियुक्ताः । किन्तु शक्तिमत्त्वे तारतम्यनिर्देशनार्थमेव
सामर्थ्यरूपाः सामर्थ्ययुक्ताः हीनसामर्थ्याश्चेति निर्देशः । शक्तिमत्त्वादेव दोषधातुमल्लाख्याऽपि
देहमूलं इति आख्याताः । सर्वक्रियाकारित्वं दोषाणां सामर्थ्यविशेषः । आधारत्वं धातूनां अ-
पेक्षां वगुण्ठनं वा मलानां सामर्थ्यविशेषः । एतैः सामर्थ्यविशेषैर्दोषा धातवो मलाश्चेति शारीरद्रव्यांशः
शरीरमूलस्वरूपा भवन्ति (२९॥)

संग्रहः श्लेषणात् सत्मीकरणं पचनात्तथा ॥ ३० ॥

जिसमें पचनपोषणादि सब क्रियायें प्रवर्तित होती हैं, जिसकी उत्पत्ति
तथा क्षय होते हैं और जिसके आश्रयसे शक्ति रहती है वह द्रव्यस्वरूप शारीर
विभाग द्विविध है । एक उत्पद्यमान याने उत्पन्न होनेकी अवस्थामें व दूसरा
क्षीयमाण अवस्थामें । पहिली याने उत्पद्यमान अवस्थामें वह अधिक सामर्थ्यसे युक्त
रहता है और दूसरी अवस्थामें हीनशक्ति याने पहिलेकी अपेक्षा अल्पसामर्थ्यसे युक्त
रहता है । एतावता शरीरके तीन विभाग सिद्ध होते हैं । १ कर्मकारी शक्तिरूप विभाग
२ अधिकसामर्थ्ययुक्त और ३ हीनसामर्थ्ययुक्त इनकोही क्रमसे दोष, धातु व मल कहते
हैं पाठकोंके अब ध्यानमें आयाही होगा कि दोष नामका शरीरका जो अंश होता
है उसमें शक्तिकी उत्तमता, धातुनामक अंशमें मध्यमता तथा मलनामक अंशमें
कनिष्ठता या हीनता रहती है । अर्थात् सामर्थ्य या शक्तिका सामान्य तीनो
विभागों में याने दोष—धातु—मलोंमें होते हुए भी शक्तिके तारतम्य निर्देशसेही
वे पहिचाने जाते हैं । शक्तिमान् होनेके कारणही वे शरीरके मूल कहे जाते हैं ।
किन्तु शक्तिकी तरतम मात्राके कारण शक्तिस्वरूप या सबसे अधिक सामर्थ्यवान्

विसर्जनं तथोत्सर्गात्कर्मैवं त्रिविधं मतम् ।

शरीरगतानां क्रियाकारिणां दोषाणां क्रियास्वरूपावबोधार्थं शरीरकर्मस्वरूपं दर्शयति । संग्रह इत्यादिना । श्लेष्पणादिति परस्परालिङ्गनात् । पोषकांशानां संग्रहः । पचनात् सारकिट्टस्वरूपात् सात्मीकरणं पोष्यपोषकाणामेकरूपत्वमपादनम् । विसर्जनं वह्निष्कामणम् उत्सर्गात् विक्षेपणात् । एवं संग्रहः पचनं विसर्जनं चेति त्रिविधं कर्म शरीरे प्रधानम् । (३०॥)

त्रयो भवन्ति कर्तारः कर्मणस्त्रिविधस्य हि ॥ ३१ ॥

संग्राहकः पाचकश्च तृतीयस्तु विसर्जकः ।

श्लेष्मा पित्तं वायुरिति त्रयस्ते परिकीर्तिताः ॥ ३२ ॥

त्रिविधस्य कर्मणः कर्तारोऽपि त्रय एव भवन्ति । संग्राहक इति संग्रहकर्मकर्ता । पाचकः पचनकर्ता विसर्जकश्च तृतीयः विसर्जनकर्ता इति त्रिविधस्य कर्मणः कर्तार्येते त्रयः श्लेष्मा, पित्तं वायुरिति परिकीर्तिताः । (३२)

श्लेष्मा संश्लेषणात्पित्तं पचनादतिकर्मणा ।

वायुः संज्ञाभिरेतेषां त्रिविधं कर्म सूचितम् ॥ ३३ ॥

श्लेष्मपित्तानिलानां संज्ञानिश्चये हेतुमाह । श्लेष्मा इत्यादि । संश्लेषणा कर्मणः श्लेष्मा इति संज्ञा, पचनात्पित्तम् गतिकर्मणा च वायुरिति निरुक्तिरेतेषां संज्ञानाम् । ततश्च संज्ञाभिरेतेषां श्लेष्मपित्तवातानां त्रिविधं श्लेषणादिकं कर्म सूचितं भवति । (३३)

शरीर अंशोंको दोष, मध्यम सामर्थ्ययुक्त शरीरांशोंको धातु और सबसे हीन-शक्ति अंशोंको मल संज्ञासे जानना चाहिये । दोषोंका विशिष्ट सामर्थ्य है सर्वक्रियाकारित्व । दोषोंका आधारत्व है धातुओंका विशेष और मलोंका विशेष है धातुओंका अवष्टम्भ या अवगुंठन करना । इन सामर्थ्यविशेषोंद्वारा दोष-धातु-मलरूप शरीर द्रव्यांश शरीरके मूलस्वरूप बनकर रहते हैं । २७ ॥ ॥ २८ ॥ २९ ॥

तीन प्रकारका कर्म शरीरमें मुख्यतया चलता है । १ श्लेषणसे याने परस्परालिङ्गनद्वारा पोषकांशोंका संग्रह करना, २ सार व किट्ट पृथक् करनेकी क्रियाद्वारा याने पचनद्वारा सात्मीकरण पोष्य व पोषक अंशोंका एकीकरण और ३ उत्सर्गसे याने विक्षेपणक्रियाद्वारा विसर्जन करना याने बाहर निकाल डालना । इस त्रिविध कर्मके कर्ताभी तीन हैं । १ संग्रहकी अथवा श्लेषणकी क्रिया करनेवाला संग्राहक २ पचनकी क्रिया करनेवाला पाचक और ३ विसर्जनकी क्रिया करनेवाला विसर्जक । ये तीन कार्यकर्ताही अनुक्रमसे कफ, पित्त व वात हैं । इनके नामसेभी उपरिनिर्दिष्ट तीनों कर्म सूचित होते हैं ।

शरीरस्योपकर्तारस्त्रयः श्लेष्मादिका अपि ।

त एव विकृताः सन्तः शरीरं दूषयन्ति हि ॥ ३४ ॥

विकृताविकृतावापकारिणश्चोपकारिणः ।

श्लेष्मपित्तानिला दोषसंज्ञयैव प्रकीर्तिताः ॥ ३५ ॥

शरीरस्येति । श्लेष्मादिका दोषाः शरीरस्य उपकर्तारः स्वभावावस्थिताः । अपि त एव विकृताः सन्तः शरीरं दूषयन्ति शरीरे विकृतिमुत्पादयन्ति । (३४) एवं विकृता अविकृताश्च अपकारिणः तथा उपकारिणः श्लेष्मपित्तानिलाः दोषसंज्ञया एव प्रकीर्तिताः आख्याताः शास्त्रे । श्लेष्मपित्तानिलानां विकृतानामविकृतानामपि सर्वदा दोषसंज्ञया एव व्यवहारः शास्त्रे । (३५)

देहे द्रव्यं व्यक्तरूपं सप्तधा तद्विभज्यते ।

समासतस्तद्विविधं घनद्रवविभेदतः ॥ ३६ ॥

शक्तिस्वरूपं दोषाख्यं शरीरपदार्थविभागमभिधाय द्रव्यस्वरूपस्य स्पष्टीकरणार्थमुच्यते । देहे द्रव्यमित्यादि । व्यक्तरूपं । विशिष्टस्वरूपेण दृश्यम् । सप्तधा रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रमेदान् विभज्यते । तच्च समासतः घनद्रवविभेदतः किञ्चित् घनस्वरूपं किञ्चित् द्रवस्वरूपमिति भेदान् द्विविधं द्विप्रकारम् । (३६)

घनं द्विभेदं कठिनमेकमन्यत्तथा मृदु ।

स्यादस्थि कठिनं मांसं मृदु द्वेधा द्रवं भवेत् ॥ ३७ ॥

जैसे श्लेष्मण कर्मका कर्ता श्लेष्मा (कफ), पचनकर्मका कर्ता पित्त, और उत्सर्जन गतिरूप होनेके कारण गतिकर्मका कर्ता वायु । ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

श्लेष्मादि याने कफ-पित्त-वात स्वाभाविक स्थितिमें शरीरके उपकारक होते हुएभी वेही विकृत होनेपर शरीरको बिघाड देते हैं-उसमें विकृतिका निर्माण करते हैं । चाहे अविकृत स्थितिमें उपकारक रहते हो या विकृत स्थितिमें अपकारक कफ, पित्त वातको शास्त्रमें दोषही कहा जाता है । ३४ ॥ ३५ ॥

शरीरमें व्यक्तरूप याने विशिष्टाकृति धारण करनेवाला द्रव्य रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र इन सात धातुओंमें विभक्त रहता है । संक्षेपमें उसके दो प्रकार होते हैं—एक घन व दूसरा द्रव । ३६ ॥

घनद्रव्यकेभी दो प्रकार होते हैं—एक कठिन व दूसरा मृदु । जो आकुंचनप्रसरणक्रियामें असमर्थ होकर स्थिररूप रहता है उसको कठिन द्रव्य कहते हैं, और जो आकुंचन-प्रसरण क्रियामें समर्थ होता है उसको मृदु कहते हैं । शरीरमें अस्थि कठिन है तथा मांस मृदु । द्रवद्रव्यकेभी दो प्रकार होते हैं—

एकं जलेन सदृशमन्यत्किञ्चित्ततो घनम् ।

तस्मिन् जलस्वरूपं स्याद्रसो रक्तमिति द्वयम् ॥ ३८ ॥

मेदो मज्जा शुक्रमिति त्रयं किञ्चिद्धनं भवेत् ।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः ॥ ३९ ॥

समाख्याताः शरीरस्याकृतिं ते धारयन्ति हि ।

सामर्थ्यं नाम रूपं च विशिष्टं गुणकर्मभिः ॥ ४० ॥

घनमिति । घनस्वरूपमपि शारीरद्रव्यं एकं कठिनं स्थिरमाकुञ्चनप्रसरणासमर्थं । अन्यत् **मृदु** संकोचप्रसरक्षमं इति द्विमेदं द्विप्रकारम् । एतयोः कठिनं अस्थि मांसं च मृदु स्यात् । घन-द्रव्यवत् द्रवद्रव्येऽपि द्विविधत्वं वर्णयति । **द्वेधा द्रवं भवेदिति । जलेन सदृशं ।** पूर्ण-द्रवरूपं एकं अन्यच्च **किञ्चिद्धनं** मधुवत् घनधृतवद्वा । तस्मिन् द्रवरूपे द्रव्ये **रसो** रसधातुः रक्तं चेति द्वयं जलरूपं अन्ये मेदो, मज्जा, शुक्रं चेति त्रयो धातवः **किञ्चिद्धनं** द्रव्यत्रयम् । एवमेते रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणीतिसंज्ञाः सप्त धातवः समाख्याताः धातुसंज्ञाः प्रकीर्तिताः । आयुर्वेदविद्विरिति शेषः । यतस्ते शरीरस्य **आकृतिं** विशिष्टाकारं धारयन्ति । हस्तपादाद्यैरवयव-विशेषैः शरीरस्य विशिष्टाकारस्यास्थिमांसादीनि घनद्रव्याण्येव प्रधानं कारणमिति । अस्थि मांसं चेति द्वयं स्वभावादेवाकारविशेषावस्थानसमर्थं न तथा रसरक्तादयश्चेतरे पञ्च द्रवरूपा धातवः । किन्तु तेऽपि विशिष्टस्वरूपेण चक्षुर्गोचराः । दर्शनविषयत्वाच्च तेषामपि विशिष्टाकारधारकत्वं प्रतिपद्यते । घन-

एक पानीय सदृश अर्थात् पूर्ण द्रवरूप और दूसरा उससे कुछ गाढा जैसे मधु घी इत्यादि । उस द्रवरूपद्रव्यमें रसधातु व रक्तधातु ये दो जलस्वरूप हैं । और मेद मज्जा व शुक्र ये तीन कुछ गाढे हैं । इसप्रकार रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र इन सात धातुओंका स्वरूप है । उनकेही कारण शरीरकी विशिष्ट आकृति बनती है । तथापि हातपैर आदि शरीरके विशिष्ट अवयवोंको देखते हुए यह प्रतीत होता है कि, शरीरकी विशिष्ट आकृति बनानेमें अस्थि व मांस आदि घन द्रव्यही प्रधान कारण हैं । अस्थि व मांस दोनो अपने स्वभाव-सेही विशिष्ट आकार धारण करनेमें समर्थ रहते हैं । वैसा दूसरे पांच धातुओंका नहीं है । तथापि वेभी विशिष्ट स्वभावद्वारा चक्षुर्गोचर ही है । चूंकी उनका नेत्रोंसे दर्शन हो सकता है, मानना पड़ेगा कि, उनकोभी विशिष्टाकारधारकत्व है । अस्थि व मांसमें घनत्व व रस-रक्तादि अन्य पांचोंमें द्रवत्व सामान्य होते हुएभी धातुनामक इन सातोंका उनके २ गुण कर्मोंके अनुसार विशिष्ट सामर्थ्य व विशिष्ट-रूप रहता है और यही कारण है उनको विशिष्ट नाम (रस, रक्त आदि) दिये

द्रवत्वसामान्येऽपि धातुशब्दोपदिष्टश्चैते सप्त गुणकर्मभिः कारणरूपैः विशिष्टं विशेषरूपं सामर्थ्यं नाम रूपं च धारयन्ति । गुणकर्मभेदादेतेषु विशिष्टं सामर्थ्यं विशिष्टं रूपं च वर्तते ततश्च विशिष्टं नाम प्रयुज्यत इति । (४०)

हीनशक्तेर्मलाख्यस्य त्रयो भेदाः प्रकीर्तिताः ।

घनो मलः पुरीषाख्यो द्रवो मूत्रमुदाहृतम् ॥ ४१ ॥

मलभेदो बाष्परूपश्चाख्यातः स्वेदसंज्ञया ।

सामर्थ्योत्कर्षसंयुतान् वातादीन् दोषान् सामर्थ्ययुतान्त्सादीन् धातून्भिधाय हीनसामर्थ्यान्-मलानुपदिशति । हीनशक्तेरिति दोषधातुभ्यो हीना स्वल्पप्रमाणा शक्तिर्यस्मिन्निति हीनशक्तेः मलाख्यस्य मलसंज्ञयाऽख्यातस्य शारीरद्रव्यस्य त्रयो भेदाः प्रकीर्तिताः प्रमुखाः । तेषु घनो घनरूपो मलः पुरीषाख्यः पुरीषसंज्ञः द्रवो द्रवरूपश्च मूत्रं मूत्रसंज्ञः । बाष्पस्वरूपश्च मलभेदः स्वेदसंज्ञया प्रकीर्तितः । दृश्यद्रव्यस्वरूपाणां रसादिधातुसंज्ञानामेव हीनसामर्थ्यांशा मलाः । तस्मात् घनधातूनां क्षीणसामर्थ्यांशा घनस्वरूपाः द्रवरूपाणां च द्रवरूपाः इत्यनुमानमुलभम् । किन्तु बाष्पस्वरूपो मलः कस्मात्कथं चोत्पद्यत इति चिंतनीयमेतत् । शारीरद्रव्येऽप्येवविरतं उत्पत्तिविना-शाख्यं कर्म प्रवर्तत इति दक्षितपूर्वम् । उत्पत्तिविनाशरूपस्य कर्मणो जीवनाख्यस्य सातत्यं पचन-क्रियामूलम् । पचनं च तैजसं । तेजश्चोष्णस्पर्शवदाख्यातम् । तेजसा विपच्यमानानि द्रव्याणि पूर्वरूप-विनाशादुत्तररूपस्याव्यक्तीभावाद्यदा उभयस्वरूपाभावरूपायां मध्यमावस्थायामवतिष्ठन्ते तदा

गये हैं । ३७-४० ॥

अल्पसामर्थ्यवाले मलकेभी तीन प्रकार हैं—१ घनमल पुरीष या शकृत् नामका २ द्रवमल मूत्र नामका और ३ बाष्परूपमल स्वेद नामका । पीछे बतलाया चुका है कि रसरक्तादि दृश्य-द्रव्य-स्वरूप धातुओंके जो हीनसत्त्व अंश निकलते हैं उन्हींको मल कहते हैं । अर्थात् घनधातुओंके हीनसत्त्व अंश घनस्वरूपके और द्रवधातुओंके हीनसत्त्व अंश द्रवस्वरूपकेही निकलते हैं । किन्तु चिंतनीय विषय यह है कि, बाष्पस्वरूप मल किससे और कैसा उत्पन्न होता है । इस प्रश्नका स्पष्टीकरण निम्न रीतिसे दिया जा सकता है । पहिलेही कथन किया गया है कि शारीर द्रव्योंमें निरंतर उत्पत्ति-विनाशका कार्य होते रहता है । इस उत्पत्ति-विनाशरूप कर्मसातत्य (इसीको जीवन कहते हैं) का मूल है पचनक्रिया । पचन तैजस है । तेजका लक्षण 'उष्णस्पर्शवत्त्व' ऐसा दिया गया है । तेजसे पच्यमान द्रव्य जब ऐसी एक मध्यम अवस्थामें आते हैं—पूर्वरूपका विनाश हो चुका है और नया रूप प्रकट नहीं हुआ है अर्थात्

बाष्पावस्थासंभवः । अविरतोत्पत्तिविनाशादस्थिरावस्थायामवस्थितानि द्रव्याणि शारीराणि सर्वदा भवन्ति । जीवच्छरीरं पच्यमानावस्थावस्थितं वस्तु नाम । ततो जीवमानावस्थायां विपच्यमानावस्थायां वा स्वेदत्वमप्यनिवार्यम् । स्वेदावस्थावस्थितानां शारीरद्रव्योपयोगित्वेन हीनसामर्थ्यानामंशानां संज्ञा स्वेद इति । 'स्विद्यते अनेन इति स्वेदः, इति निरुक्त्वा स्वेदस्योष्णत्वं पचनक्रियाकारित्वं चाभिव्यज्यते । त्वग्नेभ्यः स्रोतोभ्यः प्रसृतं जलरूपं द्रव्यं स्वेद इत्यभिप्रायः पदार्थज्ञानाभावजन्यः न च तस्मिन् स्वेदकत्वं न च वा तेजःसमागमः । उत्पात्तिविनाशात्मकत्वं, वृद्धिक्षयात्मकत्वं अवस्थांतरोत्पादकत्वं वा जीवितं नाम । मूर्तानाममूर्तेषु, आकृतिमतामाकृतिर्हीनेषु, घनानां द्रवेषु च परिवर्तनं तथा अमूर्तेभ्यो मूर्तानां, आकृतिर्हीनेभ्यश्चाकृतिमतां द्रव्येभ्यश्च घनानामुत्पादनसवस्थांतरोत्पादकं कर्म । ततश्च जीवद्रस्तुनि घनद्रवाणां साहचर्यं नित्यस्वरूपं । घनद्रवाणां सहवाससम्भवं चावस्थान्तरसातत्यं । उभयस्वरूपं मध्यमावस्थायामवस्थितं द्रव्यं । स्वेदोप्यस्मिन्नवस्थांतरोत्पादनसहायश्चावस्थिते । तस्माद्घनद्रवस्वरूपाणां साहचर्येणावस्थितानामवस्थान्तरमनुभूयतां द्रव्याणां मध्ये स्वेदस्यावस्थान्तरसंभवावस्थितिर्नित्या । व्यक्तरूपाणां रसादिसंज्ञानां शारीरधातूनामपि धनो द्रवः स्वेदरूपश्चेति समासतत्त्वयो भेदाः । अंशाश्चैतेषां हीनसामर्थ्यास्त्रिविधा मलसंज्ञास्तेषां घनः पुरीषसंज्ञया, द्रवो मूत्रसंज्ञया स्वेदश्च स्वेदसंज्ञयोपदिष्ट इति सप्तसंख्यानामपि धातूनां त्रिविधस्वरूपत्वान्मलानां त्रिविधत्वं यथावत्संगच्छते । (४१॥)

जिस अवस्थामें पूर्व व उत्तर दोनों अवस्थाओंके स्वरूपका अभावही रहता है—तब उनके बाष्पावस्थाहीका संभव रहता है । उत्पत्ति—विनाशकी क्रिया अविरत चलती रहती है । और इसीकारण सर्वदा शरीरमें उपरिनिर्दिष्ट मध्यम या जिसको अस्थिरभी कह सकते हैं—अवस्थामें स्थित द्रव्यभी रहतेही हैं । जीवमान शरीर एक पच्यमान अवस्थामें अवस्थित वस्तु है । अर्थात् जीवमान अवस्थामें याने पच्यमान अवस्थामें स्वेदोत्पत्ति अनिवार्य है । इस मध्यम अस्थिर या स्वेदकी अवस्थामें जब शरीर द्रव्य आजाते हैं, उस समय जो हीनसत्त्वांश पृथक् होते हैं वेभी स्वेदरूपही होने चाहिये । यही स्वेद नामक मल है । **स्विद्यते अनेन इति स्वेदः** इस निरुक्तिके अनुसारभी स्वेदका उष्णत्व व पचनक्रिया कारित्वही प्रकट होता है । त्वचाके ऊपर स्रोतोंमेंसे जो जलरूप द्रव्य (पसीना—घर्म) दिखायी देता है उसीके पदार्थविज्ञानसे अपरिचित लोग स्वेद कहते हैं । उसमें न तो स्वेदकत्व निवास करता है न तो उसका स्पर्श उष्ण लगता है । जीवितका अर्थही उत्पत्ति—विनाशात्मकत्व, वृद्धिक्षयात्मकत्व अथवा अवस्थांतरो-

दोषास्त्रयः श्लेष्मपित्तानिलाख्याः सप्त धातवः ॥ ४२ ॥

रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राभिधास्तथा ।

त्रयो मलाः शकृन्मूत्रस्वेदाख्याः समुदाहृताः ॥ ४३ ॥

दोषा इत्यादि । एवं श्लेष्मादयस्त्रयो दोषाः रसादयः सप्त धातवः शकृदाद्याश्च त्रयो मलाः समुदाहृताः इति । (४३)

संरक्षिता मलैः सर्वे प्रच्छन्ना देहधातवः ।

भवन्त्यतः पुरीषाद्या देहमूलमिति स्मृताः ॥ ४४ ॥

शकृदादीनां हीनशक्तित्वे कथं देहमूलत्वमित्याह । संरक्षिता इत्यादि । सर्वे धातवः रसाद्याः विशेषेण मांसमास्थि चेति द्वयम् । यतो विशिष्टाकृतिमत्त्वमेतयोरेव । प्रच्छन्नाः आच्छादिताः अवलिप्ताः सन्तः संरक्षिता भवन्ति । मलस्वरूपेणावरणेनावगुंठिताश्चैते पचनपोषणा दिक्स्यांतर्गतस्य कार्यस्य संपादने समर्था भवन्ति । अतः हेतोः पुरीषाद्या अपि देहमूलमिति देहमूलत्वेन स्मृता आख्याताः । (४४)

धातूंश्च मलिनीकुर्युर्यदा वृद्धा भवन्ति ते ।

पुरीषाद्याः समारव्यातास्ततस्ते मलसंज्ञया ॥ ४५ ॥

त्पादकत्व है । मूर्त द्रव्योंका अमूर्त द्रव्योंमें, आकृतियुक्त द्रव्योंका निराकार द्रव्योंमें, घनद्रव्योंका द्रवद्रव्योंमें परिवर्तन करना तथा अमूर्तोंका मूर्तोंमें, निराकारोंका साकारोंमें एवं द्रव्योंका घनोंमें परिवर्तन करना इसीको अवस्थांतरोत्पादक कर्म कहते हैं । इससे जीवित पदार्थमें घन-द्रव्योंका साहचर्य नित्य रहता है । घनद्रव्योंके इस नित्य सह-वासके कारण नित्य अवस्थांतर हुआ करता है । स्वेद-जो वस्तुतः उभयस्वरूप होता है-और इस मध्यम अवस्थामें रहनेवाला एक द्रव्यही है-इस अवस्थांतरके उत्पादनमें सहायक बनता है । इसी कारण घनद्रव द्रव्योंमें-जिनका नित्य साहचर्य रहता है और जो अवस्थांतरका अनुभव करते रहते हैं-अवस्थांतरमें उत्पन्न होनेवाले स्वेदकी अवस्थितिभी नित्यही माननी पड़ती है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रसरक्तादि व्यक्तरूप धातुओंकेभी संक्षेपमें घन, द्रव एवं स्वेदरूप ऐसे तीन भेद पड़ते हैं । इनके जो हीनशक्ति मल निकलते हैं उनमेंसे घनस्वरूप मलको पुरीष, द्रवस्वरूप मलको मूत्र तथा स्वेद या बाष्पस्वरूप मलकोस्वेद संज्ञासे शास्त्रकारोंने बोधित किया है । इसप्रकार सात धातुओंकोभी तीनही मुख्य प्रकार

पुरीषादीनां देहमूलत्वेऽपि मलसंज्ञाहेतुं दर्शयति । पुरीषाद्या यदा वृद्धा भवन्ति तदा धातून् मलिनीकुर्युः । अतो मलसंज्ञया आख्याता इति । (४५)

धातूनामेव सामर्थ्यं तत्सूक्ष्मांशसमाश्रितम् ।

अंशाः केचिच्छक्तिहीनास्तेषामेव मलाः स्मृताः ॥ ४६ ॥

तेषां वृद्धिः क्षयस्तेषामुत्क्रांतिर्विकृतिस्तथा ।

कार्यं धात्वाश्रयं सर्वं शारीरं तु शुभाशुभम् ॥ ४७ ॥

मूर्तवस्तुनि शरीरे धातूनां रसादीनां प्राधान्यं निर्दिशनाह । धातूनामेवेत्यादि । धातूनां रसादीनामेव सूक्ष्मांशसमाश्रितं सामर्थ्यं । शक्त्युत्कर्षस्वरूपा दोषसंज्ञाः सूक्ष्मांशा अपि रसादीनां धातूनामेव । तेषामेव धातूनामेव शक्तिहीनाः केचिदंशा मलाख्याः । तेषां धातूनां क्षयः उत्क्रांतिः विकृतिश्च तथा धातूनामेव । अतः सर्वं शुभाशुभं इष्टानिष्टं वृत्तिकरं विकृतिकरं वा शारीरं शरीरगतं कार्यं धात्वाश्रयम् । धातूनाश्रित्यैव सर्वाणि कर्माणि जायन्त इति । (४७)

वातादीन् शक्तिरूपांस्ते धारयन्त्येकतो यथा ।

शकृदादीन् शक्तिहीनान् मलाख्यान् अन्यतस्तथा ॥ ४८ ॥

दोषाणां च मलानां च नाम्नो रूपस्य धारकाः ।

कर्मणां विविधानां च रसाद्या एव धातवः ॥ ४९ ॥

होनेके कारण उनके मलोंकाभी त्रिविधत्व बतलाया जाना युक्तिसंगतही है । ४१ ॥

उक्त वर्णनसे अब यह स्पष्ट हो गया है कि कफ, पित्त व वात इन तीनोंके दोष रस, रक्त, मांस मेद अस्थि, मज्जा व शुक्र इनको धातु और शकृत्, मूत्र व स्वेद इन तीनोंको मल ऐसी संज्ञायें दी गयी हैं । ४२ ॥ ४३ ॥

इन मलोंसे सभी शारीर धातु आच्छादित व संरक्षित रहते हैं— (विशेषतः मांस व अस्थि विशिष्ट आकृतिके होनेके कारण वे तो विशेषरूपसे मलोंसे अच्छादित अतएव संरक्षित रहते हैं याने उनके ऊपर एक मलस्वरूप आवरण रहता है जिससे वे अपने अंतर्गत पचनपोषणादि कार्यके संपादनमें योग्य बने रहते हैं । इसी कारणसे पुरीषादि मलोंको शरीरके मूल (उपादान) कहा गया है । ४४ ॥

पुरीषादि मल जब अपनी मात्रासे अधिक बढ़ते हैं वे धातुओंकोभी मलिन कर देते हैं । इसलिये देहमूल होते हुएभी उनको मल संज्ञा दी गयी है । ४५ ॥

शरीरके मूर्त पदार्थोंमें रसादि धातुओंकाही प्राधान्य है । कारण इन रसा-

धारकत्वं धातुत्वं वा रसादीनामेवेति प्रतिपाद्यते । वातादीनिति । रसाद्या एव यथा एकतः एकेनांशेन शक्तिरूपान् विशिष्टसामर्थ्यसंपन्नान् वातादीन् दोषान् धारयन्ति । तथा अन्यतः अन्येनांशेन शकृदादीन् मलसंज्ञकान् धारयन्ति । नाम्नः शरीरस्य तदंगानां वा अभिधेयस्य । हस्तपादावयवविशेषाणां नामानि व्यक्तद्रव्यरूपाणां धातूनां व्यक्तरूपत्वात् रूपस्यधारका रसरक्तमांसादयः । विविधानां श्वसनपचनोत्सर्जनादीनां कर्मणां रसाद्या एव धारकाः । व्यक्तद्रव्येष्वेव कर्माणि जायन्ते व्यक्तरूपाणि । अतो रसाद्या एव धातवः धातुशब्दवाच्याः । दोषाणां, मलानां, आकृतिविशेषाणां, कर्मणां चाश्रयरूपत्वात् रसाद्या एव धातुसंज्ञया निर्देश्या इति । (४९)

शरीरमूलं सामान्यं दोषधातुमलाख्यः ।

सामान्येनोपदिष्टास्ते विशेषोऽथ विचार्यते ॥ ५० ॥

एवं सामान्यं शरीरमूलं त्रयो दोषधातुमलाः सामान्येन देहमूलत्वसामान्यत्वेन उपदिष्टा आख्याताः । अथ अनन्तरं विशेषो विचार्यते विविच्यते । (५०)

दोषधातुमलसंज्ञकास्त्रयो देहमूलमिति कीर्तितं बुधैः ।

शक्तिरूपमथ शक्तिसंयुतं शक्तिहीनमिति भिद्यते त्रिधा ॥ ५१ ॥

प्रकरणोक्तस्यार्थस्योपसंहारो यथा—

दिधातुओंकेही सूक्ष्म अंशोंमें सामर्थ्य निवास करता है । अर्थात् जिनको शक्त्युत्कर्षस्वरूप दोष कहा गया है वेभी वास्तवमें रसादि धातुओंके सूक्ष्मांशही है । इन धातुओंकेही जो कुछ शक्तिहीन याने हीनसत्त्वांश अथवा अल्पसामर्थ्यके अंश होते हैं उनको मल कहा गया है । एवं वृद्धि, क्षय, उत्क्रांति, विकृति आदि सब उन के—धातुओंकेही होते हैं । सारांश, शरीरमें जो २ कुछ शुभाशुभ, इष्ट अनिष्ट, लाभदायक या हानिकारक कार्य चलता है वह सब धातुओंका आश्रय लेकर ही चलता है । ४६ ॥ ४७ ॥

एकओर वे (रसादि धातु) शक्तिरूप वातादि दोषोंको धारण करते हैं तो दूसरी ओर शक्तिहीन शकृदादि मलोंकोभी धारण करते हैं । दोष व मलोंके समान हात, पैर, हृदय, फुफुस आदि नाम व गोल, लंबा, चौड़ा आदि रूप, श्वसन—पचन—उत्सर्जनादि कर्म इनकोभी धारक धातुही हैं । इसलिये रसरक्तादि सात धातुही धातुसंज्ञाको यथार्थतासे पात्र हैं । ४९ ॥

शरीरके मूल (उपादान) दोष—धातु—मल ये तीन हैं । उनके अवतक

बुधैः शारीरतत्त्वज्ञैः दोषधातुमलसंज्ञकास्त्रयः पदार्थाः देहमूलं कीर्तितम् । तच्च शक्ति-
रूपं शक्तियुतं शक्तिहीनं इति त्रिधा भिद्यते । सापेक्षत्वेन सामर्थ्यातिशयसंपन्नम् मध्यमसामर्थ्ययुतं
हीनसामर्थ्ययुतं च देहमूलं देहोत्पादनद्रव्यं नाम क्रमान् दोषो धातुर्मलश्चेति संज्ञया परिगणित-
मिति दोषधातुमलानां स्वरूपदर्शनं नाम द्वितीयं दर्शनम् । (५१)

सामान्य देहमूलत्वका विवरण किया । अब आगे उनके विशेषोंका विचार करना
है । ५० ॥

इसप्रकरणमें अभीतक जो विषय प्रतिपादित किया गया है उसका अब
उपसंहार करते हैं । शारीर तत्त्वज्ञोंने बतलाया है दोष-धातु-मल नामके तीन
पदार्थ शरीरके मूल (उपादान) हैं । ये मूल पदार्थ अनुक्रमसे शक्तिरूप, शक्तियुक्त
व शक्तिहीन हैं । अर्थात् सापेक्षतया अतिशय सामर्थ्यसंपन्न, मध्यम सामर्थ्य-
संपन्न, व हीन सामर्थ्यसंपन्न ऐसा जो देहमूल याने देहोत्पादक द्रव्य वही
अनुक्रमसे दोष, धातु व मल है । ५२ ॥

‘दोषधातुमलोंका स्वरूपदर्शन’ नामक द्वितीय दर्शन समाप्त ।

तृतीयं दर्शनम् ।

(स्वरूपकर्मसंज्ञाविशेषदर्शनम् ।)

पंचभूतविकारांशाः संभूताश्चेतनाश्रिताः ।

शरीरमुच्यते तस्य धातवः षड्भिरे मताः ॥ १ ॥

पृथिव्यादिपंचमहाभूतविकारोद्भवस्य दोषधातुमलमूलस्य देहस्य पांचभौतिकत्वं विशदी-
क्रियते । पंचभूतविकारांशाः इत्यादिना । पंचभूतविकारांशाः पृथिव्यपूतेजो-
वाय्वाकाशाख्यानां पंचभूतानां विकाराः द्युकादयः रसादयो गुणा वा । तेषामंशाः ।
वस्तुजातस्य पंचभूतोत्पत्तत्वेऽपि भूतविकारा एवोत्पादकाः, न स्वभावावस्थितानि परमाणुस्वरूपाणि
भूतानि । चेतनाश्रिताः चेतनासहिताः । संभूताः समुदायत्वमागताः एकीभूता इति
यावत् । शरीरमुच्यते । तस्य इमे पृथिव्यादीनि भूतानि षष्ठी चेतना चेति षड् धातवो धारकाः ।
मूलद्रव्याणीति भावः मताः आयुर्वेदीयतंत्रकारैरभिहिताः । यदुक्तं चरके पृथिव्यपूतेजोवायु-
राकाशं ब्रह्मचाव्यक्तमिति षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते । तत्र शरीरं नाम चेतना-
धिष्ठानभूतं पंचभूतविकारसमुदायात्मकमिति । (१)

स्थूलत्वं च द्रवत्वं चोष्णता विरलता तथा ।

सुषिरत्वं च चैतन्यं भावाः षट् समुदाहृताः ॥ २ ॥

तृतीयदर्शन

(स्वरूपकर्मसंज्ञाविशेषदर्शन)

अब दोषधातुमलमूल शरीरका पांचभौतिकत्व विशद करते हैं । पंचभू-
तोंके विकारांश चेतनायुक्त होकर जब संभूत होते हैं याने समुदायत्वको-एकी-
भावको प्राप्त करते हैं तब उस समुदायत्व-एकीभावको शरीर कहते हैं । इससे
स्पष्ट है कि इस शरीरके छ धातु याने धारक हैं-पृथिवी, अप्, तेज, वायु व
आकाश ये पंचभूत और छठी चेतना । अभिप्राय यह है कि ये छही शरीरके
मूल घटक द्रव्य हैं । आयुर्वेदीय ग्रंथकारोंका यही अभिप्राय है । चरकने कहा है
' पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश और अव्यक्त ब्रह्म ये छ घटक (धातु) जब
समुदित होते हैं, पुरुष संज्ञा को प्राप्त करते हैं । शरीर चेतनाधिष्ठित पंचभूत-
विकारोंके समुदायात्मक है ।' यहांपर पृथिव्यादि पंचभूतोंके विकारका निर्देश
किया जानेके कारण विकारका अर्थ विशेषतः ध्यानमें रखना चाहिये । विकारका

क्षमादीनां पंचभूतानां चेतनायाः क्रमेण वै ।

क्रमादेतेषु सूक्ष्मत्वं व्यापित्वं चोत्तरोत्तरम् ॥ ३ ॥

शक्त्युत्कर्षश्च सर्वेषां चेतनाश्रित एव सः ।

पृथिव्यादीनां भूतानां चेतनायाश्च क्रमात्स्थूलत्वादयो भावाः शरीरे भवन्ति । स्थूलत्व-
मिति घनत्वं । द्रव्यत्वं स्रवणात्मकत्वम् । उष्णता उष्णस्पर्शवत्त्वम् । विरलता सूक्ष्मत्वं ।
सुषिरत्वं क्षित्याद्यंशरहितोऽवकाशः चैतन्यं सर्वेन्द्रियाणां प्रवर्तकम् । एतेषु पंचभूतेषु तद्भावेषु च
क्रमात्सूक्ष्मत्वं व्यापित्वं शक्त्युत्कर्षश्च अधिकांशेनावतिष्ठते । किन्तु सर्वेषामपि शक्त्युत्कर्षश्चेतनाश्रित
एव स्यात् । चेतनाश्रय एव भूम्यादीनां कार्यहेतुः । यथोक्तं चरक्रेण :—तत्र पूर्वं चेतनाधातुः
सत्त्वकरणे गुणग्रहणाय प्रवर्तते । स हि हेतुः कारणमित्यादि । तथा—देहग्रहणंऽपि प्रवर्तमानः
पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान्वाध्यादीश्रुतुरः । इति (२-३॥)

स्थूलमाद्रं तथा चोष्णं द्रव्यं विरलमित्यपि ॥ ४ ॥

सोऽपिर्यमथचैतन्यमेतेषां समुदायतः ।

नामरूपान्तराः सर्वे पदार्थाः संभवन्ति हि ॥ ५ ॥

सम्भवन्त्यपि कर्माणि तेषु तज्जीवनं मतम् ।

क्रियानुरूपं सामर्थ्यं कालश्चायुरुदीरितम् ॥ ६ ॥

अर्थ है द्युकादि अथवा रसादि गुण । १ ॥

पृथिव्यादि भूतोंके एवं चेतनाके स्थूलत्वादि भाव शरीरमें इसप्रकार
होते हैं । पृथ्वीका भाव है स्थूलत्व याने घनत्व । अप् तत्त्वका भाव है द्रवत्व याने
स्रवणात्मकत्व, तेजका भाव उष्णता याने उष्णस्पर्शवत्त्व, वायुका भाव विरलता
याने सूक्ष्मत्व, आकाशका भाव सुषिरत्व (जहां पृथिव्यादि किसी भूतके अंशोंका
अभाव होता है) और चेतनका भाव है चैतन्य जो सर्व इंद्रियोंका
प्रवर्तक है । इन पंचभूतोंमेंभी सूक्ष्मत्व, व्यापित्व व शक्त्युत्कर्षसंपन्नत्वकी दृष्टिसे
विचार किया जाय तो विदित होता है कि पृथिवी, अप् तेज, वायु व आकाश
अनुक्रमसे एकसे एक अधिक श्रेष्ठ है । याने पृथिवी सबसे कम सूक्ष्म, व्यापी व
शक्तियुक्त है, उससे अधिक सूक्ष्म, व्यापी व शक्तिमान् है जल, उससे अधिक
तेज, उससे अधिक वायु व उससेभी अधिक है आकाश । किंतु इन सबका
शक्त्युत्कर्ष चेतनाश्रितही है । चेतनाके आश्रयसेही पृथिव्यादि कार्यके हेतु याने
कारण बन सकते हैं । जैसे चरकने कहा है कि 'सत्त्व (पुरुष) के निर्माण

पंचभूतांशानां शरीरारंभकाणां स्वरूपं व्यवहारसुभगया भाषया विशदीकर्तुमुच्यते ।
स्थूलमिति । स्थूलं घनं आर्द्रं द्रवमिति यावत् । उष्णं उष्णस्पर्शम् । विरलं सूक्ष्मं
 सौषिर्यं अवकाशः चैतन्यं चैतेषां समवायतः एकीभावावस्थानान् सर्वे नामरूपान्तराः
 भिन्नाभिधाना भिन्नस्वरूपाश्च । पदार्था मनुष्यपशुपक्ष्यौषधादिशब्दैरभिधीयमानाः । सम्भवन्ति ।
 तेषु पदार्थेषु विविधानि पचनपोषणोत्सर्जनादीनि कर्माण्यपि सम्भवन्ति स्थूलाद्रादिद्रव्यसमुदायत
 एव । तज्जीवनं मतम् । कर्मसंभवत्वरूपं च जीवनम् । पदार्थानामेतेषां सामर्थ्यं क्रियानुरूपं
 येन पदार्थेन या क्रिया क्रियते तद्रूपं तस्य सामर्थ्यमिति । कालः कर्मसहितमवस्थानकालः आयुः
 उद्धारितम् । पृथिव्यादिपंचभूतानां चेतनासहितानां समुदायसम्भवस्य सृष्टजातस्य कर्मवत्त्वं जीवनम् ।
 कर्मस्वरूपभेदानुसारं सामर्थ्यम् । कर्मकारित्वेनावस्थानसमयमर्यादा च आयुराख्यातमिति भावः ।
 (३॥+६)

दृश्याश्चेते पदार्थाश्च स्थूलाः सापेक्षमुच्यते ।

पार्थिवाश्चेति सर्वेषां स्थूलत्वं पार्थिवं यतः ॥ ७ ॥

दृश्या इति । एते पृथिव्यादिसमुदायसम्भवा स्थूलाः दृश्याः दृग्विषयीभूताश्च
 सर्वे पदार्थाः सापेक्षं सर्वेषां षड्धातुसमुदायसम्भवत्वेऽपि यतः स्थूलत्वं पार्थिवं पृथिव्यंशोद्भवं
 तस्मात् पार्थिवा इत्युच्यन्ते । (७)

एवं पदार्थमात्रस्य नामरूपात्मकस्य हि ।

प्रक्रियामें सर्व प्रथम चेतनाधातु गुणग्रहणको प्रवृत्त होता है इसलिये वही पहिला
 हेतु या कारण कहा गया है । जब आत्मा शरीरग्रहण करनेको प्रवृत्त होता है,
 वह पहिले आकाशमें प्रवेश करता है और क्रमसे वायु, तेज, अप् व पृथिवी
 इन चारों में । जिनके गुणभी क्रमशः अधिकाधिक व्यक्त हैं । २ ॥ ३ ॥

शरीरारंभक पंचभूतांशोंका स्वरूप अब अधिक व्यवहारसुलभ भाषामें बत-
 लाते हैं । मनुष्य, पशु, पक्षी, औषधी आदि सभी भिन्न २ रूपके
 तथा भिन्न २ नामके पदार्थोंका निर्माण स्थूल याने घन, आर्द्र याने द्रव, उष्ण
 याने जिसका स्पर्श उष्ण है ऐसा, विरल याने सूक्ष्म द्रव्य तथा सौषिर्य याने अवकाश
 और चेतना इनके समवायसे—एकीभावसे होता है । भिन्न भिन्न नामरूपके
 पदार्थोंमें पचन—पोषण—उत्सर्जनादि क्रियाओंकीभी इसीकारण (स्थूलद्रवादि
 द्रव्योंके समुदायसे) उत्पत्ति होती है । द्रव्यसमुदायमें कर्मोत्पत्ति होनेकोही
 जीवन माना गया है । इन पदार्थोंका सामर्थ्य क्रियानुरूप रहता है याने जिस
 पदार्थसे जो क्रिया होती है तद्रूपही उसका सामर्थ्य समझा जाता है । जितने

भूरधिष्ठानमित्युक्तं क्षमामधिष्ठाय जायते ॥ ८ ॥

एवमित्यादि । नामरूपात्मकस्य विविधस्वरूपातुसारं सम्प्राप्ताभिधानस्य पदार्थ-
मात्रस्य भूः पृथिवी अधिष्ठानं आश्रयः इति हेतोः 'क्षमामधिष्ठाय जायते' इत्युक्तमायुर्वेदीय-
तंत्रकृता वाग्भटाचार्येण । (८)

आकर्षकत्वं भूमेश्च विशिष्टो गुण उच्यते ।

तेनाकृष्टाः स्युरधिका भूतांशाः पार्थिवेषु हि ॥ ९ ॥

भूयस्त्वात्परमाणूनां स्थूलत्वमुपजायते ।

आकर्षकत्वमिति । भूमेर्विशिष्टो गुण आकर्षकत्वम् उच्यते । गंधवती
पृथ्वी इति द्रव्यविद्विस्तु पृथिव्या गंधो गुण आख्यातः । आयुर्वेदीयैरपि पार्थिवद्रव्याणां गंध-
गुणोल्बणत्वमेव प्रतिपादितम् । यथा—गुरुखरकठिनमंदस्थिरविशदसांद्रस्थूलगंधगुणबहुलानि
पार्थिवानि । इति चरकसंहितायाम् । तत्र स्थूलसरसांद्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धबहुलमापत्कपा-
यम् प्रायशो मधुरमिति पार्थिवम् । इति सुश्रुतसंहितायाम् । तत्र द्रव्यं गुरु स्थूलं स्थिरं गन्ध-
गुणोल्बणम् । पार्थिवम् । इत्यष्टाङ्गहृदये । तत्कथं बोधयते भूमेराकर्षकत्वगुणाख्यानमिति ।
पार्थिवानि द्रव्याणि संघातोपचयकराणीत्यायुर्वेदीयतंत्रकृद्भिरुपदिष्टम् । यथा—तान्युपचयसंघात-
गौरवस्थैर्यकराणीति चरकः । तत्स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरमिति सुश्रुतः । पार्थिवं गौरवस्थैर्यसंघा-
तोपचयावहमिति च वाग्भटः । ब्रह्मसंख्याकानां परमाणूनां संहतीभावः संघातः । संघाताच्चोपचयो-

समयतक यह कर्मसामर्थ्य कायम रहता है उस कालकोही आयु कहते हैं ।
सारांश, चेतनासहित पंचभूतोंके समुदायसे उत्पन्न प्रत्येक सृष्टपदार्थके कर्मवत्त्वको
ही जीवित कहते हैं । भिन्नकर्मस्वरूपके अनुसार सामर्थ्यभिन्नत्वभी रहता है ।
कर्मकारित्वकी जो कालमर्यादा उसीको आयु कहते हैं । ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

पृथिव्यादिपंचभूतविकारसमुदायसे निर्मित इन पदार्थोंमें जो दृश्य व स्थूल
पदार्थ होते हैं उनको सापेक्षतया पार्थिव पदार्थ कहा जाता है । सापेक्षतया कह-
नेका कारण यह है कि यद्यपि सभी पदार्थ पंचभूतसमुदायसे बनते हैं, जिन पदा-
र्थोंमें पृथिवीके अंशोंकी अधिकता है वेही पार्थिव कहलाये जाते हैं । कारण
स्थूलत्व पार्थिव है याने वह पृथिवीके अंशोंसे उत्पन्न होता है । ७ ॥

इसप्रकार नामरूपात्मक प्रत्येक पदार्थका अधिष्ठान याने आश्रयस्थान
पृथिवीही है । वाग्भटने 'पृथ्वीका आश्रय लेकर ही वस्तुमात्रकी उत्पत्ति
बतलायी है । ८ ॥

आकर्षकत्व यह पृथ्वीका विशिष्ट गुण बतलाया गया है । उससे अन्यान्य

भवति । एवमणूनां संघातोऽयमाकर्षणं विना न स्यात् । समाकर्षितानामेव संघातसम्भवो नेतरेषाम् । संघातोपचयादीनां कार्यस्वरूपेणावस्थितानां गुणानां हेतुर्गुणः प्रधानो गंधो नामाख्यातः । स च संघातोपचयादीनां हेतुत्वादा^{०२}र्कणार्थेनेत्युक्तं समुचितम् । गंधार्थो ह्याकर्षणार्थ इति । तेन आकर्षकत्वेन इतरद्रव्यापेक्षया अधिका भूतांशाः भूतविकारांशाः पार्थिवेषु द्रव्येषु भवन्ति । परमाणूनां भूयस्त्वात् अधिकत्वाच्च स्थूलत्वमुपजायते । (९॥)

पार्थिवेषु यदाधिक्यमम्भसां सम्प्रजायते ॥ १० ॥

इतरेभ्यस्तदा तेषु द्रवत्वमुपजायते ।

तेजसश्चाधिकांशत्वात् द्रव्यमुष्णं तथा लघु ॥ ११ ॥

वाताधिक्याच्च तथा सौक्ष्म्यं लघुत्वमुपजायते ।

सुषिरत्वं तथाकाशाद्विरलत्वं हि जायते ॥ १२ ॥

पार्थिवेष्विति पार्थिवांशाधिक्यात्पार्थिवानीत्याख्यातेषु द्रव्येषु । यदा इतरेभ्यः तेजो वाय्वाकाशेभ्यः अम्भसां आप्याणूनां आधिक्यं तदा द्रवत्वं उपजायते । तेजसः तेजसां-शानामधिकांशत्वात् द्रव्यमुष्णं लघु च भवति । वाताधिक्याच्च द्रव्येषु सौक्ष्म्यं लघुत्वं चोप-जायते आकाशादधिकान् सुषिरत्वं विरलत्वं च । आकाशेतराणां न्यूनाधिक्यानुसारेणैव न्यूना-धिकत्वमाकाशस्य । नह्यकाशः स्वयं न्यूनाधिक्यत्वं याति नित्यत्वात् । (१०॥ + १२)

भौमा एव पदार्थाः स्युस्तेषु स्थौल्यादिकं खलु ।

भूतांश पृथ्वीकी ओरही आकृष्ट होते हैं । उनमें पृथिवीके परमाणुओंका प्रमाण अधिक होनेके कारण स्थूलत्व उत्पन्न होता है ।

यहांपर शंका उत्पन्न होती है कि, पृथिवीका गुण शास्त्रकारोंने गंधवस्त्वतलाया है । फिर यहां आकर्षकत्व क्यों कहा गया ? आयुर्वेदीयोंने पार्थिव-द्रव्योंका गंधगुणोल्बणत्वही प्रतिपादन किया है । जैसे चरकसंहितामें कहा है ' पार्थिव द्रव्ये गुरु, खर, कठिन, मंद, स्थिर, विशद, सांद्र, स्थूल व गंध-गुणप्रधान होता है । ' सुश्रुतसंहितामें कहा है ' पार्थिव द्रव्य स्थूल सर, सांद्र, मंद, स्थिर, गुरु, कठिन, गंधबहुल किंचित् कषाय व प्रायशः मधुर होता है । अष्टांगहृदयमेंभी कहा है ' पार्थिव द्रव्य गुरु, स्थूल, स्थिर व गंधगुणोल्बण होता है । ' ऐसी अवस्थामें पृथिवीका आकर्षकत्व गुण कहांसे आया ? उक्त शंकाका समाधान इसप्रकार है । आयुर्वेदीय ग्रंथकारोंनेही कहा है कि, पार्थिव द्रव्य संघातोपचयकर है । जैसे, चरक कहता है वह उपचय संघात, गौरव व स्थैर्यको करता है । ' सुश्रुत कहता है ' वह (पार्थिव द्रव्य) बल,

अंशाधिक्याद्धि भूतानां जायते तद्यथायथम् ॥ १३ ॥

आधिक्यस्यावबोधाय तत्तन्नाम्नोपदिश्यते ।

भौमा एव इति । सर्वे पदार्था भौमाः पार्थिवाः । तेषु स्थौल्यादिकं स्थूल-
त्वद्रवत्वादि गुणवैशिष्ट्यं । भूतानां पृथिव्यादीनां अंशाधिक्याज्जायते । आधिक्यस्य
भूतांशानां अधिकत्वस्य अवबोधाय तत्तन्नाम्ना पृथिव्यादि भूतानाम् । उपदिश्यते । पार्थिव
मिदमाप्यमिदं तैजसमिदमित्यादि व्यवहियते । सृष्टवस्तूनां स्थौल्यादिना सर्वेषां पार्थिवत्वसंगी-
कृत्य तेष्वेव अवादीनामाधिक्यात्संभाव्यानां द्रवत्वादिगुणानामनुसारेण निर्देशः क्रियते आप्या-
दिभिरभिधेयविशेषैरिति भावः । (१३ ॥)

सर्वे मूर्तत्वमापन्नाः पदार्थाः सन्ति पार्थिवाः ॥ १४ ॥

साकारत्वं घनत्वं च पार्थिवांशेऽवतिष्ठते ।

उक्तार्थमेव विशदीकुर्वन्नाह । सर्वे मूर्तत्वमित्यादि विशिष्टाकृतिस्वरूपेणाभि-
व्यक्तिमापन्नाः सर्वेऽपि पदार्थाः पार्थिवाः पार्थिवांशभूयिष्ठाः सन्ति । यतः साकारत्वं
आकृतिमत्त्वं । घनत्वं स्थूलत्वं च पार्थिवांशेऽवतिष्ठते । अतएवोक्तं पार्थिवं द्रव्यं संघातोपचया
बहमिति । आप्यतैजसोर्दृश्यत्वेऽपि विशिष्टाकृतिमत्त्वं नास्ति । (१४ ॥)

पदार्थानामुपादानं चैतन्यं भूतपञ्चकम् ॥ १५ ॥

चेतनाऽद्या प्रेरिका स्यादंशस्तु परमात्मनः ।

गौरव, व स्थैर्यकर है । ' वाग्भट कहता है ' पार्थिव द्रव्य गौरव स्थैर्य संघात
व उपचयावह है । ' संघातका अर्थ है बहुसंख्याक परमाणुओंका संहतीभाव—
एकीभाव । इन संघातोंसेही उपचय होता है । एवं, अणुओंका यह संघात
आकर्षणके बिना नहीं हो सकता । जो परमाणु एकत्र आकर्षित हो जाते हैं
उन्हींका संघात हो सकता है । और जो एकत्र आकर्षित नहीं होते उनका
संघातभी नहीं होता । इन संघात व उपचयादि कार्यस्वरूपमें रहनेवाले गुणोंका
प्रधान कारण गुण है गंध । वही संघात-उपचयादिका कारण होनेसे गंध-
शब्दका प्रयोग आकर्षणके अर्थसेही समुचित है । अतः गंधकाही अर्थ
आकर्षकत्व समझना चाहिये । अर्थात् पृथिवीका गुण आकर्षण बतलाना शास्त्र-
विरुद्ध नहीं है । ९ ॥

पार्थिव द्रव्योंमें जब तेज, वायु व आकाशकी अपेक्षा आप्य अणुओंका
जलतत्वके अणुओंका आधिक्य हो जाता है, द्रवत्वका निर्माण होता है ।
तेजका आधिक्य होनेसे द्रव्य उष्ण व लघु बनता है वायुका आधिक्य होनेसे

तत्प्रेरितास्तु भूतांशाः संभूयन्ते परस्परम् ॥ १६ ॥

चेतनाया भूतपंचकस्य च पदार्थोत्पादकत्वं विवेचयति । पदार्थानामिति । कार्यरूपाणां विविधात्मनां पदार्थानां चैतन्यं भूतपंचकं चोपादानम् । तेषु चेतना आद्या प्रधाना प्रेरिका कर्मप्रवृत्तिकारिणी । सा च परमात्मनोऽंशः । यत उक्तं चरकेण । चेतनावान्यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते । इति । तत्प्रेरिताः चेतनाप्रेरिताः भूतांशाः परस्परं संभूयन्ते । चेतनाभावान् न भूतांशसमुदायः न चोत्पत्तिः शरीरस्य न च वोत्पन्नस्य क्रियाकारित्वेनावस्थितिः । चेतनाविर्योगात् प्रयत्नादीनां जीवमानलिंगानामप्यभावः । यथोक्तं चरके—“ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः । बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः । यस्मात्समुपलभ्यन्ते लिंगान्येनाति जीवतः । न मृतस्याऽमलिंगानि तस्मादाहुर्महर्षयः । शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् । पंचभूतावशेषत्वात्पंचत्वं गतमुच्यते । इति । (१५-१६)

अवकाशस्वरूपेण खं भूतेष्ववतिष्ठते ।

तद्विभुत्वाच्च नित्यत्वादविभाज्यं भवेत्सदा ॥ १७ ॥

शरीरे चेतनायाः प्राधान्यमभिधायितराणां भूतानां संबन्धं दर्शनञ्चाह । अवकाशस्वरूपेणेति । भूतेषु मध्ये खं आकाश अवकाशस्वरूपेण स्थूलसूक्ष्माणुरहितस्थानस्वरूपेण अवतिष्ठते । तच्च विभुत्वात् व्यापित्वात् । नित्यत्वात् सर्वकालं स्वभाववस्थानत्वात् । सदा सर्वकालं । अविभाज्यम् । न चास्य विभागाः संजायन्ते । (१७)

द्रव्यमें सूक्ष्मत्व व लघुत्व पैदा होता है, और आकाशकें आधिक्यसे सुषिरत्व व विरलत्वका निर्माण होता है । आकाशेतर अन्य भूतोंके न्यूनाधिकत्वसे आकाशकाभी न्यूनाधिकत्व होता है । आकाश नित्य होनेके कारण स्वयं न्यूनाधिक नहीं होता । १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

उक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि, सर्व पदार्थ तत्त्वतः पार्थिव हैं, उनमें स्थूलत्व, द्रवत्व आदि विशिष्ट गुण भूतोंके अंशाधिक्यसे उत्पन्न होते हैं । भूतांशोंके आधिक्यका बोध करा देनेके लियेही पदार्थ भूतोंके नामसे जाने जाते हैं जैसे, अमुक पदार्थ पार्थिव है, अमुक आप्य, अमुक तेजस आदि । सब सृष्ट वस्तुओंके स्थौल्यदिरूपेण पार्थिवत्वका स्वीकार करते हुएभी उन्ही वस्तुओंमें (अप् तत्त्वादि) भूतोंके अंशोंके आधिक्यसे जो द्रवत्वादि गुण उत्पन्न होते हैं उनकाभी उन भूतोंके अनुसारही निर्देश किया जाता है जैसे पार्थिवगुण, आप्यगुण, तेजसगुण इत्यादि । १३ ॥

मूर्तत्वको प्राप्त (जिनको कुछ विशिष्ट आकार है) सभी पदार्थ पार्थिव

भूम्यंबुतेजोवायूनां चतुर्णां परमाणवः ।

तिष्ठंत्याकाशावकाशे तत्र भूतचतुष्टये ॥ १८ ॥

भूमिरापश्चेति भूतद्वयं स्थूलमुदाहृतम् ।

तेजो वायुश्चेति भूतद्वयं सूक्ष्ममुदीरितम् ॥ १९ ॥

अद्भ्यः स्थूलतरा पृथ्वी वायुः सूक्ष्मस्तु तेजसः ।

स्थूलद्रव्यस्वरूपा भूराख्याताऽधाररूपिणी ॥ २० ॥

भूम्यंबुतेजोवायूनामिति पृथिव्यप्तेजोवायूनां चतुर्णां भूतानां परमाणवः सूक्ष्मांशा इति यावत् । आकाशावकाशे आकाशरूपेऽवकाशे । तत्र भूतचतुष्टये भूमिः आपश्चेति द्वयं स्थूलं सापेक्षतया । तेजो वायुश्च सूक्ष्मं भूम्यंबुतोः । स्थूलद्रव्येऽपि अद्भ्यः पृथिवी-स्थूलतरा । सूक्ष्मभूतद्वयेऽपि वायुस्तेजसः सूक्ष्म इति तारतम्यम् । भूतचतुष्टये स्थूलद्रव्यस्वरूपा भूः सर्वेषां पंचभूतांशसमुदायोद्भवानां पदार्थानामाधाररूपिणीति सुविशदम् । (१८-२०)

स्थैर्यं संघातकारित्वं स्यादस्याः प्रमुखो गुणः ।

पृथ्वी गंधवतीत्यासीद्भूतज्ञैरुपवर्णितः ॥ २१ ॥

स्थैर्यमित्यचलत्वं । स्थैर्याभावे संघातस्याप्यभाव इति । समाकर्षणादितरेषामाकर्षण-करस्य स्थैर्यमवश्यम् । स्वयमस्थिरो न कदाचिदितराकर्षणसमर्थो भवेदिति । संघातकारित्वं

है याने पार्थिवांशभूयिष्ठ है (उनमें पार्थिवांशोंकी अधिकता है । कारण साकारत्व व घनत्व याने स्थूलत्व पार्थिव अंशमेंही रहता है इसीलिये कहा है कि पार्थिव द्रव्यही संघात व उपचयावह है । आप्य व तैजसद्रव्य दृश्य होते हुएभी उनका कोई विशिष्ट आकार नहीं रहता । ॥ १४ ॥

पंचभूत व चेतना येही विविध नामरूपके कार्यशाली पदार्थोंका उपादान (मूलकारण) हैं । उनमें (पंचभूत व चेतना इनमें) मुख्य प्रेरिका (कर्मवृत्ति-कारिणी) जो चेतना वह परमात्माका अंश है । कारण चरकने कहा है । ‘ आत्मा चेतनावान् होनेके कारण उसको कर्ता कहते हैं । ’ इस चेतनासे प्रेरित पंचभूतोंके अंश परस्परमें मिल जाते हैं । चेतना नामके परमात्माके इस अंशके अभावमें न तो भूतांशोंका समुदाय हो सकता, न शरीरकी उत्पत्ति हो सकती और न उत्पन्न पदार्थोंमें क्रियाकारित्वका निर्माण हो सकता । प्रयत्न, क्रिया आदि जीवित अवस्थाके जो चिन्ह हैं उनकाभी, चेतनाका यदि अभाव हो जाय, अभावही हो जाता है । जैसा चरकने कहा है ‘ इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति,

संघस्वरूपोत्पादकत्वम् । अस्याः भूमेः प्रमुखः प्रधानो गुणः । स च भूतज्ञैः पञ्चभूततत्त्वज्ञैः ।
' पृथ्वी गन्धवती ' एवं लक्षणोपदेशादुपवर्णितः । (२१)

वायुः सूक्ष्मतरोऽदृश्यः कर्मकृत्प्रमुखः स्मृतः ।

तस्यासीद्वर्णनं शास्त्रे स्याद्वायुः स्पर्शवानिति ॥ २२ ॥

वायुरिति भूतचतुष्टये सूक्ष्मतरो वायुः सच अदृश्यः दृग्विषयो न भवतीत्येवंविधः ।
रूपरहितः स्पर्शवान् वायुरिति । सः प्रमुखः कर्मकृत् । यदाह चरकः “ वायुस्तत्रयंत्रधरः प्रवर्तक-
श्रेष्ठानामुच्चावचानामिति ” । तस्य वायोः सर्वकर्मकरस्य वर्णनं शास्त्रे भूतविज्ञाने न्यायाधामि-
धाने वायुः स्पर्शवानित्यस्ति । उत्क्षेपणापक्षेपणादिकानामुच्चावचानां चेतानां प्रवर्तको वायुः
कर्माणीमानि परमाणुगणस्य परस्परसंस्पर्शात्करोतीति चलत्वमनुचित्यमास्मिन् वर्णनं इति । (२२)

कर्मणां विविधानां हि स्वरूपं चलनात्मता ।

उत्क्षेपणमपक्षेपः प्रसराकुंचने तथा ॥ २३ ॥

गतिश्चैवं पञ्चविधं कर्म स्याच्चलनात्मकम् ।

कर्मणामिति विविधानां कर्मणां चलनात्मता स्वरूपम् । उत्क्षेपणम् । ऊर्ध्वक्षेपणम् ।
अपक्षेपः अपक्षेपणमधः क्षेपणम् । प्रसरः प्रसरणं पुरः क्षेपणम् । आकुंचनं आकर्षणम् ।
गतिः स्थलान्तरम् । इति पञ्चविधं चलनात्मकं कर्म स्यात् । सर्वेषां कर्मणां पञ्चविधे चलनेऽन्तर्भावः
इति । (२३ ॥)

बुद्धि स्मृति व अहंकार ये सब परमात्माके लिंग याने चिन्ह हैं । चूंकी, जीवित
अवस्थामेंही ये सब चिन्ह उपलब्ध होते हैं और मृतशरीरमें आत्माके कोई लक्षण
नही रहते । महर्षिओंने कहा है कि आत्माके चले जानेकेबाद शून्यगृहके समान
शरीरभी अचेतन हो जाता है । और उसमें केवल पञ्चभूतही शेष रहजाते हैं ।
इसीलिये कहते हैं वह अब पञ्चत्वको गया है । ' १५+१६॥

इसप्रकार शरीरमें चेतनाका प्राधान्य प्रतिपादन कर अब अन्य भूतोंका
संबंध दर्शाते हैं । भूतोंमें आकाश अवकाशरूपसे रहता है । इसका अर्थ यह है ।
स्थूल या सूक्ष्म भूतपरमाणुरहित जितनी जगह होगी उसको आकाश समझना
चाहिये । आकाश विभु याने व्यापी और नित्य होनेके कारण सर्वदा अविभाज्य
रहता है-उसके विभाग नही किये जा सकते । १७ ॥

आकाशके अवकाशमें पृथ्वी, अप्, तेज, व वायु इन चार भूतोंके परमाणु
(सूक्ष्म अंश) रहते हैं । इन चार भूतोंमेंसे पृथ्वी व अप् ये दो तेज व वायुकी
अपेक्षा स्थूल हैं और पृथिवी व अप्की अपेक्षा तेज व वायु सूक्ष्म हैं । पृथिवी

स्थिरा द्रव्यस्वरूपाश्च पार्थिवाः परमाणवः ॥२४॥

चलाः कर्मस्वरूपाश्च वायव्यास्तु तथाऽणवः ॥

पार्थिवादीनां चतुर्णां भूतविकारांशानां स्वरूपविशेषं दर्शयति । स्थिरा इत्यादिना । पार्थिवाः परमाणवः स्थिरा द्रव्यस्वरूपास्तथा वायव्याश्चला कर्मस्वरूपाश्चेति । ननु पृथिव्यप्तेजो-वायूनां द्रव्यत्वेनोपदेशे कथं द्रव्यकर्मस्वरूपो विभाग उपपद्यत इति । उच्यते । वायुस्तत्रयंत्रधरः प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानामिति कर्मकरत्वं वायोराख्यातम् । चलनात्मकं चोत्क्षेपणार्कषणादिस्वरूपं कर्म । कस्य वा एतदाकुंचनार्कषणादिकमिति विचार्यमाणे संघातोपचयादिसाधनानां पार्थिवाणूनामिति पार्थिवाश्चाकृत्याः आकर्षकाश्च वायव्याः परमाणव इति संज्ञच्छते । ततश्च कर्मकराणां वायव्यानामणूनां चलत्वभावानां क्रियाकरत्वेनोद्देशः पार्थिवानां चार्कषणादिकर्माश्रयभूतानां स्थिराणां द्रव्यत्वेनेति सापेक्षं व्यवहारसौकर्यार्थं स्वरूपविशेषावबोधार्थं परिकल्पितोऽयं विभागः पंचभूतविकारोद्भूतपदार्थानुसारेण न स्वभावानुरोधादिति शास्त्रीयोपदेशे विरोधो न वाच्यः । घनसंघातस्वरूपाणां पदार्थानां पार्थिवाणुसमुदायादेवाभिव्यक्तिः पार्थिवांशभूयिष्ठा एव सर्वे संघातरूपिणः पदार्था इति समुदायावस्थितानां केषांचन विश्लेषणात् न्हासो वृद्धिर्वा पदार्थानां । विश्लेषणं वियोग इति । वियुक्तानामणूनां पुनः समुदायात्पदार्थान्तरप्रादुर्भावः पूर्वपदार्थाद्विमुक्तानां समाकर्षणं पार्थिवाणूनां स्थिरत्वादाकर्षकत्वाच्च भवतीति आकर्षकत्वमेतेषां गुणः । पूर्वपदार्थान्तर्गता एव आकृत्यमाणाश्चोत्तरपदार्थत्वेन समुदायस्वरूपमाप्नुवन्ति । इत्याकृत्याः परमाणवोऽपि पार्थिवा एव । वायोर्वियोगकारित्वेऽपि वियु-

व अप् इन दोनोंमेंभी अप्से पृथिवी स्थूल है और तेज व वायु इन दोनोंमें तेजसे वायु सूक्ष्म है । भूतचतुष्टयमें स्थूलद्रव्यस्वरूपा पृथिवी पंचभूतांशसमुदाय जन्य सर्व पदार्थोंकी आधार है । १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

स्थिरत्व व आकर्षकता यह पृथिवीका प्रमुख गुण है । जो वस्तु दूसरेका आकर्षण करती हो उसका स्वयं स्थिर-अचल होना अवश्य है । कारण कोईभी स्वयं अस्थिर वस्तु दूसरे वस्तुको अपनी ओर खींच नहीं सकती । पृथिवीके इसी गुणका 'पृथ्वी गंधवती' इस लक्षणमें पंचभूततत्त्वज्ञोंने वर्णन किया है । २१ ॥

भूतचतुष्टयमें वायु अदृश्य व सबसे सूक्ष्म है । वह नेत्रगोचर नहीं है । 'रूपरहितःस्पर्शवान् वायुः' इस लक्षणमेंभी उसका रूपरहितत्व बतलाया गया है । वायु ही सर्व प्रकारके कर्म करता है । चरकनेभी कहा है कि, वायु तंत्रयंत्रका धारक और सर्व प्रकारके चेष्टाओंका प्रवर्तक है । 'न्यायशास्त्रमें याने पदार्थविज्ञान (भूतविज्ञान) शास्त्रमें भी वायुका स्पर्श तत्व बतलाया गया है । उत्क्षेपण अपक्षेपण आदि चेष्टाओंका प्रवर्तक वायुही परमाणुगणोंमें परस्परसंस्पर्शसे

क्तानां पुनः समाकर्षणं पार्थिवमिति स्थिराणामाकृष्यत्वमविरुद्धम् । (२४ ॥)

द्रव्यं स्याद्वतिरूपं च स्थितिरूपमिति द्विधा ॥ २५ ॥

द्विधा वा द्रव्यरूपेण कर्मरूपेण भिद्यते ।

उक्तार्थमेव प्रकरान्तरेण स्फुटीकुर्वन्नाह । **द्रव्यमित्यादि** । द्रव्यं नाम पंचभूतविकारांश-समुदायसम्भवं सृष्टवस्तुजातम् । **गतिरूपं** चलस्वरूपम् । **स्थितिरूपं** स्थिरस्वरूपम् । अथवा द्रव्यरूपेण कर्मरूपेण चेति द्विधा विभज्यते । द्विप्रकारः समासतः सृष्टवस्तुसमुदाय इति । 'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यन्' । इतिलक्षणात् द्रव्यकर्मणां नित्यसंबन्धेऽपि भूतविकारसमुदायस्वरूपेषु पदार्थेषु सापेक्षत्वेन केचिदंशाश्रयाः केचिच्च स्थिराः । चलस्वरूपत्वात् केचित् कर्मरूपाः कर्मकर्तारो विशेषेण । केचिच्च स्थिरत्वात्कर्माश्रयत्वात् द्रव्यरूपा इति व्यवहारसौकर्यार्थं परिकल्पितो विभागः । चेतनाधिष्ठानभूतं पंचभूतविकारसमुदायात्मकं शरीरपदार्थमभिप्रेत्येयं पार्थिवादीनां विकाराणां विभागकल्पना न पृथिव्यादीनां द्रव्याणामित्यनुस्मर्तव्यमस्मिन्निति । (२५)

संभूयमानाश्चैकत्र पार्थिवाः परमाणवः ॥ २६ ॥

प्रव्यक्तरूपे तिष्ठन्ति मूर्तत्वमुपयान्ति च ।

मूर्तभावं प्रपन्नानां पदार्थानां यदाऽणवः ॥ २७ ॥

विसृज्यन्ते विनाशः स्यादमूर्तत्वं हि तस्मृतम् ।

चलत्व उत्पन्न करता है । २२ ॥

अन्यान्य कर्मोका स्वरूप चलनात्मकता यह एकही है । १ उक्षेपण याने ऊपर फेंकना २ अपक्षेपण याने नीचे फेंकना ३ प्रसर याने सामने फैलना ४ आकुंचन याने आकर्षण करना ५ गति याने स्थलांतर । इन पाँचों प्रकारके कर्मोमें चलनात्मकत्वही है । सभी कर्मोका इस पंचविध चलनमेंही अंतर्भाव होता है । २३ ॥

पार्थिव परमाणु स्थिर व द्रव्यस्वरूप रहते हैं और वायुके परमाणु चल व कर्मस्वरूप । यहां शंका यह लीजासकती है कि पृथिवी, अप्, तेज, वायुका द्रव्यके नाम वर्णन किया गया है । अब फिर उनके द्रव्यस्वरूप परमाणु व कर्मस्वरूप परमाणु यह भेद कैसा युक्त होगा ? शंकाका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि, 'वायु तंत्रयंत्रधर है, चेष्टाओंका प्रवर्तक है' इत्यादि वचनोंमें वायुका कर्मकरत्वही प्रतिपादित है, उक्षेपण अपेक्षपण इत्यादि स्वरूपका कर्म चलनात्मक है । आकुंचन-आकर्षण आदि चलन किसका होता है ?

संभूयमाना इति । पार्थिवाः परमाणवः विकारसमुदायविवेचनस्य प्रकृ-
तत्वात् परमसूक्ष्माः पृथिवीविकारांशाः । न नित्यस्वरूपाः परमाणवः । एकत्र संभूयमानाः
समूहावस्थां गताः सन्तः प्रव्यक्तरूपे दृश्यस्वरूपे तिष्ठन्ति । मूर्तत्वं विशिष्टाकृतिमत्त्वं उपयान्ति
प्राप्नुवन्ति । एवं मूर्तभावं प्रपन्नानां पदार्थानामणवः यदा विस्तृत्यन्ते परस्परालिंगनाद्विमुक्ता
भवन्ति । तदा पदार्थानां विनाशः विशिष्टाकारत्वेऽदर्शनं स्यात् । तदेवामूर्तत्वं अव्यक्तिमत्त्वं-
स्मृतमाख्यातम् । (२६॥-२७॥)

संग्रहात्परमाणूनामुत्पत्तिर्वृद्धिरेव च ॥ २८ ॥

तेषां वियोगाद्भवति विनाशो न्हास इत्यपि ।

संग्रहादिति । परमाणूनां सूक्ष्माणां भूतविकारांशानां संग्रहात् सम्यक् ग्रहः
आकर्षणं तस्मात् परस्पराकर्षणादिति भावः उत्पत्तिः विशिष्टरूपेणामिव्यक्तिः । वृद्धिः उसन्ना-
नामाकाराभिवर्धनम् । तथा च तेषां परमाणूनां वियोगात् विशेषात् विनाशः अव्यक्तत्वाद-
दर्शनम् न्हासः स्वाकारे न्हस्वत्वं । क्षीणत्वं वा भवेत् । (२८॥)

संग्रहः स्यात्समाकर्षात्पार्थिवोऽयं गुणः स्मृतः ॥ २९ ॥

अपकर्षाद्वियोगः स्याद्वायव्योऽयं गुणः स्मृतः ।

संग्रह इति । संघातरूपः संग्रहः समाकर्षात् संश्लेषात् स्यात् । संश्लेषकगुणोऽयं
पार्थिवः स्मृतः पूर्वमुपदिष्टः । अपकर्षात् उत्सर्गात् पदार्थगतानामणूनां वियोगः पृथग्भावः ।

इसका विचार करनेपर विदित होता है कि, संघातोपचयादिके साधनभूत जो
पृथिवीके परमाणु वेही आकृष्य हैं और आकर्षण करनेवाले हैं वायुके परमाणु ।
इसलिये चलस्वभावके कर्म करनेवाले वायुके परमाणुओंका—क्रियाकरत्व अभिप्रेत
है । पार्थिव परमाणुओंका—जो स्थिर हैं और जो आकर्षणादि कर्मके आश्रयभूत
हैं—द्रव्यत्व उल्लेखित किया गया है । यह विभाग व्यवहार सुकरताके लिये
तथा विशेषस्वरूपका बोध होनेके लिये माना गया है । पंचभूतविकारोंसे उद्-
भूत पदार्थोंके अंशानुसार यह विभाग परिकल्पित है, न स्वभावानुरोधसे इस-
लिये शास्त्रवचनोंमें विरोध नहीं आता । घनसंघातस्वरूप पदार्थोंकी पार्थिव
अणुसमुदायोंद्वाराही अभिव्यक्ति होती है । सभी संघातरूप पदार्थोंमें पार्थिव
अणुओंकीही अधिकता रहती है । समुदायकी स्थित अवस्थामें इन्हींमेंसे कुछ पर-
माणुओंके विश्लेषणके कारण पदार्थोंका न्हास वा वृद्धि होती है और विश्लेषण
अथवा वियोगकी क्रियाका कर्ता होता है वायु । इस वियुक्त—परस्परसे छूटे हुए
अणुओंकाही पुनः समुदाय होकर अन्य पदार्थकी उत्पत्ति होती है । पूर्व पदार्थ-

अपकर्षकगुणोऽयं वायव्य इति । आकर्षणमपकर्षणं चेति चलनात्मकत्वाद्वायव्यायमपि सहावस्थितानां संश्लेषात्संधीभावहेतुर्गुणः पार्थिवः । संश्लेषणाभावात्समीपावस्थितानामपि संघातो न भवेत् न च वा संधीभावानुगतानां पदार्थानामभिव्यक्तिः । (२९॥)

पदार्थानां समुत्पत्तिविनाशौ भवतः क्रमात् ॥ ३० ॥

रसीभवन्ति संभूताः प्रथमं परमाणवः ।

तेषां मूर्तत्वनाशः स्याद्द्रवरूपं प्रजायते ॥ ३१ ॥

द्रवरूपमणूनां तद्रसनाम्नाऽभिधीयते ।

रसो नाम हि मूर्तानां द्रवरूपे विलीनता ॥ ३२ ॥

पंचभूतविकारांशानां संग्रहाद्विसर्गाच्च पदार्थानामुत्पत्तिविनाशकं दर्शयितुमाह । पदार्थानामित्यादि । नामरूपान्तराणां पदार्थानामुत्पत्तिः विनाशश्च क्रमात् भवतः । न यौगपद्यात् । कर्म दर्शयति । रसीभवन्तीति । संभूताः सम्मिलिताः । न एकरूपतां गताः । रसीभावानन्तरमेव संघातोत्पादनात् । परमाणवः प्रथमं रसीभवन्ति विलीयन्ते । रसनात् मूर्तत्वनाशः द्रवरूपं च जायते । तदणूनां द्रवरूपं रसनाम्ना व्यपदिश्यते । यतो मूर्तानां द्रवरूपे विलीनता अव्यक्तरूपेणावस्थानं रसो नाम । (३०॥-३२)

ततो विभाजनं तस्मिन् पृथक्करणमित्यपि ।

भवेत्पचनत्रनाम्नाऽपि तच्छास्त्रे परिकीर्त्यते ॥ ३३ ॥

मेसे वियुक्त अणु पुनश्च समाकर्षित होते हैं इसका कारणही यह है कि पार्थिव अणुओंमें स्वाभाविक स्थिरत्व व आकर्षकत्व ये गुण रहते हैं और वे अधिक समयतक वियुक्त अणुओंको आस्थिर व असंगठित अवस्थामें नहीं रहने देते । वियुक्त परमाणु अपने स्वाभाविक गुणसे पुनश्च एकत्र आकर संधीभूत होने लगते हैं और अन्य पदार्थ इसी प्रक्रियामेंसे उत्पन्न होने लगता है । इस प्रकार अपने स्वाभाविक गुणसे पार्थिव परमाणुही आकृष्य व आकर्षक बनते हैं । वायुद्वारा वियुक्त होते हुएभी वियुक्त परमाणु अपने स्वाभाविक आकर्षण गुणसे एकत्र आने लगते हैं और स्थिरत्व गुणसे संधीभूत होकर पदार्थांतरोत्पत्ति करते हैं । इसप्रकार पार्थिव अणुओंकाही आकृष्य व आकर्षक होना परस्पर विरुद्ध नहीं है । २४ ॥

उक्तार्थकोही अब अन्य प्रकारसे स्पष्ट करते हैं । द्रव्य (यहांपर द्रव्य शब्दसे पंचभूतविकारसमुदायोत्पन्न पदार्थ अभिप्रेत है ।) दो प्रकारका होता है—एक स्थितिरूप और दूसरा गतिरूप । स्थितिरूप का अर्थ है स्थिर-स्वरूप और गतिरूपका चलस्वरूप । अथवा द्रव्यरूप और कर्मरूप ऐसेभी दो

तत इति रसीभावानन्तरं । तस्मिन् रसरूपे विभाजनं पृथक्करणमित्यपि वा । विभाजनं पृथक्करणमिति परस्परं पर्यायवाचकविति । पृथक्करणमेतच्छब्दे पचननाम्नाऽपि परिकीर्त्यते । (३३)

पृथग्भूताः केचिदंशाः समाना गुणकर्मभिः ।

संभूयन्ते पुनस्तेभ्यः पदार्थान्तरसंभवः ॥ ३४ ॥

पृथग्भूता इति । पचनात् पृथग्भूता गुणकर्मभिः समानाश्च केचिदंशाः पुनः संभूयन्ते संधीभावमायान्ति तदा पदार्थान्तराणां अन्येषां पदार्थानां संभवः । रसरूपानन्तरं पचनकर्मणा पृथग्भूता एव केचिदंशाः सामान्यात् संभूय पदार्थान्तरस्वरूपमायान्ति । (३४)

विनाशो मूर्तरूपाणामितरेषां समुद्भवः ।

क्रमोऽयमनिशं तच्च जीवनं परिकीर्त्यते ॥ ३५ ॥

विनाश इति । मूर्तरूपाणां व्यक्तीभावमागतानां विनाशः रसरूपेणाव्यक्तत्वं । इतरेषां मूर्तानां समुद्भवः । अनिशं निरंतरं क्रमोऽयं जीवनमिति परिकीर्त्यते । व्यक्तस्वरूपाणां रसत्वं रसाच्चान्येषां समुद्भव इति उत्पत्तिविनाशक्रमसातत्यमेव जीवितमिति । (३५)

आकृष्यमाणाश्चैकत्र संगृहीतास्तथाऽणवः ।

परस्परालिंगनेन मूर्तत्वमुपयान्ति हि ॥ ३६ ॥

आकृष्यमाणा इति आकर्षणगुणेनाकृष्यमाणाः सन्निधावानायमानाः । संगृ-

प्रकार किये जा सकते हैं । संक्षेपमें प्रत्येक सृष्ट पदार्थ इनमेंसे किसी न किसी प्रकारमें पड़ताही है । “ जिसमें कर्मगुण आश्रित हैं और जो समवायी कारण है वह द्रव्य है । द्रव्यके इस लक्षण के अनुसार द्रव्य और कर्मका नित्य संबंध रहता हुआ भी पदार्थोंमें (जो पंचभूतविकार समुदायात्मक हैं) सापेक्षतया कुछ चल अंश होते हैं तो कुछ स्थिर । कुछ चलस्वरूप पदार्थ कर्मरूप होते हैं । याने विशेष रीतीसे कर्म करते हैं, और कुछ स्थिर याने कर्मका आश्रय होनेसे द्रव्यरूप कहलाये जाते हैं । यहांपर ध्यानमें रखना चाहिये कि उक्त विभागकल्पना पृथिव्यादि मूल पंचभूतोंके संबंधमें नहीं है, अपितु चेतनाधिष्ठित पंचभूतविकारसमुदायात्मक शारीर पदार्थके संबंधमें की गयी है । २५ ॥

एकत्र आकर संहतीभावको प्राप्त करनेवाले पार्थिव परमाणु व्यक्तरूप याने दृश रहते हैं और (संहतीभावके कारण) मूर्तत्वको—आकारको प्राप्त करते हैं (यहांपर पार्थिव परमाणुओंसे नित्यस्वरूप परमाणु अपेक्षित नहीं है, अपितु पृथिवीके परममूक्ष्म विकारांश अभिप्रेत है ।) इसप्रकार विशिष्ट आकृतिमान् पदार्थोंके

हीताः परस्पराणामवयवैरंशैर्वा संलयाः । परस्परालिंगनेन परस्परसंश्लेषान् मूर्तत्वं व्यक्तरूपत्वमुपयान्ति । (३६)

यावद्गाढालिंगनं स्यादणूनामेकरूपता ।

मूर्तत्वं च पदार्थत्वं भिन्नरूपगुणात्मकम् ॥ ३७ ॥

यावदिति यन्मानम् । अणूनां गाढालिंगनम् दृढालिंगनम् । यावन्माना चैकरूपता संघातदार्ढ्यमिति भावः । तावत्प्रमाणं तावत्स्वरूपं च । भिन्नरूपगुणात्मकम् । रूपगुणभेदाद्विविधस्वरूपम् । मूर्तत्वं व्यक्तरूपत्वम् पदार्थत्वं विविधशब्दवाच्यत्वम् । अणुसंघातानां स्वरूपानुसारेण भिन्नस्वरूपा भिन्नाभिधानाश्च पदार्थाः संभवन्तीति । (३७)

मूर्तत्वनाशः प्रथमं रसरूपेण जायते ।

मूर्तत्वं पुनरायाति रसरूपस्य संग्रहात् ॥ ३८ ॥

उत्पत्तौ च विनाशे च रसो मध्येऽवतिष्ठते ।

तस्मिन् पूर्वविनाशश्च तस्मादुत्तरसम्भवः ॥ ३९ ॥

पदार्थानामुत्पत्तिविनाशसातत्ये रसस्य प्राधान्यं दर्शयन्नाह । मूर्तत्वनाश इति । मूर्तत्वस्य व्यक्तरूपस्य विनाशः प्रथमं रसरूपेण जायते । उत्पत्तिविनाशसातत्ये व्यक्तरूपाणां रसत्वं जायते । रसरूपस्य च संग्रहात् समुदायापुनर्मूर्तत्वमायाति । एवमुत्पत्तौ विनाशे च कर्मणि मध्ये

अणु जब परस्परसे अलग हो जाते हैं पदार्थोंका नाश होता है अर्थात् उनका विशिष्ट आकार नष्ट हो जाता है । उसीको अमूर्तत्व याने व्यक्तस्वरूपका नष्ट होना कहते हैं । २६ ॥ २७ ॥

परमाणुओंके याने सूक्ष्म भूतविकारांशोंके संग्रहसे उत्पत्ति याने विशिष्टरूपमें अभिव्यक्ति, और वृद्धि याने उस विशिष्ट आकृतिका वर्धन होता है । संग्रहका अर्थ है सम्पृक्ग्रह याने आकर्षण । अर्थात् संग्रहसे अभिप्राय है परस्पराकर्षणका । उन्हीं परमाणुओंके वियोगसे याने परस्परसे पृथक् होजानेसे न्हास याने उस आकृतिमें क्षीणता और विनाश याने आकृतिनाश होते हैं । २८॥

समाकर्षणसे याने पूर्ण आलिंगनसे संग्रह होता है । यह समाकर्षणकारकत्व पृथ्वीका गुण है । अपकर्षणसे पदार्थोंमें एकीभूत परमाणुओंका वियोग होता है याने वे परस्परसे पृथक् हो जाते हैं । अपकर्षणकारकत्व गुण वायुका है । वास्तवमें आकर्षण व अपकर्षण ये दोनों चलनात्मक होनेके कारण वायुसेही होते हैं । किन्तु वायवीय गुणसे आकर्षित परमाणुओंका संघान-परस्परमें पूर्ण रूपसे मिलन

रसोऽवतिष्ठते । तस्मिन् रसे । पूर्वविनाशः पूर्वोत्पन्नानां विलीनता । तस्माद्द्रसादुत्तरपदार्थानां सम्भवः । द्रवरूपे रसे पूर्वोत्तराणां पदार्थानामणवोऽमूर्तरूपा विलीना वसन्तीति भावः । (३८-३९)

मूर्तभावं समापन्नाः पदार्थाः संघरूपिणः ।

संघश्च परमाणूनामाकर्षणगुणात्मकः ॥ ४० ॥

मूर्तभावमिति मूर्तभावं समापन्नाः पदार्थाः सर्वे **संघरूपिणः** अणुसंघातस्वरूपाः । परमाणुसंघश्चायमाकर्षणगुणात्मक इति सुगमम् । (४०)

मूर्तभावविनाशश्च पदार्थानां वियोगतः ।

वियोगः परमाणूनामपकर्षणगुणात्मकः ॥ ४१ ॥

मूर्तभाव विनाश इति । पदार्थानां मूर्तभावविनाशः **वियोगतः** परमाणुवियोगाद्भवति । वियोगश्च अपकर्षणगुणात्मक इति । (४१)

संयोगश्च वियोगश्च कर्मैवं द्विविधं मतम् ।

आकर्षणापकर्षौ वा द्विप्रकारा गतिर्हि सा ॥ ४२ ॥

मूर्तानां पदार्थानामुत्पत्तिविनाशाख्यं कर्म संयोगवियोगस्वरूपमिति दर्शयन्नाह । **संयोग इत्यादि** । संयोगः वियोगश्चेति द्विविधं कर्म । उत्पत्तौ संवर्धने संयोगः विनाशे न्हासे वा वियोगः

(इसीको संग्रह, संश्लेष या अलिंगन कहते हैं) पार्थिव गुणसे होता है । (यहाँ-पर एक ओर आकर्षण पार्थिव गुण बतलाया है और दूसरी ओर आकुंचन जिसकाभी अर्थ आकर्षणही है और वह वायुका गुण बतलाया है । भूतविकारांशोंका सहंतीभावके लिये जो आकर्षण होता है उसकी कल्पना यहां स्पष्टरूपसे ध्यानमें रखनी चाहिये । वह इसप्रकारः—वायु अपने चलनात्मकताके गुणसे विभिन्न अणुओंको आकर्षितकर खींच लेता है और पार्थिव परमाणुओंमें अपने स्वभावसेही जो चुंबकता रहती है उसके कारण वे परमाणु न केवल मिलही जाते हैं, किन्तु उनका अलिंगन इतना पूर्णरूपेण होता है कि उनका संघात—संपूर्ण एकीभाव उत्पन्न होता है । इसीको संग्रह कहते हैं । इस संघातमें अन्य परमाणुओंको अपनेपास खींचकर पूर्णरूपेण अलिंगित करनेकी जो शक्ति पार्थिव अणुओंमें रहती है वह, परमाणुओंका वहन कर पास ले आनेकी वायुकी आकर्षणशक्तिसे भिन्न है । वायुके आकर्षणका कार्य होता है वहन और पृथ्वीके आकर्षणका कार्य होता है संग्रह—संघात—संश्लेष—पूर्ण अलिंगन संपूर्ण एकीभवन । वायु व

परमाणूनामिति द्विविधमेव कर्म प्रधानम् । आकर्षणापकर्षौ वा आकर्षणं अपकर्षः इति संयोगवियोगयोः पर्यायशब्दौ कमेणेति । द्विप्रकारा गतिरेव संयोगवियोगौ नाम । संयोगवियोगयोः स्वरूपकर्मभिन्नत्वेऽपि चलनत्वसामान्यमृभयोरिति । (४२)

गतिर्यदाऽकर्षरूपा संयोगः सम्भवेत्तदा ।

यदापकर्षरूपा स्याद्वियोगः सम्भवेत्तदा ॥ ४३ ॥

संयोगवियोगयोरितिसामान्यं दर्शयति । गतिरित्यादिना । यदा आकर्षरूपा आकर्षणकारिणी गतिः तदा संयोगः सम्भवेत् । यदा च अपकर्षरूपा उत्सर्गकारिणी गतिः स्यात्तदा वियोगः परमाणूनां सम्भवेत् । (४३)

गतिर्गुणः समीरस्यानुविद्धोऽद्भिर्यदा भवेत् ।

तदा संयोगकारित्वं यदा तेजोनुविद्धता ॥ ४४ ॥

भवेद्वियोगकारित्वमुभये चलनात्मता ।

प्रधाना स्यादतो वायुः प्रधानः कर्मकृन्मतः ॥ ४५ ॥

संयोगवियोगयोः कारणं वायुरेवेत्यभिप्रायनिदर्शनार्थमुच्यते । गतिरित्यादि । समीरस्य वायोर्युगो गतिश्चलनं स च वायुर्यदा आद्भिरनुविद्धोऽपसंयुक्तो भवेत् । तदा संयोग-कारित्वं यदा च तेजोनुबद्धता तेजःसहयोगित्वं वायोस्तदा वियोगकारित्वं भवेत् । उभये

पृथ्वीके एकही नामके आर्कषण गुणका यह भिन्न कार्य अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये (२९॥)

संग्रहविसर्ग क्रियासे पदार्थोंका उत्पत्ति-विनाशका क्रम किसतरह चलना है यह अब दर्शाते हैं । भिन्न २ नामरूपोंके पदार्थोंकी उत्पत्ति व विनाश एकही समय क्रमसे होते रहता है । संभूत याने एकत्र आये हुए परमाणु एकदमही परस्परमें मिल नहीं जाते । प्रथम उनका रसीभवन—श्रवण—विलयन होता है । इस रसीभवन क्रियामें उनके मूर्तत्वका नाश होकर वे द्रवरूपको प्राप्त करते हैं । अणुओंके इस द्रवरूपकोही रस कहते हैं । मूर्त अणुओंका द्रवरूपमें विलीन हो जाना—अव्यक्तरूपमें रहना—इस अवस्थाकोही रससंज्ञा दी गयी है । (३०-३१-३२)

रसीभवनके अनन्तर उस द्रवरूप रसमें विभाजन अथवा पृथक्करणकी क्रिया चलती है । पृथक्करणकोही शास्त्रमें पचन संज्ञा दी गयी है । (३३)

पचन क्रियाद्वारा अलग हुए कुछ परमाणु—जिनमें गुणकर्मोंकी समानता है—पुनः संधीभावको प्राप्त करते हैं—एकत्र आते हैं । तब अन्य पदार्थोंका संभव

संयोगवियोगाख्ये कर्मणि **चलनात्मता** चलनस्वरूपता सामान्या प्रधाना च स्यादतो वायुरेव प्रधानः कर्मकृत् । संयोगवियोगस्वरूपस्य चलनस्य कर्ता वायुरेव सर्वकर्मणां हेतुः प्रधानः इत्यभिप्रायः । न्यायादिशास्त्रेषु **शीतस्पर्शवत्यः आपः । उष्णस्पर्शवत्तेजः ।** इत्यपां तेजसश्च लक्षणमुपदिष्टम् । उभयोरपि सामान्यः स्पर्शो गुणस्तु वायुरेवेति 'रूपरहितःस्पर्शवान् वायु' रिति लक्षणादधिगम्यते । शीतत्वमुष्णत्वं च वैशेष्यमपां तेजसश्च । स्पर्शस्तु वायुरेवेत्यभिप्रायेणैवायुर्वेदायैः "योगवाहः परं वायुः संयोगाद्भयार्थकृत् । दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृःसोमसंयुतः ॥ १ ॥ इति चलनस्वभावस्य वायोस्तेजःसंयोगाद्दाहकारित्वमप्यसंयोगाश्च शीतकारित्वमुक्तम् । दाहकृत्त्वं नाम संयोगासहत्वादुत्सर्गोन्मुखत्वम् । शीतकृत्त्वं चाकर्षकृत्त्वं संयोगसाधनम् । (४४-४५)

स्पर्शवत्त्वमिति ख्यातं तत्कर्म चलनात्मकम् ।

अपां शीतस्पर्शवत्त्वं गुणः संयोजकः स्मृतः ॥ ४६ ॥

गुणश्चोष्णस्पर्शवत्त्वं तेजसः स्याद्विभाजकः ।

संस्पृष्टिरेवं प्रलयः सर्वेषां वातकृन्मतः ॥ ४७ ॥

स्पर्शवत्त्वमिति । चलनात्मकं तत्कर्म वायोः **स्पर्शवत्त्वमिति** स्पर्शवत्त्वनाम्नाऽख्यातम् । **शीतस्पर्शवत्त्वमाख्यातमपां तदेव संयोजको गुणः ।** तेजसश्चाख्यात- । **मुष्णस्पर्शवत्त्वं** विभाजको गुणो नाम । एवं सर्वेषां पदार्थानां **संस्पृष्टिः** प्रलयो विनाशश्च **वातकृत्** वायुना क्रियत इति । (४६-४७)

होता है । अर्थात् पचनकर्मके कारण पृथक्भूत परमाणुओंमें से जो समान गुण-कर्मके परमाणु होते हैं वेही पुनश्च एकत्र आकार अन्य पदार्थका स्वरूप धारण करते हैं याने पदार्थात्तरोत्पत्ति होती है । (३४)

मूर्त याने व्यक्तरूप परमाणुओंका विनाश याने अव्यक्तत्व (रसरूपमें) और अन्य मूर्त पदार्थोंकी उत्पत्ति यह क्रम निरंतर चलता है और इस क्रमकोही जीवन कहते हैं । व्यक्तरूप परमाणुओंका रसत्व और रसरूपसे पुनश्च अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति इसप्रकार विनाश-उत्पत्तिक्रमके सातत्यकोही जीवन कहते हैं । (३५)

(वायुके) आकर्षणगुणसे आकर्षित व परस्परके सन्निध आये हुए परमाणु प्रथम संगृहीत याने परस्परके अंशोंसे संलग्न होते हैं । और जब परस्परमें पूर्ण-रूपसे अलिंगित-संश्लिष्ट हो जाते हैं तब वे मूर्तत्वको व्यक्तरूपको प्राप्त करते हैं । (३६)

अणुओंके अलिंगनमें गाढता-दृढता एवं एकरूपता का प्रमाण कर्मा

मानुषाणां शरीराणां पदार्थाः सप्त धातवः ।
 उत्पद्यन्ते विवर्धन्ते सर्वे संयोगकर्मणा ॥ ४८ ॥
 क्षीयन्ते च विनश्यन्ते वियोगाख्येन कर्मणा ।
 संयोगस्य वियोगस्य मध्ये कर्म विभाजकम् ॥ ४९ ॥
 स्यादवश्यं येन पूर्वापरत्वं हि विभज्यते ।

शरीरगतानां धातूनामुत्पत्तिविनाशकरं कर्मत्रितयं निर्दिशति । मानुषाणामित्यादिना । मानुषाणां शरीराणां पदार्थाः सप्त धातवः धातुसंज्ञाः । सर्वे संयोगकर्मणा उत्पद्यन्ते विवर्धन्ते च । तथा वियोगाख्येन कर्मणा क्षीयन्ते नश्यन्ते च । विनश्यन्ते स्वरूपनाशं लभन्ते । संयोगस्य वियोगस्य च मध्ये विभाजकं पृथग्भावकारणं पचनं नाम कर्म अवश्यं स्यात् । येन कर्मणा पूर्वापरत्वं पूर्वपदार्थत्वं उत्तरपदार्थत्वं च विभज्यते । एवं संयोगो विभाजनं वियोगश्चेति त्रीणि कर्माणि धातूनामुत्पत्तिवृद्धि-न्यासक्षयकराणि भवन्ति । (४८-४९॥)

त्रीणि संसर्जने कर्माण्यवश्यानि भवन्ति हि ॥ ५० ॥

संग्रहः पोषकांशानां सारकिट्टविभाजनम् ।

किट्टस्योत्सर्जनं चेति ।

त्रीणीति । संसर्जने धातुवतराणामुत्पादने । एकं पोषकांशानां आहारादिद्रव्या-
 तर्गतानां संग्रहः । द्वितीयं सारकिट्टविभाजनं । सारः शारीरपदार्थोत्पादनसमर्थो द्रव्य-

अधिक होनेके कारण याने संघातदाढ्यमें भेद होनेके कारण रूप, गुण व आकारसे विभिन्न पदार्थोंका निर्माण होता है (३७)

पदार्थोंके मूर्तत्वका नाश पहिले रसरूपमें होता है और रसावस्थामेंसेही संग्रहशक्तिके कारण अन्य मूर्त पदार्थका निर्माण होता है । अर्थात् उत्पत्ति व विनाशके मध्यमें रसस्वरूप रहता है । पहिले पदार्थका नाश रसमें होता है और रससेही अन्य पदार्थोत्पत्ति होती है । इसप्रकार उत्पत्ति-विनाशके कार्यमें रसका प्राधान्य है (३८-३९)

मूर्तभावको प्राप्त सभी पदार्थ संघरूप याने अणुसंघातरूप होते हैं । और परमाणुओंका यह संघ आकर्षणगुणात्मक है । (४०)

संघीभूत परमाणुओंके परस्पर वियोगके कारण पदार्थोंके मूर्तभावका-विशिष्ट आकृतिका विनाश होता है । और वियोग अपकर्षणगुणात्मक है (४१)

इस प्रकार उत्पत्तिविनाशसातत्यरूप जीवनक्रियामें (१) संयोग व (२) वियोग दो प्रकारका कर्म प्रधान माना है । संयोग वियोगके कारण (१) आकर्षण

विभागः । किट्टं मलरूपं शारीरद्रव्याणामुत्पादनाभिवृद्धिकरणायासमर्थम् । तयोर्विभाजनं पृथकरणं । तृतीयं किट्टस्योत्सर्जनं बहिरुत्सारणं चेति । (५०-५१॥)

देहे तत्कर्मकारिणः ॥ ५१ ॥

एकः संग्राहकश्चाथ द्वितीयः स्याद्विभाजकः ।

वियोजकस्तृतीयः स्यात्तत्संज्ञाश्चार्थसूचकाः ॥ ५२ ॥

श्लेष्मा पित्तं वायुरेवमायुर्वेदोपकल्पिताः ।

‘श्लिप्’ ‘तप्’ ‘वा’ इति धातूनां रूपाण्यन्वर्थकानि हि ॥ ५३ ॥

देह इति । शरीरे तत्कर्मकर्तारः संग्रहपचनोत्सर्जनानां कर्मणां कर्तारः । परिपाठ्या एकः संग्राहकः, द्वितीयो विभाजकः वियोजकश्च तृतीय इति पदार्थाः । तत्संज्ञाः तेषां संग्राहकादीनां संज्ञाः अभिधानानि । आयुर्वेदोपकल्पिताः आयुर्वेदे निश्चिताः । कस्मात् श्लेष्मा, पित्तं, वायुरिति । श्लेष्माद्याश्चैताः संज्ञास्तु श्लिप्, तप्, वा इति धातूनां वैय्याकरणोदितानामन्वर्थकानि रूपाणि । यथोक्तं सुश्रुतेन—तत्र ‘वा’ गतिगन्धनयोरिति धातुः । ‘तप्’ संतापे । ‘श्लिप्’ आलिंगने । एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः, पित्तं, श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ! (५२-५३)

“ विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।

धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ” ॥ ५४ ॥

व (२) अपकर्षण होनेसे यहभी दो प्रकारका कर्म माना जा सकता है । संयोग-वियोग तथा आकर्षण अपकर्षण परिणाम दृष्टीसे एकही होते हैं । अतः यह शब्द परस्परोंके पर्यायरूप है । (संयोगका पर्याय आकर्षण व वियोगका पर्याय अपकर्षण) आकर्षण-अपकर्षण ये चलन अथवा गतिके दो भेद हैं । परिणाम भिन्न होते हुएभी दोनोंमें गति अथवा चलन सामान्यरूप रहता है । (४२)

संयोग-वियोगभी गतिकेही प्रकार हैं । जैसे, गति जब आकर्षणरूप रहती है, संयोगका संभव होता है; और जब अपकर्षणरूप याने उत्सर्गाकारिणी रहती है वियोगका संभव होता है । (४३)

संयोग तथा वियोगका कर्ता वायुही है । वायुका गति (चलन) गुण आप्य परमाणुओंके साथ संयुक्त होता है तब उसमें संयोगकारित्व उत्पन्न होता है और वही तेजसे अनुविद्ध (संयुक्त) होता है, उसमें वियोगकारित्व निर्माण होता है । संयोग व वियोग दोनोंमें चलनही प्रधान है । अर्थात् संयोगवियोगरूप चलनका कर्ता वायु होनेके कारण वही सर्व क्रियाओंका प्रधान कर्ता है । न्यायादि

इत्याख्यातं कर्म तद्धि श्लेषणं पचनं गतिः ।

आकर्षणं विभजनं चापकर्षणमित्यपि ॥ ५५ ॥

संयोगश्च विभागश्च वियोजनमथापि वा ।

संग्रहो विग्रहोत्सर्गौ शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ५६ ॥

विसर्गादानविक्षेपैरिति । विसर्गः उत्पादनं आदानं श्लेषणं पचनं वा ।
विक्षेपः प्रक्षेपणं उत्सर्जनम् । एतैः कर्मभिः क्रमेण सोमसूर्यानिनाः यथा जगद्धारयन्ति । तथा
शरीरस्थाः श्लेष्मापित्तानिला एतैरेव कर्मभिर्देहं धारयन्ति । देहस्य जीवनाख्यं कर्म सम्पादयन्ती-
ति भावः । इति यत्कर्म विविधं श्लेष्मादीनामाख्यातमायुर्वेदे प्रतिपादितं तदेवानुक्रमेण श्लेषणं
पचनं गतिरिति कर्मत्रितयं नाम । कर्मत्रयस्यैतस्याकर्षणं, विभजनं, अपकर्षणं, अथवा संयोगः
विभागः वियोजनम्, किंवा संग्रहः विग्रहः उत्सर्गः इति पर्यायवाचकाः अभिचार्यवाचकाः
शब्दाः सन्ति । (५४-५६)

देहद्रव्ये धातुरूप एतत्कर्मत्रयस्य ये ।

कर्तारः कथिताः श्लेष्मा पित्तं वायुरिति त्रयः ॥ ५७ ॥

धातुरूपे धावाख्यया ख्याते देहद्रव्ये एतत्कर्मत्रयस्य श्लेषणादिकर्मत्रयस्य । ये
कर्तारख्यस्त एव श्लेष्मा पित्तं वायुरिति संज्ञाभिः कथिताः । (५७)

शास्त्रोक्तं अप्का ' शीतस्पर्शवत्त्व ' और तेजका ' उष्णस्पर्शवत्त्व ' लक्षण बतलाया
गया है । दोनोंमें स्पर्शगुण सामान्य है और वह गुण है वायुका । वायुका लक्षण
'रूपरहितः स्पर्शवान्' ऐसा किया है । शीतत्व व उष्णत्व अनुक्रमसे अप् व तेजका
गुण है । अर्थात् स्पर्श यह वायुका गुण वर्णितपूर्व है । इसी अभिप्रायसे आयुर्वेदी-
योंने कहा है " वायु योगवाही है वह तेजसे युक्त होनेपर दाहकर और अप्से
युक्त होनेपर शीतकर होता है । इसप्रकार वायु संयोगवशात् दाह व शीत दोनोंको
करता है । " दाहकारित्वका अर्थ है संयोग-असह्य होनेके कारण उत्सर्ग (वियोग)
की ओर प्रवृत्ति । और शीतकारित्वका अर्थ है आकर्षकत्व-संयोगका साधन ।
(४४-४५)

वायुका जो चलनात्मक कर्म है वही स्पर्शवत्त्व नामसे कहा है । शीत-
स्पर्शवत्त्व अप्का गुण है और वही संयोजक है । उष्णस्पर्शवत्त्व तेजका गुण है
और वह विभाजक याने वियोजक है । इसप्रकार सब पदार्थोंकी उत्पत्ति और
प्रलय याने विनाश वायुद्वाराही होता है । (४६-४७)

धातूनां द्रव्यरूपाणां सूक्ष्मभागाश्रितास्त्वमे ।

सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपाश्च शक्तिरूपा न केवलम् ॥ ५८ ॥

धातूनामिति । विशिष्टाकृतिरूपस्य शरीरस्य धातूनां धारकाणां द्रव्यरूपाणां स्थूलद्रव्यरूपाणां सूक्ष्मभागाश्रिताः धातूनामेव सूक्ष्मांशसमाश्रिताः । धात्वांश्रया हि दोषाः । यदाह वाग्भटः । तत्रास्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः । श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः । इति । सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपाः स्वशक्त्या कार्यकारिणोऽप्येते धातुमलापेक्षया सूक्ष्मद्रव्य-स्वरूपाः । न केवलं शक्तिरूपाः । द्रव्याधारं विना शक्तेरभ्युपगमाभावात् । तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं श्लेष्मा सौम्य इति श्लेष्मादीनां द्रव्यत्वोपदेशाच्च । (५८)

धातूनां कार्यकर्तारः सूक्ष्मांशाः शक्तिरूपिणः ।

सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपास्ते श्लेष्मा पित्तं समीरणः ॥ ५९ ॥

कर्मकर्तृत्वेऽपि श्लेष्मादीनां सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपत्वं निर्दिशति । धातूनामित्यादिना । शक्तिरूपिणः इति विशेषतः शक्तियुक्ताः शक्त्युत्कर्षसम्पन्ना इति यावत् । सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपाः इति धातुमलापेक्षया सूक्ष्माः । (५९)

द्रव्यं संग्रहसामर्थ्यरूपं श्लेष्मा निगद्यते ।

पृथक्करणसामर्थ्यरूपं पित्तं प्रकीर्तितम् ॥ ६० ॥

.....
मनुष्यशरीरमें धातुरूप सात पदार्थ हैं । उन सबका संयोगकर्मके कारण निर्माण व संवर्धन होता है और वियोगकर्मके कारण ज्हास व विनाश (स्वरूप-नाश) होता है । संयोग व वियोगके बीचमें विभाजन याने पृथक्करणात्मक पचन नामके कर्मका होना अवश्यक है । जिससे पूर्व पदार्थ व उत्तर पदार्थमें विभाग किया जाता है । इसप्रकार संयोग, विभाजन (पृथक्करण) व वियोग ये तीन कर्म धातुओंकी उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय व विनाशको करते हैं (४८-४९)

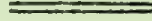
संसर्जनमें याने पूर्व धातुसे उत्तर धातुके उत्पादनमें तीन कर्म अवश्यक होते हैं । १ आहारादि द्रव्यांतर्गत पोषक अंशोंका संग्रह, २ सार व किड्का विभाजन (पृथक्करण) और ३ किड्का विसर्जन । यहांपर सारका अर्थ है शारीरपदार्थोंके उत्पादनमें समर्थ द्रव्यभाग । और किड्का अर्थ है शारीरपदार्थोंके उत्पादन व संवर्धनमें असमर्थ मलभाग (५०-५१)

इन तीन क्रियाओंके जो कर्ता हैं उनमेंसे एक संग्राहक, दूसरा विभाजक व तीसरा वियोजक है और उनकी अनुक्रमसे श्लेष्मा (कफ), पित्त व वात ये

उत्सर्जनस्य सामर्थ्यरूपो वायुरुदीरितः ।

दोषाः सूक्ष्मद्रव्यरूपाः शक्तिरूपा इति स्मृताः ॥ ६१ ॥

श्लेष्मपित्तानिलानां सामर्थ्यविशेषं तात्पर्येणाह । द्रव्यमित्यादि । देहे संग्रहसामर्थ्य-
रूपं द्रव्यं श्लेष्मा, पृथक्करणसामर्थ्यरूपं पित्तं, उत्सर्जनसामर्थ्यरूपं च द्रव्यं वायुरिति प्रकीर्तितम् ।
सूक्ष्मद्रव्यरूपाश्चेति श्लेष्मादयः सामर्थ्यातिशयात् शक्तिरूपाः स्मृताः । देहद्रव्येषु दोषधातुमलाख्येषु
दोषाणां सामर्थ्यातिशयामिव्यंजनार्थं शक्तिरूपत्वेन तेषां वर्णनमित्यभिप्रायः । इति श्लेष्मपित्तानि-
लानां स्वरूपकर्मसंज्ञाविशेषदर्शनं नाम तृतीयं दर्शनम् ।



आयुर्वेदने दी हुई संज्ञायेंभी अर्थसूचक हैं । ये तीनो संज्ञायें व्याकरणशास्त्रके
अनुसार अनुक्रमसे 'श्लिप्' 'तप्' और 'वा' धातुओंके अन्वर्थक रूप हैं ।
सुश्रुतने कहा है 'वा धातुका अर्थ है गति अथवा गंध । तप् धातुका अर्थ है
संताप । और श्लिप् धातुका अर्थ है आर्लगन । इन धातुओंसे यात, पित्त व श्लेष्मा
इन रूपोंका निर्माण होता है ।' (५२-५३)

विसर्ग याने उत्पादन, आदान याने शोषण वा पचन, और विक्षेप याने
प्रक्षेपण—उत्सर्जन इन तीन कर्मोंद्वारा जिस प्रकार अनुक्रमसे इन्हीकर्मोंद्वारा चंद्र,
सूर्य व वायु जगत्को धारण करते हैं उसीप्रकार कफ, पित्त व वातभी शरीरको
धारण करते हैं अर्थात् शरीरके जीवन नामके कर्मका संपादन करते हैं । इस
प्रकार यह जो श्लेष्मादिओंका त्रिविध कर्म आयुर्वेदमें बतलाया गया है वही अनु-
क्रमसे श्लेषण, पचन व गति, अथवा आकर्षण, विभजन व अपकर्षण, अथवा
संयोग, विभाग व वियोग, अथवा संग्रह, विग्रह व उत्सर्ग इन पर्यायवाचक
शब्दोंसे सूचित किया जाता है । अर्थात् श्लेषण—आकर्षण—संयोग संग्रह, तथा

पचन-विभजन-विभाग-विग्रह, तथा गति-आकर्षण-वियोग-विसर्ग ये समानार्थसूचक शब्द हैं । (५४-५५-५६)

धातुरूप देहद्रव्यमें याने शारीर धातुओंमें कफ, पित्त व वात येही उक्त तीन प्रकारके क्रियाओंके कर्ता बतलाये हैं (५७)

विशिष्ट आकृति व रूपके शारीर धातुओंके-त्रो धारक व द्रव्यरूप हैं-सूक्ष्म अंशोंमें वातपित्तकफ आश्रित रहते हैं । दोष (वात, पित्त, कफ) धातुओंकेहां सूक्ष्म अंशोंमें निवास करते हैं । इसके संबंधमें वाग्भट कहता है “ अस्थि-धातुमें वायु, स्वेद व रक्तमें पित्त और शेष धातुओंमें (रस, मांस मेद, मज्जा, शुक्र) कफ रहता है । धातु व दोषोंका आश्रयाश्रयीभाव रहता है । ” अर्थात् उक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि, दोष केवल शक्तिरूप नहीं है अपितु सूक्ष्मद्रव्य स्वरूप हैं । दोष अपने शक्तिसे कर्मकारी होते हैं इसका अर्थ यह नहि कि वे केवल शक्तिरूप है, अपितु धातु-मलोंकी अपेक्षा उनको अधिक सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपही मानना चाहिये । कारण द्रव्यके आधारविना शक्ति रहही नहीं सकती । तथा श्लेष्मादिओंका द्रव्यत्व बतलायाभी गया है कि “ वायुका आत्मा वायुही है, पित्त ओम्नेथ है और श्लेष्मा सौम्य ” (५८)

धातुओंके कार्यकारी व विशेष शक्तिमान् याने शक्त्युत्कर्षसंपन्न अंश ही दोष हैं । अर्थात् श्लेष्मा, पित्त व वायु धातुमलोंकी अपेक्षा सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपही हैं । (५९)

तात्पर्यरूपसे कफ, पित्त, व वातके सामर्थ्यविशेष इसप्रकार हैं:— शरीरमें संग्रहसामर्थ्यरूप द्रव्य है श्लेष्मा [कफ], पृथक्करण सामर्थ्यरूप द्रव्य है पित्त, और उत्सर्जनसामर्थ्यरूप द्रव्य है वायु । यद्यपि ये तीनों सूक्ष्मद्रव्यरूपही हैं, उनमें सामर्थ्य अतिशय होनेके कारण उनको शक्तिरूप कहा जाता है । अर्थात्, शारीरपदार्थोंमें धातु-मलोंकी अपेक्षा दोषोंमें शक्ति-सामर्थ्यका अधिक्य-अतिशयत्व होनेके कारण उनका यह सामर्थ्यविशेषत्व दर्शानेके लियेही उनका वर्णन ‘ दोष शक्तिरूप हैं ’ ऐसा किया गया है (६०-६१)

कफ-पित्त-वात का स्वरूपकर्मसंज्ञाविशेषदर्शन नामका तृतीयदर्शन समाप्त ।

चतुर्थ दर्शनम् ।

(धातुत्पत्तिक्रमस्वरूपदर्शनम्)

सूक्ष्मे शरीरावयवे व्यक्तत्वं पार्थिवाद्गुणात् ।

रसत्वमद्भ्यश्चोष्णत्वं तैजसं वायवी गतिः ॥ १ ॥

सुपिरत्वं नाभसं स्याच्चैतन्यं चेतनात्मकम् ।

उत्पत्तिविनाशसातत्यस्वरूपस्य जीवनाख्यस्य कर्मणः संपादकाः प्रधानाः श्रेष्ठमपित्ता-
निलाः शरीरधातूनां रसादीनामुत्पत्तिविनाशकारिणः कथं भवन्तीति विशदीक्रियतेऽधुना । सूक्ष्म
इत्यादिना । सूक्ष्म इति अणुस्वरूपेऽप्यवयवे । यदुक्तं चरके,—शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन
अपरिसंख्येया भवन्ति । इति । व्यक्तत्वं विशिष्टाकृतिमत्वेनाभिव्यंजनम् । पार्थिवात् पृथिव्याग-
तात् । रसत्वमस्मिन् अद्भ्यः, उष्णत्वं तैजसं, वायवी गतिः । सुपिरत्वं सोतोमयत्वं । चैतन्यं
प्रेरकत्वं (१॥)

संयोगकारी भूतानां संयोगावस्थितोऽपि च ॥ २ ॥

तदुत्पत्तिविनाशान्तं सर्वं कर्म करोति यः ॥

जीवात्मा इति संख्यातः स्यादंशः परमात्मनः ॥ ३ ॥

दर्शन ४ था

(धातुओंका उत्पत्तिक्रमस्वरूपदर्शन)

कफ, पित्त, व वात-जो उत्पत्तिविनाशसातत्यस्वरूप जीवनकर्मके प्रधान
कर्ता हैं-रसरक्तादि शरीर धातुओंके उत्पत्ति व विनाशकारक किसप्रकार होते हैं,
यह इस दर्शनमें स्पष्ट किया जाता है । शरीरका सूक्ष्म अवयव परमाणुस्वरूप
माना जाता है चरकने कहा है “ परमाणुभेदसे शरीरके अवयव अपरिसंख्येय
याने अगण्य हैं । ” इस अणुस्वरूप सूक्ष्म शरीर अवयवमें व्यक्तत्व याने
विशिष्ट आकृति या रूप पार्थिवगुणसे, रसत्व अप्से, उष्णत्व तेजसे, गति वायुसे,
सुपिरत्व याने स्रोतोमयत्व आकाशसे और चैतन्य याने प्रेरकत्व चेतनाके गुणसे
प्रकट होते हैं (१॥)

जो पृथिव्यादि पंचभूतोंका संयोगकारी याने समुदायकर्ता होकर संयोग-
मेंभी अवस्थित रहता है, और संयोगस्वरूप पदार्थके उत्पत्तिसे लेकर विनाशतक

संयोगकारी इति भूतानां पृथिव्यादिपंचभूतानां संयोगकारी समुदायकर्ता । तदुत्पत्तिविनाशान्तमिति संयोगस्वरूपस्यारंभाद्विनाशं यावत् । सर्वं कर्म यः करोति सः परमात्मनोऽशः जीवात्मा इति संज्ञया संख्यातः परिगणितः । यथोक्तं चरके—पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते । अव्यक्तादव्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः ॥ रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते ॥ रजस्तमोभ्यामाविष्टः पुरुषो जीवात्माभिधेयः भूतादीनां संयोगस्य शरीराख्यस्य, तथा तद्गतानां सर्वासां च क्रियाणां कर्तास्यात्प्रमुख इति । (२-३)

तत्कृता प्रेरणाऽख्यातं चैतन्यं चेतनाऽथवा ।

जीवित्वं चेतनावत्त्वमजीवित्वमचेतनम् ॥ ४ ॥

तत्कृता इति पुरुषकृता । प्रेरणा चैतन्यं चेतना वा नाम । “ निर्विकारः परस्वात्मा सत्त्वभूतगुणैर्द्रियैः । चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ” । इति चरकः । चेतनावत्त्वं नाम जीवित्वं अचेतनं अचेतनावत्त्वं च अजीवित्वं । इच्छाद्वेषप्रयत्नादिभिरात्मगुणैर्युक्तत्वमेव जीवित्वं चैतन्यं तद्विपरीतं च अजीवित्वमचेतन्यमिति । चेतनाहीनत्वे षड्धातुकं शरीरं पंचत्वमुपयाति । यथोक्तं चरके—“ शरीरं हि गते तस्मिन् (आत्मनि) शून्यागारमचेतनम् । पंचभूतावशेषत्वात्पंचत्वं गतमुच्यते । इति । (४)

एवं जीवात्मनः पंचभूतानां समवायतः ।

समुत्पन्नः सूक्ष्मतरः शरीरावयवः पुनः ॥ ५ ॥

सभी कर्म करता है उस परमात्माके अंशको जीवात्मा कहा जाता है । चरकने कहा है “ रज और तमसे आविष्ट पुरुष (जिसको जीवात्मा कहते हैं) प्रलयकी अवस्थामें अपनी क्रियाओंद्वारा पुनः अव्यक्तसे व्यक्त हो जाता है और व्यक्तत्वसे अव्यक्तताको प्राप्त करता है ” पंचभूतोंका संयोग करनेसे लेकर तज्जनित शरीरका व शरीरगत सर्व क्रियाओंका प्रधान कर्ता यह जीवात्माही है । (२-३)

इस प्रकारकी आत्मप्रेरणाको चैतन्य अथवा चेतना कहते हैं । चरकने कहा है “ परमात्मा स्वयं निर्विकार रहकरभी सत्त्व, भूतगुण और इंद्रियोंसे चैतन्यका कारण बनाता है और चेतनाद्वारा प्रेरित सब क्रियाओंका स्वयं द्रष्टा बनकर नित्य देखता रहता है । ” चेतनावत्त्वकोही जीवित्व कहते हैं और अचेतनावत्त्वको अजीवित्व । इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि गुणोंसे युक्त रहनाही जीवित्व अथवा चैतन्य है और इसके विपरीत याने इन गुणोंसे रहित अवस्था अजीवित्व—अचैतन्य है । षड्धातुमय शरीरमेंसे चेतनाके निकल जानेसे पंचत्व प्राप्त होता है । चरकने

आहारादिगतैरंशैः संवृद्धः संप्रजायते ।

सूक्ष्माश्च तस्यावयवाः परिपुष्टा भवन्ति च ॥ ६ ॥

एवमिति रजस्तमोभ्यामाविष्टस्य पुरुषस्येच्छया जीवात्मनः पंचभूतानां पंचभूत-
विकाराणां समवायतः समुदायात् । सूक्ष्मतरः व्यक्तद्रव्यापेक्षया सुसूक्ष्मः न परमाणुस्वरूपः ।
शरीरावयवः शरीरांगानां विभागः । आहारादिगतैः आदिशब्दात् श्वसनाकृष्टस्य वायो-
ग्रहणम् । अंशैः पोषकद्रव्याणामंशैः । तस्य सूक्ष्मावयवस्य । सूक्ष्मा अवयवा इति शरीरा-
वयवस्य सूक्ष्मस्याप्यवयवा विभागा इति । सुसूक्ष्मोऽपि शरीरावयवः पंचभूतांशसमुदायोद्भवत्वात्
समुदायस्वरूपः । पार्थिवादयश्च तस्यावयवाः पार्थिवादिभिराहारसमागतैरंशैः परिपुष्टा भवन्ति ॥
(५-६)

संख्यामतीत्य वर्तन्ते वर्धनान्यपि वर्धनम् ।

मर्यादितमतो देहवृद्धिर्मर्यादिता भवेत् ॥ ७ ॥

संख्यामतीत्येति असंख्येयान्यपि । वर्धनानि वृद्धिकराणि द्रव्याणि । वर्धनं
वृद्धिः शरीरस्य पदार्थान्तराणां वाऽपि । मर्यादिता नियता । अतः देहवृद्धिः शरीरस्योप-
बृंहणम् । मर्यादितम् । शरीराणां धातूनां संवर्धनकरोषु द्रव्येष्वसंख्येषु शरीरेणाप्यमर्यादितवृद्धिमता
भाव्यम् । किन्तु आयामपरिणाहबलादिभिर्मातृषादीनां शरीराणि मर्यादितानि दृश्यन्ते । नियतप्रमा-
णत्वं बलायुषोश्चात्र हेतुः । यथा हिताहारविहारोपसेवनात्साहसार्दानां वर्जनाच्चायुःक्षयकराणामन्तरा-

कहाही है ' आत्माके निकल जानेके बाद शरीर शून्यगृहके समान होकर उसमें
केवल पंचभूतही अवशिष्ट रहजाते हैं । और तब कहते हैं कि, शरीर पंचत्वको
प्राप्त हो गया है ' । (४)

इसप्रकार रज व तमसे आविष्ट पुरुषकी इच्छासे जीवात्माके व पंचभूत-
विकारोंके समवायसे याने समुदायसे जो सूक्ष्मतर शरीरावयव उत्पन्न होता है
उसकी आहारादिगत पोषक द्रव्योंके अंशोंसे तथा श्वसनद्वारा आकृष्ट वायु आदिसे
होती है । यहांपर सूक्ष्मतरसे अभिप्राय है व्यक्तद्रव्योंकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म,
केवल, परमाणुस्वरूप नहीं । उस सुसूक्ष्म शरीरावयवकेभी जो अधिक सूक्ष्मतर
अवयव होते हैं वेभी आहारगत पोषकद्रव्यांशोंसे परिपुष्ट होते हैं । (५-६)

यद्यपि शरीरके वृद्धिकर द्रव्य असंख्य है, शरीर अवयवोंका संवर्धन मर्या-
दित है । इसलिये शरीर वृद्धिकोभी मर्यादा है । वास्तवमें जब शरीर धातुओंकी
वृद्धि करनेवाले द्रव्य असंख्य हैं, शरीरकी वृद्धिभी अमर्यादितरूपमें होनी चाहिये
थी । किंतु ऐसा नहीं होता । आयाम व परिणाम याने लंबाई व चौड़ाईमें तथा

याणामसंभवेऽपि प्रतिनियतप्रमाणावसाने क्षय एवायुषस्तथैव यथावदाहारादिगतानामभिवर्धनानामुप-
योगादपि शरीरस्याभिवर्धनं प्रतिनियतप्रमाणम् । (७)

नियता स्याद्यथा वृद्धिः शरीरस्य तथा स्थितिः ।

अन्यथा व्याप्यते विश्वं कालोऽनंतस्तथैव च ॥ ८ ॥

नियता इत्यादि । नियता मर्यादिता । स्थितिः अवस्थानं आयुरिति यावत् ।
अन्यथा नियतत्वाभावे अनियतमभिवृद्धेनानियतकालमवस्थितेन शरीरेण विश्वं व्याप्यते कालश्चा-
नन्तः । व्याप्यत इति कालेनाप्यनुसंधेयम् । वृद्धेरायुषश्च प्रतिनियतत्वाभावे मनुष्यशरीराण्यपि
गजतुरगशरीरवदभिवृद्धानि भवेयुरायुश्च तेषां प्रतिनियतां शतसंवत्सरात्मिकां मर्यादामतीत्य सहस्रायुत-
संवत्सरात्मकं यावद्भवेदिति । (८)

वृद्धौ विकासे चोत्क्रांतौ सामर्थ्याकारयोस्तथा ।

मर्यादिताः पदार्थाः स्युः सर्वे सृष्टास्तथाऽयुपि ॥ ९ ॥

सृष्टपदार्थानाममायुर्बलादिषु प्रतिनियतत्वं विशदीकरोति । वृद्धाविति परिणाहादिमि-
रभिवर्धने । विकासे विस्तारे । उत्क्रांतौ उत्तमोत्तरावस्थांतरगमने । सामर्थ्ये बले ।
आकारे आकृतिविशेषे संस्थाने । तथा आयुषि च सर्वे **सृष्टाः** षड्धातुसमुदायोद्भवाः । पदार्थाः
मर्यादिताः नियतप्रमाणाः स्युः । (९)

बलपरिमाणमेंभी मनुष्यादिओंके शरीरोंको मर्यादा होती है । बल व आयुष्य दोनोंका
प्रमाण नियत याने मर्यादितही रहता है । नित्य हितकारक आहारविहारादिका
सेवन करनेपर तथा साहसादि आयुष्यको क्षीण करनेवाले कारणोंको वर्ज्य करनेपरभी
अर्थात् आयुष्यनाशकारी यिन्नोंका असंभव होनेपरभी कुछ नियतप्रमाण समाप्त
होतेही आयुष्यका अंत होही जाता है, उसीप्रकार आहार्यपदार्थोंद्वारा पुष्टिकारक
अशोंका सेवन करनेपरभी शरीरकी वृद्धि कुछ नियतप्रमाणमेंही होती है—अधिक
नहीं हो सकती (७)

शरीरकी वृद्धि तथा स्थिति याने आयुष्य दोनो नियत याने मर्यादित हैं ।
यदि वे नियत न होसे, तो अनियत प्रमाणमें बढ़नेवाले और अनियत आयुष्यका
उपभोग करनेवाले शरीरने सब विश्वको तथा अनंत कालकोभी व्याप्त कर लिया
होता । अर्थात् मनुष्यका शरीर घोड़े, हाथी, व ऊंटके शरीरसेभी मोटा हो जाता
और शत वर्षके बजाय सहस्रों वर्षोंतक एकेक मनुष्य जी सकता । (८)

सृष्ट पदार्थोंके शरीर, आयुष्य, बल सभी मर्यादित है । वृद्धि याने लंबाई—

स्वाकारेणाभिवृद्धिश्च परिपूर्णा यदा भवेत् ।
 संतत्या वृद्धिमायान्ति शरीरावयवास्तदा ॥ १० ॥
 स्वाकारेण स्वीयगुणैः समानामुपसर्जनम् ।
 स्वीयैरंशैः समाख्याता सन्ततिः स्यात्स्वरूपिणी ॥ ११ ॥
 एकस्मादपरश्चैवमुत्पद्यन्ते ततः क्रमात् ।
 स्थूलत्वमपि पूर्णत्वमेभिरेवोपजायते ॥ १२ ॥

शरीराणां धातूनामवयवानां चाभिवृद्ध्यादिकं कथं जायत इत्याह । स्वाकारेणेति स्वीयेन स्वभावानुकूलेन आकारेण आकृत्या । अभिवृद्धिः परिपूर्णाता । सन्तत्या वक्ष्यमाणलक्षणया । स्वाकारेण स्वीयानुकरिणां आकारेण । स्वीयगुणैः स्वगुणैः । समानां सदृशानां । स्वीयैः आत्मीयैः । अंशैरवयवैः उपसर्जनं उत्पादनं सन्ततिः स्वरूपिणी इति स्वसमानरूपिणी । एकस्मात् उत्पादकात् अपरः अन्यः उत्पद्यते एवं क्रमात् उत्पद्यन्ते । एभिः सन्ततिक्रमेणोत्पन्नैः । स्थूलत्वं उपचितत्वं । पूर्णत्वं नियतप्रमाणेऽवसानम् । (१०-१२)

तत्राहाररसात्पूर्वं रसधातुः प्रजायते ।
 यद्वृद्धतेनोष्मणाऽसौ ततः सम्यग्विपाचितः ॥ १३ ॥
 रसधातुरिति ख्यातो देहसंचारणक्षमः ।

चौडाई आदि, विकास याने विस्तार, उत्क्रान्ति याने उत्तरोत्तर उत्तम अवस्थाको प्राप्त करना, सामर्थ्य याने बल आकार याने विशिष्ट प्रकारकी आकृति, तथा आयुष्य इत्यादिमें सभी सृष्ट (चेतना व पंचभूतविकारके संघातसे उत्पन्न पदार्थ) मर्यादित हैं । (९)

शरीरावयवोंकी अपने निजी आकारकी वृद्धि परिपूर्ण हो जाती है तब वे संततिके रूपमें बढ़ने लगते हैं । संततिका अर्थ है अपनेही समान आकार, व गुण के स्वसदृश पदार्थका अपनेही अंशोंसे उत्पादान करना । अर्थात् संतति स्वरूपिणी याने अपनेही समान रूपवाली होती है । इसप्रकारसे एक अवयव या घटकसे दूसरा, दूसरेसे तिसरा अवयव उत्पन्न होता रहता है । इस संततिक्रमसे शरीरका स्थूलत्व [उपचय] व पूर्णत्व [नियतप्रमाणत्व] उत्पन्न हुआ करता है । (१०-१२)

शरीरमें रसादिधातुओंके उत्पत्तिका क्रम अब बतलाते हैं । आहारका जठराग्निसे पचन होकर उसका जो साररूप रस बनता है उससे [आहारसे] पहिले 'रस' नामक धातु पैदा होता है । उक्त आहारसका यद्वृद्धतेन तत्स्थानीय उष्मासे

शरीरे रसादिधातूनामुत्पत्तिक्रमं निदर्शयन्नाह । तत्रेत्यादि । **आहारसादिति** जठराग्निना विपक्वस्य आहारस्य सारस्वरूपात् । **रसधातुः** रसाभिधानो धातुर्वक्ष्यमाणलक्षणः । **यकृद्रतेनोष्मणा** इति रंजकाख्येन पित्तेन । आहाररसविपाकमिप्रायेणोक्तं सौश्रुते यथा— “स खलु आप्यो रसः यकृत्प्रीहानौ प्राप्य रागमुपैति” । **देहसंचारणक्षमः** सूक्ष्मानुसूक्ष्मस्रोतः संचारक्षमः । **रसधातुरित्याख्यया** ख्यातः । ननु यकृत्प्रीहोः संप्राप्तो रंजकपित्तेन विपक्वो रागयुक्तश्च रसो रक्तसंज्ञः । यथोक्तं सुश्रुतेन । “रंजितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् । अव्यापन्नाः प्रसवेन रक्तमित्यभिधीयते” । तत्कथमस्य रसधातुसंज्ञया व्यपदेशः । उच्यते । रसासृक्सांसभेदोऽस्थिमज्जशुक्राणीति निगदिताः सप्त धातवः सर्वदेहव्यापिनः । तत एव ज्वरादीनां सर्वदेहव्यापिनां व्याधीनां रसाश्रयत्वमुपपद्यते । रंजकपित्तेन रागोत्पादनानन्तरं रक्तधातुत्वस्यांगीकारे जठरायकृतं यावद्रसधातुस्थानं न सर्वदेहगतत्वं न च वा ज्वरादीनां रसधात्वाश्रयः सङ्गच्छते । “व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा । युगपत्सर्वतोऽजसं देहे विक्षिप्यते सदा । क्षिप्यमाणः स्वैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः । तस्मिन्विकारं कुरुते । स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेण अनुधावत्येव केवलं शरीरम् । इत्यादिभिर्वाग्भट्टमुश्रुतोक्तैर्वाक्यैः सर्वशरीरविक्षिप्तो धातु रस एवेत्यभिगम्यते । हृदयाद्विक्षिप्यमाणो रसधातुरित्यभिप्रायेणैव, सुश्रुतसंहितायां ‘रसवहे द्वे तयोर्मूलं हृदयम्’ इत्याख्यातम् । चरकसंहितायां च रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलमिति । ‘रंजितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्’ । इति सुश्रुतोक्तेऽपि शरीरस्थेनोष्मणा रंजिता आपो रक्तमित्यभिधीयत इति प्रति-

याने रंजक नामक पित्तसे फिरभी पचन होता है । आहाररसका पचन यकृत्में किसप्रकार होता है इस संबंधमें सुश्रुत कहता है ‘वह द्रवरूप रस यकृत् व प्रीहामें जाकर रंजित होता है (रागमुपैति) ।’ तब वह सूक्ष्मानुसूक्ष्म स्रोतोद्वारा शरीरमें संचार करनेके योग्य बनता है । और इस अवस्थामेंही वह ‘रस’ धातुके नामसे ख्यात होता है । यहांपर शंका यह ली जा सकती है कि, आहाररसको यकृत् व प्रीहामें आकार रंजक पित्तसे विपक्व व रंजित [लाल रंगका] होनेके बाद ‘रक्त’ संज्ञा दी जाती है । कारण सुश्रुतनेही तो कहा है “शरीरस्थ तेज [उष्मा] के कारण रंजित होनेके बाद रसको रक्तसंज्ञा प्राप्त होती है । फिर ऐसी परिस्थितिमें उसको ‘रसधातु’ कहना कैसा उचित होगा ? किंतु यह शंका निराधार है । कहा गया है कि रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र ये सात धातु सर्वदेहव्यापी हैं । और यहभी कहा गया है कि ज्वर आदि व्याधीभी जो देहव्यापी हैं, रसाश्रित होते हैं । यदि माना कि, रंजक पित्तद्वारा रसमें लाल रंगका निर्माण होनेके बाद उसका ‘रक्त’ धातु बन जाता है, तो

पादितं न यकृत्स्थेनोष्मणा इत्यवधारणीयमस्मिन् । यकृद्गतेनोष्मणा विपक्वो रस आहारजः सूक्ष्मतरस्रोतःप्रवेशक्षमो भवति । रागयुक्तोऽपि रसधातुसंज्ञ एव न रक्तधातुसंज्ञः । रक्तवर्णतां गतेऽपि कथं न रक्तधातुत्वमिति चेत् । केवलं रक्तवर्णत्वात्सारीणी न रक्तसंज्ञा । किन्तु स्वभावविशेषात्सरोधात् प्रयुक्तेति । रक्तत्वं नाम परस्परानुरागित्वम् । जठरानलसंयोगात् विद्रुतास्तथा यकृद्गतेनोष्मणा विपक्वाश्चाहारांशाःपूर्वाकृतिं विहाय रसरूपे विलीना भवन्ति । विलीनत्वादेव शरीरस्य सुसूक्ष्मावयवेष्वप्येतेषां संचारः सुलभः । सर्वदेहप्रसृतानामेतेषां पुनः संश्लेषाच्छरीरावयवानां मूर्तानामुत्पत्तिरभिवर्धनं भवति । रसस्वरूपे विलीनानां संश्लेषानुकूलमवस्थान्तरं परस्परानुरागित्वं रक्तत्वं नाम । तच्च सर्वशरीरसंचारानन्तरं शरीरगतेनोष्मणा संपाद्यते । ततश्चप्रव्यक्तरूपे मांसधातौ परिणतिः । सूक्ष्मस्रोतःसंचारार्थमाहाराकृष्टद्रव्याणां विश्लेषकरो विरागो रसधातौ व्यक्तीभावानुकूलतासंपादकः संश्लेषकरोऽनुरागश्च रक्तधाताविति रसरक्तयोर्विशेषः । ‘ रस, गतौ अहरहर्गच्छतीति रसः इति निरुक्त्या रसधातौः सर्वदेहसंचारश्चोपवर्णितः । अत उक्तं यकृद्गतेनोष्मणा विपक्व आहाररसो रसधातुरिति । (१३॥)

पुनर्विपक्वः शुद्धोऽसौ देहे रक्तमिति स्मृतम् ॥ १४ ॥

पोषकांशाःशरीरस्य विलीना द्रवरूपिणः ।

वसन्ति धातौ रक्ताख्ये द्रवरूपेऽथ जायते ॥ १५ ॥

तस्माद्धनो व्यक्तरूपो धातुर्मांसमिति स्मृतम् ।

यहभी मानना पडेगा कि रसधातु केवल जठरसे लेकर यकृत्तकही रहता और वह सर्व देहव्यापी नहीं है । फिर ज्वरादि व्याधिओंका रसाश्रितत्व माननाभी अयुक्त होगा । “ व्यानवायुद्वारा विक्षेप क्रियाके कारण रसधातु एकसाथ सब शरीरमें फैका जाता है । ” इसप्रकार क्षिप्यमाण रसका यदि किसी स्थानमें उस स्थानके विकृतीके कारण उचित अभिसरण नहीं होता तो उस स्थानमें विकार—व्याधि उत्पन्न होता है । ” “ वह [रस] शब्द, प्रकाश अथवा जलके समान अखंडित प्रवाहसे समस्त शरीरमें वेगसे भ्रमण करता है । ” इत्यादि वाग्भट-सुश्रुतके वचनोंसेभी यही विदित होता है कि, सर्व शरीरमें जिसका विक्षेपण होता है उस धातुका नाम ‘ रस ’ ही है । इस रस धातुका विक्षेपण हृदयमेंसे होता है । और इसी अभिप्रायसे सुश्रुत संहितामें बतलाया गया है कि “ रसवह स्रोतसोंका मूल हृदय है । चरकनेभी रसवह स्रोतसोंका मूल हृदयही बतलाया है । “ शरीरगत तेजसे रस (अप्) रंजित होकर उसको रक्तसंज्ञा मिलती है ” यह जो सुश्रुतका वचन शंकामें उध्दृत किया गया है, उसमेंभी यकृत्गत उष्माका

रक्तधातुस्वरूपं निरूपयति । पुनरिति शुद्धोऽसौ रसधातुः पुनः देहे शरीरे । शरीरगते-
नोपनणा विपक्वः रक्तं स्मृतम् । विलीनाः अमूर्तत्वं गताः । घनः साकारः व्यक्तरूपः विशिष्टा-
कारेण दृश्यरूपः । (१४-१५॥)

द्रवाद्रक्तात्केचिदंशाः समाकृष्टाः परस्परम् ॥ १६ ॥

घनस्वरूपं मूर्तत्वमापन्ना मांससंज्ञकाः ।

मांसं विवृणोति । द्रवादित्वादि । मूर्तत्वमापन्नाः परिमाणवत्त्वं साकारत्वं
गताः । मांससंज्ञकाः ॥ (१६॥)

आहार्याणां पदार्थानां मूर्तानां रसनं रसः ॥ १७ ॥

नाम्नाऽहाररसः पाकाज्जायते जाठराग्निना ।

आहाराद्धातूपचिक्रमं दर्शयति । आहार्याणामित्यादि । मूर्तानां ब्रीहिगोभूमादीना-
माकारवताम् । रसनं विलयनम् । रसः द्रवरूपम् । जाठराग्निना पाचकपित्तेन । नाम्ना
संज्ञया आहाररस इति । (१७॥)

यकृत्प्लीन्होः पुनः शुद्धो रसधातुर्निगद्यते ॥ १८ ॥

धात्वग्निना रसो धातुः शरीरेण विपाचितः ।

भवेच्छुद्धतरो नाम्ना रक्तमित्यभिधीयते ॥ १९ ॥

निर्देश नहीं है, अपितु कहा गया है कि शरीरस्थ उष्मासे रंजित होनेकेबाद रक्त-
संज्ञा मिलती है । यकृत्गत उष्मासे आहारोत्पन्न रस सूक्ष्मतर स्रोतसोंमें प्रवेश कर-
नेके योग्य बनता है । यद्यपि उसमें रक्तता आजाती है तोभी वहांपर उसको रक्त-
संज्ञा नहीं मिलती, उसकी संज्ञा ' रस ' ही रहती है । रक्तसंज्ञा तो तब मिलती
है जब उसमें रक्तका स्वभाव विशेष उत्पन्न होता है । अब यदि पूछा जाय
कि, लाल रंग होनेकेबादभी (यकृत्गत रसको) रक्त क्यों नहीं कहना चाहिये ?
तो इस प्रश्नका उत्तर निम्नरीतिसे दिया जा सकता है । ' रक्त ' धातुसंज्ञा केवल
रक्त (लाल) वर्णानुसारिणी नहीं है । रक्तत्वका अर्थ है परस्परानुरागित्य । जठरा-
ग्निसंयोगसे विद्रुत-द्रवरूप होकर व यकृत्गत उष्मासे विपक्व होकर आहारांश
अपने पूर्व आकृति [आहारद्रवरूप] को छोड़कर ' रस ' धातुके रूपमें विलीन हो जाते
हैं । इसप्रकार विलीन होनेके कारणही वे शरीरकी सूक्ष्मतिसूक्ष्म अवयवोंमेंभी
सुलभतासे संचार कर सकते हैं । ये आहारांश (रस धातुके रूपमें)
सर्व शरीरमें प्रसृत होते हैं और उनसे शरीरावयवोंको पोषण मिलता है अर्थात्

यच्छब्दोन्हेरिति । धात्वधिना धातुगतेनीन्मणा । शारीरेण सर्वदेहगतेन शुद्धतरः सापेक्षया मलहीनः । (१९)

पूर्वरूपविनाशः स्यान्मूर्तानां रसरूपता ।

वियोगाख्यमिदं कर्म पुनरुत्पत्तिकारणम् ॥ २० ॥

पूर्वरूपविनाश इति आहारद्रव्यादिरूपस्य विनाशः । मूर्तानां आहार्यद्रव्यरूपाणां शारीरायवानां वा । रसरूपता द्रवरूपे विलीनत्वं । वियोगाख्यं वियुज्यत इति वियोगः । द्रव्यान्तरस्वरूपे संघातरूपाणां वियोजनम् । पुनरुत्पत्तिकारणमिति पूर्वरूपाणां । पूर्वेषां वियोगोऽयं पदार्थान्तरोत्पत्तिहेतुर्जीवमानशरीरे । आहारगतानां रसान्मांसं मांसरसादस्थीनीत्यादि । (२०)

अव्यक्तरूपाच्च रसात्केचित्संयोगकर्मणा ।

पुनर्मूर्तत्वमायान्ति संयुक्ताः परमाणवः ॥ २१ ॥

व्यक्तरूपं घनं मांसं स्थूलमुत्पद्यते तदा ।

मांसमित्यस्य शब्दस्य स्यादर्थो व्यक्तरूपता ॥ २२ ॥

मांसस्योत्पत्तिं निरुक्तिं च दर्शयति । अव्यक्तरूपादिति आकृतिहीनात् द्रवरूपात् । संयोगकर्मणा संयोगाख्येन श्लेषणाख्येन कर्मणा । मूर्तत्वं सावयवं व्यक्तत्वं । मांसमिति

उनकेही कारण मूर्त शरीरावयवोंकी उत्पत्ति व अभिवृद्धि होती है । इस रसमें शारीरिक पचन संस्कारके प्रभावसे परस्पर मिलनेकी एकी भावको प्राप्त करनेकी भावना उत्पन्न होती है । जिसमें परस्परानुरागित्व रहता है तब उसको 'रक्त' (धातु) संज्ञा मिलती है । यह रक्तावस्था 'रस' का सर्व शरीरमें संचार होनेके बाद शरीरगत उष्मासे प्राप्त होती है । और उसके बाद (रक्तावस्था प्राप्त होनेके बाद) प्रव्यक्तरूप 'मांस' धातुमें उसकी परिणति होती है । सूक्ष्मस्रोत-स्रोतोंमें संचार करनेके लिये आहारमेंसे जो अंश आकृष्ट किये जाते हैं उनका विश्लेषणस्वरूप विरागत्व रसधातुमें रहता है और रक्तधातुमें रहता है संश्लेष-कारक अनुराग । स्पष्टार्थ यह है कि रसधातुमें जो आहारांश रहते हैं उनमें विरलताकी मात्राही अधिक रहती है और रक्तधातुमें इस विरलताकी मात्रा कम होकर वह संघातस्वरूपके योग्य बनते हैं । इसकी निरुक्तिभी ऐसीही है कि "रसशब्द गतिवाचक है । निरंतर गमन करता है—बढ़ता है इसलिये उसको रस कहते हैं । इस निरुक्तिमेंभी रसधातुके सर्वदेहसंचारकाही वर्णन किया गया है अर्थात्

शब्दस्यार्थः अभिप्रायः । व्यक्तरूपता । व्यक्तरूपत्वाभिप्रायेण प्रयुक्तो मांसशब्द इति ।
(२१-२२)

अर्थोऽभिव्यज्यतेऽव्यक्तरूपत्वं रसशब्दतः ।
सूच्यते रक्तशब्देनानुरागश्च परस्परम् ॥ २३ ॥
स्यान्मांसं मृदुसंघातः संहताः परमाणवः ।
रसीभवन्त्यपि पुनस्तस्मान्मेदः प्रजायते ॥ २४ ॥
स्यात्संघातस्वरूपस्य मांसस्य रस एव सः ।
मेदसोऽस्थि व्यक्तरूपं स्यान्मांसात्कठिनं स्थिरम् ॥ २५ ॥
अस्थिनाम्नाऽस्य काठिन्यं स्थिरत्वमपि सूच्यते ।
रसश्चास्थनां विलयनात् मज्जा धातुः प्रजायते ॥ २६ ॥
तस्मिन् गर्भस्य बीजानि मज्जितानि भवन्ति हि ।
मज्जः शुद्धतरं रूपं नाम्ना शुक्रमिति स्मृतम् ॥ २७ ॥
शुक्लत्वं च तथाऽच्छत्वं नाम्नाऽनेनाधिगम्यते ।
यथाऽहाररसः शुद्धतरो रक्तमिति स्मृतम् ॥ २८ ॥
तथा धातुरसः शुद्धतरः शुक्रमुदीरितम् ।

रसादिशुक्रान्तानां धातूनां स्वरूपावबोधिनीं निरुक्तिं दर्शयति । रसशब्दत इति

‘यत्कृतगत उष्मासे विपाचित आहाररसकोही ‘रस’ धातु कहते है’ यह प्रतिपादनही उचित है । (१३॥)

यह शुद्ध रसधातु शरीरगत उष्मासे पुनः विपक्व होकर ‘रक्त’ [धातु] संज्ञाको प्राप्त करता है । इस द्रवरूप ‘रक्त’ नामक धातुमें शरीरके पोषक अंश विलीन होकर द्रवरूपमेंही रहते हैं । उससे याने रक्तसे घन व व्यक्तरूप ‘मांस’ धातु उत्पन्न होता है । (१४-१५॥)

द्रवरक्तमेंसे कुछ अंश परस्पर आकृष्ट होकर घनस्वरूप मूर्तत्वको प्राप्त करते हैं । उन्हीको ‘मांस’ [धातु] संज्ञा मिलती है । (१६॥)

आहारसे धातुओंके उत्पत्तिका क्रम अब दर्शाते हैं । जाठराग्निसे याने पाचक नामके पिरासे चावल, गेहूं आदि मूर्तरूपके आहार्य पदार्थोंका पचन होकर उनका मूर्तत्व विलीन हो जाता है और उसका आहाररस नामका द्रवरूप पदार्थ बनता है । (१७॥)

यह आहाररस यत्कृत-प्रीहामें जाकर पुनः शुद्ध होता है तब उसको

रसनाद्रसः इति निरुक्त्वा रसनं विलयनं स्वरूपनाश इति यावत् । रक्तशब्देनेति रंजनाद्रक्तं । 'रञ्ज, रागे इति धात्वर्थानुसारतस्तद्रतानामगूनां परस्पराभिरागः सूच्यते । मांसं मृदु-संघात इति व्यक्तरूपत्वमस्य प्रागेव दर्शितम् । अस्मिन् संघाताः संभूयाकृतिमन्तः । रसी-भवन्ति विद्रुता भवन्ति । मेदः मेद इत्याख्यो धातुः । सः मेदोधातुः मांसस्य रसः । यतोऽस्मिन् मांसगताः केचिदंशाः प्रद्रुतास्तिष्ठन्ति । व्यक्तरूपं पुनः संघातरूपेणाभिव्यक्तम् । कठिनं स्थिरं च मांसापेक्षया । सर्वथा स्थिरस्वरूपेषु उत्पातिविनाशस्वरूपस्य चलनात्मकस्य कर्मणोऽभावान् । अस्थिनाम्ना 'ष्ठा, गतिनिवृत्तौ इति धात्वर्थानुसारेण स्थिरत्वं सूच्यते । अस्थिनामिति अस्थिगतानां केषांचिदणूनाम् । विलयनात् रसनात् । मज्जा मज्जा इत्या-ख्ययाऽख्यातः । गर्भस्य संभाव्यसन्ततेः । मज्जितानि अव्यक्तरूपेणावस्थितानि । 'मज्जो' शुद्धाविति धात्वनुसारं मज्जनं सूच्यते । मज्जनः शुद्धतरं रूपं शुक्रमिति शुद्धतरो मज्जाधातुरेव शुक्रमिति भावः । पूर्वस्वरूपविनाशः उत्तरस्वरूपेणोत्पत्तिरिति क्रमेणात्र धात्वन्तरोत्पत्तेरभावात् । नाम्नाऽनेन शुक्रमित्यभिधानेन शुक्लत्वं अच्छत्वं च अधिगम्यते । 'शुचिर्' पूर्तीभावे । पूर्तीभावः क्लेद इति धात्वर्थदर्शनात् आहारसः शुद्धतर इति यक-ल्लीन्होः पित्तेन रंजकाख्येन शरीरगतेनोष्मणा विकापात् शुद्धतरो धातुरसः व्यक्तरूपान्मां-सादनंतरमस्थिधातोश्चसंजातः शुक्रमिति । रसादीनां धातुत्वेनोपदेशेऽपि मांसस्वरूपादेवांगानाम-यवानां चाभिव्यक्तिः । पचनादिसंस्कारैराहारसो रक्तभावमापन्नः शरीराणामंगवयवानामुत्पादकस्तथा

‘ रस ’ धातु कहते हैं । रसधातु [शरीरमें भ्रमण करते २] धात्वभिसे [शरीरगत उष्मासे] विपचित होकर पुनः शुद्धतर बनता है तब उसको ‘ रक्त ’ धातु कहते हैं । रसकी अपेक्षा यह [रक्त] अधिक मलहीन होता है । (१८॥-१९)

जिसमें आहारगत द्रव्योंके पूर्वरूपका विनाश होता है और मूर्त आहार्य-द्रव्योंको अथवा शारीर अवयवोंको रसरूपता याने द्रवरूप प्राप्त होता है उस कर्मको ‘ वियोग ’ नाम दिया जाता है । वियोगका अर्थ है अलग करना । संघात-रूप द्रव्यको अन्य द्रव्यके रूपमें वियोजित करना । यह वियोग नामका कर्मही पुन-रुत्पत्तिका कारण है । जीवित शरीरमें पहिले रूपका वियोग होनेपरही दूसरा पदार्थ उत्पन्न होता है । जैसे आहारगत द्रव्योंसे रस, रससे मांस, मांससे अस्थि इत्यादि । (२०)

अव्यक्तरूप रसमेंके कुछ परमाणु संयोग या संश्लेषणकी क्रियासे संयुक्त होकर पुनः मूर्तरूप धारण करते हैं । तब व्यक्तरूप घन मांसकी उत्पत्ति होती है । मांस शब्दका अर्थभी व्यक्तरूपता यही है । (२१-२२)

न्यक्तरूपस्य मांसास्थिसंज्ञस्य शुद्धो रसः शुक्राख्यो गर्भोत्पादक इत्यभिप्रायः । (२३-२८॥)

इत्याहाररसाच्छुद्धाज्जायन्ते सप्त धातवः ॥ २९ ॥

आद्ये शरीरावयवे सर्वेषामप्यवस्थितिः ।

सूक्ष्मरूपेण वृद्धिः स्यात्तेषामाहारजाद्रसात् ॥ ३० ॥

इत्याहाररसादिति । इति उक्तप्रकारेण । शुद्धात् यथावद्विपक्वात् सप्त धातवो जायन्ते । आद्ये शुक्रार्तवसंयोगादुत्पन्ने शरीरस्य प्रथमावयवे । सूक्ष्मरूपेण सर्वेषामवस्थितिः ।

कारणानुविधायित्वात् कार्याणां सूक्ष्मरूपेणावस्थितिरनुमेया । आहारजाद्रसात् तेषामभिवृद्धिर्भवति ।

शरीरस्यापावयवगतानामभिवृद्धिरेवाहारान्न नवीनानामुत्पत्तिरिति । (२९॥-३०)

इति शारीरधातूनामुत्पत्तिक्रमस्वरूपदर्शनं नाम चतुर्थं दर्शनम् ।

रसरक्तादि धातुओंके निरुक्तिसे उनका स्वरूप कैसा सूचित होता है यह अब बतलाते हैं । रसनसे रस शब्द बनता है । अर्थात् उससे रसन-विलयन याने स्वरूपनाश अव्यक्तरूपत्व सूचित होता है । रंजनसे रक्त शब्द बनता है । रंज-धातुका अर्थ है अनुराग-आसक्ति । अर्थात् रक्त शब्दसे तद्रत अणुओंका परस्परा-नुगम सूचित होता है । मांस मृदुसंघात है । मांसका व्यक्तरूपत्व पहिलेही बत-लाया जा चुका है । मांसमें संहत [संधीभूत] परमाणुओंका पुनश्च रसीभवन-विद्रावण होता है तब उनसे मेदकी उत्पत्ति होती है । अर्थात् यह 'मेद' धातु संघातरूप मांसका रसही है । कारण इसमें मांसके कुछ अंश विद्रुत होकर रहते हैं । उस मेदसे व्यक्तरूप और मांससेभी कठिन व स्थिर अस्थि नामका धातु बनता है । अस्थिमें 'ष्ठा' धातुसे काठिन्य व स्थिरता सूचित होती है । (अस्थि केवल मांसकी अपेक्षा स्थिर है सर्वथा स्थिर नहीं है । कारण सर्वथा स्थिररूप पदार्थमें उत्पत्तिविनाशरूप चलनात्मक कर्मका अभाव रहता है । और अस्थिमें यह कर्म चलता है । अर्थात् वह सर्वथा स्थिर नहीं है ।) अस्थिगत

कुछ अणुओंका विलयन होकर जो रस उत्पन्न होता है उसको मज्जा कहते हैं । उसमें गर्भके बीज निमज्जित [डुबे हुए] रहते हैं । मज्जाकेही अधिक शुद्धरूपको शुक्र कहते हैं । अर्थात् शुद्धरूपमें मज्जा धातुही शुक्र संज्ञाको प्राप्त करता है । शुक्र नामसे उनका श्वेतत्व व स्वच्छत्व बोधित होता है । जिस प्रकार आहाररस यकृतगत रंजकनामके पित्तसे तथा शरीरगत उष्मासे विशेष शुद्ध होनेपर रक्त संज्ञाको प्राप्त करता है; उसी प्रकार अस्थिधातुका रस शुद्धतर अवस्थामें शुक्र संज्ञाको प्राप्त करता है । धातुओंके पूर्वरूपके विनाशका व उत्तररूपके उत्पत्तिका क्रम ऊपर वर्णन किये प्रकारसे चलता है । पचनादि संस्कारोंसे रक्तभावको प्राप्त हुआ आहाररस शरीरके अंगोपांगोंका उत्पादक बनता है । और मांसास्थिगत अव्यक्तरूप शुक्र नामके शुद्ध रससे गर्भोत्पत्ति होती है । (२३-२८॥)

इसप्रकार शुद्ध याने विषक आहाररससे सप्त धातुओंकी उत्पत्ति होती है । आद्य शरीरावयवमें याने शुक्रार्तवसंयोगसे जो पहिला शरीरावयव [गर्भकी मूलावस्था] उत्पन्न होता है उसमेंभी सूक्ष्मरूपसे ये सातों धातु रहते हैं । और आहारज रससे उनकी अभिवृद्धि होती है । शरीरके आध्य अवयवमें स्थित सप्त धातुओंकीही आहारगत पोषक रससे अभिवृद्धि होती है । आहार रससे नवीन धातुओंकी उत्पत्ति नहीं होती । [आद्य अवयवमें वे सभी पहिलेसे विद्यमान रहते हैं ।] (२९-३०)

शरीरधातुत्पत्तिक्रमस्वरूपदर्शननामक चतुर्थ दर्शन समाप्त ।

आद्यः शरीरावयवो यस्माद्वीजात्प्रवर्तते ।

वृद्धिर्विकासश्चोत्क्रांतिर्देहे तदनुवर्तते ॥ १ ॥

शरीराणां रसादीनां धातूनामुत्पत्तिं स्वरूपं च सामान्येन प्रागभिहितम् । तद्विस्तारपूर्वकं दोषाणामुत्पादकत्वं दोषधातुमलानां च स्वरूपं विशदीकियतेऽस्मिन् प्रकरणे । आद्य इति प्रथमोत्पन्नः । शरीरावयवः शरीरसंज्ञोपपन्नः अवयवः । शरीरारंभको घटक इति यावत् । स्वभावानुरोधाद्यथासमयमभिव्यक्तैरवयवैरयमेव सर्वांगपूर्णो भवतीति । बीजादिति शुक्रार्तवसंयोगस्वरूपात् । वृद्धिः विस्तारः । विकासः अंगावयवैः पूर्णत्वम् । उत्क्रांतिरवस्थान्तरम् । देहे शरीरे । तत् बीजस्वरूपम् । अनुवर्तते । बीजानुसारिणः शरीरस्य वृद्ध्यादयो भवन्तीति । (१)

प्रव्यक्तरूपं देहेऽस्मिन् मांसमाद्यं ततोऽस्थि च ।

रसो मांसस्य मेदोऽस्थिधातोरुत्पत्तिकारणम् ॥ २ ॥

प्रव्यक्तरूपमिति व्यक्तीमात्रापन्नं । आद्यं प्रथमम् । मांसरूपेण प्रथमं संधीभावश्चाभिव्यक्तो भवतीति । ततः मांसादनंतरम् । अस्थि स्थिरस्वरूपः संघातः । रसः आहाररसः ।

दर्शन ५ वा

शारीरद्रव्यसामर्थ्यदर्शनम् ।

गत प्रकरणमें शरीरके रसादि धातुओंके उत्पत्तिका स्वरूप सामान्य रीतिसे कहा गया । अब इस प्रकरणमें दोषोंका उत्पादकत्व तथा दोष धातु-मलोंका स्वरूप अधिक विशद किया जाता है । आद्य शरीरावयव—जिसका निर्देश गत प्रकरणके अंतमें किया गया है और जो शरीरका प्रारंभक घटक होता है—वही अपने स्वभावानुसार यथासमय अभिव्यक्त अंगोपांगोंसे सर्वांगपूर्ण होता है । यह आद्य अवयव जिस शुक्रार्तवसंयोगस्वरूप बीजसे उत्पन्न होता है उस बीजके अनुसारही उसकी वृद्धि याने विस्तार, विकास याने अंगोपांगोंद्वारा पूर्णत्व, उत्क्रांति याने अवस्थान्तर, शरीरमें हुआ करती है । अर्थात् यथा बीज तथा वृक्ष इस न्यायसे ही क्रम चलता है । (१)

इस शरीरमें सर्व प्रथम संधीभावके कारण मांसधातुही व्यक्तरूप धारण

मांसस्य धातोः । मेदः मेदोधातुः अस्थिधातोरुत्पत्तिकारणम् । आहाररसान्मांसं मेदसश्चास्थिधातुर्जायत इति । आहाररस एव सर्वेषां धातूनामुत्पादकोऽपि मेदोरूपाभिगमानंतरमस्थिधातूत्पत्तेः । ससंघातुत्वेऽपि शरीरस्य रसरक्तमेदोमज्जशुक्राख्याः पंच द्रवरूपा धातवः संघातरूपेणामिव्यक्तस्य धातुद्वयस्याश्रयेणावतिष्ठन्ते । (२)

उत्पाद्यमुत्पादनं च घनं द्रवमिति क्रमात् ।

उत्पाद्यं व्यक्तरूपं स्यादुत्पादनमतोऽन्यथा ॥ ३ ॥

उत्पाद्यमिति व्यक्तरूपेणोत्पादनीयम् । उत्पादनं उत्पाद्यते येनेति, उत्पत्तिकारणम् । घनं मांसास्थिरूपं । द्रवं रसादिधातुपंचकम् । द्रव्यमिति शेषः । उत्पाद्यं द्रव्यं व्यक्तरूपं । उत्पादनं च अन्यथा अव्यक्तरूपम् । (३)

रसो रक्तं तथा मेदो मज्जा शुक्रमिति द्रवम् ।

अमूर्तरूपमव्यक्तं व्यक्तं मांसं तथाऽस्थि च ॥ ४ ॥

रस इत्यादि । घनद्रवस्य व्यक्ताव्यक्तस्य च स्फुटीकरणमिदं सुगमावबोधम् । (४)

सर्वे रसत्वसामान्यादमूर्ताः स्यू रसा इति ।

तद्विशेषावबोधार्थं संज्ञाभेदः प्रकल्पितः ॥ ५ ॥

सर्व इति रसादयः पंच । अमूर्ता विशिष्टाकृतिहीनाः । रसत्वसामान्यात् द्रव-

करता है । मांसके बाद अस्थिमें स्थिररूप संघात दृष्टिगोचर होता है । आहार-रससे मांस धातुकी और मेदसे अस्थिधातुकी उत्पत्ति होती है । यद्यपि वस्तुतः आहाररसही सब धातुओंका उत्पादक है, उसको मेदका स्वरूप प्राप्त होनेके बादही वह अस्थिधातुकी उत्पत्ति कर सकता है । यद्यपि शरीर सप्तधातुमय है, रस, रक्त, मेद, मज्जा व शुक्र ये पांच धातु द्रवरूप होनेके कारण वे अभिव्यक्त धातुद्वयके अर्थात् मांस व अस्थिकेही आश्रयसे रहते हैं । (२)

अभिप्राय यह है कि, उत्पन्न होनेवाला (उत्पाद्य) धातु घन-जैसे मांस व अस्थि-होता है और वह जिससे उत्पन्न होता है (उत्पादन) वह-जैसे रसादि उपरिनिर्दिष्ट धातुपंचक-द्रवरूपमें रहता है अर्थात् उत्पाद्य द्रव्य व्यक्त साकार रूपका और उत्पादन द्रव्य अव्यक्त निराकार रूपका होता है (३)

उदाहरणार्थ-रस, रक्त, मेद, मज्जा व शुक्र ये उत्पादन द्रव्य द्रव-अमूर्तरूप, अव्यक्त होते हैं और मांस व अस्थि ये उत्पाद्य मूर्त-व्यक्त होते हैं (४)

रसादि उक्त पांच धातुओंमें रसत्वका सामान्य होनेके कारण ये सभी अमूर्त

त्वान् । रसा इति स्वरूपा एव । किन्तु तद्विशेषावबोधार्थम् तेषामसामान्यतावबोधाय संज्ञाभेदः रसो रक्तमित्यादिरूपः प्रकल्पितः । (५)

मांसेऽस्थनि च सामान्यं मूर्तत्वमपि भिन्नता ।

स्वरूपे स्यादतः संज्ञाभेदःश्चाप्युपये जितः ॥ ६ ॥

मांस इत्यादि । मांसे अस्नि च मूर्तत्वसामान्येऽपि स्वरूपभेदोपगमाय सन्नान्तरमुपयो-
जितमिति । (६)

रसधातोर्विशुद्धः स्याद्रक्तधातुर्विशेषतः ।

पृथक्करणसामर्थ्यमस्मिंस्तिष्ठति चाधिकम् ॥ ७ ॥

घनस्वरूपान्मांसाद्धि जातं मेदोऽधिकं घनम् ।

शुद्धं चेति पृथक्त्वस्य संज्ञया परिकीर्तनम् ॥ ८ ॥

मज्जा घनः शुद्धतरः स्यादस्थिजनितो यतः ।

तस्मादपि विशुद्धं च शुक्रं संज्ञान्तरं ततः ॥ ९ ॥

घनमस्थ्यधिकं मांसादस्मिन् कठिनताऽधिका ।

स्थिरत्वमिति भिन्नेन नाम्ना संबोधितं खलु ॥ १० ॥

रसादीनां संज्ञाविशेषहेतुं दर्शयति । रसधातोरित्यादिना । पृथक्करणसामर्थ्य-

है । तथापि उनमेंसे प्रत्येकके विशिष्टताका ज्ञान होनेके लिये प्रत्येकको भिन्न संज्ञा दी गयी है (५)

मांस व अस्थि इन दोनों में भी मूर्तत्वका सामान्य है किन्तु उनके स्वरूपमें भी भिन्नता होनेके कारण उनको भी भिन्न संज्ञायें दी गयी हैं । (६) ।

रसधातुसे रक्तधातु विशेष शुद्ध है । सर्व शारीर अवयवोंके पोषक अंश रस व रक्तमें विलीन अवस्थामें रहते हैं । किन्तु रसधातुमें पृथक्करणसामर्थ्य अधिक मात्रामें रहता है । रसको रक्तस्वरूप प्राप्त होनेके बाद भिन्न अवयवोंके अनुसार संघीभावकी उन्मुखता उसमें अधिक उत्पन्न होती है । घनस्वरूप मांससे रसरक्तोंकी अपेक्षा अधिक घन मेदधातुकी उत्पत्ति होती है । इसीलिये मेदको भी ' मेद ' यह पृथक् संज्ञा दी गयी है । अस्थिसे उत्पन्न होनेवाला मज्जा धातु रस, रक्त व मेदकी अपेक्षा घन तथा आधिक शुद्ध होता है । और मज्जासे भी शुक्र अधिक विशुद्ध याने निर्मल होता है । इसलिये उन दोनोंको पृथक् संज्ञायें दी गयी हैं । शुक्र शुद्धतम अर्थात् नितान्त निर्मल धातु है । उसका वास्तवमें कोई मल नहीं

मिति सर्वावयवानां पोषकांशा रसे रक्ते च विलीनत्वेनावतिष्ठन्त्यपि रक्तस्वरूपे संप्राप्ते अवयवान्तरा-
नुसारं संधीभावोन्मुखता समुत्पद्यते मेदोऽधिकं घनं रसरक्ताभ्यामिति तस्य पृथक्संज्ञया परि-
कीर्तनम् । अस्थिजनितो मज्जाधातु रसस्वरूपोऽपि रसरक्तमेदसामपेक्षया घनः शुक्रं च
शुद्धतरं निर्मलमिति भावः । शुक्रमलत्वेनाख्यातमोजः प्रसादरूपं न रसादीनां कफपित्तादिमलवत्
उत्सर्जनार्हम् । न च वा यथाकालमविसर्गान्मलिनीकरणम् । ‘ यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंरितिष्ठति
तिष्ठति । ’ इति जीविवाधास्त्वेनास्योक्तत्वात् । मूर्तत्वसामान्येऽपि मांसापेक्षया कठिनत्वात्
स्थिरत्वाच्चास्थि भिन्नेन नाम्ना संबोधितम् । (७-१०)

स्वरूपभेदात्संज्ञाभिर्विभिन्नाः सप्त धातवः ।

रसादयः स्थूलसूक्ष्मभेदाद्द्वेधा समासतः ॥ ११ ॥

रसादिधातूनां समासतो द्विविधत्वं दर्शयति । **स्वरूपभेदादिति** रसादीनां पूर्वोक्ता
त्वरूपभेदात् हेतोः । **संज्ञाभी** रसरक्तादिभिरभिधानैः । **विभिन्नाः** सप्तसंख्या अपि
धातवः **स्थूलसूक्ष्मभेदात्** । केचित् **स्थूला** मूर्ताः । **केचित्सूक्ष्मा** अव्यक्ता द्रवरूपाः ।
इति भेदात् द्वेधा द्विप्रकारा भवन्ति । (११)

दृश्यादृश्यस्वरूपेण मूर्तामूर्तविभेदतः ।

घनद्रवविभागाच्चाकर्षणादपकर्षतः ॥ १२ ॥

होता । शुक्रका जो ओज नामका मल वतलाया है वह रसरक्तादि धातुओंके
कफपित्तादि मलके समान उत्सर्जनीय याने त्याज्य वस्तु नहीं है, अपि तु प्रसाद-
रूप है । अन्य मलोंका यथाकाल उत्सर्जन न हुआ तो वे धातुओंको मलिन
करते हैं । किन्तु ओजसे किसीकाभी मलिनीकरण नहीं होता । इतनाही नहीं
किन्तु यदि ओज शरीरमें रहा तो जीवितभी सुरक्षित रहता है और ओजका
विनाश हुआ तो जीवितका नाशभी निश्चयसे होता है । अर्थात् ओज मालिन्य-
कर तो हैही नहीं अपितु वही वास्तवमें जीवनाधार है । इसप्रकार द्रवरूप रसादि
पांच धातुओंमें उत्तरोत्तर घनत्व व निर्मलत्व पाया जाता है । अब घन धातुद्वयमेंभी
मांससे अस्थि अधिक घन व कठिन है । मांसकी अपेक्षा अधिक घन, कठिन व
स्थिर होनेके कारण उसकोभी पृथक् नाम दिया गया है । (७-१०)

इसप्रकार रसादि सात धातुओंको स्वरूपभेदके कारण भिन्न संज्ञायें
दी गयी हैं । किन्तु सामान्यतः उनके दोही प्रकार हैं १ स्थूल याने मूर्त-घनरूप
और २ सूक्ष्म याने अमूर्त-अत्यन्त द्रवरूप । (११)

संघीभावाद्विलयनात्तथोत्पत्तेर्विनाशतः ।

द्वित्वं नैवातिवर्तन्ते परस्परविरोधकम् ॥ १३ ॥

रसादीनां धातूनां द्वित्वं हेत्वन्तरैर्निर्दर्शयन्नाह । दृश्यादृश्यस्वरूपेणेत्यादि । दृश्या इत्याकृतिविशेषेण । न सर्वेषां सामान्यं चक्षुर्विषयीभूतत्वमत्रामिश्रितम् । रसरक्तादयो द्रवरूपा अपि चक्षुर्विषयरूपा एवेति । एवमेव मूर्तामूर्तत्वमन्याकृतिविशेषानुरोधात् । आकर्षणादिति आकर्षण-कर्मणः संघातकारणान् । अपकर्षतः वियोगकर्मणः । विलयनादिति रसस्वरूपान् । उत्पत्ते-रित्यभिव्यक्तेः । विनाशतः रसस्वरूपेऽदर्शनान् । द्वित्वं द्विविधत्वं । नातिवर्तन्ते । परस्पर-विरोधकमिति अन्योन्यभावविरुद्धम् । (१२-१३)

व्यक्तरूपा यथा देहे रसाद्याः सप्त धातवः ।

अव्यक्ताः सूक्ष्मरूपेषु शरीरावयवेष्वपि ॥ १४ ॥

रसादि सप्तधातूनां सूक्ष्मावयवव्यापित्वं विवृणोति । व्यक्तरूपा इति । स्पष्टतयाऽ-भिव्यक्ताः । सूक्ष्मरूपेषु अणुस्वरूपेषु । अवयवेषु घटकेत्याकृतिमत्सु । अव्यक्ता अस्पष्ट-रूपा अनुमेयस्वरूपा इति । (१४)

साकारो देहघटकः सप्तधातुमयो भवेत् ।

सूक्ष्मास्तस्मिन्वसन्त्येव रसाद्याः सप्त धातवः ॥ १५ ॥

दृश्य-अदृश्य, मूर्त-अमूर्त, घन-द्रव, आकर्षक-अपकर्षक, संघटित-विघ-टित, उत्पादक-उत्पाद्य इत्यादि परस्परविरुद्ध भावसे धातुओंमें द्विविधत्व होता है । यहांपर दृश्यका अर्थ विशिष्टाकारयुक्त अभिप्रेत है । केवल नेत्रगोचरत्व अभि-प्रेत नहीं । कारण रसरक्तादि-धातु द्रवरूप होते हुएभी नेत्रगोचर है किन्तु उनका कोई निजी विशेष आकार नहीं रहता । इसीप्रकार मूर्तामूर्तत्वसेभी आकृतिविशेषसे युक्त तथा आकृतिहीन यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये । (१२-१३)

रसादि सप्तधातु अत्यंत सूक्ष्म अवयवमेंभी व्याप्त रहते हैं । शरीरमें वे स्पष्ट रूपसे दिखाई देते ही हैं, किन्तु सूक्ष्मरूप याने अणुस्वरूप अवयवमेंभी शरीरके अतिसूक्ष्म आकृतिमान् घटकमेंभी वे रहते हैं । अणुस्वरूप अवयवमें वे अव्यक्त याने अस्पष्टरूप रहते हैं अतः इस अवस्थामें उनके स्वरूपका अनु-मानही करना पड़ता है । (१४)

प्रत्येक साकार देहघटक सप्तधातुमय होता है । अर्थात् उसमें निवास करनेवाले रसादिसप्तधातु सूक्ष्मरूपमें ही रहते हैं । (१५)

उक्तार्थं दृढीकरोति । साकार इति विशिष्टाकृतिसत्त्वेनावस्थितः । सप्तधातुमयः
सप्तधातुसमुदायस्वरूपः । (१५)

साकारत्वात्स्थिरत्वाच्च मांसमस्थ्यनुमीयते ।

रसत्वाच्च रसो रक्तं मेदो मज्जाऽनुमीयते ॥ १६ ॥

उत्पादनात्तथाऽन्येषां शुक्रं चाप्यनुगम्यते ।

सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते स्थूलत्वेनाऽत्र धातवः ॥ १७ ॥

सर्वे धातवः सूक्ष्मावयवेषु कथमवगन्तव्या इति दर्शयति । साकारत्वादिति । सूक्ष्मोऽपि
घटकः साकार इति व्यक्तीभावसामान्यान्मांसमनुमीयते । स्थिरत्वात् स्वीयाकृत्याऽवतिष्ठत इति
स्थिरत्वम् । तस्मान्मांसमस्थि च स्थिरत्वोपलक्षितो धातुः अनुमीयते । रसत्वात् । द्रवद्रव्यापूरितत्वात् ।
रसो, रक्तं, मेदो, मज्जा, इति रसरूपाणां धातूनामनुमानं । उत्पादनादन्येषामिति ।
अवयवावयवान्तरोत्पादनेन शरीरस्याभिवृद्धिर्जायते । पूर्वघटकोत्पादितैरेव संख्याभिवृद्धिर्वटकाना-
मिति सूक्ष्मावयवस्योत्पादकत्वम् । तस्माच्छुक्रमनुगम्यत इति । सूक्ष्मावयवे सूक्ष्मत्वात् स्थूलत्वेन
स्थूलस्वरूपेण नोपलभ्यन्त इति । (१६-१७)

शुक्रान्तमाहाररसादुत्क्रान्ताश्च यथोत्तरम् ।

भवन्ति धातवः शुद्धास्तथा चिरविनाशिनः ॥ १८ ॥

अणुस्वरूप देहघटकभी साकार व स्थिरभी होता है इसलिये उसमेंभी
मांस व अस्थिके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है । तथा वह द्रव
द्रव्योंमेंभी भरा हुआ रहता है इसलिये उसमें रस, रक्त, मेद व मज्जा इन द्रव
धातुओंके अस्तित्वका अनुमान हो सकता है । यह अणुरूप देहघटक अपने
सदृश अन्य घटकको उत्पन्न भी करता है । अर्थात् उसमें शुक्रधातुका अस्तित्व भी
अनुमानसुलभ है । कारण एक परमाणुसदृश अवयवसे दूसरे वैसेही अवयवकी
उत्पत्ति हुआ करती है, तभी तो शरीरकीभी वृद्धि होती है । अर्थात् यह स्पष्ट है
कि यह अणुरूप अवयव स्वयं सूक्ष्म होनेके कारण उसमें रसादि धातु स्थूलस्व-
रूपमें उपलब्ध नहीं हो सकते किंतु उससेभी सूक्ष्म अतएव अनुमानगम्यही
होते हैं । (१६-१७)

आहाररससे उत्क्रान्त होनेवाले रसादिशुक्रान्त धातु उत्तरोत्तर अधिकाधिक
शुद्ध और चिरविनाशी होते हैं । अर्थात् रसका सबसे शीघ्र विनाश होगा तो
शुक्रका सबसे अधिक समयके बाद । पीछे कहा जा चुका है कि, रससे रक्त,

शुक्रान्तमिति । रसधातोः शुक्रधातुपर्यन्तं । शुद्धा निर्मलाः । प्रतिधातौ विपाकाग्नि-
र्मलत्वस्याभिवृद्धिः । **चिरविनाशिनः** चिरेणाधिकसमयेन विनाशमायान्तीत्येवंरूपाः । रसाद्रक्तं
ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च । मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जातः शुक्रसम्भवः । इति आहार-
रसाद्रसादीनां धातूनां क्रमादुत्पत्तिरुत्क्रान्तिरूपा जायत इत्युक्तम् । धात्वन्तरोत्पादनाद्विपाकात्पूर्व-
धात्वपेक्षया उत्तरधातौ नैर्मल्यं स्थिरत्वं चाधिकं भवति । ततश्चोत्तरोत्तरं धातूनामुत्पत्तिविनाशसमय-
स्यापि प्रमाणभेद उपपद्यते । किन्तु सुश्रुतसंहितायां समानैव सर्वेषां धातूनामुत्पादसमयमर्यादाऽभि-
हिता । यथा—स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पंचदश च कला एकैकस्मिन् धातौ अवतिष्ठते ।
एवं मासेन रसः शुकीभवति स्त्रीणां च आर्तवम् । विपाकाच्चैर्मलस्योत्पादनेऽपि धात्वन्तरेषु परिणतिः
समानेनैव कालेन सर्वेषां भवतीति युक्तिविरुद्धं चिन्तनीयमेतत् । आहाररसादेकेन दिवसेन रसधातुः,
रसात् द्वाभ्यां दिवसाभ्यां रक्तं, त्रिभिर्मासं तस्मात् चतुर्भिर्मेदः मेदसश्च पंचभिर्दिवसैरस्थीनि, तेभ्यः
षड्भिर्मज्जा मज्जश्च सप्तभिः शुक्रमित्यष्टाविंशतिसंख्याका दिवसाः । दिनद्वयं चाधिकं शुक्रावस्थायां
स्थैर्यकारणमिति कृत्वा मासेन रसः शुकीभवतीत्युपवर्णनं यथार्थमपि त्रीणि सहस्राणि पंचदश च
कलापरिमितः समयः सर्वधातुषु रसावस्थानाभिप्रायेण दर्शितश्चितनीय इति । (१८)

संयोगश्च वियोगश्च द्वौ साधकतमौ मतौ ।

समुत्पत्तेस्तथोत्क्रान्तेर्धातूनां वर्धनस्य च ॥ १९ ॥

शारीराणां धातूनामुत्पत्तिवृद्ध्यादिकारणौ संयोगवियोगाख्यौ क्रियाविशेषौ दर्शयति ।

रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा व मज्जासे शुक्रकी उत्पत्ति
होती है । इसप्रकार आहारससे रसादि धातुओंकी क्रमसे उत्क्रान्तिरूपमें उत्पत्ति
हुआ करती है । एक धातुसे दूसरे धातुकी उत्पादन क्रियामें पूर्व धातुका विपाक
होनेके कारण उसकी अपेक्षा उत्तर धातुमें निर्मलता व स्थिरत्वकी मात्रा अधिक
रहती है । इसी कारण उत्तरोत्तर धातुओंके उत्पत्ति व विनाशकालका प्रमाणभी
बढ़ना चाहिये । किन्तु सुश्रुतने सभी धातुओंकी उत्पादनसमयकी मर्यादा समानही
बतलाया है । सुश्रुत कहता है “वह (रस) तीन हजार पंधरा कलातक प्रत्येक धातुमें
ठहरता है । इसप्रकार एक महिने में रसका पुरुष शरीरमें शुक्र व स्त्रीशरीरमें
आर्तव बनता है ।” किन्तु यह युक्तिविरुद्ध प्रतीत होता है । कारण उत्तरोत्तर
धातु विपाकके कारण अधिकाधिक निर्मल होते हैं । अतः उनकी उत्पत्तिविनाशकी
कालमर्यादाभी भिन्न होना चाहिये । वास्तवमें आहाररससे एक दिनमें रसधातु बनता
है । इससे दो दिनमें रक्त, रक्तसे मांस तीन दिनोंमें मांससे मेद चार दिनोंमें, मेदसे
पांच दिनोंमें अस्थि, अस्थिसे छ दिनोंमें मज्जा और मज्जासे सात दिनोंमें शुक्र की

संयोगश्चेत्यादिना । संयोग इति संश्लेषः । वियोगश्च विश्लेषः परमाणूनाम् । साधकतमा-
चिति प्रधानकारणस्वरूपौ । शरीराणां पदार्थानामुत्पत्तिवृद्ध्यादिकं कर्माखिलं संयोगवियोगाख्येन
कर्मद्वयेनाभिवर्तत इति । उत्पत्तिविनाशस्वरूपं कार्यं संयोगवियोगकृतमिति दर्शयन्नाह चरकः ।
“ तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्दः । षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकशब्दः । षड्धातुविभागो
वियोगः स जीवापगम इति । (१९)

प्राग्भवेद्रसनं पोष्यपोषकाणां समागमे ।

ससत्त्वनिःसत्त्वयोश्च स्यात्पृथक्करणं ततः ॥ २० ॥

पोषणं च तथोत्पत्तिरंशैः सत्त्वाधिकैश्च यैः ।

श्लेष्मपित्तानिलाख्यास्ते त्रयो दोषा इति स्मृताः ॥ २१ ॥

आहूयन्ते तथा हीनसत्त्वाश्चांशा मला इति ।

धातूपादनक्रियाकर्म दर्शयन्नाह । प्रागित्यादि प्रागिति धातूपादनारम्भे । पोष्य-
पोषकाणाम् । पोष्याः शरीरधातवः । पोषकाश्चाहारसगताः समानगुणांशाः । तथैव पोष्या
यथोत्तरं धातवः । पोषकाश्च यथापूर्वधातवः । शरीराणां धातूनां द्विप्रकारं पोषणमभिहितं तत्रकृद्भिः ।
एकं नित्यं क्रमान्वितमपरं चेति । तत्र नित्यं नामाहारसायुगपदाप्यायनं सर्वेषाम् । यथा । स
हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनारितुप्रविश्य उर्ध्वगा दश दश च अधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीर-

उत्पत्ति होती है । यहभी माना जा सकता है कि, शुक्रोत्पत्तिको शुक्रधातुके
स्थैर्यके कारण दो दिन अधिक लगते हैं याने सातके स्थानमें नऊ दित लगते
हो । इस क्रमसे एक मासमें आहाररसका शुक्रमें उत्क्रमण होता है यह वर्णन
यथार्थ प्रतीत होता हुआभी यह कहना कि प्रत्येक धातुमें आहाररस तीन सहस्र
पंधरा कला (५ दिवस) रहता है, कहांतक युक्तिसिद्ध है इसका विचारही
करना चाहिये । (१८)

धातुओंकी उत्पत्ति, उत्क्रांति व संवर्धनके विषयमें संयोग व वियोग (पर-
माणुओंका संश्लेष व विश्लेष) सबसे अधिक साधक याने प्रधान कारणस्वरूप होते
हैं । सारांश शरीर पदार्थोंकी उत्पत्ति-वृद्ध्यादि सभी कर्म संयोग-वियोग नामके
दो कर्मोंके स्वरूपमेंही चलता है, चरकनेभी ‘ संयोगापेक्षी लोकशब्द ’ इस अपने
प्रसिद्ध वचनमें पदार्थोंकी सृष्टिमें संयोग-वियोगकी अपेक्षा दर्शित की है । (१९)

धातुओंके उत्पादनके प्रारंभमें पोष्य [शरीर धातु] और पोषक [आहा-
ररसगत समान गुणके अंश] इनके समागमसे रसन याने विलयन [द्रवोत्पादन]

महरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चाट्टहेतुकेन कर्मणा । इति सुश्रुतः । तथा “ व्यनेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा, युगपत्सर्वतोऽजघं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ ” इति च वाग्भटः । स्वमानोपचितानां रसादिशुक्रान्तानां धातूनां क्रमेणोत्पादनं क्रमान्वितम् । यथा रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते । मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जातः शुक्रसंभवः । इति । धातूनां द्विविधं पोषणाख्यानं न परस्परविरुद्धम् । परिणामभिन्नत्वात् । आहाररसेनाभिवर्धनेऽपि सर्वेषामुत्तरोत्तरधातुस्वरूपेण परिणामो धातुस्थेनोष्मणा भवतीत्यनेनैव क्रमेणाहारसोऽवस्थांतराण्यनुभूयमानः शुक्रावस्थामुपैति । नित्यमाहाररसेनोपचीयमाना अपि धातवः स्वमानाभिवर्धने प्रतिनियता इत्यत्र वैश्वनांशोत्तरधातुरूपे परिणतिर्हेतुः । नोचेदनियतप्रमाणेनाभिवृद्धिर्न तेषां प्रतिपद्यते । आहाररसेनोपचितो धातुः केषांचनाशानामुत्तरधातुरूपे परिणामात्तदुत्पादनक्रियायां च मलरूपेण केषांचित्परिणामात्परिहीयते । परिहीयमाणश्चायमाप्यायते पुनराहाररसेनेति । स्वभावानुसारमुत्तमधातुवे परिणामाभावादयथावदभिवृद्धो व्याधीनुत्पादयेत् । यथा स्वमानोपचितस्य मेदसोऽस्थिरूपेण परिणामाभावा स्थौल्यादयो विकाराः । सौक्ष्म्यान्नर्मल्याः प्रसादरूपत्वाच्च शुक्रधातोर्भिवृद्धिर्न हानये अपि तु बलोपचयो साहामिवर्धिनी । पांचमौतिकस्य षड्रसस्याहारस्य रसेनोपचीयमानेऽपि बालशरीरे शुक्रधातोर्स्थिविशेषाणां चानभिव्यक्तिः । अभ्यस्तेनापि षड्रसाहारेण वार्धक्ये शुक्रधातोर्नुपत्तिः शुक्रक्षयाः पूर्वधातूनां क्षयः । इत्यादिभिर्धानूनां क्रमेणोत्तरोत्तरधातुरूपे परिणतिरधिगम्यते । तत एवोक्तं चरकः । धातवो हि धात्वाहारा इति । यथा कस्यचित् वृक्षस्य मूले निषिक्तं जलं सर्वेषां शाखोपशाखापङ्कजादीनां युगप-

की क्रिया होती है । उत्तरधातु व पूर्वधातुवंश भी अनुक्रमसे परस्परके पोष्य व पोषक होते हैं । शारीर धातुओंका पोषण दो प्रकारसे आयुर्वेदशास्त्रमें बतलाया गया है । एक नित्य व दूसरा क्रमान्वित । नित्य पोषण आहाररसे एक समय सबधातुओंका आप्यायनद्वारा होता है याने आहाररस विरल व सूक्ष्म द्रवरूपमें सब धातुओंमें पहुँचकर उनका नित्य पोषण किया करता है । सुश्रुतने कहा है “ वह [रस] हृदयमेंसे चौबीस धमनीओंमें [दस ऊपर जानेवाली दस अधोगामी व चार तिर्यक् जानेवाली] अनुप्रवेश कर प्रतिदिन समस्त शरीरका पोषण, वर्धन धारण व संतोष करनेका कार्य करता है । ” वाग्भटनेभी कहा है “ रस धातु विक्षेपणकर्ता व्यान वायुके विक्षेपण क्रियाके कारण एक समय समस्त शरीरमें फैका जाता है । ” दूसरा पोषण प्रकार क्रमान्वित पोषणका है । अर्थात् शरीरमें अपने २ प्रमाणमें रसादि शुक्रांत धातुओंका क्रमसे उत्पादन हुआ करता है । जैसे रससे रक्त, रक्तसे मांस आदि प्रकारसे मज्जासे शुक्रका निर्माण होता है । धातुओंके द्विविध पोषणका यह प्रतिपादन परस्परविरुद्ध नहीं है । कारण उनके परिणामभी

सादकरमपि शाखोपशाखाकुड्मलाद्युत्पत्तिक्रमेणैव कुसुमोद्गमः । तथाऽविरतं सर्वशरीरे प्रसर्पन् रसधातुः सर्वावयवेषु युगपत्प्रसादोत्पादकोऽपि मांसास्थ्यादीनामुत्पादनं क्रमेणैवेति धातूनां द्विविधं पोषणं न परस्परविरुद्धम् । एवं पोष्यपोषकाणां समागमे संगमे प्राक् प्रथमं रसनं द्रवत्वोत्पादनम् । ससत्त्वनिःसत्त्वयोरिति । ससत्त्वा उत्तरधातूत्पादनाहीः निःसत्त्वा धातूत्पादनायाक्षमा मलरूपाः । पृथक्करणं विभजनं सारकिद्विविवचनं नाम । सत्त्वाधिकैरिति सामर्थ्याधिकैः । हीनसत्त्वा इति सापेक्षतया सामर्थ्यहीनाः । (२०-२१॥)

प्रसादाख्या मलाख्याश्च धातवो द्विविधा मताः ॥ २२ ॥

तेषु प्रसादरूपास्ते संबृध्युत्पत्तिकारिणः ।

हीनसत्त्वाः क्षीयमाणावस्थास्ते मलसंश्लकाः ॥ २३ ॥

दोषत्वं मलत्वं च प्रकारान्तरेण वर्णयति । प्रसादाख्या इत्यादिना । प्रसादाख्या इति निर्मलवात्प्रसादसंज्ञया परिगणिताः । मलाख्या इति हीनशक्तिवान्मलसंज्ञयाऽख्याताः । द्विविधा इति रसादीनां सप्तसंख्याकानामपि प्रसादमलरूपेण द्वौवेत्यात् । प्रसादरूपा एव उत्पत्तिवृद्धिकारणाः मलाश्च क्षीयमाणावस्था इति हीनसामर्थ्याद्विनाशोन्मुखाः । यदुक्तं चरकसंहितायां—‘ ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च । (२२॥-२३)

उत्पादनेऽभिवृद्धौ चाकर्षणं संग्रहस्तथा ।

भिन्न होते हैं । एक ओर आहाररसे धातुओंका साक्षात् अभिवर्धन [पोषण] चलताही रहता है, तो दूसरी ओर धातुगत [शरीरगत] उष्मासे विपाचित होकर पूर्वधातुव्यंशोंकी उत्तर धातुरूपमें परिणति चलती रहती है । इस क्रमसेही आहाररस उत्तरोत्तर धातुमें अवस्थांतरित होकर शुक्लावस्थामें प्राप्त होता है । नित्य आहाररसे पुष्ट होते हुएभी प्रत्येक धातुके अपने वृद्धिका प्रमाण नियत—मर्यादित रहता है और उसकेही कुछ अंश उत्तर धातुमें परिणत होते हैं । अन्यथा धातुओंकी अनियत प्रमाणमें वृद्धि हो जाती । आहाररसे पुष्ट होकर प्रत्येक धातुके कुछ अंशोंकी जिस प्रकार उत्तर धातुमें परिणति हुआ करती है उसीप्रकार इस (उत्तर धातुके) उत्पादन क्रियामें उसके कुछ अंश मलस्वरूप बनाकर उनका वह त्याग कर देता है । मलस्वरूप अंशोंका त्याग करनेसे धातु क्षीण बनता है किंतु आहाररससे नित्य पोषण क्रमसे पुनः उसका आप्पायन (परिपोषण) होकर उसका प्रमाण कायम रहता है । अपने इस स्वभावके अनुसार यदि प्रत्येक धातुकी उससे श्रेष्ठ धातुमें परिणति न हुई और आहाररसे नित्यपोषणद्वारा उसकी

साधकस्तं विना संधीभावस्याभाव एव च ॥ २४ ॥

उत्पादन इति धातूनामुत्पादने वृद्धौ च आकर्षणं दूरस्थानां सन्निधावानयनं ।
संग्रहः सन्निहितेष्वेकीभावोत्पादनम् । साधकः प्रधानहेतुरिति यावत् । संधीभावस्येति ।
विशिष्टाकृतिसम्पन्नस्य संघातस्य । (२४)

संयुज्यन्ते संगृहीतास्तस्मान्मूर्तस्य सम्भवः ।

मूर्तानां नामकरणं सामर्थ्याकृतिभेदतः ॥ २५ ॥

संयुज्यन्त इति । संगृहीताः एकीभावसागताः । संयुज्यन्ते भिन्नात्मकत्वं विहायै-
करूपत्वमायान्ति । तस्मात्संयोगात् । मूर्तस्याकृतिमतः । सामर्थ्याकृतिभेदत इति सामर्थ्यं
शक्तिः कार्यानुमेया । आकृतिराकारविशेषः । आदिशब्दादगुणानां ग्रहणम् । नामकरणं
मनुजतुरगादिनामोपयोजनम् । जलचरस्थलचरादिकम् । वृक्षगुल्मादिकं वा । (२५)

मूर्तानां हि पदार्थानां संयोगश्चादिकारणम् ।

द्रव्यान्तर्वर्तिना भाव्यं तस्मात्संयोगकारिणा ॥ २६ ॥

मूर्तानामिति । पूर्वोक्तानुसारेण मूर्तानां पदार्थानां आदिकारणं प्रधानं कारणं
संयोगः । तस्मात् संयोगकारिणा संयोगकर्त्रा केनापि । द्रव्यान्तर्वर्तिना संयुक्तानां
संयोज्यानां च द्रव्याणामन्तर्निष्ठेन भाव्यम् । संयोगकर्मणा संहितानामेव संयोगसंभवात् । (२६)

केवल वृद्धिही होती रही तो इसप्रकार अनियत प्रमाणमें अभिवृद्धि धातु व्याधीको
उत्पन्न करेगा । उदाहरणार्थ अपने प्रमाणें उपचित भेदकी अस्थिरूपमें परिणति
न हुई तो उससे स्थौल्यादि विकार उत्पन्न होते हैं । इस नियमको शुक्रधातुका
अपवाद है । कारण वह सूक्ष्म, निर्मल व प्रसादरूप होनेसे शुक्रधातुकी कित-
नीभी अभिवृद्धि हुई तो वह हानिकर नहीं होती अपितु बल, उत्साह व उपच-
यकी वर्धक होती है ।

पांचभौतिक षड्रसयुक्त आहारके रससे पुष्ट होता हुआभी बाल शरीरमें
कुछ विशिष्ट अस्थि व शुक्रधातु अभिव्यक्त रूपमें नहीं रहा करते हैं । उसीप्रकार
वृद्धावस्थामेंभी योग्य षड्रसात्मक आहार करनेपरभी शुक्रधातुकी उत्पत्ति दिखाई
नहीं देती । शुक्रधातुका क्षय होनेसे पूर्व पूर्व धातुओंकाभी क्षय हो जाता है इस-
प्रकार अन्वयव्यतिरेकसेभी यह स्पष्ट हो जाता है कि धातुओंकी क्रमसे उत्तरोत्तर
धातुमें परिणति हुआ करती है । इसीकारण चरकनेभी कहा है “ धातुही धातु-
ओंका आहार है ” जैसे:-किसी वृक्षके मूलमें सींचा हुआ जल एकसाथही सर्व

संयोजनं श्लेषणं च शब्दौ पर्यायवाचकौ ।

श्लेषमेऽत्यायुर्वेदतंत्रेष्वार्यातः श्लेषणादिति ॥ २७ ॥

संयोजनमित्यादि । पर्यायवाचकाविति परस्परार्थवाचकौ । श्लेषणात् संयोगात् संग्रहाद्वा । आयुर्वेदतंत्रेषु चरकसुश्रुतादिप्रणीतेषु ग्रंथेषु । श्लेषमा इत्याख्यातः श्लेषसंज्ञया परिकीर्तित इति । (२७)

धातुरालिगनार्थे ' श्लिप्, शब्दज्ञैरुपवर्णितः ।

श्लेषमेतिसंज्ञयाऽख्यातः कर्ता संयोगकर्मणः ॥ २८ ॥

धातुरिति अर्थस्य धारणाद्धातुः । आलिगनार्थे संग्रहार्थे । शब्दज्ञैः शब्दशास्त्रज्ञैर्व्याकरणैः । संयोगकर्मणः कर्ता श्लेषमा इति संज्ञया आख्यातः । आयुर्वेदत्रिहिरिति शेषः ॥ (२८)

ससत्त्वनिःसत्त्वयोश्च स्यापृथक्करणं यतः ।

विभाजनाद्द्वयं पित्तं तद्विभाजकमुच्यते ॥ २९ ॥

आयुर्वेदे पित्तनाम्ना सूचितं स्याद्विभाजनम् ।

शरीरपदार्थानामुत्पादने संयोगाख्यं कर्माभिधाय विभाजनं वर्णयति । ससत्त्वनिःसत्त्वयोरित्यादिना । ससत्त्वनिःसत्त्वयोरिति प्रसादमलस्वरूपयोः पृथक्करणं विभक्त्युत्पादनम् । विभाजनाद्द्वयं विभाजनाख्यं । पित्तं पित्ताख्यो दोषविशेषः विभाजकं विभाग-

शाखोपशाखा पल्लवादिओंका प्रसादकर होता है किंतु शाखा, उपशाखा, पर्ण फूल, आदि क्रमसेही फलनिष्पत्ति होती है । उसीप्रकार यद्यपि रसधातु अविरत शरीरमें भ्रमणकर अवयवोंमें प्रसाद उत्पन्न करता है, मांस, अस्थि आदि धातुओंका उत्पादन उनके अपने क्रमसेही हुआ करता है । इससे स्पष्ट होता है कि धातुओंका यह द्विविध पोषण परस्परविरुद्ध नहीं है ।

ऊपर कहा गया है कि पोष्यपोषकोंके समागमसे प्रथम रसन—द्रवोत्पादन होता है । नंतर ससत्त्व याने उत्तर धातुके उत्पादनके योग्य तथा निःसत्त्व याने धातुत्पादनके अयोग्य मलस्वरूप अंशोंका पृथक्करण होता है । जिन अधिक सत्त्वशील अंशोंसे उत्तरधातुओंकी उत्पत्ति व पोषण होता है वही कफ, पित्त व वात इन तीन दोषोंके नामसे जाने जाते हैं । और हीनसत्त्वांशोंको—सापेक्षतया सामर्थ्यहीन अंशोंको मल कहते हैं । (२०—२१ ॥)

धातुओंके दो प्रकारोंके अंश होते हैं—१ प्रसाद नामके व २ मल नामके । निर्मल होनेके कारण पहिले अंशोंको ' प्रसाद ' कहा जाता है और दूसरे

कारणम् । आयुर्वेदे पित्तनाम्ना पित्तसंज्ञया विभाजनं कर्म तत्कर्मकर्ता च विभाजनाख्यस्य कर्मणः कर्तुं पित्तमिति सूचितम् । (२९ ॥)

आकर्षणं ससत्त्वानामणूनां धातुसंग्रहे ॥ ३० ॥

उत्सर्जनं तथाहीनसत्त्वानां क्रियते यया ।

गतिः सावायुराख्यातः संज्ञया स्याद्वियोजकः ॥ ३१ ॥

संयोगवियोगसातत्येन शरीरपदार्थोपादने वायोः संबंधनिदर्शनार्थमुच्यते । आकर्षण-
मित्यादि । आकर्षणं द्रव्याणूनां सामीप्ये नयनं । ससत्त्वानां धातूपादनसामर्थ्यसंयुतानाम् ।
धातुसंग्रह इति धातुसंघातकर्मणि । उत्सर्जनं बहिःक्षेपणम् । हीनसत्त्वानां मलरूपिणाम् ।
यया क्रियते सा गतिः । तत्कर्ता वायुराख्यातः । स च वियोजकः विश्लेषकः । आकर्षणाख्ये
कर्मण्यपि पूर्वसंश्लेषवियोगादाकर्षण उत्सर्जने च वियोगसामान्यमुपपद्यते । (३० ॥—३१)

रसादयः सप्त देहे धातवः समुदाहृताः ।

समुदायस्वरूपेण व्यक्तरूपा भवन्ति हि ॥ ३२ ॥

रसादय इति । समुदाहृताः आख्याताः समुदायस्वरूपेणेति बहुसंख्यसम-
वायरूपेण । व्यक्तरूपा स्थूलत्वेन दृश्याः । (३२)

वसन्ति सूक्ष्मावयवे सूक्ष्माश्चाव्यक्तरूपिणः ।

को हीनशक्ति होनेके कारण 'मल' संज्ञा दी जाती है । रसादि शुक्रांत
प्रत्येक धातुमें प्रसाद व मल इन दोनों प्रकारके अंश रहतेही हैं । उनमेंसे प्रसाद
रूप अंशही उत्पत्ति व वृद्धीके कारण होते हैं । मलस्वरूप अंश क्षीयमाण अव-
स्थामें रहते हैं अर्थात् उनका सामर्थ्यहीन हो जानेके कारण वे विनाशोन्मुख बने
जाते हैं । चरक संहितामें कहा है " वे सभी धातु मल व प्रसाद रूपके रहते
हैं । (२२ २३ ॥)

धातुओंका उत्पादन व वृद्धिके साधक (मुख्य हेतु) आकर्षण (दूरस्थ
अणुओंका निकट आनयन) और संग्रह (निकटवर्ति अणुओंमें एकीभावकी
उत्पत्ति) ये दो क्रियायें होती हैं । उनकेबिना संघीभाव याने विशिष्ट आकृति-
संपन्न संघातही न हो सकेगा । (२४)

संगृहीत (एकीभावको प्राप्त) अणु अपने भिन्नात्मकताको छोड़कर एक-
रूपत्वको प्राप्त करते हैं । उनके इस संयोगसेही विशिष्ट आकृतिके पदार्थका
निर्माण होता है । सामर्थ्य (कार्यानुमेय शक्ति), आकृति, गुण आदि विषयमें

वसन्तीति । सूक्ष्मावयवे सूक्ष्मे शरीरघटके । सूक्ष्मा अत एवाव्यक्तरूपिणो वसन्ति । स्थूलवेनादृश्यत्वेऽपि सर्वेषु शरीरावयवेषु सूक्ष्मेऽपि रसादयः सप्त धातवो निवसन्तीति भावः । (३२॥)

रसरक्ते शरीरस्थे समुदायात्मके यथा ॥ ३३ ॥

अणवः सर्वधातूनां वसन्त्युत्पादनक्षमाः ।

तथैवावयवे सूक्ष्मे तस्योत्पत्तिकरा अपि ॥ ३४ ॥

धातूनां सूक्ष्मावयवावस्थानं विशदीकुर्वन्नाह । रसरक्त इति । शरीरस्थे सर्वशरीरावस्थिते । समुदायात्मके समुदायस्वरूपेणावस्थिते । अणवः सूक्ष्मकणाः । सर्वधातूनामिति मांसादीनां धातूनाम् । उत्पादनक्षमाः उत्पत्तिकारिणः । तस्य सूक्ष्मावयवस्य उत्पत्तिकराः । सर्वधातूत्पत्तिकरं रसरक्तं मांसादिधातृवंशाश्च शरीरवत्सूक्ष्मावयवेषु तस्योत्पादनकरा भवन्ति । सूक्ष्मावयवोत्पादनाद्रसरक्तादिधातूनामवस्थितिः सूक्ष्मघटकेऽप्यनुमीयत इति । (३३-३४)

समुदायात्मिका पेशी मांसस्य व्यक्तरूपिणी ।

तथैव सूक्ष्मावयवे मूर्तिः स्यान्मांसरूपिणी ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मावयवेषु सर्वधातूनामवस्थानं दर्शयति । समुदायात्मिका इति मांसावयवानां समुदायस्वरूपा । पेशी मांससंघातः । मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः 'पेशी' इत्युच्यते । इति उल्लेखः । 'पिश' अवयवे इति धात्वर्थान्च पेशीऽत्यवयवविशेषः । व्यक्तरूपिणी

उनमें जो भेद होता है उससेही पदार्थोंको पृथक् २ नाम मिलते हैं जैसे—मनुष्य अश्व आदि तथा जलचर, स्थलचर, वृक्ष, गुल्म आदि । (२५)

मूर्त याने विशिष्ट आकार धारण करनेवाले पदार्थोंका आदि कारण संयोग होता है और संयोगको करनेवाली शक्ति संयुक्त व संयोज्य द्रव्योंमेंही आश्रित होती है । अर्थात् जिस समय द्रव्योंका संयोग होता है उस समय द्रव्योंमें संयोगकारी सामर्थ्य रहताही है । (२६)

संयोजन व श्लेषण ये शब्द पर्यायवाचक (समानार्थक) है । संयोगकारी या संग्रहकारी होनेके कारणही आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें कफको 'श्लेष्मा' नाम दिया गया है । (२७)

व्याकरणकारोंनेभी 'श्लिष्,' धातुका आलिंगन, संग्रह इसी अर्थसे वर्णन किया है । आयुर्वेद शास्त्रज्ञोंने संयोग कर्मके कर्ताको यही 'श्लेष्मा' संज्ञा दी है । (२८)

ससत्त्व व निःसत्त्व अंशोंका पृथक्करण करनेकी विभाजना नामकी क्रिया जो करता है उस विभाजकको आयुर्वेदमें 'पित्त' संज्ञा दी गयी है । पित्त नामसेही

पूषत्त्वात् प्रव्यक्तस्वरूपा । सूक्ष्मावयवे अवयवांतरगतसूक्ष्मघटके । मूर्तिः साकारत्वं घनत्वमिति
रसात् । मांसरूपिणी मांसस्वरूपा । सूक्ष्मावयवेऽपि साकारत्वान्मांसस्यावस्थानमिति । (३५)

अस्थीनि देहे स्थूलानि स्थिराणि कठिनानि च ।

तथाऽस्थि सूक्ष्मावयवे सूक्ष्मं स्यात्स्थिरता यतः ॥ ३६ ॥

अस्थीनीति । सूक्ष्मावयवेऽपि स्थिरत्वात् सूक्ष्ममस्थि विद्यत इति । (३६)

शुक्रे सर्वशरीरस्थे शरीरोत्पादका यथा ।

बीजस्यांशास्तथा सूक्ष्मावयवे देहरूपिणि ॥ ३७ ॥

सूक्ष्मस्यावयवस्योत्पादकाश्चांशा वसन्ति हि ।

शुक्र इति । शरीरोत्पादका इति शरीरान्तरोत्पादकाः देहस्वरूपिणीति सूक्ष्मा-
वयवरूपे देहे । सूक्ष्माणुसंघातस्वरूपः शरीरघटकोऽपि सूक्ष्माकृतिरूपो देह एवेति । सर्वदेहगतं शुक्रं
शरीरान्तरोत्पादकं तथा सूक्ष्मावयवगतं शुक्रं सूक्ष्मावयवान्तरोत्पादकमिति । (३७ ॥)

एवं शरीरवत्सूक्ष्मेऽवयवे सप्त धातवः ॥ ३८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण शरीरवत्सूक्ष्मावयवेऽपि रसाद्याः सप्त धातवो विद्यन्ते इति । सूक्ष्माव-
यवगतानां धातूनां निरूपणे भेदसो मांसरसत्वान्मज्जन्नास्थिरसत्वेनाभिधानात्पृथक् निर्देशो न
कृतः । (३८)

उसका विभाजन कर्म सूचित होता है । (२९)

जिस क्रियाके कारण धातुसंघातक्रियामें ससत्त्व अणुओंका आकर्षण (समीप
ले आना) और हीनसत्त्व अणुओंका उत्सर्जन (बाहर फेंकना) होता है उसको
गति कहते हैं और आयुर्वेदमें गतिमानको ' वायु ' संज्ञा दी गयी है । उसकी
क्रिया त्रियोजन याने विश्लेषण करना यह है । आकर्षण क्रियामेंभी पूर्वसंश्लिष्ट
अणुओंसे प्रथम वियुक्त होकरही अणु पुनः आकृष्ट होते हैं । अर्थात् आकर्षण व
उत्सर्जन दोनोंमें वियोगकी क्रिया सामान्य ही है । (३०-३१)

रसादि सप्तधातु शरीरमें समुदायस्वरूपसे रहते हैं याने उनमें असंख्य
वा बहुसंख्य अणुओंका समुदाय रहता है इसलिये वे व्यक्तरूप होते हैं-स्थूल व
दृश्य होते हैं (३२)

किंतु शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म अवयवमें रसादि धातु सूक्ष्म याने अव्यक्तरूप-
मेंही रहते हैं । अर्थात् यद्यपि वे स्थूलरूपसे दिखाई नहीं देते, इसमें संदेह नहीं
कि शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म घटकमेंभी रसादि धातु (सूक्ष्मरूपसे) रहते हैं (३२)

स्त्रीदेहे देहजनकः शुक्रधातुर्न विद्यते ।

तथापि स्त्रीशरीरं चाख्यातं स्यात्सप्तधातुकम् ॥ ३९ ॥

स्त्रीशरीरे गर्भोत्पादकस्य शुक्रस्याभावे कथं सप्तधातुत्वमित्याशंकानुसारेणोच्यते । स्त्रीदेह इति । देहजनकः शरीरोत्पादकः शुक्रधातुः बीजरूपेणोत्पादकः । न विद्यते । यथोक्तं सौश्रुते—“ यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्तौ कथंचन । मुंचन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनास्थिस्तत्र जायते । ” अनस्थित्वादस्थिरत्वाद्धारणचलनक्षमो देहो न जायत इति । तथापि स्त्रीशरीरं सप्तधातुकं रसादिभिः शुक्रावसानैः सप्तधातुभिर्भूयतामाख्यातम् । (३९)

आर्तवं संततिकरं स्त्रीशरीरेऽवतिष्ठते ।

तत्साधनं स्यादुत्पत्तेर्न बीजं पौरुषं यथा ॥ ४० ॥

शुक्रार्तवयोर्भेदं दर्शयति । आर्तवमिति स्त्रीबीजम् । संततिकरं संतत्युत्पादनकरम् । साधनं उत्पादनसहायम् । न बीजमिति पुंबीजवदुत्पादकं न स्यात् । शुक्रमुत्पादकं बीजरूपं तदुत्पादनसहायं चार्तवमिति । (४०)

बीजं वीर्येणौषधीनां क्षेत्रस्थेन प्ररोहति ।

क्षेत्रस्थेन तथा बीजं शरीरस्य प्ररोहति ॥ ४१ ॥

शुक्रार्तवयोर्विशेषमुदाहरणेन विशदीकर्तुमुच्यते । बीजमित्यादि । क्षेत्रस्थेन भूमि-
गतेन । वीर्येण द्रव्यविशेषैः । तथा शरीरस्य बीजं क्षेत्रस्थेन स्त्रीशरीरगतेन । (४१)

शरीरस्य समुदायात्मक रस-रक्तमें सर्व धातुओंके उत्पादनक्षम अणु जिस-
प्रकार रहते हैं, उसीप्रकार शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म अवयवमेंभी रसरक्त रहकर वे
उसकी उत्पत्ति करते हैं । (३३-३४)

पेशी मांसके (मांसावयवोंके) समुदायस्वरूप होती है । डल्लणाचार्यने पेशीकी
व्याख्या करते हुअे कहा है “ परस्परसे विभक्त मांसावयवोंके संघातकोही ‘ पेशी ’
कहते हैं । ” ‘ पिश ’ धातुका अर्थभी अवयव विशेष एसाही है । प्रत्येक पेशी
पृथक् होनेके कारण उसका स्वरूपभी प्रकट रहता है । शरीरस्य पेशीका स्वरूप
इसप्रकार प्रकट रहता है किंतु सूक्ष्म अवयवमें उसके अपने मूर्तरूप वा घनतासे
पेशीके अवस्थानका अनुमान किया जा सकता है । (३५)

देहगत अस्थि स्थूल, स्थिर व कठिन होते हैं किंतु सूक्ष्म सूक्ष्म अवयवमें
उनके निजी स्थिरतामेंही अस्थिका अवस्थान माना जाता है (३६)

सर्व शरीरगत शुक्रमें अन्य शरीरके उत्पादक बीजके अंश रहते हैं । उसी-
प्रकार सूक्ष्म अवयवमेंभी अन्य सूक्ष्म अवयवके उत्पादक अंश रहते हैं । अर्थात्

योषितोऽपि स्त्रवंत्येव शुक्रं पुंसः समागमे ।

गर्भस्य तु न तत्किञ्चित्करोतीति न चिन्त्यते ॥ ४२ ॥

वृद्धवाग्भट्टोक्तमिति सुश्रुतसंहिताव्याख्यायां ङङ्गणाचार्यैरुद्धतेनानेन वाक्येन स्त्रीबीजस्य गर्भोत्पादनाक्षमत्वं सूच्यते । गर्भस्य न किञ्चित्करोतीति गर्भोत्पादने न किञ्चित्करम् । (४२)

इत्याख्याते स्त्रीशरीरमाख्यातं सप्तधातुकम् ।

सूक्ष्मस्यावयवस्योत्पादकं शुक्रं भवेदिति ॥ ४३ ॥

इत्याख्याते एवं स्त्रीशरीरे गर्भोत्पादकस्य शुक्रस्याभाव आख्यातेऽपि सप्तधातुकं सप्तधातुयुक्तम् । सूक्ष्मावयवोत्पादकशुक्रवत्त्वेन स्त्रीशरीरमपि सप्तधातुकमित्युक्तम् । (४३)

देहान्तरोत्पत्तिकरं बीजं यस्मिन्स पौरुषः ।

देहश्चाख्यायते स्त्रीणां बीजं यस्मिन्न विद्यते ॥ ४४ ॥

तात्पर्येण पुरुषशरीरस्य स्त्रीशरीरस्य च भेदं विशदीकुर्वन्नाह । देहान्तरोत्पत्तिकरमिति स्वसमानसंतत्युत्पत्तिकरम् । पौरुषः पुरुषाख्यो देहः । बीजं गर्भोत्पत्तिकरम् । यस्मिन्न विद्यते सः स्त्रीणां देह इति । (४४)

देहः स्त्रीपुरुषो बीजमनुसृत्य प्रजायते ।

जीवात्मनो वासनायाः प्रभावाद्वा निसर्गजात् ॥ ४५ ॥

सर्वदेहगत शुक्र अन्य शरीरका निर्माण करता है, तथा सूक्ष्मावयवगत शुक्रांशसे अन्य सूक्ष्मावयवकाही निर्माण होता है (३७)

इसप्रकार जैसे स्थूल शरीरमें सात धातु रहते हैं वैसेही शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म अवयवमेंभी सूक्ष्मरूपसे रसादिधातु रहते हैं । मेद मांसका रस होनेसे व मज्जा अस्थिका रस होनेसे सूक्ष्मावयवगत धातुओंके वर्णनमें उनका निर्देश स्वतंत्रतया नहीं किया गया । (३८)

स्त्री शरीरमें गर्भोत्पादक शुक्रधातु (बीज रूपसे उत्पादक) नहीं रहता तथापि कहा जाता है कि, स्त्री शरीरभी सप्तधातुमय है । ऊपर २ देखनेसे यह विसंगतिसी प्रतीत होती है । (३९)

स्त्रीशरीरमें आर्तव रहता है । वह संततिकर कहा जाता है किंतु वह अपत्यके उत्पादनमें केवल सहाय्यक है, पुरुषबीजके समान उत्पादक बीज नहीं है । पुरुषबीज शुक्र वास्तवमें उत्पादक है और आर्तव उसको केवल सहायकर होता है । ॥ (४०)

पुरुषत्वे स्त्रीत्वे वा शरीरस्य को हेतुस्तिपुच्यते । देह इत्यादिना । बीजमनुसृत्य पुरुषबीजमुत्पादकमनुसृत्य । जीवात्मनः शरीरिणः । वासनायाः जावेच्छायाः । निसर्गजात् प्रभावाद्वा । यदुक्तं सुश्रुतसंहितायाम् । कर्मणा चोदितो येन तदान्नोति पुनर्भवे । अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् । (४५)

नृदेहाश्चाभिवर्धन्ते देहोत्पादनकांक्षया ।

स्त्रीदेहाश्चाभिवर्धन्ते तथा संवर्धनेच्छया ॥ ४६ ॥

नृदेहा इति पुरुषदेहाः । देहोत्पादनकांक्षया सन्तत्युत्पादनस्य आकांक्षया । स्त्रीदेहाः स्त्रीशरीराणि । संवर्धनेच्छया इति गर्भसंवर्धनाकांक्षया । (४६)

आकारेण स्वतन्त्रत्या द्विधैवं परिवर्धनम् ।

नृदेहे स्त्रीशरीरे च स्वाकारेणैव केवलम् ॥ ४७ ॥

आकारेणेति विशिष्टया मानवाद्याकृत्या । स्वसंतत्या स्वसमानाण्यैः । नृदेहे पुरुषदेहे । स्वाकारेणैव स्वशरीरेणैव । गर्भसंवर्धकत्वे स्त्रीशरीरे गर्भोत्पत्तिकरस्य सामर्थ्यस्याभावात् । (४७)

स्वाकारस्योत्पत्तिकरः स्त्रीदेहे शुक्रसंज्ञकः ।

विद्यते धातुराख्यातः स्त्रीदेहः सप्तधातुकः ॥ ४८ ॥

क्षेत्रस्थ याने भूमिगत वीर्यसे (विशिष्ट द्रव्योंसे औषधीओंका बीज प्ररोहित होता है—बढ़ता है । उसीप्रकार शरीरका बीज स्त्रीशरीरगत वीर्यसे (आर्तवसे) बढ़ता है । सुश्रुतसंहितामें उल्लणाचार्यने वृद्धवाग्भटका एक वचन उद्धृत किया है । उसमें कहा है कि “ पुरुष समागममें स्त्री भी शुक्रका स्राव करती है । “ किंतु उससे यह न समझना चाहिये कि, स्त्रीबीजभी गर्भोत्पादनक्षम है । उसका गर्भोत्पत्तिसे कोई संबंध नहीं है । (४१-४२)

अर्थात् यह स्पष्ट है कि, गर्भोत्पादक शुक्रका स्त्रीशरीरमें अभावही रहता है । तथापि यह वचन कायमही है कि स्त्रीशरीरभी सप्तधातुमय है । इसका कारण यह है कि सूक्ष्म अवयवका उत्पादक शुक्रधातु स्त्रीशरीरकेभी सूक्ष्म अवयवमें रहताही है । (४३)

जिस देहमें अन्य शरीरका उत्पादक बीज रहता उसीको पुरुष कहते हैं और जिस शरीरमें यह उत्पादक बीज नहीं रहता उसीको स्त्रीशरीर कहते हैं । (४४)

स्वाकारस्येति स्वशरीरस्य । स्वशरीरावयवानामिति भावः । संतत्युत्पादकस्य शुक्रधातोर्भावेऽपि शरीरावयवोत्पादकस्य धातोः सत्त्वान् स्त्रीदेहोऽपि सप्तधातुक इति । शुक्राद्रर्भः प्रजायते । इति गर्भोत्पादनं देहान्तरवच्छरिगतावयवानामपि । आयुर्वेदतंत्रेषु शुक्रधातुद्विविधोऽप-
वर्णितो दृश्यते । यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेधुस्ते यथा । शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्विषग्वरः ।
इति सर्वावयवावस्थितमेकं । अन्यच्च । द्वयंगुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः । मूत्रस्रोतः पथा-
च्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते । इति । सर्वदेहगं सर्वदेहगतानामवयवानामुत्पादकम् । इतरंचापत्यो-
त्पादकमित्यस्मिन्नभिसंधिः । शरीरेषु तथा नृणामित्यत्र नृणामिति पदमुपलक्षणार्थम् । तेन सर्वेषां
स्त्रीपुंमपुंसकानामपि शरीरे शरीरावयवोत्पादकं शुक्रं विद्यत इति निदर्शनम् । (४८)

देहोत्पत्तिकरे बीजे सामर्थ्यं चेन्न विद्यते ।

शरीरोत्पादकं गर्भो देहः स्त्री जायते तदा ॥ ४९ ॥

देहोत्पत्तिकर इति शरीरांतरोत्पादके । बीजे गर्भबीजे । गर्भो गर्भरूपावस्थितो ।
देहः । स्त्री स्त्रीरूपः । गर्भोत्पत्तिकरे बीजे गर्भावस्थायां अपत्योत्पादकस्य सामर्थ्यस्याभावात्स्त्रीदेहः
संजायत इति । (४९)

पुमान् शुक्रस्य बाहुल्याज्जायतेति समीरितम् ।

सामर्थ्यं शुक्रबाहुल्ये शरीरोत्पादकं भवेत् ॥ ५० ॥

.....

उत्पादक पुरुषबीजके अनुसारही शरीरस्थ जीवात्माके प्रभावके कारण
अथवा निसर्गके प्रभावके कारण स्त्री अथवा पुरुष देह उत्पन्न होता है । सुश्रु-
तने कहा है “ जिस कर्मसे वह प्रचोदित होता है वही देह उसको दूसरे जन्ममें
मिलता है । पूर्वजन्ममें जो गुण अभ्यस्त होते हैं उनकाही वह फिर आश्रय
करता है । ” (४५)

पुरुष देह अन्य शरीरके उत्पादनकी आकांक्षासे अभिवर्धित होते हैं ।
और स्त्रीदेह गर्भसंवर्धनकी आकांक्षासे बढ़ते हैं । (४६)

पुरुष शरीरकी वृद्धि दो प्रकारसे होती है—१ विशिष्ट आकृतिसे तथा २
स्वसमान देहोत्पत्तिसे (संततिसे) । और स्त्री शरीरकी वृद्धि केवल अपने आकार-
सेही होती है । कारण गर्भोत्पत्तिकर सामर्थ्यका उसमें अभाव रहता है (४७)

इसमें संदेह नहीं कि, अपने आकारकी याने स्वशरीरावयवोंकी उत्पत्ति
जिससे हुआ करती है वह शुक्रसंज्ञक धातु स्त्रीशरीरमें रहताही है । इसी लिये
स्त्रीशरीरका सप्तधातुमय होना शास्त्रकारोंने बतलाया है । शुक्रसे गर्भोत्पादन होता

पुमानिति पुंगर्भः शुक्रस्य पुरुषवीर्यस्य बाहुल्यात् बहुत्वात् । शुक्रस्य बाहुल्येन गर्भे गर्भोत्पादनसामर्थ्यमुत्पद्यत इत्यभिप्रायेण शुक्रस्य बाहुल्यात् पुंगर्भो जायत इत्युक्तं तत्रकृद्विरिति ॥ (५०)

यदाऽर्तवं स्याद्बहुलं स्त्रीगर्भो जायते तदा ।

देहोत्पादनसामर्थ्यहीनं स्त्रीबीजमार्तवम् ॥ ५१ ॥

आर्तवं स्त्रीबीजम् । **देहोत्पादनसामर्थ्यहीनमिति** स्वसमानान्यशरीरोत्पादन-सामर्थ्यहीनम् । अत्र आर्तवबाहुल्याख्यानेन शुक्काल्पत्वं सूचितम् । शुक्काल्पत्वात् स्त्रीदेहो जायत इत्यभिप्रायः । ततश्च देहोत्पादनसामर्थ्यहीनरूपात् स्त्रीबीजात् स्त्रीगर्भो जायत इति न विरोधः । (५१)

बीजस्थिताश्च ये भावाः सामर्थ्यमपि यद्भवेत् ।

त एव देहे वर्धन्ते तत्सामर्थ्यानुरोधतः ॥ ५२ ॥

बीजस्थिता इति शुक्काल्पस्थिताः । **भावाः** स्त्रीत्वपुंस्त्वाद्याः । **तत्सामर्थ्यानुरोधतः** बीजसामर्थ्यानुरोधतः । कारणानुविधायित्वात्कार्याणां बीजानुरोधेन सर्वशरीराणामभिवृद्धिरिति । (५२)

उत्पादनक्षमं बीजं वर्धनक्षममार्तवम् ।

पुमानुत्पादनाकांक्षी स्त्री संवर्धनकांक्षिणी ॥ ५३ ॥

बीजाधिकः स्यात्पुरुषः स्त्री तथा चार्तवाधिका ।

है इस वचनके अनुसार अन्य शरीरके समान स्वशरीरगत अवयवोंका गर्भोत्पादनभी शुक्रधातुके कारणही होता है । आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें शुक्रधातुका वर्णन दो प्रकारोंसे किया गया है । जैसे:—“ जिसप्रकार दूधमें घृत अथवा इक्षुरसमें गुड उसी प्रकार मनुष्यके शरीरमें शुक्र रहता है ” अर्थात् शुक्रका यह प्रकार शरीरके सर्व अवयवोंमें रहता है । दूसरा प्रकार—“ बस्तिद्वारके नीचे दाहिनी ओर दो अंगुल स्थानपर मूत्रस्रोतके मार्गमेंसे पुरुषका शुक्र प्रवर्तित होता है । पहिला प्रकार सर्व शरीरगत है अर्थात् सर्व शरीरगत अवयवोंका वह उत्पादक है । और दूसरे प्रकारके शुक्रसे अपत्योत्पादन होता है । अर्थात् यह ध्यानमें रखना चाहिये कि पहिले प्रकारका शुक्र पुरुष तथा स्त्री दोनोंके शरीरमें रहता है । (नपुंसककेभी शरीरमें रहता है ।) किंतु दूसरे प्रकारका शुक्र केवल पुरुष शरीरमेंही रहता है । स्त्री शरीरमें उसका अभाव होता है । (४७)

देहोत्पत्तिकार बीजमें जब अन्य शरीरोत्पादनका सामर्थ्य नहीं रहता तब उससे स्त्री देहकी निर्मिति होती है । स्पष्टार्थ यह है कि गर्भावस्थामेंही यदि उस

उत्पादनं स्यात्सामर्थ्यं स्त्रीदेहे तन्न विद्यते ॥ ५४ ॥

उक्तार्थमुपसंहरति । उत्पादनक्षममिति गर्भोत्पादनक्षमम् । वर्धनक्षमं गर्भ-
संवर्धनक्षमम् उत्पादनं सामर्थ्यं स्यादिति संवर्धनापेक्षया श्रेष्ठं सामर्थ्यमुत्पादनम् । उत्पा-
दितस्यैव संवर्धनात् । (५३-५४)

पुमानुत्पादनाकांक्षी स्त्रीशरीराश्रयेण वै ।

आत्मानं सृजति स्त्री स्यात्तदधिष्ठानरूपिणी ॥ ५५ ॥

पुमानिति पुरुषो जीव इति यावत् । तदधिष्ठानरूपिणीति उत्पादनाकांक्षिणः
पुरुषस्याश्रयरूपिणी । (५५)

क्षेत्राश्रयेणैव बीजमपि क्षेत्रे प्ररोहति ।

बीजस्यैव प्ररोहः स्यात्क्षेत्रं साधनमेव तु ॥ ५६ ॥

अत्र दृष्टांतं दर्शयति क्षेत्राश्रयेणेति भूम्याश्रयेण । बीजं वृक्षादीनाम् । बीज-
स्यैव वृक्षादीनां बीजस्यैव । प्ररोहः प्रादुर्भावः । बीजक्षेत्रयोरुत्पादकत्वेऽपि बीजस्य प्ररोहाक्षेत्रा-
पेक्षया बीजं प्रधानमिति भावः । (५६)

अन्वर्थकं स्यात्स्त्रीनाम बीजविस्तारकर्मणा ।

गर्भाशयगतस्य बीजस्य शरीररूपेण विस्तारात् 'स्त्री' इति आच्छादनात् विस्तारसूचकं
नाम अन्वर्थं स्यादिति सुगमोऽभिप्रायः । (५६ ॥)

आद्य अवयवमेव अपत्योत्पादक सामर्थ्यका अभाव हो तो वह गर्भ स्त्री-शरीरमें
परिणत होता है । (४९)

शुक्र याने पुरुषवीर्यके बाहुल्यसे पुरुष उत्पन्न होता है । कारण शुक्र बाहु-
ल्यमें शरीरोत्पादक [अपत्योत्पादक] सामर्थ्य रहता है । अर्थात् शुक्र बाहुल्यके
कारण गर्भमेंभी अन्यगर्भोत्पादनका सामर्थ्य विद्यमान रहता है इसलिये उस
गर्भकी परिणति पुरुषशरीरमें होती है । (५०)

यदि आर्तवका बाहुल्य रहा तो स्त्रीगर्भ उत्पन्न होता है । कारण स्त्री-
बीज-आर्तव देहोत्पादनसामर्थ्यहीन रहता है । आर्तवबाहुल्यसे यहांपर शुक्रा-
ल्पत्व सूचित है । शुक्र अल्प व आर्तव बहुल होनेके कारण उस देहोत्पादन-
सामर्थ्यहीन स्त्रीबीजसे स्त्रीगर्भकाही विकास होता है । (५१)

बीज याने शुक्रमें स्त्रीत्वपुरुषत्वादि जो भाव व जो सामर्थ्य रहता है
वही बीजसामर्थ्यके अनुरोधसे शरीरमें बढ़ते हैं । कारणके अनुसार कार्यकी
याने बीजके अनुसार शरीरकी अभिवृद्धि होती है । (५२)

बीजं गर्भाशयगतं तद्वीर्येण प्ररोहति ॥ ५७ ॥

सर्वावयवसंपूर्णं देह इत्यभिधीयते ।

बीजमिति पुंबीजम् । तद्वीर्येण गर्भाशयगतवीर्येण । सर्वावयवसंपूर्णं सति देह इति उपचयार्थया देहसंज्ञया । अभिधीयते । 'दिह' उपचये इति धात्वर्थानुसारेण । (५७ ॥)

उत्पादनक्षमाः केचित्केचित्संवर्धनक्षमाः ॥ ५८ ॥

बीजप्रभावाज्जायन्ते देहास्तेषां भवन्ति ये ।

बीजाधिकाः पुमांसस्ते शरीरोत्पादनक्षमाः ॥ ५९ ॥

हीनबीजाः क्षेत्ररूपाः स्त्रीदेहा इति ते स्मृताः ।

उत्पादनक्षमा इत्यादि । बीजप्रभावादिति शुक्रप्रभावात् । बीजाधिकाः शुक्रबहुलाः । शरीरोत्पादनक्षमाः देहान्तरोत्पादनक्षमाः हीनबीजाः अल्पबीजा आर्तन-बहुलाः (५८-५९ ॥)

समुदायात्मके देहे यथा स्त्रीपुंनपुंसकम् ॥ ६० ॥

भेदः शरीरावयवेष्वपि सूक्ष्मेषु विद्यते ।

शरीरवत् शरीरावयवेष्वपि सामर्थ्योत्कर्षानुसारेण स्त्रीपुंनपुंसकमित्येवंविधो भेदो विद्यत इति । (६० ॥)

बीज (शुक्र) में (गर्भके) उत्पादनकी क्षमता रहती है और आर्तवमें (गर्भके) संवर्धनकी । उत्पादन यह एक सामर्थ्य है और संवर्धनकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ सामर्थ्य है । कारण उत्पादित पदार्थकाही संवर्धन हो सकता है । पुरुष उत्पादनकांक्षी है और स्त्री संवर्धनाकांक्षी । पुरुष बीजाधिक होता है और स्त्री आर्तवाधिका । उत्पादनसामर्थ्य स्त्रीदेहमें नहीं रहता । (५३-५४)

उत्पादनकांक्षी पुरुष याने जीव स्त्रीशरीरके आश्रयसे अपने आपको उत्पन्न करता है और स्त्री उसकी केवल अधिष्ठानरूपिणी बनती है । (५५)

क्षेत्रके आश्रयसे बीज क्षेत्रमें बढ़ता है । प्ररोह बीजकाही होता है और इस प्ररोहका साधन क्षेत्र होता है । अर्थात् क्षेत्रकी अपेक्षा बीजकाही प्राधान्य होता है । (५६)

गर्भाशयगत बीजका शरीररूपसे आच्छादन कार्यसे विस्तार होनेके कारण 'स्त्री' यह विस्तारसूचक नाम अन्वर्थक प्रतीत होता है (५६ ॥)

गर्भाशयमें पुरुषबीज गर्भाशयगत वीर्यसेही प्ररोहित होता है । और उसके

पदार्था द्विविधा देहे द्रव्यशक्तिविभेदतः ॥ ६१ ॥

उत्पादका तेषु शक्तिद्रव्यमुत्पत्तिसाधनम् ।

न बीजमधिकं नापि द्रव्यमेवं यदा भवेत् ॥ ६२ ॥

उत्पादने वर्धने वा क्षमत्वं नात्र विद्यते ।

न पुमान् न च वा स्त्रीस्यादाख्यातं तन्नपुंसकम् ॥ ६३ ॥

पदार्था इति शरीरावयवा धातवश्च । द्रव्यशक्तिविभेदत इति प्रतिपादित पूर्वम् । बीजमिति शक्तिरूपम् । द्रव्यं संवर्धनकरम् । उत्पादने गर्भोत्पादने । वर्धने गर्भसंवर्धने । यत्र क्षमत्वं न विद्यते तन्नपुंसकमित्याख्यातम् । शरीरविद्विरिति शेषः । (६०॥-६३)

शरीरावयवेष्वेवं भेदः सूक्ष्मेषु जायते ॥

उत्पादनक्षमं द्रव्यं सूक्ष्मं तत्स्यात्पुमानिति ॥ ६४ ॥

संवर्धनक्षमं शक्तियुक्तं स्त्री नाम कीर्तितम् ॥

यदुत्पत्तिकरं नस्यान्न च संवर्धनक्षमम् ।

स्थूलं शक्तिविहीनं च तद्द्रव्यं तु नपुंसकम् ॥

शरीरावयवेष्विति शरीरेषु पदार्थेषु । सूक्ष्मेष्विति सूक्ष्मघटकेषु उत्पादनक्षमं शरीरावयवोत्पादने समर्थं सूक्ष्मं तत्पुमान् पुरुषसंज्ञकम् । संवर्धनक्षमं शरीरावयवोपचयक-

सर्वाययवोंसे संपूर्ण हो जानेपर उसको 'देह' संज्ञा मिलती है । 'देह' शब्दमें 'दिह' धातु है जिसका अर्थ है उपचय । अर्थात् देहका अर्थही है उपचयवान् । ५७ ॥

बीजके प्रभावसे कुछ देह उत्पादनक्षम और कुछ देह संवर्धनक्षम होते हैं । उनमें जो बीजाधिक याने शुक्रबहुल होते हैं वे पुरुषत्वको प्राप्त करते हैं और उनमें अन्यशरीरके उत्पादनका सामर्थ्य रहता है और जो हीनबीज याने अल्पबीज-आर्तबहुल होते हैं वे स्त्रीदेह बनते हैं और क्षेत्ररूप हो जाते हैं । (५८-५९॥)

समुदायात्मक देहमें जिसप्रकार स्त्री, पुरुष व नपुंसक ये भेद होते हैं उसीप्रकार सूक्ष्म शरीरावयवमेंभी ये तीनों भेद होते हैं । (६०)

अब पूर्वोक्त विवरणका समारोप करते हैं । द्रव्य व शक्तिभेदसे दो प्रकारके पदार्थ याने शरीरावयव (धातु) शरीरमें होते हैं । उनमें शक्ति उत्पादक है और द्रव्य उत्पत्तिका साधन । जब बीज [शक्तिरूप] भी अधिक नहीं है और न

रम् । शक्तियुक्तमिति सामर्थ्याधाररूपम् । स्त्री नाम स्त्रीस्वरूपम् । स्थूलं स्थूलाकारम् । शक्तिविहीनं स्वल्पशक्तियुतम् । उत्पादनसंवर्धनसामर्थ्यहीनं केवलं स्वावस्थितिक्षमं नपुंसकम् । स्वरूपेणावस्थाने स्वसमानसंततिक्रमेकम् । संतत्युत्पादनसामर्थ्याभावेऽपि संवर्धनसाधनं द्वितीयम् तृतीयं च उत्पादनसंवर्धनसामर्थ्यहीनं केवलं स्वावस्थानपर्याप्तसामर्थ्यमिति शरीर-द्रव्याणां त्रयो भेदाः । शरीरवत् पुमान् स्त्री नपुंसकमित्याख्याः । स्वरूपविवेचनं चैतेषामग्रे वक्ष्यते । इति शरीरद्रव्यसामर्थ्यदर्शनं नाम पंचम दर्शनम् । (६४-६५)



संवर्धनकर द्रव्याधिक्य है ऐसी अवस्थामें उस बीजगर्भमें न तो उत्पादनकी योग्यता रहती है न संवर्धनकी । तब उससे जो देह विकसित होता है वह न पुरुष होता है न स्त्री । इसलिये शरीरशास्त्रज्ञ उसको नपुंसक कहते हैं [६१-६३]

इसीप्रकारका भेद सूक्ष्म शरीरावयवोंमेंभी रहता है । जो सूक्ष्म उत्पादन-क्षम (शरीरावयवोत्पादनक्षम) द्रव्य होता है वह पुरुषनामसे और जो संवर्धनक्षम [शरीरावयवोपचयकर] शक्तियुक्त याने सामर्थ्याधाररूप द्रव्य होता है वह स्त्री नामसे संवोधित किया जाता है । जो न उत्पत्तिकर है न संवर्धनक्षम उस स्थूल शक्तिहीन [अल्पशक्तिका [द्रव्यको नपुंसक कहना चाहिये । वह केवल अपने स्थितिमेंही रह सकता है । अपने स्थितिमें रहता हुआभी एक स्वसमान संततिको उत्पादित करता है, दूसरा संतत्युत्पादनसामर्थ्यहीन होता हुआभी संवर्धन सामर्थ्यसे युक्त होता है और तीसरा इन दोनों सामर्थ्यसे निहीन । उसमें केवल अपने स्थितिमें कायम रहनेके इतनाही अल्पसामर्थ्य रहता है । इसप्रकार शरीरके समान शरीर द्रव्योंकेभी स्त्री, पुरुष, व नपुंसक ऐसे तीन भेद होते हैं । उनके स्वरूपका विवरण आगे किया गया है । (६४-६५॥)

शरीरद्रव्यसामर्थ्यदर्शन नामका पांचवा दर्शन समाप्त ।

अथ षष्ठं दर्शनम् ।

(शरीरस्य संघातात्मतादर्शनम्)

देहे दोषाः शक्तिरूपाः श्लेष्मपित्तानिलाख्यः ।

द्रव्यरूपास्तदाऽधारा रसाद्याः सप्त धातवः ॥ १ ॥

शक्तिहीनद्रव्यरूपाः पुरीषाद्याख्यो मलाः ।

दोषो धातुर्मलश्चेति क्रमात्पुंस्त्रीनपुंसकम् ॥ २ ॥

सामर्थ्योत्कर्षानुसारेण दोषधातुमलत्वविवेचनानन्तरं संघातरूपस्य शरीरस्यावयवानामुत्पत्ति-
क्रमविशेषं विस्तारेण विशदीकर्तुमुच्यते । देह इत्यादिना । शक्तिरूपा इति सामर्थ्योत्कर्षसंपन्न
द्रव्यरूपाः । द्रव्यरूपाः शक्तेराधारस्वरूपाः शक्तिहीनद्रव्यरूपाः स्वल्पतरसामर्थ्यरूपाः ।
पुरीषाद्याः पुरीषो मूत्रं स्वेद इति । त्रयः त्रिसंख्याः । ननु, “ कफः पित्तं मलाः रवेः
प्रस्वेदो नखरोम ’ च । स्नेहोऽक्षित्वविशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः ’ । इति धातुसंख्यामनु-
सृत्य मलानामपि सप्तत्वे कथं पुरीषाद्याख्य एव मलाः ? सप्तसंख्यानामप्येतेषां घन-द्रव-स्वेद
स्वरूपात् त्वमिति । तत्र कफः, पित्तं, अक्षित्वविशं स्नेहः ओजश्चेति चत्वारो मलाः क्रमेण
रसरक्तमज्जशुक्राणां द्रवस्वरूपाः । मांसस्य मलो नासाकर्णादिषु संचयीमानो नखकेशस्वरूप-

दर्शन ६

(शरीरकी संघातात्मता-दर्शन)

शरीरमें श्लेष्मा, पित्त व वात ये तीन दोष शक्तिरूप हैं, दोषोंके आधार-
भूत रसादि सप्त धातु द्रव्यरूप है और पुरीषादि मल शक्तिहीन द्रव्यरूप हैं । दोष,
धातु व मल क्रमसे (गत प्रकरणके विवरणके अनुसार) पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप
हैं । पूर्व प्रकरणोंमें बतलाया जा चुका है कि, शक्तिरूपका अर्थ शक्त्युत्कर्षसंपन्न
द्रव्य, द्रव्यरूपका अर्थ शक्तिका आधारस्वरूप द्रव्य और शक्तिहीन द्रव्यका अर्थ
अल्पसामर्थ्ययुक्त द्रव्य समझना चाहिये ।

यहांपर पुरीषादि मल तीन (पुरीष, मूत्र, स्वेद) बतलाये हैं । किंतु
शंका यह लीजासकती है कि, पीछे धातुओंके सात मलोंका वर्णन आया है ।
जैसे:—रसका मल कफ, रक्तका पित्त, मांसका मल सच्छिद्र अवयवोंमें दृश्यमान
होनेवाला मल, मेदका स्वेद, अस्थिका नख व रोम, मज्जाका मल नेत्र, त्वचा व

श्वासो मल इति द्वयमेतन् घनस्वरूपम् । मेदसो मलः प्रस्वेदरूपः स्वेद इति त्रैविध्यं मलानाम् । अष्टांगहृदयोपवर्णितेषु मलेषु शुक्रस्य सर्वधातुसारत्वात्प्रसादरूपत्वाच्च मलसंज्ञयोपदेशो नोचितः । यथोक्तसष्टांगहृदय एव । “ ओजस्तु तेजो धातूनां शुकान्तानां परं स्मृतम् । निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति । एवमेव चरकसंहितायाम् “ हृदि तिष्ठति यत् शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् । ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ” । सुश्रुतसंहितायां च । रसादीनां शुकान्तानां धातूनां यत्परं तेजः तत्खल्वोजः । तदेव बलमियुच्यते । इत्योजसो देहधारकत्वमभिहितं तंवृद्धिः । ततो धातुभ्योऽपि सामर्थ्यातिशयम्पन्नस्यौजसो मलत्वेनाख्यातं न समीचीनम् । चरकसंहितायां शुक्रधातोः प्रसादरूपत्वान्मलो नाभिहितः । यथा—“ किट्टमन्नस्य विष्मृत् रसस्य तु कफोऽसृजः । पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः । स्यात्किट्टं केशलोमाश्नो मज्जाः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम् । इति धातुमलोपवर्णने शुक्रस्य मलो नाख्यातः । न शुके पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः । ततः (शुक्रात्) पुनः पच्यमानादत्र मलो नोपपद्यते सहस्रधा ध्मात सुवर्णवत् । इति च उल्लेखः । सर्वधातुसारस्वरूपेऽपि शुके धावन्तरोत्पादकस्याभावाद्वाग्मयाचार्यैरोजो मलसंज्ञयाऽख्यातमित्यत्राभिसन्धेयम् । ततश्च षडेव मलाः । शुक्राख्यस्यांतिमधातोर्निर्मलत्वादिति । शेषाणां कफपित्तादिसंज्ञानां षण्णां धातुमलानां, स्वेदे स्वेदस्य मेदोमलस्य पचानामितरेषां च स्थूलद्रव्यभेदेन पुरीषमूत्रयोस्तर्भावः । किन्तु पुरीषमूत्राख्यं मलद्वयमन्नस्य । कफपित्तादयस्तु धातुमलाः । तत्कथं धातुमलानामन्नमलेन्तर्भावः

विष्ठावर दिखनेवाला स्नेह और शुक्रका मल ओज है । जब पाहिले इसप्रकार मलोंकी संख्या सात बतलायी गयी है तो अब वे तीनही क्यों कहे जाते हैं ? इस शंकाका उत्तर यह है कि, यद्यपि मलोंकी संख्या सात है, घन-द्रव-वाष्प रूपमें उनका त्रैविध्यही होता है । कारण कफ, पित्त, नेत्र-त्वचा-विष्ठाका स्नेह व ओज ये क्रमसे रस, रक्त, मज्जा व शुक्र धातुओंके चार मल द्रवस्वरूप हैं नाक, कान आदिमें संचित होनेवाला मांसका और आस्थिका नखकेशस्वरूप मल ये दोनो घनरूप हैं । मेदका मल स्वेद वाष्परूप है । इसप्रकार मलोंका त्रैविध्य सिद्ध होता है । अष्टांगहृदयका प्रतिपादन है कि शुक्रका मल ओज है । उचित प्रतीत नहीं होता । कारण शुक्र स्वयं सब धातुओंका सार और प्रसादरूप होनेके कारण वस्तुतः शुक्रका कोई मल नहीं हो सकता । फिर अष्टांगहृदयनेही ओजका दिया हुआ वर्णनभी उसका मलत्वसूचक नहीं है । अष्टांगहृदय कहता है “ रसादि शुक्रांत धातुओंका तेज ओज है । उससे देहसंश्रित विविध भावोंकी उत्पत्ति होती है । ओजका नाश होनेसे जीवितकाभी नाश निश्चयसे हो जाता है और

इति । यथोक्तं—किष्टमन्त्रस्य विष्मूत्रम् । तथाच्छं किष्टमन्त्रस्य मूत्रं विद्याद्धनं शकृत् । इति
अन्नमलवेनाख्यातयोः पुरीषमूत्रयोः स्थानं स्थूलात्रं वस्तिश्चेत्युपवर्णितं क्रमात् । ततश्चेतयोः
सर्वदेहव्यापितं नोपपद्यते । अपि तु वाग्भटेनैव पुरीषमूत्रयोः कार्यं सर्वशरीरागतमाख्यातं दृश्यते ।
यथा—अत्रष्टम्भः पुरीषस्य मूत्रस्य क्लेदवाहनम् । अत्र अवष्टम्भ इति देहणारणाख्यं कर्म इत्यरुणदत्तेन
व्याख्यातम् । क्लेदस्यामिवहनमपि मूत्रस्य सार्वदेहिकं कर्म । पक्ववाशयमूत्राशयसंचितयोरुत्सर्जनीय
द्रव्यरूपयोः वार्यं सर्वदेहसंधारकमित्येवं वक्तुं न पार्यते । चरकसंहितायामपि सन्ततज्वरवर्णने—
यथाधातूस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः । युगपच्चातुपच्यते नियमात्सन्तते ज्वरे । इति पुरीषमू-
त्रयोः सर्वशरीरव्यापित्वमधिकृत्यैव वर्णनमिदम् । राजयक्ष्मवर्णने वाग्भटेनोक्तम्— “ उपस्तब्धः
स शकृता केवलं वर्तते क्षयी । पुरीषं यत्नतो रक्षेत् शुष्यतो राजयक्ष्मणः । सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं
तस्य हि विड्ढलम् । ” इत्यादिना शरीरधारकत्वं पुरीषस्याख्यातं तत्र पक्ववाशयोपचीयमानपुरीष-
मधिकृत्य किन्तु सर्वदेहव्यापित्वेनावस्थितं क्षीयमाणसामर्थ्यं धनधातुमलमभिप्रेत्येवेत्यनुमानसुलभम्
पक्ववाशयोपचितस्योत्सर्जनीयस्य पुरीषस्य संरक्षणादाध्मानाटोपादानां विचारणां सम्भवो न देह-
धारणमिति । दर्शनेनानेन वनद्रवविभेदात् द्विविधरूपाणां धातूनां क्षीणसामर्थ्याः केचिदंशा एव
धनस्वरूपाः शकृन्नाम्ना द्रवरूपाश्च मूत्रनाम्ना, विपाकावस्थायां संभवनीयो वाष्परूपश्च स्वेदनाम्ना
ख्यात इत्यादिगम्यते । समुचितश्च सर्वेषां धातुमलानां शकृन्मूत्रस्वेदाख्येष्वन्तर्भाव इति । मलवेना-
ख्याते कफपित्ते रसरक्तयोः सामर्थ्यहीनांशस्वरूपे । न सामर्थ्योत्कर्षसंपन्नत्वात्कार्यकारिवेनोपदिष्टे

ओजके विद्यमान रहनेसे शरीर भी जीवमान अवस्थामें रहता है । ” चरकने भी
कहा है “ शरीरमें शुद्ध, लाल रंगका किंचित् पीली आभावाला ओज हृदयके
अंदर रहता है । उसका नाश होनेसे मनुष्य [जीवन] का भी नाश हो जाता
है ” सुश्रुतने भी कहा है “ रसादि शुक्रांत धातुओंका जो श्रेष्ठ तेज वही ओज
है । उसीको बल कहते हैं । ” शास्त्रकारोंने बतलाया है कि, शुक्र देहधारक
है । अर्थात् धातुओंसे भी जो अतिशय सामर्थ्यसंपन्न होता है उस ओजको मल
कहना अयोग्य है । चरकसंहितामें शुक्रधातुके प्रसादरूप होनेसे उसका कोई
मल नहीं बतलाया गया । चरक कहता है “ अन्नका मल विष्टा व मूत्र है,
रसका मल कफ, रक्तका पित्त, मांसका सच्छिद्र अवयवोंमें संचित होनेवाला मल,
मेदका स्वेद, आस्थिका मल केश और मज्जाका मल नेत्र—त्वचा—विष्टापरका
स्नेह है । ” शुक्रका यद्यपि पचन होता है, उसका कोई मल नहीं निकलता ।
लल्लुणाचार्यने भी कहा है कि “ जिसप्रकार भट्ठामें सहस्रोत्तार तपाये हुए सुव-
र्णका कोई मल नहीं होता, उसीप्रकार शुक्रका पचन होता हुआ भी उसका

दोषस्वरूपे । रसरक्तोद्वक्त्वात् स्निग्धोष्णे कफपित्ते मलस्वरूपे दोषस्वरूपकफपित्तवत् धातुसंवात-
पचनादिकं कर्म संपादयितुं नालं भवतः । (१-२)

उत्पादनकरा दोषा धातुपूत्पादनं भवेत् ।

नोत्पादनक्षमा नापि मलाः संवर्धनक्षमा : ॥ ३ ॥

दोषधातुमलानामुत्पादकोत्पादसम्बन्धं दर्शयति । उत्पादनकरा इति । धातूपत्तिकराः ।
धातुषु रसादिषु धातुमयेष्ववयवेषु च । उत्पादनं अभिवर्धनम् । धातूनामुत्पत्तिस्तु स्वाभाविकी ।
संवर्धनक्षमा इति स्वाश्रयेणोत्पत्तिसाधनाः । (३)

जीवमानः शरीरेण पंडः स्वेनैव वर्तते ।

मलानां जीवितं देहे पंडत्वेनावतिष्ठते ॥ ४ ॥

पुरुषस्योत्पादकत्वं स्त्रियश्च संवर्धकत्वमित्युभयस्वरूपस्य सामर्थ्यस्याभावात् स्वशरीरेण
जीवमानः पंड इव मलाः शरीरे नोत्पादका न च वा संवर्धका इति । (४)

बीजानि यस्मिन्सर्वेषां देहांगानां वसन्ति हि ।

सूक्ष्मरूपेण देहस्य तद्बीजमिति कीर्त्यते ॥ ५ ॥

सर्वेषां देहांगानामुत्पादकबीजांशसमवायस्वरूपं बीजं शुक्रमिति भावः । (५)

गर्भाशयगतं बीजं मातुराहारजाद्रसात् ।

कोई मल नहीं निकलता । ” वाग्भटके कहनेका समन्वय यही हो सकता है
कि, ओजसे दूसरे किसी धातुका निर्माण नहीं होता इसलिये मलकी संज्ञा
उसको दी गयी हो ।

उक्त विवरणसे स्पष्ट है कि धातुओंके मल छड़ी हैं सात नहीं हैं ।
कारण शुक्र नामका अंतिम धातु निर्मल है । उर्वरित (ओजरहित) छ मलोंमेंसे
मेदका मल जो स्वेद उसका स्वेदमें और शेष, पांचोंका स्थूल-द्रव भेदसे पुरीष
व मूत्रमें अंतर्भाव होता है । यहांपर पुनश्च शंका हो सकती है कि, पूर्वोक्त
शास्त्रवचनके अनुसार पुरीष-मूत्र ये दो अन्नके मल हैं । और कफपित्तादि धातु
ओंके मल हैं । ऐसी अवस्थामें धातुमलोंका अन्नमलोंमें अंतर्भाव कैसा हो सकेगा ?
पुरीष-मूत्रके अन्नमलत्वके संबंधमें कई शास्त्रवचन हैं । उदा०—“ अन्नका किट्ट
(मल) विष्ठा व मूत्र है । अन्नका द्रवरूप किट्ट मूत्र है और घनरूप किट्ट है
शकृत् [पुरीष-विष्ठा] । ” किंतु थोड़ा विचार करनेपर प्रतीत होगा कि उक्त
शंका निराधार है । कारण अन्नके मलस्वरूप जिन मूत्रपुरीषोंका निर्देश किया

आकृष्य पोषकांशान्स्वान् तैर्भवत्युपवृंहितम् ॥ ६ ॥

गर्भाशयगतमित्यादि । मातुर्गर्भमातुर्योषितः । पोषकांशानिति स्वीया-
वयवपोषकान् अंशान् । आकृष्य स्वभावसामर्थ्यात्स्वायत्तीकृत्य । उपवृंहितं अंगोपांगादिभिर-
भिवृद्धम् । (६)

विकासात् व्यक्तरूपाणि भवन्त्यर्गानि च क्रमात् ।

एवं संपूर्णतां याति शरीरेण शरीरधृक् ॥ ७ ॥

विकासादिति संवर्धनविशेषान् । व्यक्तरूपाणि स्वाकारादभिव्यक्तानि । शरीर-
धृक् जीवः । (७)

स्वातंत्र्यस्येच्छया पश्चादवतीर्णो भवत्यसौ ।

वर्धमानः क्रियाकारी भवत्याहारजाद्रसात् ॥ ८ ॥

स्वातंत्र्यस्येति पश्चात् पूर्वरूपेण संवर्धनानंतरम् । असौ जीवात्मा । स्वातंत्र्ये-
च्छया शरीरबंधनान् वहिर्गमनेच्छया । अवतीर्णः शरीरान्तरेण प्रादुर्भूतः । पुनः आहाररसादेव
वर्धमानः क्रियाकारी च भवति । (८)

वृद्धिर्विकासश्चोत्क्रान्तिरेवं वृद्धिस्त्रिरूपिणी ।

स्यादंगानां शरीरस्य वृद्धिः स्यादुपवृंहणम् ॥ ९ ॥

गया है उनके स्थान हैं क्रमसे बस्ति व स्थूलात्र । अगर यह मान लिया जाय कि, मलत्रितयमें वर्णित शकृन्मूत्र और अन्नमलस्वरूप शकृन्मूत्र एकही हैं तो मलत्रितयके देहव्यापित्वको बाधा पहुंचती है । किंतु वाग्भटनेही तो बतलाया है कि पुरीषमूत्रका कार्य सर्व शरीरमें होता है । वाग्भट कहता है “ पुरीषका कार्य अवष्टंभ व मूत्रका क्लेदवाहन है । ” अवष्टंभका अर्थ अरुणदत्तने दिया है देहधारणाका कार्य । क्लेदाभिवाहन यह मूत्रका कर्मभी सार्वदेहिकही है । यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि, पक्वाशय व मूत्राशयमें संचित पुरीष-मूत्र जो केवल उत्सर्जन करने योग्य याने हेय द्रव्य होते हैं—देहसंधारक हैं । चरकसंहितामें संततज्वरका वर्णन करते समय कहा गया है “ धातु, विष्मूत्र, [मल] और वातादि [दोष] इनपर संततज्वरमें एकसाथही परिणाम होता है । ” इस वचनमें चरकने मूत्र-पुरीषोंको धातु व दोषोंके साथ समव्याप्त बतलाया है । चरकने अर्थात् पुरीष-मूत्रका सर्वदेहव्यापित्वकी ओर ध्यान देकरही यह वर्णन किया है । राजयक्ष्माके वर्णनमें वाग्भट लिखता है—“ क्षयी मनुष्यको केवल

विकासः स्वीयसन्तत्योत्पादनात्सम्प्रजायते ।

अंगोत्पत्तिविकासाच्चोत्क्रान्तिर्जन्मान्तरं मतम् ॥ १० ॥

शरीरावयवानां वृद्ध्यादिकं निरूपयति । वृद्धिरित्यादिना । वृद्धिः विकासः उत्क्रान्तिः इति त्रिरूपिणी त्रिप्रकारा शरीरस्यांगानां वृद्धिः । तत्र उपवृंहणम् स्वाकारेणोपचयः । वृद्धिः वृद्धिसंज्ञा । स्वीयसन्तत्योत्पादनादिति स्वसमानानामुत्पादनात् । विकासः विकासाख्या वृद्धिः । अंगोत्पत्तिविकासात् अंगानां उत्पत्तेर्विकासाच्चानन्तरम् । जन्मान्तरं स्वरूपान्तरेणाभिव्यक्तिः । उत्क्रान्तिः उत्क्रान्तिसंज्ञा वृद्धिः । (९ - १०)

आहारगान् पोषकांशान् समाकृष्योपवृंहितः ।

स्वाकृत्या पूर्णतां याति शरीरावयवस्ततः ॥ ११ ॥

तद्बीजभूताःश्चावयवाः केचनोत्पत्तिकांक्षया ।

वियुज्यमानाः कुर्वन्ति स्वीयं संघटनं पुनः ॥ १२ ॥

वृद्धाः स्वाकारपूर्णाश्च भवन्त्याहारजाद्रसात् ।

ततश्च पुनरुत्तिरन्येषां भवति क्रमात् ॥ १३ ॥

शरीरावयवाश्चैवमुत्पद्यन्ते सदृशशः ।

वर्धन्ते च तथोत्पन्नाः क्रमोऽयं जीवनं मतम् ॥ १४ ॥

पुरीषकाही आधार रहता है । अतः उसके पुरीषकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये । सर्व धातुओंके क्षीणतासे पीडित मनुष्यका विड्बल यह एकही बल रहता है । ” चरक कहता है “ राजयक्ष्मी मनुष्यके पुरीषकी विशेष रक्षा करनी चाहिये । ” इत्यादि वचनोंमें पुरीषका जो शरीरधारकत्व वर्णन किया गया है वह पक्काशयमें उपचित होनेवाले पुरीषके अभिप्रायसे नहीं, अपितु यह स्पष्ट है कि जो सर्वदेहव्यापी है, जिसका सामर्थ्य हीनप्रतीका रहता है और जो घनधातुओंके मलस्वरूपका होता है उस मलत्रितयांतर्गत पुरीषकाही उक्त-वर्णन यथार्थ होता है । यदि पक्काशयगत उत्सर्जनीय पुरीषका संग्रह-अवरोध किया जाय तो उससे आध्मान, आटोप आदि विकार उत्पन्न होंगे, देहधारणा नहीं । उपरिलिखित विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि, घनरूप धातुओंके तथा द्रवस्वरूप धातुओंकेही कुछ क्षीणसामर्थ्य अंश अनुक्रमसे घनस्वरूप मल व द्रवस्वरूप मल बनते हैं । उनकीही क्रमसे पुरीष (अथवा शकृत्) और मूत्र ये संज्ञायें हैं और विपाकावस्थामें जिस सार्धदेहिक बाष्परूप मलकी निर्मिति होती है उसका नाम है

शरीरावयवानामुत्पत्तिक्रमं दर्शयति । आहारगानिति आहारसंगतान् । उपवृंहितः संवृद्धः उपचितः । तद्वीजभूता इति अवयवस्य बीजस्वरूपाः । उत्पत्ति-कांक्षया उत्पादनेच्छया । वियुज्यमानाः पूर्वावयवात्पृथग्भूयमानाः । स्वीयं आत्मीयं पूर्वावयवमिदं संघटनं संभवत्यम् । वृद्धाः पूर्णतां गताः । ततः पुनरुत्पत्तिरेवं क्रमात् सहस्रशोऽवयवा उत्पद्यन्ते वर्धन्ते च । अयं उत्पादनवर्धनरूपः क्रमः जीवनं मतमाख्यातम् । (११-१४)

बीजस्थानामवयवानां संवृद्धिरथ पूर्णता ।

नवोत्पन्नैरवयवैः स्यादुत्क्रान्तिरनन्तरम् ॥ १५ ॥

बीजस्थानामिति पूर्वावयवगतानां । संवृद्धिः स्वाकोण वृद्धिः । पूर्णता विकासः । नवोत्पन्नैः इति आहारसोत्पन्नैः । उत्क्रान्तिः स्वरूपांतरम् । (१५)

शरीरावयवाः सर्वे समुदायात्मकाः खलु ।

सुसूक्ष्मावयवानां च समुदायो भवेत्क्रमात् ॥ १६ ॥

शरीरावयवा इति अंगप्रत्यंगानि स्थूलसूक्ष्माणि । समुदायात्मकाः समुदाय-स्वरूपाः । मनुक्तं “ तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चभूतविकारसमुदायात्मकमिति ” । सुसूक्ष्मावयवानां परमाणुस्वरूपाणामवयवानाम् । यथोक्तं चरकसंहितायाम् । “ शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति । समुदायः संघातः । क्रमात् अवयवाद्भवयवान्तरोत्पत्तिरिति क्रमात् ॥ (१६)

स्वेद । अर्थात् समस्त धातुमल्लोका शकृत्, मूत्र व स्वेद इन तीनोंमेंही अंतर्भाव करना सर्वथा योग्य है । रस व रक्तके कफ व पित्त नामके जो मल बतलाये गये हैं वेभी उनके (रस रक्तके) सामर्थ्यहीन अंशही होते हैं । यह कदापि न समझना चाहिये कि मलस्वरूप बतलाये हुए कफपित्त और दोषस्वरूप कफपित्त एकही हैं । कारण मलस्वरूप कफपित्त सामर्थ्यहीन होते हैं तो दोषस्वरूप कफपित्त अतिशय सामर्थ्ययुक्त व कार्यकारी होते हैं । रसका मल कफ स्निग्ध व रक्तका मल पित्त उष्ण होता है, किंतु दोषस्वरूप कफपित्तोंके समान धातुसंघातका पचनादि कर्मका वे संपादन नहीं कर सकते । (१-२)

दोष उत्पादनकी क्रिया करते हैं । उत्पादन-संवर्धन क्रिया धातुओंमें चलती है । और मलोंमें न उत्पादनक्षमता है न संवर्धनक्षमता । सामर्थ्यरूप वातादि दोषोंके उत्पादनकार्यमें जैसे रसादिधातु आश्रय होते हैं वैसा आश्रयरूप सामर्थ्य-व उत्पादनसहायकत्व मलोंमें नहीं । (३)

जिसप्रकार जीवित होता हुआभी षंड अपनेही रूपमें रहता है-उसमें पुरु-

मांसास्थिनी शरीरेऽस्मिन् मूर्ते धातुद्वयं मतम् ।

भवन्त्यवयवाः सर्वे मूर्तरूपा हि तन्मयाः ॥ १७ ॥

मांसास्थिनी इति मांसधातुरस्थिधातुश्च । मूर्ते स्थिरम् । यथोक्तं चरकसंहितायाम् । शोणितं स्वाग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतम् । तदेव मांसं जानीयात् स्थिरं भवति देहिनाम् ॥ पृथि-
व्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणा कृतः । खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम् । मूर्तरूपाः ।
घनस्थिरस्वरूपाः तन्मयाः मांसास्थिमयाः । (१७)

मांसं रसेन रक्तेन धातुना परिपूरितम् ।

मेदसा चावलिप्तं स्यादस्थि मज्जा प्रपूरितम् ॥ १८ ॥

मांसमिति मांसधातुः । रसेन रक्तेन च धातुना परिपूरितं मांसगतस्रोतःसु रसरक्ते
प्रपूरिते इति भावः । मांसमपि सूक्ष्मस्रोतोमयम् । सर्वगतत्वात्स्रोतसाम् । स्रोतसामेव समुदायं पुरुष-
मिच्छन्तीति चरकसंहितायाम् । मेदसावलिप्तम् स्नेहस्वरूपेण मेदसोपलितम् । अस्थि च मज्जा
प्रपूरितम् । अस्थीन्यपि स्रोतोमयानि । स्रोतांसि च मज्जप्रपूरितानि । स्थूलस्थिषु विशेषेण मज्जा
त्वभ्यन्तराश्रितः । इति सौथुते । करोति तत्र सौर्विर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः । इति चरकसंहि-
तायां च । (१८)

मांसं तथास्थ्यवयवानां सूक्ष्माणां समुदायतः ।

दृश्यं स्थूलस्वरूपं स्यादाकारस्यानुरोधतः ॥ १९ ॥

षका उत्पादकसामर्थ्यं व स्त्रीका संवर्धकसामर्थ्यं इन दोनोंका अभाव रहता है; उसी-
प्रकारसे शरीरमें मलोंका अस्तित्व षण्डके समानही रहता है । सारांश, वे न उत्पा-
दक हैं न संवर्धक । (३)

जिसमें सूक्ष्मरूपसे शरीरके सर्व अवयवोंके बीज निवास करते हैं उसीको
शरीरका बीज (शुक्रधातु) कहते हैं । (५)

यह बीज जब गर्भाशयमें जाता है, माताके आहारोत्पन्न रसमेंसे अपने
पोषक अंशोंको आकर्षित कर उनकेद्वारा पुष्ट होता है याने अंगोपांगोंसे विकसित
होने लगता है (६)

इस क्रमसे विकाससे अन्यान्य अंगोपांगोंका आकार (रूप) प्रकट होता
है । इसप्रकार जीवात्मा शरीरद्वारा संपूर्णताको प्राप्त करता है । (७)

इसके पश्चात् याने अपने शरीरमें संपूर्णता प्राप्त करनेके पश्चात् स्वातंत्र्यकी
याने शरीरबंधनके बाहर जानेकी इच्छासे वह (जीवात्मा) अन्यशरीरद्वारा अव-
तीर्ण (प्रादुर्भूत) होता है । और पुनश्च [पूर्वोक्त श्लो० ६ प्रकारसे] माताके

मांसमिति । मांसमास्थि च सूक्ष्माणामवयववां समुदायतः स्थूलरूपं । आकारस्यानुरोधतः इति अंगोपांगानामाकारानुसारम् । मांसास्थनोर्व्यक्तरूपत्वं सूक्ष्मावयवानां समुदायादिति भावः । (१९)

आकारः स्यादवयवानां सर्वेषां वर्ष्मणो यथा ।

सूक्ष्मस्यापि शरीरस्यावयवस्याकृतिर्भवेत् ॥ २० ॥

आकार इति स्थिररूपेणावस्थानम् । वर्ष्मणः शरीरस्य । शरीरावयवानां स्थूलानामाकारविशेषवत्सूक्ष्मावयवानामपि आकृतिविशेषो विद्यत इति भावः । (२०)

मांसास्थिजनिता एवाकृतिः स्यान्नान्यसंभवा ।

आकारस्योत्पादनं च सृष्टिरित्यभिधीयते ॥ २१ ॥

सर्वावयवानां स्थूलसूक्ष्माणामाकृतिर्मांसास्थिसम्भवा । नान्यसंभवा इति मांसास्थिनी विहायान्येनाकृतिसंभवाभाव इति भावः आकारस्य स्थिरत्वावस्थितस्य । उत्पादनं सृष्टिः सर्जनम् । वस्तुजातमिति यावत् । (२१)

आकारस्यादर्शनं च विनाश इति कीर्त्यते ।

रसरूपत्वमायान्ति विनष्टाः परमाणवः ॥ २२ ॥

आकारस्यादर्शनं विनाशः कीर्त्यते । ' नश्, इत्यदर्शनार्थो धातुः । विनष्टाः अदृश्यत्वमागताः । परमाणव इति सूक्ष्मा अवयवाः । नित्यानां द्रव्यपरमाणूनां दर्शनादर्शनाभावात् । (२२)

आहाररससे संवर्धित होकर क्रियाकारी बनता है । (८)

वृद्धिकेभी तीन रूप होते हैं—१ वृद्धि २ विकास ३ उत्क्रांति । शरीरके अंगोपांगोंका उपचय याने उपबृंहण यह एक प्रकारकी वृद्धि है । अपने संततिके याने स्वसमानरूपके उत्पादनको विकास संज्ञा है । यह हुई दूसरी वृद्धि । और इस अंगोत्पत्तिविकासके पश्चात् अन्य जन्म ग्रहण करना [अन्य स्वरूपमें अभिव्यक्त होना] उत्क्रांति [तृतीय वृद्धि] समझना चाहिये । (९-१०)

अब शरीरावयवोंका उत्पत्तिक्रम दर्शाते हैं । शरीरावयव आहाररसमेंसे पोषक अंशोंका शोषण कर पुष्ट होते हैं और अपने २ आकृतिमानकी पूर्णताको पटुंचते हैं । फिर उसके बीजभूत कुछ सूक्ष्म घटक उत्पादनकी आकांक्षासे उससे (पूर्व अवयवसे) वियोजित याने पृथक् होकर अपना पृथक् संघीभाव (संघटन) करते हैं और पुनश्च आहाररससे स्वसमान गुणांशोंका आकर्षण कर अन्य अवयवके रूपमें पुष्ट व आकारपूर्ण होते हैं । उनसे पुनः उसके बीजभूत अवयव उत्पादनाकांक्षासे प्रेरित व वियुक्त होकर पृथक् संघटन करते हैं और अन्य अवयवके रूपमें आहाररस-

मूर्तमास्थि तथा मांसं देहे सृष्टिर्द्विधा मता ।

सृष्टेराकृतिरूपत्वादेहे मूर्तमाकृतिमत् मांसं अस्थि चेति द्विधा सृष्टिः । मांसरूपेण अस्थिरूपेणेति द्विधैव शरीरे साकारत्वोत्पत्तिः । (२२)

अशितानां पदार्थानां रसरूपे विलीनता ॥ २३ ॥

विशुद्धिः स्याद्रक्तरूपे तेषामेव विशेषतः ।

ततश्च परमाणूनां संधान्मांसं प्रजायते ॥ २४ ॥

सृष्टिर्देहे मूर्तरूपा प्रथमा मांसरूपिणी ।

बीजस्य परमाणूनामंगोत्पादनकर्मणाम् ॥ २५ ॥

आहारजानामंशानां तथा पोषणकर्मणाम् ।

उत्क्रांतिरूपा चोत्पत्तिः शरीरे मांसरूपिणी ॥ २६ ॥

मांसोत्पत्तिकर्म विवृणोति । अशितानां भुक्तानां । रसरूपे आहारसे रसधातौ च । विलीनता विनष्टत्वम्, भोज्यद्रव्याकृतिविनाशः । विशुद्धिः सारकिट्टविशोधनम् । परमाणूनामिति रक्तधातुगतानां सूक्ष्मद्रव्यांशानाम् । संधातात् संग्रहात् मांसं मांसाभिधानो धातुः । सृष्टिः आकृतिविशेषेण प्रादुर्भावः मूर्तरूपा विशिष्टाकारवती । बीजस्येति गर्भबीजस्य शुकार्तवसंयोगस्वरूपस्य । अंगोत्पादनकर्मणाम् । गर्भस्यावयवोत्पादकानाम् । पोषणकर्मणा-

द्वारा परिपुष्ट होकर पूर्ण आकृतिमान् हो जाते हैं । इस क्रमसे सहस्रशः सूक्ष्म-शरीर अवयवोंकी उत्पत्ति, वृद्धि, पूर्णता व उत्क्रांति हुआ करती है । इसी क्रमको जीवन समझा जाता है । (११-१२-१३-१४)

बीजस्थ अवयवोंकी अपने आकारमें वृद्धि, विकास [पूर्णता] और उत्क्रांति आहारसोत्पन्न नवीन अवयवोंसे होती रहती है । (१५)

सभी शरीर अवयव—[स्थूल अथवा सूक्ष्म] समुदायात्मक याने संहति-स्वरूप [संघटनरूप] हैं । आयुर्वेदशास्त्रमें बतलाया है कि, ‘शरीर चेतनाधिष्ठित पंचभूतविकारसमुदायात्मक है’ सुसूक्ष्म याने परमाणुस्वरूप अवयवोंकाही पूर्वोक्त क्रमसे समुदाय बना करता है । चरकने कहा है “शरीरमें परमाणुसदृश असंख्य अवयव हैं । (१६)

शरीरमें मांस व अस्थी ये दो धातु मूर्त याने स्थिर स्वरूपके हैं । चरकने कहा है “रक्तधातु अपने अंगभूत अग्निसे विपक्व और वायुद्वारा घनीभूत होकर स्थिरस्वरूप मांसत्वको प्राप्त होता है । इस मांसकेभी पार्थिवांश, अग्न्यंश व वाय-

मिति गर्भागानामुत्पादनेऽसमर्थानां केवलं पोषणकर्मणाम् । उत्पादनं तु बीजगतैर्जायत इति ।
उत्क्रांतिरूपा स्वरूपान्तरग्रहणरूपा । उत्पत्तिः प्रादुर्भावः । मांसरूपिणी मांसाभिधाना ।
अव्यक्तानां बीजाणूनामाहारद्रव्यांशानां च शरीरे मांसघातुरूपेण प्रथमः प्रादुर्भावो स्थिररूप इति ।
(२३-२४-२५-२६)

मांसरूपेण मूर्तत्वमापन्नाः परमाणवः ।

मेदोरूपे विलीयन्ते केचिदुत्क्रान्त्यपेक्षया ॥ २७ ॥

मेदस्तु मांसस्याणूनां रसनाद्रस इत्यपि ।

मांसरूपेणेति घनस्वरूपेण मांसाभिधानेन । मूर्तत्वं व्यक्तित्वमाकृतिमच्चम् । पर-
माणवः सूक्ष्मावयवाः । मेदोरूपे मेदोधातौ । विलीयन्ते विद्रुता भवन्ति । उत्क्रान्त्यपेक्षया
इति स्वरूपान्तरापेक्षया रसनादिति विलयनात् । रस इत्यपि रससंज्ञमपि । मांसोद्भवं मेदोपि
रसनाद्रस एव । (२६॥-२७॥)

मेदसः संहतीभावमापन्नाः परमाणवः ॥ २८ ॥

कठिनं दृढसंघातमस्थिररूपं व्रजन्ति ते ।

द्वितीयेऽयं समुत्पत्तिर्देहे चोत्क्रान्तिरीरिता ॥ २९ ॥

दृढसंघातमिति विशेषेण स्थिरः संघातो यस्यैवंविधम् । द्वितीया मांसापेक्षया ।

वीय अंश अपने उष्मासे पृथक् संघीभूत होते हैं । उनमें जत्र खरत्व उत्पन्न होता है तत्र इस संघातको अस्थि कहा जाता है । मांसास्थिमय सत्र अवयव मूर्तरूप याने घन व स्थिररूपके होते हैं (१७)

मांसधातु रस व रक्त धातुओंसे प्रपूरित होता है । मांसमें सूक्ष्म स्रोतस् [जो समस्त शरीरमें रहते हैं] रहते हैं । और ये सूक्ष्म स्रोतोमार्गही रसरक्तसे आपूरित होते हैं । चरक कहता है “ पुरुष एक स्रोतसोंका समुदायही होता है । इसप्रकार मांसधातु अंदरसे रसरक्तसे आपूरित होकर बाह्यतः मेदसे अवलिप्त रहता है । वैसाही अस्थिधातुभी मज्जासे प्रपूरित रहता है । अस्थिभी स्रोतोमय है और अस्थ्यंतर्गत स्रोतोमार्गही मज्जापूरित रहते हैं । सुश्रुत कहता है “ स्थूल अस्थि-ओंके अंदर मज्जा रहती है । चरकने कहा है—“ आस्थिओंके भीतर वायु सुषिरताका उत्पादन करता है ” (१८)

अंगोंपांगके अपने आकारानुसार मांस व अस्थिको जो दृश्य व स्थूल स्वरूप मिलता है उसका कारण है सूक्ष्म अवयवोंका समुदाय । (१९)

उत्क्रान्तिरित्युत्क्रान्तिरूपा समुत्पत्तिः सृष्टिः । साकारत्वेन प्रार्दुभाव इति । (२९)

शरीरे स्यादस्थिरूपेणोत्क्रान्तेः परिपूर्णता ।

मूर्तरूपं ततः किञ्चिद्देहे नोत्पद्यते खलु ॥ ३० ॥

शरीरे अस्थिरूपेण अस्थिसृष्ट्या । उत्क्रान्तेः उत्तमावस्थायाः । ततः अस्थिरूपोत्पादनानंतरम् । मूर्तरूपं आकृतिमन् घनम् । नोत्पद्यते । मज्जा शुक्रमिति धातुद्वयं द्रवरूपं देहान्तरस्योत्पादकमपि स्वशरीरेऽमूर्तमेवेति । (३०)

विलीयन्ते केचिदंशाः स्युरस्थीनि दृढान्यपि ।

रसोऽयमस्थिजनितो मज्जाधातुरिति स्मृतः ॥ ३१ ॥

विलीयन्त इत्यादि । अस्थीनि दृढान्यपि तेभ्यः केचनांशा विलीयन्ते । सः अस्थिजनितो रसो मज्जाधातुः ॥ (३१)

धातोर्मज्जः शुद्धतरं रूपं शुक्रमिति स्मृतम् ।

तस्माद्देहान्तरात्पत्तिकरात् स्याद्गर्भसंभवः ॥ ३२ ॥

धातोरित्यादि । शुद्धतरं मललेशेनापि विवर्जितं । देहान्तरोत्पत्तिकरादिति अन्यदेहोत्पादकात् । स्त्रीशरीरे तु अवयवान्तररूपं देहान्तरं वाच्यम् । देहान्तरोत्पादकस्य शुक्रस्य स्त्री-देहेऽसंभवात् । (३२)

शरीरके प्रत्येक स्थूल अवयवको जिसप्रकार अपना एक विशेष आकार होता है उसीप्रकार शरीरका प्रत्येक सूक्ष्म अवयवभी विशिष्ट आकृतियुक्त होता है ! (२०)

शरीरके सभी स्थूल—सूक्ष्म अवयवोंका आकार मांसास्थिजनित होता है । उनके बिना आकृति हो नहीं सकती । आकृतिके निर्माणकोही सृष्टि—वस्तुमात्रका सर्जन कहते हैं । (२१)

आकृतिके दृश्यरूपके अभावको विनाश कहते हैं । 'नश्' धातु दर्शनाभावको सूचित करता है । दृश्य व मूर्त—आकृतिमान् अवयवोंका विनाश होनेपर वे [परमाणु] रसरूप हो जाते हैं । (२२)

शरीरमें सृष्टि याने साकारत्वकी उत्पत्ति दो प्रकारकी होती है १ मांसरूपकी २ अस्थिरूपकी । येही दो आकृतिमान् हैं । (२२ ॥)

मांसोत्पत्तिका क्रम अब अधिक स्पष्ट करते हैं । भुक्तपदार्थ पहिले [उदरमें] नष्ट होकर [अर्थात् भुक्तपदार्थोंका जठरमें विलयन होकर] उनका आहार-

देहे नोत्पद्यते किञ्चित् शुक्राद्रर्भकरादपि ।

ततोऽस्थि पूर्णरूपं स्याद्देहोत्क्रांतेरिति स्मृतम् ॥ ३३ ॥

गर्भोत्पत्तिकरादिति देहान्तरस्य गर्भोत्पादकात् । उत्क्रांतेः उत्तमावस्थागम-
नस्य : पूर्णरूपं अंतिमरूपम् (३३)

बाह्याहारान्मूर्तरूपाद्रसो यः संप्रजायते ।

स पुनः रक्तरूपेण भवेत् शुद्धतरो यदा ॥ ३४ ॥

मांसोत्पत्तिक्षमश्चैवं मज्जाधातुर्विशोधितः

शुक्रं देहस्येतरस्योत्पादने भवति क्षमम् ॥ ३५ ॥

बाह्यादिति धान्यमांसादेः शुद्धतरो विपाकान्मलरहितः (३४-३५)

एवं मांसास्थिनी देहे द्वौ धातू मूर्तरूपिणौ ।

अव्यक्तरूपास्तत्पूर्वापरे ते स्यू रसादयः ॥ ३६ ॥

अव्यक्तरूपा इति द्रवत्वादनवस्थितरूपाः । पूर्वापर इति रसरक्ताख्यौ मांसपूर्वौ ।
मेदश्च मांसादपरम् । अस्थिश्चापरो मज्जा शुक्रमिति । (३६)

विविधाकारसंस्थानाः शरीरावयवस्थिताः ।

शतशो मांससंघाताः पेशीनाम्ना प्रकीर्तिताः ॥ ३७ ॥

रस व पश्चात् रसधातु बनता है । फिर उसका सारकिट्टपृथक्करण होकर विशेष शुद्धरूप रक्तमें वह परिणत होता है । रक्तधातुगत सूक्ष्म परमाणुओंके संघातसे मांस धातु बनता है । इसप्रकार शरीरमें सर्वप्रथम मांसरूपमें मूर्त याने स्थिररूप विशिष्ट आकृति [सृष्टि] उत्पन्न होती है । शुक्रार्तवसंयोगरूप बीजके परमाणुओंकी [-जो अंगोत्पादक याने गर्भावयवोंके उत्पादनकर्ता-] तथा आहारगत अंशोंकी-[जिनका कार्य पोषण करना रहता है]-जो उत्क्रांतिरूप उत्पत्ति उसीको मांस कहते हैं । बीजपरमाणु और आहाररसगत परमाणु इनकी उत्क्रांतिकी अवस्थामें प्रथम मांसरूपमेंही स्थिरता व आकृतियुक्तता प्राप्त होती है (२३॥-२६)

मांसरूपमें मूर्तत्वको याने व्यक्तित्व या आकृतिमत्वको प्राप्त परमाणु (सूक्ष्म अवयव) अधिक उत्क्रांतिकी [स्वरूपांतरकी] आकांक्षासे मेदोरूपमें विलीन हो जाते हैं । मांसके अणुओंका रसन विलयनरूपका होनेके कारण मेदकोभी रसही समझना चाहिये । (२७॥)

विविधाकारसंस्थाना इति । नानाविधा न्हस्वदीर्घायताद्या आकाराः, संस्थानानि अवस्थानानि क्रतुतिर्यगादीनि यासामेवंविधाः । **शतशः** यथा ' पुंसां पेशीशतानि च, इत्याख्यातम् । **मांससंघाताः** मांसघटकानां समुदायाः । **पेशीनाम्ना** पेशी इत्याख्याया । उक्तं च ङङ्गणाचार्येण मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः ' पेशी ' इत्युच्यते (३७)

त्वक्कलाधमनीस्नायुस्रोतांस्यंत्राणि रज्जवः ।

तेषां मांसमुपादानं मृदुसंघातरूपिणाम् ॥ ३८ ॥

त्वग्निति बाह्यमावरणं शरीरस्य । **कला** इति धात्वाशयानां तनुत्वग्रूपमावरणमाभ्यन्तरम् । **धमन्यो** वातवहिन्यः सिराः । **स्नायवः** सूत्ररूपाः । **स्रोतांसि** अभिवहनमार्गा नाडी-स्वरूपाः **अंत्राणि** महास्रोतोऽन्नपानादिवहनम् । **रज्जवः** रज्ज्वाकाराः स्नायुभेदाः । **उपादान-**मिति मूलकारणम् । **मृदुसंघातरूपिणां** शिथिलसंघातरूपाणाम् । त्वगाद्या अवयवाश्चिते मांस-मया इत्यभिप्रायः । (३८)

अस्थीन्यनेकरूपाणि कपालादीनि यानि च ।

सूक्ष्मास्थिघटका एव तदुपादानकारणम् ॥ ३९ ॥

अस्थीनि स्थूलरूपाणि भिन्नसंस्थाकृतीनि च ।

तथा सूक्ष्मेण्ववयवेषु स्थिरत्वं यत्तदस्थिजम् ॥ ४० ॥

मेदके संहतीभावसे परमाणु प्रायः कठिन, दृढसंघातरूप अस्थिरूपको धारण करते हैं । मांसके पश्चात् उत्क्रांत सृष्टि, व्यक्त-आकृतिमान् पदार्थकी उत्पत्ति अस्थिरूपमें होती है । (२८-२९)

शरीरके उत्क्रांतिक्रममें आकारत्वका प्रादुर्भाव प्रथम मांसरूपमें व नंतर अस्थिरूपमें होता है । किन्तु अस्थिमें उत्क्रांतिकी (विकासकी) पूर्णावस्था मानी जाती है । अस्थिके बाद फिर घन व आकारत्वका प्रादुर्भाव नहीं होता । कारण मज्जा व शुक्र ये दोनों धातु द्रवरूप हैं । यद्यपि शुक्र अन्यदेहका उत्पादक है, अपने शरीरमें वह अमूर्त अव्यक्तरूपही रहता है । (३०)

दृढसंघात अस्थिओंके भी कुछ अंशोंका विलयन होता है और उनके रस-रूप स्थितिको मज्जाधातु कहते हैं । अर्थात् अस्थिजनित रस मज्जा है । (३१)

मज्जा धातुकेही अधिक शुद्धरूपको (जिसमें मलका लेशभी नहीं रहता) शुक्र कहते हैं । उस अन्यदेहोत्पत्तिकर शुक्रधातुसे-अर्थात् पुरुषके गर्भसंभव होता है । स्त्रीशरीरमें शुक्रका कार्य अन्य अवयवोंके उत्पादनस्वरूपही होता है ।

अस्थिनीत्यादि । कपालादीनि कपालतरुणनलकरुचकानि । सूक्ष्मेषु सूक्ष्म-
घटकरूपेषु । स्थिरत्वं स्वाभारावस्थितत्वं । सूक्ष्मावयवानां स्वाकृतिधारकत्वं तद्वतैरस्थ्यंशैः सूक्ष्मैः
संपद्यत इति सर्वावयवव्यापित्वमस्त्वामिति (३९-४०)

अमूर्तानां सुसूक्ष्माणामणूनां समुदायतः ।

जायन्तेऽवयवाः सूक्ष्माः शरीरा मूर्तरूपिणः ॥ ४१ ॥

समुदायात्तथा सूक्ष्मावयवानां भवन्ति हि ।

दृश्याः शरीरावयवाः शिरःशाखादयोऽखिलाः ॥ ४२ ॥

अमूर्तानामिति आकृतिहीनानां स्वरूपाणाम् । सूक्ष्मा इति । अनभिव्यक्ताकृति-
विशेषाः । दृश्या इति स्पष्टाकाराः । (४१ + ४२)

भवन्ति सूक्ष्मावयवाः सूक्ष्माणुसमुदायतः ।

स्थूलाश्चावयवाः सर्वे सूक्ष्मावयवसंघजाः ॥ ४३ ॥

सूक्ष्माणुसमुदायतः सूक्ष्मा अवयवास्तथा सूक्ष्मावयवसंघाततः स्थूला अवयवा भवन्तीति
सर्वेषां समुदायात्मकत्वम् । (४३)

स्थूलावयवसंघातः शरीरं परीकीर्तितम् ।

शरीरमखिलं स्थूलसूक्ष्मं संघात्मकं खलु ॥ ४४ ॥

कारण अन्यदेहोत्पादक शुक्रका स्त्रीशरीरमें अभाव रहता है । (३२)

गर्भोत्पत्तिकर शुक्रसे अपनेही शरीरमें दूसरा कोई धातु पैदा नहीं होता
इसीलिये शारीरिक उत्क्रांतिका (उत्तमावस्थाको जानेका) पूर्णरूप-अंतिमरूप
अस्थिही मानना चाहिये (३३)

बाह्य आहार्य पदार्थोंसे-जो मूर्तरूप होते हैं-शरीरमें रसधातु उत्पन्न होता
है वही विपाकके कारण अधिक शुद्ध होकर ' रक्त ' का रूप धारण कर लेता
है तब वह मांसोत्पत्तिक्षम बनता है । इसीप्रकार मज्जाधातु विशोधित होकर देहां-
तरोत्पत्तिक्षम शुक्र बनता है (३४-३५)

सारांश, शरीरमें मूर्तरूप याने आकृतिमान् दोही धातु है- १ मांस २
अस्थि । उनके पहिलेके रस, रक्त, मेद, व नंतरके मज्जा व शुक्र ये पांचो धातु
अव्यक्तरूप होते हैं । उनकी द्रवावस्था होनेके कारण उनका अपना कोई आकार
नहीं रहता । (३६ ॥)

शरीरमें हात, पैर पृष्ठ, उदर, यकृत, हृदय आदि बाह्य व आभ्यंतर अव-

स्थूलानां शिरःशाखाहृदयफुफ्फुसादीनां संघातः समुदायः शरीरं देहः । स्थूलं प्रव्यक्तरूपम् । सूक्ष्ममस्फुटरूपम् । अखिलं शरीरं शरीरगतमवयवजातम् । संघात्मकं समुदायात्मकम् । खलु निश्चये । समुदायात्मकत्वादेव शरीरस्याख्यातं तत्रकृद्भिः शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचभूतविकारसमुदायात्मकमिति । इति शरीरस्य संघातात्मतादर्शनं नाम षष्ठं दर्शनम् ॥ (४४)



यवोंको चहस्व, दीर्घ, आयत आदि भिन्न आकृतिके सांघे, तिरछे आदि भिन्न २ तरहसे लगेहुये जो शतावधि मांससंघात याने मांसघटकोंके समुदाय होते हैं वेही पेशी संज्ञासे जाने जाते हैं । उल्लणाचार्यने कहा हैं— “ परस्परसे विभक्त मांसघटकोंके संघातकोही पेशी कहते हैं । ” (३७)

त्वचा, धमनी, स्नायु, स्रोतस, अंत्र व रज्जु इन सबका उपादान याने मूलघटक मांसही है । वे सब मृदुसंघातरूप होते हैं याने उनमें घटकोंकी संघटना शिथिल रहती है । (त्वचा—शरीरका बाह्य आवरण, कला—धातु व आशयोंका पतली त्वचारूप अंतरावरण, धमनी—वातवाहिनी सिरायें । स्नायु—मांसके धागे । स्रोतस्—अभिवहनके मार्ग । अंत्र—अन्नपानादिका वाहक महास्रोत । रज्जु—रज्जुके आकारके स्नायु इत्यादीका उपादन मांसही है । (३८)

कपालास्थि, नलकास्थि आदि भिन्न २ आकारके जितनेभी अस्थि होते हैं उन सबका उपादन कारण सूक्ष्म अस्थिघटक ही होते हैं । स्थूल शरीर भिन्न आकृतिके, स्थूल स्वरूपके अनेक अस्थिओंसे युक्त रहता है । वैसेही सूक्ष्म

घटकरूप अवयवोंमेंभी स्थिरत्व सूक्ष्म अस्थ्यंशके कारणही रहता है । याने सूक्ष्म-शारीर घटकोंकाभी जो अपना निजी आकार होता है और नित्य विद्यमान रहता है उसका कारण यही हैकि, उन घटकोंमें सूक्ष्म अस्थ्यंश विद्यमान रहते हैं । इससे अस्थि धातुकाभी सर्व स्थूल व सूक्ष्म अवयवोंमें व्यापित्व सिद्ध होता है । (३९-४०)

अमूर्त याने आकृतिरहित रसरूप ऐसे अत्यंत सूक्ष्म अणुओंके समुदाय-सेही सभी मूर्त याने आकृतिमान् व स्थिर ऐसे सूक्ष्म शारीर अवयवोंका निर्माण होता है । इन सूक्ष्म अवयवोंके समुदायसे मस्तक, हात, पैर आदि दृश्य व स्थूल शारीर अवयवोंकी उत्पत्ति होती है । (४१-४२)

शरीरके सूक्ष्म घटक अत्यंत सूक्ष्म अणुओंके समुदायसे बनते है तो स्थूल घटक इन सूक्ष्म घटकोंके समुदायसे बनते हैं । अर्थात् सभी अवयवोंका समुदायात्मकत्व प्रकट है । (४३)

शिर, शाखा, हृदय फुफुस आदि स्थूल अवयवोंके संघात [समुदाय] को शरीर कहते हैं । निश्चयसे यह मानना पडता है कि, शरीरके स्थूल व सूक्ष्म जितनेभी अवयव हैं संघात्मक [समुदायात्मक] ही हैं । शास्त्रकारोंनेभी शरीरको समुदायात्मकही बतलाया है । (४४)

शरीरकी संघातात्मता नामक षष्ठ दर्शन समाप्त ।

सप्तमं दर्शनम् ।

(शरीरधातूनां सामर्थ्यविशेषदर्शनम्)

यावद्बृद्धिर्विकासः स्याद्देहो बाल इति स्मृतः ।
वर्षादापोडशात्पश्चात्तरुणः संप्रकीर्त्यते ॥ १ ॥
न विकासो न वा ञ्हासस्तारुण्ये वपुषो भवेत् ।
संक्षीयमाणधातुत्वात्ततः स्थविर उच्यते ॥ २ ॥
स्थविरत्वे हि धातूनां क्रमाद् ञ्हासः प्रजायते ।
आशताब्दं ततो देहः पंचत्वमुपयाति च ॥ ३ ॥

शरीरावयवानां संघातरूपमुत्पादनमभिधाय धात्वन्तरोत्पत्तिं विस्तारेण विवृणोति ।
यावादित्यादिना । वृद्धिरिति उपवृंहणोत्क्रान्तिरूपा । विकासः सन्तत्याऽभिवर्धनम् ।
वर्षादापोडशात् षोडशवर्षं यावत् । बालो देह इति । पश्चात्तरुणः । तारुण्ये विकासः
नवीनोत्पन्नैरवयवैरभिवर्धनम् । ञ्हासः क्षयो न भवेत् । ततः स्थविरो जीर्णः । क्रमादिति
दिने दिने न सहसा । बालं तरुणं स्थविरमिति शरीरस्यावस्थास्तिष्ठः । तत्र बालं नामासंपूर्ण-
धातुकम् । तरुणं परिपूर्णधातुकम् । स्थविरं च क्षीयमाणधातुकम् । अवस्थाधितयमेतच्चरकेण
बालं मध्यं जीर्णमित्याख्यातम् । यथा—तद्वयो यथास्थूलभेदेन त्रिविधम् । बालं मध्यं जीर्णमिति ।

दर्शन ७

(शरीरधातुओंका सामर्थ्यविशेषदर्शन)

सोलहवर्षकी अवस्थातक शरीरको बालशरीर कहा जाता है । तबतकही उसकी वृद्धि व विकास होते रहता है । १६ वर्षके पश्चात् शरीर तरुण संज्ञासे जाना जाता है । तारुण्यमें शरीरका न विकास होता है न ञ्हास । जबसे धातु क्षीण होने लगते है तबसे शरीरके स्थविरत्व (वार्धक्य) का प्रारंभ होता है । स्थविरत्वमें धातुओंका क्रमसे ञ्हास होते जाता है ।

बाल, तरुण व स्थविर ये शरीरकी तीन अवस्थायें हैं । बाल अवस्थामें धातु असंपूर्ण—अविकसित रहते हैं । तरुण अवस्थामें धातु परिपूर्ण हो जाते हैं । और स्थविरावस्थामें धातु क्षीण होने लगते है । चरकने शरीरका यही अवस्थात्रय बाल, मध्य व जीर्ण इन संज्ञाओंसे बतलाया है । चरक कहता है “ स्थूल दृष्टिसे (मनुष्यके) आयुष्यके तीन विभाग होते हैं १ बाल २ मध्य व ३ जीर्ण । उनमें,

तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यंजनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षम् । मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम् । अतः परं हीयमानधातुविद्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं अश्रयमानधातुगुणं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम् । बाल्याद्यवस्थाविभागकालमर्यादेयं सामान्यस्वरूपा । षोडशवर्षोत्तरं विंशतिवर्षातमपि केषांचिदसंपूर्णधातुगुणत्वं दृश्यते । तरुणे वयस्यपि संतर्पणैराहारौषधमनोहर्षणादिभिरुपवृंहणं भवति । अपि तु परिणाहायामादिभिर्न वृद्धिः । मांसपेशीगतानां स्रोतसामापूरणाद्रसरुधिरमेदोभिरुपवृंहितानि शरीराणि मध्ये वयसि भवन्ति परिणाहायामादिभिर्वर्धनं तु बालत्वं एव । सर्वेषामंगावयवानामाविर्भावानन्तरं वयसस्तरुणमित्यभिप्रायः । आविर्भूतानां चांगावयवानां परिपक्वतास्थैर्योदिकैर्मुपवृंहणं त्रिंशद्वत्सरं यावद्वेदित्याख्यातं चरकसंहितायाम् । यथा—विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टमिति । आषष्टिवर्षमुपदिष्टं मध्यं वयश्चरके । तत्रान्तरे च सप्ततिवर्षपर्यन्तम् । यथा वाग्भटोक्तमष्टांगहृदये । “ वयस्त्वाषोडशाब्दालं तत्र धाविद्रियौजसाम् । वृद्धिरासप्ततेर्मध्यं तत्रावृद्धिः परं क्षयः । ” सप्ततिवर्षाणां षष्टिं वा यावत्तारुण्यमित्युभयविरुद्धमसांप्रतत्वात् । संवत्सरसप्ततिमितमायुरप्यधुना सुदुर्लभम् । पंचाशद्वर्षदर्शनीया एव जीर्णा भवन्ति बहवः । चरकाद्यैरुपवर्णितं मध्यवयःप्रमाणन्तु परिपूर्णसंवत्सरशतमायुःप्रमाणासारेण । यत उक्तं “ वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले । इति । विविधैरुपपन्नैरायुषः

सोलह वर्षातक बालशरीरकी मर्यादा रहती है । बाल शरीरके धातु अपरिपक्व (असंपूर्ण) होते हैं, वह सुकुमार क्लेश सहनेमें असमर्थ, असंपूर्ण बलके व श्लेष्म धातुप्राय होते हैं । मध्य (तरुण) शरीरकी मर्यादा सोलहसे साठ वर्षतक होती है । उसमें बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण—धारणा स्मरण आदि बुद्धिके गुण, वाक्शक्ति, विज्ञान और सब धातुओंके गुण समत्वकी अवस्थामें रहते हैं । इस कालमें शरीर पूर्ण बलशाली व सत्त्वसंपन्न रहता है । उसमें धातुओंका न्हास नहीं होता । और शरीर पित्तधातुप्राय रहता है । साठवर्षके बाद धातु, इंद्रिय, बल वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण—धारण—स्मरण आदि बुद्धिका सामर्थ्य, वाक्शक्ति, विज्ञान आदि क्षीण होने लगते हैं । धातु भ्रष्ट होने लगते हैं और शरीर धातुधातुप्राय रहता है । ६० वर्षसे १०० वर्षतक शरीरको जीर्ण कहते हैं ” बाल्य, तारुण्य, जीर्णत्व यह कालमर्यादा सामान्य रीतिसे समझनी चाहिये । कारण सोलहवर्षके बाद बीस वर्षतक भी असंपूर्ण धातुगुणत्व दृश्यमान होता है । याने उनका शरीर २० वर्षतक संपूर्ण नहीं होता । तरुण

प्रमाणे विहाने हीनत्वं तारुण्यस्येति सप्ततिं षष्टिं वा वत्सराणां यावन्मध्यं वय इत्याख्यानमसांप्रतम् । ततश्च क्षीयमाणधातुत्वोपलक्षणं पंचाशत्संवत्सरात्मकत्वादिकमृद्धं मध्यं वय इति । हीनशक्तिः वात्परि हीयमाणे तारुण्येऽपि बाल्यत्वेनोपदिष्टायां कालमर्यादायामूनत्वं न वाच्यम् । सामर्थ्यहीनत्वमभिवृद्धिहेतुर्न भवतीति । **आशताब्दमिति** संवत्सराणां शतं यावत् । शतसंवत्सरात्मकमायुः प्रमाणं न सामान्यम् । कालप्रभावात्सारातश्चास्मिन् न्यूनाधिकत्वमध्याहार्यम् । यथोक्तं चरक्रेण सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः इति । **पंचत्वमिति** अचेतनत्वम् अचेतनत्वं हि मृत्युः । चेतनासहितानां पंचभूताविकाराणां समुदायो जीवित्वम् । चेतनावियोगादवशिष्टानि पंचभूतानि जीवविरहितानीति निर्जीवत्वस्यापरपर्यायः पंचत्वमिति । उक्तं च चरकसंहितायाम् । “ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् । पंचभूतावशेषत्वान् पंचत्वं गतमुच्यते । (१-३)

बालत्वं तरुणत्वं च स्थविरत्वं यदीरितम् ।

आयुश्च तत् शरीरस्य सामान्यादथ कालतः ॥ ४ ॥

क्रमादायुरवस्थासु न्यूनत्वमुपयाति च ।

यावत्कालं शरीराणि जीवन्त्यायुर्द्वीरितम् ॥ ५ ॥

बालत्वमित्यादि । बालत्वादिकं आयुश्च शरीरस्य ईरितं कीर्तितम् । **तत्सामान्यात्** सामान्येन न सर्वदा नियतरूपमिति । **कालतः** कालस्वभावात्सारेण । न्यूनत्वं उपयाति । यथोक्तं चरके-युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते । गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः

अवस्थामेभी आहार, औषध, मनोहर्षण आदि द्वारा संतर्पण क्रियासे शरीरका उपबृंहण होताही है । परंतु शरीरकी उंचाई (आयाम) गोलाई (परिणाह) आदि की वृद्धि नहीं होती । अर्थात् मध्यवयमे शरीरमें जो संपूर्णता आती है उसका कारण यह है कि, मांसपेशीगत स्रोतसोंका रस-रक्तसे आपूरण होता है और उनका याने मांस पेशीओंका मेदसे उपबृंहण होता है । वास्तवमें बाल्यवयके अंतमेंही शरीर सर्वावयवसंपूर्ण हो जाता है । बालत्वके अंततक सब अवयवोंका संपूर्ण विकास हो जानेके पश्चात् तरुणवयमें अवयवोंमें परिपक्वता व स्थैर्य आदि रूपमें शरीरका उपबृंहण ३० वर्षतक होता है । चरकने भी कहा है “ तीस वर्षतक धातुगुणोंकी वृद्धि व सत्त्वकी नवीनता कायम रहती है । ” तरुणवयकी चरमसीमा चरकने ६० वर्षतक बतलायी है । अन्य ग्रंथकारोंने सत्तरवर्षतक बतलायी है । वाग्भटने अष्टांगहृदयमें कहा है “ १६ वर्षतक बालवय-जिसमें धातु, इंद्रिये, व ओजकी वृद्धि हुआ करती है,—सत्तर वर्षतक मध्यवय-जिसमें वृद्धि नहीं हुआ करती,—और पश्चात् क्षय होता है, साठ या सत्तर वर्षतक तारुण्यका

प्रलीयते । संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम् । देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ।
इति । यावत्कालं शरीराणि जीवन्ति तदायुः । जीवनकालमर्यादा आयुःशब्दवाच्या इति । (४-५)

सामर्थ्यमुत्पात्तिकरं बाले देहेऽवतिष्ठते ।

अक्षीणबहुलं तस्मादुत्पत्तिर्जायतेऽधिका ॥ ६ ॥

तरुणे स्थूलविस्तारे शरीरे स्थूलताऽधिका ।

अप्युत्पादनसामर्थ्यस्यैतिकर्तव्यता भवेत् ॥ ७ ॥

शरीरे पूर्णतां याते सामर्थ्यं याति पूर्णताम् ।

शरीरावयवोत्पत्तिविकासौ भवतो यतः ॥ ८ ॥

सामर्थ्यमिति । उत्पत्तिकरं अंगावयवादीनां विकासकरम् अक्षीणबहुलमिति
सापेक्षतया तरुणादक्षीणं तत एव च बहुलम् । स्थूलविस्तारे इति परिणाहाधिके । इतिकर्त-
व्यता उत्पादनस्वरूपस्य कर्तव्यस्यावसावम् । पूर्णतामिति स्वभावानुसारं पूर्णत्वम् । पूर्णतां
याति विरमति । यत इति पदं सामर्थ्येनानुसंधेयम् । यस्मात् शरीरावयवोत्पत्तिविकासौ
भवतस्तत्सामर्थ्यमिति । (६-८)

तस्मिन् देहान्तरोत्पत्तिक्षमं बीजमवस्थितम् ।

न तत् शरीरावयवोत्पादनाय भवत्यलम् ॥ ९ ॥

अनुभव वर्तमानमें नहीं है । इनानाही नहीं किंतु सत्तर वर्षतक आयुष्योप-
भोग भी आजकल दुर्लभ हो गया है । बहुतसे लोग पचास वर्षकी अवस्थामें ही
जीर्ण हो जाते हैं । जिस समय संपूर्ण आयुर्मान १०० वर्षका था उस समय
चरकादिके कथनानुसार ६० वर्ष तक तारुण्य रहता था । कहा है “ इस
(चरकादिके) कालमें आयुर्मान १०० वर्षका है । ” किंतु सांप्रत कालमें अनेक
उपप्लवोंके कारण आयुष्यका प्रमाण कम हो गया है । ऐसी अवस्थामें मध्यवय
या तारुण्यकी मर्यादा ६० वर्षकी बतलाना प्रत्यक्ष परिस्थितिके प्रतिकूल होगा ।
इसलिये आजकलके परिस्थितिके अनुसार अधिकसे अधिक ५० वर्षतकही मध्य-
वयकी मर्यादा माननी चाहिये । उसकेभी अंतिम विभागमें धातुक्षीण होनेही
लगते हैं । इसप्रकार यद्यपि तारुण्यकी मर्यादा कम माननी पड़ती है, उससे
बालत्वकी उपरिनिर्दिष्ट कालमर्यादामें अंतर नहीं हो सकता । आगे शीघ्र जीर्णता
आती है इससे बाल्यभी शीघ्र समाप्त होता है ऐसा न मानना चाहिये ।
सामर्थ्यहीनताके कारण बाल्यमें शरीरकी वृद्धि शीघ्रतासे हो नहीं सकती ।

तस्मिन्निति तरुणशरीरे । देहान्तरोत्पत्तिक्षममिति संतत्युत्पादनक्षमम् । शरीरावयवोत्पादनाय स्वशरीरे अवयवानामुत्पादनाय । नालं भवति । समर्थं न भवति । ततश्च तरुणशरीरे अवयवाभिवृद्धेरभाव इति (९)

विहीयमानसामर्थ्ये शरीरे स्थविरे क्रमात् ।

सुसूक्ष्मावयवोत्पादनाल्पत्वात् व्रजति क्षयम् ॥ १० ॥

विहीयमानसामर्थ्ये इति । क्रमात्क्षीणसामर्थ्ये । स्थविरे जीर्णे शरीरे नवानावयव-
वानां सूक्ष्माणामुत्पादनाल्पत्वात् शरीरं क्षयं व्रजतीति । (१०)

क्षीयमाणः क्रमादेवं स्थविरो याति पंचताम् ।

यदोत्पादनसामर्थ्यहानिर्भवति सर्वथा ॥ ११ ॥

उत्पादनसामर्थ्यस्य सर्वथा हानिर्भवेत्तदा पंचतां याति । (११)

मूर्ताश्चावयवाः सर्वेऽमूर्तरूपेण धातुना ।

रसनाम्नाऽवलित्ताः स्युस्तद्भेदाश्च रसासृजी ॥ १२ ॥

मेदो मज्जा तथा शुक्रं भिन्नसंज्ञा भवन्ति हि ।

मूर्ता इति प्रव्यक्ताकारा घनस्वरूपाः । अमूर्तरूपेण द्रवरूपेण । रसनाम्ना
रसनात् विलयनात् रसाभिधानेन । अवलिताः आप्लुताः प्रपूरिता इति यावत् । तद्भेदाः रसभेदाः ।
रसासृग्भेदो मज्जशुक्राणि इति भिन्नसंज्ञा भिन्नाभिधानाः । (१२)

शतवर्षके बाद देह पंचत्वको प्राप्त करता है । ऊपर बतलायाही गया है कि,
१०० वर्षका आयुर्मान यह सामान्य मर्यादा हुई । किंतु काल प्रभावके कारण
उसमें न्यूनधिक्य हो सकता है । चरकने भी कहा है “ १०० वर्षसे कम या
अधिक काल तक जीवित रहनेवाले मनुष्यभी मिलते हैं । ” पंचत्वका अर्थ
अचेतनत्व है । अचेतनत्वही मृत्यु है । कारण चेतनासहित पंचभूतविकारोंके
समुदायको जीवित्व कहा है । चेतना निकल जानेसे अवशिष्ट पंचभूत जीवशून्य
होते हैं । इसलिये निर्जीवत्वकोही पंचत्व यह पर्यायशब्द है । ३ ॥

बालत्व, तरुणत्व व स्थविरत्व की जो आयुर्मर्यादा बतलायी है वह सामान्य
रीतीसे समझनी चाहिये, न कि यही मर्यादा नित्य व सब लोगोंकी निश्चित होगी ।
कालखभावानुसार आयुर्मानके इन भिन्न २ अवस्थाओंकी मर्यादा कमी अधिक हो
सकती है । चरकने कहा है “ प्रत्येक युगमें एकेक धर्मपाद क्षीण होता है ।
तथा गुणपादभी । इसप्रकार क्रमसे सृष्टिका प्रलय होता है । सौ संवत्सर
आयुर्मानमेंसे संवत्सरकाभी क्षय होने लगता है । और मनुष्यके आयुष्यकाभी

तस्योत्पत्तिर्भवेन्मूर्तावयवोत्पादनेऽनिशम् ॥ १३ ॥

यावदुत्पद्यते रक्तं तावन्मांसं प्रजायते ।

मांसानुसारेणोत्पत्तिर्मेदसः संप्रजायते ॥ १४ ॥

मेदसोऽस्थीनि जायन्ते तत्प्रमाणानुरोधतः ।

अस्थानां प्रमाणानुरोधान्मज्जा धातुः प्रजायते ॥ १५ ॥

शुक्रमेवं हि धातूनामुत्पादनपरंपरा ।

पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धःक्षीणश्च तद्विधम् ॥ १६ ॥

तस्येति धातूत्पादकस्य । मूर्तावयवोत्पादने अवयवोत्पादनकर्मणि । अनिशं नित्यं । यावदिति यावत्प्रमाणम् । तावत् तावत्प्रमाणम् । उत्पादनपरंपरा उत्पादनक्रमः । पूर्वो धातुः पोषकः । परं पोष्यधातुम् । (१३-१६)

पूर्वं परेषामाहाराःस्युरेवं धातवोऽखिलाः ।

अमूर्ता मूर्तरूपाणां पूर्वरूपं यथोत्तरम् ॥ १७ ॥

एवमुक्तप्रकारेण पूर्वं धातवः परेषामाहाराः । चरकसंहितायामुक्तं—‘ धातवो हि धात्वाहारा’ इति । अमूर्ताः स्वरूपाः । मूर्तरूपाणां घनस्वरूपाणाम् । पूर्वरूपं अनभिव्यक्ता प्रथमावस्था । इति । (१७)

प्रमाण कम होता है । “ अर्थात् जितने कालतक शरीर जीवित रहता है उतने-हीको उसकी आयु समझनी चाहिये । जीवनकालमर्यादाही आयुःशब्दवाच्य है । ४ ॥ ५ ॥

बाल देहमें उत्पत्ति करनेका सामर्थ्य विपुल रहता है कारण उसका ज्हास बहुतही कम हुआ करता है । इसलिये बालदेहमें उत्पत्ति (इतर अवस्थाओंकी अपेक्षा) अधिक हुआ करती है । तरुणकालमें स्थूलताका विस्तार अधिक हुआ करता है । किंतु उत्पादनसामर्थ्यकी इतिकर्तव्यता हो जाती है । कारण शरीरावयवोंकी उत्पत्ति व विकासही सामर्थ्य है । ३ ॥ ७ ॥ ८ ॥

तरुण शरीरमें अन्यदेहात्पादनके योग्य बीज रहता है । किंतु वह स्वशरीरमेंही अवयवोत्पादनका सामर्थ्य नहीं रखता । ९ ॥

वृद्ध शरीरका सामर्थ्य क्रमसे क्षीण होते रहता है । नवीन अवयवोंके उत्पत्तिके अभावसे शरीरका ज्हास होने लगता है । १० ॥

इसप्रकार क्रमसे ज्हास होकर शरीर पंचत्वको प्राप्त होता है । जब उत्पादन-

शुद्धत्वाच्च घनत्वाच्च धातवश्चोत्तरोत्तरम् ।

रसादयः स्युः शुक्रान्ता निर्मलाश्चिरजीविनः ॥ १८ ॥

शुद्धत्वादिति निर्मलत्वात् । घनत्वात् मूर्तत्वात् । रसादयः शुक्रान्ता इति रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणीति क्रमात् रसात् शुक्रं यावत् । चिरजीविनः अधिककाल-जीविनः । शुद्धत्वं घनत्वं चेत्युभयं न हेतुः सर्वेषां चिरजीवित्वे । केषांचित् शुद्धत्वं घनत्वं च केषांचिदिति । मांसास्थिनी घनत्वादितरे च शुद्धत्वाच्चिरजीविन इति योज्यम् । (१८)

तथोत्पादनसामर्थ्यमधिकं भवति क्रमात् ।

रुधिरान्मृदुसंघातं मांसमस्थिततो दृढम् ॥ १९ ॥

शुक्रं देहान्तरोत्पत्तिक्षमं तस्मात्प्रजायते ।

रसोऽवरः स्याद्धातूनां सर्वेषां शुक्रमुत्तमम् ॥ २० ॥

तथेति । उत्पादनसामर्थ्यं संघातस्वरूपेणोत्पादनस्य सामर्थ्यम् । अधिकमिति श्रेष्ठत्वापेक्षया न मानापेक्षया । रुधिरात् रक्तात् । मृदुसंघातं अस्थ्यपेक्षया शिथिल-संघातम् । ततो मांसात् । दृढं कठिनं अस्थि । तस्मात् अस्थिधातोः । देहान्तरोत्पत्ति-क्षमं शुक्रमिति उत्पादनसामर्थ्यस्य श्रेष्ठत्वात् । रसो, रक्तं, मेदो, मज्जा, शुक्रमिति रसस्वरूपाः पञ्च धातवः । किन्तु रसस्यैव विशुद्धरूपं रक्तं, मज्जः शुद्धतरं स्वरूपं शुक्रमिति घनावयवोत्पादका-

सामर्थ्यकी हानि पूर्ण रूपसे होती है उसीसमय शरीर पंचत्वको प्राप्त करता है । ११ ॥

सभी मूर्त याने साकार व घनस्वरूप अवयव अमूर्तरूपके रसनामके धातुसे अवलिप्त याने प्रपूरित रहते हैं । इस रसकेही भेद रस, रक्त, मेद, मज्जा व शुक्र है । इस मूर्त अवयवोंके उत्पादक रसकी उत्पत्ति नित्य होती रहती है । जितने प्रमाणमें रक्त उत्पन्न होता है उतनेही प्रमाणमें मांसकीभी उत्पत्ति होती है । और मांसके अनुसार मेद उत्पन्न होता है । मेदके प्रमाणमें अस्थि, अस्थिओंके प्रमाणमें मज्जा व मज्जाके प्रमाणमें शुक्र उत्पन्न होता है । इसप्रकार धातुओंकी परंपरा चलती है । पहिले धातुके उत्पादनसे दूसरे धातुका उत्पादन होता है । इसलिये पहिला पुष्ट रहा तो दूसराभी पुष्ट रहता है । और पहिलेके क्षीण होनेसे दूसराभी क्षीण हो जाता है । इसप्रकार पूर्व-अपर धातुओंमें पोषक-पोष्य संबंध रहता है । (१२-१६)

उपर्युक्त प्रकारसे पूर्वधातु उत्तर धातुका और अमूर्त [द्रवरूप] धातु मूर्त [घनस्वरूप] धातुका आहार बनता है । चरकने कहा है—“ धातुही धातु-

अथो धातवः रक्तं मेदः शुक्रमिति । धातूनां मध्ये रसः सर्वेषामवरः शुक्रं चोत्तमं नैर्मल्यादिति ।
(१९+२०)

मानं च द्रवधातूनामूनं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

शुद्धाः सामर्थ्यवन्तश्चाधिकं यस्माद्भवन्ति ते ॥ २१ ॥

द्रवधातूनामुत्तरोत्तरं मानं प्रमाणभूतं अल्पं । यतस्ते शुद्धाः सामर्थ्यवन्तश्चोत्तरोत्तरम् ।
धातूनां प्रमाणमुपदिष्टं चरकसंहितायां यथा—“ नवांजलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः यं रस इत्या-
चक्षते । अष्टौ शोणितस्य, द्वौ मेदसः, एको मज्जः मस्तिष्कस्यार्धाजलिः शुक्रस्य तावदेव
(अर्धाजलिः) प्रमाणमिति । (२१)

शरीरे सर्वधातूनामुत्पत्तिः संप्रजायते ।

परिपाट्याऽनया तावज्जीवनं परिकीर्त्यते ॥ २२ ॥

शरीरं इत्यादि । परिपाट्या अनुक्रमेण । धातूनामुत्पत्तिः प्रजायते तावज्जीवनं
परिकीर्त्यते । (२२)

मूर्तामूर्तस्वरूपाणां धातूनां जायते क्रमात् ।

स्थित्यन्तरं हि संयोगवियोगाख्येन कर्मणा ॥ २३ ॥

मूर्तामूर्तानां धातूनां स्थित्यन्तरं संयोगवियोगाभ्यां जायत इत्यभिप्रायः । (२३)

ओंके आहार हैं । ” १७ ॥

रसादि शुक्रांत धातु उत्तरोत्तर शुद्ध याने निर्मल व घन याने पूर्व रसमय
धातुकी अपेक्षा अधिक स्थूल रहते हैं । उत्तरोत्तर कुछ निर्मलताके कारण तो
कुछ घनताके कारण वे चिरजीवी बनते हैं । जैसे मांस व अस्थि घनताके कारण
चिरजीवी बनते हैं तो मज्जा—शुक्र निर्मलताके कारण । १८ ॥

धातुओंमें पूर्वोत्तरक्रमसे संघातरूपका उत्पादनसामर्थ्य अधिक श्रेष्ठ प्रका-
रका रहता है । रुधिर (द्रवरूप) से मांस अधिक संघातमय होता है यद्यपि
उसका संघात अस्थिकी अपेक्षा मृदु रहता है । अस्थि सबसे कठिन याने दृढ-
संघातका होता है । अस्थि धातुसे जो [मज्जा व] शुक्र उत्पन्न होता है वह
अन्यदेहोत्पत्तिक्षम होनेके कारण उसका सामर्थ्य सब धातुओंसे श्रेष्ठ समझना
चाहिये । रस, रक्त, मेद, मज्जा व शुक्र ये पांच धातु रसस्वरूप हैं । रसकाही
विशुद्धरूप रक्त और मज्जाकाही विशुद्धरूप शुक्र है । रक्त, मेद व शुक्र इन तीनों
रसस्वरूप धातुओंमें घन अवयव उत्पन्न करनेका सामर्थ्य रहता है । सब धातु-

संयोगश्च वियोगश्च चलनाख्यस्य कर्मणः ।

प्रकारौ द्वौ पदार्थानां मूर्तानां सर्जने मतौ ॥ २४ ॥

संयोगवियोगौ चलनाख्यस्य कर्मणः प्रकारौ स्वरूपभेदौ । (२४)

तयोः शीतत्वमुष्णत्वं साधकं स्याद्गुणद्वयम् ।

सृष्टेरनन्तरूपायाः कर्मणः कारणं गुणः ॥ २५ ॥

तयोरिति संयोगवियोगयोः । शीतत्वमुष्णत्वं चेति गुणद्वयं साधकं कारणम् । अनंतरूपायाः सृष्टेः सृष्टवस्तुजातस्य । कर्मणः कार्यरूपस्य । कारणं गुण इति गुणगणदेव कार्यरूपा सृष्टिर्जायते । निश्चेष्टः कारणं गुण इति चरकसंहितायाम् । (२५)

भिन्नं प्रतिपदार्थं स्यात्कर्मरूपं यतो गुणः ।

भिन्नस्वरूपो भवति गुणभेदास्ततो मताः ॥ २६ ॥

भिन्नमिति विविधम् । प्रतिपदार्थं प्रत्येकशः पदार्थस्येति । कर्मरूपं कर्मणः स्वरूपम् । यतो यस्मात् । गुणः भिन्नस्वरूपः । ततः स्वरूपानुसारं गुणभेदा मता आख्याताः । कर्मस्वरूपानुसारं कारणगुणानां स्वरूपभेदोपपत्तेर्गुणानां भेदाः प्रकीर्तिता इति । (२६)

यथा विविधरूपाणि कर्माण्यन्तर्भवन्ति हि ।

संयोगे च वियोगे च गुणभेदास्तथैव च ॥ २७ ॥

.....
ओंमें रसधातु सामर्थ्यहीन व शुक्र धातु नितांत निर्मलताके कारण उत्तम समझना चाहिये । १९ ॥ २० ॥

प्रमाणकी दृष्टिसे द्रवधातुओंमें उत्तरोत्तर प्रमाणकी मात्रा कम रहती है । कारण वे उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध व सामर्थ्यवान् रहते हैं । चरक संहितामें धातुओंका प्रमाण बतलाया गया है “रसधातुका प्रमाण नव अंजली रहता है । रक्तका प्रमाण आठ अंजली, मेदका दो अंजली, मज्जाकी एक अंजली, व शुक्रकी अर्ध अंजलि प्रमाण रहता है । २१ ॥

पूर्वोक्त परीपाटी—अनुक्रमके अनुसार शरीरमें सब धातुओंकी उत्पत्ति होती है । जबतक धातुओंकी उत्पत्ति होती रहती है तबतकही जीवनावस्था समझी जाती है । मूर्तामूर्त धातुओंका क्रमसे संयोग व वियोग नामकी क्रियाओंसे स्थित्यन्तर हुआ करता है । मूर्त पदार्थोंकी उत्पत्तिमें चलनात्मक कर्मकेही संयोग व वियोग ये दो प्रकार माने जाते हैं । उनके याने संयोग व वियोगके शीतत्व व उष्णत्व ये दोन गुण साधक याने कारणरूप होते हैं । अनंतरूपिणी सृष्टिके

साधकाः कर्मजातस्य शीतोष्णाख्ये गुणद्वये ।

यथेति । संयोगे वियोगे च यथा सर्वकर्मणामन्तर्भावस्तथा कर्मजातस्य साधकानां विविधानां गुणानां शीतोष्णाख्ये गुणद्वये अन्तर्भाव इति । (२७॥)

गुणः संयोगकृत् स्यादुष्णस्तु वियोगकृत् ॥ २८ ॥

संयोगकृत् संयोगाख्यस्य कर्मणः कर्ता शीतो गुणस्तथा वियोगकृत् उष्णो गुण-
इति । (२८)

द्रव्यं गुणास्तथा कर्म त्रेधा सृष्टिर्विभज्यते ।

द्रव्यं भवत्यधिष्ठानं कर्म स्याच्चलनात्मकम् ॥ २९ ॥

द्रव्यस्थितं यच्चैतन्यं कर्मकृत्स गुणः स्मृतः ।

द्रव्यमिति पृथिव्यादिरूपम् । गुणाः रसगंधादयः स्निग्धरूक्षाद्याश्च । कर्म आकुं-
चनप्रसरणादिकम् । इति सृष्टिः वस्तुजातम् । त्रिधा विप्रकारा । तत्र द्रव्यं अधिष्ठानं
आश्रयरूपम् । कर्म चलनात्मकम् चलनस्वरूपम् । द्रव्यस्थितं द्रव्याश्रितं यत् कर्मकृत्
चैतन्यं सामर्थ्यं स गुणः । इति शरीरधातूनां सामर्थ्यविशेषदर्शनं नाम सप्तमं दर्शनम् । (२९॥)

कार्यका कारण गुणही कहा गया है । याने गुणसमुदायसेही कार्यरूप सृष्टिका
निर्माण होता है । चरकनेभी कहा है ' निश्चेष्ट गुणही कारण है । २२-२५ ॥

प्रत्येक पदार्थकी क्रियाका रूप भिन्न रहता है । कारणरूप गुणभी भिन्न
स्वरूपके होते हैं । इसलिये कर्म (क्रिया) स्वरूपके अनुसार कारण गुणोंके
भेदभी माने जाते हैं । २६ ॥

संयोगमें जिसप्रकार सभी प्रकारकी क्रियाओं (कर्मों) का अंतर्भाव होता
है, उसीप्रकार प्रत्येक कर्मके साधक सभी गुणोंका शीत व उष्ण इन दो गुणों-
मेंही अंतर्भाव होता है । २७ ॥

शीतगुण संयोगकारी व उष्णगुण वियोगकारी होता है ॥ २८ ॥

पृथिवी, अप्, तेज, वायु इ. द्रव्य, रस, गंध गुण व आकुंचन-प्रसर-
णादि कर्म इन तीनोंमेंही सब सृष्टि विभक्त है । इनमें द्रव्य अधिष्ठान याने आश्र-
यरूप है । कर्म चलन (गति) स्वरूप है । और द्रव्यमें आश्रित चैतन्य जिसमें
कार्यकारी सामर्थ्य होता है उसीको गुण कहा जाता है । २९ ॥

शरीर धातुओंके सामर्थ्यविशेषदर्शन समाप्त ।

अष्टमं दर्शनम् ।

शारीरपदार्थानां गुणविशेषदर्शनम्

पंचभूतात्मकं द्रव्यमात्मनोऽशस्तु चेतना ।

द्रव्यचैतन्यसंयोगात्कर्मजातस्य संभवः ॥ १ ॥

पूर्वदर्शने शरीरक्रियाकारित्वेनोक्तान् गुणभेदान् विशदीकर्तुमुच्यते । पंचभूतात्मक-
मिति पंचभूतरूपम् । द्रव्यचैतन्यसंयोगादिति द्रव्याणां चेतनायाश्च संमुदायात् । यत्
उक्तं चरके—पृथियापस्तेजो वायुराकाशं ब्रम्ह चाव्यक्तमिति षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्द-
लभन्ते । कर्मजातस्येति कार्यरूपवस्तुजातस्य । उक्तं सुश्रुतसंहितायाम्—पंचमहाभूतशरीरिसम-
वायः पुरुषः । स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृत इति । (१)

पंचभूतात्मके द्रव्ये पृथिव्याधाररूपिणी ।

स्याद्वायुः कर्मकर्ता च विशेषाद्गतिमान् यतः ॥ २ ॥

पंचभूतात्मक इति पंचभूतस्वरूपे । पृथिवी आधाररूपिणी । सर्वेषां मूर्तावस्था-
वस्थितानां वस्तुनामाश्रयरूपा । मूर्तत्वं पृथिव्यात्मकमिति । पार्थिवगुणवर्णने चरकेणोक्तं यथा—
पृथिव्यात्मकं गंधो, घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति । कर्मकर्ता इति विविधक्रियाकरः । यथा

अष्टम दर्शन

(शारीर पदार्थोंके गुणविशेषोंका दर्शन)

पूर्व प्रकरणमें बतलाया है कि शारीर क्रियाओंके कर्ता गुणही हैं । उन
गुणोंका अब विशदीकरण करते हैं । द्रव्य पंचभूतात्मक है और चेतना आत्माका
अंश है । द्रव्य व चेतनाके संयोगसेही कर्मजात याने कार्यरूप प्रत्येक वस्तु
अथवा पदार्थकी उत्पत्ति होती है । सुश्रुतने कहा है “ पंचमहाभूत व आत्मा
(चेतना) के समवायको पुरुष कहते हैं । चिकित्सा शास्त्रके अनुसार वही
कर्मपुरुष याने शरीराधिष्ठित (चिकित्सक्रिया करनेयोग्य) समझा जाता है । १ ॥

पंचभूतात्मक द्रव्यमें पृथिवी आधाररूपिणी रहती है याने सभी मूर्त पदा-
र्थोंका (वस्तुओंका) आधार पृथिवी रहती है कारण सब मूर्तत्व पृथिव्यात्मक है ।
पार्थिव गुणवर्णनमें चरकने कहा है “ गंध, (घ्राण), गौरव, स्थैर्य व मूर्ति ये
सब गुण पृथिव्यात्मक हैं । ” विशेषगतिमान् होनेके कारण वायुही कर्मकर्ता होता

वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं, रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यं इति शरीरगतानां वायुवावृणाना-
मुपवर्णने चरकः । (२)

संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते पृथिव्याः परमाणवः ।

संयोगस्य वियोगस्य कर्ता तेषां समीरणः ॥ ३ ॥

संयुज्यन्त इति संयोगं गच्छन्ति । वियुज्यन्ते वियुक्ता भवन्ति । पृथिव्याः
परमाणवः । विशेषेण पृथिव्या इति वाच्यम् । सर्वेषां सर्वभूतोत्पन्नत्वात् । संयोगस्य वियोगस्य कर्ता
समीरणो वायुरिति । (३)

पृथ्वी गंधवती वायुर्गंधवाह इतीरितम् ।

आख्यापयति संयोगवियोगौ पार्थिवाविति ॥ ४ ॥

पृथ्वीत्यादि । गंधवतीति गंधगुणा । गंधवाहः पृथिव्या गुणं गंधं वहतीत्येवंविधः ।
ईरितं आख्यातं द्रव्यज्ञैरिति । आख्यापयति संयोगवियोगौ पार्थिवौ पार्थिवाणुसंबन्धाविति
सूचयति । पृथिव्या गुणं गंधाख्यं वायुरभिवहतीति पार्थिवाणूनामेव संयोगवियोगावित्युपपद्यत इति
भावः । (४)

गतेराकर्षरूपायाः संयोगः संप्रजायते ।

अपकर्षस्वरूपायास्तस्या एव वियोजनम् ॥ ५ ॥

है । याने वायुही विविध क्रियाओंको कर्ता है । शरीरगत वायवीय गुणोंका वर्णन
करतेसमय चरकने कहा है “ स्पर्श, रौक्ष्य, प्रेरण, धातुव्यूहन, एवं शारीरिक चेष्टा
ये सर्व वाय्वात्मक है । ” २ ॥

पृथिवीके परमाणु संयुक्त व वियुक्त होते रहते हैं । उनके संयोग व वियो-
गका कर्ता वायु है । (यहां ‘ पृथिवीके परमाणु ’ से केवल पृथिवीके परमाणुही
न लेना चाहिये । कारण प्रत्येक पदार्थ सर्वभूतोत्पन्न रहता है । अर्थात् सभीका
संयोग वियोग होता है । किंतु पार्थिव परमाणुओंका अधिक होनेके कारण उनका
यहांपर निर्देश किया गया है ।) ३ ॥

पृथ्वी गंधवती है और वायु गंधवाह है । याने पृथिवीके गुणका-गंधका
वहन वायुद्वारा होता है । द्रव्यज्ञ याने पदार्थवेत्ताओंका और यहभी प्रतिपा-
दन है कि, संयोगवियोग पार्थिव अणुओंके संबंधमेंही विशेष होते हैं । कारण वायु
गंधवाह होनेके कारण गंधगुणके पृथिवीसे उसका विशेष संबंध आता है । ४ ॥

आकर्षणरूप गतिसे संयोग और अपकर्षणरूप गतिसे वियोग होता

आकर्षणरूपाया गतिश्चलनात् संयोगः अपकर्षस्वरूपायाश्च वियोग इति संयोगवियोग-
योगतिरेव सामान्यं कारणम् । (५)

गतेराकर्षकत्वं चाप्संयोगात्संप्रजायते ।

अपकर्षस्वरूपं च तेजोयोगाद्गतेर्भवेत् ॥ ६ ॥

गतेरिति चलनस्य वायवीयगुणस्य । अप्संयोगात् अप्साहचर्यात् । आकर्षकं
सामीप्यानयनम् । अपकर्षस्वरूपं दूरोत्सारणस्वरूपम् । तेजोयोगात् तेजःसंयोगात् ।
भवेत् । (६)

स्पर्शो गुणः समीरस्य गतिर्वा चलनं हि तत् ।

शीतोष्णत्वे द्वौ विशेषौ स्पर्शस्य चलनस्य वा ॥ ७ ॥

स्पर्श इति चलनकरणः । समीरस्य वायोर्युगः । सैव गतिः । तदेव चलनमिति
पर्यायरूपौ शब्दौ । शीतोष्णत्वे शीतत्वमुष्णत्वं चेति विशेषौ पृथग्भावरूपौ । स्पर्शस्य
शीतस्पर्शवत्त्वमपामुष्णस्पर्शवत्त्वं च तेजस इति शीतोष्णरूपयोर्विशेषयोः स्पर्शसामान्यमभिहितम् ।
स्पर्शश्च वायोरित्यपां तेजसश्च गुणो नाम स्पर्शविशेषत्वमित्यधिगम्यत इति । (७)

आकर्षकत्वं स्यात् शीतस्पर्शवत्त्वमपां गुणः ।

उष्णस्पर्शवदाख्यातं तेजस्तदपकर्षकम् ॥ ८ ॥

हे । अर्थात् संयोग व वियोग इन दोनोंका सामान्य कारण गतिही है । ५ ॥

गतिका आकर्षणरूप (समीप ले आनेका) स्वरूप अप्के संयोगके कारण
और अपकर्षरूप (दूर अपसरण) तेजके संयोगके कारण होता है । याने
वायुही अप्संयुक्त होकर आकर्षण व तेजोयुक्त होकर अपकर्षणकी क्रिया करता
है । ६ ॥

स्पर्श (चलनकारण) गुण वायुका है । गति अथवा चलन स्पर्शके पर्याय
शब्द है । शीतत्व तथा उष्णत्व, चलन अथवा स्पर्शके विशेष है । याने उनके
कारण स्पर्शका स्वरूप भिन्न प्रतीत होता है । अप्संयोगसे वायुका स्पर्श शीत
व तेजके संयोगके कारण स्पर्शमें उष्णत्व होता है । किन्तु शीतस्पर्श तथा उष्ण-
स्पर्श दोनोंमें स्पर्शका सामान्यही रहता है । स्पर्श-गुण वायुका होनेके कारण
अप् व तेजके अनुक्रमसे शीतस्पर्शवत्त्व व उष्णस्पर्शवत्त्व स्पर्शगुणसे अतिरिक्त
नहीं है । ७ ॥

शास्त्रमें अपूतत्वका बतलाया हुआ “ शीतस्पर्शवत्त्व ” ही आकर्षकत्व-

उक्तार्थं स्फुटीकर्तुमुच्यते । आकर्षकत्वं नाम अपां शीतस्पर्शवत्त्वम् । उष्णस्प-
शवत्तेज इति अपकर्षकं द्रव्यमिति (८)

भूम्यादिपंचभूतानामवकाशो नभः स्मृतम् ।

पृथिव्याधाररूपा स्याच्चलनात्मा समीरणः ॥ ९ ॥

आपस्तेजश्च चलनविशेषोत्पादकं भवेत् ।

सृष्टपदार्थेषु पंचभूतसंबन्धं निदर्शयन्नाह । अवकाशः स्थूलसूक्ष्मद्रव्यांशविवर्जितः
प्रदेशः । आधाररूपा इति मूर्तत्वस्याश्रयरूपा । चलनात्मा कर्मस्वरूपः । ‘ चलनात्मकं
कर्म, इत्युपवर्णनात् । चलनविशेषोत्पादकमिति आकुंचनप्रसरणादिभेदोत्पादकम् । (९ ॥)

आकर्षणं स्यादाल्हादादुद्देगाच्चापकर्षणम् ॥ १० ॥

आल्हादश्च तथोद्देगः शीतमुष्णं गुणद्वयम् ।

संयोगश्च वियोगश्च शीतोष्णाख्यात् गुणद्वयात् ॥ ११ ॥

आकर्षणमिति स्वसन्निधावानयनम् । आल्हादादनुरागात् । आत्मीयभावाभिव्यं-
जकश्चेष्टाविशेष आल्हाद इति । उद्देगात् तिरस्कारात् विरोधभावाभिव्यंजकश्चेष्टाविशेष उद्देग
इति । शीतमुष्णं चेति गुणद्वयम् नाम द्रव्यान्तर्गतं क्रमेण आल्हाद उद्देगश्चेति । शीतोष्णाख्यं गुण-
द्वयमाल्हादोद्देगस्वरूपस्य कार्यस्य कारणत्वेनोपदिष्टमपि कार्यकारणयोर्भेदोपदेशात्पर्यायशब्दत्वेना-

संयोजकत्व गुण है । और तेजका “ उष्णस्पर्शवत्त्व ” बतलाया है उसका अभि-
प्राय है अपकर्षकत्व याने विभाजकत्व । ८ ॥

पृथिव्यादि पंचभूतोंमें आकाश, अवकाशरूप है । पृथ्वी आधाररूपिणी है ।
कारण मूर्त वस्तुओंका वही अधिष्ठान है । वायु चलनात्मक है । कर्मका लक्षण
चलनात्मकत्व बतलाया गया है । अर्थात् वायुही कर्मस्वरूप अथवा कर्मकर्ता है ।
अपू व तेज स्पर्शमें याने चलनमें शीतत्व याने आकुंचकत्व और उष्णत्व याने
प्रसारकत्व इनके उत्पादक हैं । ९-१० ॥

आल्हाद याने अनुरागके कारण आकर्षण (समीप लाना) होता है ।
आल्हादका लक्षण है आत्मीयभावसूचक क्रियाविशेष । एवं उद्देगके कारण अपक-
र्षण—दूरीकरण है । उद्देगका लक्षण है विरोधभावसूचक क्रियाविशेष—तिरस्कार ।
इससे स्पष्ट है कि द्रव्यान्तरगत शीतगुण आल्हादक और उष्णगुण उद्देजक—
तिरस्कारकारण होता है । यहांपर कार्यकारणके अभेद रूपसे शीत व उष्ण गुण
अनुक्रमसे आल्हाद व उद्देगरूप कार्यके कारण होते हुएभी परस्पर पर्यायवाचक

भिधेयमिति । संयोगो वियोगश्च परमाणूनां शीतोष्णाख्यात् गुणद्वयात् द्रव्याश्रितात् भवति । (११)

आयुर्वेदे शीतमुष्णं वीर्यनाम्नाऽभिभाषितम् ।

गुणद्वयं पदार्थानां प्रधानं कर्मकारणम् ॥ १२ ॥

आयुर्वेद इत्यादि । वीर्यनाम्ना वीर्यसंज्ञया । आख्यातं शीतमुष्णं चेति गुणद्वयम् । पदार्थानामिति शारीराणामाहार्यादीनां च द्रव्याणाम् । प्रधानं कर्मकारणमिति संयोग-वियोगाख्यस्य सर्वकर्मभेदानां मूलभूतस्य कर्मणः कर्तृत्वात् । यथोक्तं वाग्भटेन—“ उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च । नानात्मकमपि द्रव्यमग्निषोमौ महाबलौ । व्यक्ताव्यक्तं जगदिष नातिक्रामति जातुचित् इति । (१२)

शीतोष्णयोः क्रमाद्भेदाः प्रत्येकं कथितास्त्रयः ।

शीतस्य भेदाः स्निग्धत्वं गुरुत्वं मृदुता तथा ॥ १३ ॥

रौक्ष्यं तैक्ष्ण्यं लघुत्वं च भेदाश्चोष्णस्य कीर्तिताः ।

भेदैरेभिः समायुक्तं शीतोष्णं वीर्यमष्टधा ॥ १४ ॥

भेदः कार्यानुमेयानां गुणानां वीर्यसंज्ञकः .

शीतोष्णयोरिति शीतोष्णयोर्वीर्यसंज्ञयोर्युगयोः । प्रत्येकं त्रयो भेदाः । स्निग्धत्वं,

शब्द समझना चाहिये । शीत व उष्ण इन दो गुणोंके कारणही अनुक्रमसे परमाणु-ओंका संयोग व वियोग होता है । ११ ॥

आयुर्वेदशास्त्रमें शीत व उष्ण इन गुणोंका निर्देश वीर्यसंज्ञासे किया गया है । शरीरपदार्थ तथा आहारादि द्रव्योंके ये दो गुणही मुख्य हैं । और इन्हींके कारण सर्व कर्म होते हैं । विविध कर्मभेदोंके मूलभूत संयोगवियोग नामके कर्म है । और उनके कर्ता हैं अनुक्रमसे शीत व उष्ण गुण । वाग्भटेने अष्टांगहृदयमें कहा है —“ अखिल जगतके व्यक्त व अव्यक्त दोही प्रमुख भेद होते हैं । इसीप्रकार शीत व उष्ण दो प्रकारकाही वीर्य याने गुण प्रधान होते हैं । कारण द्रव्य असं-ख्येय होता हुआभी अग्नि (तेज) व सोम (अप्) इन दो तत्त्वोंका अतिक्रमण कर द्रव्य रह नहीं सकता । १२ ॥

शीत व उष्ण प्रत्येक वीर्यके तीन २ भेद शास्त्रमें बतलाये हैं । गुरुत्व व मृदुता ये तीन शीतके और रौक्ष्य, तैक्ष्ण्य व लघुत्व ये तीन उष्णके भेद बतलाये हैं । इन छ भेदोंके साथ शीत व उष्ण, एवं वीर्य आठ प्रकारका होता है । कार्या-

गुणत्वं मृदुता इति शीतस्य । रौक्ष्यं, तैक्ष्ण्यं लघुत्वं चेति त्रयमुष्णवीर्यस्य भेदाः । एभिर्विभिन्नभि-
भेदैः समायुक्तं शीतमुष्णमेवं वीर्यमष्टधा भवति । कार्यानुमेयानां कार्यरूपेणानुमेयानां गुणानां
भेदो वीर्यसंज्ञकः । विशिष्टकार्येणानुमेयो गुणो वीर्यान्तरमिति । (१३+१४)

शीतत्वेन समाकृष्टा विलीयन्ते परस्परम् ॥ १५ ॥

मूर्तत्वमुपगच्छन्ति येन स्निग्धो गुणः स्मृतः ।

गुणः पिंडीभावहेतुः स्निग्धस्तच्चैरुदाहृतः ॥ १६ ॥

शीतोष्णगुणभेदानां वीर्याणां स्वरूपं विशदीक्रियते । शीतत्वेनेति शीतगुणेन ।
समाकृष्टाः समीपमानीताः । परमाणव इति शेषः । परस्परमन्योन्यम् । विलीयन्ते स्वभा-
वत्यागादेकत्वमुपयान्ति । मूर्तत्वं घनत्वं साकारत्वम् । उपगच्छन्ति येन गुणेन सः स्निग्धो गुणः
स्मृतः । पिंडीभावहेतुः पिंडीभावोत्पादकः । तच्चैरिति गुणज्ञैः । 'चूर्णादिपिंडीभावहेतुर्गुणः
स्नेहः इति न्यायदर्शने । स्नेहान्वितः स्निग्ध इति । (१५-१६)

पिंडीभावादगुरुत्वं च मूर्तरूपेऽभिजायते ।

स्पर्शानुमेयं लीनत्वान्मृदुत्वमपि जायते ॥ १७ ॥

पिंडीभावादिति संघातत्वात् । गुरुत्वं जडत्वम् । मूर्तरूपे घनस्वरूपे वस्तुनि ।
स्पर्शानुमेयमिति स्पर्शादुपलक्ष्यम् । लीनत्वादिति परमाणूनाम् । मृदुत्वं जायते उत्पद्यते ।

नुमेय गुणोंका भेद वीर्य है याने विशिष्ट कार्यपरसे भिन्न २ वीर्यका अनुमान हो
सकता है । १३-१४

शीतगुणके कारण समाकृष्ट याने समीप लाये हुए परमाणु परस्परमें अपना
मूलरूप त्याग कर विलीन होकर एकत्वको प्राप्त करते हैं । और पश्चात् जिस
गुणके कारण वे मूर्तत्वको (घनीभावको) प्राप्त करते हैं उसका नाम है स्निग्धत्व ।
पदार्थवेत्ताओंने कहा है कि, स्निग्धगुण पिंडीभावका कारण होता है । न्याय-
शास्त्रमें कहा है कि " जिस कारण चूर्णादिका पिंड बनता है वह स्निग्ध गुण
है । १५ ॥ १६ ॥

मूर्तरूपमें याने घनस्वरूप वस्तुमें पिंडीभावके याने संघातके कारण
गुरुत्व (जडत्व) उत्पन्न होता है । परमाणुओंके लीनत्वके कारण मृदुत्वकी उत्पत्ति
होती है । समदेशवर्ती (एकस्थानमें निवसित) परमाणु विशेष लीन होते हैं तब
उनका स्पर्श मृदु होता है यह अनुभव हो सकता है । असमदेशवर्ती याने नीचे
ऊपर आदि विषम प्रकारसे स्थित परमाणुओंका स्पर्श खर होता है कारण उसका

विशेषेण त्रिलीनत्वमागतानां समदेशवर्तिनां परमाणूनां स्पर्शो मृदुः । निम्नोन्नतमवस्थितानां पृथक् स्पर्शान् खरत्वम् । इति शीतभेदाः स्निग्धगुरुमृदुरूपाश्चयः । (१७)

वियोजनाकांक्षिणश्चासहमानाः परस्परम् ।

भवन्ति येन नाम्नाऽसौ गुणस्तीक्ष्ण इति स्मृतः ॥ १८ ॥

वियोग भावाल्लघुता रौक्ष्यं चापि प्रजायते ।

उष्णगुणभेदा निरूप्यन्ते । वियोजनाकांक्षिणः पृथग्भावाकांक्षिणः । असहमानाः सहवासमसहन्तः । येन भवन्ति असौ तीक्ष्णो गुणः । असहत्वाभिच्यञ्जको भावविशेषस्तीक्ष्णत्वमिति । वियोगभावादिति विश्लेषणावस्थितत्वात् । लघुता लाघवं । रौक्ष्यं विरलत्वम् । प्रजायते । तीक्ष्ण्यात् दूरीभावमापन्नानामणूनां मूर्तिं संख्याल्पत्वाद्विरलत्वं मूर्तस्य लघुत्वं च प्रतिपद्यते । (१८ ॥)

संयुक्तभावमापन्ने स्निग्धत्वमुपजायते ॥ १९ ॥

तद्गुरुत्वान्मृदुत्वाच्च स्निग्धत्वमुपलक्ष्यते ।

वियुक्तभावमापन्ने रूक्षत्वमुपजायते ॥ २० ॥

तत्तीक्ष्णत्वाल्लघुत्वाच्च रूक्षत्वमुपलक्ष्यते ।

संयुक्तभावमापन्न इति परमाणूनां संनिकर्षे सति । स्निग्धत्वं पिंडीभावेनावस्थानम् । संघत्वेनावस्थानं यावत् । स्निग्धत्वं गुरुत्वात् मृदुत्वाच्चोपलक्ष्यते । वियुक्त-

पृथक् अनुभव होता है । इसप्रकार स्निग्ध, गुरु, व मृदु ये शीतकेही तीन भेद हैं । १७॥ १८॥

जिस गुणके कारण पृथक् होनेकी आकांक्षा रखनेवाले परमाणुओंका परस्परका सहवास असह्य हो जाता है उसका नाम है तीक्ष्ण । अर्थात् असह्यत्वको प्रकट करनेवाला भावविशेषही तीक्ष्णत्व है । वियोगभावके कारण लाघव व रूक्षता (विरलत्व) उत्पन्न होती है । तीक्ष्णगुणके कारण दूरीभावको प्राप्त परमाणुओंकी मूर्तिमें याने साकारवस्तुमें विरलत्व व लघुत्व उत्पन्न होता है ॥ १९॥ २०॥

पूर्वोक्त विवरणसे पता चलता है कि वीर्यका अष्टविधत्व आयुर्वेदमें क्यों बतलाया है, यद्यपि वास्तवमें वीर्यके शीत व उष्ण ये दोही मुख्य प्रकार हैं । शीतत्व व उष्णत्व ये दो (वीर्य) सबसे अधिक साधकतम गुण हैं । (साधकतम = प्रधानकारणरूप) कार्यस्वरूप द्रव्यमें याने संश्लेष या विश्लेष भावको प्राप्त द्रव्यमें उस कार्यके लक्षणरूप स्निग्धत्व व रूक्षत्व अनुक्रमसे उत्पन्न होता है ।

भावावस्थायां परमाणूनां विश्लेषोन्मुखत्वे रूक्षत्वम् । विरलत्वम् । तीक्ष्णत्वात् लघुत्वाच्च रूक्षत्वमुपलक्ष्यत इति । (१८॥-२०॥)

शीतत्वमुष्णत्वमिति द्वौ साधकतमौ गुणौ ॥ २१ ॥

कार्यस्वरूपे स्निग्धत्वं रूक्षत्वं चोपपद्यते ।

गुरुत्वं च मृदुत्वं च द्वौ स्निग्धत्वस्य सूचकौ ॥ २२ ॥

तीक्ष्णत्वं च लघुत्वं च गुणौ रूक्षत्वसूचकौ ।

कार्यलक्षणरूपाश्च चत्वारः स्युरिमे गुणाः ॥ २३ ॥

शीतोष्णादीनां वीर्यसंज्ञयाऽख्यातानामष्टगुणानां विशेषं विवृणोति । साधकतमा-
विति प्रधानकारणरूपौ । कार्यस्वरूपे संश्लेषविश्लेषभावमापन्ने द्रव्ये । कार्यलक्षणरूपा
इति शीतोष्णाभ्यां संपादितस्य स्निग्धत्वरूक्षत्वस्वरूपस्य कार्यस्य लक्षणानीति । शीतोष्णाघट-
संख्येष्टु गुणेषु शीतोष्णाख्यं द्वयं प्रधानकारणम् । स्निग्धत्वं रूक्षत्वं कार्यदर्शकम् । चत्वारश्चे-
तरे गुणाः कार्यस्वरूपदर्शका इति । शीतत्वात्समाकृष्टानां परमाणूनां सूक्ष्मद्रव्यांशानां संश्लेषणे
संघातरूपे स्निग्धत्वम् । स्निग्धत्वानुमानसाधकौ गुणौ गुरुत्वं मृदुत्वमिति । उष्णत्वात्सहवासमस-
हन्तः परमाणवो विश्लेषणं वियोगाख्यमनुभवन्ति तदा विरलत्वे सूक्ष्मत्वमसंघातरूपम् । तस्य च
तीक्ष्णत्वं लघुत्वं चेति गुणद्वयं लक्षणस्वरूपमिति । (२१-२३)

शीतकार्यरूप द्रव्यका लक्षण स्निग्धत्व व उष्ण कार्यरूप द्रव्यका लक्षण रूक्षत्व
होता है यह स्पष्ट है । अर्थात् शीतोष्णादि आठ गुणोंमें शीत व उष्ण ये दो
प्रधान गुण हैं । स्निग्धत्व व रूक्षत्व ये गुण कार्यस्वरूपदर्शक हैं । इतर चार
गुणभी कार्यस्वरूपकेही भेददर्शक हैं । शीतगुणके कारण समाकृष्ट परमाणुओंके
संघातरूपमें स्निग्धत्व उत्पन्न होता है । स्निग्धत्वके अनुमानसाधन गुण गुरुत्व
व मृदुत्व ये दो हैं । उष्णगुणके कारण परस्परका सहवास जिनको असह्य
हो जाता है ऐसे परमाणु विश्लेषण याने वियोगका अनुभव करते हैं उससमय जो
विरलत्व उत्पन्न होता है उसमें सूक्ष्मत्व-असंघातरूपका निर्माण होता है ।
तीक्ष्णत्व व लघुत्व ये गुण रूक्षत्वसूचक हैं । अर्थात् शीत व उष्ण ये दो मुख्य
गुण । उनके कारण कार्यस्वरूपमें स्निग्धत्व रूक्षत्व ये दो गुण उत्पन्न होते हैं ।
और उस कार्यके सूचक गुरुत्व व मृदुत्व तथा तीक्ष्णत्व व लघुत्व ये चार गुण
लक्षणरूप हैं । मुख्यगुण शीत, कार्यरूप स्निग्ध, कार्यलक्षणरूप गुरु, व मृदु ।
मुख्य गुण उष्ण, कार्यरूप रूक्ष, कार्यलक्षणरूप तीक्ष्ण व लघु । वीर्यके अष्टविध-

मंदः श्लक्ष्णस्तथा सांद्रः स्थिरः स्थूलस्तथाऽविलः ।

स्निग्धत्वलक्षणाश्चैते तारतम्योद्भवा गुणाः ॥२४॥

खरत्वमाशुकारित्वं द्रवत्वं चलता तथा ।

वैशद्यं सूक्ष्मता रौक्ष्यं तारतम्योद्भवा गुणाः ॥ २५ ॥

कार्यद्रव्योपलक्ष्याश्चैतरे द्वादशसंख्याका गुणा यथा । मन्दादयः षट् स्निग्धत्वस्य तार-
तम्यसूचकाः । रौक्ष्यस्य च खरत्वादयः षट्संख्याः । तत्र मन्द इति मन्दक्रियासूचकः । यत्किञ्चि-
दपि कार्यं सत्वरं न भवतीति । श्लक्ष्ण इति स्पर्शोपलक्ष्यो गुणः । शुष्कत्वेऽपि मृदुस्पर्शत्वं श्लक्ष्णत्वं
नाम । सान्द्र इति द्रवत्वापेक्षया घनत्वम् । न संघातरूपं न च वा द्रवत्वमित्युभयावस्थामध्येऽव-
स्थितत्वं सांद्रत्वम् । स्थिर इति चलनाभावसूचको गुणः । स्थिरत्वमपि सापेक्षम् । कार्यद्रव्येषु सर्वथा
स्थैर्याभावात् । स्थूल इति समुदायस्वरूपसूचको गुणः सापेक्षः परमाणूनां संघातस्वरूपादुप-
पद्यते । आविल इति सांद्रभेदः । स्वल्पप्रमाणं सांद्रत्वमाविलत्वं नाम । खरत्वं स्पर्शानुमेयम् ।
संघातरूपेऽपि केषांचनासंयुक्तानामणूनां पृथक् स्पर्शोऽसुभगः खरस्पर्श इत्युच्यते । आशुकारित्वं
शीघ्रकारित्वमिति कार्यानुमेयम् । द्रवत्वं सवणात्मकत्वम् । चलता विशेषतश्चलत्वम् । वैशद्य-
मिति विरलत्वावस्थानम् । सूक्ष्मता विरलत्वात् असंहताः परमाणवः पृथक्त्वेन सूक्ष्मा इति ।
(२४-२५)

त्वका स्पष्टीकरण व वर्गीकरण इसप्रकारका है । २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

मंद, श्लक्ष्ण, सांद्र स्थिर, स्थूल व आविल ये स्निग्धत्वके तारतम्यसे
उद्भूत लक्षणस्वरूप गुण हैं । खरत्व, आशुकारित्व, द्रवत्व, चलता, वैशद्य, सूक्ष्मता
ये रूक्षत्वके तारतम्योद्भव (लक्षणरूप) गुण हैं । इसप्रकार कार्यद्रव्यके उपलक्ष-
रूप उक्त बारा गुण सिद्ध होते हैं । अर्थात् मन्दादि छ स्निग्धत्वके तारतम्यसूचक
और खरत्वादि छ रौक्ष्यके तारतम्यसूचक हैं । मंद यह मन्दक्रियासूचक गुण है ।
जिससे कोईभी कार्य शीघ्रतासे नहीं हो सकता । श्लक्ष्ण यह स्पर्शविगम्य गुण
है । शुष्कद्रव्यमेंभी जो मृदुस्पर्श रहता है वह श्लक्ष्णगुणके कारण । सांद्र द्रव-
त्वकी अपेक्षा घनावस्था है । न संघातरूप न द्रवत्व इसप्रकार घनत्व व द्रवत्वकी
मध्यमा अवस्था सांद्रत्व है । स्थिरत्व चलनका अभाव सूचित करता है ।
स्थिरत्वभी सापेक्षही रहता है । कारण कार्यद्रव्य सर्वथा स्थिर कभी नहीं होते ।
स्थूलत्व यह समुदायस्वरूपसूचक गुण है । वहभी सापेक्षतासेही समझना
चाहिये । वह परमाणुओंके संघातरूपके कारण प्रतीत होता है । आविल यह

शीतोष्णजनिते कार्यरूपे स्निग्धत्वरूक्षते ।

तल्लक्षणस्वरूपास्तु गुणाश्चान्ये न कारकाः ॥ २६ ॥

गुणसामान्येऽपि शीतोष्णादीनां विशेषो यथा—शीतोष्णजनिते इति शीतोष्णगुणौ स्निग्धत्वरूक्षत्वयोः करणरूपौ । कार्यरूपौ च स्निग्धत्वं रूक्षत्वं पदार्थानाम् । अन्ये गौरवलाघवादयो गुणा लक्षणस्वरूपाः । न्यायादिशास्त्रोपदिष्टगंधरसादिचतुर्विंशतिसंख्येभ्यो गुणेभ्यश्चायुर्वेदोक्ता विंशतिसंख्यायां गुणा भिन्ना । गुणानां संख्यानाभिधेयभेदादिति । आयुर्वेदोपदिष्टास्तु गुणाः पंचभूतविकारसमुदायात्मके शरीरे समुदायरूपेणावस्थितानां द्रव्याणामिति गुणेषु कारणलक्षण-स्वरूपो विशेषो न विरुद्ध इति । (२६)

संयोगाच्च वियोगाच्च शीतोष्णगुणकर्मणः ।

भिन्नरूपाः प्रजायन्ते येऽवस्थान्तरसूचकाः ॥ २७ ॥

गुणा लक्षणरूप स्ते गुर्वाद्याः षेडश स्मृताः ।

भिन्नांशभूतसंयोगात्सम्भवन्ति गुणास्त्वमे ॥ २८ ॥

अवस्थान्तरसूचका इति संयोगवियोगाख्यस्य कर्मणस्तारतम्यसूचकाः । लक्षण-रूपाः न कारणरूपाः । भिन्नांशभूतसंयोगादिति भिन्नप्रमाणानां भूतविकाराणामंशसंयो-गात् । (२७-२८)

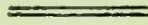
सांद्रकाही एक भेद है । सांद्रत्वके अल्प प्रमाणको आविलत्व कहते हैं । खरत्व गुण स्पर्शानुमेय है । वस्तुके संघातरूपमें भी कुछ असंयुक्त याने असमसंयुक्त पर-माणुओंके पृथक् स्पर्शका अनुभव हो सकता है । उसको खरस्पर्श कहते हैं । वह सुखकारक नहीं होता । आशुकारित्वका अर्थ है शीघ्रकारित्व । यह कार्यानु-मेय गुण है । द्रवत्वका अर्थ स्रवणात्मकत्व है । चलत्व गुणसे विशेषरूपमें चलन समझना चाहिये । वैशद्य यह गुण विरलत्वकी अवस्थामें रहता है । सूक्ष्म-ताभी विरलत्वकी कारण परस्परकी संहर्ता छोड़नेके पश्चात् पृथक् हो जानेपर परमाणुओंका सूक्ष्मत्व प्रतीत होता है । २४ ॥ २५ ॥

शीत व उष्ण आदि गुणोंका विशेष स्वरूप अब वर्णन करते हैं । शीत व उष्ण गुण स्निग्धत्व व रूक्षत्वके कारणरूप है । पदार्थोंका स्निग्धत्व व रूक्षत्व कार्यरूप है । अर्थात् वे अनुक्रमसे शीत व उष्णसेही उत्पन्न होते हैं । गौरव लाघव आदि अन्य गुण लक्षणरूप हैं । न्यायशास्त्रप्रतिपादित गंधरसादि २४ गुणोंसे आयुर्वेदोक्त ये २० गुण भिन्न हैं । आयुर्वेदोक्त गुणोंकी संख्या [२०

गुणद्वयं शीतमुष्णं पृथक्त्वान्नोपलभ्यते ।

व्यपदेशः शीतमुष्णमित्याधिक्यस्य सूचकः ॥ २९ ॥

सर्वगुणप्रधानं प्रधानं च कारणं शीतोष्णरूपं गुणद्वयमपि पृथक्त्वान्नोपलभ्यते इति । शीतः केवलमुष्णत्वलेशेनापि विवर्जितः केवलमुष्णः शीतलेशेन रहितश्चैवं नोपलभ्यते । सृष्टेः समुदायस्वरूपात् । तत आधिक्यादनयोर्व्यपदेशः । इति शारीरपदार्थानां गुणविशेषदर्शनं नामाष्टमं दर्शनम् । (२९)



यह] और उनके नामभी भिन्न हैं । आयुर्वेदोपदिष्ट गुण पंचभूतविकारसमुदायात्मक शरीरमें समुदायस्वरूपसे रहनेवाले द्रव्योंके हैं इसलिये इन गुणोंके कारण व लक्षणस्वरूपके विशेषका वर्णन शास्त्रविरुद्ध नहीं हो सकता । २६ ॥

शीतगुणके संयोगकर्मके कारण तथा उष्णगुणके वियोगकर्मके कारण भिन्नरूपके व अवस्थांतरके सूचक जो गुरुत्वादि १६ गुण वर्णन किये हैं वे लक्षणरूप हैं । पृथिव्यादि भूतविकारांशोंके भिन्न प्रमाणके संयोगमें उक्त तारतम्य-सूचक गुणोंका निर्माण होता है । २७॥ २८॥

शीत व उष्ण ये दोनो सर्वदा पृथक् रूपमें नहीं मिलते याने सर्वथा उष्ण-विवर्जित केवल शीत अथवा सर्वथा शीतविवर्जित केवल उष्ण जिसमें शीतका लेशभी नहो ऐसे कभी नहीं मिलते । कारण सृष्टि समुदायरूपिणी है । इसलिये अपने २ अधिक्यसेही वे जाने जाते हैं । जैसे जिस वस्तुमें शीतगुण अधिक हो उसको शीतपदार्थ और जिसमें उष्णगुण अधिक हो उसको उष्णपदार्थ कहा जाता है । २९

शारीर पदार्थोंके गुणविशेषदर्शननामक आठवादृशन समाप्त ।

नवमं दर्शनम् ।

(गुणविशेषदर्शनम्)

द्रव्याश्रिता एव गुणाः सर्वे कर्माणि कुर्वते ।

द्रव्य एवानुभूयन्ते द्रव्याधारा गुणाः स्मृताः ॥ १ ॥

शीतोष्णादिगुणानां विशेषमभिधाय द्रव्यगुणसंबंधं विशदीकर्तुमुच्यते द्रव्याश्रिता इति । द्रव्येषु पृथिव्यादिपंचभूतेषु आश्रिताः कर्माणि कुर्वते । द्रव्याश्रयाभावान् कर्मणामभाव इति । द्रव्य एवानुभूयन्ते इति । गुणानामभिव्यक्तिर्द्रव्ये कियारूपेण जायते । द्रव्याश्रयाभावान् गुणानुभवस्याभाव इति सर्वे गुणा द्रव्याधारा इति । (१)

द्रव्याणि पंचभूतानि तत्सूक्ष्मांशसमाश्रयाः ।

कार्यानुमेयाः सामर्थ्यभेदाः प्रोक्ता गुणा इति ॥ २ ॥

द्रव्याणीति पंचभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनोऽपि । ‘ पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनोऽपि नव द्रव्याणीति, पदार्थत्रैरुपादिष्टेऽपि शरीरपदार्थोपादानाभिप्रायेण पंचभूतानामेव ग्रहणम् । उक्तं च सौश्रुते । भौतिकानि चंद्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः, इति । चरकसंहितायामपि “ गर्भस्तु खल्वंतरिक्षवाय्वग्नितोयमृमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः । पंचभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधिष्ठानभूतः । मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकारा एव । इत्यादि ।

नवम दर्शन

(गुणविशेषदर्शन)

शीतोष्णादि गुणोंका विशेष निर्दिष्टकर अब द्रव्यगुणोंके संबंधोंका विशदीकरण करते हैं । सभी गुण द्रव्याश्रित होकरही कर्म करते हैं । द्रव्यका आश्रय न होगा तो गुण कर्मभी न कर सकेंगे । द्रव्यमेंही गुणोंकी अभिव्यक्तिका क्रियारूपों अनुभव हो सकता है । द्रव्याश्रय यदि न होगा तो गुणोंका अनुभवभी न हो सकेगा । इसलिये कहा है कि गुण द्रव्याधार हैं । १ ॥

यहांपर द्रव्योंमें केवल पंचभूतोंकाही अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज, वायु व आकाश इनकाही समावेश करते हैं । पदार्थवेत्ताओंने द्रव्योंकी संख्या नऊ बतलायी है—१ पृथिवी २ अप् ३ तेज ४ वायु ५ आकाश ६ काल ७ दिक् ८ आत्मा और ९ मन । किंतु पृथिव्यादि पंचभूतही शरीर पदार्थोंके उपादान (मूल घटक) होनेके कारण वैद्यशास्त्रमें द्रव्य शब्दसे पंचभूतोंकाही ग्रहण

कार्यानुमेया इति कार्यस्वरूपेणानुमेयाः । सर्वं कर्म कारणत्वेऽपि नैकम्याविस्थायामनुपलब्धत्वात् ।
सामर्थ्यभेदाः कर्तृत्वविशेषाः । यादृशं कर्म तादृशं कारणं गुण इति । यथोक्तं चरक-
संहितायाम्—यत्कुर्वन्ति तत्कर्म । येन कुर्वन्ति तद्वीर्यमिति । वीर्यमिति शक्तिर्गुणो वा । (२)

भूमिरापस्तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।

नित्यानित्यत्वभेदेन प्रत्येकं भिद्यते द्विधा ॥ ३ ॥

परमाणुस्वरूपं तन्नित्यमित्यभिधीयते ।

कार्यस्वरूपं स्थूलं चानित्यमित्यभिधीयते ॥ ४ ॥

भूमिरित्यादि । भूतचतुष्टयमाकाशविवर्जितम् । आकाशस्तु नित्य एव । द्रव्योक्तं
पृथिव्यादीनां चतुर्णां परमाणवः आकाशादिपंचकं च नित्यद्रव्याणि । (३-४)

नित्याश्रितं यत्सामर्थ्यं तद्वीर्यं वा गुणः स्मृतः ।

कार्यरूपेऽनुभूयन्ते गुणा नित्याश्रिता अपि ॥ ५ ॥

नित्याश्रितमिति परमाणुगतम् । सामर्थ्यं कार्यान्तरोत्पादका शक्तिः । तत् वीर्यं
गुणो वा इत्याख्यायते । गुणानामेवायुर्वेदतंत्रेषु वीर्यसंज्ञयाऽभिधानात् । यथाह सुश्रुतः । तत्र
इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षशृदुर्तीक्ष्णपिच्छलविशदाः । इति । नित्याश्रिता अपि
कार्यरूपे कार्यरूपद्रव्ये अनुभूयन्ते । नित्याश्रितानामनभिव्यक्तत्वात् । (५)

करना चाहिये । सुश्रुतसंहितामें कहा है “ इंद्रिय तथा उनके अर्थ (विषय)
भौतिक हैं । और इनकाही आयुर्वेदमें वर्णन किया जाता है । ” चरकनेभी कहा
है कि—“ गर्भ पंचभूत विकारसमुदायात्मक व चेतनाका अधिष्ठानभूत है । ”
इन द्रव्योंके याने पृथिव्यादि पंचभूतोंके सूक्ष्मांशोंके आश्रयसे जो सामर्थ्यभेद याने
कर्तृत्वविशेष होते हैं और जो कार्यानुमेय होते हैं उन्हींको गुण कहा जाता है ।
जिस प्रकारका कर्म उसी प्रकारका कारण गुण समझना चाहिये । चरकने कहा
है “ जो होता है वह कर्म और जो करता है वह वीर्य (समझना चाहिये) । ”
वीर्यका अर्थ है शक्ति अथवा गुण । २ ॥

पंचभूतोंमेंसे आकाश छोड़कर शेष चार भूतोंके याने पृथ्वी, अप्, तेज
व वायु इस प्रत्येकके नित्य, व अनित्य ऐसे दो भेद होते हैं । जैसेः—नित्य
पृथिवी, अनित्य पृथिवी इत्यादि । नित्यभेद परमाणुस्वरूप है और अनित्यभेद
कार्यस्वरूप व स्थूल है । आकाश नित्य होनेके कारण उसका कोई विकार नहीं
होता इसलिये उसका इस वर्गीकरणमें समावेश नहीं किया गया । ३ ॥ ४ ॥

परमाणुस्वरूपाणां भूतानां समवायतः ।

गुणान्तराणि जायन्ते तद्भिन्नांशानुयोगतः ॥ ६ ॥

परमाणुस्वरूपाणां भूतानामिति । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य परमाणूनाम् । समवायतः संयोगात् । तद्भिन्नांशानुयोगत इति तेषां भूतानां विभिन्नप्रमाणैरशैरनुयोगात् । गुणान्तराणि स्निग्धरूक्षादयो गुणाः । गुणविवेचने पृथिव्यादिभूतचतुष्टयवत् आकाशस्याप्यनुयोगो दर्शितः । यथा तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वमिति सुश्रुतसंहितायामुक्तम् । किन्तु विभुत्वादाकाशस्य तदितराणामल्पत्वमेवाकाशबहुलत्वमिति समवायश्चतुर्णां पृथिव्यादीनां नाकाशस्येति । (६)

सामर्थ्यं यत्पदार्थेषु गुणो वा वीर्यमेव वा ।

सूक्ष्मद्रव्याश्रितं स्यान्न पृथक्त्वेनोपलभ्यते ॥ ७ ॥

पदार्थेषु सृष्टवस्तुषु । सूक्ष्मद्रव्याश्रितमिति पदार्थान्तर्गतसूक्ष्मद्रव्यांशसमाश्रितम् । पृथक्त्वेन द्रव्यांशरहितमिति । द्रव्यांशाश्रयं विना सामर्थ्योपलब्धेरभाव इति । (७)

अपां गुणः स्यात् शीतत्वं तत्भूम्यंशसमन्वितम् ।

परस्परालिंगनेन रसनाच्च परस्परम् ॥ ८ ॥

तदा मूर्तत्वमायान्ति पार्थिवाः परमाणवः ।

स्नेहो भूम्यम्बुसंयोगात् स्निग्धत्वं तत्प्रकीर्तितम् ॥ ९ ॥

नित्यभेदमें याने परमाणुओंमें आश्रित जो सामर्थ्य रहता है उसीको गुण वा वीर्य कहते हैं । यद्यपि गुण इसप्रकार नित्याश्रित हैं उनका कार्यरूपमें याने कार्यद्रव्यरूपमें अनुभव होता है । आयुर्वेदमें गुणोंकोही वीर्यसंज्ञा दी गयी है । यथा सुश्रुत कहता है “ शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मृदु-तीक्ष्ण-पिच्छिल-विशद ये गुण वीर्यसंज्ञक हैं । ” ५ ॥

पृथिवी, अप्, तेज, व वायुके परमाणुओंके समवायमें याने संयोगमें उनके विभिन्न अंशोंका जो अनुयोग होता है उसके कारण स्निग्धरूक्षादि गुणोंका निर्माण होता है । गुणविवेचनमें पृथिव्यादि भूतचतुष्टके समान आकाशकाभी अनुयोग माना गया है । जैसे-सुश्रुतसंहितामें कहा है “ जल व आकाशके गुणोंके आधिक्यके कारण मृदुत्व उत्पन्न होता है ” किन्तु यहाँपर ध्यानमें रखना चाहिये कि आकाश विभु होनेके कारण अन्यभूतोंका अल्पत्वही आकाशका बहुत्वसूचक व अन्योका बहुलत्व आकाशका अल्पत्वसूचक समझना चाहिये । इसलिये आकाशवर्ग्य चार भूतोंकाही समवाय माना है । ६ ॥

स्निग्धादिगुणोत्पादने भूतसंयोगं दर्शयति । अगामिति । अवाख्यस्य भूतस्य शीतत्वं गुणः । ' शीतस्पर्शवत्त्यः आपः, इति । भूम्यंशसमान्वितमिति भौमाणुसंयुक्तम् । परस्परालिंगनेनेति अन्यान्यसंश्लेषात् । रसनादिति स्वरूपविलयनात् । मूर्तत्वं संघातत्वम् । भूम्यम्बुसंयोगात् भूमेरूपां चाणूनां मिश्रीभावात् । स्नेहः परमाणूनां पिंडीभावहेतुगुणः । ' चूर्णादिपिंडीभावहेतुगुणः स्नेहः ' । इति । स्निग्धत्वमिति स्निग्धो गुण आयुर्वेदीयै-रुपदिष्टः । स्नेहो ' जलमात्रवृत्तिरिति न्यायशास्त्रोपदिष्टमपि जलगुणस्य शीतत्वस्य पार्थिवाणुसंयो-गादेव चूर्णादिपिंडीभावहेतुत्वमुपपद्यत इति भूम्यंशसंयोगात् स्निग्धत्वमित्यायुर्वेदीयैरुपदिष्टम् । यथा सौश्रुते भूम्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेह इति । (८-९)

स्निग्धत्वेऽस्मिन् यदा तेजःसंयोगो जायते तदा ।

प्रादुर्भवति शैथिल्यं द्रवत्वमुपजायते ॥ १० ॥

विभाजनात्मकस्तेजोगुणश्चोष्णत्वमीरितम् ।

तत्प्रभावात्स्यंदमानावस्थायां द्रवता गुणः ॥ ११ ॥

शिथिलत्वात् द्रवीभूता रसरूपत्वमागताः ।

समीरणेनानुविद्धाः स्युर्वियोजनकर्मणा ॥ १२ ॥

वियोगाकांक्षिणो रूक्षा भवन्ति परमाणवः ।

स्निग्धत्व इति स्निग्धगुणे । शैथिल्यं शिथिलीभावः परमाणूनाम् । द्रवत्वं

पदार्थोंमें याने सृष्टवस्तुओंमें जो सामर्थ्य रहता है उसकोही गुण अथवा वीर्य कहते हैं—वह पदार्थोंके अंतर्गत सूक्ष्मद्रव्यांशोंमें आश्रित रहता है । अर्थात् पृथक् याने द्रव्यांशकेविना उसका अनुभव नहीं हो सकता । ७ ॥

स्निग्धादि गुणोंके उत्पादनमें भूतसंयोग किसप्रकार होता है यह अब दर्शाते हैं । अप्का शीतत्वगुण पृथिवीके परमाणुओंसे संयुक्त होकर परस्परको आलिंगित करता है और इसप्रकार शीतगुणान्वित अप्के परमाणु व पार्थिव परमाणु परस्परमें विलीन हो जाते हैं । तत्र पार्थिव परमाणु मूर्तत्व प्राप्त करते हैं । इसप्रकार पृथ्वी व अंबुके परमाणुओंके मिश्रणसे स्नेहही स्निग्धत्व नामसे जाना जाता है । न्याय-शास्त्रमें चूर्णादिमें पिंडीभाव निर्माण करनेवाला स्नेहगुण बतलाया है और यद्यपि केवल जलपरही उसकी वृत्ति न्यायशास्त्रमें बतलायी गयी है, यह ध्यानमें रखना चाहिये कि, जलका गुण शीतत्व पार्थिवाणुसंयोगसेही चूर्णादिमें पिंडीभावका कारण होता है । अतः आयुर्वेदीयोंने पृथ्वी-जलके संयोगसे स्निग्धत्वकी उत्पत्ति बत-लायी है । जैसे—सुश्रुत कहता है—स्नेह गुणमें पृथिव और जलका आधिक्य

स्रवणात्मता । स्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वमिति । विभाजनात्मकः संयुक्ताणूनां विभाजनं पृथक्करणं येन जायत इति । तेजोगुणः 'तेज' पालने इति धात्वर्थान् इतरेभ्यः पार्थक्यमात्मनो रक्षणीयमिति तेजोगुण आख्यातः तत्प्रभावात् तेजःप्रभावादिति । द्रवत्वं 'पृथिवीजलतेजोवृत्ति' इत्याख्यातम् । तेजसा विरहितः पृथ्वीजलसंयोगः स्नेहहेतुः । तेजोऽन्वयाद् द्रवत्वमिति । रसरूपत्वं द्रवत्वम् । समीरणेनानुविद्धाः इति द्रवावस्थायां समीरणेन संयुक्ताः । वियोजनकर्मणा चलत्वात्परमाणूनां वियोगकर्त्ता । रूक्षाः स्नेहरहिताः । परस्परकर्षणहीनाः । तेजःसंयोगाद् द्रवत्वोत्पत्तावपि रौक्ष्यकृद्वायुरिति । उक्तं च सौधुते—वायुगुण-भूयिष्ठं रौक्ष्यमिति । (१०-१२॥)

स्निग्धत्वं स्यात्स्नेहभावः सहवाससुखात्मकः ॥ १३ ॥

सहवासोद्वेगकारी गुणो रूक्ष उदाहृतः ।

स्निग्धत्वरूक्षत्वयोः स्वरूपं तात्पर्येणोच्यते । स्नेहभाव इति परमाणूनामाकर्षकत्वम् सहवाससुखात्मक इति सहवाससुखं आत्मा स्वरूपं यस्यैवंविधः सहवासोद्वेगकारी सहवासे परस्परविद्यासहेतुः । आकर्षकत्वं स्निग्धत्वं रूक्षत्वं चोद्वेजकमिति । (१३॥)

स्निग्धत्वं चापि रूक्षत्वमनुमेयावुभौ गुणौ ॥ १४ ॥

मृदुस्पर्शतया पूर्वं खरस्पर्शतयाऽपरम् ।

स्निग्धत्वमित्यादि । अनुमेयौ । अनुमानेनोपलक्षणीयौ पूर्वमिति स्निग्धत्वम् ।

रहता है " । ८ ॥ ९ ॥

इस स्निग्धत्वमें तेजका संयोग होता है तब परमाणुओंमें शैथिल्य उत्पन्न होकर द्रवत्वका निर्माण होता है । न्यायशास्त्रमें 'स्यंदनका असमवायी कारणही द्रवत्व है' इसप्रकार द्रवत्व की व्याख्या की गयी है । अर्थात् द्रवत्वसे स्रवणात्मताही मानी जाती है । तेजके जिस गुणसे वियोजनका कार्य याने संयुक्त अणुओंको पृथक् करनेका कार्य होता है उसको उष्णत्व कहते हैं । इस उष्णताके प्रभावके कारण परमाणुओंकी स्यंदमान अवस्थामें द्रवता यह गुण उत्पन्न होता है । न्यायशास्त्रमें द्रवत्वकी वृत्ति (निवास) पृथिवी-जल-तेज पर बतलायी गयी है । अर्थात् तेजोविरहित पृथ्वीजलसंयोगसे स्नेह-स्निग्धता उत्पन्न होती है और तेजसहित पृथ्वीजलसंयोगसे द्रवत्व याने रसरूपत्व उत्पन्न होता है । अर्थात् रसरूपत्वकी मुख्य उत्पादक उष्णता है यह स्पष्ट है । इस प्रकार द्रवावस्थामें स्थित परमाणुओंका जब वायुके परमाणुओंसे संयोग होता है, वायुके वियोजन कर्मके कारण वे (परमाणु) रूक्ष याने

मृदुस्पर्शतया सुखस्पर्शात् । अपरं रूक्षत्वम् । खरस्पर्शतया असुखस्पर्शात् । स्पर्शवि-
शेषादनुमानमिदं सामान्यम् । गुरुत्वादीनां स्निग्धस्य लघुत्वादीनां च रूक्षस्यानुमान-
हेतुत्वात् । (१४ ॥)

संयोगे गुरुता स्थौल्यं स्थैर्यं चाप्युपजायते ॥ १५ ॥

स्थिरत्वाच्चिरकारित्वं गुणो मंद इति स्मृतः ।

संयोग इति स्निग्धत्वात् संयुक्तावस्थावस्थिते पदार्थे । स्थौल्यं प्रवृद्धपरिणाहत्वम् ।
स्थैर्यमित्यवस्थितत्वम् । स्थिरत्वात् हेतोः चिरकारित्वं स्थिरत्वात् चलनात्मकं कर्म चिरेण
जायते इति । मंदो गुणः मंद इत्याख्यया परिसंख्यातः (१५ ॥)

वियोजनाद्रूक्षतया सूक्ष्मत्वं चलता तथा ॥ १६ ॥

लघुत्वं जायते कार्यरूपाश्चैते गुणाः स्मृताः ।

वियोजनादिति वियोजनकर्मणः । कार्यरूपाः कार्यलक्षणाः । (१६ ॥)

द्रवे सरत्वं भवति सांद्र ईषद्घनः स्मृतः

जायते तेजसोऽल्पत्वात् स भूम्यनुसमागमे ।

द्रवे द्रवरूपे सरत्वं भवति । द्रवत्वं सरत्वमिति । ईषद्घनः द्रवात् किञ्चित् घनः ।
न स्थिरसंघातरूपं घनत्वं सांद्रे । तेजसः अल्पत्वादिति द्रवापेक्षया तेजसः अल्पत्वं सांद्रे
हेतुः । (१७ ॥)

स्नेहहृदित अर्थात् जिनका पारस्परिक आकर्षण कम या नष्ट हो गया है ऐसे
बन जाते हैं । तेजसंयोगसे द्रवत्वकी उत्पत्ति होनेपरभी वायु उसमें रौक्ष्य उत्पन्न
कर सकता है । सुश्रुतने कहा है “ रौक्ष्य वायुगुणभूयिष्ठ है । (१०-१२)

अब तात्पर्यसे स्निग्धत्व व रूक्षत्वका स्वरूप बतलाते हैं । परमाणुओंमें
जो पारस्परिक सहवासके सुखस्वरूप स्नेहभाव याने आकर्षकत्व रहता है वही
स्निग्धत्व है । और पारस्परिक सहवासमें जिसके कारण उद्वेग (वित्रास) उत्पन्न
होता है वही रूक्षत्व है । सारांश स्निग्धत्वका अर्थ आकर्षकत्व और रूक्षत्वका
अर्थ उद्वेजकत्व है । १३ ॥

स्निग्धत्व व रूक्षत्व ये दोनो गुण स्पर्शानुमेय हैं । मृदु स्पर्शसे स्निग्धत्व
और खरस्पर्शसे रूक्षत्वका अनुमान हो सकता है । मृदुस्पर्श सुखकारक व खर-
स्पर्श असुखकारक होता है । स्निग्धपदार्थ गुरु याने बहुभार और रूक्षपदार्थ
लघु याने हलका होता है और इसका अनुभव स्पर्शगम्य है । १४ ॥

पदार्थके स्निग्धत्वके कारण याने संयुक्त अवस्थामें गुरुत्व, स्थौल्य व स्थैर्य

विभाजनं कर्म तीव्रतरं तीक्ष्णत्वमुच्यते ॥ १८ ॥

आधिक्यात्तेजसस्तद्धि स्याद्वियोजनसाधनम् ।

विभाजकं कर्मैव तीव्रतरं तीक्ष्णत्वम् । तेजसः आधिक्यादिति । परमाणुसंयोगे-
इतरभूतेभ्यस्तेजोऽधिक्यात्तीक्ष्णत्वमुपजायते वियोजनसाधनमिति । तीक्ष्णत्वं परमाणुविश्लेषे
प्रधानकारणम् । तीक्ष्णोष्णावाधेयाविति सुश्रुतेनोक्तम् । तीक्ष्णोष्णयोरामेयत्वेऽपि सूक्ष्मानुबद्धात्ते-
जसस्तेक्ष्णमित्यौष्ण्याद्भेदः । (१८ ॥)

तीक्ष्णत्वं द्रवसंयुक्तं विस्रत्वमभिधीयते ॥ १९ ॥

सूक्ष्मानुविद्धं तेजश्चात्युष्णत्वात् तीक्ष्णत्वोत्पादकम् । सौक्ष्म्यं च द्विप्रकारम् । समीरणांशाधि-
क्यात् सूक्ष्मत्वमद्रवम् । अप्संयोगाच्च द्रवावस्थितिमिति । तत्र द्रवसंयुक्तं तीक्ष्णत्वं विस्रत्वम् ।
विस्रत्वमामगंधित्वमित्याख्यायते । द्रवावस्थितानां पार्थिवानूनां गंधो गुणस्तेजःसंयोगात्समाकर्षणा-
समर्थश्चेद्वेजक इत्यामगंधित्वं विस्रत्वं नाम । (१९)

रूक्षणत्वं तद्विजानीयाद्रूक्षेऽपि मृदुता भवेत् ।

रूक्षत्वेऽपि मृदुस्पर्शवत्त्वं रूक्षणत्वं नाम । नरिसानां स्नेहवर्जितानामपि मृदुस्पर्शः रूक्ष-
त्वमिति । (१९ ॥)

स्यंदनस्य यदाऽल्पत्वं द्रवत्वे संप्रजायते ॥ २० ॥

सांद्रीभावो हि वैशद्यं सूक्ष्मत्वेऽन्तर्भवेदिति ।

अतितेक्ष्णं विकासित्वं भेदस्तीक्ष्णगुणस्य वै ॥ २१ ॥

ये गुण उत्पन्न होते हैं । स्थिरत्वके कारण जो चिरकारित्व, याने शीघ्रतासे कोईभी
हलचल न हो सकना, उत्पन्न होता है उसीको मंद गुण कहते हैं । १५ ॥

रूक्षताके कारण जो वियोजनकी क्रिया होती है उससे सूक्ष्मत्व, चलता
व लघुत्व ये कार्यरूप याने कार्यलक्षणरूप गुण उत्पन्न होते हैं । १६ ॥

द्रवमें याने द्रवरूप द्रव्यमें सरत्व रहता है । कारण द्रवत्वका लक्षणही
सरत्व बतलाया गया है । वह किंचित् घन अवस्थामें सांद्र कहा जाता है ।
अर्थात् सांद्रमें स्थिर संघातरूप घनत्व नहीं होता । पार्थिव व जलके संयुक्त
परमाणुओंमें जब अल्पप्रमाणमें तेजके परमाणु मिल जाते हैं, सांद्रत्वकी उत्पत्ति
होती है । १७ ॥

विभाजन कर्मही अपनी तीव्रतर अवस्थामें तेजके आधिक्यताके कारण
तीक्ष्णत्व संज्ञासे जाना जाता है । अर्थात् तेजके आधिक्यके कारण तीक्ष्णत्व
वियोजनका साधन बनता है । सारांश परमाणुओंके संयोगमें अन्य भूतोंकी
अपेक्षा जब तेजकी मात्रा अधिक हो जाती है, तीक्ष्णत्व उत्पन्न होता है ।

चलत्वस्यातिशायित्वं व्यवायी गुण ईरितः ।

स्यंदन! उष्णत्वात् द्रव्ये सांद्रीभावः । द्रवाल्पत्वं सांद्रत्वमिति । वैशद्यं सूक्ष्म-
त्वेऽन्तर्भवेदिति स्नेहसशून्यत्वात् पृथक्त्वेनाभिव्यक्तिर्वैशद्यम् । विकसित्वं तीक्ष्णत्वातिशयः ।
चलत्वस्यातिशायित्वं च व्यवायी गुण इति । (२०-२१॥)

त्रिविधं कर्म संयोगो विभागश्च वियोजनम् ॥ २२ ॥

गुणा विंशतिसंख्याकास्तत्कारणमुदाहृतम् ।

समाकृष्टाः शीतगुणाद्भवन्ति परमाणवः ॥ २३ ॥

स्निग्धत्वादेकतां याताः संधरूपा भवन्ति हि ।

संयोगकारणं शीतः स्निग्धश्चेति गुणद्वयम् ॥ २४ ॥

उष्णत्वं परमाणूनां प्रधानं स्याद्विभागकृत् ।

वियोजनं रूक्षगुणाद्वियुक्तानां प्रजायते ॥ २५ ॥

संयोगस्य वियोगस्य शीतोष्णाख्यं गुणद्वयम् ।

प्रधानं साधनं वीर्यं प्रमुखं तद्वि कीर्तितम् ॥ २६ ॥

पंचभूतांशसंयोगात्तारतम्यानुसारतः ।

भेदाः शीतोष्णगुणयोरवस्थान्तरसम्भवाः ॥ २७ ॥

परमाणुओंके विच्छेपमें तीक्ष्णत्वही प्रधान कारण होता है इसलिये उसको वियोजनका साधन माना गया है । सुश्रुतने कहा है “ तीक्ष्ण व उष्ण ये गुण आग्नेय हैं । ” इसप्रकार तीक्ष्ण व उष्ण दोनो गुण आग्नेय होते हुएभी सूक्ष्मानुबद्धतासे तेजका तैक्ष्ण्य उष्णसे भिन्न होता है । १८ ॥

सूक्ष्मानुविद्ध तेजही अत्युष्णत्वके कारण तीक्ष्णत्वको उत्पन्न करता है । सूक्ष्मत्व दो प्रकारका होता है । वायुके अघ्निक्यसे युक्त जो सूक्ष्मत्व होता है वह द्रव नहीं होता किंतु अप्संयोगसे युक्त सूक्ष्मत्व द्रव स्थितिमें होता है । इस द्रवस्थितिमें संयुक्त तीक्ष्णत्वकोही विस्त्रत्व कहते हैं । आयुर्वेदमें विस्त्रत्वका अर्थ आमगंधित्व बतलाया गया है । द्रवपदार्थावस्थित पार्थिव परमाणुओंका गंधगुण तेज-संयोगके कारण अपनी आकर्षण क्रियामें असमर्थ होकर उद्वेजक बनता है इसलिये आमगंधित्व यह विस्त्रत्वका अर्थ बतलाया गया है । १९ ॥

द्रवत्वमें स्यंदनत्व (स्रवण) जब अल्पप्रमाणमें रहता है, सांद्रत्वकी उत्पत्ति होती है । स्नेहका व रसका अभाव होनेके कारण परमाणुओंके असंछिष्ट अवस्थामें

गुणभेदाः कर्मभेदकराश्चान्तर्भवन्ति हि ।

गुरुमन्दादयः सर्वे शीतोष्णाख्ये गुणद्वये ॥ २८ ॥

शीतोष्णाख्ये गुणद्वय एव सर्वेषां गुणानामन्तर्भावं दर्शयितुमुच्यते । त्रिविधमित्यादि । कर्म शारीरम् । संयोगः संश्लेषः एकीभाव इति । विभागः पृथग्भावः । वियोजनं विश्लेषः दूरीकरणमिति यावत् । तत्कारणमिति तेषां संयोगविभागवियोजनानां कारणम् । समाकृष्टाः सन्निधावस्थानाः । एकतां एकरूपताम् । संधरूपाः समुदायान्मूर्तभावावस्थिताः । संयोगकारणं समाकर्षणदेकीभावोत्पादनम् । विभाजनं पृथग्भावोत्पादनम् । वियोजनं पृथक्भूतानां दूरीकरणम् । वीर्यं प्रमुखमिति प्रधानं कर्मसामर्थ्यम् । पञ्चभूतांशसंयोगादिति पञ्चभूतानां मित्रांशसंयोगात् । तारतम्यानुसारतः न्यूनाधिकयोगानुसारतः । अवस्थान्तरसम्भवाः तारतम्यस्वरूपैरवस्थाभेदैरुत्पन्नाः । कर्मभेदकरा इति संयोगादिकर्मणां न्यूनत्वाधिकत्वेन भेदोत्पादकाः । शीतोष्णाख्ये गुणद्वये अन्तर्भवन्ति । सर्वे गुणाः शीतोष्णाख्यस्य गुणद्वयस्य तारतम्योद्भवा भेदा इति । (२२-२८)

त्रीणि कर्माणि संयोगो विभागश्च वियोजनम् ।

त्रयश्च गुणसंघाताः श्लेष्मपित्तानिलास्त्रयः ॥ २९ ॥

शरीरे संयोगविभागवियोगाख्यानि कर्माणि त्रीणि प्रमुखानि । तत्कर्तारश्च त्रयो

वैशद्य उत्पन्न होता है । वैशद्य सुक्ष्म गुणकाही एक प्रकार है । तीक्ष्ण गुणका और एक गुण ' विकासित्व ' है । इसमें तीक्ष्णताकी अतिशयता रहती है । चलत्व गुणकी अतिशयता जिसमें होती है उसको व्ययायी गुण कहते हैं । २० ॥ २१ ॥

सारांश, कर्म याने शरीरकर्म तीन प्रकारका है— १ संयोग २ विभाग (पृथक्भाव) व ३ वियोजन याने दूरीकरण । इस त्रिविध कर्मके कारण बीस गुण बतलाये गये हैं । शीतगुणके कारण परमाणु समाकर्षित हो जाते हैं । याने परस्पर समीप आजाते हैं । (साकार मूर्ति) स्निग्ध गुणके कारण वे एकरूप होकर उनका संघात बन जाता है । अर्थात् शीत व स्निग्ध ये दो गुण संयोगके कारण होते हैं । उष्णत्वके कारण मुख्यतया परमाणुओंका विभाग होता है । अर्थात् उनमें पृथक्भाव उत्पन्न होता है । इसप्रकार पृथक्भूत परमाणुओंका वियोजन याने दूरीकरण रुक्ष गुणके कारण होता है । संयोग व वियोगके शीत व उष्ण ये दो गुणही मुख्य कारण हैं । उसीको वैद्यशास्त्रमें वीर्य संज्ञा दी गयी है ।

गुणसंघाताः गुणसमुदायाः । त्रयः त्रिसंख्याः । श्लेष्मपित्तानिलाः गुणसमुदायस्वरूपाः
श्लेष्मपित्तानिलास्तयो दोषा इति । (२९)

गुणानां समुदायेन येन संयोजनं भवेत् ।

स चायुर्वेदतंत्रेषु श्लेष्मेति परिभाषितः ॥ ३० ॥

गुणानां समुदायेन येन कर्म विभाजनम् ।

स चायुर्वेदतंत्रेषु पित्तनाम्ना प्रकीर्तितः ॥ ३१ ॥

वियोगाख्यं कर्म येन गुणसंघेन जायते ।

आयुर्वेदीयतंत्रेषु स वै वायुरिति स्मृतः ॥ ३२ ॥

गुणसंघातस्वरूपा एव दोषाः श्लेष्मपित्तानिला इति निदर्शनार्थमुच्यते । सः स्निग्धा-
दिगुणानां समुदायः श्लेष्मा इति परिभाषितः आख्यातः । स्निग्धादिगुणत्वं श्लेष्मत्वं न
स्निग्धादिगुणयुक्तः श्लेष्मा गुणभ्यो भिन्नः । स्निग्धादिगुणाभावे श्लेष्मणोऽप्यभाव इति । यत उक्तं
चरकेण । स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपेच्छिल्यमात्सर्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि ।
आत्मरूपं नाम स्वरूपं चैतदपरिणामीत्याख्यातम् । यथा—‘ श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामीति ।
अपरिणामीति सहजसिद्धं नान्योपाधिकृतमित्यत्र चक्रपाणिना व्याख्यातम् । ततो गुणस्वरूपा एव
दोषा इत्यभिप्रायोऽत्र निःसंदेहः । येन विभाजनं कर्म जायते सः गुणसमुदायः पित्तम् । येन च

कारण वीर्यही प्रधान कर्मसामर्थ्य है । पंचभूतांशोके संयोगके तारतम्यसे याने उनका
कमी अधिक प्रमाणमें संयोग होनेसे शीत व उष्ण गुणोंके अवस्थांतरोत्पन्न भेदोंकी
निर्मिति होती है । कर्म भेदकर याने संयोगादि कर्मोंके न्यूनाधिकत्वके उत्पादक
गुरुमंदादि सभी भिन्न २ गुणोंका शीत व उष्ण इस गुणद्वयमेंही अंतर्भाव हो जाता
है । अर्थात् गुरुमंदादि सभी शीतोष्णके तारतम्योद्भव गुण हैं । २२ ॥ २३ ॥
२४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

संयोग, विभाग व वियोजन ये तीन मुख्य कर्म हैं । और इन कर्मोंके
कर्ताभी तीनही गुणसंघात याने गुणसमुदाय हैं । वे हैं श्लेष्मा, पित्त व वायु ।
अर्थात् ये तीनों दोष कर्मकर्ता व गुणसमुदायस्वरूप माने गये हैं । २९ ॥

जिस गुणसमुदायके कारण (संयोग) होता है उसको आयुर्वेदमें श्लेष्मा
(कफ) कहा गया है । स्निग्धादि गुणोंका समुदायही श्लेष्मा है । अर्थात् वह
गुणोंसे भिन्न नहीं है । किन्तु स्निग्धादि गुणोंके अभावमें श्लेष्माकाभी अभाव हो
जाता है । चरकनेभी कहा है “ स्नेह, शैत्य, शुक्लत्व, गुरुत्व, माधुर्य, स्थैर्य,

वियोगाख्यं कर्म जायते सः गुणसमुदायो वायुरिति । गुणसमुदायाश्चाग्रे वक्ष्यमाणाः । द्रव्यगुणयोर्मिन्नत्वेनाभिधानेऽपि द्रव्याश्रयत्वादगुणानां पंचभूतविकारा एव स्निग्धादयो गुणा इत्यायुर्वेदीयाभिप्रायः । यथा मलप्रसादरूपाणां धातूनामुपवर्णने चरकः—शरीरगुणाः पुनर्द्विविधाः संग्रहेण । मलभूताः प्रसादभूताश्च । तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्याबाधकराः स्युः शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्ते भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते सर्वास्तान्मले संचक्ष्महे । इतरांस्तु प्रसादे । शुर्वादींश्च द्रवांतान् गुणभेदेन रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन इति । अस्मिन् विवेचने गुणरूपाः द्रव्यरूपाः मलरूपाश्चेति तयो गुणभेदा दर्शिताः । रसादिशुक्रांतानां शरीरच्छिद्रेषु वर्तमानानामुपदेहानां च गुणभेदत्वनोपदिष्टत्वात्पांचभौतिकद्रव्यविकारा एव गुणत्वेनाभिहिता इत्यधिगम्यते । चक्रपाणिना च शरीरस्य पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकत्वे व्याख्यातम् “ पंचानां महाभूतानां विकारा रसादयः शरीरारंभकाः ” इति । तत उक्तं गुणसमुदायः श्लेष्मा पित्तं वायुरिति । (३०-३२)

संयोजनाख्यं च विभाजनाख्यं

वियोजनाख्यं त्रिविधं हि कर्म ।

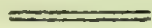
प्रवर्तते यैर्गुणसंघरूपैः

श्लेष्मा च पित्तं च समीरणः क्रमात् ३३ ॥

पैच्छित्यं, व मात्सर्यं ये गुण श्लेष्माका आत्मरूप है । ” आत्मरूपका अर्थ ‘स्वरूप’, यह ‘अपरिणामी’ बतलाया गया है । जैसे—“ श्लेष्माका यह आत्मरूप, अपरिणामी है । अपरिणामी का अर्थ चक्रपाणिने बतलाया है । सहजसिद्ध—अन्य उपाधिसे अलिप्त । इससे स्पष्ट होता है कि दोष गुणस्वरूपही हैं । ३० ॥

जिस गुणसमुदायके कारण विभाजनकर्म होता है उसको पित्त और जिस गुणसमुदायके कारण वियोग नामका कर्म होता है उसको वायु कहते है । ये भिन्न २ गुणसमुदाय आगे बतलाये जायेंगे । यद्यपि द्रव्य व गुणका भिन्न वर्णन किया गया है, आयुर्वेदीयोंका अभिप्राय ऐसाही है कि, गुण द्रव्याश्रित होते हैं । स्निग्धादि गुणोंकोभी पंचभूतोंके विकारस्वरूपही मानना चाहिये । चरकनेभी मलप्रसादरूप धातुओंके उपवर्णनमें ऐसाही माना है । चरकने कहा है “ संग्रहरूपसे शरीरगुण द्विविध होते हैं । १ मलभूत व २ प्रसादभूत । मलभूत गुण वे हैं जो शरीरके आबाधकर याने बाधा करनेवाले होते हैं; शरीरछिद्रोंमें उपलब्ध पृथक् उत्पन्न होते हैं, बहिर्मुख होते हैं, परिपक्व धातुओंके

प्रकरणार्थमुपसंहरति संयोजनाख्यमित्यादिना । संयोजनाख्यं विभाजनाख्यं वियोजनाख्यमिति त्रिविधं कर्म शरीरम् त्रैगुणसंग्रहैः गुणसंघो रूपं येषामेवंविधैस्ते श्लेष्मा पित्तं समीरण इत्याख्यायाऽख्याता दोषाख्य आयुर्वेदतंत्रविवृति । गुणविशेषदर्शनं नाम नवमं दर्शनम् । (३३)



रूपमें होते हैं, प्रकुपित वातपित्तश्लेष्माके रूपमें होते हैं तथा जो भी कुछ शरीरके पीडाकर होते हैं उन सबको मलही समझना चाहिये । इनके अतिरिक्त सब गुणोंका व भावोंका प्रसादमें अंतर्भाव करना चाहिये । गुरुसे लेकर द्रवतक गुण-भेदोंका तथा रसादिशुक्रांत धातुभेदोंका प्रसादमें अंतर्भाव होता है । ” इस त्रिवे-चनमें तीन प्रकारके गुणोंके भेद दर्शाये गये हैं — १ गुणरूप २ द्रवरूप और ३ मलरूप । रसादिशुक्रांत धातुओंका तथा शरीरछिद्रोंमें [लिप्त] रहनेवाले उपदेहोंकाभी वर्णन यहांपर गुणभेदत्वसेही किया है याने उनकोभी गुणोंकेही भेद माना गया है । इससे स्पष्ट है कि, आयुर्वेदशास्त्र गुणोंकोभी पांचभौतिक द्रव्योंकेही विकारस्वरूप मानता है । चक्रपाणिने शरीरके पंचभूतवि-कारसमुदायात्मकत्वके वर्णनमें कहा है “ पंचभूतोंके विकार रसादि गुण है जो शरीरारंभक है । ” उक्त विवरणपरसे वातपित्तकफोंका गुणसमुदायरूप ध्यानमें आ सकेगा । ३०।३१।३२॥

उक्त प्रकरणार्थका अब उपसंहार करते हैं:-शरीरकर्म त्रिविध है १ संयो-जननामका २ विभाजननामका व ३ वियोजननामका । यह त्रिविध शरीर-कर्म जिन गुणसंग्रह दोषोंसे प्रवर्तित होता है उनकी आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें संज्ञायें श्लेष्मा, पित्त व वात ये हैं । ३३ ॥

गुणविशेषदर्शन नामक सातवा दर्शन समाप्त ।

दशमं दर्शनम् ।

(दोषाणां गुणसमुदायत्वदर्शनम् ।)

स्निग्धः शीतो गुरुर्मंदः श्लक्ष्णः सांद्रश्च पिच्छिलः ।

स्थूलः स्थिरो मृदुश्चेति श्लेष्मरूपा गुणा दश ॥ १ ॥

तीक्ष्णमुष्णं द्रवं चेति पित्तं स्याद्विगुणात्मकम् ।

रौक्ष्यं सौक्ष्म्यं चलत्वं च वैशद्यं लाघवं तथा ॥ २ ॥

खरत्वं कठिनत्वं च सप्त वातगुणा मताः ।

श्लेष्मपित्तानिलाश्चैवं गुणसंघातरूपिणः ॥ ३ ॥

शरीरगतानां कर्मकराणां गुणानां स्वरूपभेदं निर्दिश्य दोषाणां गुणसंघातस्वरूपं त्रिशदी-
कर्तुमुच्यते । स्निग्ध इत्यादि । गुणसंघातरूपिण इति गुणसमुदाय एव श्लेष्मादयो दोषाः ।
स्निग्धादिदशगुणानां समुदायः श्लेष्मा । तीक्ष्णादिगुणत्रयसमुदायः पित्तं, रौक्ष्यादिसप्तगुणसमुदायो
वायुरिति । स्निग्धादिगुणवत्त्वं श्लेष्मत्वम् । तीक्ष्णादिगुणवत्त्वं पित्तत्वम् । रौक्ष्यादिगुणवत्त्वं च वातत्व-
मिति । श्लेष्मादिदोषत्वेनोक्तानां स्निग्धादिगुणानां पदार्थेषु सर्वत्रावस्थितिरपि कार्यकारणलक्षण-
रूपेण परस्परानुबद्धत्वात् सर्वत्रावस्थितिरन्यनाधिकत्वेनेति गुणसमुदायरूपत्वं दोषाणामुपपद्यते । तत्रा-

दशम दर्शन

(दोषोक्ता गुणसमुदायत्वदर्शनः)

शरीरके कार्यकारी स्निग्धशीतादि पूर्वोक्त गुणोंके स्वरूप और विशेषका
स्पष्टीकरण इस प्रकरणमें किया जाता है । स्निग्ध, शीत, गुरु, मंद, श्लक्ष्ण, सांद्र,
पिच्छिल, स्थूल, स्थिर और मृदु इन १० गुणोंके समुदायकोही श्लेष्मा-कफ
दोष माना गया है । तीक्ष्ण, उष्ण, तथा द्रव इन ३ गुणोंके समुदायको पित्त
संज्ञा है । एवं रौक्ष्य, सूक्ष्मता, चलत्व, वैशद्य, लघुता, खरत्व और कठिनत्व इन
७ गुणोंका समुदाय वात दोष है । श्लेष्मादि दोषों के स्निग्धशीतादि गुण
निखिल सृष्ट्यपदार्थोंमेंभी रहते हैं । किन्तु उक्त २० गुण कारण, कार्य और
कार्यका लक्षणरूप व परस्पर संबद्ध होकर सर्व सृष्ट्यवस्तुओंमें रहते हैं । और
कार्यभेदके कारण दोषोंमें गुणसमुदायकाभी भेद प्रतीत हो सकता है । आयुर्वेदके
अनेक ग्रंथोंमें गुणोंकी संख्या भिन्न बतलायी गयी है । और श्लेष्मा आदि दोषोंके

न्तरेषु दोषाणां विभिन्नं गुणसंख्यानं दृश्यते । यथा अष्टांगहृदये “ स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः
श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः । इति श्लेष्मगुणाः सप्त । पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विक्षं सरं द्रवम् ।
इति पित्तस्यापि सप्तसंख्या गुणाः । तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः । इति
वायोर्गुणाः षट् समाख्याताः । चरकसंहितायाम्—स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्य-
मात्स्न्यानीति गुणाश्चाष्टौ श्लेष्मणः । पित्तस्य औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च
शुक्लारुणवर्जो गंधश्च विस्त्रो रसो च कटुकाम्लौ सरत्वं चेति नव । रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्तत्व-
मनवस्थितत्वं चेति वायोर्गुणाः सप्तसंख्याश्चाभिहिताः । एवं चतुर्विंशतिगुणाश्चरकेणोक्ताः । वाग्म-
टेन तु विंशतिरेव । किन्तु शरीरधातुगुणवर्णने विंशतिसंख्या ना एव गुणाश्चरकसंहितायामष्टांगहृदये-
चाभिहिताः । यथा—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमंदतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्ण-
खरसूक्ष्मस्थूलसांद्रद्रवाः शरीरधातुगुणाः संख्यासामर्थ्यकता इति चरक संहितायाम् । तथा अष्टांग-
हृदये “ गुरुमंदहिमस्निग्धश्लक्ष्णसांद्रमृदुस्थिराः । गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः । ”
इति । दोषगुणोपाख्याने रसवर्णगंधादिस्वरूपाः समाख्याता गुणाश्चास्मिन् गुणसंग्रहे न पठिताः ।
शरीरधातूनां वृद्धि-हासादिकरत्वेन नातिप्रयोजनत्वान् । यथा चक्रपाणिना व्याख्यातं—शब्दरूप-
गंधास्तु परादिवत् वृद्धौ न्हासे च नातिप्रयोजना इति नोक्ताः । पित्तगुणत्वेन आख्यातस्य विस्त्रत्वस्य
आमगंधित्वलक्षणेऽपि न गंधेऽन्तर्भावः । गंधस्तु सुरभिरसुरभिश्चेति द्विविध एव । आमगंधित्वं
विस्त्रत्वस्य लक्षणम् । आमत्वं चैतत् तीक्ष्णत्वमेदः । ततः स्निग्धरूक्षादिवत् विस्त्रत्वमपि न गंधस्वरूपम् ।

गुणोंकी संख्यामेंभी भिन्नता प्रतीत होती है । जैसे अष्टांगहृदयमें १ स्निग्ध २ शीत
३ गुरु ४ मंद ५ श्लक्ष्ण ६ मृत्स्न ७ स्थिर ये सातही गुण श्लेष्माके बतलाये
हैं । एवं १ सस्नेहत्व २ तीक्ष्णत्व ३ उष्णत्व ४ लघुत्व ५ विस्त्रत्व ६ सरत्व
७ द्रवत्व ऐसे पित्तके गुण सात और १ रूक्ष २ लघु ३ शीत ४ खर ५ सूक्ष्म
६ चल इन ६ गुणोंका वायु बतलाया है । चरक संहितामें—१ स्नेह २ शैत्य
३ शौक्ल्य (शुक्लत्व) ४ गौरव (जडत्व) ५ माधुर्य ६ स्थैर्य ७ पैच्छिल्य
८ मात्स्न्य ऐसे कफके गुण ८ बतलाये हैं । पित्तके १ औष्ण्य २ तैक्ष्ण्य ३ लाघव
(लघुत्व — हलकापन) ४ द्रवत्व ५ अनतिस्नेहत्व (किंचित् स्निग्धता) ६ शुक्ला-
रुणवर्णरहितत्व (शुक्ल एवं अरुण ये दो रंगसे अतिरिक्त वर्णयुक्त) ७ आमगंध
८ कटु और अम्ल रस, ९ सरत्व । इसप्रकार ९ गुण; और १ रौक्ष्य २ शैत्य
३ लाघव ४ वैशद्य ५ गति (चलत्व) ६ अमूर्तत्व (अदृश्यत्व) ७ अनवस्थि-
तत्व (आकाररहितत्व) ये ७ गुण वायुके । इसप्रकार श्लेष्माके ८, पित्तके
९ और वायुके ७ । सब मिलकर चरकनें गुणोंकी संख्या २४ बतलायी है । और

गुणसंग्रहे संख्यातानां गुरुमंदादीनां गुणानां दोषत्वेनाख्यातेषु गुणसमुदायेषु न सर्वेषां परिगणनं दृश्यते । यथा अष्टांगहृदये—स्निग्धः शीतो गुरुर्मंदः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः । पित्तं सस्नेह-
तीक्ष्णोऽणं लघु विषं सरं द्रवम् । रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिल इति । एवं सप्त श्लेष्मगुणाः
सप्त च पित्तस्य षड् वायोरिति । विशंतित्वेऽपि गुणसंग्रहोक्ताः सांद्रमृदुविशदकठिनस्थूलपिच्छिला-
मिधानाः षट्संख्याश्चात्र न परिगणिताः । मृत्स्नविषसराख्याश्च संख्यातास्तिष्ठः संग्रहातिरिक्ताः ।
अत्र सांद्रपिच्छिलयोर्मृत्स्नो, कठिनस्य च स्थिरखरयोः, स्थूलस्य स्निग्धस्थिरयोः मृदुत्वस्य
स्निग्धत्वे, विशदस्य च सूक्ष्मेऽन्तर्भाव इति । चलत्वस्य भेद एव सरत्वम् । इत्यविरोधः । वातश्लेष्मयोः
पृथक्त्वेनाभिहितः शीतगुणः सामान्यः । लघुश्च वातपित्तयोः । परिगामभेदेऽपि पित्तगुणत्वेनोक्तं
ईषत्स्नेहत्वं स्निग्धगुणादभिन्नमिति । चरघातं वैशद्यं अमूर्तत्वं अनवस्थितत्वं चेति वायोरगुणत्रयं
अष्टांगहृदयोक्तस्य सूक्ष्मगुणस्य अवस्थान्तररूपम् । श्लेष्मणः स्निग्धशीतत्वं, द्रवोऽणवत् पित्तस्य
वायोश्च रूक्षसूक्ष्मत्वमनुचित्य गुणसमुदायोपवर्णने स्निग्धशीतोपलक्षणाः श्लेष्मणः, रौक्ष्यसौक्ष्म्योपल-
क्षणा वायोः, द्रवोऽणलक्षणाश्च पित्तस्यैवमुपकल्पनीया भवन्ति । ततश्चाख्यातं-स्निग्धादयो दश गुणाः
श्लेष्मा, तीक्ष्णादित्रितयं पित्तं, सौख्यादिसप्तगुणाश्च वायुरिति । विशतिसंख्याकश्चेत् गुणाः स्वरूप-
भेदाद्विचित्रा भवन्ति । संयोगत्रियोगाख्यस्य, उत्पत्तित्रिनाशस्य, वृद्धिक्षयस्य वा कर्मद्वितयस्य
अभिनिर्वर्तनात् । यथा-गुरुशीतस्निग्धमंदस्थिरमृदुपिच्छिलश्लक्ष्णस्थूलसांद्राश्चेति दश संयोगकर्माणः
दश चेतरे लघूणरूक्षतीक्ष्णसरकठिनविशदखरसूक्ष्मद्रवाश्चेति दश त्रियोगकर्माणः । गुणविशेषश्चायं

वाग्भटने उक्त २० । किन्तु चक्रके शरीरधातुओंके गुणोंका वर्णन करते समय
बीसही गुण निर्दिष्ट किये हैं । वे लिखते हैं: — १ गुरु २ लघु ३ शीत ४ उष्ण
५ स्निग्ध ६ रूक्ष ७ मंद ८ तीक्ष्ण ९ स्थिर १० सर ११ मृदु १२ कठिन
१३ विशद १४ पिच्छिल १५ श्लक्ष्ण १६ खर १७ सूक्ष्म १८ स्थूल १९
सांद्र २० द्रव ऐसे शरीरधातुओंके गुण २० हैं । और जो संख्यासामर्थ्यकर हैं ।
वाग्भटनेभी अष्टांगहृदयमें १ गुरु २ मंद ३ हिम ४ स्निग्ध ५ श्लक्ष्ण ६ सांद्र
७ मृदु ८ स्थिर ९ सूक्ष्म १० विशद और उनके विरुद्धस्वरूप
जैसे १ लघु २ तीक्ष्ण ३ उष्ण ४ रूक्ष ५ खर ६ द्रव ७ कठिन ८ चल
९ स्थूल १० पिच्छिल एवं चक्रके मतानुसार २० ही गुण बतलाये हैं ।
दोषोंके गुणोंका वर्णन करते समय वर्ण-गंध आदि जिन गुणोंका निर्देश किया
गया है वे गुणसंग्रह में परिगणित नहीं हैं । कारण शरीरधातुओंमें उनकी वृद्धि, जहास
आदि कार्य करनेके दृष्टीसे गंध रसादि गुणोंका प्राधान्य नहीं । चक्रसंहिताके
व्याख्याकार चक्रपाणि लिखते हैं:— शब्द-रूप-गंध आदि गुण परत्वं अपरत्वाद्वि

गुरवो गुणा लघवश्चेति निर्देशेनोपदर्शितश्चरकसंहितायाम्—यथोक्तं “ तेषु ये गुरवस्ते गुरुमिराहार-
विकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याप्यन्ते । लघवश्च न्हसन्ति । लघवस्तु लघुमिराप्याप्यन्ते गुरवश्च न्हसन्ति ।
गुरवो लघवश्चेति बहुवचननिर्देशात् गुरुत्वे संघातस्वरूपे वोपलक्षणीयानां तथा लघवे त्रियोगभाषा-
वस्थिते उपलक्षणीयानां च गुणानां क्रमात् गुरुत्वेन लघुत्वेन च निर्देश इत्यनुमानं सुलभम् । अने-
नाभिप्रायेण गुरुलघुशतोष्णादीनां परस्परविरुद्धानां साहचर्येण परिसंख्यानम् । चक्रपाणिना
व्याख्यातं यथा—परस्परविपर्ययात्मकान् द्वंद्वान् दशगुणान् दर्शयित्वा तेषां च द्रव्यसंबद्धानां शृंग-
ग्राहिकया कर्माह इति । शरीरधातुगुणानमेतेषां ‘ संख्यासामर्थ्यकराः, इति चरकोक्तं विशेष-
णम्, संख्याज्ञानं गणना वा तत्र सामर्थ्यं कुर्वतीति संख्यासामर्थ्यकराः इति विशदीकृतं
व्याख्यायां चक्रपाणिना । किन्तु संख्यायां सामर्थ्यं कुर्वतीत्यत्र न किंचिदर्थगौरवं प्रतिभाति ।
संख्यया विंशतिरूपयाऽनुगतं विंशतिप्रकारं सामर्थ्यं येष्वेवंविधाः । एवं व्याख्यानमस्य समीचीन-
मिति वा विमर्शितव्यं संख्यावद्भिः । (१-३)

केवलं गुणरूपा वा श्लेष्मपित्तानिलास्त्रयः ।

अथवा द्रव्यरूपाः स्युश्चितनीयमिदं भवेत् ॥ ४ ॥

श्लेष्मादयः त्रिदोषाः केवलं गुणरूपाः केवलं द्रव्यरूपा वा इति चितनीयम् । (४)

श्लेष्मपित्तानिला एव शारीरं कर्म कुर्वते ।

(न्यायादि शास्त्रोंमें उपवर्णित) गुणोंके समान शारीरद्रव्योंमें वृद्धि न्हास आदि
कार्यके कारण न होनेसे उनका निर्देश गुणसंग्रहमें नहीं किया । पित्तगुणोंमें
उपवर्णित विस्त्रव याने आमगंधित्वका अंतर्भाव गंधगुणमें नहीं हो सकता ।
कारण शास्त्रकारोंने गंधके सुरभि और असुरभि ऐसे दोही भेद बतलाये हैं । पित्त-
गुणोंमें उपवर्णित विस्त्रव, तीक्ष्णत्वकाही भेद है । अतः विस्त्रव गंधका भेद
नहीं । गुणसंग्रहोक्त गुरुमंदादि २० गुणोंमें कई गुणोंका निर्देश दोषगुणोंमें नहीं
है । जैसे अष्टांगहृदयमें दोषके गुण लिखे हैं जिसमें कफके १ स्निग्ध २ शीत
३ गुरु ४ मंद ५ श्लक्ष्ण ६ मृत्स्न ७ स्थिर । पित्तके १ सक्नेहत्व २ तीक्ष्णत्व
३ उष्णत्व ४ लघुत्व ५ विस्त्रव ६ सरत्व ७ द्रवत्व वायुके १ रुक्षत्व २ लघुत्व
३ शीतत्व ४ खरत्व ५ सूक्ष्मत्व ६ चलत्व । इसप्रकार श्लेष्माके ७ पित्तके ७ और
वायुके ६ दोषोंके गुणोंमें १ सांद्र २ मृदु ३ विशद ४ कठिन ५ स्थूल ६ पिच्छिल
इन ६ गुणोंका निर्देश नहीं, किंतु १ मृत्स्न २ विस्त्र ३ सर ये गुणसंग्रहके
अतिरिक्त ३ गुण समाविष्ट किये गये हैं । अनिर्दिष्ट ६ गुणोंमेंसे सांद्र और

तस्माच्छक्तिस्वरूपास्ते शक्तिहीनं न कर्मकृत् ॥ ५ ॥

गुणरूपत्वस्वीकारे हेतुं दर्शयति । श्लेष्मपित्तानिलाः त्रयो दोषाः शारीरं शरीर-
संबन्धि । कर्म पचनपोषणादिकं श्वसनोत्सर्जनादिकं च । कुर्वते तस्मात् शक्तिस्वरूपाः गुण-
स्वरूपाः । शक्तिगुणयोरभिन्नार्थत्वम् । शक्तिहीनं सामर्थ्यरूपगुणहीनं किंचिदपि कर्मकृन्नभवति ।
अतश्च दोषाणां शक्तिरूपत्वं उपपद्यत इत्येकः पक्षः । (५)

शक्तिरूपाः श्लेष्मपित्तानिलाश्चाप्याश्रयं विना ।

न शक्नुवन्त्यवस्थातुं न च वा कर्मकारिणः ॥ ६ ॥

शीतादयो गुणाश्चापि शक्तिरूपा न केवलम् ।

विशिष्टं शक्तिरूपं यद्गुणस्तदिति कथ्यते ॥ ७ ॥

शक्तौ द्रव्यानुबन्धेन विशेषश्चोपजायते ।

दोषाणां गुणरूपत्वे विरोधहेतुर्न दर्शयति । शक्तिरूपा इति गुणस्वरूपाः ।
आश्रयं विना आधाररूपद्रव्यमंतरा । अवस्थातुं न शक्नुवन्ति न प्रभवन्ति । न च
वा कर्मकारिणो भवन्ति । गुणकर्माश्रयत्वात् द्रव्यस्य । शीतादयो गुणा इति आयुर्वेदोक्ता
विंशतिसंख्याका गुणाः । केवलं शक्तिरूपाः द्रव्यरहितशक्तिरूपाः । न । कथमित्युच्यते । विशिष्टं
शक्तिरूपमिति संयोगवियोगादिकारकम् । गुणः कथ्यते । स्निग्धशीतादिसंज्ञाभि-

पिच्छिल इन दो गुणोंका अंतर्भाव मृत्स्नत्व गुणमें होता है । कठिनत्व का स्थिर
और खर इन दो गुणोंमें अंशतः अंतर्भाव हो सकता है । स्निग्ध और स्थिर इन
दो गुणोंमें स्थूलत्वका । मृदुत्वका स्निग्धगुणमें और विशदगुणका अंतर्भाव सूक्ष्म-
त्वमें हो सकता है । सरत्वगुण चलत्वकाही भेद है । इसप्रकार अंतर्भाव हो
जानेके कारण गुणसंग्रहमें वर्णित गुण और दोषोंके गुण इनमें परस्पर विरोधका
संभव नहीं होता । दोष-गुणोंके वर्णनमें वायु और श्लेष्माका शीतगुण बतलाया
है । किंतु तत्त्वतः शीतता एकही है । उसी प्रकार वायु और पित्तके गुणोंमें
पृथक् परिगणित लघुत्व गुण वास्तवमें एकही है । पित्तके गुणोंमें ईषत्
स्नेहत्व एक स्वतंत्र गुण माना है । किंतु तत्त्वतः परिणाम न्यून होते हुएभी वह
स्निग्धत्वसे भिन्न नहीं । चरक संहितामें वर्णन किये हुवे १ वैशद्य २ अमूर्तत्व
३ अनवस्थितत्व इन तीन गुणोंका अंतर्भाव अष्टांगहृदयोक्त सूक्ष्म गुणमें होता
है । तात्पर्य—श्लेष्माका (स्वरूपविशेष)—स्निग्धत्व और शीतत्व, पित्तका
(स्वरूपविशेष) द्रवत्व और उष्णत्व । और वायुका (स्वरूपविशेष) रूक्षत्व

राख्यायते । कार्यभेदोत्पादकाः सामर्थ्यविशेषा गुणा नाम । शक्तिविशेषश्चायं द्रव्यानुबन्धेन जायते । यथा—पृथिव्यनुगुणभूयिष्ठः स्नेहः । क्षितिसमीरणगुणभूयिष्ठं वैशद्यम् । तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वमित्यादि । (६-७॥)

सृष्टौ कार्यस्वरूपायां स्निग्धशीतादयो गुणाः ॥ ८ ॥

भूम्यादिभूतसंयोगात् सृष्टिः स्यात्कार्यरूपिणी ।

सृष्टौ कार्यस्वरूपायामिति पञ्चभूतविकारसमुदायोद्भवायाम् । स्निग्धशीतादयो गुणा न नित्यद्रव्याणामिति । भूतसंयोगात्कार्यसृष्टिरिति स्निग्धादिगुणानां भूतसंघाताश्रयत्वम् । (८॥)

गुणाः स्वाभाविका गंधरसाद्याः परिकीर्तिताः ॥ ९ ॥

द्रव्यमेवाश्रयस्तेषामाख्यातो भूतपञ्चकम् ।

स्वाभाविका इति सहजाः नान्योपाधिकृता इत्यर्थः । गंधरसाद्या इति गंध-
रसरूपस्पर्शशब्दाः पञ्च । तेषां भूतपञ्चकं द्रव्यं आश्रयः आधारः । (९॥)

नित्यानित्यत्वभेदेन द्विधा भूतचतुष्टयम् ॥ १० ॥

भूमिरापस्तथा तेजश्चतुर्थस्तु समीरणः ।

आकाशं पञ्चमं नित्यं तदेकं न विभज्यते ॥ ११ ॥

नित्यानित्यत्वभेदेनेति भूमिरापस्तेजः समीरण इति भूतचतुष्टयं नित्यानित्यत्व-

और सूक्ष्मत्व । एवं प्रमुख विशिष्ट स्वरूपके गुणोंके अनुसार संप्रहोक्त गुणोंका श्लेष्मादिके गुणसमुदायोंमें वर्गीकरण उचित और तात्त्विक समझना चाहिये । इसीलियेही स्निग्धादि १० गुण याने गुणोंका समुदाय श्लेष्मा, तीक्ष्णादि ३ गुण अथवा गुणोंका समुदाय पित्त और सूक्ष्मादि ७ गुण अथवा गुणोंका समुदाय वायु इसप्रकार का वर्णन किया गया है । उपर्युक्त २० गुणोंका स्वरूपभेदके अनुसार दो प्रकारका वर्गीकरण हो सकता है । संयोग व वियोग अथवा उत्पत्ति व विनाश किंवा वृद्धि व क्षय इसप्रकार शरीरमें प्रमुख कर्मके दोही प्रमुख भेद हैं । द्विविध कर्म करनेवाले गुणोंकेभी दोही प्रमुख भेद होते हैं । १ गुरु २ शीत ३ स्निग्ध ४ मंद ५ स्थिर ६ मृदु ७ पिच्छिल ८ श्लक्ष्ण ९ स्थूल १० सार्द्र इन गुणोंसे (न्यूनाधिक मात्रामें) संयोग और इनके विपरीत लघु उष्ण आदि १० गुणोंसे (न्यूनाधिक मात्रामें) वियोगरूप कर्मकी निष्पत्ति होती है । २० गुणोंके इसप्रकार द्विविध स्वरूपका वर्णन चरकसंहितामें गुरुगुण और लघुगुण इन शब्दोंसे किया गया है । चरकाचार्य लिखते हैः—२० गुणोंमें

भेदेन द्विधा । नित्यं परमाणुरूपम् । अनित्यं कार्यरूपमिति । आकाशं तु नित्यमेव । (११)

चतुर्विधाः पदार्थस्य भवन्ति परमाणवः ।

भौमाश्चाप्यास्तैजसाश्च वायव्या इति नामतः ॥ १२ ॥

पदार्थस्येति कार्यरूपस्य वस्तुनः भौमादिभेदात् परमाणवश्चतुर्विधा भवन्ति । (१२)

अविनाशि तु नित्यं स्यात् यदनित्यं विनाशि तत् ।

नित्यं सूक्ष्मं शक्तिरूपमनित्यं हीनशक्तिकम् ॥ १३ ॥

अविनाशीति ध्वंसरहितम् । सूक्ष्ममित्यणुरूपम् । शक्तिरूपमिति सामर्थ्यातिशययुक्तम् । हीनशक्तिकम् नित्यापेक्षया सामर्थ्यहीनम् । (१३)

स्थूलं स्यान्निखिला सृष्टिस्तद्विकारस्वरूपिणी ।

नित्यभूताश्रया शक्तिस्तद्विकारा गुणाः स्मृताः ॥ १४ ॥

स्थूलमित्यादि । तद्विकारस्वरूपिणी इति अनित्यद्रव्यविकाररूपिणी तद्विकारा इति तस्याः शक्तेः विकारा विशेषाः । (१४)

सृष्टिकारारूपेण जायतेऽथ विनश्यति ।

उत्पत्तिश्च विनाशश्चानित्यभूतगतो भवेत् ॥ १५ ॥

सृष्टिरिति सृष्टवस्तुसमूहः । आकाररूपेण विशिष्टाकृतिरूपेण । अनित्यभूतगता-

गुरुस्वभावगुण आहारके गुरुगुणोंसे अभिवृद्ध होते हैं । और लघुस्वरूपगुण आहारगत लघुगुणोंसे । चक्रके वर्णनमें गुरु एवं लघुगुणवाचक शब्दका निर्देश बहुवचनसे किया गया है । इससे सिद्ध है कि संघातकारक अथवा गुरुत्वोत्पादक सर्व गुणोंका गुरुगुणमें एवं वियोग अथवा लाघवकारक सर्व गुणोंका लघुत्वगुणमें निर्देश करनेके अभिप्रायसेही यह वर्णन है । यही अभिप्राय है गुरु लघु आदि गुणोंका परस्परविरुद्ध साहचर्यसे वर्णन करनेका । चक्रपाणि व्याख्यामें लिखते हैं—(परस्पर विरुद्ध १० गुणोंका स्वरूप कथनकर इन द्रव्यसंबंधि गुणोंका कर्म कहते हैं) स्निग्धशीतादि गुणोंके विवेचनमें चक्रकों संख्यासामर्थ्यकर यह एक विशेषण गुणोंको दिया है । और उसके स्पष्टीकरणमें चक्रपाणि लिखते हैं—संख्याज्ञान अथवा गणनाके संबंधमें सामर्थ्य निर्माण करते हैं यह संख्यासायर्थ्यकर इस विशेषणका अभिप्राय है । किंतु इसमें कोई विशेष अर्थ प्रतीत नहीं होता । संख्याके अनुसार (२०) जिनमें सामर्थ्योत्पादकत्व रहता है, इस प्रकारका स्पष्टीकरण अधिक उचित होगा । (१-३)

धृत्पतिविनाशो सृष्टवस्तुनामिति । (१५)

परमाणुस्वरूपस्तत्सूक्ष्मोऽंशो न विनश्यति ।

तदाश्रिता भवेच्छक्तिर्गुणो वा कार्यसाधकः ॥ १६ ॥

गुणाः शीतादयस्तस्मात्सूक्ष्मद्रव्याश्रया मताः

गुणसंघातरूपाश्च श्लेष्मपित्तानिला अपि ॥ १७ ॥

परमाणुस्वरूप इत्यादि । सूक्ष्मोऽंश इति सृष्टवस्तुगतांशः सूक्ष्मोऽणुरूपः । तदाश्रिता इति नित्यद्रव्याश्रिता । शक्तिर्गुणो वा इत्यनर्थान्तरम् शीतादयो गुणाः आयुर्वेदोक्ता विशंतिसंख्याकाः । सूक्ष्मद्रव्याश्रयाः सृष्टपदार्थानां सूक्ष्मांशसमाश्रिताः गुणसंघातरूपाश्चेति । स्निग्धादिगुणसमुदायः श्लेष्मा, उष्णादिगुणसमुदायः पित्तं सूक्ष्मादीनां समुदायो वायुरिति पूर्वोक्तस्वरूपाः । श्लेष्मपित्तानिला आयुर्वेदीयतंत्रेषु एतत्संज्ञा-मिराख्यातास्त्रयो दोषा अपि सूक्ष्मद्रव्याश्रया एव । सूक्ष्मद्रव्याश्रयत्वात्शक्तेः । (१६-१७)

न केवलं शक्तिरूपाः सूक्ष्मद्रव्याश्रया यतः

न केवलं द्रव्यरूपाः शक्तिमन्तो भवन्त्यतः ॥ १८ ॥

न दोषाः पंचभूतानि अपि भूतविकारजाः ।

श्लेष्मा, पित्त व वात केवल गुणरूप हैं ? अथवा केवल द्रव्यरूप हैं ? यहभी चितनीय प्रश्न है । ४ ॥

श्लेष्मा, पित्त व वात ये तीनही पचन, पोषण, श्वसन, उत्सर्जनादि सब शारीर क्रियाओंको करते हैं । अर्थात् यह स्पष्ट है कि वे शक्तिस्वरूप याने शक्युत्कर्षसंपन्न हैं । कारण विना शक्तिके कोईभी कर्म होही नहीं सकता । शक्ति व गुण एकही अर्थके शब्द हैं । अर्थात् दोष शक्तिस्वरूप हैं । ५ ॥

श्लेष्मपित्तानिल ये तीन दोष शक्तिस्वरूप होते हुएभी विना आश्रयके वे न रह सकते हैं, न कोई कार्य कर सकते हैं । अर्थात् यह आश्रय द्रव्यकाही होता है । गुण व कर्म दोनो द्रव्याश्रयी होते हैं । आयुर्वेदमें प्रतिपादित शीतादि बीस गुणभी केवल शक्तिरूप याने विनाद्रव्याश्रयके नहीं रह सकते । कारण शक्तिके विशिष्टरूपकोही गुण कहते हैं । याने शक्तिके भिन्न २ विशिष्टरूपकोही शीत, गुरु, मंद, लघु आदि संज्ञा दी गयी है । भिन्न २ कार्यका उत्पादक जो विशिष्ट सामर्थ्य उसीको भिन्न २ गुणोंकी संज्ञा है । शक्तिके यह विशिष्टस्वरूप

शक्त्युत्कर्षयुतं द्रव्यं सुसूक्ष्मं दोषसंज्ञकम् ॥ १९ ॥

न केवलमिति । सूक्ष्मद्रव्याश्रयत्वात् न केवलं शक्तिरूपा दोषाः । शक्तिमत्त्वात्च केवलं द्रव्यरूपा अपि न स्युः । पंचभूतविकारजा अपि न पंचभूतानि किंतु सुसूक्ष्मं शरीराभि-
प्रायेण धातुमलाभ्यां सूक्ष्मं शक्त्युत्कर्षयुतं धातुमलापेक्षया सामर्थ्यातिशयसम्पन्नं द्रव्यं शरी-
रान्तर्गतं दोषा इति तात्पर्यम् । पंचभूतविकारसमुदायोद्भवे शरीरे द्रव्यगुणानां सर्वत्र समवायात् द्रव्य-
गुणः शक्तिर्वा इति पृथग्मेदो नोपपद्यते ॥ १९ ॥

भूम्यादिपंचभूतानां भवन्त्येकैकशो गुणाः ।

तत्संयोगात्कार्यरूपाऽखिला सृष्टिर्हि जायते ॥ २० ॥

एकैकश इति प्रत्येकं भिन्नाः । तत्संयोगात् भूम्यादिपंचभूतगुणसंयोगात्
कार्यरूपा सृष्टिर्जायते इति । (२०)

सृष्ट्युत्पत्तिकराश्चापि गुणाः संयोगरूपिणः ।

भूम्यंभसोर्हि संयोगात् श्लेषकत्वं प्रजायते ॥ २१ ॥

भूमेर्गंधो गुणश्चापां रसश्चेति प्रकीर्तितः ।

संयोगादुभयोः श्लेषकत्वं स्यादेकताकरम् ॥ २२ ॥

सृष्ट्युत्पत्तिकरा इति कार्यरूपाणां पदार्थानामुत्पादका गुणाः स्नेहादयः

द्रव्यके अनुबंधसे उत्पन्न होते हैं । उदा०— पृथिवीजलगुणयिष्ठ स्नेहगुण है ।
वैशद्य पृथिवीवायुगुणभूयिष्ठ है । तोयाकाशगुणभूयिष्ठ मृदुत्व है । इत्यादि । ६॥७॥

स्निग्धशीतादि गुण नित्यस्वरूप भूतपरमाणुओंके नहीं हैं अपितु कार्य-
स्वरूप सृष्टीके याने पंचभूतविकारसमुदायात्मक पदार्थमात्रके हैं । पंचभूतोंके
संयोगसे कार्यसृष्टि होती है इसी लिये गुणभी भूतसंघाताश्रयीही होते हैं । ८ ॥

गंध, रस, रूप, स्पर्श व शब्द ये पांच स्वाभाविक गुण हैं । वे भी
द्रव्यकेही आश्रयसे रहते हैं । किंतु उनका आश्रय गुणानुक्रमसे पृथ्वी, अप्, तेज,
वायु व आकाश ये पंचभूत हैं । ९ ॥ १० ॥

पृथिवी, अप्, तेज व वायु इन चार भूतोंके प्रत्येकशः नित्य व अनित्य
ऐसे दो प्रकार रहते हैं । नित्य परमाणुरूप व अनित्य कार्यरूप । आकाश केवल
नित्यही है । ११ ॥

इसलिये कार्यरूप प्रत्येक पदार्थकेभी परमाणु चतुर्विध होते हैं—१ पार्थिव
२ आप्य ३ तैजस व ४ वायवीय । १२ ॥

संयोगरूपिणः इति पंचभूतांशानां तदगुणानां च संयोगरूपिणः। यथा भूम्यंभसोः संयोगात् श्लेषकत्वमिति संघातोत्पादकं परस्परकर्षणम्। 'श्लेष' आलिङ्गने धातुरिति। अपां रसो गुणः। स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च द्रवत्वं च गुरुत्वकम्। रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश। "इत्यामिधानात् उभयोः रसगंधयोः संयोगात् श्लेषकत्वमेकताकरम् एकत्वोत्पादकं संघातकरमिति यावत्। परमाणूनां संश्लेषात् जायमानानां शरीराणां पदार्थानामुत्पत्तौ भूम्यंबुगुणयोर्गंधरसयोः संयोगो हेतुरिति ॥ (२१+२२)

पदार्थानां समुत्पत्तौ भूमेर्गंधगुणेन वै ।

समाकृष्टा राशिरूपमाप्नुयुः परमाणवः ॥ २३ ॥

एकीभावश्च रसनात् परस्परविलीनता ।

अवगुणाज्जायते पश्चात्पदार्थान्तरसम्भवः ॥ २४ ॥

केवलाद्रसनाच्च स्यात् मूर्तरूपस्य सम्भवः ।

न च स्यादेकरूपत्वं केवलाकर्षणात् गुणात् ॥ २५ ॥

स्नेहः श्लेषकता नाम सरसाकर्षणं गुणः ।

पदार्थानां समुत्पत्तौ क्षमांभुसंयोगजः स्मृतः ॥ २६ ॥

श्लेषमापि भूम्यंभुसंयोगजः स्यादुभयात्मकः ।

इनका नित्यप्रकार अविनाशी और अनित्यप्रकार विनाशी रहता है। नित्य सूक्ष्म याने अणुस्वरूप व शक्तिरूप रहता है और अनित्य नित्यकी अपेक्षा शक्तिहीन। १३ ॥

यह स्थूल सृष्टि अनित्य द्रव्योंके विकारस्वरूप है। और शक्ति चतुर्भूतोंके नित्य प्रकारके आश्रयसे रहती है। शक्तिकेही विकारोंको (विशेषोंको) गुण कहा गया है। १४ ॥

सृष्टि आकाररूपसे याने विशिष्ट आकृतिके स्वरूपमें उत्पन्न होती है और नष्टभी होती है। अर्थात् उत्पत्ति व विनाश दोनों भूतोंके अनित्य प्रकारकेही होते हैं। १५ ॥

सृष्ट पदार्थोंके परमाणुस्वरूप सूक्ष्म अंशका विनाश नहीं होता। कारण वह नित्यप्रकारका होता है। और नित्य परमाणुओंके आश्रयसेही शक्ति जिसको गुणभी कहते हैं—रहती है। यही शक्ति कार्यसाधिका होती है अर्थात् आयुर्वेदोक्त—शीतादि २० गुण सृष्ट पदार्थोंके सूक्ष्मांशोंके आश्रित होते हैं। और श्लेष्मादि

श्लेष्माऽभः पृथिवीभ्यामित्यायुर्वेदेऽभिभाषितम् ॥ २७ ॥

पदार्थानां कार्यरूपाणामुत्पत्तौ भूम्यम्बुगुणसंयोगस्य प्राधान्यं दर्शयितुमाह । पदार्थानामिति भूतसमवायोपचानां वस्तुनाम् । समुत्पत्तौ उत्पादने कर्मणि । समाकृष्टाः सन्निधानानीताः । परमाणवः । राशिरूपं पुंजत्वम् । एकीभावः एकरूपता । रसनात् विद्रावणात् परस्परविलीनता एकीभावः । राशित्वमागताः परमाणवः स्वमात्रं विहाय परस्परं विलीना भवन्ति तदा एकीभावः सम्पद्यते । अब्गुणद्वित्यपां रसाख्यात् गुणात् । पदार्थान्तरसम्भव इति परमाणूनामेकीभावात् पदार्थान्तराणां भिन्नाभिधानानां सम्भव उत्पत्तिः । केवलाद्रसनात् केवलकर्षणाद्वा मूर्तरूपस्य पदार्थस्याकृतिमतो न सम्भवः । स्नेहः श्लेषकता नामायां गुणः सरसाकर्षणं रससहितमाकर्षणम् । क्षमाऽनुसंयोगजः पृथिव्यप्संयोगाज्जायत इति । श्लेष्मा श्लेषणगुणत्वात् श्लेष्मा इति संज्ञयाऽख्यातो दोषविशेषः । अंभःपृथिवीभ्यां जायत इति वाक्यशेषः । आयुर्वेदे अभिभाषितम् । अष्टांगसंग्रहे दोषभेदीयाध्याये आख्यातम् “ अंभः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा ” इति । (२३-२७)

श्लेष्मा न केवलं भूमिर्न च वा केवलं जलम् ।

योगाद्भूम्यम्भसोः संयोजकः श्लेष्मा प्रजायते ॥ २८ ॥

श्लेष्मा इत्यादि । केवलं भूमिरापश्च वा केवला न श्लेष्मा । भूम्यम्भसोः संयोगाज्जायत इति । (२८)

दोषभी इन गुणोंकेही संघातरूप याने समुदायस्वरूप होते हैं । १६ ॥ १७ ॥

गुण न केवल शक्तिरूप हैं कारण सूक्ष्मद्रव्यके आश्रयसे वे रहते हैं और न वे केवल द्रव्यरूप हैं कारण शक्तिका उनमें उत्कर्ष हैं । इसप्रकार दोष (गुणसंघातरूप दोष) पंचभूतोंके विकारसे निर्मित होते हुएभी केवल पंचभूतात्मक द्रव्यरूप नहीं है । अपितु धातुमलोंकी अपेक्षा शक्त्युत्कर्षसंपन्न सुसूक्ष्म शरीरांतर्गत द्रव्यकोही दोष कहना चाहिये । पंचभूतविकारसमुदायोद्भव शरीरमें द्रव्य व गुणोंका समवाय याने नित्य संबंध सर्वत्र रहता है इसलिये यह कभी पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता कि, शरीरका अमुक अंश केवल द्रव्य है अथवा अमुक अंश केवल गुण या शक्ति है । १८ ॥ १९ ॥

पृथिव्यादि पंचभूतोंमें प्रत्येकके गुण भिन्न होते हैं । और इन पंचभूतोंके व उनके गुणोंके संयोगसेही कार्यरूप सृष्टिका निर्माण होता है । २० ॥

गुण सृष्टिके उत्पादक होतेहुएभी स्वयं संयोगस्वरूपमें याने पंचभूतोंके साथ संयुक्तहोकरही रहते हैं जैसे:-पृथिवी-जलके संयोगमें श्लेषकत्व याने संघा-

पित्तं तेजसमाख्यातं तेजस्तन्न हि केवलम् ।

द्रवत्वादिगुणा न स्युस्तेजसः केवलस्य हि ॥ २९ ॥

श्लेष्मस्वरूपमभिधाय पित्तमप्यायुर्वेदोक्तं भूतसंयोगजनितमिति निदर्शनहेतुनोच्यते । तेजसमिति तेजःसंभूतम् । केवलमेकं न तेजः । हि-यस्मात् द्रवत्वादिगुणाः द्रवं विसंमित्यादि-पित्तगुणत्वेनोक्ताः । केवलस्य तेजसो न स्युः । आयुर्वेदीयतंत्रेषु आग्नेयं पित्तमित्याख्यातम् । यथा सुश्रुतसंहितायाम् । वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति । अष्टांगसंग्रहे च वाय्वाकाश-धातुभ्यां वायुः आग्नेयं पित्तं अंभःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा इति । द्रवत्वोत्पादकत्वमंभःपृथिवीभ्यां सम-वेतस्य तेजस इति द्रवत्वादिगुणं पित्तं न केवलं तेजोमयम् । स्यंदनासमवायिकारणं द्रवत्वम् पृथिवीजलतेजोवृत्ति । इतिपदार्थविदामुपदेशात्तेजःप्राधान्येऽपि द्रवत्वाद्युपलक्षितस्य पित्तस्यो-त्पादकं न केवलं तेज इति । (२९)

तेजश्चोष्णं द्रवत्वावनद्धं पित्तमितीरितम् ।

पृथिवीजलतेजोभिर्द्रवत्वमुपजायते ॥ ३० ॥

द्रवत्वं परमाणूनां भिन्नानां रसरूपता ।

पित्तस्वरूपं विशदीकर्तुमुच्यते । तेज इत्यादि । द्रवत्वावनद्धमिति द्रवोपहितम् । तेजः पित्तमीरितमाख्यातमायुर्वेद इति । भिन्नानामिति भिन्नस्वरूपेणावस्थितानाम् । (३० ॥)

तोत्पादक परस्परआकर्षत्व रहता है । रस अप्का गुण है । [शास्त्रमें कहाही है कि, स्पर्शादि आठ गुण, वेग, द्रवत्व, गुरुत्व, रूप, रस, व स्नेह ये चौदा गुण जलपर रहते हैं ।] पृथिवीका गुण गंध व अप्का रस इन दोनोंके संयोगसे एकताकर याने एकतोत्पादक अथवा संघातकारक श्लेषकत्वकी उत्पत्ति होती है । परमाणुओंके संश्लेषसेही शरीर पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है । (२१॥, २२॥, २३॥)

कार्यरूप पदार्थोंके उत्पत्तिकी प्रक्रियामें पृथिवीके गंधगुणसे समाकृष्ट याने परस्परनिकट लाये हुए परमाणुओंका प्रथम एक राशिसमुदाय बनता है । फिर अप्के रसत्वगुणके कारण उन परमाणुओंका रसन-विद्रावण होकर वे परस्परमें विलीन होकर एकीभावको प्राप्त होते हैं । उसके अनंतर भिन्न नामके पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है । किंतु यह न समझना चाहिये कि, केवल रसनसेही मूर्तरूप या साकारपदार्थका निर्माण हो सकता है । अथवा यहभी न समझना चाहिये कि, केवल आकर्षण गुणसेही एकरूपत्व प्राप्त होता है अथवा पदार्थांतरोत्पत्ति हो सकती है । अपितु पदार्थोंकी समुत्पत्तिमें पृथिवीजलसंयोगोद्भव गुण जो स्नेह—

तस्मिन् पृथग्भावकरं पित्तमित्युच्यते बुधैः ॥ ३१ ॥

पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्त्रं सरं द्रवम् ।

आयुर्वेदीयतंत्रान्तर्गतमित्युपवर्णितम् ॥ ३२

तस्मिन्निति द्रवरूपे । पृथग्भावकरं द्रवोपस्थितानामणूनाम् । तत्पित्तमुच्यते ।
सस्नेहापायुर्वेदीयतंत्रान्तर्गतम् । उपवर्णितमुपवर्णनम् । (३२)

तस्मात् द्रवाश्रितं तेजः पित्तं तेजो न केवलम् ।

विभाजनं पित्तकर्म न स्यात्केवलतेजसः ॥ ३३ ॥

तस्मादित्यादि । आयुर्वेदोपवर्णितं पित्तं न केवलं तेजः किन्तु द्रवाश्रितं तेज इति ।
विभाजनमिति पचनसंज्ञयोपदिष्टम् । पित्तकर्म न केवलतेजसः किन्तु अवनविद्धस्येति ।
(३३)

शरीरस्थः क्रियाकारी वायुर्वायुर्न केवलः

शरीरे गतिरूपं स्यात्तस्य कर्म न केवलम् ॥ ३४ ॥

आकर्षणं गतेर्भेदस्तथा स्यादपकर्षणम् ।

योगादग्निस्तेजसा च योगवाही ततः स्मृतः ॥ ३५ ॥

मूर्तरूपपदार्थेषु स्थूलद्रव्यावृतो मरुत् ।

इसीको श्लेषकत्व कहते हैं और उसमें रसत्वके साथ आकर्षण गुणका मिश्रयोग रहता है—कारण होता है । श्लेषणगुणयुक्त श्लेष्मा (कफ नामका दोष) भूम्यं-
बुसंयोगसे उत्पन्न होनेके कारण उभयात्मक होता है । आयुर्वेदमें—अष्टांगसंग्रहके
दोषभेदीयाध्यायमें कहाही है कि “ श्लेष्मा पृथिवी व जलसे उत्पन्न होता है ।
॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

अर्थात् श्लेष्मा (कफ) न केवल पार्थिव है न केवल आप्य । किन्तु
भूमि व जलके संयोगसेही संयोगकारी (संयोजक) श्लेष्मा (कफ) की उत्पत्ति
होती है । २८ ॥

कफके समान पित्तभी भूतसंयोगजनितही है । यद्यपि पित्तको तेजस
कहाया है, यह न समझना चाहिये कि वह केवल तेजःसंभूत है । कारण
पित्तके द्रव विस्त्र आदि गुण अकेले तेजसे नहीं उत्पन्न हो सकते । आयुर्वेदीय
ग्रंथोंमें पित्तका आग्नेयत्व बतलाया गया है । सुश्रुत कहता है “ वायु वायुरूपही
है, पित्त आग्नेय और श्लेष्मा सौम्य याने अप्रतत्वप्रधान । ” अष्टांगसंग्रहमें कहा

कर्मकारी भवेत्तस्माद्वायुः शीत इति स्मृतः ॥ ३६ ॥

वायोर्गुणः केवलस्य नोष्णत्वं नापि शीतता ।

अनुष्णाशीत इत्यस्य वर्णनं स्पर्शवानिति ॥ ३७ ॥

आवृतोऽद्भिः पदार्थानामुत्पादनकरो भवेत् ।

संयोजकत्वं संयोगादद्भिर्वायौ प्रजायते ॥ ३८ ॥

उत्पत्तिश्च पदार्थानां संयोगादेव कीर्तिता ।

संयोजकत्वं शीतत्वं वायोरप्संयुतस्य हि ॥ ३९ ॥

अप्संयुतः शरीरस्थो वायुर्वायुर्न केवलः ।

आयुर्वेदीयतंत्रेषु वायुः शीत इति स्मृतः ॥ ४० ॥

श्लेष्मपित्तवत् शरीरस्थो वायुरपि न केवलं वायुस्वरूपः किन्तु अप्तेजःसंयुतः इति निर्दिश्यते । शरीरस्थ इति । शरीरस्थितं वायुमभिप्रेत्य वर्णनमिदम् । केवल इति एक एव । 'वायोरात्मैवात्मा, इति चरकेणाभिहितेऽपि वातगुणेषु रौक्ष्यं भैत्यं लाघवमित्यादिषु वायोः शीतत्वोपाख्यानान् भूतविकारानुबद्धो वायुरेव शरीरस्थः कर्मकरः इति प्रतिपद्यते । तदेव हेत्वन्तरैर्निर्दिश्यते । यथा-तस्येति वायोः । कर्म भ्रसनोत्सर्जनादिकम् । यथोक्तं चरकसंहितायाम्—प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां सर्वेन्द्रियाणामुयोजकः शरीरधातुव्यूहकरः संधानकरः

है “वायु व आकाशसे वायु, अग्निसे पित्त और पृथिवीजलसे श्लेष्माका निर्माण होता है ।” पृथिवीजलसे संयुक्त तेजमेंही द्रवत्वोत्पादकत्व रहता है । अर्थात् स्पष्ट है कि, द्रवत्वादि गुण केवल तेजोमय नहीं हो सकते । न्यायशास्त्रमें कहा है कि, द्रवत्व स्यंदनका असमवायी कारण है और वह पृथिवी-जल-तेज पर रहता है । इसप्रकार पदार्थवेत्ताओंका अभिप्रायभी ऐसाही होनेके कारण पित्तकी-जिसके द्रवत्व-सरत्व आदि गुण बतलाये गये हैं-उत्पत्ति केवल तेजसे नहीं मानी जा सकती । २९ ॥

तेजकी उष्णता जब द्रवत्वावनद्ध (द्रवत्वमें संमिश्र) हो जाती है तब उसको पित्त कहते हैं । द्रवत्व पृथिवी, जल व तेजके संयोगसे उत्पन्न होता है । भिन्न स्वरूपके परमाणुओंका जब रसन-एकीभवन हो जाता है, द्रवत्वकी अवस्थाका निर्माण होता है । ३० ॥

उस द्रवत्वमें संमिश्र अणुओंमें पृथक् भावको निर्माण करनेका कार्य पित्त करता है । अर्धांगहृदय आदि आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें पित्तके 'सस्नेह, तीक्ष्ण, उष्ण,

शरीरस्येत्यादि । तथाच सुश्रुतसंहितायाम्— प्रस्पन्दनोद्धहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पंचधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति । इति कर्मजातमेतन्न केवलं गतिरूपम् । संयोगवियोगस्वरूपस्य हेतुत्वं आकर्षणापकर्षणं न केवला गतिः किन्तु गतिभेदः । अद्रिष्योगादिति असंयोगात् । तेजसा चेति तेजःसंयोगात् । क्रमेण आकर्षणमपकर्षणं च जायते । ततश्च योगवाही वायुराख्यातः । यथा—योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् । दाहकतेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंयुतः इति । मूर्तरूपपदार्थेष्विति स्पष्टवस्तुषु । स्थूलद्रव्यावृतः पंचभूतविकासमुदायोत्पन्नस्थूलद्रव्येणावृतः । ततश्च शीत इति स्मृतः । ‘तत्र संयोगापेक्षालोकशब्दः, इति संयोगावस्थायां अवस्थितेषु शरीरपदार्थेषु कर्मकारिणो वायोः संयोगसाहचर्यमपरिहार्यम् । संयोगश्च शीतगुणादिति शरीरस्थो वायुः शीत इति स्मृतः आख्यातः । केवलस्येति वायोरेकस्यैव । अनुष्णाशीतस्पर्शवान् वायुरिति वर्णनं द्रव्यविज्ञाने न्यायादिसङ्गे । आवृतोद्भिरिति असंयुतः शरीरस्थो वायुर्न केवलं वायुरपि तु अपसंयुतः अबनुवद्ध इति आयुर्वेदीयतंत्रेषु ‘तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः । इत्यादिभिर्वाक्यैः शीत इति स्मृतः (३४-४०)

कर्मजातस्य चैतन्यमेकमेव हि कारणम् ।

कर्म द्रव्याश्रितं तद्भूरापस्तेजः समीरणः ॥ ४१ ॥

एवं चतुर्विधं तस्मिन्भूरधिष्ठानरूपिणी ।

लघु, विस्त, सर व द्रव गुण बतलाये गये हैं । ३२ ॥

अर्थात् आयुर्वेदका यही अभिप्राय है कि, पित्त केवल तैजस नहीं है अपितु द्रवाश्रित तेजको पित्त कहना चाहिये । पित्तका विभाजन याने पचनका कर्म केवल तैजस न समझना चाहिये किंतु समझना चाहिये कि, अप्ससे अनुविद्ध तेज पचनकी क्रिया करता है । ३३ ॥

शरीरस्थ वायु—जो प्रधान क्रियाकारी है—भी केवल वायुस्वरूप नहीं है । उसका शरीरमें गति यही अकेला कर्म नहीं बतलाया गया है । अपितु वातगुणोंमें रौक्ष्य व लाघवके साथ शैत्यकाभी समावेश किया गया है, स्पष्ट है कि वायु भूतविकारानुवद्ध होकरही शरीरमें कर्म करता है । वायुका कर्म असन, उत्सर्जन आदि बतलाया गया है । चरकने कहा है “ वायु सभी शारीरिक चेष्टाओंका प्रवर्तक है । वह सर्व इंद्रियोंका उद्योजक, शरीरधातुओंका व्यूहकार (समुदायकारक) व शरीरका संधानकर है । ” सुश्रुतनेभी कहा है “ प्रस्पंदन, उद्धहन, पूरण, विवेक व धारण इन लक्षणोंका वायु पंचधा विभक्त होकर शरीरको

स्थूलद्रव्यस्वरूपा च कर्मरूपः समीरणः ॥ ४२ ॥

सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपश्च स हि कर्मप्रवर्तकः ।

स्थिरा भूमिश्चलो वायुः कर्म स्याच्चलनात्मकम् ॥ ४३ ॥

कर्मजातस्येति कार्यरूपवस्तुजातस्य सृष्टेरिति यावत् । चैतन्यं चेतनाधातुः । एकमेव प्रधानकारणमिति । यथोक्तं चरकसंहितायाम् । “ चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषमज्ञकः । चेतनावान्यतश्चात्मा ततःकर्ता निरुच्यते । इत्यादि । कर्म द्रव्याश्रितमिति पञ्चभूतविकाराणामेव कार्यरूपत्वात् । तदिति द्रव्यम् । भूरापस्तेजः समीरण एवं चतुर्विधम् । आकाशस्य नित्यत्वात् कार्यद्रव्ये न परिगणनम् । तस्मिन्निति भूम्यादिचतुर्विधद्रव्ये अधिष्ठानरूपिणी आश्रयरूपिणी । यथोक्तमष्टांगहृदये “ क्षामधिष्ठाय जायते ” इति । स्थूलद्रव्यस्वरूपा इति इतरद्रव्यापेक्षया स्थूलरूपा । पृथिव्याः स्थूलत्वादेव पार्थिवे द्रव्येऽपि स्थूलत्वम् “ तत्र द्रव्यं गुरु स्थूलं स्थिरं गन्धगुणोल्बणम् ” इति पार्थिवद्रव्याणां स्थूलत्वमुपदिष्टं दृश्यते । कर्मरूप इति प्रधानः क्रियाकरः । सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपश्चेति पृथिव्याद्यपेक्षया सूक्ष्मरूपः । कर्मप्रवर्तकः सर्वेषां शारीरक्रियाणां प्रवर्तकः । उक्तं च चरके-वायुस्तत्रयंत्रधरः प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानामिति । भूतचतुष्टये भूमिः स्थिरा वायुश्च चलः इति परस्परविपर्ययः । चलनात्मकं च कर्मेति । स्थूलेषु सृष्टपदार्थेषु स्थूलत्वं पृथिव्याः कर्मकर्ता चैतेषु वायुः । चलनात्मकं च कर्मेति सृष्टवस्तुषु द्रव्यगुणकर्मस्वरूपो विभाग इति । (४१+४३)

धारण करता है । ” अर्थात् वायुका सभी कर्म केवल गतिरूपही नहीं है । संयोग व वियोगके कारणीभूत आकर्षण व अपकर्षणभी केवल गति नहीं है अपितु गतिके भेद है । अन्के संयोगसे वायु आकर्षणकर्म करता है और तेजके संयोगसे अपकर्षण । इसी लिये वायुको योगवाही कहते हैं । कहा है “ वायु योगवाह है । वह तेजसे युक्त होकर दाह और सोमसे संयुक्त होकर शीत इस प्रकार दोनों प्रकारकी क्रियायें करता है । ” मूर्तरूप याने आकृतिमान् सृष्ट पदार्थोंमें वायु पञ्चभूतविकारसमुदायोत्पन्न स्थूल द्रव्यसे आवृत हुआ रहता है । कारण सृष्टि [लोक] संयोगापेक्षी है यह पहिलेही बतलाया है, इस संयुक्त अवस्थामें स्थित पदार्थोंमें कर्मकारी वायुका संयोग-साहचर्य अपरिहार्य होता है । संयोग शीतगुणके कारण होता है । इसलिये इस संयुक्त अवस्थामें वायुका शीतत्व बतलाया है । केवल वायुका गुण न केवल शीत है न उष्ण । न्यायआदि द्रव्यविज्ञानमेंभी कहा है कि “ केवल वायुका स्पर्श न उष्ण है न शीत । जब वायु जलसे आवृत रहता है पदार्थोंकी उत्पत्ति करता है और जलके संयोगकेही कारण शीतता बतलायी गयी है ।

आकर्षणं स्यात्कर्मैकं द्वितीयमपकर्षणम् ।

प्रमुखौ द्वाविमौ भेदौ चलनाख्यस्य कर्मणः ॥ ४४ ॥

आकर्षणात्स्यात्संयोगो वियोगश्चापकर्षणात् ।

पदार्थानां समुत्पत्तिर्विनाशश्च भवेत्क्रमात् ॥ ४५ ॥

आकर्षणमित्यादि । आकर्षणमपकर्षणमिति चलनाख्यस्य कर्मणः द्वौ विभागौ प्रमुखौ । संयोग अग्रनां वियोगश्च । संयोगाद्वियोगाच्च क्रमात् समुत्पत्तिर्विनाशश्च तदार्थानां भवेदिति वर्णितपूर्वम् । (४४-४५)

अवकाशस्वरूपं स्यादाकाशं भूतपंचके ।

पृथिव्याधाररूपा स्याद्वायुःसर्वक्रियाकरः ॥ ४६ ॥

आपस्तेजश्चेति भूतद्वयं कर्मविशेषकृत् ।

पंचभूतांशसंयोगोद्भवाः स्निग्धादयो गुणाः ॥ ४७ ॥

स्निग्धादिगुणसंघातः श्लेष्मा संश्लेषकर्मकृत् ।

उष्णादिगुणसंघातः पाचकं पित्तमीरितम् ॥ ४८ ॥

रौक्ष्यादिगुणसंघातरूपो वायुर्वियोजकः ।

श्लेष्मपित्तानिलाश्चैवं गुणसंघातरूपिणः ॥ ४९ ॥

अर्थात् वायुके अप्संयुक्त होनेसेही वायु संयोजक व शीत बनता है । अतः शरीरगत वायु केवल वायु नहीं है अपितु अप्संयुक्त है और यह ध्यानमें रखकरही आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें वायुका शीतत्व बतलाया है । ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

प्रत्येक कार्यरूप पदार्थका कारण चैतन्यही है । चरकने कहा है “अकेले चेतनाधातुकोही पुरुषसंज्ञा दी गयी है । आत्मा चेतनावान् होनेके कारण उसको कर्ता बतलाया है ।” यह चैतन्य कर्मद्रव्यमें याने पंचभूतविकारसमुदायात्मक द्रव्यमें आश्रित रहता है । वास्तवमें यह कर्मद्रव्य पृथ्वी, अप्, तेज व वायु इन चारभूतोंके विकारोंसेही बनता है । आकाश नित्य होनेके कारण उसका कर्मद्रव्यमें समावेश नहीं हो सकता । इन चारमेंभी पृथिवीही अधिष्ठानरूपिणी है । अष्टांगहृदयमें कहा है “पृथिवीके अधिष्ठानपरही पदार्थकी सृष्टि होती है ।” और पृथिवी अन्यद्रव्योंकी अपेक्षा स्थूलद्रव्यरूपिणी है इसलिये पार्थिवद्रव्योंमेंभी स्थूलत्व उपज होता है । “ पार्थिव द्रव्य गुरु, स्थूल, स्थिर व गंधगुणोद्भवन

भूतपंचके पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्ये । अवकाशस्वरूपं स्थूलसूक्ष्माणुरहित-
प्रदेशरूपम् । सर्वक्रियाकर इति चलनस्वरूपं सर्वं कर्म करोतीत्येवंविधः । कर्मविशेषकृत्
आकुचनप्रसरणरूपचलनविशेषकृत् । पंचभूतांशसंयोगोद्भवा इति पंचभूतविकाराणां भिन्ना-
शानां समुदायादुद्भव उत्पत्तिर्येषामेवंविधाः । स्निग्धादिगुणसंघातः पूर्वोक्तो दशगुणसमुदायः ।
उष्णादिगुणसंघातो रौक्ष्यादिगुणसंघातश्च पूर्वमुपवर्णितः । एवं श्लेष्मपित्ता-
निलाः आयुर्वेदोपवर्णितास्तयो दोषा गुणसंघातरूपिणः स्निग्धादिगुणसमुदायस्वरूपाः ।
इति दोषाणां गुणसमुदायत्वदर्शनं नाम दशमं दर्शनम् ॥ (४६-४९)

इति दशमं दर्शनम्



है । ” इत्यादि शास्त्र वचनोंमें भी पार्थिव द्रव्योंका स्थूलत्वही निर्दिष्ट किया गया है । वायु—जो प्रधान कार्यकर्ता है—पृथिव्यादिकोंकी अपेक्षा सूक्ष्मद्रव्यरूप है और वही शारीर क्रियाओंका प्रमुख प्रवर्तक है । चरकने कहाही है—“ वायुही तंत्रयंत्रधर व सर्व भिन्न प्रकार चेष्टाओंका प्रवर्तक है । ” भूतचतुष्टयमें पृथिवी स्थिर और वायु चल इस प्रकार वे परस्पर विरुद्ध हैं । स्थूल सृष्टपदार्थोंका आकार पृथ्वीके कारण बनता है और उनमें क्रियाशीलता वायुके कारण उत्पन्न होती है । कर्मका चलनात्मक कहनेमें द्रव्य व गुणोंसे उसका पृथक् स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है । ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

चलनात्मक कर्मके दो प्रमुख भेद बतलाये हैं—एक आकर्षण कर्म व दूसरा अपकर्षण कर्म । अणुओंके आकर्षणसे संयोग और अपकर्षणसे वियोग होता है । संयोग व वियोगके कारण अनुक्रमसे पदार्थोंकी उत्पत्ति व विनाश हुआ करता है । ४४ ॥ ४५ ॥

भूतपंचकमें आकाश अवकाशस्वरूप याने स्थूलसूक्ष्माणुरहित प्रदेशरूप

है। पृथिवी आधाररूपिणी है। वायु सर्वक्रियाकर है। अप् व तेज ये दो आकुंचन व प्रसरणके रूपमें विशिष्ट कर्मोंके कर्ता हैं। पंचभूतविकारोंके भिन्न २ अंशोंके संयोगसे स्निग्धादि गुणोंकी उत्पत्ति होती है। पूर्वोक्त स्निग्धादि दस गुणोंके समुदायकोही संयोगकारी श्लेष्मा कहते हैं। तथा उष्णादि गुणोंके समुदायको पचनकार्यकारी पित्त कहते हैं। और रूक्षादि गुणोंके समुदायको वायु कहते हैं जो वियोजनकार्य करता है। इसप्रकार कफ, पित्त व वायु गुणसंघातरूप हैं। ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

दोषोंका गुणसमुदायत्वदर्शन नामक दशम दर्शन समाप्त।

एकादशं दर्शनम्

(दोषाणां सामर्थ्यविशेषदर्शनम्)

सृष्टिः पंचमहाभूतविकारजनिताऽखिला ।

तस्याः पंचमहाभूतान्युपादानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥

दोषाणां गुणसमुदायस्वरूपमभिधाय दोषधातुसम्बन्धं विशदीकर्तुमुच्यते सृष्टिरित्यादि । पंचभूतविकारसमुदायोद्भवत्वात्सृष्टेः पंचभूतान्युपादानमिति प्रागभिहितम् । वक्ष्यमाणोपन्यासरूपेणोक्तं पुनरिति पौनःपुन्यदोषोऽत्र न वाच्यः । (१)

भिन्नप्रमाणावस्थानाः संहताः परमाणवः ।

भूम्यादीनां भिन्नरूपाः पदार्थाः संभवन्ति हि ॥ २ ॥

भिन्नप्रमाणावस्थाना इति परस्परं विभिन्नप्रमाणेन अवस्थानं स्थितिर्येषामेवंविधाः । भूम्यादीनामिति पृथिव्यप्तेजोवायूनां चतुर्णां महाभूतानाम् । नित्यत्वादाकाशस्य भौमाद्याश्चतुर्विधा एव परमाणवः इति । संहताः एकीभावमागताः । भिन्नरूपाः जरायुजांडजादिविविधस्वरूपाः । पदार्थाः सृष्टवस्तूनि यावत् । सम्भवन्ति प्रादुर्भवन्ति । (२)

भवन्ति पंचभूतानि जडान्येव स्वभावतः

एकादश दर्शन

(दोषोंका सामर्थ्यविशेषदर्शन)

गत प्रकरणमें दोषोंके गुणसमुदायस्वरूपका निरूपण करनेके बाद अब दोष व धातुओंका संबंध विशद करते हैं । कारण यह समस्त सृष्टि पंचमहाभूतविकारसमुदायोद्भव है । उसके उपादान (मूल घटक) भी पंचमहाभूतही हैं । १ ॥

पृथिवी, अप्, तेज व वायुके परमाणु (आकाश नित्य होनेसे उसके परमाणुओंका ग्रहण नहीं किया जाता) जब संहत होते हैं—(रसनके अनुसार) एकीभावको प्राप्त करते हैं; उनसे भिन्नरूपके जरायुज, अंडज, खेदज आदि नानाविध प्राणिओंका—पदार्थोंका प्रादुर्भाव होता है । २ ॥

पंचभूत स्वभावतः जड हैं । उनमें कार्योत्पादनका सामर्थ्य नहीं रहता । चरकसंहितामें कहा है “ केवल पंचभूतावशिष्ट चेतनारहित शरीर शून्यगृहके समान होता है । ” कारण वास्तवमें चैतन्यही विकारकारी याने विविध

विकारकारी चैतन्यस्यांशस्तेष्ववतिष्ठते ॥ ३ ॥

भवन्तीत्यादि । जडान्येव पंचभूतानि । पंचभूतानां कार्योंत्पादने सामर्थ्यं नास्तीति । यथोक्तं चरकसंहितायाम्—शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनं । पंचभूतावशेषत्वात् पंचत्वं गतमुच्यते । इति । **विकारकारीति** विशिष्टाकारो विकारः । विविधानि कार्यरूपाणीत्यर्थः । **चैतन्यस्यांशः** शरीररूपे पंचभूतांशसमुदाये अवस्थितः सोपाधिकत्वात् । न विभुरुपाधिरहित इति । चैतन्यमेव सर्वक्रियाणामादिकारणम् । चरकणोक्तं “चेतनावात् यतस्वात्मा ततः कर्ता निरुच्यते । अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ” इति । (३)

चैतन्यमनुमानेन विज्ञेयं स्यादगोचरम् ।

अधिष्ठितश्चेतनांशो भूतेष्वखिलकर्मकृत् ॥ ४ ॥

चैतन्यमिति चेतनाधातुः । **विज्ञेयम् । अगोचरमिति** दर्शनश्रवणादीनामिन्द्रियाणां प्रत्यक्षं न भवेदेवम् । यथोक्तं चरकसंहितायाम् भूतेतरकर्तुरनुमानमभिप्रेत्य—कृतं मृदंडचक्रैश्च कुम्भकारादृते घटम् । कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद्विना गृहम् । यो वदेत्स वदेदेहं संभूय करणैः कृतम् । विना कर्तारमज्ञानात् युक्त्यागमवहिकृतः । (४)

स्थूलत्वं भूतसंघाते पृथिव्यामधिकं भवेत्

ऊनं क्रमाद्व्युतेजःसमीरेषूत्तरोत्तरम् ॥ ५ ॥

आकृतिओंके पदार्थोंका उत्पादक है । यहांपर विकारका अर्थ है विशिष्ट आकार । चैतन्यकाही अंश उनमें याने पंचभूतोंके समुदायमें सोपाधिक होकर रहता है । विभु द्रव्यभी निरुपाधिक नहीं होता । अर्थात् सर्व सृष्टीका आदिकारण आत्मा है । चरकने कहा है—“आत्मा चेतनावान् है अतः वही कर्ता है । मन अचेतन होनेके कारण उसको कर्ता नहीं कहा जाता । ३ ॥

चैतन्य, दर्शन-श्रवणादि इंद्रियोंका अगोचर-याने प्रत्यक्ष न होनेके कारण उसको अनुमानसेही जानना पड़ता है । चरकसंहितामें पंचभूतोंके अतिरिक्त जो कर्ता [चैतन्य] है उसके अनुमान गमम्यताके अभिप्रायसे कहा है “ जो कहेगा कि विना कुम्भकारके केवल मृत्तिका, दंड व चक्रनेही घट बनाया है अथवा विना शिल्पकारके केवल मृत्तिका, तृण व काष्ठोंनेही घर बनाया है वही मूर्खतासे शास्त्रके विरुद्ध जाकर कह सकेगा कि शरीरभी केवल पंचभूतोंनेही विना कर्ता [चेतना] के बनाया है ” सारांश कार्यकर्ता चेतनांश निखिल भूतोंमें अधिष्ठित है । ४ ॥

स्थूलत्वं न तथाकाशे न तस्मिन् विकृतिर्भवेत् ।

अवकाशस्वरूपं तदेकं नित्यं विभु स्मृतम् ॥ ६ ॥

स्थूलत्वमिति पृथिव्यामितरभूतापेक्षया स्थूलत्वम् । ऊनं क्रमादिति सर्वेषां पृथ्वी
स्थूला सूक्ष्मश्च वायुः । नित्यत्वादाकाशे स्थूलतायास्तथा विकृतिश्चाभाव इति (५-६)

पंचभूतेष्वधिष्ठानं चैतनस्य समीरणे ।

आधिक्येन क्रमादूनं तेजस्यप्सु तथा भुवि ॥ ७ ॥

चैतनस्येति चेतनायाः । समीरणे वायौ । तच्च क्रमात् तेजसि अप्सु भुवि च ऊनं
ऊनप्रमाणम् । विशेषेण चेतनाश्रितत्वादेव चरकसंहितायाम् “ विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वगः सर्वत-
त्राणां विधाता विभुर्विष्णुर्वायुरेव भगवानिति ” वायोः स्वरूपमाख्यातम् । (७)

द्रव्यं सचेतनं चेति चेतनाधिकमुच्यते ।

यदल्पचेतनं द्रव्यमुच्यते तद्व्यचेतनम् ॥ ८ ॥

न्यूनाधिकत्वेन सर्वं द्रव्ये चैतन्यसंस्थितिः ।

शास्त्रेषु व्यवहारार्थमेवं संज्ञाविनिश्चयः ॥ ९ ॥

सचेतनमिति चेतनायुतम् । चेतनाधिकं अधिकप्रमाणेन चेतना यस्मिन्निति ।
अल्पचेतनं अचेतनमुच्यते । न्यूनाधिकत्वेनेति मानभेदेन । सर्वद्रव्ये चैतन्यसंस्थितिः चेत-

पंचभूतोंमें स्थूलत्वकी सबसे अधिक मात्रा पृथिवीमें है । उससे कम अपूर्णमें,
उससे कम तेजमें व सबसे कम वायुमें । अर्थात् वह सूक्ष्म है । आकाशमें स्थूलत्वका
पूर्णतया अभाव होता है और उसकी कोई विकृतिभी नहीं होती । कारण पंच-
भूतोंमें अकेला आकाशही केवल अवकाशरूप विभु व नित्य है । ५ ॥ ६ ॥

पंचभूतोंमेंसे वायुमें चैतन्यका अधिष्ठान सबसे अधिक प्रमाणमें रहता है ।
वायुसँ कम तेजमें, तेजसे कम अपूर्णमें और सबसे कम पृथिवीमें । वायुके इसप्रकार
विशेष चेतनाश्रित होनेके कारणही चैतन्यने वायुका स्वरूप वर्णन करते समय
कहा है “ वायु विश्वकर्मा है । वही विश्वरूप व सर्वत्र संचार करनेवाला, सर्व
तंत्रोंका विधाना है । वही विभु विष्णु भगवान् है । ७ ॥

जिस द्रव्यमें चेतनाधिक्य रहता है उसीको सचेतन कहते हैं । जिसमें
चेतनाकी अल्पमात्रा रहती है उस द्रव्यको अचेतन द्रव्य कहते हैं । वास्तवमें
सभी द्रव्योंमें कम अधिक प्रमाणमें चेतनाका निवास रहता है । किंतु व्यवहार-
सुलभताके लियेही शास्त्रोंमें उक्त प्रकारसे ‘ सचेतन द्रव्य ’ ‘ अचेतन द्रव्य ’ इन

नावासः । संज्ञाविनिश्चय इति व्यवहारसौकर्यार्थं सचेतनमचेतनमिति नामनिर्धारणम् । यथोक्तं चक्रपाणिना—यद्यपि चात्मैव चेतनो न शरीरं नाऽपि मनः सलिलोष्ण्यवत्संयुक्तसमवायेन शरीरा-
पि चेतनम् । इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदिन्द्रिययोगे सति ज्ञानशालित्वम् । सेंद्रियत्वेन वृक्षादीना-
मपि चेतनत्वं बोद्धव्यमिति (८-९)

येन सृष्टपदार्थानां कर्माणि विविधानि वै ।

प्रवर्तन्ते चेतनांशस्तत्सामर्थ्यमितीरितम् ॥ १० ॥

येनेति चेतनेन । सृष्टपदार्थानां पंचभूतविकारसमुदायत्वेनाविर्भूतानाम् ।
विविधानि उत्पत्तिविनाशवृद्धिक्षयादीनि । सामर्थ्यमिति कर्मसंपादनशक्तिः । सर्वमपि कार्य-
जातं तत्तत्कार्यसंपादनानुकूलसामर्थ्यचैतन्यात् द्रव्यसमाश्रितान् जायत इति । (१०)

विभागश्चाल्पसामर्थ्यः पदार्थान्तरगोचरः ।

संकेतार्थानुसारेण तत् द्रव्यमिति भण्यते ॥ ११ ॥

अल्पसामर्थ्य इति विशिष्टकर्मसंपादनासमर्थः । पदार्थान्तरगोचर इति सृष्टप-
दार्थ एवावुभूयमानः । संकेतार्थानुसारेणेति व्यवहारार्थं अस्मात् शब्दान् अयमर्थो बोद्धव्य इति-
विनिर्धारितार्थानुसारेण । द्रव्यमिति द्रव्यसंज्ञया । द्रव्यस्याऽखिलस्य गुणकर्माधारत्वेऽपि सृष्ट-
पदार्थेषु विशिष्टक्रियासामर्थ्यसंपन्नोऽंशः शक्तिसंज्ञया तद्वान्सामर्थ्यश्च द्रव्यसंज्ञया व्याख्येय
इति संकेतः (११)

संज्ञाओंका प्रयोग किया जाता है । चक्रपाणिनेभी कहा है “ यद्यपि केवल
आत्माही चेतन है और न शरीर चेतन है न मन, चेतनासमवायके कारण शरी-
रादिकोभी चेतन कहा जाता है । जैसे उष्णतासंयुक्त जलकोभी उष्ण कहा जाता
है । इंद्रियसंयोग होनेपर जो ज्ञान होता है वही आत्माका चेतनत्व है । वृक्षादि-
कोभी वे सेंद्रिय होनेके कारण चेतनही कहना चाहिये । ८ ॥ ९ ॥

जिससे पंचभूतविकारसमुदायात्मक पदार्थोंमें उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय, विनाश
आदि अनेकविध क्रियायें हुआ करती हैं और जो चेतनांशकी प्रवृत्ति है उसको
सामर्थ्य कहते हैं । सामर्थ्यका अर्थ है कर्मसंपादनशक्ति । कारण प्रत्येक कर्म
उसके संपादनके अनुकूल सामर्थ्यसे द्रव्याश्रित चैतन्यसेही होता है । १० ॥

अन्यान्य सृष्ट पदार्थोंमें जो अल्पसामर्थ्यका विभाग रहता है याने जो
विशिष्ट कर्मसंपादनमें असमर्थ रहता है उसीको व्यवहारसौलभ्यार्थ ‘द्रव्य’
यह सांकेतिक संज्ञा दी गयी है । प्रत्येक द्रव्यमें गुण व कर्म अधिष्ठित रहते हैं ।
किंतु सृष्टपदार्थांतर्गत जो विभाग या अंश विशिष्ट क्रियासामर्थ्यसंपन्न रहता

पदार्थमात्रमेवं स्याच्छक्तिद्रव्यमिति द्विधा ।

शक्तिरूपः पदार्थस्य सामर्थ्योत्कर्षसंयुतः ॥ १२ ॥

विभागः शक्तिनाम्नाऽसावितरः शक्तिहीनकः ।

विभागो द्रव्यनाम्नाऽसौ पदार्थस्य निगद्यते ॥ १३ ॥

उक्तार्थं विशदीकुर्वन्नाह । पदार्थमात्रमिति सृष्टवस्तुजातमखिलम् । शक्तिद्रव्य-
मिति द्विधा द्विप्रकारेण विभज्यते । शक्तिरूपः सामर्थ्योत्कर्षसंयुतः इति ।
शक्तिद्रव्ययोर्मित्यसंबंधान् केवलं शक्तिरूपः अपि तु शक्त्युत्कर्षसंयुतः इति । विभाग इति
सृष्टपदार्थस्य । शक्तिनाम्ना शक्तिरिति संज्ञया । शक्तिहीनकः स्वल्पसामर्थ्यः द्रव्यनाम्ना
द्रव्यमिति संज्ञया । निगद्यते । शक्तिद्रव्यमिति शब्दान्यां क्रमेण सामर्थ्योत्कर्षसंयुतः हीनसामर्थ्यश्च
पदार्थान्तर्गतोऽशश्चाख्यायत इति । (१२-१३)

देहोऽपि मानुषश्चैवं शक्तिद्रव्यविभेदतः ।

द्विधा विभज्यते द्रव्यं रसाद्याः सप्त धातवः ॥ १४ ॥

शक्तिस्त्रिरूपा दोषास्ते वातपित्तकफास्त्रयः ।

देह इत्यादि । एवमुक्तप्रकारेण पदार्थमात्रस्य शक्तिद्रव्यविभेदानुसारं मानुषो देहोऽपि-
शक्तिद्रव्यविभेदतः द्विधा द्विप्रकारः । तत्र रसाद्याः रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुका-

है उसको 'शक्ति' कहना चाहिये और जो विभाग या अंश हीनसामर्थ्यका होगा उसको 'द्रव्य' कहना चाहिये यही संकेत है । ११ ॥

इसप्रकार प्रत्येक पदार्थके दो विभाग होते हैं—एक शक्ति व दूसरा द्रव्य । पदार्थका शक्तिरूप विभाग वह कहा जाता है जिसमें सामर्थ्यका अतिशय प्रमाण रहता है और उसको शक्ति नामसेही जानते हैं । जो विभाग शक्तिहीन होता है उसको द्रव्य कहा जाता है । यहाँपर पुनश्च ध्यानमें रखना चाहिये कि, शक्ति व द्रव्य इनका नित्य संबंध होनेके कारण अकेली शक्ति अथवा अकेला द्रव्य कहींभी मिल नहीं सकता । अर्थात् द्रव्यकाही वह अंश जिसमें शक्तिका उत्कर्ष रहता है शक्ति संज्ञासे जाना जाता है और जिस अंशमें शक्तिका प्रमाण अल्प रहता है, द्रव्य संज्ञासे जाना जाता है । १२ ॥ १३ ॥

मानुषका देहभी शक्तिद्रव्यभेदके अनुसार दो प्रकारका होता है । उसमें रसादि सप्त धातुओंको द्रव्य और वात, पित्त, कफ इन तीन दोषोंको शक्ति कहा जाता है । यह द्रव्याश्रित दोषस्वरूप शक्ति तीन प्रकारकी होती है—

णीति सप्त धातवः द्रव्यम् । त्रिरूपा पोषणपचनोत्सर्जनरूपा संयोगविभागवियोगरूपा वा शक्तिः ।
त्रयो दोषाः वातपित्तकफाख्याः । (१४॥)

स्थूलद्रव्यस्वरूपेण विशिष्टाकारधारणात् ॥ १५ ॥

संकीर्तिताः शरीरस्य रसाद्याः सप्त धातवः ।

उत्पत्तिश्च तथा वृद्धिर्विकासोत्क्रान्तिरेव च ॥ १६ ॥

रसादीनां प्रवर्तन्ते धातूनां निखिलाः क्रियाः ।

सामर्थ्यानन्तर्निविष्टसूक्ष्मभागाश्रितेन वै ॥ १७ ॥

रसादीनामेव धातुत्वमिति निदर्शनार्थमुच्यते । स्थूलद्रव्यस्वरूपेणेति घनद्रव्य-
स्वरूपेण । विशिष्टाकारधारणात् शरीरस्य हस्तपादाद्यवयवानां च विशिष्टाकृत्या धारणान् ।
रसाद्या धातवः इति । रसादीनां धातुत्वप्रदर्शनार्थमन्यदपि कारणम् । उत्पत्तिरिति प्रादु-
र्भावः । वृद्धिः परिणहविस्तारादिभिरभिवृद्धिः । विकास इति नवीनावयवोत्पादनेनाभिवृद्धिः ।
उत्क्रान्तिरवस्थान्तरगमनम् । निखिलाः क्रियाः उत्पत्त्यादयः । रसादीनां धातूना-
मिति त एव धातवः । अन्तर्निविष्टसूक्ष्मभागाश्रितेन सूक्ष्मभागेषु आश्रितेन सामर्थ्येन
क्रियाः प्रवर्तते । विशिष्टाकारधारणा अपि धातवः स्वीयोत्पत्तिवृद्ध्यादिकं कर्म संपादयितुं नाश्लं
भवन्तीति । (१५-१७)

१ पोषक २ पाचक ३ उत्सर्जक अथवा १ संयोजक २ विभाजक
३ वियोजक । शक्तिके इन प्रकारोंकोही अनुक्रमसे श्लेष्मा, पित्त व वात कहा
गया है । १४ ॥

रसरक्तमासादि स्थूलद्रव्यरूपके होनेके कारण हात, पैर आदि अव-
यवोंके रूपमें विशिष्ट आकारको धारण करते हैं, अतः धातु कहलाये जाते हैं ।
यद्यपि धातुओंके अन्तर्निविष्ट सूक्ष्मांशोंमें आश्रित सामर्थ्यसेही सब क्रियायें होती
हैं, उत्पत्ति याने प्रादुर्भाव, वृद्धि याने आकाररूपमें अभिवृद्धि, विकास याने
नवीन अवयवोत्पादनद्वारा अभिवृद्धि और उत्क्रान्ति याने अवस्थान्तर ये सब क्रियायें
धातुओंकीही होनेके कारण रसादि सात पदार्थोंकोही धातु कहा गया है । इस
प्रकार रसादि विशिष्टाकारधारक व विशिष्ट क्रियाधारक होनेके कारण वेही धातु-
संज्ञाको पात्र है । १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

अब धातुओंकी उत्पत्ति, वृद्धि आदि क्रियाओंको करनेवाला सामर्थ्य
रसादि धातुओंसे भिन्न किस प्रकार है यह दर्शाते हैं ।

बाह्याऽहारेण पुष्पन्ति रसाद्या अपि धातवः ।
 सामर्थ्यहीना जायन्ते तदाऽहारो हि निष्फलः ॥ १८ ॥
 बाल्ये वयसि संवृद्धिकरो यः संप्रवर्तते ।
 स एव यूनामाहारः शरीरस्थितिकारणम् ॥ १९ ॥
 स एव च जराजर्जरितांगानां न वर्धनः ।
 स्वभावतो ये हीनांगा विकृतांगाश्च मानवाः ॥ २० ॥
 तेषां शरीरवैगुण्यमाहारान्न विनश्यति ।
 आहारेण समानेन पोष्यमाणा हि जन्तवः ॥ २१ ॥
 भिन्नस्वरूपा वर्धन्ते नराश्वमहिषादयः ।
 रसः पुरुषदेहे यः शुक्रत्वमुपगच्छति ॥ २२ ॥
 स एव योषितां देहे स्तन्यार्तवकरो भवेत् ।
 एतदालोच्य शरीरधातुष्वन्तरवस्थितम् ॥ २३ ॥
 सामर्थ्यं विद्यते धातुभिन्नमित्यवधार्यते ।

उदाहरणान्तरैः रसादिधातुभिन्नं धातुत्पत्तिवृद्ध्यादिकरं सामर्थ्यं निदर्शयन्नाह ।
 बाह्याहारेणेति । अन्नपानादिना षड्रसेन आहारेण । पुष्पन्ति वृद्धिमायान्ति । अपि तु

रसादि सप्त धातु बाह्य आहारसे सामान्यतया पुष्ट होते हैं । किंतु वेही जब किसी व्याधि आदिके कारण सामर्थ्यहीन हो जाते हैं तब बाह्य आहारको प्राप्त करते हुएभी वे पुष्ट नहीं होते—आहार निष्फल हो जाता है । दृश्य स्वरूपमें होते हुएभी निष्क्रियताके कारण पंचत्वको प्राप्त [मृत शरीरके] धातुविशेष षड्संयुक्त आहारसेभी पुष्ट नहीं होते । अर्थात् इससे स्पष्ट है कि, दृश्यद्रव्यविकारस्वरूप धातुओंसे सामर्थ्य पृथक् है । एवं जो आहार बाल्यवयसे याने सोलह वर्षतककी अवस्थामें—जब धातुओंका संपूर्ण विकास अभी होनेका रहता है—संवृद्धिकर होता है याने परिणाहादि द्वारा शरीरके अवयवोंकी वृद्धि करनेमें कारण होता है, वही तारुण्यमें—जब संपूर्णधातुत्व शरीरको प्राप्त हो चुका है—शरीरकी स्थिति कायम रखनेमें कारण होता है याने प्रतिनियत प्रमाणमें शरीरांगोंको अवास्थित रखता है । किंतु स्थविर—अवस्थामें, जब मात्र जराजर्जरित हो जाते हैं, वही आहार कायम होकरभी धातु क्षीण होने लगते हैं । स्थविरावस्थामें पौष्टिक आहार ग्रहण करनेपरभी शरीरांगोंकी शिथिलता अपरिहार्य है । न तारुण्य कायम रह सकता है ।

सामर्थ्यहीनाः व्याधिना केनचित् अन्यतरो धातुर्हीनसामर्थ्यो जायते तदा षड्रसेन पोषकां-
शसमायुक्तेनाप्याहारेण न तस्याभिवर्धनं भवति । दृश्यस्वरूपेण विद्यमानानामपि निष्क्रियाणां पंच-
त्वमुपगतानां धातूनामाहारेणाभिवृद्धिर्न जायते । अतो दृश्यद्रव्यविकारस्वरूपेभ्यो धातुभ्यः सामर्थ्यं
भिन्नमिति । अन्यच्च बाल्य इति 'वयस्त्वाषोडशाब्दालम्' इति निर्दिष्टे असंपूर्णधातुत्वेनोपल-
क्षिते वयसि । **संवृद्धिकरः** परिणाहादिना शरीरावयवानामभिवृद्धिकरः आहारः । **यूनां** संपूर्ण-
धातुत्वेनोपलक्षितानां **शरीरस्थितिकारणम्** प्रतिनियतप्रमाणस्य शरीरस्य स्थितिकारणं स्थिति-
हेतुः नाभिवृद्धिकरः । **जराजर्जरितांगानामिति** क्षीयमाणधातूनां स्थविराणाम् । **स एव**
आहारः न वर्धनः न वृद्धिकरः । सन्तर्पणाहारोपयोगेऽपि स्थविराणां धातुक्षीणत्वमपरिहार्यम् ।
तथा **स्वभावतः** निसर्गात् । **हीनांगाः** हीनावयवाः । दृश्यन्ते च केषांचिच्छरीरे नवसंख्याका
एव अंगुल्यः नृस्त्वमोष्ठस्य ओष्ठद्वयस्य वा इत्यादि । **विकृतांगा** इति स्वाभावस्थानविरु-
द्धास्वयवाः, तेषां हीनविकृतांगानां वैगुण्यमाहाराच्च विनश्यति । **आहारेण समानेन** पोष्य-
माणाः समानाहारसेविन इति । **भिन्नस्वरूपा** इति भिन्नाकृतिविशेषरूपेण वर्धन्ते । **रस इति**
रसधातुः । **पुरुषदेहे** नृशरीरे । शुक्रत्वं गर्भोत्पादनसमर्थशुक्रधातुत्वम् **योपितां** स्त्रीणां देहे स एव
स्तन्यार्तवकरो भवेदिति । समानेऽप्यभ्यवहत् आहारे स्त्रीशरीरे शुक्रोत्पत्तिर्न स्यात् न च स्तन्यार्तवं
नृशरीर इति । **आलोच्यैतत्** आहारस्य शरीरसेदात् भिन्नपरिणामत्वमवलोक्य । **अंतरवस्थितं**
धातूनामन्तर्भागावस्थितं **धातुभिन्नं** सामर्थ्यं विद्यत इति अवधार्यते निश्चीयते । विचक्षणै-
रिति वाक्यशेषः (१८-२३॥)

इसीप्रकार जो लोग जन्मतः हीनांग अथवा विकृतांग होते हैं जैसे-जन्मतः
किसीको नव अंगुलियां होती हैं या ग्यारह । अथवा किसीका ओष्ठ नृस्त्व होना
आदि । स्वाभाविक स्थितिसे एकाध अंग कम होना अथवा स्वाभाविकके विपरीत
अथवा विकृत अंग-व्यंग होना इन बातोंका आहारसे कोई संबंध नहीं रहता ।
न यह ऊनत्व अथवा व्यंग आहारके कारण न घटता है न बढ़ता । उसी प्रका-
रका याने समान आहार करनेपरभी भिन्न आकृतिके शरीर अपने मूल आकृति
विशेषके साथ बढ़ते हैं । जैसे मनुष्यकी मनुष्यरूपमें, अश्वकी अश्वरूपमें, बैलकी
बैलके रूपमेंही वृद्धि होती है । अर्थात् प्रकट है कि आकृतिविशेषका आहारसे
संबंध नहीं है । जो रसधातु पुरुषदेहमें अंतिम अवस्थामें शुक्ररूपमें परिणत
होता है और गर्भोत्पादन करता है वही रसधातु स्त्रीशरीरमें स्तन्य व आर्तवका
निर्माण करता है । पोषक आहार एकहीसा होनेपरभी उसकी परिणति पुरुष-
देहमें शुक्ररूपसे और स्त्रीदेहमें स्तन्य व आर्तवरूपमें क्यों होती है ? पुरुष
देहमें आर्तव व स्तन्य व स्त्रीदेहमें शुक्रका निर्माण क्यों नहीं होता ? इन सब

दृश्यधातुगतत्वेऽपि तस्यादृश्यत्वमेव च ॥ २४ ॥

रसादीनां तु धातूनां भागः सूक्ष्मतमो हि यः ।

तदाश्रितं हि सामर्थ्यं सामर्थ्यमिति भण्यते ॥ २५ ॥

दृश्यधातुगतत्व इति । सामर्थ्याश्रयाणां धातूनां दृश्यत्वेऽपि तस्य सामर्थ्यस्य अदृश्यत्वं दर्शनेनाप्रत्यक्षत्वम् । भागः सूक्ष्मतम इति अणुस्वरूपोऽशः । तदाश्रितं इति सूक्ष्म-
भागाश्रितं सामर्थ्यं भण्यते । (२४-२५)

रसादयः सप्त दृश्यस्वरूपा धातवश्च ये ।

वृद्धिं न्हासं तथोत्क्रान्तिविकासावाप्नुवन्ति ते ॥ २६ ॥

वृद्ध्यादिकं तु धातूनां कर्मान्तर्वर्तिना भवेत् ।

सामर्थ्येन न तस्य स्यात् वृद्धिः स्थित्यन्तराणि वा ॥ २७ ॥

रसादय इत्यादि । रसादयो धातवः वृद्ध्यादिकमाप्नुवन्ति । तथेन सामर्थ्येन भवेत् तस्य वृद्धिः स्थित्यन्तराणि न भवन्ति । सामर्थ्यरूपाणां गुणसमुदायस्वरूपाणां धातूनां वृद्धिक्षया-
वृपदिष्टौ । यथा—क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः । इति चरकसंहितायाम् । 'यथा-
बलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते । रूपाणि जहति क्षीणाः । इत्याद्यांगहृदये । क्षीणा वर्धयितव्याः
वृद्धा न्हासयितव्याः इति च चरकसंहितायाम् । आहारविहारादिभिर्वातादीनां दोषाणां क्षीण-

वातोंको देखते हुए निश्चय होता है कि धातुओंके अंदरही स्वयं धातुओंसे भिन्न
ऐसा कोई अंश रहता है कि जिसको सामर्थ्य कहना चाहिये । १८-२३ ॥

सामर्थ्य जिन धातुओंके आश्रयसे रहता है वे दृश्य होनेपरभी स्वयं सामर्थ्य
अदृश्यही रहता है । कारण रसादि धातुओंका जो अति सूक्ष्म अणुस्वरूप भाग
उसके आश्रयसेही सामर्थ्य रहता है । इसलिये इस सूक्ष्म भागकोही सामर्थ्य कहा
जाता है । २४ ॥ २५ ॥

जो दृश्यस्वरूपके रसादि सात धातु है वेही वृद्धि न्हास, उत्क्रान्ति, विकास
आदि अवस्थाओंका अनुभव करते हैं । और वृद्धिक्षयादि ये प्रक्रियायें धातुओंके
अंतर्वर्ती उक्त सामर्थ्यसे हुआ करती हैं । किंतु स्वयं सामर्थ्यकी वृद्धि अथवा कोई
स्थित्यंतर नहीं हुआ करते । सामर्थ्यरूप याने गुणसमुदायस्वरूप धातुओंके वृद्धिक्षयादिके
संबंधमें चरकनेभी कहा है “दोषोंकी त्रिविध गति होती है १ क्षय २ स्थान (समत्व)
३ वृद्धि । ” “क्षीणदोषोंको बढ़ाना चाहिये और वृद्ध दोषोंको घटाना चाहिये । ”
अष्टांगहृदयमें कहा है “ अपने २ बल व स्थितिके अनुसार दोष वृद्ध होनेपर है

वृद्धत्वं नाम प्रमाणेनाभिवृद्धिरूपक्षयो वा । न चैतेषु गुणस्वरूपेषु आकृतिमदवयवस्वरूपेण वृद्धि-
क्षयत्वम् । न च वा उत्क्रान्तिरवस्थान्तरं नाम । मांसास्थिवद्रसरक्तादीनां अवस्थितत्वाभावेऽपि स्रो-
रक्तत्वेन रक्तं मांसत्वेनेत्येवमवस्थान्तरम् । नैवं दोषगुणेषु । न कदाचिद्रूक्षः स्निग्धत्वेन स्निग्धश्च
रूक्षत्वेन न च वा शैत्यमौष्ण्ये औष्ण्यं च शीते विपरिणमतीति गुणरूपदोषाणां स्थित्यन्तराभावः ।
(२७)

बाल्ये सामर्थ्यमक्षीणं देहवृद्धिकरं भवेत् ।

तरुणे वयसि क्षीणं स्थितिमात्रकरं भवेत् ॥ २८ ॥

तस्मिन्संक्षीयमाणे तु वृद्धः क्षीणः क्रमाद्भवेत् ।

यदा सामर्थ्यनाशः स्याद्देहनाशस्तदा भवेत् ॥ २९ ॥

सामर्थ्यमेतद्देहस्य यदाहारादिभिः पुनः ।

न वर्धते तदा देहे जरठत्वं प्रजायते ॥ ३० ॥

वृद्धौ विकासे चोत्क्रान्तौ शरीरं च तथाऽयुषि ।

नियतं हि भवेत्तस्मात्सामर्थ्यं नियतं भवेत् ॥ ३१ ॥

बाल्य इति जन्मनः प्रमृति षोडशवर्षं यावत् । अक्षीणमिति तारुण्यायपेक्षया ।
देहवृद्धिकरं शरीरस्याभिवृद्धिकरम् “ह्रस्वाकृतिर्माणवको येन सर्वाङ्गपूर्णश्चायामादिभिरभिवर्धत इति ।

लक्षणोंको व्यक्त करते हैं । एवं क्षीण होनेपर कम करते हैं । ” आहारविहारादिके
कारण दोषोंकेभी वृद्धिक्षय होते हैं । अपने मूलप्रमाणकी अपेक्षा वे बढ़ते हैं अथवा
घटते हैं । दोष गुणस्वरूप होनेके कारण आकृतिमान अवयवोंके रूपमें इनकी वृद्धि
अथवा क्षय नहीं होता । एवं उनकी उत्क्रांति अथवा अवस्थान्तर नहीं होता । याने
कभी स्निग्ध गुणका रूपांतर रूक्षमें अथवा शीतका उष्णमें नहीं हुआ करता ।
जैसे धातुओंका एकका दूसरेमें अवस्थान्तर होता है । इसका यह अभिप्राय नहीं
है कि सामर्थ्य अपने प्रमाणसे कमी नहीं हुआ करता । २६ ॥ २७ ॥

बाल्यावस्थामें याने १६ वर्षकी अवस्थातक सामर्थ्य सापेक्षतया अक्षीण
रहता है इसलिये वह शरीरकी वृद्धि करता है । जैसे कोई छोटासा बालक १६
वर्षतक एक सर्वाङ्गपरिपूर्ण युवक बन जाता है । उसके हात, पैर, उंचाई
आदिका पूर्ण विकास होता है । तारुण्यकी अवस्थामें उसका केवल अङ्गविकास
कायम रहता है उसमें अधिक विकास, नवीन उत्पत्ति-वृद्धि होती नहीं । किंतु
स्थविर-वृद्ध अवस्थामें जब सामर्थ्य क्षीण होने लगता है तो विकसित शरीरकाभी

सामर्थ्यनाशः इति सहजस्य सामर्थ्यस्य नाशः । तदा देहनाशः एतदिति सहजं सामर्थ्यम् । आहारादिभिरुपवृंहर्णनं वर्धते तदा जरठत्वम् । समानगुणैराहारैः शरीरधातूनामभिवर्धनेऽपि सहजं सामर्थ्यमेव प्रधानम् । तदेवातुसृत्य शरीरावयवानां धीर्धैर्यादीनां चाभिवर्धनम् । तदेतत् सहजं बलमित्याख्यातम् । यथोक्तं चरक्रेण-त्रिविधं बलमिति । सहजं कालजं युक्तिकृतं च । सहजं यत् शरीरसत्त्वयोः प्राकृतं । कालकृतं क्रतुभागजम् वयःकृतं च । युक्तिकृतं पुनस्तद्व्याहारजं चेष्टायोगजम् । (२८-३१)

शरीरस्य हि सामर्थ्यं शरीराश्रितमेव च ।

शरीरं रसरक्ताद्याः पदार्थाः सप्त धातवः ॥ ३२ ॥

अतो धात्वाश्रया शक्तिः सामर्थ्यं न तु केवलम् ।

शरीरस्य इति शरीरगतं शरीरधातुष्ववस्थितम् । **शरीराश्रितमेव** । **रसरक्ताद्याः** धातवः **शरीरमिति** विविधावयवैर्विशिष्टाकृतिमत्त्वं शरीरत्वं तच्च धातुभिरेवेति शरीरं धातव इति । अन्योन्यावलंबित्वेऽपि शक्तिद्रव्याणां तत्स्वरूपावबोधार्थं पृथग्गणनम् । दृश्यस्वरूपाः सामर्थ्यस्य गुणानां वा आश्रयरूपा रसाद्या धातवो नाम द्रव्यत्ववाच्यम् । तद्वत् विंशतिगुणस्वरूपं सामर्थ्यं च इति शरीरधातूनां द्वैविध्यम् । यथोक्तं चरकसंहितायाम् । गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन इति । अनेनाभिधानेन रसाद्या धातवो द्रव्यरूपाः गुणसमृदायस्वरूपाश्च वाताद्या गुणस्वरूपा इत्यायुर्वेदीयाभिप्रायः सुस्पष्टः । (३२॥)

क्रमसे प्हास होने लगता है । और जब सामर्थ्यका पूर्णतया नाश होता है, शरीरकाभी नाश हो जाता है । शरीरका यह सामर्थ्य आहारदिद्वारा जब पुनः वर्धित नहीं हो सकता तब शरीरको जरठत्व प्राप्त होता है । शरीरकी वृद्धि, विकास व उत्क्रांति नियतप्रमाणही होती है और आयुष्यका प्रमाणभी नियतही रहता है । इसीलिये सिद्ध है कि सामर्थ्यका प्रमाणभी नियत है । यहाँपर सामर्थ्यसे अभिप्राय है सहज सामर्थ्यका । समानगुणके आहारदिद्वारा शरीरधातुओंके अभिवर्धनमेंभी सहज सामर्थ्यकाही महत्त्व है । उसके अनुसारही शरीरावयवोंकी तथा बुद्धि, धैर्य आदि गुणोंकी वृद्धि होसकती है । इस सहज सामर्थ्यकोही आयुर्वेदमें 'सहज बल' संज्ञा दी है । जैसे चरकने कहा है "बल त्रिविध है । १ सहज २ कालकृत और ३ युक्तिकृत । शरीर व सत्त्वका जो प्राकृत याने स्वाभाविक बल उसको सहज बल कहते हैं । क्रतुमानके अनुसार जो बल प्राप्त होता है उसको कालकृत बल कहते हैं । और आहार, विहार, व्यायाम आदिद्वारा जो बल मिलता है उसको युक्तिकृत बल कहते हैं । २८-३१ ॥

शक्तिर्द्रव्याश्रयाभावादवगन्तु न शक्यते ॥ ३३ ॥

अतः सूक्ष्मद्रव्यरूपं सामर्थ्यामिति कथ्यते ।

सूक्ष्मद्रव्यमिदं स्थूलद्रव्यमाश्रित्य तिष्ठति ॥ ३४ ॥

स्थूलद्रव्ये स्वसामर्थ्यात् सर्वकर्मकरं भवेत् ।

शक्तिरिति सामर्थ्यं गुणगणो वा । द्रव्याश्रयाभावादिति द्रव्यमेवाश्रयस्तद-
भावात् । सूक्ष्मद्रव्यरूपमिति सूक्ष्मद्रव्यसमवेतमिति भावः । इदमिति सामर्थ्याश्रितम् ।
सूक्ष्मद्रव्यम् । स्थूलद्रव्यं सापेक्षतया स्थूलस्वरूपं द्रव्यम् । सूक्ष्मविभागाश्रितेन स्वान्तर्निष्ठेनैव-
सामर्थ्यविशेषेण गुणविशेषेण वा स्थूलद्रव्याणां कर्माण्यमिनिवर्तन्त इति । (३३॥-३४॥)

शरीरे धातवःसप्त स्थूलद्रव्यं रसादयः ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मभागाश्रितं तेषु सामर्थ्यमवातिष्ठते ॥

स्थूलद्रव्यमिति द्रव्यत्वेन । तेष्विति रसादिधातुषु । सामर्थ्यं दोषत्रयाख्यं
स्निग्धादिविभक्तियुगरूपं वा । (३५॥)

कर्म संयोजनं चक्रं द्वितीयं तु विभाजनम् ॥ ३६ ॥

वियोजनं तृतीयं स्यादेवं कर्मत्रयं भवेत् ।

रसादीनां जीवनं तद्भातूनां परिकीर्त्यते ॥ ३७ ॥

यद्यपि शक्ति व द्रव्य अन्योन्यावलम्बी होते हैं उनका स्वरूप स्पष्टतासे
जाननेके लिये उनका पृथक् वर्णन किया गया है । शरीरस्थ सामर्थ्य शरीरकेही
आश्रयसे रहता है । रसरक्तादि धातुओंकाही शरीर बनता है । जिन विविध
अवयवोंका व विशिष्ट आकारका शरीर रहता है वे धातुओंसेही बनते हैं । अर्थात्
रसादि धातुही शरीर है । और शरीरस्थ सामर्थ्य इन रसादि धातुओंमेंही
निवास करता है । वह केवल याने अकेला नहीं रहता । सामर्थ्य या गुणोंके
आश्रयस्थान जो दृश्यस्वरूपके रसादि धातु वे द्रव्य संज्ञासे जाने जाते हैं ।
उनके अंदर विंशतिगुणस्वरूप सामर्थ्य रहता है । इसलिये इन धातुओंका
द्वैविध्य माना गया है । चरक कहता है “ गुरुसे लेकर द्रवतक गुणोंका एकभेद
और रससे शुक्रतक द्रव्योंका दूसरा भेद । ” इससे रसादि धातुओंका द्रव्यरूप
होना और वातादि दोषोंका गुणस्वरूप होना यह आयुर्वेदका अभिप्राय स्पष्ट
होता है । ३२ ॥

शक्ति याने सामर्थ्य अथवा गुणसमुदाय द्रव्यके आश्रयविना रह नहीं

शरीरधात्वाश्रितेन सामर्थ्येन कानि वा प्रमुखानि कर्माणि जायन्त इत्याह कर्मेत्यादि । संयोजनं संश्लेषणम् । विभाजनं पृथक्करणं संयुक्तानाम् । वियोजनं विश्लेषणं संयुक्तानामेवेति कर्मत्रयम् । कर्मत्रयादेतस्मादेव स्थानानुरूपाणां विविधानां कर्मणां सम्भव इति । तदिति कर्मत्रयम् रसादीनां धातूनां जीवनम् । उत्पत्तिविनाशरूपकर्मसातत्यरूपं जीवनमिति । (३६॥-३७)

कर्मत्रयानुरोधेन शक्तिभेदास्त्रयो मताः ।

कर्मभेदानुसारेण संज्ञाभेदः प्रकल्पितः ॥ ३८ ॥

कर्मत्रयानुरोधेनेति संयोजनादिकर्मत्रितयानुरोधात् । संज्ञाभेद इति कर्मकर्तृ-
णाम् । संयोजनादिकर्मभेदानुसारेण श्लेष्मादिसंज्ञाभेदः प्रकल्पित इति । (३८)

द्रव्याश्रयेणैव सामर्थ्यस्य भेदः प्रजायते ।

द्रव्याश्रितं हि सामर्थ्यं कर्मभेदप्रवर्तकम् ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मद्रव्यमतः शक्तिरूपं सामर्थ्यमुच्यते ।

द्रव्याश्रयेणैवेति । पंचभूतांशसमवायसमुद्भूतस्य द्रव्यस्य आश्रयेणैव सामर्थ्यस्य
गुणरूपस्य भेद इति वैशिष्ट्यम् । कर्मभेदप्रवर्तकमिति स्पष्टपदार्थानां भेदानुसारेण कर्म-
भेदोपादकम् । अत इति सूक्ष्मद्रव्याश्रितत्वात् सामर्थ्यस्य । शक्तिरूपं शक्त्युत्कर्षसंपन्नमिति ।
सूक्ष्मं द्रव्यमेव सामर्थ्यम् । (३९॥)

सक्ती । इसलिये द्रव्यके जिन सूक्ष्मांशोंके आश्रयसे वह रहती है उन्हीको सामर्थ्य कहा जाता है । यह शक्तिमान् सूक्ष्म द्रव्यांशभी स्थूल द्रव्यकेही आश्रयसे रहता है । और अपने सामर्थ्यसे स्थूल द्रव्यमें सब क्रियायें करता है । याने स्पष्टार्थ यह है कि, हर स्थूल द्रव्यमें जो क्रियायें होती हैं उनको करनेवाला सामर्थ्यभी उसी स्थूलद्रव्यके सूक्ष्म अंशमें रहता है । ३३ ॥ ३४ ॥

इस विवरणसे स्पष्ट है कि शरीरमें जो रसादि सात धातुओंके रूपमें स्थूल द्रव्य है उसके याने रसादि धातुओंके सूक्ष्म भागमें आश्रित होकर कफ-
पित्त-वात नामका विंशतिगुणात्मक सामर्थ्य रहता है । ३५ ॥

यह शरीरधात्वाश्रित सामर्थ्य तीन प्रकारका कर्म करता है—१ संयोजन याने संश्लेषण २ विभाजन याने संयुक्त अथवा संश्लिष्ट परमाणुओंका पृथक्करण और ३ इन विभाजित परमाणुओंका वियोजन याने विश्लेषण । कर्म के इन तीन प्रमुख भेदोंमेंही स्थानानुरूप होनेवाले विविध कर्मोंका अंतर्भाव होता है । अथवा योंभी कहा जा सकता है कि इन तीन प्रमुख कर्मोंसेही अन्यान्य स्थानीय

शरीरे जीवनद्रव्यं त्रिविधं शक्तिरूपकम् ॥ ४० ॥

करोति त्रिविधं कर्म देहे संयोजनादिकम् ।

जीवनद्रव्यामिति जीवनार्थकरं द्रव्यम् । शक्तिरूपकं पूर्वोक्तानुसारेण शक्युत्कर्ष-
सम्पन्नम् । संयोजनादिकं पूर्वोक्तं संयोजनविभाजनवियोजनाख्यं त्रिविधं कर्म करोतीति । (४०॥)

श्लेष्मा पित्तं वायुरेवं संज्ञास्तत्कर्मसूचकाः ॥ ४१ ॥

श्लेष्मा संयोजकः पित्तमाख्यातन्तु विभाजकम् ॥

वियोजको वायुरेवं संज्ञास्युरूपयोजिताः ॥ ४२ ॥

शक्युत्कर्षसम्पन्नस्य जीवनद्रव्यस्य त्रिविधस्य आयुर्वेदप्रयुक्तानि नामानि यथा—
श्लेष्मा पित्तं वायुरिति । तत्कर्मसूचकाः इति श्लेष्मादीनां कर्मसूचकाः । यथा
श्लेष्मा संयोजकः । ' श्लिप् ' आलिंगने इति धात्वर्थानुसारेण संश्लेषणान् संयोजकः
संयोजनकर्ता, श्लेष्मा इति । ' तप् ' संतापने इति धात्वर्थात् विभाजकं भेदोत्पादकं पित्तम् । ' वा '
गतिगन्धनयोरिति धात्वर्थानुसारेण वियोजको विश्लेषणकर्मकर्ता वायुश्चलत्वादिति संज्ञाः । विशिष्टा-
भिधानानि । उपयोजिताः निर्धारिताः । (४१-४२)

श्लेष्मा पित्तं वायुरेवं जीवनाख्यस्य कर्मणः ।

अन्वर्थकास्त्रयो मुख्याः कर्तारः परिकीर्तिताः । ॥ ४१ ॥

कर्मोक्ती उत्पत्ति होती है । शरीरके इन तीन कर्मोंके सातत्यकोही जीवन कहते
हैं । अर्थात् उत्पत्तिविनाशादि कर्मसातत्यही जीवन है । ३६ ॥

इन तीन कर्मोंके अनुसार शक्तिका रूपभी त्रिविध माना गया है और
कर्मभेदके अनुसार शक्तिभेदको संज्ञायें दी गयी है । जैसे संश्लेषणकर्मको करने-
वाली शक्तिको श्लेष्मा आदि । ३७ ॥

द्रव्यके याने पंचभूतविकारसमुदायोद्भव पदार्थके आश्रयसेही सामर्थ्यकेभी
भेद माने जाते हैं । और वह (सामर्थ्य) द्रव्याश्रित होकरही भिन्न क्रियाओंके
कर्ता हो सकता है । सर्व प्रकारका सामर्थ्य सर्वदा सूक्ष्मद्रव्याश्रितही रहता है,
इस शक्तिरूप याने शक्युत्कर्षसंपन्न सूक्ष्मद्रव्यकोही सामर्थ्य कहा जाता है ।
३८ ॥ ३९ ॥

इसप्रकार शरीरमें शक्युत्कर्षसंपन्न ऐसा त्रिविध जीवनद्रव्य रहता है ।
और वह शरीरमें पूर्वोक्त संयोजक, विभाजन व वियोजन नामका त्रिविध कर्म
क्रिया करता है । ४० ॥

श्लेषणात् श्लेष्मा, पचनात् पित्तं, त्रियोगात् गतिमत्त्वाद्वा वायुरित्येवं जीवनस्यैते अन्य-
र्थकाः श्लेषणादिकर्मकरत्वात् यथार्थाभिधेयाः त्रयः कर्तारः परिकीर्तिताः । इति श्लेषाणां सामर्थ्य-
विशेषदर्शनं नाम एकादशं दर्शनम् । (३४॥)

.....

इस शक्त्युत्कर्षसंपन्न जीवनद्रवकोही श्लेष्मा, पित्त व वात ये संज्ञायें हैं जो अपने २ कर्मकी सूचक हैं । जैसे ' श्लेष्मा ' इस संज्ञामें ' श्लिप् ' धातु है जिसका अर्थ आलिंगन है । इससे श्लेष्माका अलिंगन अथवा संयोजन कर्म सूचित है । ' पित्त ' संज्ञामें ' तप् ' धातु है । जिसका अर्थ संतापन याने विभाजन है । इसलिये पित्तसंज्ञासे विभाजनकर्म सूचित होता है । वायुमें ' वां, धातु है जिसका अर्थ गति अथवा गंधन है । इसलिये वायुके संज्ञासे त्रियोजन, विश्लेषण अथवा दूर लेजानेकी व चलनत्वकी क्रिया सूचित होती है । इन सूचक अर्थोंको ध्यानमें रखकरही त्रिविध कर्मकारी सामर्थ्यको श्लेष्मा, पित्त व वायु ये संज्ञायें दी गयी हैं । ४१ ॥

सारांश, श्लेषणके कारण श्लेष्मा, पचनके कारण पित्त और त्रियोजन अथवा गतिके कारण वायु ये जीवनकर्मके तीन प्रमुख कर्ता बतलाये गये हैं और उनके नामभी अन्वर्थक हैं । ४२ ॥

दोषोंका सामर्थ्यविशेषदर्शननामक एकादश दर्शन समाप्त ।

द्वादशं दर्शनम् ।

(वातादीनां दोषाभिधेयत्वदर्शनम् ।)

भवन्ति जीवनाधारास्त्रयः श्लेष्मादयो अपि ।

तेषामायुर्वेदशास्त्रे कीर्तनं दोषसंज्ञया ॥ १ ॥

श्लेष्मपित्तानिलानां सामर्थ्यविशेषमभिधाय तेषामायुर्वेदतन्त्रप्रयुक्ता दोषसंज्ञा निरूप्यते । भवन्तीति । जीवनाधारा इति संयोजनादिकर्मत्रयरूपस्य जीवनस्य आधारास्तत्कर्म-करत्वात् । आयुर्वेदशास्त्रे दोषसंज्ञया कीर्तनमभिधानम् । यथा “ वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः इत्यष्टांगहृदये । “ वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरो दोषसंग्रहः ” इति चरक-संहितायाम् । (१)

श्लेष्मादयस्तु विकृताः शरीरं दूषयन्ति हि ।

शरीरमुपकुर्वन्ति त एवाविषमाः सदा ॥ २ ॥

श्लेष्मादय इत्यादि । विकृताः शरीरं दूषयन्ति विकृतिमापादयन्ति । हि इत्यव-धारणे । त एव अविषमाः शरीरं उपकुर्वन्ति स्वाभाविककर्मकरत्वेन जीवयन्तीति । यथोक्तं—विकृताऽविकृता देहं ध्नन्ति ते वर्तयन्ति च । इत्यष्टांगहृदयसंग्रहयोः । “ य एव देहस्य समा विवृद्धौ

द्वादश दर्शनं

(वातादिओंका दोषाभिधेयत्वदर्शनं)

श्लेष्मा—पित्त—वायुके विशिष्ट सामर्थ्यका वर्णन करनेके बाद अब आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें उपयोजित उनकी संज्ञाओंके विषयमें निरूपण करते हैं ।

संयोजन विभाजन—वियोजन इन तीन जीवन स्वरूप कर्मोंके प्रधान कारण होतेहुएभी श्लेष्मादिका आयुर्वेदशास्त्रमें ‘ दोष ’ संज्ञासेही वर्णन किया गया है । जैसे अष्टांगहृदय व अष्टांगसंग्रहमें कहा है “ संक्षेपमें वायु, पित्त व कफ ये तीन दोष हैं । ” चरक संहितामें कहा है “ शरीर दोषोंकी संख्या तीन है—१ वायु २ पित्त व ३ कफ । ” १ ॥

इसमें संदेह नहीं कि श्लेष्मादि विकृत होनेपर शरीरके दूषित करते हैं । किंतु यहभी निश्चयसे कहा गया है कि वेही अविषम याने सम स्थितिमें शरीरको उपकारक होते हैं याने स्वाभाविक क्रियाओंद्वारा शरीरकी जीविका चलाते

त एव दोषा विषमा वधाय । यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ” इति चाष्टांग-
हृदये । वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवेहेतवः । तैरेवाव्यापचैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं
धार्यते आगारमिव स्थूणाभिस्तिष्ठतिरित्युक्तं च विस्थूणमाहुरेके । त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः इति
सुश्रुतसंहितायाम् । (२)

दोषसंज्ञा न चैतेषां धात्वर्थमनुसारिणी ।

शास्त्रीयव्यवहारार्थं स्वसंज्ञा इति निश्चिता ॥ ३ ॥

एतेषामिति श्लेष्मपित्तानिलानाम् । दोषसंज्ञा दोष इत्यभिधानम् । धात्वर्थमनुसा-
रिणीति दूषणादोष इति निरुक्त्यनुसारेण दूषणाख्यस्यैव कर्मणश्चाभिव्यञ्जका न स्यात् । शास्त्री-
यव्यवहारार्थं शास्त्रार्थप्रतिपत्तितोकर्थायम् । स्वसंज्ञा इति स्वीया संज्ञा स्वसंज्ञा । निश्चिता
निर्धारिता । सुश्रुतसंहितायां स्वसंज्ञाव्याख्यानं यथा—“ अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा ” यथा
मिथुनमिति मधुसर्पिषोर्ग्रहणम् । अत्र डल्हणाचार्यैर्व्याख्यातम् । अन्यानि शास्त्राणि व्याकरणादीनि
तेषु असामान्या असाधारणा तत्राननुगता स्वशास्त्रेष्वेव प्रयोजनवतीत्यर्थः । इति दोषसंज्ञया श्लेष्म-
पित्तानिलाख्य एव समविषमावस्थायामवस्थिता वातपित्तश्लेष्माणो ग्राह्याः । श्लेष्मपित्तानिलाश्च
दोषसंज्ञयैव समविषमावस्थायां व्यवहर्तव्याः यथावत्तत्त्वार्थप्रतिपत्तय इति । (३)

विसर्गादानविशेषैः सोमसूर्यानिला यथा ।

हैं । अष्टांगहृदय-संग्रहमें कहा है “ जो दोष समस्थितिमें शरीरवृद्धिको कारण
होते हैं वेही विषम होनेपर शरीरका नाश व अनेक विकार करते हैं । इसलिये
हितकर आहाराचारसे उनकी समत्वकी रक्षा करनी चाहिये । ” सुश्रुतसंहितामें
कहा है “ वात-पित्त-कफही देहोत्पत्तिके कारण हैं । वेही अविकृत अवस्थामें शरीरके
निम्न, मध्य व उर्ध्वभागमें रहकर शरीरका धारण करते हैं । जैसे कोई तीन स्तंभ
किसी घरका धारण करते हैं । इसलिये उनकोभी शरीरके तीन स्तम्भही कहते
हैं । वेही विकृत होनेपर शरीरका नाश करते हैं । २ ॥

दोषशब्दमें जो दूषणवाचक धातु है उसके अनुसार यहांपर ‘दोष’ संज्ञा-
नहीं दी गयी है । याने ‘दूषण करते हैं वे दोष’ इस निरुक्तिके अनुसार केवल
दूषणकर्मकाही कर्ता वातादींको न समझना चाहिये । अपितु यह शास्त्रीय व्यवहारके-
लिये निश्चित की गयी ‘स्वसंज्ञा’ है । स्वसंज्ञाका अर्थ है अपने शास्त्रकी निश्चित
संज्ञा । सुश्रुतने स्वसंज्ञाका अर्थ बतलाते हुए कहा है, अन्यशास्त्रोंमें उस अर्थसे
जो नहीं पायी जाती केवल स्वशास्त्रमें उपयुक्त उसको स्वसंज्ञा कहते हैं । जैसे

धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥ ४ ॥

इत्यायुर्वेदतंत्रेषु कर्मश्रेष्ठमुदीरितम् ।

दोषाणां न ततस्ते स्युः केवलं देहदूषकाः ॥ ५ ॥

विसर्गः विसर्जनम् उत्पत्तिर्धातूनामिति । आदानं पृथक्करणं पचनमिति यावत् ।
विश्लेषः उत्सर्जनं चलनमिति । सोमसूर्यानिलाः । सोमः सौम्यो धातुश्चंद्रमाः । जगद्धार-
यन्ति । तथा कफपित्तानिलाः देहं धारयन्ति । इति आयुर्वेदतंत्रेषु दोषाणां श्रेष्ठं देहधारण-
रूपमिति । कर्म उदीरितम् । विसर्गादानविश्लेषैस्त्यादिर्यं श्लोकः सुश्रुतसंहितायां पठितः ।
यथा च “दोषधातुमलमूलं हि शरीरमिति । तस्मान् केवलं ते देहदूषकाः दोषशब्दस्य
निरुक्त्यनुसारेण इति । (५-६)

श्लेष्मपित्तानिला एव भवेयुर्विषमा यदा ।

तापयन्ति शरीरं ते विकारैर्विविधात्मकैः ॥ ६ ॥

हेतुनाऽनेन संज्ञेऽयं श्लेष्मादीनां नियोजिता ।

दोषा इति शरीरस्य प्रकृतिस्थास्तु धारकः ॥ ७ ॥

श्लेष्मपित्तानिला इति । त्रय एव एते विषमाः स्वभावप्रच्युताः । तापयन्ति
क्लेशयन्ति । विविधात्मकैरिति नानाविधस्वरूपैः । हेतुना अभिप्रायेण अनेन दोषाः इति

आयुर्वेदमें ‘ मिथुन ’ संज्ञासे घृत व मधु इस जोड़ीकाही ग्रहण करना चाहिये ” ।
सुश्रुतके इस वचनपर व्याख्यान करते समय डल्हणाचार्यने कहा है “ व्याकर-
णादि अन्यशास्त्रोंमें असामान्य याने न मिलनेवाली और अपने शास्त्रमेंही जिसका
प्रयोग किया गया हो उसीको स्वसंज्ञा कहना चाहिये । ” चाहे विकृत
हो चाहे सम किंतु वात-पित्त-कफोंको दोष संज्ञासेही जानना चाहिये । आयु-
र्वेदीय ग्रंथकारोंका आशय उचित रीतीसे यदि समझ लेना हो तो सम व विषम
दोनों अवस्थाओंमें वात-पित्त-कफका ‘ दोष ’ इस एकही संज्ञासे व्यवहार
करना चाहिये । ३ ॥

विसर्ग याने विसर्जन-धातुओंकी उत्पत्ति, आदान याने पृथक्करण-पचन
और विश्लेष याने उत्सर्जन-चलन इन क्रियाओंद्वारा जिसप्रकार सोम सूर्य व वायु
जगत्का धारण करते हैं उसीप्रकार कफ, पित्त व वायु शरीरका धारण करते हैं । ”
इसप्रकार सुश्रुतसंहितानामक आयुर्वेदीय ग्रंथमें दोषोंका देहधारणरूप श्रेष्ठ कर्म
बतलाया गया है । अष्टांगसंग्रहमेंभी कहा है “ दोष-धातु-मल येही सदा

संज्ञा नियोजिता । रोगोत्पत्तिकरत्वात् श्लेष्मादीनां देहधारकत्वेऽपि दोषसंज्ञयाऽख्यानमिति । (६-७)

त्रयो वातादयः सप्त रसरक्तादयस्तथा ।

पुरीषाद्यास्त्रयः सर्वे कथिता देहधारकाः ॥ ८ ॥

वातादयो दोषसंज्ञया आख्याताः । रसरक्तादयो धातुसंज्ञया आख्याताः पुरीषाद्याः मलसंज्ञयाऽख्याताः । सर्व एव एते देहधारका इति कथिताः । यदुक्तं दोषधातुमलमूलं हि शरीरमिति । (८)

देहसंधारकः सर्वे दोषधातुमला अपि ।

धारणाख्यं कर्म तेषां नैव साधारणं भवेत् ॥ ९ ॥

देहसंधारका इत्यादि । तेषामिति दोषधातुमलानाम् । न साधारणं समानम् । दोषधातुमलानां सामान्येनाक्तमपि देहधारणं कर्म भिन्नस्वरूपम् । (९)

शक्तिरूपेण वाताद्या द्रव्यरूपेण धातवः ।

धारयन्ति पुरीषाद्याः कर्मणाऽवरणेन हि ॥ १० ॥

दोषधातुमलानां कर्मभेदनिदर्शनार्थमुच्यते । शक्तिरूपेणेति विविधक्रियाकरण-सामर्थ्यरूपेण । द्रव्यरूपेण गुणकर्माश्रयीभूतद्रव्यरूपेण । आवरणेनेति सूक्ष्माणां धात्ववयवानामाच्छादनेन । (१०)

शरीरके मूल (कारण) हैं । ” सुश्रुतनेभी पुनश्च कहा है “ शरीर दोषधातुमल-मूल है ” इसलिये दोषोंको (दोषशब्दके निरुक्तिके अनुसार) केवल देहदूषकही न समझना चाहिये । अपितु उनका देहधारकत्वभी ध्यानमें रखना चाहिये । ४ ॥ ५ ॥

श्लेष्म-पित्त वायुही विषम याने अपने स्वस्थितिसे प्रच्युत होनेपर नाना-विध स्वरूपके विकारोंद्वारा शरीरको पीडा देते हैं । अतः प्रकृतिस्थ अवस्थामें शरीरधारक होते हुएभी उनको दोष कहा गया है । ६ ॥ ७ ॥

वातादि तीन (दोष), रसरक्तादि सात (धातु) व पुरीषादि तीन (मल) ये सभी देहधारक बतलाये गये हैं । जैसे कहा है कि शरीरके मूल (कारण) दोष-धातु-मल हैं । ”

दोष धातु तथा मल सभी देहसंधारक होते हुएभी वे समान रूपसेही धारणाका कर्म नहीं करते । याने देहधारणाकाही कर्म उनमेंसे प्रत्येक भिन्न रीति-से करता है । ९ ॥

वातादयो रसाद्याश्च पुरीषाद्यास्तथैव च ।

सम्बोधितास्त्वेकयैव समया धातुसंज्ञया ॥ ११ ॥

स्वरूपभेदश्चैतेषां भेदश्च गुणकर्मणोः ।

दुर्बोधः स्यादतो भिन्नसंज्ञा निर्धारिताः खलु ॥ १२ ॥

दोषधातुमलानां सर्वेषां देहधारकत्वस्यांगीकारे भिन्नसंज्ञाप्रयोजनं विशदी कर्तुमुच्यते । एकयैवेति एकया धातुसंज्ञया एव । समया दोषधातुमलानां सामान्यया । स्वरूपभेद इति स्थूलसूक्ष्मादिरूपो वक्ष्यमाणस्वरूपो गुणकर्मणोः गुणाः द्रवत्वस्थूलत्वादयः, कर्माणि पचनी-त्सर्जनधारणादीनि । जातित्वादेकवचनं गुणः कर्म इति । दुर्बोधः स्यात् । अतो भिन्नासंज्ञाः । दोषधातुमलानां स्वरूपगुणकर्मविशेषावबोधार्थं भिन्नसंज्ञयाऽख्यानमिति । (११-१२)

शक्तिमन्तः सूक्ष्मरूपाः कर्तारः सर्वकर्मणाम् ।

मिथ्याहारविहारेण विकृता दूषयन्त्यपि ॥ १३ ॥

कफपित्तानिला देहं दोषा इत्यभिभाषिताः ।

शक्तिमन्त इति सामर्थ्यातिशयसम्बन्धाः । सूक्ष्मरूपाः धातूनां सूक्ष्मावयवैर्मन्योऽपि सूक्ष्मत्वादणुस्वरूपाः । आयुर्वेदीयतंत्रोपदिष्टानां दोषाणां क्लेदकरंजकादीनां स्थानांतरावस्थितानां द्रवद्रव्यात्मकं स्थूलत्वं दृश्यत्वं च तथा साधकालोचकादीनामनुमेयत्वं चोपलक्ष्य स्थूलत्वसूक्ष्मत्वरू-

उनका कर्मभेद इस प्रकारका है:-वातादि शक्तिरूपसे याने विविध क्रिया करनेके सामर्थ्यरूपसे, रसरक्तादि धातु द्रव्यरूपसे याने गुण व कर्मोंका आश्रय बनकर, और पुरीषादि आवरण-प्रच्छादन कर्मसे शरीरका धारण करते हैं । (आवरणसे मतलब है सूक्ष्म धातुवंशोंकाभी आवरण-आच्छादन) १० ॥

कई विद्वानोंका अभिप्राय है कि वातादि, रसादि व पुरीषादि सभी शरीरसंधारणका कार्य करते हैं इसलिये उन सबको 'धातु' इस एक सामान्य संज्ञासेही जानना उचित होगा । उनको भिन्न संज्ञाओंसे जानना अनुचित होगा । किंतु सबकोही धातु कहनेसे उनके स्वरूप, गुण एवं कर्मोंका भेद स्पष्ट न होगा । इसलिये उनका स्थूलसूक्ष्मादि स्वरूप, द्रवत्वस्थूलतादि गुण तथा पचन-उत्सर्जनादि कर्म इनके भिन्न विशेषोंका समुचित ज्ञान होनेके लिये वातादिको दोष, रसादिको धातु व पुरीषादिको मल इन संज्ञाओंसे जाननाही अवश्यक है । ११॥ १२॥

कफ, पित्त व वायु, जो धातुओंके सूक्ष्मांशोंमें रहनेके कारण उन अंशों-

पेण उभयस्वरूपा दोषा इति न वाच्यम् । प्राणादिभेदेन पञ्चधा प्रविभक्तो वायुः सूक्ष्म एवोपदिष्टः । स्थूलान्नसंचितो वस्त्यादिभिरुत्सर्जनीयो वायुर्मलसंज्ञकः अन्नमलोद्भव इति । उत्साहोच्छ्वास निःश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनादिकर्मणा चलनस्वरूपाणां कर्ता वायुः सूक्ष्म एवामिहितः । न चात्र स्थूल-सूक्ष्मभेदभिन्नत्वम् । 'तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिल इति सूक्ष्मत्वमेवास्य तत्रकृद्भिरभि-हितम् । कफपित्तयोः श्लेष्मकरंजकादिभेदानां स्थूलद्रव्याश्रयत्वमपि आश्रयभूतं स्थूलद्रव्यं न शक्तिः । अपि तु श्लेष्मकपाचकादिरूपायाः शक्तेराधारः स्थूलद्रव्यरूपः । उष्णादिगुणहीनं पाचकरंजकादि पित्तं न कर्मकृत् किन्तु मलरूपत्वमागतमुत्सर्जनीयम् । एवमेव क्लेदकबोधकादिरूपः श्लेष्माऽपि तदगुणहीनत्वे मलरूपः । ततश्च दृश्ये स्थूले च श्लेष्मपित्ताभिधये तदाश्रितं सामर्थ्यं श्लेष्मपित्ता-भिधमिति श्लेष्मपित्तयोः स्थूलत्वसूक्ष्मत्वभेदो नोपपद्यते । अपरं च सर्वदेहव्यापित्वेनाभिहितानां "शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति" इति चरकोपदेशानुसारं सूक्ष्मावयवेष्वपि श्लेष्म-पित्तानिलानामवस्थानमवश्यम् । सुसूक्ष्मोऽप्यवयवः शरीरस्य उत्पत्तिविनाशाख्यं वृद्धिक्षयात्मकं वा कर्मातुमवन् जीवमानो वर्तते । उत्पादिविनाशौ च संयोगविभागवियोजनाख्यं कर्मव्रतितयं विना-नैव भवतः । ततश्च तत्कर्मकरैः श्लेष्मपित्तानिलैरवश्यं भाव्यं सुसूक्ष्माऽवयवेष्वपि । सूक्ष्मत्वादवयवानां तदाश्रिताः श्लेष्मपित्तानिला अपि सूक्ष्मा एवेत्यवबोधसुलभम् । ततः श्लेष्मपित्तानिलानां सर्वदेहव्यापि-त्वेनोपवर्णितानां स्थूलत्वमसांप्रतम् सर्वकर्मणामिति अवयवान्तरगतानां श्वसनपचनोत्सर्जनादी-नां कर्तारः । तथा विकृताः दृष्टाः दूषयन्ति विकुर्वन्त्यपि कफपित्तानिलाः दोषा इति

सेमी सूक्ष्म याने अणुस्वरूप हैं, जो अतिशय सामर्थ्यसंपन्न हैं और जो पचनो-त्सर्जनादि सब शारीर क्रियाओंके कर्ता हैं, मिथ्याहारविहारके कारण विकृत होकर शरीरको दूषित करते हैं । समावस्थामें देहधारणका कर्म करते हुए अथवा विषम अवस्थामें देहविकृतिका उत्पादन करते हुए दोनों अवस्थाओंमें कफ-पित्त-वात तीनोंका निर्देश दोषसंज्ञासेही करना आयुर्वेदीय अभिप्रायानुसार उचित है ।

आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें दोषोंका जो स्वरूप वर्णन किया गया है उसपरसे अनु-मान हो सकता है कि दोष स्थूलभी हैं और सूक्ष्मभी हैं । कारण भिन्न स्थानोंमें अवस्थित क्लेदक कफ व रंजक पित्त का स्वरूप द्रवद्रव्यात्मक स्थूल व दृश्य बतलाया है । इसलिये वे स्थूल हैं । तथा उनके साधक व अलोचक आदि भेद अनुमानगम्य होनेके कारण सूक्ष्म हैं । अतः दोष उभयस्वरूपी हैं याने स्थूलभी हैं व सूक्ष्मभी हैं । किंतु यह प्रतिपादन भ्रमोत्पादक है । एक तो प्राणापानादि पांच प्रकारका वायु नितांत सूक्ष्मही बतलाया गया है । जो स्थूलांत्रमें संचित रहता है और जो ग्रन्थि आदिके द्वारा बाहर निकाला जा सकता है वह वायु अन्नमलसे

दोषसंज्ञया अभिमाषिताः संकीर्तिताः । समावस्थायां देहधारकाः विकृतावस्थायां च देहसंदूषका इत्युभयावस्थावस्थिता अपि श्लेष्मपित्तानिलाः स्वसंज्ञानुसारेण दोषसंज्ञया एव आयुर्वेदे उपदिष्टा इति । (१३॥)

स्थूलरूपेण देहस्याकृतिं संधारयन्ति ये ॥ १४ ॥

सूक्ष्मभागाश्रितं स्वान्तर्गतं सामर्थ्यमित्यपि ।

बहिर्भागाश्रितं हीनसामर्थ्यं मलसंज्ञकम् ॥ १५ ॥

धारयन्त्यन्वर्थसंज्ञां रसाद्याः सप्त धातवः ।

स्थूलरूपेणेति विविष्टावस्थानस्वरूपेण । आकृतिमाकरं तथा सूक्ष्मभागाश्रितं स्वान्तर्गतं सामर्थ्यं इति गुणसमुदायस्वरूपदोषाख्यं सामर्थ्यम् । बहिर्भागाश्रितं बाष्पावरणरूपम् । हीनसामर्थ्यं स्वल्पसामर्थ्ययुतम् । मलसंज्ञकं मलशब्दवाच्यम् । द्रव्यमिति शेषः । धारयन्ति अभिवहन्ति इति रसाद्याः अन्वर्थसंज्ञा इति । आकृतिं सामर्थ्यं मलांशं धारयन्त्यभिवहन्तीति धातवः इति निरुक्त्या रसादीनामन्वर्था धातुसंज्ञेति । (१४॥-१५॥)

सामर्थ्यहीनो धातूनां विभागो मलसंज्ञकः ॥ १६ ॥

सामर्थ्यहीन इति वृद्धिक्षयात्मकात्कर्मणः सामर्थ्यहीनः सत्त्वहीन इति यावत् । मलसंज्ञकः मलामिधः । रसादीनां धातुसंज्ञा, मलसंज्ञा च शकृदादीनां स्वसंज्ञानुसारिणी

उत्पन्न होता है अतः उसको मलही समझना चाहिये । उक्ताह, उच्छ्वास, निश्वास, चेष्टा, वेग आदि चलनात्मक कर्मोंका कर्ता वायु सूक्ष्मही बतलाया है । वहांपर यह नहीं कहा है कि वायु स्थूलभी है, और सूक्ष्मभी है । ' वायु ' रूक्ष, लघु, शीत, खर सूक्ष्म व चल है आदि वर्णनोंमें शास्त्रकारोंने वायुका सूक्ष्मत्व मानलिया है । यह सत्य है कि कफ व पित्तके श्लेष्मक-रंजक आदि भेद स्थूल द्रव्याश्रयी हैं । किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनका शक्तिस्वरूप स्थूल है अपितु उनका आश्रयभूत द्रव्य स्थूल है । अर्थात् श्लेष्मक पाचक शक्तिका अधिष्ठान स्थूल द्रव्यरूप है । जो पाचक-रंजक पित्त उष्ण व स्थूलरूपमें दिखायी देता है वह कर्मकारी पित्त संज्ञक दोष मही है किंतु शक्तिहीन हो जानेपर मलरूप व उत्सर्जनीय वस्तु है । इसी प्रकार क्लेदक-बोधक आदिस्वरूपका जो श्लेष्म दृश्य व स्थूलरूपमें प्रतीत होता है वहभी गुणविहीन होनेसे मलरूप व स्याउय वस्तु है । कफ संज्ञासे अपेक्षित सामर्थ्य इन हेय वस्तुओंमें नहीं रहता । अर्थात् उसको श्लेष्मा अथवा पित्त कहना और कहना कि ये स्थूलभी होते हैं,

श्लेष्मपित्तानिलानां यथा दोषसंज्ञा । ततो विकृता अविकृता वा रसादयो धातुसंज्ञया, विकृता अविकृता वा पुरीषादयो मलसंज्ञया व्यवहर्तव्या इति । (१७)

द्रव्यभेदात् त्रिधा देहो दोषधातुमला इति ।

दोषाः सूक्ष्मद्रव्यरूपाः शक्तिमन्तस्त्रयः स्मृताः ॥ १७ ॥

स्थूलद्रव्यस्वरूपाश्च शक्त्याधारा हि धातवः ।

स्थूलद्रव्यं शक्तिहीनं पुरीषाद्यास्त्रयो मलाः ॥ १८ ॥

दोषधातुमलभेदेन शरीरं त्रिविधमिति दर्शयन्नाह । द्रव्यभेदादिति पंचभूतविकारो-
त्पादकान् द्रव्यत्वं शरीरस्य द्रव्यस्य शरीरगतस्य भेदात् विशेषान् । दोषा धातवो मलाश्चेति
त्रिधा त्रिविधः देहः । तत्र सूक्ष्मद्रव्यस्वरूपाः शक्तिमन्तश्चेति शक्त्युत्कर्षसंपन्नाः दोषाः
त्रयः श्लेष्मपित्तानिलाख्याः । स्थूलद्रव्यस्वरूपाः शक्त्याधारा इति दोषस्वरूपशक्तेराधाराः
धातवः रसासृङ्मांसभेदोऽस्थिमज्जशुकाणीति संज्ञिताः सप्त । शक्तिहीनं क्षीणसामर्थ्यं स्थूलद्रव्यं
पुरीषाद्याः पुरीषो घनस्वरूपः, द्रवरूपं मूत्रं, स्वेदश्च वाष्परूप इति त्रयो मलाः प्रमुखाः ।
शरीरद्रव्यस्य सामर्थ्योत्कर्षसंपन्नः, सामर्थ्याधारः, सामर्थ्यहीनश्चेत्येवंरूपास्त्रयो विभागाः परिपाद्या
दोषधातुमलशब्दवाच्या इति । (१७-१८)

उत्पादकाः सन्तिदोषा उत्पाद्या धातवः स्मृताः ।

अनुचित है । सागंश श्लेष्मा व पित्तके स्थूल व सूक्ष्म ऐसे भेद तत्त्वतः नहीं होते ।

श्लेष्मा, पित्त व वायुका सर्वदेहव्यापित्व शास्त्रोंमें बतलाया है । चरकने
कहा है कि “ शरीरके अवयव परमाणुभेदसे अगणित होते हैं । ” इससे स्पष्ट
है इन परमाणुस्वरूप अवयवोंमेंभी-यदि उनको क्रियाशील रखना है-कफ-पित्त
वातकी अवस्थिति अवश्य है । कारण शरीरका प्रत्येक सुसूक्ष्म अवयवभी उत्पत्ति-
विनाशात्मक तथा वृद्धिक्षयात्मक कर्मसातत्यरूप जीवनका अनुभव करता है ।
उत्पत्ति व विनाश संयोग, विभाग व वियोजन नामके पूर्वनिर्दिष्ट तीन कर्मोंके
बिना नहीं हो सकते । अर्थात् इन तीन कर्मोंको करनेवाले कफ-पित्त-वात इन
तीन दोषोंकी अवस्थिति सुसूक्ष्म-परमाणुसदृश अवयवोंमें अवश्य है । अर्थात्
इन सुसूक्ष्म अवयवोंमें अवस्थित कफ-पित्त-वात अपने आश्रयभूत द्रव्यसेभी
अधिक सूक्ष्मही होते होंगे यह स्पष्ट है । निःसंदेह, वात-पित्त-कफका-जिनका
सर्वदेहव्यापित्व शास्त्रोंमें प्रतिपादित है-स्थूलत्व ग्राह्य मानना शास्त्रविरुद्ध है । १३ ॥

रसादि सप्तधातुओंकी ‘धातु’ संज्ञाभी इसीप्रकार अन्वर्थक है । वे (रसादि)

विभागाश्चैव धातूनां क्षीयमाणा मलाभिधाः ॥ १९ ॥

प्रकारान्तरेण शारीरद्रव्यभेदमुपदिशति । उत्पादका इति धातूनां मलानां च । उत्पाद्या इति वातादिमिरुपच्यन्त एवरूपाः । क्षीयमाणा त्रिनश्यन्तः । उत्पादकत्वं उत्पाद्यत्वं क्षीयमाणत्वं चेति दोषधातुमलानां शरीरगतानां द्रव्याणामुपलक्षणम् ॥ १९ ॥

दोषो धातुर्मलश्चैवं त्रिधा देहो विभज्यते ।

शारीराणां पदार्थानां भेदा मुख्यास्त्रयस्त्रिविधे ॥ २० ॥

पूर्वोक्तानुसारेण देहः विविधांगोपांगयुतोऽपि दोषधातुमलभेदेन त्रिधा विभज्यते । शारीराणां शरीरसम्बन्धिनां पदार्थानां त्वत्कालास्त्रायुधमनीपेश्यादिभिन्नसंज्ञयोपदिष्टानां सर्वेषां दोषो धातुर्मलश्चेति द्रव्यविशेषानुसारं त्रयो भेदाः प्रमुखाः । इति वातादीनां दोषाभिव्यक्त-दर्शनं नाम द्वादशं दर्शनम् ॥ २० ॥

स्थूलरूपसे याने विशिष्ट अवस्थानके कारण शरीरके आकृतिको धारण करते हैं । तथा अपने अंतर्गत सूक्ष्मभागाश्रित गुणसमुदायस्वरूप वात-पित्त-कफ नामके दोषरूप सामर्थ्यकोभी वेही धारण करते हैं । और अपने बहिर्भागाश्रित याने बाह्यआवरणस्वरूप हीनसामर्थ्यके मलनामक पदार्थोंकोभी वेही धारण करते हैं । इसप्रकार शरीरके आकृति, सामर्थ्य व मलांश इन तीनोंको धारण-अभिवहन करनेके कारण रसादि यथार्थतासे धातुसंज्ञाके योग्य हैं । १४ ॥ १५ ॥

वृद्धिक्षयात्मक कर्म करनेसे जिनका सामर्थ्य क्षीण हो जाता है ऐसे धातुओंके सत्त्वहीन विभाग-अंशको मल कहते हैं । इसप्रकार रसादि की 'धातु' शकृदादिकी 'मल' तथा श्लेष्मादिकी 'दोष' यही स्वसंज्ञा है । विकृत अथवा अविकृत रसरक्तादिको धातु एवं पुरीषादिको मलही कहा जाता है उसीप्रकार विकृत व अविकृत श्लेष्मादिकाभी दोष संज्ञासेही व्यवहार करना चाहिये । १६ ॥

द्रव्यभेदसे शरीरके तीन विभाग होते हैं—१ दोष २ धातु ३ मल । शरीर पंचभूतविकारोत्पन्न होनेके कारण उसको द्रव्यरूप माननाही उचित है ।

और शरीरगत द्रव्यके भेदानुसार याने विशेषोंके कारण शरीरके दोष, धातु व मल ऐसे तीन विभाग होते हैं। इनमें दोष तीन होते हैं। १ कफ २ पित्त व ३ वात और वे सूक्ष्मद्रव्यरूप व शक्तिमान् याने शक्त्युर्कर्षसंपन्न होते हैं। धातु सात होते हैं—१ रस २ रक्त ३ मांस ४ मेद ५ अस्थि ६ मज्जा व ७ शुक्र वे स्थूलद्रव्यरूप और दोषस्वरूप शक्तिके आधार याने आश्रयस्थान होते हैं। मल तीन होते हैं—१ शकृत् २ मूत्र व ३ स्वेद। शक्तिहीन याने क्षीण सामर्थ्यके घनस्वरूप मल शकृत्, मूत्र द्रवस्वरूप और स्वेद वाष्परूप होता है। मलोंके ये तीनही मुख्य प्रकार हैं। वे स्थूलद्रव्यरूप होते हैं। इसप्रकार शरीरद्रव्यके तीन विभाग हैं—१ शक्त्युर्कर्षसंपन्न विभाग जिसको दोष संज्ञा दी गयी है। २ सामर्थ्य वा शक्तिका आधारभूत विभाग जिसको धातुसंज्ञा दी गयी है और ३ सामर्थ्यहीन विभाग जिसको मलसंज्ञा दी गयी है। ॥ १७॥१८

दोष उत्पादक होते हैं याने धातु-मलोंको वेही उत्पन्न करते हैं। धातु उत्पाद्य होते हैं याने वातादि दोषोंसे उनकी उत्पत्ति होती है और धातुओंके क्षीयमाण अंशोंको मल कहते हैं। अर्थात् उत्पादकत्व, उपाद्यत्व एवं क्षीयमाणत्व अनुक्रमसे दोष, धातु व मलोंके लक्षण हैं। १९ ॥

इसप्रकार पूर्वोक्त रीतिसे विविध अंगोपांगयुक्त शरीर पदार्थोंके याने त्वचा कला, धमनी, पेशी आदि नामके शरीरसंबन्धी अवयवोंकेभी द्रव्यविशेषानुसार दोष-धातु-मलोंके रूपमें तीन २ विभाग होते हैं। २० ॥

वातादिओंका दोषाभिधेयत्वदर्शन नामक द्वादशदर्शन समाप्त ॥

उक्तार्थ संग्रहः

त्रिधा शरीरसंख्यानं दोषधातुमला इति ॥
 पंचभूतात्मकत्वं च शरीरस्य गुणाः पृथक् ॥ १ ॥
 पंचभूतांशसंबंधो गुणानां गुणलक्षणम् ॥
 गुणराशिस्वरूपं च दोषाणां समुदाहृतम् ॥ २ ॥
 संयोजनं श्लेष्मकर्म पित्तकर्म विभाजनम् ॥
 वायोर्वियोजनं कर्म सर्वदेहगतं तथा ॥ ३ ॥
 उत्पत्तिरथ वृद्धिश्चात्क्रान्तिर्नाशस्तथैव च ॥
 विकासो जीवनं चेति संयोगाद्यैर्यथा भवेत् ॥ ४ ॥
 रसादीनां तु धातूनामुत्पत्तिक्रमं वर्णनम् ॥
 पुरुषाणां तथा स्त्रीणां शरीरे सप्त धातवः ॥ ५ ॥
 जीवात्मा तस्य संबंधो देहे श्रेष्ठत्वमेव च ॥
 शक्तिरूपः शक्तियुक्तः शक्तिहीनस्तथैव च ॥ ६ ॥
 शरीरभागो दोषाख्यो धात्वाख्यश्च मलाब्धयः ॥
 दोषाणां कार्यकारित्वं कर्मभेदाख्यस्तथा ॥ ७ ॥

उक्तार्थसंग्रह (उपसंहार)

शारीर तत्त्वदर्शनके इस पूर्वार्धमें प्रतिपादित वातादिदोषसंबंधी विवेचनका संक्षेपमें उपसंहार करते हैं:—

(१) संक्षेपमें शारीर पदार्थ तीन—एक दोष, दो धातु व तीन मल ।
 (२) शरीरका पंचभूतात्मकत्व । (३) पंचभूतोद्भव शरीरगुण (४) गुणोंका पंचभूतात्मसंबंध (५) गुणोंके लक्षण (६) दोषोंका गुणराशिस्वरूप (७) संयोजन—श्लेष्माका कर्म (८) विभाजन-पित्तका कर्म (९) वियोजन-वायुका कर्म [ये तीनों कर्म सर्वदेहगत हैं] (१०) शारीरपदार्थोंकी उत्पत्ति (११) वृद्धि (१२) उत्क्रान्ति (१३) विनाश (१४) विकास (१५) संयोगादि क्रियाविशेषोंद्वारा जीवनकर्मका संपादन (१६) रसादि धातुओंके उत्पत्तिक्रमका वर्णन (१७) पुरुष तथा स्त्रीशरीरमें सप्त धातुओंका अवस्थान (१८) जीवात्मा (१९) जीवात्माका शरीरसे संबंध (२०) उसका [जीवा-

श्लेष्मादिनामधेयैस्तत्कर्मणामुपसूचनम् ॥
 दोषो धातुर्मलश्चेति संज्ञाः संज्ञार्थवाचकाः ॥ ८ ॥
 विपर्यासेन संज्ञानां विपर्यस्तार्थसम्भवः ॥
 द्रव्यत्वमथ सूक्ष्मत्वं क्रियाकरित्वमित्यपि ॥ ९ ॥
 वातादीनां तु दोषाणां शक्तिरूपं न केवलम् ॥
 सामर्थ्यस्याश्रयत्वं च स्थूलद्रव्यत्वमेव च ॥ १० ॥
 धातूनां च तथा हीनशक्तित्वं मलरूपिणाम् ॥
 स्थूलद्रव्यत्वमित्येतद्यथावद्विशदीकृतम् ॥ ११ ॥

शरीरतत्त्वदर्शनस्य पूर्वार्धेऽस्मिन् प्रतिपादितानां वातादिदोषसंबन्धिनां विषयाणां परि-
 संख्यानं संक्षेपेण यथा—

(१) दोषधातुमला इति त्रिधा शरीरसंख्यानं शरीरपदार्थानां संक्षेपतः परिगणनम् ।
 (२) शरीरस्य पंचभूतात्मकत्वम् । (३) गुणाः पंचभूतोद्भवाः शरीरगुणाश्च । (४) गुणानां पंच-
 भूतात्मसंबन्धः । (५) गुणलक्षणम् । (६) दोषाणां गुणराशिस्वरूपं गुणसमुदायात्मकत्वम् ।
 (७) श्लेष्मकर्म-संयोजनम् । (८) विभाजनं पित्तकर्म । (९) वियोजनं वायोः कर्म । (१०)
 उत्पत्तिः (११) वृद्धिः (१२) उत्क्रान्तिः (१३) नाशः (१४) विकासः शरीरपदार्थानाम् (१५)

धमाका] श्रेष्ठत्वं (२१) शक्तिरूप दोषनामका शरीरविभाग (२२) शक्तियुक्त
 धातु (२३) शक्तिहीन मल (२४) दोषोंका कार्यकारित्व (२५) कर्मके
 तीन भेद (२६) इन कर्मोंकी सूचक श्लेष्मादि संज्ञायें (२७) दोष-धातु-मल
 स्वसंज्ञायें (२८) संज्ञाविपर्याससे अर्थविपर्यासका संभव (२९) दोषोंका
 द्रव्यत्व (३०) दोषोंका सूक्ष्मत्व (३१) दोषोंका क्रियाकारित्व (३२) दोष
 केवल शक्तिरूप नहीं हैं (३३) धातुओंका सामर्थ्याश्रयत्व (३४) धातुओंका
 स्थूलद्रव्यत्व (३५) मलोंका स्थूलद्रव्यत्व व हीनशक्तित्व—इन विषयोंका
 स्पष्टीकरण आयुर्वेदीयतंत्रोंके अर्थसंगतिके अनुसार पूर्वार्धमें किया गया है । दोष-
 धातुमलोंका जो जीवन नामका सर्वदेहगत सामान्य कर्म उसको जाननेके लिये
 पूर्वोक्त विवरण पर्याप्त होगा । भिन्न २ स्थानोंमें आश्रित होकर याने आमाशय-
 पक्वाशयादिमें स्थित होकर स्थानभेदके अनुसार दोष जिन नानाविध क्रियाओंको
 अधिकृत तथा विकृत अवस्थाओंमें करते हैं उनका वर्णन आगे [उत्तरार्धमें]
 किया जायगा ।

संयोगाद्यैः क्रियाविशेषैः जीवनं जिवन्कर्मसंपादनम् । (१६) रसादीनां धातूनामुत्पत्तिक्रमवर्णनम् (१७) पुरुषाणां स्त्रीणां च शरीरे सप्त धातवः । (१८) जीवात्मा (१९) तस्य देहे संबंधः (२०) स्वश्रेष्ठत्वम् । (२१) शक्तिरूपो दोषाख्यः शरीरभागः । (२२) शक्तियुक्तो धात्वाख्यः । (२३) शक्तिहीनो मलाख्यः । (२४) दोषाणां कार्यकारित्वम् । (२५) त्रयः कर्मभेदाः (२६) तत्कर्मणां श्लेषणादिकर्मणां श्लेषादिनामधेयैरुपसूचनम् । (२७) दोषधातुमलानां संज्ञाः (२८) संज्ञाविपर्ययसिनार्थविपर्याससंभवः । (२९) दोषाणां द्रव्यत्वम् । (३०) दोषाणां सूक्ष्मत्वम् । (३१) दोषाणां क्रियाकारित्वम् । (३२) दोषाणां न केवलं शक्तिरूपत्वम् (३३) धातूनां सामर्थ्याश्रयत्वम् (३४) धातूनां स्थूलद्रव्यत्वं (३५) मलरूपिणां स्थूलद्रव्यत्वं शक्तिहीनत्वं च । इत्येतत् यथावदिति आद्युर्बेदीयतन्त्रान्तर्गतार्थसंगतार्थम् । विशदीकृतम् स्फुटीकृतम् (११)

दोषधातुमलानां च सामान्यं कर्म देहगम् ।

जीवनाख्यं चावगन्तुमलमेतद्भवेदिति ॥ १२ ॥

कर्माणि यानि कुर्वन्ति दोषाः स्थानान्तराश्रिताः ।

दोषस्थानानुरोधात्तदुत्तरार्धे प्रवक्ष्यते ॥ १३ ॥

देहगं सर्वशरीरगम् । सामान्यमिति सर्वदेहसामान्यम् । जीवनकर्मसंपादकत्वेन सामान्यस्वरूपं न स्थानभेदानुसारेण विशेषरूपम् । दोषधातुमलानां कर्म अवगन्तुं अधिगन्तुमेतत् शारीरदर्शनपूर्वार्धम् । अलं पर्याप्तं भवेदिति । स्थानान्तराश्रिताः आमाशयपक्वाशयाश्रयवायुस्थिताः । दोषाः वातादयः । दोषस्थानानुरोधात् दोषाणां स्थानानां च अनुरोधात् स्वामाविकं कर्म नानाविधं अविकृतं विकृतिजं वैषम्योद्भवं च विकाराभिधेयं तत् उत्तरार्धे प्रवक्ष्यते । (१२-१३)

स्वरूपगुणकर्माणि दोषादीनां समासतः ।

पूर्वार्धेऽस्मिन्कीर्तितानि शारीरे तत्त्वदर्शने ॥ १ ॥

इति शारीरतत्त्वदर्शने पूर्वार्धम् ।

दोषोदिओंके स्वरूप, गुण व कर्म इनका संक्षेपमें वर्णन शारीर तत्त्वदर्शनके इस पूर्वभागमें किया गया है ।

शारीरतत्त्वदर्शन ग्रंथका पूर्वार्ध समाप्त ॥

शारीरं तत्त्वदर्शनम् ।

नाम

वातादिदोषविज्ञानम् ।

उत्तरार्धम् ।



शारीरं तत्त्वदर्शनं नाम—वातादिदोषविज्ञानम् ।

समीक्षाख्यया व्याख्ययोपबृंहितम् ।

उत्तरार्धम् ।

प्रथमं दर्शनम्

(दोषगुणाश्रयस्थानविशेषदर्शनम्)

विसर्गादानविक्षेपास्तिस्रः स्वाभाविकाः क्रियाः ।

देहस्य तासां कर्तारः श्लेष्मपित्तानिलास्त्रयः ॥ १ ॥

शारीरतत्त्वदर्शनपूर्वार्धे वातपित्तश्लेष्मणां शारीरकर्मकराणां दोषाणां स्वरूपगुणकर्माणि सामान्येनाभिधाय स्थानान्तरगतानि स्वाभाविकानि विकृतानि च कर्माणि तेषां विशदीकर्तुमुच्यते विसर्गादानविक्षेपाः इति । विसर्गः विसर्जनं समुत्पत्तिर्वा । आदानं पचनं पृथकरणं वा विक्षेपः उत्सर्जनमुत्क्षेपणं वा । इत्येताः कर्मात् श्लेष्मपित्तवातानां क्रियाः पूर्वोक्ताः । स्वाभाविका इति स्वभावप्रवृत्ताः । अन्यतरद्रव्यदोषानुबन्धविशेषात् क्रियामेदा बहवः संजायन्त इति । कर्तारः सम्पादकाः । (१)

शारीर तत्त्वदर्शनं अथवा वातादिदोषविज्ञान ।

उत्तरार्धम् ।

प्रथमदर्शन

(दोषगुणाश्रयस्थानविशेषदर्शन)

पूर्वार्धमें सब शारीरिक क्रियाओंके कर्ता जो कफ, पित्त व वायु उनके स्वरूप, गुण व कर्मोंका सामान्य वर्णन करनेके बाद अब उनकी अन्यान्य स्थान-गत स्वाभाविक एवं विकृत क्रियाओंका विशदीकरण करते हैं । विसर्ग याने उत्पत्ति आदान याने पचन-पृथकरण और विक्षेप याने उत्सर्जन ये तीन शरीरकी स्वाभाविक क्रियामें हैं और अनुक्रमसे श्लेष्मा, पित्त व वायु उनके कर्ता याने उत्पादक हैं । १ ॥

शरीरके मूल होनेसे कफ, पित्त व वात तथा उनकी विसर्ग, आदान व

गतिः स्यात्साधकतमा त्रयाणामपि कर्मणाम् ।

प्रधानंश्च ततो दोषेष्वपि वायुरुदाहृतः ॥ २ ॥

विसर्गादानविक्षेपाख्यानां कर्मणां शरीरमूलत्वेऽपि विक्षेपस्य चलनाख्यस्यैव प्राधान्यं दर्शयन्नाह गतिरित्यादि । गतिश्चलनम् । शरीरावयवेषु नानाविधेषु आकुंचनप्रसरणस्वरूपाश्चलनविशेषा इति यावत् । साधकतमा प्रधानहेतुरित्यर्थः । चलनस्वरूपाण्येव सर्वकर्मणितीति । “चलनात्मकं कर्म, इति व्याख्यातं पदार्थविद्धिः । ततः हेतोः । दोषेषु स्नेहपित्तानिलेषु वायुः प्रधानः गतिमत्त्वादिति । वायोः सर्वक्रियाकरत्वं प्राधान्यं च चरकाचार्येणोक्तं यथा—वायुस्तंत्रयंत्रधरः प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम् सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः सर्वशरीरधातुव्यूहकरः संधानकरः शरीरस्य सर्वतंत्राणां विधाता भावानामणुरित्यादि । तथाचाष्टांगहृदये “विभुत्वादाशुकारित्वार् बलित्वादन्यकोपनार् । स्वातंत्र्यात् बहुरोगवाहोराणां प्रबलोऽनिलः ” इति । (२)

चलनाद्विनिवर्तन्ते शरीरस्याखिलाः क्रियाः ।

तस्मिन्विकृतिमापन्ने नानाविकृतिसंभवः ॥ ३ ॥

चलनात्मकत्वादखिलस्य कर्मणः, विषमतां गतं कर्मैव विकृतिरिति क्रियाणां विक्रियाणां वा समुत्पत्तौ चलनं हेतुरिति । (३)

प्राधान्यादिह वातस्य दोषाणामुपवर्णने ।

वायुः पित्तं कफश्चेति वर्णनक्रम आहृतः ॥ ४ ॥

विक्षेप इन तीन क्रियाओंका महत्व उक्त प्रकारसे मानते हुएभी यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इन क्रियाओंमें विक्षेप याने चलन क्रिया विशेष प्रधान है । नानाविध शरीरावयवोंमें आकुंचनप्रसरणात्मक चलन याने गतिविशेष नित्य रहता है । और अन्य क्रियाओंमेंभी चलनात्मता होतीही है । पदार्थवेत्ताओंके अभिप्रायके अनुसार तो प्रत्येक कर्म चलनात्म है । गतिकी प्रेरक वायु होनेके कारण तीन दोषोंमें वायुही प्रधान माना गया है । चरकनेभी वायुका सर्वक्रियाकरत्व एवं प्राधान्य मानते हुए कहा है “वायुही तंत्र व यंत्रको धारण करता है, उच्चनीच सभी चेष्टाओंका प्रवर्तक है, सब इंद्रियोंका उद्योजक है, शरीर धातुओंका व्यूहकर और शरीरका संधानकर है ” अष्टांग हृदयमें कहा है “वायु विभु, आशुकारी, बलि होकर अन्य दोषोंको कुपित करता है । स्वयं स्वतंत्र है । (विषम अवस्थामें) नानाविध रोगोंका निर्माण करता है । इसलिये दोषोंमें वायुही प्रबल माना गया है । ” २ ॥

चलनसँही शरीरकी सब क्रियायें होती हैं । और चलन क्रियामें विकृति

प्राधान्यादिति उक्तहेतुनुसारेण स्वाभाविकानां विकृतीनां चोत्पादने वायोः प्रधानकारणत्वात् । आयुर्वेदशास्त्रे वायुः पित्तं कफश्चेति दोषाणां क्रमः आहतः स्वीकृतः । समुदायात्मकस्य शरीरस्योपवर्णने समुदायकारिणः श्लेष्मणः प्राधान्यमनुलक्ष्य (पूर्वार्धे) श्लेष्मा पित्तं वायुरिति स्वीकृतं क्रमं विहाय कर्मविकाराख्यानप्रसंगात् वायुः पित्तं कफश्चेति क्रमः स्वीकृत इति (४)

गत्याख्यं पचनाख्यं च पोषणाख्यं यदीरितम् ।

शरीरे कर्म सर्वत्राविरतं संप्रवर्तते ॥ ५ ॥

अपि स्थानान्तरेष्वेतत्कर्म विश्लेषणादिकम् ।

प्रवर्तते भिन्नरूपं स्थानकर्मानुरोधतः ॥ ६ ॥

गत्याख्यमित्यादि । शरीरे सर्वत्र इति सर्वेषु स्थूलसूक्ष्मावयवेष्वपि । अविरतं निरन्तरम् । स्थानान्तरेषु हृदयामाशयपक्वाशयादिभिन्नस्थानेषु । भिन्नरूपं परस्परविशेषरूपम् । प्रवर्तते वातादीनां सामान्यं चलनादिकं कर्म स्थानान्तरानुसारेण भिन्नरूपं प्रवर्तत इति । (५-६)

स्थानभेदानुसारेण कर्मभेदः प्रजायते ।

कर्मन्तरकराश्चैव दोषभेदाः प्रकल्पिताः ॥ ७ ॥

स्थानभेदानुसारेण इति भिन्नस्थानानुरोधतः । कर्मभेदः क्रियाविशेषः ।

होनेसे अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है । ३ ॥

इसप्रकार दोषोंमें वायुका विशेष महत्व ध्यानमें रखकर दोषोंके वर्णनमें प्रस्तुत ग्रंथके उत्तरार्धमें वायु, पित्त व कफ इस अनुक्रमका स्वीकार किया गया है । पूर्वार्धमें जो श्लेष्मा, पित्त, वायु इस क्रमका स्वीकार किया था उसका कारण यह कि, पंचभूतविकारसमुदायात्मक शरीरके व्याख्यानमें समुदायका कर्ता श्लेष्मा, होनेके कारण उसका प्राधान्य माना गया था । किंतु अब उत्तरार्धमें कर्म विकर्मकी विचिकित्सा करते समय वायुही प्रधान हो जाता है । इसलिये वायु पित्त कफ इस क्रमका स्वीकार करनाही उचित समझा है । ३ ॥

शरीरके स्थूल व सूक्ष्म सभी अवयवोंमें गति, पचन व पोषण तीन प्रकारका कर्म निरन्तर प्रवर्तित होता है । हृदय, आमाशय आदि शरीरके भिन्न स्थानोंमें उपरिक्थित तीन प्रकारका गत्यादि कर्म चलताही है । भेद इतनाही है कि स्थान व कर्मके अनुरोधसे प्रतिस्थान उसका स्वरूप भिन्न होजाता है । ५॥६ ॥

स्थानभेदके अनुसार कर्मभेद उत्पन्न होता है । याने अपने २ स्थानकी

कर्मन्तरकराः स्थानविशेषेषु क्रियाविशेषोत्पादकाः । दोषभेदाः दोषाणां वातपित्तश्लेष्मणां भेदाः प्राणाद्याः पाचकाद्याः अवलंबकाद्याश्चेति अग्रे वक्ष्यमाणाः । प्रकल्पिताः उपयोजिताः ।
(७)

विशेषतः प्रवर्तन्ते यत्र गत्यात्मकाः क्रियाः ।

स्थानेष्वेतेषु वातस्य प्राधान्यं परिकीर्तितम् ॥ ८ ॥

कर्म प्रवर्तते येषु पचनाख्यं विशेषतः ।

तेषु स्थानेषु पित्तस्य प्राधान्यं परिकीर्तितम् ॥ ९ ॥

पोषणाख्यं कर्म यत्र विशेषेण प्रवर्तते ।

स्थानेषु श्लेष्मणस्तेषु प्राधान्यं परिकीर्तितम् ॥ १० ॥

विशेषत इति प्रामुख्येन । येषु स्थानेषु गत्यात्मकाः क्रियास्तत्र वातस्य प्राधान्यम् । येषु च पचनाख्यं कर्म विशेषाज्जायते तेषु पित्तस्य, येषु च पोषणाख्यं कर्म विशेषेण तेषु स्थानेषु श्लेष्मणः प्राधान्यं परिकीर्तितम् । आयुर्वेदायैरिति शेषः । (८-१०)

रसविक्षेपणं देहे निःश्वासोच्छ्वसनक्रिया ।

उत्सर्जनं मलादीनां तथा वाचः प्रवर्तनम् ॥ ११ ॥

संचालनं च विविधं हस्तयोः पादयोरपि ।

वायोर्गतस्वरूपस्य सर्वाश्चैवंविधाः क्रियाः ॥ १२ ॥

क्रियाभी भिन्न होती है । इन भिन्न २ क्रियाओंको करनेके कारण दोषोंकेभी भेद माने गये हैं । जैसे—प्राणापानादि वायुके ५ भेद, पाचक आलोचकादि पित्तके ५ भेद और अवलंबकबोधक आदि कफके ५ भेद । ७ ॥

जिन २ स्थानोंमें विशेषतः गत्यात्मक क्रियायें होती हैं उनको २ वायुके स्थान बतलाया हैं । याने उन स्थानोंमें वायुका प्राधान्य माना गया है । इसी प्रकार जिन २ स्थानोंमें अनुक्रमसे पचन अथवा श्लेष्मण की क्रियायें विशेषतः होती हैं उनको २ पित्त अथवा कफके स्थान माना गया है । याने आयुर्वेद-वेत्ताओंने उक्त क्रियावैशिष्ट्यके अनुसार भिन्न २ स्थानोंमें वात, पित्त व कफका प्राधान्य माना है । ८॥ ९॥ १०॥

वायुकी स्वाभाविक क्रियायें संक्षेपमें इसप्रकार हैंः—(१) शरीरके सब विभागोंमें रसधातुका—जो शरीर पोषक होता है—विक्षेप करना (२) निःश्वास याने श्वास अंदर खींचना (३) उच्छ्वास याने श्वासवायुको ऊपर (बाहिर) फेंकना (४) वाक्प्रवृत्ति याने बोलनेकी क्रिया करवाना (५) हात व पैरोंकी अनेकविध हल-

वातादीनां स्वाभाविकानि कर्माणि समासतो निर्दिशन्नाह । रसविक्षेपणमिति शरीरपोषकस्य रसधातोः प्रक्षेपणं शरीरे ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् सर्वत्र । निःश्वासः श्वासस्यान्तःप्रवेशनम् । उच्छ्वासः श्वासवायोरूर्ध्वं प्रक्षेपणम् । उत्सर्जनं शरीरान् वहिर्निःसारणम् मलादीनामिति । आदिशब्दान् मूत्रशुक्रार्तवादीनां ग्रहणम् । वाचः प्रवर्तनं वाक्प्रवृत्तिः । हस्तपादानां विविधं संचालनं चेत्येवविधाः क्रियाश्चलनात्मकत्वात् गतिरूपस्य वायोरारूपाः । (११-१२)

भुक्ताहारस्य पचनं तथा धातुविवेचनम् ।

सुसूक्ष्मावयवानां च सारकिट्टविभाजनम् ॥ १३ ॥

कर्माणीमानि कुरुते पित्तं पचनकर्मकृत् ।

पित्तस्य शरीरान्तर्गतस्य स्वाभाविकानि कर्माणि संक्षेपेण निरूपयन्नाह । भुक्ताहारस्येत्यादि । भुक्ताहारस्य उपभुक्तस्य विविधस्यान्नपानादेः । पचनं जठरे सारकिट्टयोः सम्यक् पृथक्करणम् । धातुविवेचनं धातूनां रसादीनां विवेचनं पूर्वापरधातुत्वेन सारकिट्टस्वरूपेण च पृथक्करणम् सुसूक्ष्मावयवानां च इति शरीरांगेष्ववस्थितानां सूक्ष्मघटकानाम् । सारकिट्टविभाजनम् प्रसादमलरूपेण पृथक्करणम् । कर्माणीमानि इति मुख्यकर्माणि । पचनकर्मकृत् पचनकरं पित्तं कुरुते । (१३)

आहारात्पोषकांशानां संग्रहः संधिवंधनम् ॥ १४ ॥

चलें करना । गतिस्वरूप वायुकी सब क्रियायें इस प्रकारकीही होती हैं । ११॥ १२॥

शरीरांतर्गत पित्तकी स्वाभाविक क्रियायें संक्षेपमें इसप्रकार होती हैं:—

(१) नानाविध उपभुक्त अन्नपानादि पदार्थोंका पचन याने जठरमें भुक्त आहारमेंसे सार (उपयुक्त) व किट्ट (त्याज्य) अंशोंका पृथक्करण (२) धातुविवेचन याने रसरक्तादि धातुओंका सारकिट्टपृथक्करण । [रसधातुमें रक्त बननेके योग्य तथा त्याज्य अंशोंका पृथक्करण । इसीप्रकार प्रत्येक धातुका विवेचन ।] (३) शरीरके-प्रत्येक अतिसूक्ष्म अवयवोंमेंभी प्रसादरूप व मलरूप अंश पृथक् करना । इन सब क्रियाओंको पचनकर्मका कर्ता पित्तही करता है । १३ ॥

कफकी स्वाभाविक क्रियायें संक्षेपमें इसप्रकार होती हैं:—(१) पित्तके द्वारा सम्यक् विपाचित आहारमेंसे शरीरधातुओंके पोषक अंशोंका संग्रह याने रसधातुस्वरूपमें ग्रहण (२) संधिवंधन याने अस्थि आदिओंके संधिस्थानोंमें दृढत्व निर्माण करना (३) अपने संधानगुणसे याने संघात करनेकी शक्तिसे स्थूल व सूक्ष्म सभी शरीरावयवोंका उपब्रंहण याने अभिवर्धन । ये सब श्लेष्मणकी ही

शरीरावयवानां च संधानादुपवृंहणम् ।

विधीयते श्लेष्मणैतत्सर्वं श्लेष्मणकर्मणा ॥ १५ ॥

आहारादिति पित्तेन सम्यग्विपाचितादाहारात् । पोषकांशानां शरीरधातुपोष-
कानां आहारगतानामंशानाम् । संग्रहः सधातुरूपेण ग्रहणम् । संधिवंधनमिति अस्थिसंध्या-
दीनां संश्लेषणम् । शरीरावयवानां स्थूलसूक्ष्माणाम् । संधानादिति संधातकरत्वात् । उप-
वृंहणम् अभिवर्धनम् । सर्वमेतत् श्लेष्मणकर्मणा श्लेषणं संघाभावोत्पादनं कर्म यस्य एवंविधेन
श्लेष्मणा विधीयत इति । तत्रान्तरेषु वातपित्तश्लेष्मणां नानाविधानि कर्माण्युपवर्णितानि यथा । सौश्रुते-
प्रस्पंदनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पंचधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति । रागपक्त्योजस्तेजोमेधो-
ष्मकृत्पित्तं पंचधा प्रविभक्तमधिकर्मणाऽनुग्रहं करोति । अष्टांगहृदये च “ उत्साहोच्छ्वासनिश्वास-
चेष्टावेगप्रवर्तनैः । सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च । अनुगृण्हात्यविकृतः पित्तं पक्त्यू-
ष्मदर्शनैः । शुतृङ्गुरुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः । श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसंधिवंधक्षमादिभिः ।
चरकसंहितायाम्— उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टा धातुगतिः समा । समो मोक्षो गतिमतां वायोः
कर्माविकारजम् । दर्शनं पक्तिरूष्मा च धृष्टृणादेहमार्दवम् । प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविका-
कारजम् । स्नेहो बंधः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् । क्षमा धृतिरलोमश्च कफकर्माविकारजम् ।
एवमुपवर्णितेषु लक्षणेषु वातादीनां क्रमेण गतिः पक्तिः संश्लेषश्चेति त्रीण्येव कर्मस्वरूपाणीति पित्तमधि-
कर्मणाऽनुग्रहं करोति, श्लेष्मा च उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति, वायुश्च स्वात्मत्वात् गतिकर्मणाऽनुग्रहं

क्रियायें होनेके कारण उनका कर्ता श्लेष्मा होता है । १४॥ १५॥

अन्य ग्रंथोंमें वातपित्तकफके नानाविध कर्मोंका वर्णन किया गया है ।
जैसे—सुश्रुत संहितामें कहा है “ प्रस्पंदन, उद्वहन, पूरण, विवेक व धारण ये
वायुके लक्षण हैं । वह पांच प्रकारसे विभक्त होकर शरीरका धारण करता है ।
पित्त रंजन, पचन, ओज, तेज, मेधा व उष्माको निर्माण करता हुआ पांच प्रकारसे
विभक्त होकर अग्निकर्मद्वारा (शरीरका) अनुग्रह करता है । श्लेष्मा संधिसंश्लेषण,
स्नेहन, रोपण, पूरण बल व स्थिरताको उत्पन्न करता हुआ पांच प्रकारसे विभक्त होकर
उदककर्मद्वारा अनुग्रह करता है । ” अष्टांगहृदयमें कहा है “ वायु अविकृत
स्थितिमें उत्साह, उच्छ्वास, निःश्वास, चेष्टा, मलमूत्रादि वेगोंका प्रवर्तन धातुओंकी
सम्यक् गति, इंद्रियोंकी क्रियाशीलता आदि द्वारा अनुग्रह करता है । पित्त
अविकृत स्थितिमें उष्मा, दृष्टि, क्षुधा, तृप्ता, रुचि, प्रभा, मेधा, धी, शौर्य व शरी-
रकी मृदुता द्वारा अनुग्रह करता है । तथा कफ स्थिरत्व, स्निग्धत्व, संधिवंध,
क्षमा आदिद्वारा अनुग्रह करता है—अर्थात् अविकृत स्थितिमें । ” चरक संहितामें

करोतीति सूचितम् । एतदभिप्रायेणैव सुश्रुतसंहितायाम्—“ विसर्गादानविक्षेपैः सोममूर्यानिला यथा । धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ” इति विक्षेपः आदानं विसर्गश्चेति कर्मत्रयं प्राधान्येनोपवर्णितं वातादीनामिति । (१३-१५)

शरीरावयवेष्वेवं कर्मभेदानुसारतः ।

वातपित्तबलासानां प्राधान्यमुपवर्णितम् ॥ १६ ॥

उक्तानां दोषकर्मणामनुसारतः शरीरावयवेषु वातादीनां दोषाणां प्राधान्यम् उपदर्शितम् ।

(१६)

दोषाणां स्निग्धरूक्षाद्या ये गुणाः परिकीर्तिताः ।

समप्रमाणाः सर्वेषु स्थानेषु न भवन्ति ते ॥ १७ ॥

गुणसमूदायस्वरूपाणां दोषाणां त्रिविधेषु शरीरावयवेष्ववस्थितिरपि न सर्वैर्गुणैः समप्रमाणैर्वा इत्युच्यते । दोषणामिति वातपित्तश्लेष्मणाम् । स्निग्धरूक्षाद्याः स्निग्धादयः श्लेष्मणः रूक्षादयो वातस्य उष्णादयश्च पित्तस्य परिकीर्तिताः पूर्वमाख्याताः । गुणाः सर्वेषु स्थानेषु समप्रमाणाः संख्यया परिमाणेन च न भवन्ति । (१७)

रसाखुब्धमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः ।

समाख्यातास्तेषु रसो रक्तं चेति द्वयं द्रवम् ॥ १८ ॥

कहा है “ अविकृत वायुके कर्म हैं—उत्साह, उच्छ्वास, निःश्वास चेष्टा, धातुओंकी समगति, वेगोंका (मलमूत्रादिका) सम मोक्ष । अविकृत पित्तके कर्म हैं—दृष्टि, पचन, ऊष्मा, क्षुधा, तृप्ता, देहमार्दव, प्रभा, प्रसाद, व मेधा । अविकृत कफके कर्म हैं—स्नेह, (संधि) बंध, स्थिरत्व, गौरव, वृषता, (विशेष बलवत्त्व) बल, क्षमा, धृति व अलोलुपत्व । इस वर्णनकी ओर यदि सूक्ष्मतासे ध्यान दिया जाय तो विदित होता है कि, अनुक्रमसे वायुका कर्म गति, पित्तका पचन तथा कफका संश्लेषण ये तीनही कर्म प्रधान हैं और इसी हेतुसे कहा गया है कि, वायु अपने आत्मरूपसे गति कर्मद्वारा, पित्त अग्निकर्मद्वारा और कफ उदककर्मद्वारा अनुग्रह करता है । इसी अभिप्रायसे सुश्रुतेने कहा है “ विसर्ग, आदान व विक्षेप इन तीन कर्मोंद्वारा जिस प्रकार चंद्र, सूर्य व वायु जगत्को धारण करते हैं—कफ, पित्त व वायु शरीरको धारण करते हैं । अर्थात् विक्षेप, आदान व विसर्ग इन तीन कर्मोंकोही प्राधान्य है । इस शरीरके भिन्न २ अवयवोंमें वात, पित्त अथवा कफका कर्मभेदके अनुसार प्राधान्य बतलाया गया है । १६ ॥

मांसमस्थि घनं चान्धत् त्रितयं तूभयात्मकम् ।

घनं शकृत् द्रवं मूत्रं स्यात्स्वेदो वाष्परूपकः ॥ १९ ॥

दोषणामाश्रयाः सप्त धातवश्च मलास्त्रयः ।

दोषस्थानप्राधान्योपवर्णने धातुमलानां दोषाश्रयरूपाणां स्वरूपं विशदीकर्तुमुच्यते । रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणीति सप्त धातवः समाख्याताः । तेषु रसो रक्तं चेति द्रवम् । रस- रक्तयोः कार्यभेदाद्विशेषेऽपि द्रवत्वं सामान्यम् । मांसं अस्थि चेति द्वितयं घनं घनस्वरूपम् । मांसं मृदु कठिनं चास्थि इति स्वरूपभेदेऽपि घनत्वसामान्यमुभयोः । अन्यदिर्नाम मेदो मज्जा शुक्रं च त्रितयमिदमुभयात्मकम् । न घनं मांसस्थिवत् न च वासरक्तवद्रवरूपम् । शकृन् पुरीषापरपर्यायो मलः घनं घनस्वरूपम् । मूत्रं द्रवं वाष्परूपश्च स्वेद इति त्रिविधस्वरूपा मलास्त्रयः सप्त धातवश्चेति दोषणामाश्रयाः । यथाऽग्रे वक्ष्यते । (१८-१९ ॥)

तत्रास्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः ॥ २० ॥

श्लेष्मा शेषेऽपि स्थिता दोषाणामाश्रया दश ।

तत्रेति धातुमलेषु । अस्थनि अस्थिधातौ वायुः । स्वेदरक्तयोः खेदाख्ये मले रक्त- धातौ च पित्तं शेषेषु रक्तं मांसं मेदो मज्जा शुक्रं चेति पंच धातवः पुरीषो मूत्रं चेति मलद्वयमेवं सप्तसंख्याक्रेषु धातुमलेषु श्लेष्मा स्थितो विशेषेण इति । दोषाणामाश्रया दश इति दोषाणां वातपित्तश्लेष्मणां आश्रयाः आश्रयस्थानानि । (२० ॥)

यद्यपि दोषोंका स्निग्धरूक्षादि गुणसमुदायरूप होना बतलाया गया है उसका मतलब यह नहीं है कि, शरीरके सभी स्थानोंमें सभी गुण समप्रमाणमें रहते हैं । उदाहरणार्थः—जो कफके स्थान हैं उस प्रत्येक स्थानमें यह न सम- झाना चाहिये कि कफके सभी गुण उपस्थित रहते हैं । १७ ॥

दोषोंके स्थानोंका प्राधान्य वर्णन करते समय दोषोंके आश्रयरूप जो धातु व मल उनका आश्रयाश्रयीभाव स्पष्ट करना आवश्यक है । इसलिये कहते हैंः—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र ये सात धातु हैं । उनमें रस व रक्त दो धातु द्रव हैं यद्यपि रस व रक्तके कार्यविशेषमें भेद है, उनमें द्रवत्व समान रहता है । मांस व अस्थि दो धातु घन हैं, यद्यपि मांस मृदु व अस्थि कठिन है । मेद, मज्जा व शुक्र ये तीन उभयात्मक याने न पूर्णतया द्रव न पूर्णरूपेण घन हैं । मलोंमेंसे शकृत् घन है, मूत्र द्रव है और स्वेद वाष्परूप है । इस प्रकार मल त्रिविध स्वरूपके हैं और सात धातुभी त्रिविधस्वरूपकेही हैं । धातु व मलही दोषोंके आश्रयस्थान हैं । १८-२० ॥

विविधादशिताहाराद्रसो यः संप्रजायते ॥ २१ ॥

सारस्वरूपो विविधं द्रव्यं तस्मिन् द्रवीकृतम् ।

धातुवृद्धिकरं सूक्ष्मं मिश्रीभूयाऽवतिष्ठते ॥ २२ ॥

रसेऽद्रवेस्वरूपेऽपि विविधाः परमाणवः ।

तिष्ठन्त्येकत्वमापन्ना विलीनाश्च परस्परम् ॥ २३ ॥

द्रव्यांशसंधानकरः श्लेष्मा संधानकर्मकृत् ।

रसो धातुरतः श्लेष्मस्थानमेकं प्रकीर्तितम् ॥ २४ ॥

दोषाणां धातुमलानां च कर्मसामान्यानुमयसाश्रयाश्रयाभावं विशदीकर्तुमुच्यते । विविधादिति नानाविधात् । आहारात् रसः जठराग्निना विपक्वस्याहारस्य सारो द्रवस्वरूपः रस इत्युच्यते । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम्—तत्र पांचभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविध-वीर्यस्याष्टविधवर्ग्यस्य वा अनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परम-सूक्ष्मः स रस इत्युच्यते । स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिमिविशेषैः सौम्य इत्यव-गम्यते । विविधं द्रव्यमिति शरीरावयवसमानं तद्वृद्धिकरं च । मिश्रीभूयाऽवतिष्ठत इति एकरूपेण विद्यते । द्रवोत्पादकं तेजः पित्तं च तेजसमिति रसस्य द्रवरूपस्य पित्तस्थानत्वेनो-पदेशः समुचितः न श्लेष्मस्थानत्वेनेति आशंकायामुच्यते । द्रवस्वरूपेऽपि रसे विविधाशितपीत-

इनमें याने धातु—मल्लोमेंसे अस्थिमें वायु रहता है । और स्वेद व रक्तमें पित्त रहता है । अवशिष्ट धातुमल्लोमें याने रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र इन पांच धातुओंमें तथा पुरीष व मूत्र इन दो मल्लोमें कफ आश्रित रहता है । इस प्रकार वात, पित्त व कफ इन तीन दोषोंके ये दस याने सात धातु व तीन मल आश्रय स्थान हैं । २१ ॥

नानाविध भुक्त खाद्यादि पदार्थोंका पेटमें जाठराग्निसे पचन होकर जो साररूप रस होता है उसमें अनेकविध द्रव्योंके द्रवीभूत अंश रहते हैं । इस रसके स्वरूपके संबंधमें सुश्रुत कहता है “ मनुष्य जो पांचभौतिक व चतुर्विध याने खाद्य, पेय, लेह्य व चोष्य पदार्थोंका सेवन करता है—जो पदार्थ षड्रस (स्यादु, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त व कषाय) युक्त होते हैं, जिनका वीर्य द्विविध अथवा अष्टविध होता है और जो अनेकगुणयुक्त होते हैं—उसका (ठीक पचन होनेपर) जो तेजोभूत व परमसूक्ष्म सार निकलता है उसीको ‘रस’ कहते हैं वद (रस) द्रवानुसार होकर जिन स्नेहन जीवन, तर्पण, धारणादि

द्रव्यात्समाकृष्टाः सूक्ष्मांशाः । परमाणवः एकत्वमापन्ना एकरूपाः विलीनाश्च परस्पर-
मिति पृथग्भावमुद्दिश्या रसरूपत्वमागताः । तिष्ठन्ति । द्रव्यांशसंधानकर इति रसगतानां
द्रव्यांशानां संधानकरः परस्परविलीनत्वोत्पादकः । संधानकर्मकृदिति संधानं विश्लेषणाख्यं
कर्म करोतीत्येवंरूपः । अतश्च रसो धातुः श्लेष्मस्थानं प्रकीर्तितम् । परस्परसंगतानां आहाराकृष्ट-
द्रव्यांशानां संधानकरत्वात् रसधातुः श्लेष्मस्थानमिति । (२१-२४)

मेदो मज्जा तथा शुक्रं स्निग्धरूपा हि धातवः ।

तेषु श्लेष्मा स्निग्धरूपो विशेषेणावतिष्ठते ॥ २५ ॥

श्लेष्मस्थानं मांसधातुः संधातादधिगम्यते ।

मेदसो मज्जाः शुक्रस्य च स्निग्धरूपत्वात् संघातरूपत्वाच्च मांसस्य चत्वार एते धातवः
श्लेष्मस्थानरूपा इति सहजानुमेयमिति । (२५ ॥)

द्रवस्वरूपे रुधिरे विलीनाः परमाणवः ॥ २६ ॥

विभज्यमानास्तिष्ठन्ति सर्वदा पित्ततेजसा ।

विभक्ताश्चाथ मांसत्वमायान्ति परमाणवः ॥ २७ ॥

रक्तस्थेनोष्मणा सारकिट्टांशानां विभाजनम् ।

भवत्यतो रक्तधातुः पित्तस्थानमुदीरितम् ॥ २८ ॥

विशिष्ट कार्य करता है उनके कारण सौम्य माना जाता है ।” इस रसमें अने-
कविध द्रव्योंके द्रवीभूत सूक्ष्म अंश जो भिन्न २ शरीरावयवोंके समान गुणोंके और
उनकी वृद्धि करनेवाले होते हैं-परस्परमें मिश्रित होकर एकरूपसे रहते हैं । यहांपर
यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि, द्रव्यका उत्पादक है तेज और तेजोरूप दोष
है पित्त । ऐसी स्थितिमें वस्तुतः द्रवस्वरूप रसको पित्तका स्थान बतलाया जाना
उचित होगा; न कफका । किंतु यह आशंका निराधार है । कारण अनेकविध
अशित (भुक्त) व पीत द्रव्योंमेंसे समाकृष्ट परमाणु याने सूक्ष्मांश अपने २ पृथक्
रूपको छोड़कर परस्परमें विलीन होते हुए एकरूपको याने रसरूपको प्राप्त करते हैं ।
अर्थात् इसमें संधान याने श्लेषण कर्मको करनेवाला जो श्लेष्मा उसीके कारण
अनेकविध द्रव्यांशोंका पृथक् भाव नष्ट होकर वे परस्परमें विलीन हो जाते हैं
याने एकरूप-रसरूप बनते हैं । इसलिये कहा है कि रसधातु श्लेष्माका स्थान
है कारण वह आहारमेंसे आकृष्ट द्रव्यांशोंका संधान करता
है । २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

श्लेष्मण आश्रयभूतान् धातून्भिधाय पित्ताश्रयत्वं रक्तस्य विवृणोति—द्रवस्वरूप इत्यादि । विलीनाः विद्रुतावस्थाः । विभज्यमानाः पृथक् क्रियमाणाः । पित्ततेजसा इति रक्तगतेन पित्तस्वरूपेण तेजसा । विभक्ताः इति पचनान् पृथक्भावमागताः । अथ विभागानन्तरम् । मांसत्वं संघातरूपत्वमायान्ति । सारकिट्टाशानामिति सारः अवयवानामुपवृंहणहरो विभागः । किट्टं च उत्सर्जनीयोऽशः । तयोर्विभाजनं पृथक्करणम् । रसधातुवन् द्रवस्वरूपेऽपि रक्ते विलीनाः द्रव्यांशाः तद्रतात् पित्तान् विभज्यमानावस्थायामवतिष्ठन्ते । ततश्चोक्तं पित्तस्थानं रक्तमिति । (२६-२८)

आस्थानि दृढसंघातरूपाणि कठिनान्यपि ।

वातस्थानं समाख्यातं चिन्तनीयमिदं भवेत् ॥ २९ ॥

दृढसंघातरूपाणीति मांसादपि दृढानि । अस्थानि वातस्थानमाख्यातम् इति चिन्तनीयं विचारणीयम् । संश्लेषकर्मणा श्लेष्मणैव संघातोत्पत्तिरिति दृढसंघातरूपमस्थि कथं वियोगकारिणो वातस्य स्थानमित्येतच्चिन्तनीयम् । तदनुसारेणाग्रे वक्ष्यते । (२९)

देहे संघातरूपं स्यादस्थि मांसमिति द्वयम् ।

दृढरूपं विशेषेण स्यादस्थि कठिनं तयोः ॥ ३० ॥

परस्परालिंगनेन संहताः परमाणवः ।

मेद, मज्जा व. शुक्र इन तीन धातुओंका स्वरूप स्निग्ध होनेके कारण उनमें स्निग्धरूप कफका विशेष रीतिसे होना स्वाभाविक है । तथा मांस धातु संघातरूप होनेसे वहभी श्लेष्मस्थान माना जाता है । २५ ॥

रक्तधातु रसके समान द्रवस्वरूप होता हुआभी पित्तका स्थान माना गया है । कारण द्रवस्वरूप रक्तमें विलीन याने विद्रुत परमाणु नित्य पित्तके तेजसे याने अपने अंगभूत उष्माके कारण विभज्यमान स्थितिमें रहते हैं । याने उनके पृथक्करणकी क्रिया रक्तमें नित्य चली रहती है । और वे जब पूर्ण रीतीसे विभक्त हो जाते हैं तब उनको मांसस्वरूप प्राप्त होता है । रक्तांतर्गत उष्णताके कारण सार याने शरीर अवयवोंका पोषक विभाग, किट्ट याने त्याज्य भाग इनका विभाजन याने पृथक्करण होता है । इसलिये बतलाया गया है कि रक्तधातु पित्तस्थान है । २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

मांसकी अपेक्षा अस्थि अधिक दृढसंघातरूप अतएव कठिन है । बतलाया है कि अस्थि वातका स्थान है । शंका यह हो सकती है कि अपने

वायुना शोषिताः पश्चात्काठिन्यमुपयान्ति ते ॥ ३१ ॥

स्थिरत्वं कठिनीभावादस्थिधाताववस्थितम् ।

काठिन्योत्पादनादस्थि वातस्थानमिति स्मृतम् ॥ ३२ ॥

संघातरूपमिति विशिष्टाकारेणावस्थितम् । अस्थि मांसमिति द्वयम् । तयोरपि विशेषेण दृढरूपमस्थि । परस्परालिङ्गनेनेति परस्परसंश्लेषणम् । संहताः एकीभावमागताः । पश्चात् इति एकीभावानन्तरम् । वायुना शोषिताः शुष्कत्वमानीताः । काठिन्यं स्नेहरहितत्वम् । काठिन्योत्पादनात् स्नेहसंश्लेषणात् अस्थि वातस्थानमिति स्मृतमाख्यातम् । संघातरूपेऽप्यस्थनि संश्लेषणात् काठिन्योत्पादकं कर्म वायोरिति अस्मां वातस्थानत्वेनोपदेशः समीचीन इति । यथोक्तं चरकसंहितायाम् । खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम् । करोति तत्र सौविध्यमस्नां मध्ये समीरणः (३-३२)

शरीरगानां धातूनामंशा ये क्षीणशक्तयः ।

शकृन्मूत्रं स्वेद इति त्रिविधा मलसंज्ञकाः ॥ ३३ ॥

शकृत् घनत्वान्मूत्रं च द्रवत्वात्समुदाहृतम् ।

श्लेष्मस्थानं स्वेद औष्ण्यात्पित्तस्थानमुदाहृतम् ॥ ३४ ॥

मलानां दोषाश्रयत्वं विशदीकर्तुमुच्यते-शरीरगानामित्यादि । क्षीणशक्तय इति हीनसामर्थ्याः । शकृन्मूत्रं स्वेद इति एवं संज्ञाभिरुपदिष्टाः । त्रिविधाः घनद्रवस्वेद-

संश्लेषण कर्मसे श्लेष्मा ही संघातोत्पादक है अतः दृढसंघातरूप अस्थि कफका स्थान होना चाहिये न वातका ॥ २९ ॥

उक्त शंकाका समाधान निम्न रीतिसे हो सकता है । शरीरमें अस्थि व मांस ये दोही धातु ऐसे हैं कि विशिष्ट आकारके कारण वे संघातरूप होते हैं । इन दोनोंमें अस्थिका रूप विशेष दृढ है । परस्परके आलिङ्गनसे प्रथम संहत याने एकत्वको प्राप्त परमाणु जब पश्चात् वायुद्वारा शुष्क किये जाते हैं तब उनमेंका स्नेह शोषित हो जानेके कारण वे रूक्ष व कठिन बनते हैं । काठिन्यके कारण अस्थिओंमें विशेष स्थिरत्वकी निर्मिति होती है । इसप्रकार अस्थि संघातरूप होते हुएभी उनमें काठिन्यका उत्पादन करनेकी क्रिया वायुही करता है इसलिये कहा गया है कि वायुका स्थान अस्थि है । ३० । ३१ ॥ ३२ ॥

शरीरगत धातुओंके जो क्षीणशक्ति याने हीनसामर्थ्यके अंश होते हैं उनकोही शकृत्, मूत्र व स्वेद नामक त्रिविध मल संज्ञासे जाना जाता है । उनका त्रैविध्य अनुक्रमसे घन, द्रव व बाष्प रूपमें रहता है । उनमेंसे शकृत् घन

स्वरूपाः । मलसंज्ञकाः मलानां स्वरूपं विविधं च प्रागभिहितं पूर्वार्धस्याष्टमे दर्शने ।
घनत्वात् संघातरूपत्वात् । द्रवत्वात् अव्धातुरूपत्वाच्च मलद्वयमिदं श्लेष्मस्थानम् ।
औष्ण्यात् उष्णत्वाद्धेतोः । स्वेदश्च पित्ताश्रयः पित्तस्थानमित्याख्यातः । (३४)

पोषणं पचनं धातुमलामां च विसर्जनम् ।

प्रवर्तते सदा देहे सर्वत्राविरतं तथा ॥ ३५ ॥

अपि भुक्तस्य पचनं सारकिट्टविवेचनम् ।

संश्लेषणं च धातूनां पोषकद्रव्यसंग्रहात् ॥ ३६ ॥

द्रव्याणां मलरूपाणां तथा चोत्सर्जनं बहिः ।

क्रियाः स्थानान्तरेष्वेताः प्रवर्तन्ते विशेषतः ॥ ३७ ॥

वातादीनां सर्वदेहव्यापित्वेनावस्थितानां सामान्यक्रियाकारित्वेऽपि स्थानविशेषानुरोधान्
क्रियाविशेषोत्पादकत्वेनिदर्शनार्थमुच्यते पोषणमित्यादि । पोषणपचनविसर्जनानां त्रयाणामपि
धातुमलानामित्यनेनान्वयः । पोषणं उपबृंहणम् । पचनं सारकिट्टरूपेण पृथक्करणम् ।
विसर्जनमिति धातूनामुत्तरधातौ विक्षेपणम् । मलानां च शरीरान् बहिस्तसर्जनम् । सदा
निरंतरम् । आविरतं अखंडितं यथा प्रवर्तते । अपि तु भुक्तस्य पचनम् सारकिट्टविवेचनम्
संश्लेषणमिति समाकर्षणम् संघीभावोत्पादनमिति भावः मलरूपाणामन्नकिट्टादिरूपाणाम् ।

व मूत्र द्रव होनेके कारण उनको श्लेष्मस्थान माना गया है और स्वेद याने बाष्प
उष्ण होनेके कारण वह पित्तस्थान माना गया है । ३३ ॥ ३४ ॥

वातादि दोष शरीरव्यापी होते हुएभी और उनकी क्रिया सामान्य
होते हुएभी स्थानविशेषके अनुगोचसे विशिष्ट क्रियाओंको करतेही हैं ।
सामान्यरीतिसे धातुओंका तथा मलोंका पोषण याने उपबृंहण, पचन याने
सारकिट्टोंका पृथक्करण और विसर्जन याने पूर्व धातुका उत्तर धातुमें विक्षेपण तथा
मलोंका शरीरके बाहर उत्सर्जन ये तीन क्रियायें अखंडित रीतिसे निरंतर शरी-
रके प्रत्येक अवयवमें प्रवर्तित होती हैं । किंतु उक्त पदार्थोंका पचन एवं सारकि-
ट्टपृथक्करण, तथा पोषक द्रव्योंके संग्रहद्वारा धातुओंका संश्लेषण याने समाकर्षण-
संघीभावका उत्पादन, मलरूप द्रव्योंका याने शकृन्मूत्रादिका शरीरके बाहर विसर्जन
ये क्रियायें आमाशय, पक्वाशयादि विशिष्ट स्थानोंमेंही विशेष प्रमाणमें होती
हैं ३५-३७ ॥

वातादि दोषोंके गुणकर्मविशेषोंके अनुसार भिन्न २ स्थान अष्टांगद्वयमें

बहिः शरीरात् बहिः । स्थानान्तरेष्विति आमपक्वाशयादिसंज्ञेयु स्थानेषु । विशेषतः विशेषरूपेण प्रवर्तन्ते । (३५-३७)

पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनैन्द्रियम् ।

स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः ॥ ३८ ॥

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः ।

दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥ ३९ ॥

उरःकंठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः ।

भेदो प्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ ४० ॥

एवं वातादिदोषाणां स्थानभेदः प्रकीर्तितः ।

दोषाणां वातादीनां गुणकर्मविशेषानुसारं स्थानांतराण्यष्टांगहृदयेऽभिहितानि यथा । पक्वाशय इति मलाशयः स्थूलांत्रमिति । कटी श्रोणिमंडलम् । सक्थिशब्देन सक्थिद्वयं हस्तद्वयं चोपलक्षणादधिगन्तव्यम् । श्रोत्रमिति श्रवणेंद्रियाधिष्ठानं कर्णयुग्मम् । एतानि वातस्थानानि । सर्वेष्वपि विशेषतः पक्वाधानं स्थूलांत्रं प्रधानम् । पित्तस्थानान्युपदिशति । नाभिरिति नाभिदेशानुगत उदरान्तर्भागः । ग्रहणीकलेति संज्ञायोपदिष्टः स्थूलांत्रानुबद्धो लघ्वंत्रस्यावयवः न उदरस्योपरिस्थितः प्रायेणावर्तनिभो नाभिरित्याख्यया व्यवहियमा-

बतलाये गये हैं । जैसे:—पक्वाशय याने मलाशय अथवा स्थूलांत्र, कटी याने श्रोणिमंडल, सक्थि याने दो जांघे एवं दो हात, श्रोत्र याने श्रवणेंद्रियके अधिष्ठान कर्णद्वय, अस्थि व स्पर्शनैन्द्रिय याने स्पर्शेंद्रियका अधिष्ठान त्वचा—ये सब वातके स्थान हैं तथापि उनमें विशेषतः पक्वाशय याने स्थूलांत्र वातस्थान है । नाभि याने नाभिप्रदेशके आसपास उदरका अंतर्भाग । यहां उदरके ऊपर जो गोलाकर व नाभिनामसे व्यवहारमें जिसका परिचय रहता है वह विशिष्ट बाह्य अवयव अभिप्रेत नहीं है । आमाशय याने लघ्वंत्र । आमाशयसे यहांपर उरोगत आमान्नके आशयका ग्रहण नहीं करना चाहिये । कारण उसकी श्लेष्मस्थानोंमें परिगणना की गयी है । जाठराग्निका प्रधान स्थान लघ्वंत्र अथवा क्षुद्रांत्रही है । भुक्त अन्न अपक्व व पच्यमान अवस्थामें क्षुद्रांत्रमेंभी रहता है । अतः उसीका यहांपर आमाशय संज्ञासे निर्देश किया गया है । वैसेही ज्वरादि विकारोंमेंभी ' पित्त आमाशयमें उन्मार्गगामी होता है ' आदि वर्णनमें क्षुद्रांत्रकाही आमाशयके अर्थसे स्वीकार किया गया है । अर्थात् आमा-

णोऽवयवः पचनादिकर्मविशेषत्वेनागणनीय इति । आमाशय इति लब्धं च । भुक्तानाशयो इति समाकारः श्लेष्मस्थानमित्युक्तम् । क्षुद्रांत्रस्यैव प्राधान्येन जठराग्निस्थानत्वेन निर्देशात् । क्षुद्रांत्रेऽपि भुक्तमपक्वं पच्यमानाग्रस्थायामवतिष्ठत इत्यामाशयसंज्ञयाऽस्य व्यवहारः । ज्वरादिविकारेषु पित्तमामाशयादुन्मार्गतामुपैतीत्यस्य क्षुद्रांत्रस्वीकारेणैवार्थसंगतिरिति । स्वेदो बाष्पावस्थावस्थितं द्रव्यम् । स्विचतेऽनेनेति, स्वेद इति निरुक्तिर्बाष्पावस्थायां न नीरत्वावस्थायाम् । लसीका जलसदृशः पेशीनामुपर्यवस्थितोऽध्वातुविशेषः । रुधिरं रक्ताख्यो धातुः । रसः रसधातुः । सूक्ष्मानुसूक्ष्मस्रोतःसंचारक्षमं द्रवत्वमसंस्थितत्वं च रसे पित्तेन तेजोरूपेण संपद्यत इति । दृग्गिति दर्शनेन्द्रियाधिष्ठानं चक्षुर्द्रव्यम् । स्पर्शनं स्पर्शनेन्द्रियाधिष्ठानं त्वगंतर्बहिर्वस्थिता । वातस्थानत्वेनोक्तस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य संकोचविकाससहायकत्वेनात्र पित्तेनोष्णगुणेन भाव्यमिति । पित्तस्थानेष्वेतेषु नाभिर्विशेषतः प्रमुखं स्थानम् । कफस्थानान्युक्तानि यथा-उरः इत्यत्र उरःस्थानगतं हृदयम् । वक्ष्यमाणस्यावलंबकसंज्ञस्य श्लेष्ममेदस्याश्रयत्वेन विशदीकरणं चास्यावलंबकश्लेष्मविवरणेऽवलोकनीयम् । कंठ इति श्वासाश्रयहे स्रोतसी । शिरो मस्तिष्कमिति तर्पकारव्यस्य श्लेष्मणः स्थानमित्यग्रे व्याख्यातम् । क्लोमेऽत्यामाशयानुवद्धोऽवयवविशेषः । क्लोम पिपासास्थानमित्यायुर्वेदीयतंत्रेषूपदिष्टम् । अन्नसंधातक्लेदकारिणो जलस्वरूपस्यात्रावस्थानात् । भुक्तोद्भवायां पिपासायामामाशये द्रवावस्थाव्यवस्था दर्शनादामाशयैकदेश आमाशयाऽनुवद्धोऽवयवविशेषः पिपासास्थानमित्यनुमानमुलभम् । रसो रसधातुः । मेद इत्येतदाख्ययाऽख्यातो धातुविशेषः । घ्राणभित्ति घ्राणेन्द्रियाधिष्ठानं नासिका ।

शयका क्षुद्रांत्र यह अर्थ योग्य है ।) स्वेदका अर्थ बाष्पावस्थामें अवस्थित द्रव्य ('जिससे स्वेदन होता है वह स्वेद' इस निरुक्तीसेभी स्वेदसे बाष्पावस्थाकाही बोध होता है न जलावस्थाका), लसीका याने पेशीओंके ऊपर रहनेवाला एक जलसदृश विशिष्ट उपधातु, रक्त, रस (धातु) (रसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतसोंमें संचार करनेकी क्षमता, द्रवत्व तथा असंस्थितत्व याने प्रवाहित्व तेजोरूप पित्तकेही कारण उत्पन्न होते हैं ।), दृक् याने दर्शनेन्द्रियके अधिष्ठान नेत्रद्रव्य, स्पर्शनेन्द्रिका अधिष्ठान अंतर्ब्राह्मत्वचा (त्वचाका वातस्थानोंमेंभी समावेश किया गया है । वहांपर त्वचाकी संकोच विकसनशीलता अभिप्रेत है । और पित्तस्थानके समावेशसे त्वचाकी उष्णता अभिप्रेत ।) ये सब पित्तके स्थान हैं । किंतु उनमें नाभि प्रमुख पित्तस्थान है । कफके स्थान उर, कंठ, शिर, क्लोम, संधि, आमाशय, रस, मेद, घ्राण व जिह्वा हैं । किंतु उनमें उर प्रधान स्थान है । (उर = उर-स्थानगत हृदय नामका अवयव । अवलंबक नामके कफके एक भेदका हृदयही आश्रयस्थान बतलाया गया है जिसका विवरण आगे अवलंबक कफके वर्णनमें

जिह्वा चेति । कफस्थानेषु सुतरां विशेषेणोरः हृदयं स्थानं प्रमुखमिति । एवं वातादि-
दोषाणां स्थानभेदः प्रकीर्तितः । अष्टांगहृदयाख्ये तत्रे वाग्भटेनेति । (३८-४० ॥)

पक्वाशयस्थः कुरुते पुरीषोत्सर्जनं वहिः ॥ ४१ ॥

वायुः कटीसक्थिगतः श्रोणिसक्थिविचालनम् ।

शङ्खश्रवणहेतुः स्यात् श्रवणस्थः समीरणः ॥ ४२ ॥

स्यादस्थिसंस्थितो वायुरस्थनां काटिन्यकारणम् ।

बहिरन्तः स्पर्शहेतुर्वायुरेव त्वगाश्रितः ॥ ४३ ॥

स्थूलांत्रसंचितस्यान्नमलस्योत्क्षेपणं बहिः ।

कुरुते शङ्खदाख्यस्य समीरो वेगवान् यतः ॥ ४४ ॥

स्थानं प्रधानमाख्यातं वायोः पक्वाशयस्ततः ।

वातादीनां पक्वाशयादिस्थानविशेषेषु कार्यविशेषदर्शनार्थमुच्यते । पक्वाशयस्थ इत्या-
दिनां । पक्वाशयस्थ इति स्थूलांत्राश्रितः । स्थूलांत्रपेशीगतेषु सूक्ष्मस्रोतःस्रष्टृस्थितो वायुरिति ।
अन्नफिट्टोद्भवः स्थूलांत्रस्यांतर्भागे संचितो वायुरुत्सर्जनीयो मलस्वरूपः । न चेतनोत्सर्जनादिकं
कार्यं विधीयते । वायोः प्राणादिपंचभेदानामेकश्चापानाख्यो वायुरेव वक्ष्यमाणो पुरीषोत्सर्गकरोऽपि
उदराधोभागे स्थूलांत्रात् बहिः कलास्रोतोगतो भिन्नश्चैतस्मादधिगन्तव्यः । श्रोणिसक्थि-

किया गया है । कंठ = आसवह तथा अन्नवह स्रोतस् । शिर = मस्तिष्क जो
तर्पक कफका आश्रयस्थान आगे बतलाया गया है । क्लोम = आमाशयसे निबध्द
विशिष्ट अवयव । आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें क्लोमको पिपासाका स्थान बतलाया है । अन्न-
संघातका क्लेदन करनेवाले जलस्यरूप पदार्थका यहांपर अवस्थान है । आमाशयमें
द्रवकी अल्पता हो जानेपर भोजनके बाद प्यास लगती है । इससे पिपासास्थान
क्लोम आमाशयसेही संबद्ध हुआ एक विशिष्ट अवयव है, यह अनुमान सुलभतासे
हो सकता है । रस = रसधातु । घ्राण = घ्राणेंद्रियका अधिष्ठान नासिका ।
इसप्रकार अष्टांगहृदयमें वातादि दोषोंके भिन्न २ स्थान बतलाये गये हैं ।
३८॥ ३९॥ ४०॥

पक्वाशयादि भिन्न २ स्थानोंमें वातादि दोष जो विशिष्ट कार्य करते हैं
उनका अब विवरण करते हैं । प्रथम वायुके कार्योंका वर्णन करते हैं । पक्वाशयस्थ
याने स्थूलांत्रमेंका वायु पुरीषको याने घनस्वरूप मलको शरीरके बाहर फेंकता
है । यह वायु स्थूलांत्रके पेशीओंके सूक्ष्म स्रोतसोंमें रहता है । यह न समझना

गत इति श्रोणिसन्निधिसमाश्रितासु स्नायुष्ववस्थितः स्नायुसंकोचनप्रसारणाभ्यां श्रोणिसन्निधिविचालनम् आकुंचनप्रसारणात्मकम् । करोति । अस्थिसंस्थितः अस्थिगतेषु स्रोतःस्वापूरितः । बहिरंतःस्पर्शहेतुरिति बाह्यो बाह्यपदार्थानाम् अंतरंतःकरणोद्भवैर्भाविः संज्ञावहसंबद्धस्नायुसंकोचविकासोद्भूतः स्पर्शस्तस्य हेतुः । त्वगाश्रितः सर्वशरीरस्यावरणरूपायां बाह्यायां त्वाचि तथा अंतरवयवावरणरूपायां कलासंज्ञायां चाश्रितः । वातस्थानेषु पक्वाशयप्राधान्येहेतुं विशदीकरोति । स्थूलांत्रसंचितस्य अन्नमलस्य पुरीषसंज्ञस्य वेगवान् जवन इति । वायुर्वहिरुत्क्षेपणं कुरुते । बहुलप्रमाणस्य पुरीषस्योत्क्षेपणं वेगविशेषात्संभवतीति पक्वाशयो वातस्य स्थानं प्रधानं । (४१-४४॥)

नाभिः प्रधानं पित्तस्य स्थानं यत्समुदाहृतम् ॥ ४५ ॥

पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहण्याख्या कला हि सा ।

स्थानं पाचकपित्तस्याद्रवरूपस्य तन्मतम् ॥ ४६ ॥

आहारस्यात्र भुक्तस्य सारकिट्टविवेचनम् ।

प्रमुखं ग्रहणी पित्तस्थानमस्मात्प्रकीर्तितम् ॥ ४७ ॥

वातस्थानविशेषानाभिधाय पित्तस्थानविशेषस्वरूपं विवृणोति । नाभिरित्यादि । पक्वामाशयमध्यस्था इति स्थूलांत्रक्षुद्रांत्रयोर्मध्ये स्थिता । आमशयशब्दोऽत्र क्षुद्रांत्रवाची ।

चाहिये कि यह वायु और अन्नमलसे जो उत्पन्न होता है और स्थूलांत्रके अंतर्भागमें जो संचित होता है वह वायु ये दोनों एकही है । कारण पहिला क्रियाकर, सामर्थ्यवान् है । और दूसरा मलस्वरूप, सामर्थ्यहीन, शरीरके बाहर उत्सर्जन करने योग्य रहता है । यहांपर जो अभिप्रेत वायु है वह है वायुके प्राणादि पांच भेदोंमेंसे अपान नामका भेद जिसका आगे विवरण किया गया है । यह अपान वायुही पुरीषादि मलोंकी उत्सर्जन क्रियाका कारक है और उदरके अधोभागमें स्थूलांत्र के बाहर कला (आवरण) के सूक्ष्म स्रोतस्रोतोंमें रहता है । अर्थात् वह मलस्वरूप वायुसे भिन्न है । कटी (श्रोणि) सन्निधगत याने श्रोणिभाग और हात पैरोंके स्नायुओंमें अवस्थित वायु स्नायुओंके संकोच प्रसरणकी क्रियाद्वारा श्रोणिभागका तथा हात व पैरोंका आकुंचन प्रसरणात्मक संचालन करता है । याने उसकेही कारण कटीभागकी और हात व पैरोंकी हलचल हुआ करती है । श्रवणस्थ याने कर्णस्थित वायुके कारण शब्दका श्रवण होता है । अस्थिसंस्थित याने अस्थिगत स्रोतस्रोतोंमें भरा हुआ वायु अस्थियोंमें काठिन्य उत्पन्न

भुक्तानसंग्रहलक्षणं दतिसमाकारमामाशयमभिप्रेत्य तस्य स्थूलांत्रस्य च मध्येऽवस्थितं क्षुद्रांत्रमेव ग्रहणी । “ अन्नस्य पक्ता पित्तं तु पाचकारच्यं पुरेरितम् । दोषधातुमलादीनामून्मेऽस्यात्रेय-
शासनम् ॥ तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणान् ग्रहणी मता ॥ इत्यष्टांगहृदयोक्तमनुसृत्य आमाशयान् भुक्ता-
न्नाधारान् अन्नस्य ग्रहणं स्वीकरणमाकर्षणं वा करोतीति क्षुद्रांत्रं ग्रहणीत्येवंविधोऽभिप्रायस्तु न
समीचीनः । ग्रंथोक्त्यंतरविरोधान् । यथा अष्टांगहृदये ग्रहणीवर्णन एव स्थिता पक्वाशय-
द्वारि भुक्तमार्गाग्लेब सा । भुक्तमामाशये रुद्ध्वा सा विपाच्य नयत्यधः ॥ बलवत्यबला त्वन्नमाम-
मेव विमुंचति । इति ग्रहणीसंज्ञाया यथार्थं कार्यविशेषणोपदर्शितम् । ग्रहणशब्देनावारोधोऽभिप्रेतः ।
न स्वीकारः समाकर्षणं वा । भुक्तमार्गाग्लेब सा । भुक्तमामाशये रुद्ध्वा इति वर्णनान् ग्रहणशब्दे-
नावारोधः कार्यं ग्रहण्या उपदर्शितम् । सुक्षुतेनापि-षटी पित्तधरा नाम या चतुर्विधमन्नपानमुपभुक्त-
मामाशयान् प्रच्युते पक्वाशयोपस्थितं धारयति । इति ग्रहणीकलायाः कार्यमवारोधकत्वमाख्यातम् ।
स्थिता पक्वाशयद्वारि । इत्यष्टांगहृदयोपवर्णनान् पक्वाशयोपस्थितं धारयति । इति च सुक्षुतोक्तान्
स्थूलांत्रानुबद्धा ग्रहणीकलेऽत्यधिगम्यते । भुक्तमामाशये रुद्ध्वा सा विपाच्य नयत्यधः । बलवती ।
अबला त्वन्नमाममेव विमुंचति । इत्यन्नस्य पचनं क्षुद्रांत्रमनुलक्ष्योपवर्णनीयं न तथान्नाधारमित्यन्नपचन-
कर्मानुस्मरणादुपलक्ष्यम् । अत एवोक्तं उल्लणाचार्येण पक्वामाशयमध्यस्थमिति नाभिस्थम् । ततो
ग्रहणी नाम क्षुद्रांत्रस्यावयवश्चरमः स्थूलांत्रानुबद्ध इति । तदंतर्गता च कला ग्रहणीसंश्रितत्वान्
ग्रहणीकला नाम । पाचकपित्तस्येति पाचकसंज्ञकस्य पित्तस्य । अद्रवरूपस्येति द्रवरहि-

करता है । त्वगाश्रित वायु याने सर्व शरीरकी आवरणरूप जो बाह्य त्वचा उसमें
तथा अंतरवयवोंकी आवरणरूप त्वचा जिसको कला कहते हैं उसमें आश्रित
वायुके कारण बाह्य पदार्थोंके स्पर्शका ज्ञान होता है । तथा संज्ञावह स्त्रोतसोंसे
संबद्ध स्नायुओंके संकोचविकाससे उद्भूत जो स्पर्श उसकाभी ज्ञान इसी वायुके
कारण होता है । अंतःकरणमें उद्भूत भावोंसे संज्ञावह स्त्रोतसोंसे संबद्ध स्नायु-
ओंका आंदोलन, होने लगता है । पक्वाशयकोही वायुका प्रधान स्थान माननेका
कारण यह है कि वहां वह अति वेगवान् होता है और अपने वेगकी प्रबलतासे
स्थूलांत्रमें संचित अन्नमल पुरीषको शरीरके बाहर फेंक देता है । ४१ ॥ ४२ ॥
४३ ॥ ४४ ॥

नाभिको पित्तका प्रधान स्थान बतलाया है । कारण, पक्वाशय याने
स्थूलांत्र और आमाशय याने क्षुद्रांत्रके मध्यमें जो ग्रहणी नामकी कला
वही पाचक पित्तका स्थान है । कुछ लोग उरोभागमें अवस्थित पखालके
आकारका (दतिसमाकार) भुक्तानका प्रथम आधार (जहां आहारका संग्रह प्रथम

तोष्मरूपस्य । यथोक्तमष्टांगहृदये । तत्र पक्वामाशयमध्यगम् । पंचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणो-
दयात् । त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम् । अष्टांगसंग्रहेऽपि—यदामपक्वाशयमध्यस्थं
पंचभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणोत्कर्षाक्षपितसोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभावम् । इत्याद्युपवर्णितम् ।
चरकसुश्रुताभ्यां ‘ त्यक्तद्रवत्वमित्ययं ’ विशेषो नोपदर्शितः । यथा चरकसंहितायाम्—
स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि इति पित्तस्थानत्वेन नामिर्नाख्यातः ।
आमाशयश्च पित्तस्थानं प्रधानमभिहितम् । यथा—तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानमिति । पित्त-
स्थानेष्वामाशय इति आमाशयाधोभागः इति चास्मिन् चक्रपाणिना व्याख्यातम् । उक्तं-
सुश्रुतसंहितायाम् । तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति,
विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि तत्र स्थाने चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य च
अभिकर्मणाऽनुग्रहं करोति । तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा । पक्वामाशयमध्यस्थमिति नामित्यं
इति डह्णणाचार्यैरेव व्याख्यातम् । अपि तु ‘ पाचकपित्तस्य त्यक्तद्रवत्वं नोक्तम् । उपभुक्तमन्न-
माहाराधारे आमाशयाख्ये तत्रस्थेन क्लेदकाख्येन श्लेष्मणा द्रवत्वभागसं क्षुद्रात्रे तत्रत्येन पित्तेन
द्रवरूपेण विपच्यत इत्यामाशयः क्षुद्रात्रापरपर्यायः पाचकपित्तस्थानं प्रमुखं चेति सुगमावबोधमपि
पुनरपि द्रवरूपस्य पित्तस्य योगात् सम्यक् स्वेदनान्तरं सारकिट्टविवेचनावसरे सारशेषणस्थानं द्रववि-
हीनमित्युपलक्ष्य क्षुद्रात्रस्य चरमोऽंशःस्थानं त्यक्तद्रवरूपस्य पित्तस्येति ग्रहण्याः पित्तस्थानत्वेन

होता है) आमाशय और पक्वाशय—स्थूलांत्र इन दोनोंके मध्यमें लघ्वंत्र होनेके
कारण उसीको (लघ्वंत्रको) ग्रहणी मानते हैं । अष्टांगहृदयमें “ अन्न पचन
करनेवाला पाचक पित्त जिसका वर्णन दोषधातुमलादिका ऊष्मा इस प्रकार
आत्रेय संहितामें किया है उसका अधिष्ठान ग्रहणी है । कारण वही अन्नका
ग्रहण (पचनकार्य होनेतक रोकना) करती है । इस प्रकार ग्रहणीका वर्णन
किया है । और इस वर्णनके आधारपर वे (लघ्वंत्रको ग्रहणी माननेवाले) कहते
हैं कि, लघ्वंत्रही आमाशयसे याने भुक्तानको धारण करनेवाले जठरसे अन्नका
ग्रहण—स्वीकार अथवा आकर्षण करता है इसलिये लघ्वंत्रकोही ग्रहणी मानना
चाहिये । किंतु उनका यह प्रतिपादन असंगत है । कारण अष्टांगहृदयकेही
अन्य वचनोंसे उक्त अभिप्रायका विरोध आता है । अष्टांगहृदयमें ग्रहणी-
वर्णनमेंही कहा है “ वह (ग्रहणी) पक्वाशयके द्वारमें भुक्तमार्गकी अर्गलाके
समान रहती है और अपने सामर्थ्यसे भुक्तानको आमाशयमेंही रोककर उसको
विपाचित कर पश्चात् नीचे जाने देती है । यह ग्रहणी जब दुर्बल हो जाती

निर्देशः । पचनक्रियोदकैसरूपस्य सारकिट्टिविवेचनस्य कर्तृत्वान् पित्तस्थानेषु ग्रहण्याः प्रामुख्यं चेति । (४७)

अंतःकोष्ठे महास्रोतोविभागाः प्रमुखाख्ययः ।

भुक्तस्य प्रथमाधारश्चेको दृतिसमाकृतिः ॥ ४८ ॥

द्वितीयस्तदधोदेशे क्षुद्रांत्रमिति कथ्यते ।

तृतीयभागः स्यात्स्थूलमंत्रं पक्वाशयाभिधः ॥ ४९ ॥

पित्तस्थानस्यामाशयस्य विशदीकरणार्थमुच्यते । अंतःकोष्ठ इति कोष्ठान्तः । महा-
स्रोतोविभागाः । कंठादपानं यावत् आमपक्वान्नाभिवाहिनी नलिका महास्रोतःसंज्ञा । तस्य
त्रयो विभागाः प्रमुखा इति । भुक्तस्येत्याहारस्याभ्यवहृतस्य । प्रथमाधारः प्रथममाशय
स्थानम् । दृतिसमाकृतिः जलवस्तिसमाकारः । तदधोदेशे प्रथमस्याधारस्याधस्तात् ।
क्षुद्रांत्रमिति स्थूलांत्रपेक्षया परिणाहस्याल्पत्वात् क्षुद्रांत्रम् । स्थूलं परिणाहाधिक्यार् ।
पक्वाशयाभिधः पक्वाशयसंज्ञः । (४८-४९)

भागद्वयं तु प्रथमं प्रोक्तमामाशयाऽख्यया ।

यतश्चाहार एतस्मिन्नधिपक्वोऽवतिष्ठते ॥ ५० ॥

अपि संज्ञान्तरं कर्मविशेषस्यावबोधकम् ।

अवश्यं स्याद्वि भुक्तस्य क्लेदनं केवलं कफात् ॥ ५१ ॥

है, आम अन्नकोही नीचे छोड देती है । ” इस वचनमें ग्रहणीके विशिष्ट कार्यका निर्देश कर ग्रहणी संज्ञाका यथार्थत्व बतलाया है । यहांपर ग्रहण शब्दसे अभिप्राय है अवरोधका न की स्वीकार अथवा समाकर्षणका । ‘ वह भुक्तमार्गमें अर्गलाके समान है ’ ‘ भुक्तानको वह आमाशयमें रोकती है ’ इस वर्णनमें ग्रहण शब्दसे अवरोधही ग्रहणीका कार्य दर्शित किया गया है । सुश्रुतनेभी कहा है “ पित्तधरा नामकी जो पट्टी कला है, वह आमाशयसे निकलकर पक्वाशयमें जानेवाले भुक्तानको धारण (प्रतिबंध) करती है । ” यहांपरमी ग्रहणीकलाका अवरोधन कार्यही बतलाया गया है । ‘ पक्वाशयके द्वारमें स्थित ’ इस अष्टांग-हृदयके वचनमें तथा ‘ पक्वाशयोपस्थित अन्नको धारण करता है ’ इस सुश्रुत-वचनमें यह स्पष्ट है कि ग्रहणीकला स्थूलांत्रसे जुटी हुई है । वह जब बलवती होती है, भुक्तानको आमाशयमें रोककर और विपाचित करही नीचे छोड देती और ‘ अबला होनेपर वह आम अन्नकोही नीचे छोड देती है ’ इन वचनोंमें वर्णित अन्नका पचन क्षुद्रांत्रमेंही होता है, जठरमें नहीं । इसीलिये डल्हणाचार्यने

भवत्याद्ये विभागे च द्वितीये स्वेदनं ततः ।

सम्यक् संस्वेदनादेव सारकिट्टविधेचनम् ॥ ५२ ॥

प्रथमेऽन्नं द्रवीभूतमाममेवावतिष्ठते ।

विपच्यमानावस्थायां तत् द्वितीयेऽवतिष्ठते ॥ ५३ ॥

पच्यमानाशयश्चेति नामास्यान्वर्थकं भवेत् ।

क्षुद्रांत्रापरपर्याये पच्यमानाशयाभिधे ॥ ५४ ॥

स्थाने स्थितं द्रवं द्रव्यं पित्तमाहारपाचकम् ।

भागद्वयमिति महाश्रोतसो विभागद्वितयम् । आमाशयाख्यया आमाशय इति संज्ञया कथ्यते । यथा चरकसंहितायाम् । नाभिस्तनान्तरं जंतोरामाशय इति स्मृतः । अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते । इति । यतो यस्मात् । एतस्मिन् महाश्रोतसः प्रथमे द्वितीये विभागे । अविपक्वः अपर्याप्तपाकः । अपि अपर्याप्तपाकत्वसामान्यात् प्रथमद्वितीयभागयोरामाशयसंज्ञयाऽभिधेयत्वेऽपि । सन्नान्तरं अभिधेयभिन्नत्वम् । कर्मविशेषस्येति क्रियाभेदस्यावबोधकमवश्यं स्यात् । कोऽयं कर्मविशेष इति । केवलं क्लेदनं कफात् आद्ये विभागे । प्रथमभागे दतिसमाकरो क्लेदकात् कफात् केवलं भुक्तान्नस्य क्लेदनं भवति । भुक्तद्रव्याणि द्रवरूपतामायान्तीति । द्वितीये क्षुद्रांत्राभिधेये विभागे । स्वेदनं द्रवरूपपित्तसंयोगात् स्वेदनमाहारस्य । सम्यक्

‘पक्वामाशयमध्यस्थ’ का अर्थ ‘नाभिस्थ’ ऐसा किया है । उक्त विवरणसे स्पष्ट होता है कि, क्षुद्रांत्रका आखरी हिस्सा जो पकाशयसे लगा हुआ रहता है उसीको ग्रहणी कहना चाहिये । उसके अंतर्गत कलाको वह ग्रहणीके आश्रयसे रहती है, इसलिये ग्रहणीकला कहते हैं । यह ग्रहणीही अद्रवरूप याने द्रवरहित केवल उष्णरूप पाचक पित्तका स्थान है । अष्टांगहृदयमें कहा है “वह (पाचक पित्त) पकाशय व आमाशयके मध्यमें रहता है । यद्यपि वह पंचभूतात्मक है, तैजस गुणका उसमें अतिशयित्व होनेके कारण वह अपने द्रवत्वका त्याग कर देता है और अपने पचनादि कर्मके कारण अग्नि कहलाया जाता है ।” अष्टांगसंग्रहमें भी कहा है “जो (पाचक पित्त) पकाशय व आमाशयके मध्यमें रहता है, पंचभूतात्मक होता हुआ भी तेजोगुणके उत्कर्षके कारण अपने सोमगुणको छोड़ देता है और इसीलिये जिसका द्रवस्वभाव नष्ट हो जाता है ।” चरक सुश्रुतोंने उसका ‘त्यक्तद्रवत्व’ यह विशेष नहीं बतलाया । चरकने पित्तके स्थानोंमें स्वेद, रस, लसीका, रुधिर व आमाशय इतने स्थान बतलाये किंतु

संस्वेदनात् सारकिट्टरूपेण विवेचनमिति । प्रथमे विभागे । द्रवीभूतं द्रवरूपमन्नम् । आममेव द्रवत्वेऽपि सारकिट्टरूपस्य पृथक्करणस्यासंभवात् । विपच्यमानावस्थायामिति पित्तसंयोगात् स्वेदनावस्थायाम् । द्वितीये विभागे क्षुद्रांत्राख्ये । पच्यमानाशय इति यस्मिन्नाहारः पच्यमानावस्थायामवतिष्ठत एवंप्रकारं आशयः । अस्य क्षुद्रांत्रस्य नाम अन्वर्थं अर्थानुकूलं भवेदिति । पच्यमानाशयाभिधे स्थाने स्थितं द्रवं द्रव्यं आहारपाचकं पित्तमिति । ‘हुपचप् पाके’ इतिधात्वर्था-नुसारेण पचनमिति पृथक्करणं सारकिट्टविवेचनमभिप्रेत्य तत्साधकं पित्तं ग्रहणीगतं त्यक्तद्रवत्वं पाचक-संज्ञोपदिष्टं प्राधान्येन । तथा पच्यमानाशय इत्यन्वर्थकनामधेये क्षुद्रांत्रे समाश्रितं द्रवरूपं पित्तं स्वेदनेन सारकिट्टविवेचनसहायरूपमित्येतदपि पाचकसंज्ञयाऽख्येयमिति । (५०-५४॥)

पित्तं स्वेदगतश्चोष्मा स्वभावाद्धिगम्यते ॥ ५५ ॥

लंसीकायां च रुधिरे द्रवं पित्तं विपाककृत् ।

पित्तमित्यादि । स्वेदगत इति वाष्पगतः । वाष्पावस्थाहेतुरिति । स्वभावात् उष्णत्वात् । लंसीकायां रुधिरे रक्ते । द्रवं द्रवरूपं विपाककृदिति रक्तगतानां लंसीकाश्रितानां च द्रव्याणां विपाककृत् । (५५॥)

रसो धातुः सौम्य इति श्लेष्मस्थानमुदाहृतम् ॥ ५६ ॥

अपि हेतुर्द्रवत्वस्य पित्तमस्मिन् समाश्रितम् ।

नाभि नहीं बतलायी । आमाशयको प्रधान पित्तस्थान बतलाया है । जैसे-चरक कहता है “ उनमेंभी आमाशय विशेष रीतिसे पित्तका स्थान है । ” इसकी व्याख्या करते समय चक्रपाणिने कहा है “ आमाशयका अर्थ यहांपर आमाशयका अधोभागही समझना चाहिये । ” सुश्रुतने कहा है “ पक्वाशय व आमाशयका मध्यस्थित पित्त अपनी विशिष्ट क्रियासे-जिसका हेतु अदृष्ट याने अस्पष्ट है-चतुर्विध अन्नपानका पचन करता है । वही सारकिट्टका पृथक्करण करता है दोष, रस, मूत्र व पुरीष इनको अलग निकालता है और उनके स्थानोंमें तथा अन्य पित्तस्थानोंमें अपनी शक्तिसे अग्निकर्मद्वारा शरीरपर अनुग्रह करता है । ” डल्लणाचार्यने अपनी व्याख्यामें कहा है “ इस पित्तकोही पाचक अग्नि यह संज्ञा है । पक्वामाशयमव्यस्थ याने नाभिस्थ । ” इस वर्णनमें पाचक पित्तको त्यक्तद्रवत्वका वर्णन नहीं है । आहाराधार आमाशयमें याने दृतिसमाकार जठरमें उमभुक्त अन्नको क्लेदक कफके द्वारा द्रवावस्था प्राप्त होती है । और क्षुद्रांत्रमें वहांके द्रवरूप पित्तके द्वारा अन्नका पचन होता है । इसलिये यह स्पष्ट है कि

सौम्यत्वान् श्लेष्माश्रयत्वाच्च रसधातुः कथं पित्तस्थानमित्याशंकानिवारणार्थमुच्यते । रस इत्यादि—सौम्य इति शीतगुणः । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् । स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवन-
तर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते । श्लेष्मस्थानम् श्लेष्मण आश्रय इत्याख्यातं प्रागेव
उरःकंठाशिरःक्षोमपर्वाण्यामाशयो रसः इत्यनेन । अपि एवमपि । द्रवत्वस्य हेतुः पित्तमास्मिन्
समाश्रितमिति । द्रवत्वोत्पादकं पित्तं तेजोरूपमिति रसधातावपि सौम्यस्वरूपे पित्तानुबन्धो न
विरुद्धः । (५६ ॥)

चक्षुःसमाश्रितं तेजोरूपं पित्तं सुदर्शनम् ॥ ५७ ॥

त्वर्गिन्द्रियगतं पित्तं स्पर्शोष्णत्वात्प्रतीयते ।

चक्षुःसमाश्रितामिति कर्नानिकाश्रितम् । तेजोरूपं न चैतद्रसरक्तादिगतवत्
द्रवत्वविस्तत्वादिगुणोपेतम् । सुदर्शनमिति सम्यग्दर्शनहेतुः । त्वर्गिन्द्रियगतं पित्तमिति
रसरक्तलसीकाश्रयं पित्तमेवत्वगतस्योष्मणो हेतुरपि स्पर्शसहायरूपं कर्मविशेषं दर्शयितुं
त्वगतस्यपृथक्त्वनोद्धेखः । (५७ ॥)

स्निग्धशीतस्वरूपं यत् द्रव्यं स्थानेषु विद्यते ॥ ५८ ॥

उरःकंठादिषु श्लेष्मा विशेषेण निगद्यते ।

स्थानान्तरावस्थितस्य श्लेष्मणः स्वरूपं निरूपयति । स्निग्धशीतस्वरूपमिति

आमाशय यह क्षुद्रांत्रकाही पर्यायवाची शब्द है और वही पित्तका प्रमुख स्थान
माना गया है । द्रवरूप पित्तके कारण क्षुद्रांत्रमें अन्नका सम्यक् स्वेदन हो जानेके
बाद सारकिष्टपृथक्करणके अवसरपर सारका शोषण होनेका स्थान द्रवविहीन होना
आवश्यकही है । यह ध्यानमें रखकरही क्षुद्रांत्रके अंतिम भागकाही त्यक्तद्रवरूप
पित्तका स्थान ग्रहणी के नामसे निर्देश किया गया है । पचनक्रियाके परिणाम-
स्वरूप जो सारकिष्टविवेचन होता है उसका कर्ता पित्त ग्रहणीमेंही रहता है
इसलिये ग्रहणीको प्रमुख पित्तस्थान माना गया है । ४५॥ ४६॥ ४७॥

प्रमुख पित्तस्थान जो आमाशय उसका अधिक विवरण करते हैं । कोष्ठके
अंदर कंठसे लेकर अपानतक जो महास्रोत है उनके तीन प्रमुख विभाग है ।
आम व पक्क अन्नकी वाहिनी नलिकाको महास्रोत कहते हैं । उसके तीन प्रमुख
विभागः—१ भुक्ताहारका प्रथम आधार याने आश्रयस्थान पखालके आकारका
जठर नामका २ जठरके अधोदेशमें क्षुद्रांत्र नामका और ३ स्थूलांत्र अथवा
पक्काशय । स्थूलांत्रकी अपेक्षा क्षुद्रांत्रका परिणाह अल्प रहता है । और स्थूलांत्रका

सार्वभूषणस्पर्शात् स्निग्धत्वानुमानम् । शीतं शीतस्पर्शम् । उरःऋठादिष्विति उरःकंठशिरः-
होमेत्यादिना पूर्वमुक्तेषु । विशेषेण शरीरस्येतराणिभ्योऽधिकमिति । (५८॥)

शक्तिप्रदानादन्येषां प्रधानश्चोरसि स्थितः ॥ ५९ ॥

उरःस्थितश्च श्लेष्मा अवलंबकसंज्ञश्चाग्नेः वक्ष्यमाणः । अन्येषां कफप्रकाराणाम् ।
शक्तिप्रदानात् प्रधान इति । उरःस्थितस्यान्येषां शक्तिप्रदत्वमग्नेः प्रतिपादितमवलंबकश्लेष्मवर्णनप्रसं-
गेन । (५९)

रसाद्या धातवः सप्त पुरीषाद्याख्यो मलाः ।

शरीरावयवाश्चान्ये अपि पक्वाशयादयः ॥ ६० ॥

दोषस्थानानि मुख्यानि गुणकर्मानुसारतः ।

रसाद्या इत्यादि रसादयो धातवः पुरीषाद्याश्च मलास्तथा पूर्वमुक्ताः पक्वाशयाध-
वयवा अपि गुणकर्मानुसारतः इति स्निग्धरूक्षादीनां गुणान्तराणामाधिक्यानुसारेण पचनो-
त्सर्जनादिकर्मानुसारेण च दोषस्थानानि मुख्यानि । आख्यातार्ताति वाक्यशेषः । (६०॥)

अथ दोषगुणाः सर्वे सर्वस्थानेषु वा क्रियाः ॥ ६१ ॥

न समनास्तु सामान्यं त्रयाणां दोषकर्मणाम् ।

विसर्गादानविक्षेपाख्यानां सर्वत्र विद्यते ॥ ६२ ॥

परिणाह मोटा रहता है । ४८॥ ४९॥

महास्त्रोतसके पहले दो भागोंको आमाशय संज्ञा है । चरकसंहितामें
कहा है “ नाभिसे लेकर स्तनतकके अंतरको आमाशय समझना चाहिये ।
आशित, खादित, पीत व लीढ (प्रत्येक पदार्थ) का इसमें पचन होता है । ”
इस भागको आमाशय कहनेका कारण यह है कि, इसमें याने महास्त्रोतसके प्रथम
दो विभागोंमें आहार अविपक्व याने अपूर्ण पाचित अवस्थामें रहता हैं । महा-
स्त्रोतसके प्रथम व द्वितीय विभागोंमें अपर्याप्तपाकत्व सामान्य और आमाशयसंज्ञा-
सामान्य होते हुएभी यदि उनके पृथक् व विशिष्ट कर्मोंका बोध होनेके भिन्न
संज्ञायें देना अवश्य हो तो प्रथम उनका विशिष्ट कर्म जान लेना अवश्य है । प्रथम
विभागमें—जो दृतिसमान आकारका होता है—क्लेदक कफके कारण आहारका
केवल क्लेदन मात्र होता है । याने मुक्त द्रव्योंको द्रवरूप मिलता है । दूसरे क्षुद्रांत्र
नामक विभागमें आहारका द्रवरूप पित्तके संयोगसे स्वेदन होता है । स्वेदन ठीक
शीतीसे हो जानेपर सार व किट्ट पृथक् होने लगते हैं । उक्त विवरणसे स्पष्ट है

अथेति । दोषगुणाः शीतोष्णादयः प्रत्येकं दोषस्वभावत्वेनाख्याताः । क्रियाः धातु-
मलगतानि स्थानान्तरगतानि च कर्माणि । सर्वस्थानेषु तत्तद्दोषाश्रायत्वेनाख्यातेषु । समानाः
संख्यया परिमाणेन च सदृशाः । न भवन्ति किन्तु विसर्गादानविक्षेपाणां त्रयाणां कृमात् स्लेष्म-
पित्तानिलाणां कर्मणां सर्वत्र सामान्यं सादृश्यं विद्यते । गुणकर्मभेदेऽपि दोषस्थानत्वेनोक्तेषु
विसर्गादानविक्षेपाणां सर्वत्रानुभव इति । (६२)

स्थानभेदानुसारेण क्रियाभेदः प्रजायते ।

गुणाश्चान्यतरे कर्मभेदानामपि कारकाः ॥ ६३ ॥

तेषामेवाश्रया दोषस्थानानीत्यभिभाषिताः ।

स्थानभेदानुसारेणेति आमपक्वाशयादिस्थानानां भेदानुसारेण । क्रियाभेदः
पचनोत्सर्जनादिरूपः । कर्मभेदानां कारका गुणाश्चाप्येवम् । तेषां गुणाणां आश्रया दोषस्थाना-
नीति । (६३ ॥)

इति दोषगुणाश्रयस्थानविशेषदर्शनं नाम प्रथमं दर्शनम् ।



किं महास्त्रोतसके जठर नामके प्रथम विभागमें अन्न द्रवरूपको प्राप्त करता है
किन्तु आम याने अपक्व ही रहता है । इस विभागमें सारकिट्ट पृथक्करणका संभवभी
नहीं रहता । दूसरे विभागमें पित्तसंयोगके कारण वह विपच्यमान अवस्थामें रहता
है—उसका स्वेदन होने लगता है । इसलिये क्षुद्रांतको 'पच्यमानाशय' कहना
अर्थानुकूलही होगा । अर्थात् क्षुद्रांत्र व पच्यमानाशय ये पर्यायवाची शब्द हैं ।
उसमें जो द्रव द्रव्य रहता है वही आहारको पचन करनेवाला पित्त है । 'पच'
धातुका अर्थ है पाक । इस धात्वर्थके अनुसारमी पचन—पृथक्करण—सार व किट्टको
विवेचित करनाही होता है । इस पृथक्करणका साधन पित्त—ग्रहणीमें रहता है
और द्रवरूप नहीं होता किन्तु केवल ऊष्मास्वरूपही होता है—पचनक्रियामें
उसको प्राधान्यके कारण पाचक पित्त संज्ञा दी गयी है । उसीप्रकार क्षुद्रांत्रमें याने
पच्यमानाशयमें समाश्रित द्रवरूप पित्तकोभी अपनी स्वेदन क्रियासे सारकिट्ट
विवेचनमें सहाय्यक होनेके कारण पाचक पित्त संज्ञा उचित है (सागंश
पाचक पित्तके दो प्रकार व दो स्थान समझने चाहिये । एक क्षुद्रांत्र—

(पच्यमानाशय) गत पाचक पित्त जो द्रवस्वरूप होता है और आहारकी स्वेदनक्रिया करता हुआ सारकिट्टिविवेचनमें सहाय्यक होता है । और दूसरा ग्रहणीगत पाचकपित्त जो द्रवरहित ऊष्मास्वरूप होता है । और ग्रहणीमें स्वेदित भुक्तानका सार शोषित कर किट्टिका स्थूलान्रमें विसर्जन करता है ।) ५०-५४ ॥

स्वेदमें याने बाष्पमें जो स्वाभाविक ऊष्मा रहता है वही स्वेदगत पित्त है । लसीकामें व रुधिरमें पित्त द्रवरूपमें रहकर रक्तगत व लसीकागत द्रव्योंका विपाक करता है । ५५ ॥

रसधातु सौम्य याने शीत गुणका व श्लेष्माका स्थान माना गया है । श्लेष्म-स्थान होता हुआभी वह पित्तकाभी स्थान माना गया है । सुश्रुतने कहा है “ वह (रसधातु) द्रवानुसारी होकर स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारणादि त्रिशिष्ट क्रियाओंके कारण सौम्य माना गया है । ” उसका श्लेष्मस्थान होना पहिलेही बतलाया जाचुका है । ऐसा होते हुएभी, द्रवत्वका हेतु जो पित्त वह उसमें समाश्रित रहनेके कारण रसको पित्तस्थानभी माना गया है । पित्त द्रवोत्पादक है । अतः सौम्यस्वरूप रसधातुमें उसका रहना विरुद्ध नहीं है । ५६ ॥

चक्षुमें याने कर्नीनिकामें आश्रित पित्त तेजोरूप है । वह रसरक्तादि-गत पित्तके समान द्रवत्व-विस्रत्वादिगुणयुक्त नहीं होता । चक्षुगत पित्तके कारण नेत्रोंकी दर्शनशक्ति ठीक रहती है । यद्यपि रस, रक्त व लसीकामें आश्रित पित्तके कारणही त्वचामेंभी उष्णता रहती है, स्पर्शका सहायरूप होनेकी विशिष्ट क्रिया दर्शनेके लिये पृथक् निर्देश कर कहा है कि त्वर्गिन्द्रियगत पित्त रहता है और उसकी उष्णताके कारण स्पर्शका अनुभव होता है । ५७ ॥

अब भिन्न २ स्थानोंमें अवस्थित श्लेष्माका स्वरूपवर्णन करते हैं । स्निग्ध व शीतस्वरूपका जो द्रव्य विशेषतः उर, कंठ, शिर, क्लोम आदि पूर्वोक्त स्थानोंमें रहता है उसीके कारण उनको श्लेष्माके विशेष स्थान माना गया है । शरीरके इतर स्थानोंकी अपेक्षा इन स्थानोंमें श्लेष्माका प्रमाण विशेष रहता है । ५८ ॥

उरःस्थित श्लेष्माको अवलंबक कफ कहते हैं और उसका वर्णन आगे दिया गया है । अन्य कफ प्रकारोंको यह अवलंबक कफही शक्तिप्रदान करता है । इसलिये कफके पांच प्रकारोंमें यही प्रधान माना गया है । उरःस्थित

अवलंबक कफ इतर कफप्रकारोंको किसप्रकार शक्तिप्रदान करता इसकाभी विवरण आगे अवलंबक कफवर्णनमें किया गया है । ५९ ॥

रसादि सात धातु, पुरीषादि तीन मल एवं पक्काशयादि उपर्युक्त अवयव येही क्षिग्धरुक्षादि गुणोंके आधिक्यके अनुसार तथा पचनोत्सर्जनादि कर्माधिक्यानुसार दोषोंके मुख्य स्थान माने गये हैं । ६० ॥

शीतोष्णादि प्रत्येक दोषके स्वाभाविक गुण तथा धातुमलगत एवं स्थानांतर गत दोषोंकी क्रियायें सभी स्थानोंमें याने उस २ दोषके आश्रयभूत सभी स्थानोंमें समानरूपसे याने संख्या व परिमाणके रूपसे सदृश नहीं हुआ करती । किंतु विसर्ग आदान विक्षेप इन तीन अनुक्रमसे श्लेष्म पित्त व वातकी क्रियाओंका सामान्य-सादृश्य सर्वत्र होता है । गुणकर्मोंका भेद रहनेपरभी पूर्वोक्त दोषस्थानोंमेंभी विसर्गादानविक्षेपरूप प्रमुख क्रियाओंका अनुभव होताही है । ६१॥ ६२॥

आमपक्काशयादि स्थानभेदानुसार पचनोत्सर्जनादि भिन्नक्रियायें होती हैं । उसीप्रकार भिन्न २ गुणोंके कारणभी भिन्न २ क्रियायें होती हैं । इन गुणोंके आश्रयस्थान दोषोंके स्थानही होते हैं । ६३ ॥

॥ दोषगुणाश्रयस्थानविशेषदर्शन नामक प्रथम दर्शन समाप्त ॥

द्वितीयं दर्शनम् ।

(दोषभेदस्वरूपदर्शनम्)

शीतोष्णगतिरूपाणां दोषाणां कर्मभेदतः ।
 प्रत्येकशः पंच भेदाः प्रमुखाश्चोपकल्पिताः ॥ १ ॥
 प्राणोदानौ तथा व्यानः समानश्चाथ पंचमः ।
 अपानश्चेति वातस्य पंच भेदाः प्रकीर्तिताः ॥ २ ॥
 पाचकं रंजकं चैव साधकालोचके तथा ।
 भ्राजकं चेति पित्तस्य भेदाः पंचोपकल्पिताः ॥ ३ ॥
 अघलंबकसंज्ञश्च क्लेदको बोधकस्तथा ।
 तर्पकः श्लेष्मकश्चेति श्लेष्मभेदा उदाहृताः ॥ ४ ॥

वातादीनां दोषाणां विशिष्टस्थानाश्रयमभिधाय कर्मविशेषोत्पादकानां प्रत्येकशः पंचसंख्यानां तद्भेदानां स्वरूपकर्मविशेषनिदर्शनार्थमुच्यते । शीतोष्णगतिरूपाणामिति । शीत-रूपः श्लेष्मा, उष्णरूपं पित्तम् गतिरूपश्च वायुः तेषां दोषाणाम् । कर्मभेदेतः इति कर्मविशेषानुसारेण । प्रत्येकश इति वातादीनां प्रत्येकम् । पंच भेदाः प्रमुखाः । पूर्वप्रकरणोक्तानुसारेण

द्वितीय दर्शनं

(दोषभेद स्वरूप दर्शन)

वातादि दोषोंके विशिष्ट आश्रयस्थानोंका गतप्रकरणमें वर्णन करनेकेबाद अब इस प्रकरणमें प्रत्येक दोषके पांच २ भेदोंके स्वरूप व विशिष्ट कर्मोंका वर्णन करते हैं ।

शीतरूपका दोष श्लेष्मा, उष्णरूपका पित्त एवं गतिरूपका दोष वायु इनके विशिष्ट कर्मोंके अनुसार प्रत्येकशः पांच २ प्रमुख भेद माने गये हैं । यद्यपि पूर्व प्रकरणमें कटीसक्थ्यादिस्थानाश्रित वातादि दोषोंका गत्यादि विशिष्ट क्रियाओंके अनुसार वर्णन किया गया है, प्रस्तुत प्रकरणमें जीवनकर्मको साधनीभूत जो विशिष्ट क्रियायें विशिष्ट स्थानोंमें हो सकती हैं उनके अनुसार दोषभेदोंका विशदीकरण करना अवश्यक है । वात दोषके पांच भेद हैं—१ प्राण २ उदान ३ व्यान ४ समान व पांच अपान । पित्त दोषके पांच भेद—१ पाचक २ रंजक ३ साधक

कटीसक्थ्यादिस्थानाश्रितानां दोषाणां गत्यादिविशेषानुसारं क्रियाकरत्वेऽपि जीवनकर्मसाधनी-
भूतानां कर्मविशेषाणां स्थानविशेषसंभवानां विशदीकरणार्थं दोषभेदाख्यानं पुनरिति । पञ्च भेदाश्चे-
वंविधाः प्रत्येकशः । प्राणः उदानः व्यानः समानः अपानश्चेति वातस्य पञ्च भेदाः । पाचकं रञ्जकं
साधकं आलोचकं भ्राजकं चेति पित्तस्य । अवलंबकः क्षेदकः बोधकः तर्पकः श्लेषकश्चेति पञ्च भेदाः
श्लेष्मण उदाहृताः । (१-४)

प्राणः संज्ञावाहिनीनां मूले मूर्धन्यवस्थितः ।

सूक्ष्मरूपो बुद्धिचित्तेन्द्रियाणां स हि धारकः ॥ ५ ॥

हृदादीनामिन्द्रियाणामभिप्रेतार्थसाधने ।

प्रमुखः प्रेरकश्चायं ततः प्राण इति स्मृतः ॥ ६ ॥

कर्म प्रधानं श्वसनं तथाऽन्नस्य प्रवेशनम् ।

निष्ठावनं चोद्विगणं क्षवथोश्च प्रवर्ततम् ॥ ७ ॥

आकुञ्चनात्प्रसरणात्कंठस्यैवंविधाः क्रियाः ॥

उरःकंठचरः प्राणाभिधानः कुरुतेऽनिलः ॥ ८ ॥

प्राण इति प्राणसंज्ञयाऽख्यातो वायोर्भेदः । संज्ञावाहिनीनामिति ज्ञानवाहना ।
मूले समुद्भवस्थाने । मूर्धनि उच्चमांगातनिष्ठे मस्तिष्के इति । यथोक्तमष्टांगहृदये-प्राणोऽत्र मूर्धगः ।
उरःकंठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक् । अष्टांगसंग्रहेऽपि-तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थितः । शुद्धीन्द्रिय-

४ आलोचक व ५ भ्राजक । कफ दोषके पांच भेद-१ अवलंबक २ क्षेदक
३ बोधक ४ तर्पक व ५ श्लेषक । १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

वायुका प्राणसंज्ञक भेद संज्ञावाहिनीओंके याने ज्ञानवाहिनीओंके मूल
याने उद्गमस्थानमें-मस्तिष्कमें रहता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ प्राण मूर्धग
है । उर व कंठमें संचार करता हुआ वह बुद्धि, हृदय, इंद्रिय व चिराको धारण
करता है । ” अष्टांगसंग्रहमेंभी कहा है “ प्राण मूर्धा (मस्तिष्क) में रहता है ।
और वह बुद्धि इंद्रिय, हृदय, मन व धमनीका धारण करता हुआ धीवन (थूकना)
क्षवथू (छीक), उद्गार (डकार) आसोष्णता, अन्नप्रवेश आदि क्रियाओंको
करता है । ” चरकसंहितामें कहा है “ प्राणवायुके स्थान मूर्धा, उर, कंठ,
जिह्वा, मुख व नासिका हैं । ” इसप्रकार मस्तिष्कके समान उर, कंठादिभी
प्राणवायुके स्थान बतलाये गये हैं । प्राणवायुका स्थान यद्यपि मस्तिष्क बतलाया
है, संज्ञावह एवं प्राणवह नाडीओं अथवा स्रोतसोंका स्थान हृदय बतलाया गया
है । जैसे चरक कहता है “ प्राणवह स्रोतसोंका मूल हृदय व महास्रोतस् है ”

हृदयमनोधमनीधारणधीवनक्षत्रधृद्गारश्वासोच्छ्वासाक्षप्रवेशादिक्रियः । चरकसंहितायाम्—स्थानं प्राणस्य मूर्धोरःकंठजिह्वास्थानासिकाः । इति मस्तकवत् उरःकण्ठादयोऽपि प्राणवायुस्थानत्वेनाख्याताः । एवं मूर्धनि प्राणवायुस्थानत्वेनाख्यातेऽपि संज्ञावहानां प्राणवहानां च नाडीनां स्रोतसां वा स्थानं हृदयमित्युपवर्णितं दृश्यते । यथा चरकसंहितायाम् ‘तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च । सुश्रुतसंहितायां च धमनीव्याकरणे—शब्दस्पर्शादीनामिन्द्रियार्थानामभिवाहिनी हृदयमभिप्रपन्ना इत्युपवर्णितम् । यथा तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते इति । तथा—शोणितकफप्रसादजं हृदयं यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः इति । प्राणवहानामिव रसवहानामपि स्रोतसां हृदयं मूलमित्याख्यातम् । यथा रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः । इति चरकसंहितायाम् । सुश्रुतसंहितायामपि—तस्य (रसस्य) च हृदयं स्थानं, स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरसुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश अधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कुत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चाट्टहेतुकेन कर्मणेति । वाग्भटाचार्येणाष्टांगहृदये व्यानवायोः स्थानं हृदयमाख्यातम् । व्यानवायुना रसधातुरविरतं सर्वशरीरे विक्षिप्यते चेति । यथा—व्यानो हृदि स्थितः इत्यादि । तथा—व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा । युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा । इत्यादिभिर्वाक्यैः प्राणवाहिनीमूलस्थानत्वेन रसवाहिनीमूलस्थानत्वेन च हृदयस्याख्यानात् प्राणो मूर्धनि स्थितः इति च वाग्भटोपदेशात् प्राणवहस्रोतोमूलत्वेनाख्यातं हृदयं नाम मूर्धन्यवस्थितो मस्तिष्क इत्यवगम्यते । रसवहस्रोतोमूलत्वेनाख्यातं च हृदयमुरःसंस्थित-

सुश्रुतसंहिताके धमनीव्याकरणमें कहा है कि, शब्दस्पर्शादि इंद्रियार्थोंकी अभिवाहिनी हृदयमें पहुंचती है । जैसे वे हृदयमें पहुंचकर उनकी तीन शाखायें होती हैं । ” तथा “ शोणित (रक्त), कफ व प्रसाद हृदयमेंसे उत्पन्न होते हैं और हृदयमेंही प्राणवह धमनी आश्रय लेती हैं । ” प्राणवह स्रोतसोंके समान रसवह स्रोतसोंका मूलभी हृदयही बतलाया गया है । जैसे चरकसंहितामें कहा है “ रसवह स्रोतसोंका मूल हृदय व दस धमनियां हैं । ” सुश्रुतसंहितामेंभी कहा है “ उस (रस) का स्थान हृदय है । वह (रस) हृदयमेंसे चौबीस धमनीओंमें अनुप्रविष्ट होकर—जिसमें ऊर्ध्वगामिनी दस हैं, दस अधोगामिनी व चार तिर्यग्गामिनी हैं—संपूर्ण शरीरका प्रतिदिन तर्पण, वर्धन धारण व संतोष करता है । ” वाग्भटने अष्टांगहृदयमें, हृदयको व्यानवायुका स्थान बतलाया है । कारण व्यानवायुके कारणही रसधातु निरंतर सब शरीरमें विक्षेपित होता है । “ वाग्भट कहता है “ व्यान हृदयमें रहता है ” “ व्यानवायु अपने स्वाभाविक विक्षेप कर्मद्वारा रसधातुको एकदम शरीरके सब भागोंमें नित्य फैकता है । ” उक्त वाक्योंसे स्पष्ट

मिति । ' हृ ' प्रसङ्गकरणे, तथा ' दय ' दानगतिरक्षणहिंसादानेषु, । इति धातुद्वयेन साधितस्य हृदय शब्दस्य, संगृह्य प्रदानमिति गुणकर्मविशेषः । ततश्च संज्ञायाः संप्रहर्षणाभ्यां शिरोगतं मस्तिष्करूपं रसधातोश्च संगहर्षणाभ्यामुपरोगतमिति हृदयशब्दवाच्यमवयवद्वितयमनुमीयते । अनेनैवामिप्रायेणाष्टांगहृदये ' प्राणोऽत्र मूर्धगः । ' इत्याख्यानमनुलक्ष्योक्तम् । संज्ञावहिनीनां मूले मूर्धनीति । सूक्ष्मरूप इति वायोः सूक्ष्मत्वेऽपि मनोबुद्ध्यादीनामनुब्रंधादनुमानगम्यत्वम् हृदादीनामिन्द्रियाणामिति हृदयप्रमुखानां ज्ञानेन्द्रियाणाम् । कर्मेन्द्रियाणान्तु प्रेरको व्यानवायुरिति । श्वसनं, अन्नप्रवेशनं, निष्ठीवनं, उद्गिरणं, क्षवधुप्रवर्तनं इत्यादीनि चास्येतराणि कार्याणि उरःकंठचरत्वात् । मूर्धनः कंठं यावद्विचरन् कर्माणिमानि संपादयितुं सहायो भवतीति । (५-८)

उरस्थश्चाथ पवनो नासानाभिगलांश्चरन् ।

वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः ॥ ९ ॥

उरःस्थ इति उरःप्रदेशान्तर्गते पिण्डव्यात्मके पुष्पकुसेऽवस्थितः । नासानाभिगलांश्चरन्निति पुष्पकुसाकुंचनप्रसरणस्याथो नाभिपर्यंतमुपरिष्ठाच्च कंठं यावत्परिणामो भवति ततश्च तद्गतानां कर्मणामप्ययं साधको भवति । अयमेव वायोर्भेद उदानाख्य इत्यग्रे व्याख्यातः । (७)

धमनीनां वाग्वहानामीरणाद्वाक्प्रवर्तनम् ।

कर्मप्रवृत्तिः शारीराद्यवयवानां स्वभावजा ॥ १० ॥

स्थूलानामथ सूक्ष्माणां स प्रयत्न इति स्मृतः ।

है कि हृदयको प्राणवायुका तथा व्यानवायुका स्थान माना गया है । किंतु वाग्भटनेही कहा है कि, प्राण मस्तिष्कमें रहता है । इसमें मानना पडता है मास्तिष्ककोभी हृदय कहते थे । और प्राणवह स्रोतसोंके मूलके नाते जिस हृदयका निर्देश किया है वह मस्तिष्कही है । रसवह स्रोतसोंका मूलरूप हृदय उरो-भागमें संस्थित है शिरमें नहीं । और प्राणवह स्रोतसोंको मूलरूप हृदय शिरमें संस्थित है उरमें नहीं । हृदय शब्दकी निरुक्तिभी ऐसीही उद्बोधक है । उसमें हृ और दय दो धातु हैं । ' हृ ' धातुका अर्थ सहन करना, ग्रहन-करना है और ' दय ' धातुका अर्थ दान, गति, रक्षण, हिंसा व आदान बतलाया गया है । इन दो धातुओंसे साधित हृदय शब्दसेही उसकी संप्रह कर प्रदान करनेकी विशिष्ट क्रियाका बोध होता है । जिसप्रकार उरोगत हृदय रसधातुका संप्रहविक्षेप करता है उसीप्रकार शिरोगत हृदय याने मस्तिष्कभी संज्ञाग्रहण एवं संज्ञाप्रदानका कार्य करता है । अर्थात् यह स्पष्ट है कि हृदय शब्दका प्रयोग दो अर्थोंसे किया गया है १. उरोगत हृदय व २. शिरोगत मस्तिष्क । इसी अभिप्रायसे ' प्राण मूर्धग

स एव वेगसंपन्नश्चोत्साह इति कथ्यते ॥ ११ ॥

समीरणात्समीरस्यावयवाः कार्यतत्पराः ।

भवन्त्यतः प्रयत्नस्योत्साहस्योत्पादकोऽनिलः ॥ १२ ॥

धमनीनामित्यादि—समीरणात् प्रेरणात् । प्रयत्नस्योत्साहस्य च स्वरूपदर्शनार्थ-
मुक्तम् । कर्मप्रवृत्तिरित्यादि स्वाभाविका कर्मप्रवृत्तिरवयवानां प्रयत्नः स एव च वेगवानुत्साह
इति । समीरणादित्यादि वायुना प्रेरिता अवयवाः कर्मतत्परा भवन्तीति प्रयत्नोत्साहकरो
वायुरसिहितः । (१०-१२)

सप्रयत्नाश्च सोत्साहा यथास्वं कर्मकारिणः ।

शारीरघटकाश्चान्नरसतश्चोपबृंहिताः ॥ १३ ॥

सम्यक्बलान्विता वर्णसंपन्नाश्च भवन्ति हि ।

बलवर्णकरश्चैवमुदानो वायुरीरितः ॥ १४ ॥

वायोऽदानाख्यस्य बलवर्णकरत्वं निरूपयति । सप्रयत्नाः स्वकर्मण्यभिप्रवृत्ताः ।
सोत्साहाः वेगयुताः । यथास्वमिति स्वभावोचितम् । कर्मकारिणः कर्मकारित्वेऽवस्थिताः ।
शारीरघटका इति सूक्ष्माः शरीरावयवाः । उपबृंहिताः पुष्टाः । वर्णसंपन्नाः रसपूर्णत्वात्
यथास्त्वर्णसंपन्ना भवन्तीत्यतो वायुः उदानो बलवर्णकर इति उक्तः । (१३-१४)

हे । इस वचनका अर्थ स्वीकार करना चाहिये । प्राणमूल हृदय याने मस्तिष्कसेही
संज्ञावाहिनीओंका उद्गम होता है । वायु स्वयं सूक्ष्म है । किंतु बुद्धि, मन
आदिके अनुबंधसे प्राणवायुका विशेष सूक्ष्मत्व अनुमानगम्य है । हृदय याने
मस्तिष्क प्रमुख ज्ञानेन्द्रियोंका अभिप्रेतार्कसाधक व प्रेरक प्राणवायुही है । उरोगत
हृदयादि कर्मेन्द्रियोंका प्रेरक व्यानवायु बतलाया गया है । श्वसन अन्नप्रवेश, निष्ठीवन,
उद्गीर्ण, क्षबधुप्रवर्तन आदि कर्म संपादित करनेमें उरःकंठचर होनेसे याने
मस्तिष्कसे लेकर कंठतक संचार करनेके कारण प्राणवायुही सहायक बनता है ।

५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

उरःप्रदेशांतर्गत फुफ्फुसोंमें स्थित वायु फुफ्फुसोंके आकुंचनप्रसरणके कारण
ऊपर नासातक व नीचे नाभितक संचार करता हुआ उनकी २ क्रियाओंको
तथा वाक्प्रवृत्ति, प्रयत्न, उत्साह, बल वर्ण व स्मृतिका कारक बनता है । ९ ॥

वाग्वाहिनी धमनीओंको प्रेरणा देकर वह वाक्प्रवृत्ति करता है । स्थूल एवं
सूक्ष्म शरीरावयवोंकी स्वाभाविक कर्मप्रवृत्तिको प्रयत्न कहते हैं । प्रयत्न

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः ।
 गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ॥ १५ ॥
 प्रायो देहक्रियाः सर्वाः करोतीत्यभिभाषितम् ।
 हृदयस्थो व्यानवायू रसेन सह धातुना ॥ १६ ॥
 विसर्पन्निखिले देहे भवत्यखिलकर्मकृत् ।

व्यान इति व्यानाख्यो वायुः । हृदि उरोग्रहायामवस्थिते रसविक्षेपणयंत्रस्वरूपे ।
 कृत्स्नदेहचारी सर्वशरीरसंचारी । महाजवः वेगवानिति । गतिरिति सर्वावयवानां सामान्यं
 चलनम् । अपक्षेपणोत्क्षेपाविति विशेषेण करपादानाम् । निमेषः वर्त्मनोः संकोचः । उन्मेषः
 वर्त्मविकासः । प्रायःसर्वा इति गत्यात्मिकाः । वायोर्व्यानाख्यस्य गत्यात्मकं कर्मजातं कथं वा
 संपद्यत इत्याह । हृदयस्थ इति हृत्पेशीक्षीतः प्रपूरितः । रसेन धातुना सर्वावयवपोषकेनाहार-
 सारस्वरूपेण रंजकपित्तविपाचितेन रसेन सह । विसर्पन् संचरन् । रसधातुना शरीरावयवानां पोष-
 णेन समकालमेव तत्सहागतेन वायुना स्थूलसूक्ष्मावयवान्तर्गतस्य संचालनहेतोर्वातस्याप्युपबृंहणं
 भवति । (१५-१६ ॥)

प्रवृत्तिस्तु प्रयत्नाख्या वेगश्चोत्साहसंज्ञकः ॥ १७ ॥
 आकुंचनं प्रसरणं गतिः स्यात् त्रिविधात्मिका ।

बलवान् हो जाता है, उसको उत्साह कहते हैं । वायुकी प्रेरणासेही अवयव
 कार्यतत्पर होते हैं । इसलिये प्रयत्न व उत्साहका उत्पादक वायुही समझा जाता
 है । १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

उक्त प्रकारसे प्रयत्नशील तथा उत्साही और कर्मतत्पर होकर शरीर घटक-
 सूक्ष्म शरीर अवयव अपनी २ स्वाभाविक क्रियायें योग्यरीतिसे करते हैं, और
 अन्नरससे उपबृंहित याने पुष्ट होते हैं, तब वे सम्यक् बलान्वित और रसपूर्ण
 होनेके कारण अपने २ वर्णसे संपन्न हो जाते हैं । इसलिये कहा है कि, उदान
 वायु बलवर्णकर होता है । १३ ॥ १४ ॥

तीसरा वायुभेद व्यान उरोगत रसविक्षेपणादि क्रिया करनेवाले हृदयमें
 रहता है । वह अति वेगवान् है और सर्व शरीरमें संचार करता है । सर्व अव-
 यवोंके सामान्य संचलनस्वरूप गति, हात पैरोंकी ऊपर नीचे आदि प्रकारकी
 हलचल, निमेष याने आंखे मिट लेना, उन्मेष याने आंखे खोलना आदि प्रकारकी
 प्रायः सभी शारीरिक क्रियाओंको हृदयस्थित व्यान वायुही करता है । व्यानवायु

प्रधानमेतत् त्रितयं साधकं सर्वकर्मणाम् ॥ १८ ॥

प्राणोदानव्यानसंज्ञास्त्रयो भेदा नभस्वतः ।

त्रितयं साधयन्त्येतदनुबद्धाः परस्परम् ॥ १९ ॥

प्राणोदानव्यानख्यानां कर्मसंपादकत्वं परस्परानुबद्धत्वं च विशदीकर्तुमुच्यते । प्रवृत्तिरिति सर्वावयवानां स्वाभाविकश्चैतन्यमूलः कार्यारंभोद्योगः । वेग इति समावप्रवृत्तेरुत्कटत्वम् । आकुंचनं प्रसरणं चेति । त्रिविधात्मिका इति अव्यक्ता प्रवृत्तिः प्रयत्नः, सैव, किंचिदभिव्यवक्ता उत्साहः व्यक्तावस्थायां च आकुंचनप्रसरणं इति त्रिविधात्मिका त्रिसरूपा । गतिः । सर्वकर्मणां शरीरावयवसंबंधिनाम् । साधकं प्रधानकारणमिति । प्राणोदानव्यानख्यानिधितयमेतत् कर्मणां परस्परानुबद्धाः साधयन्तीति । प्राणः प्रयत्नकरः, उदानो वेगकरः व्यानश्चाकुंचनप्रसरणकरश्चेति । मनोबुद्धीन्द्रियाद्यनुगतः संवेदनाकरो वायुर्विशेषेण सहजः परमसूक्ष्मः प्राणः । उरोगतः श्वासमाणा वायुवायुस्वरूपेणोपबृंह्यमाणो वायु उदानो वेगकरः । आहारद्रव्यगतेन वायवीयांशेन रसाश्रितो हृदयगतः पार्थिव्यादिद्रव्यसहाश्रितत्वात्सापेक्षतया स्थूलस्वरूपश्चाकुंचनप्रसरणस्वरूपोऽभिव्यक्तचलनो व्यान इति प्राणोदानव्यानानां परस्परानुबद्धत्वं परस्परसहायकत्वं चेति । (१७-१९)

प्रसारणाकुंचनाभ्यां शुद्रांत्रस्य समीरणः ।

हृदयके पेशिओंके स्रोतसोंमें भरा हुआ रहता है । और वह रसधातुमें—जो पोषक आहारके सारस्वरूप होता है और रंजक पित्तसे यकृत्लीहोंमें विभाजित होकर हृदयमें जाता है—मिश्रित होकर सर्व शरीरमें भ्रमण करता है । रसधातुके साथ साथही वहभी शरीरके सभी स्थूल व सूक्ष्म अवयवोंतक पहुंचता है । और एक ओर रसधातुसे अवयवोंका पोषणकार्य होते रहता है तो दूसरी ओर रसधातुमिश्रित व्यानवायुके कारण उसीसमय उनका संचालन हुआ करता है । इसलिये कहा है कि सब शारीरिक क्रियाओंका कर्ता व्यानवायुही है । १५ ॥ १६ ॥

यद्यपि प्राण, उदान व व्यान वायुके भिन्न क्रियाओंका पृथक् वर्णन ऊपर किया गया है, यह न समझना चाहिये कि, उनकी क्रियाओंमें कोई पारस्परिक संबंध नहीं होता । उनके अनुबन्धका अब विशदीकरण करते हैं ।

सर्व अवयवोंका जो स्वाभाविक चैतन्यमूलक कार्यारंभका उद्योग उसीको प्रवृत्ति कहते हैं । और इस प्रवृत्तिकाही नाम है प्रयत्न । यह प्रयत्न जब वेगवान् होता है याने उक्त स्वाभाविक प्रवृत्ति जब उत्कटतासे होने लगती है उसको

अन्नं गृण्हाति पित्तं चोदीरयत्यन्नपाचकम् ॥ २० ॥

सारकिष्टौ विभजते विक्षिपेच्च यथायथम् ।

अंतःकोष्ठचरो वायुः समानाख्य उदाहृतः ॥ २१ ॥

समानाख्यस्य वायोः स्वरूपनिदर्शनार्थमुच्यते । प्रसारणाकुंचनाभ्यामित्यादि ।
क्षुद्रांत्रस्थेति पच्यमानाशयस्य । अन्नपाचकं आमाशयगतमित्युपवर्णितं द्रवं पित्तम् ।
यथायथमिति सारो रसवहस्रोतःसु यकृदभिमुखेषु किंष्टं च घनं पक्वाशये द्रवं मूत्रवहस्रोतःसु
अंतःकोष्ठचरः क्षुद्रांत्रपेशीस्रोतःसंचारी । (२०-२१)

उदरस्याधःप्रदेश अपानाख्ये समाश्रितः ।

शुक्रार्तचशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः ॥ २२ ॥

स्रोतःसमीरणादुक्त अपानाख्यः समीरणः ।

उदरस्याधःप्रदेश इति उदरान्तर्नीमेरधः । अपानाख्ये अपानसंज्ञे उदराधो-
भागे । स्रोतःसमीरणात् शुक्रादिवहानां स्रोतसां प्रेरणात् । (२२-२२ ॥)

वायोश्चलस्वभावस्य कर्म स्याच्चलनात्मकम् ॥ २३ ॥

सामान्यमपि सर्वत्र स्थानभेदानुसारतः ।

क्रियाविशेषश्च ततो भेदाः पंच प्रकल्पिताः ॥ २४ ॥

उत्साह कहा जाता है । गति तीन प्रकारकी होती है:—१ प्रयत्न २ उत्साह
३ आकुंचन प्रसरण । प्रवृत्तिके अव्यक्तावस्थामें उसको प्रयत्न कहते हैं । वही
प्रवृत्ति जब किंचित् अभिव्यक्त होती है उत्साह कहलाती है । और
उसीका व्यक्त स्वरूप आकुंचन प्रसरणात्मक होता है । इस प्रकार
गतिका स्वरूप त्रिविध है:—१ अव्यक्त (प्रयत्न) २ किंचित् व्यक्त (उत्साह)
और ३ सुव्यक्त (आकुंचन प्रसरण) । यह त्रिविध गतिही प्राण, उदान, व व्यान
वायु-संज्ञासे सर्व कर्मोंकी साधक होती है । प्राणवायु प्रयत्नकर, उदान वेग-
उत्साहकर, और व्यान आकुंचनप्रसरणकर होता है । मन, बुद्धि, इंद्रियादिकोंमें
अनुगत, संवेदनाकर विशेषतः सहज व परमसूक्ष्म वायु प्राण है । उर-
स्थित फुफुसोंमें रहनेवाला, श्वासमार्गसे बाहर निकलनेवाला और बाह्य
वायुसे उपभ्रंहित होनेवाला वायु उदान संज्ञासे कहा गया है और वही वेग याने
उत्साहको उत्पन्न करता है । बतलाया गया है कि, व्यान वायु, उरःस्थित हृदयमें
रहता है । आहारद्रव्यगत वायवीय अंशोंके कारण वह रसमें मिश्रित हो जाता

चलस्वभावस्येत्यादि । चलनात्मकं गतिरूपं कर्म सामान्यमपि स्थानानुसारेण क्रियाविशेषात् प्राणादयः पंच भेदाः प्रकल्पिता इति । (२३-२४)

पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं पाचकसंज्ञकम् ।

त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम् ॥ २५ ॥

पाचकदीनां पित्तभेदानां स्वरूपनिदर्शनार्थमुच्यते । पक्वामाशयमध्यस्थमिति ग्रहणीसंश्रितम् । त्यक्तद्रवत्वं द्रवद्रव्याश्रयरहितम् । पाकादिकर्मणा आहारपचनादिकर्मणा । अनलसंज्ञितं जाठरोऽग्निरित्याख्यातम् । यथोक्तं सुधृतसंहितायाम् । न खलु पित्तव्यतिरेकादन्यो-
मिरूपलभ्यते । आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वग्निप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः कियतेऽतरमि-
रिति । (२५)

श्लेष्मणा क्लेदकाख्येन भुक्तमामाशयस्थितम् ।

द्रवीभूतमधो याति पच्यमानाशये ततः ॥ २६ ॥

स्विद्यते द्रवरूपेण पित्तेन सह मूर्च्छितम् ।

स्वेदनानन्तरं चास्य सारकिट्टविभाजनम् ॥ २७ ॥

ग्रहण्यां सारभागस्य रसरूपस्य शोषणम् ।

पित्तेन पाचकाख्येन भवत्यद्रवरूपिणा ॥ २८ ॥

है । इसलिये पार्थिवादि द्रव्योंमें मिश्रित हानेके कारण प्राण व उदानकी अपेक्षा वह स्थूल होता है । इस प्रकार प्राण, उदान व व्यान परस्परानुबन्धी याने परस्पर-सहायक होते हैं । १७-१९ ॥

अब समाननामके वायुके स्वरूप एवं क्रियाका वर्णन करते हैं । व्यान वायु अंतः कोष्ठमें याने क्षुद्रांत्रकी पेशियोंके स्रोतसोंमें संचार करता है । क्षुद्रांत्रका याने पच्यमानाशयका आकुंचनप्रसरण व्यान वायु करता है । वही अन्नका जठरमेंसे पच्यमानाशयमें ग्रहण करता है, अन्नके पाचक पित्तको—जो क्षुद्रांत्रमें द्रवरूपमें रहता है—प्रेरित करता है, सारकिट्टोंका पृथक्करण करता है और सारभागको रस-वह स्रोतसोंद्वारा यकृतप्लीहामें और किट्टभागको याने अनुक्रमसे घनस्वरूप मलको पक्वांशयमें और द्रवस्वरूप मलको मूत्रवहस्रोतसोंमें पहुंचाता है । २०-२१ ॥

पांचवा अपान नामका वायुभेद उदरके अपान नामके अधोभागमें आश्रित रहता है । शुक्र, आर्तव, शकृत्, मूत्र, गर्भ इनका वहन करनेवाले मार्गोंको प्रेरित कर वह उनको याने शुक्रादिको (शरीरके) बाहर निकालता है । २२ ॥

पाचकारण्यस्य पित्तस्य स्वरूपविशदीकरणार्थमुच्यते श्लेष्मणेत्यादि । भुक्तमित्युपभुक्तममम् । द्रवीभूतं क्लेदकारण्येन श्लेष्मणा संघातक्लेदनात् द्रवत्वमागतम् । अथः इति क्षुद्रात्रि पच्यमानाशयाख्ये । द्रवरूपेण पित्तेनेति क्षुद्रात्रिस्रोतोगतेन प्रच्युतेन पित्तेन । मूर्छितं मिश्रीभूतम् स्वेदनानंतरमिति क्षुद्रात्रप्रसृतेन पित्तेन स्वेदनं तदनंतरम् । सारकिट्ट-विभाजनम् सारो रसरूपः किट्टं शक्नुमूत्राख्यं घनद्रव्यस्वरूपम् । तयोर्विभाजनं पृथक्करणम् । ग्रहण्यामिति क्षुद्रात्रस्य पक्वाशयाभिसंबद्धे चरमांशे । शोषणं सारकिट्टमिश्रणात् सारभागस्य स्रोतःस्वाकर्षणम् । अद्रवरूपिणा उष्णस्वभावेनेति यावत् । प्रकृष्टितस्याहारस्य अंशसृतेन पित्तेन यथावत्स्वेदनानंतरं येन सारभागशोषणं भवति तत्पित्तं पाचकारण्यमिति । (२८)

क्षुद्रात्रचरमो भागः स्थूलांत्रस्योपरि स्थितः ।

अन्नं गृण्हात्याविपाकादतः सा ग्रहणी मता ॥ २९ ॥

तद्रतं पाचकं पित्तं साररूपरसानुगम् ।

पित्तभेदानापि स्थानान्तरस्थानुपवृंहयेत् ॥ ३० ॥

क्षुद्रात्रचरमो भाग इति क्षुद्रात्रस्य अतिमोऽंशः । अन्नं गृण्हाति इति भवमवर्ध्यात् । यथोक्तं सुभृतेन-षष्ठी पित्तधरा नाम या चतुर्विधममपानमुपभुक्तमामाशयात्प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं भारयति । अष्टांगहृदये च-स्थिता पक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गगेलिव सा । भुक्तमामा-

यद्यपि चलस्वभाव वायुका सामान्य व सार्वत्रिक कर्म चलनात्मक है, स्थानभेदके अनुसार उसकी जो विशिष्ट क्रियायें होती हैं उनके कारण वायुके उपरिनिर्दिष्ट प्राणोदानादि पांच भेद माने गये हैं । २३ ॥ २४ ॥

इस प्रकार वायुके पांच भेदोंका वर्णन करनेके बाद अब पित्तके पांच भेदोंका वर्णन करते हैं । प्रथम पाचक पित्तका वर्णन करते हैं । यह पित्त पक्वाशय व आमाशयके मध्यमें याने ग्रहणीमें रहता है । यह द्रवरहित केवल ऊष्मास्वरूप होनेके कारण तथा आहारका पचनादि कर्म करनेके कारण अग्नि (जाठराग्नि) भी कहलाता है । सुश्रुतने कहा है “ पित्तके अतिरिक्त दूसरा कोई अग्नि नहीं होता । पित्त आग्नेय होनेके कारण दहनपचनादि क्रियाओंमें अग्निके समानही उसका उपयोग होता है । इसलिये पित्तकोही अंतराग्नि कहना चाहिये । २५ ॥

पाचक पित्तका स्वरूप अधिक विशद करनेकी अवश्यकता है । आमाशयमें याने जठरमें भुक्त अन्न क्लेदक नामके कफद्वारा द्रवीभूत होकर नीचे पच्यमानाशयमें याने क्षुद्रात्रमें जब आता है, क्षुद्रात्रके स्रोतस्रोतोंसे द्रवरूप पित्त प्रसृत

शये रुद्ध्वा सा विपाच्य नयत्यधः । इति । आचिपाकादिति सम्यक्विपाकावधि । तद्रतं ग्रहणीगतम् । साररूपरसानुगमिति सारस्वरूपाचरससंश्रितम् । स्थानान्तरास्थान् हृदयादिगतान् पित्तभेदानुपबृंहयेदभिवर्धयेदिति । उक्तं च सुश्रुतसंहितायाम्—तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या-
शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाधिकर्मणाऽनुग्रहं करोतीति । (२९-३०)

पित्तं यकृद्गतं भुक्तरसरंजनकारणम् ।

रसपाककरं तद्धि द्रवं रंजकसंज्ञकम् ॥ ३१ ॥

रंजकारणं पित्तं विवृणोति पित्तमित्यादिना । यकृद्गतं यकृदाश्रितम् । भुक्तरस-
रंजनकारणमिति आहाररसे रंजनोत्पादकम् । रसपाककरं रसस्य जठराग्निना विपक्वस्या-
चरसस्य पुनरपि नैर्मल्योत्पादनाय विपाकं करोत्येवंविधम् । द्रवं स्वरूपम् । रंजकसंज्ञकम्-
पित्तम् । रसे रागपाकोत्पादकस्थानत्वेन यकृद्गच्छन्होनिर्देशः सुश्रुतसंहितायां यथा—यत्तु यकृ-
त्क्षीहोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽभिरिति संज्ञा । अष्टांगहृदये आमाशयो रंजकपित्तस्य स्थानमित्याख्या-
तम् । “ आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रसरंजनात् ” इति । महास्रोतसः प्रथमे वस्तिसमाकारे
विभाग आमाशयाख्ये क्षुद्रात्रे वा आमाशयाभिधे रसस्याभावात् रंजकपित्तस्थानमामाशय इत्युपवर्णने
प्रकृतीहानौ आमाशयश्चन्द्रवाच्यावित्याभिप्रायोऽत्र अष्टांगहृदयकर्तुरनुमेयः । निपाकात्पूर्वमत्र रसस्याम-
स्वरूपस्य सत्त्वादिति । (२१)

पित्तं संज्ञावाहिनीनां मूले हृदि समाश्रितम् ।

होकर उसमें मिश्रित होता है । इस पित्तके कारण अन्नका स्वेदन होता है और
स्वेदनके बाद रसरूप सार तथा शकृन्मूत्ररूप याने घनद्रवरूप किड्का विभाजन-
पृथक्करण होता है । सार व किड् की मिश्र अवस्थामेंही द्रवान्न जब ग्रहणीमें आता है
याने पकाशयसे निगडित क्षुद्रांत्रके अंतिम भागमें आता है, वहां अद्रवरूप याने
केवल उष्मास्वरूप पाचक पित्तद्वारा उसके रसरूप सारभागका रसवहस्रोतसोंमें
शोषण याने आकर्षण होता है । क्लेदक कफसे द्रवीभूत आहारका क्षुद्रांत्रके स्रोत-
सोंमेंसे प्रसृत द्रवरूप पित्तसे स्वेदन होनेके बाद जिससे ग्रहणीमें सारभागका
शोषण होता है उसीको पाचक पित्त कहते हैं । २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

क्षुद्रांत्रका अंतिम विभाग जिसके आगे स्थूलांत्रको प्रारंभ होता है—
सम्यक्विपाक होनेतक अन्नको ग्रहण करता है याने रोककर रखता है । इसलिये
उसको ग्रहणी कहते हैं । सुश्रुतने कहाही है “ पित्तधरा नामकी छठी कला आमा-
शय (क्षुद्रांत्र) से प्रच्युत व पकाशयमें जानेवाले आहारको धारण करती है याने
रोके रखती है । ” अष्टांगहृदयमेंभी कहा है “ पकाशयके द्वारमें भुक्तमार्गकी

वायुना सहितं सम्यग्निद्रियार्थप्रसाधने ॥ ३२ ॥

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैः साधकं साधकाव्हयम् ।

साधकाख्यं पित्तं विवृणोति । इत्थञ्चात्र मस्तिष्कामिप्रायः संज्ञावहस्रोतसां मूलत्वात् । वायुनेति प्राणवायुना । प्रयत्नकरस्य वायोरौष्ण्यात् सहायरूपं पित्तं मस्तिष्कगतं साधकाख्यमिति । यदुक्तं सुश्रुतेन—यत् पित्तं हृदयसंस्थं तस्मिन् साधकोऽभिरिति संज्ञा । सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः । इति । (३२ ॥)

पित्तमालोचकं तेजोरूपं चक्षुःसमाश्रितम् ॥ ३३ ॥

दृष्टिगतं तेजोरूपं पित्तमालोचकसंज्ञमिति । (३३)

लसीकायां सरुधिरे रसे त्वचि समाश्रितः ।

वर्णोत्कर्षकरश्चोष्मा पित्तं तत् भ्राजकं मतम् ॥ ३४ ॥

लसीकायामिति पेशीसंश्रिते पानीयसमद्रव्ये । सरुधिरे रसे इति रुधिराख्ये रसाख्ये च धातौ । वर्णोत्कर्षकरः रसरक्ताश्रितेनोष्मणा तपोर्यथावदद्रवत्वावस्थानात् प्राजिष्णुत्वं त्वचि संपद्यत इति पित्तं भ्राजकसंज्ञम् । (३४)

स्थानानुरोधात् पित्तस्य कर्मभेदोपपादकाः ।

द्रवाद्वस्वरूपस्य पंच भेदा इति स्मृताः ॥ ३५ ॥

अर्गलाके समान वह रहती है । भुक्तानको आमाशयमें याने क्षुद्रांत्रके अंतिम भागमें रोककर तथा विपाचित कर नीचे लेजाती है । ” यह ग्रहणीगत केवल उष्मारूप पाचक पित्त साररूप रसमें मिश्रित होकर रसकेसाथ शरीरमें भ्रमण करता हुआ हृदयादिकोंमें स्थित पित्तके अन्यभेदोंको उपवृंहित याने संवर्धित करता है । सुश्रुत-संहितामें कहा है “ उसी स्थानका (ग्रहणीस्थित) पित्त अपनी शक्तिसे अन्य पित्तस्थानोंको तथा शरीरको अग्निकर्मद्वारा अनुग्रहीत करता है ” २९॥ ३०॥

अत्र पित्तके दूसरे रंजक नामके भेदका वर्णन करते हैं । रंजक पित्त यकृत्में रहता है और भुक्तानके रसमें वह रंजकताको (रक्तवर्णता) उत्पन्न करता है तथा रसका पचन करता है । वह द्रवरूप होता है । रंजक पित्त जाठराग्निसे विपाचित अन्नरसका पुनः अधिक निर्मल बनानेके लिये विपाक करता है । रसमें राग व पाक याने रंजकता व विपाक उत्पन्न होनेके स्थान सुश्रुतने बतलाये हैं यकृत् व प्लीहा । सुश्रुत कहता है “ यकृत् प्लीहामें जो पित्त है उसीको रंजक अग्नि कहते हैं । ” किंतु आष्टांगहृदयमें रंजकपित्तका स्थान आमाशय बतलाया

द्रव्याद्रवस्वरूपस्येति यकृदन्नादिगतं द्रवं हृदयादिगतं चाद्रवमिति द्विविधरूपस्य पित्तस्य । कर्मभेदोपपादकाः क्रियाविशेषोत्पादकाः भेदाः पञ्च पाचकादिसंज्ञा इति । (३५)

श्लेष्मभेदाः स्मृताः पञ्च तत्रैकश्चोरासि स्थितः ।

स्थानान्तरगश्लेष्मभेदानामवलंबनम् ॥ ३६ ॥

करोत्यसौ विशेषेण त्रिकस्य हृदयस्य च ।

स्थवीर्येणेति विख्यात अवलंबकसंज्ञया ॥ ३७ ॥

श्लेष्मभेदानामवलंबकादीनां स्वरूपगुणकर्मविशेषनिदर्शनार्थमुच्यते । श्लेष्मभेदा इत्यादि । उरसीति वक्षोगते रसनिक्षेपणार्थं स्वरूपं हृदये । शरीरावयवानां पोषणैककारणेन स्निग्धादिगुणयुक्तेन रसेनाश्रितः श्लेष्मा उरस्थोऽवलम्बकसंज्ञ इति । अत्र त्रिकस्येति ग्रीवांस-संक्षिप्रदेशस्य । श्लेष्मिण्डलगतस्य त्रिकस्य दूरत्वात् हृदयगतेन श्लेष्मणा तदवलंबनाभावः । उल्हणाचार्येण च न्याख्यातम्—त्रिकं शिरोबाहुद्वयसन्धानस्थानमिति । हृद्रतस्य रसस्य स्निग्धादिभिर्गुणैः समीपवर्तिनो ग्रीवानाहुसन्धानस्थानस्य दार्ढ्यं सम्पद्यत इति । हृदयस्य चेति अन्तःपूरितेन रसेन हृत्पेशीनां बलवत्त्वं सहजानुमेयम् । (३७)

स्निग्धादिगुणसम्पन्नं द्रव्यमन्नरसाश्रितम् ।

प्रसृतं चाखिले देहे स्वान् गुणानभिवर्धयेत् ॥ ३८ ॥

है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ रसका रंजन करनेसे आमाशयश्रयी पित्तको रंजक संज्ञा दी गयी है । ” इस वचनमें जो आमाशयका निर्देश आया है उससे यही अनुमान करना चाहिये कि आष्टांगहृदयके कर्ताको यकृतप्लीहाही अभिप्रेत है । कारण महास्रोतके बस्तिसमाकार आमाशय नामके प्रथम विभागमें याने जठरमें तथा आमाशयके द्वितीय विभागमें याने क्षुद्रांत्रमें (पच्यमानाशयमें) रसधातु नहीं रहता । विपाकके पूर्व रस यकृतप्लीहामें आम अवस्थामेंही रहता है । इस कारणभी आष्टांगहृदयमें यकृतप्लीहाको आमाशय कहा होगा । ३१ ॥

अब साधक नामके तृतीय पित्तभेदका विवरण करते हैं । साधक पित्त संज्ञावाहिनीओंके उद्गमस्थान जो हृदय याने मस्तिष्क उसमें समाश्रित रहता है । महांपर वह प्रयत्नकर प्राणवायुकी अपनी उष्णतासे सहायता कर बुद्धि, मेधा, अभिमान आदिद्वारा इंद्रियार्थोंका सम्यक् प्रसाधन करनेमें साधक बनता है । इसलिये उसको ‘ साधक ’ संज्ञा दी गयी है सुश्रुतने कहा है “ हृदय [मस्तिष्क] में स्थित पित्तको साधक अग्नि कहते हैं । वह अभीप्सित मनोरथोंको साध्य कर-

स्थानान्तरेष्वतः श्लेष्मभेदानामवलंबकः ।

अवलंबकस्य श्लेष्मणः श्लेष्मभेदावलंबकत्वं निदर्शयन्नाह । स्निग्धादिगुणसम्पन्न-
मिति स्निग्धशीतादिभिः शरीरोपबृंहणकरैर्गुणैः सम्पन्नम् । द्रव्यसाहारादाकृष्टम् । रसविक्षेपकर्मणा
रसेन सह अखिले देहे प्रसृतम् स्थानान्तरेषु इतरेषु श्लेष्मस्थानेषु स्वान् स्वीयान् स्निग्धादीन्
गुणानभिवर्धयेत् । अवलम्बकारव्यास्य श्लेष्मण उपवर्णने ' तत्स्य एवाम्बुकर्मणा । कफधाम्नां च
शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम् । अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा । इत्युपवर्णितं वाग्भटेनाष्टांगहृदये । अपि तु
रसाश्रितस्यावलम्बकस्य स्निग्धादयः प्रमुखा गुणाः स्थानान्तरीयश्लेष्मगुणाभिवृद्धिकराः न चैत-
स्मिन् भूयस्त्वमम्बुनः । जलरूपस्य द्रव्यस्याधिक्यमामाशयस्थे श्लेष्मणीति सुश्रुतसंहितायाम्—'स
तत्रस्थ लुप्त (आमाशयस्थ एव) खशवत्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ।
इत्यामाशयगतस्याख्यातं कर्म उदककर्मणाऽनुग्रहः शरीरे । श्लेष्मस्वरूपोपदर्शनाच्चैतत्समीचीनमिति ।
(३८॥)

आमाशयगतस्यान्नसंघातस्य करोति यत् । ३९ ॥

क्लेदनं तत् द्रवद्रव्यमाख्यातः क्लेदकः कफः ।

क्लेदकारणं कफप्रकारं विवृणोति । आमाशयगतस्येति आमाशये आद्य आहार-
संग्रहस्थाने स्थितस्य । अन्नसंघातस्य घनस्वरूपस्याहारस्य । क्लेदनं द्रवत्वोत्पादनम् ।
द्रवद्रव्यमिति प्रायशो जलस्वरूपम् ॥ ३९ ॥

देता है । " ३२ ॥

चौथा पित्तभेद आलोचक पित्त-जो तेजोरूप होता है-चक्षुओंके
आश्रयसे रहता है । ३३ ॥

पित्तका अंतिम याने पांचवा भेद भ्राजक नामका है । लसीकामें याने
पेशीसंश्रित उदकसमान द्रव्यमें, त्वचामें तथा रस व रक्त धातुमें जो ऊष्मा रहता
है, जिसके कारण रस व रक्तकी यथाप्रमाण द्रवावस्था नियत रहती है और
त्वचाका वर्ण तेजस्वी हो जाता है, उसीको भ्राजक पित्त कहते हैं । ३४ ॥

स्थानभेदके अनुसार पित्तके क्रियाओंकेभी जो विशिष्ट भेद होते हैं
उनके अनुसार पित्तके द्रव-अद्रवस्वरूप पांच भेद माने गये हैं । यकृत, अंत्र-
आदि गत पित्त द्रवस्वरूप है और हृदय (मस्तिष्क) ग्रहणी आदिगत पित्त
अद्रव है । ३५ ॥

अब श्लेष्माके अवलंबकादि भेदोंके विशिष्ट स्वरूप, गुण तथा कर्मका
वर्णन करते हैं । अवलंबक कफ वक्षस्थलमें-हृदयमें-जिसके द्वारा रसविक्षेपणकी

स्निग्धः संश्लेषणात् श्लेष्मा पिंडीभावस्य कारणम् ॥ ४० ॥

विश्लेषणं कारणं स्यात् क्लेदनाख्यस्य कर्मणः ॥

श्लेष्मभेदः क्लेदकाख्यः स्वभावेन विरुध्यते ॥ ४१ ॥

विद्रुता अपि भुक्तांशाः सन्धायैव परस्परम् ।

तिष्ठन्त्यतः क्लेदकोऽपि श्लेष्मा सन्धानकारणम् ॥ ४२ ॥

संश्लेषणकारिणः श्लेष्मणः प्रभेदे कथं वा विश्लेषणस्वरूपं क्लेदनकर्तृत्वमित्याशङ्कासंभव-
मभिप्रेत्योच्यते । स्निग्ध इति स्निग्धः स्नेहगुणभूयिष्ठः । पिंडीभावस्य समुदायस्वरूपस्य ।
विश्लेषणं संघत्वावस्थितानां पृथग्भावः । क्लेदनाख्यस्येति द्रवत्वोत्पादनाख्यस्य । स्वभावेन
श्लेष्मभावेन स्निग्धत्वेनेति । विरुध्यते । श्लेषणकर्मणः श्लेष्मणो भेदः क्लेदको विश्लेषणरूपं क्लेदनं
करोतीति स्वभावविरोधः इत्याशङ्का । तन्निरासार्थं चोच्यते । विद्रुताः द्रवीभूता अपि
भुक्तांशाः आमशयस्थितस्यान्नस्यांशाः सन्धाय मिश्रीभूय तिष्ठन्ति । अतः क्लेदकोऽपि संधान-
करः न पृथग्भावरं इति । अन्नसंघातस्य क्लेदनेऽपि रसरूपेण परस्परं संहताः परमाणवस्तिष्ठन्तीति क्लेद-
काख्ये श्लेष्मभेदेऽपि श्लेषकत्वमनुभूयत इति श्लेष्मभेदः क्लेदक इत्याख्यानं न स्वभाव विरुद्धम् ।
(४०-४२)

विद्रावणान्मुखस्यस्थ द्रव्यस्थ रसबोधनम् ।

करोति रसनास्थायी नाम्ना श्लेष्मा स बोधकः ॥ ४३ ॥

क्रिया होती है । वह हृदयस्थ रसके स्निग्धादि गुणोंद्वारा शरीरमें रसके साथ
संचारित होता हुआ शरीरका पोषण करता है । रसके साथ शरीरमें भ्रमण
करनेके कारण अन्यस्थानगत कफभेदोंकाभी अवलंबन करना है । विशेषतः त्रिक
याने ग्रीवा व अंस इनका संधिप्रदेश व हृदय इनका अपने वीर्यसे वह
अवलंबन करता है । यहांपर त्रिक शब्दसे श्रोणिमंडलगत त्रिकास्थि अभिप्रेत
नहीं हो सकता कारण वह अवलंबक कफस्थान हृदयसे बहुत दूर है और
उल्हणाचार्यनेभी ' त्रिक ' का अर्थ ' शिरोबाहुद्वयसंधानस्थान ' ऐसाही दिया
है । ग्रीवा व बाहुओंका संधानस्थान हृदयके समीप है और हृदयगत रसके
स्निग्धादि गुणोंके कारण इस स्थानका दार्ढ्य संपादित होता है । उसीप्रकार
हृदयके अंतःपुरित रससे हृदयकी पेशियोंको बल मिलता है यहभी अनुमान
सहज हो सकता है । इस प्रकार अन्य कफभेदोंका तथा त्रिक व हृदयका
अपने सामर्थ्यसे अवलंबन करनेके कारण इस कफको अवलंबक कफ कहते
हैं । ३६ ॥ ३७ ॥

विद्रावणादिति प्रकृष्टेनान् । रसबोधनं स्वादुस्वतिक्तत्वादिविषयावबोधः । रसनास्थायीति जिह्वागतेषु सूक्ष्मस्रोतःस्वस्थितः । बोधकः श्लेष्मभेदः । वाग्भटेनोक्तम् -- रसबोधनात् । बोधको रसनास्थायीति । अत्रापि विद्रुतानामन्नाशानां संग्रहादेव तद्रसबोधनमिति मुखप्रक्षिप्तान्नस्य किञ्चित् विद्रावणं श्लेष्मगुणनिरुद्धं न वाच्यम् । (४३)

संज्ञावातवहस्रोतोमूले मूर्धन्यवस्थितः ।

शीतस्वभावादक्षाणां तर्पकस्तर्पको मतः ॥ ४४ ॥

संज्ञावातवहस्रोतोमूल इति संज्ञावहानां वातवहानां च स्रोतसां मूले । संज्ञावहानीति ज्ञानेन्द्रियानुबद्धानि वातवहानीति च प्राणवायुवहानि । मूर्धनि मूर्धगते मस्तिष्के । शीतस्वभावात् शीतगुणस्वरूपात् । अक्षाणामिति ज्ञानेन्द्रियाणाम् । तर्पकः प्रीणनः । शीतत्वासंज्ञावहस्रोतोमूलस्य मस्तिष्कस्य प्रीणनादिद्विषेयु प्रसादोत्पादकः श्लेष्मा तर्पक इति । (४४)

द्रव्यं स्निग्धस्वरूपं यद्विशेषादस्थिसंधिषु ।

करोति श्लेषणं श्लेष्मभेदः श्लेषकसंज्ञितः ॥ ४६ ॥

स्निग्धस्वरूपमिति स्निग्धगुणभूयिष्ठम् । विशेषादस्थिसंधिषु । स्नायुपेश्यादीनां समुदायेऽपि श्लेषकत्वं श्लेष्मकृतमपि अस्थिसंधीनां विशेषेणेति । संधिगतं स्निग्धद्रव्यं संधिसंश्लेषकारणं श्लेषकारण्यः श्लेष्मभेद इति । (४५)

स्निग्धशीतादि शरीरबृंहणकर गुणोंसे संपन्न आहारमेंसे आकृष्ट द्रव्य अन्न-रसमेंही रहता है । रसविक्षेपकी क्रियाके कारण रसके साथ यह द्रव्यभी सर्व देहमें प्रसृत हो जाता है । और अन्य कफस्थानोंमें अपने स्निग्धादि गुणोंको संवर्धित करता है । इस प्रकार वह (रसगत स्निग्धादिगुणसंपन्न शरीरपोषक द्रव्य) अन्य कफभेदोंका अवलंबन करनेके कारण उसीको अवलंबक कफ कहते हैं । वाग्भटने अष्टांगहृदयमें अवलंबक कफका वर्णन करते समय कहा है “ हृदयस्थ कफही अपने अंबु (उदक) कर्मद्वारा अन्य कफस्थानोंका अवलंबन करता है । इसलिये उसको अवलंबक संज्ञा दी गयी है । ” रसाश्रित अवलंबक कफके स्निग्धादि प्रमुख गुण अन्य स्थानीय श्लेष्मभेदोंके गुणोंकी वृद्धि करते हैं । उसमें जलका आधिक्य नहीं रहता । जलरूप द्रवका आधिक्य आमाशयस्थ श्लेष्मभेदमें रहता है । सुश्रुतने कहाही है “ वह (कफ वहां (आमाशयमें) रहकरही अन्य श्लेष्मस्थानोंका एवं शरीरका अपनी शक्तिसे उदककर्मद्वारा अनुग्रह करता है । ” इसप्रकार उदककर्मद्वारा अनुग्रह करनेका कार्य आमाशयगत श्लेष्माका बतलाया

मुख्याश्चैवं पंच भेदाः स्थानकर्मानुरोधतः ।

वातादीनां तु दोषाणां प्रत्येकमुपकल्पिताः ॥ ४६ ॥

एवं वातादीनां प्रत्येकं पंच भेदाः स्थानकर्मानुरोधत उपकल्पिताः ।

इति दोषभेदस्वरूपदर्शनं नाम द्वितीयं दर्शनम् ।

है । हृदयस्थ याने रसाश्रित अवलंबक श्लेष्मा स्निग्धशीतादि गुणोंद्वारा अवलंबन कर्म करता है याने अन्य कफस्थानोंमें स्निग्धादि गुणोंकी वृद्धि करता है । ३८ ॥

दूसरा कफभेद है क्लेदक कफ । यह आमाशयमें याने बस्तिप्रमाकार आद्य आहारसंग्रहस्थानमें रहता है । अन्नसंघातका याने घनस्वरूप आहारका क्लेदन याने द्रवीकरण करनेवाला जो द्रव याने जलस्वरूप द्रव्य आमाशयमें रहता है उसीको क्लेदक कफ कहते हैं । ३९ ॥

यहांपर शंका यह हो सकती है कि श्लेष्माका कार्य श्लेषण — संहतीकरण अथवा संघात बतलाया गया है, तब क्लेदन याने विश्लेषणका कार्य करनेवाले द्रव्यको श्लेष्मा कैसा कहा जा सकता है ? अपने स्निग्धगुणसे संश्लेषणाक्रियाके कारण श्लेष्मा पिंडीभाव याने समुदायस्वरूपको उत्पन्न करता है । और क्लेदन क्रियाका कारण है विश्लेषण याने संघस्थित अणुओंको पृथक् करना । श्लेष्माका क्लेदक यह भेद इसप्रकार स्वभावसे याने श्लेष्माके स्वाभाविक क्रियासे विरुद्ध प्रतीत होता है । किंतु इस आशंकाका निराकरण निम्न रीतिसे हो सकता है:—

आमाशयमें स्थित विद्रुत याने द्रवीभूत अन्नांशभी परस्परमे मिश्र होकरही रहते हैं । इसलिये क्लेदन कफकोभी संधानका कारणही समझना चाहिये । पृथक्भावका कारण न समझना चाहिये । क्लेदक कफसे यद्यपि अन्नसंघातका क्लेदन-द्रवीकरण होता है, द्रवीभूत परमाणु रसरूपसे परस्परमें संघट होकरही रहते हैं । इसप्रकार क्लेदक कफमेंभी श्लेष्मकत्वका अनुभव देखकर उसको श्लेष्मभेद मानना स्वभाव-विरुद्ध नहीं है । ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

श्लेष्माका तीसरा भेद बोधक । यह रसनामें याने जिह्वागत सूक्ष्म स्रोतसोंमें रहता है । उसके कारण मुखस्थ द्रव्यका विद्रावण होतेही स्वादु, तिक्त इत्यादि रसका बोध होता है । इसलिये बोधक संज्ञा दी गयी है । वाग्भटने कहा है— “रसनामें रहनेवाला कफ आहाररसोंका बोध करा देता है इसलिये उसको बोधक कहते हैं ।” यहांपर भी जिह्वापर विद्रुत विशिष्ट रसके अन्नांशोंका संग्रह करने-परही उन २ रसोंका ज्ञान होता है । अतः यद्यपि प्रथम रसनापर अन्नका किञ्चित् विद्रावण होता है, उसके उक्त संग्रहगुणके कारण बोधकद्रव्य श्लेष्मगुणके विरुद्ध न समझना चाहिए ॥ ४३ ॥

संज्ञावह स्रोतसोंके—जो ज्ञानेन्द्रियोंसे अनुवृद्ध रहते हैं—तथा वातवह स्रोत-सोंके याने प्राणवायुका वहन करनेवाले स्रोतसोंके उद्गमस्थानमें—मस्तिष्कमें चतुर्थ कफभेद **तर्पक कफ** रहता है । अपने शीतस्वभावसे वह ज्ञानेन्द्रियोंका तर्पण-प्रीणन करता है । संज्ञावह स्रोतसोंका मूल मस्तिष्कके शीतत्वके कारण प्रीणनक्रियासे इंद्रियोंमें प्रसाद उत्पन्न करनेवाले इस भेदको तर्पककफ कहते हैं ॥ ४४ ॥

पांचवा श्लेष्मभेद श्लेष्मक नामका है । विशेषतः अस्थिसंधिओंमें और सामान्यतः स्नायु, पेशी आदिओंके संधिस्थानोंमें भी जो स्निग्धस्वरूप याने विशेष स्निग्धगुण-युक्त द्रव्य संधिओंके श्लेषणका कार्य करता है उसीओ श्लेष्मक कफ कहते हैं ॥ ४५ ॥

स्थान व कर्मके अनुसार वातादि दोषोंके प्रत्येकशः उपरिवर्णित मुख्य पांच २ भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

॥ दोषभेदस्वरूपदर्शननामक तृतीय दर्शन समाप्त ॥

तृतीयं दर्शनम् ।

(दोषत्रयानुसारेण कर्मत्रितयप्राधान्यदर्शनम् ।)

षडंगानि शरीरस्योपांगानि विविधान्यपि ।

घटकानां सुसूक्ष्माणं जायन्ते समवायतः ॥ १ ॥

दोषाणां वातादीनां स्थानविशेषान् कर्मविशेषांश्चाभिधाय सर्वशरीरगतं कर्मत्रितयप्राधान्यं विवृणोति । षडंगानीति द्वौ हस्तौ, द्वौ पादौ, एकं शिरः, हस्तपादशिरोमिरत्रशिष्टो मध्यभाग एकश्चेति षडंगानि शरीरस्य प्रधानांगानि । उपांगानीत्यंगवयवाः । विविधानि प्रत्यंगभेदाश्चामेके यथा-पादस्य पादतलजंघोर्वादयः, हस्तस्यांगुलिमणिबंधकूर्परादयः, हनुगंडाक्षिनासिकादयः शिरोगताः, उदरांतर्गताश्च हृदययकृत्प्लीहांत्रादयः । यथोक्तमष्टांगहृदये—शिरांतराधिद्वौ बाहू सक्थिनी च समासतः । षडंगमंगं प्रत्यंगं तस्याक्षिहृदयादिकम् ॥ १ ॥ सुश्रुतसंहितायां च—शाखाश्चतस्रो मध्यं पंचमं षष्ठं शिर इति षडंगम् । मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकवास्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः । कर्णनेत्रभ्रूशंखांसगंडकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्निग्जानुबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे विंशतिरंगुल्यः सोतांसि वक्ष्यमाणानि एवं प्रत्यंगविभाग उक्तः । इति । घटकानामिति अवयवानाम् । पांचभौतिकाणूनां सूक्ष्मसंघातरूपोऽवयवो घटकसंज्ञः शारीरांगानां घटकत्वादिति । समवायतः संघातात् । दृश्यान्यंगोपांगानि सूक्ष्मघटकसमुदायात्मकानीति । (१)

तृतीयदर्शन

(तीन दोषोंके अनुसार तीन कर्मोंके प्राधान्यका दर्शन)

पूर्व प्रकरणमें वातादि दोषोंके विशिष्ट स्थान तथा विशिष्ट क्रियाओंका विवरण करनेके बाद अब प्रस्तुत प्रकरणमें सर्वशरीरमें होनेवाले तीन प्रमुख क्रियाओंका विवरण करते हैं । सुसूक्ष्म घटकोंके याने पांचभौतिक अणुओंके सूक्ष्म संघातरूप अवयवोंके समवायसे शरीरके षड्अंगों याने प्रमुख अवयवों तथा विविध उपांगोंकी उत्पत्ति होती है । दो हात, दो पैर, एक शिर और एक अवशिष्ट मध्यभाग ये शरीरके छ प्रधान अंग हैं । उपांग अनेक हैं । याने प्रधान अंगोंमेंसे प्रत्येकके अनेक उपांग होते हैं । जैसे—पैरके उपांग—पादतल, जंघा, ऊरु आदि; हाथके अंगुलियां, मणिबंध, कूर्पर आदि; शिरके हनु, गंड, नेत्र, नासिका आदि; और मध्यकायमें उदरांतर्गत हृदय, यकृत्, प्लीहा, फुफुस, अंत्र इत्यादि । अष्टांगहृदयमें कहा है—शिर, अंतराधि याने मध्यकाय, दो बाहू, दो

अंगोपादानरूपाणां घटकानामहर्निशम् ।

भवत्युत्पादनं नाशश्चाभिवृद्धिश्च संक्षयः ॥ २ ॥

सातत्यं कर्मणामेषां जीवनं परिकथ्यते ।

अंगोपादानरूपाणामिति शरीरावयवकारणस्वरूपाणाम् । अहर्निशम् नित्यम-
विरतम् । उत्पादनमित्यभिव्यक्तिः । विनाशः प्रव्यक्तरूपस्यादर्शनम् । अभिवृद्धिरिति ।
स्वरूपेणोपबृंहणम् । संक्षयः न्हासः । एषां चतुर्णां कर्मणां सातत्यं अखंडितत्वम् । जीवनं-
परिकथ्यत इति । उत्पत्तिविनाशयोर्वृद्धिक्षययोश्च सातत्यं जीवनं नाम । (२॥)

सम्यग्आहारपचनं रसविक्षेपणं तथा ॥ ३ ॥

श्वसनं चाथ धातूनां सर्वेषां पोषणं क्रमात् ।

उत्सर्जनं मलादीनामित्येवं कर्मपंचकम् ॥ ४ ॥

प्रधानं साधकतमं जीवनाख्यस्य कर्मणः ।

प्रोक्ताश्चैतस्य कर्तारो वातपित्तकफाख्यः ॥ ५ ॥

सम्यगित्यादि । रसविक्षेपणं पोषकस्य रसधातोः सर्वशरीरे प्रक्षेपणम् । श्वसनं
श्वासोच्छ्वासौ । धातूनां पोषणमिति सर्वधातूनामुपबृंहणम् । उत्सर्जनं शरीरादबहिर्निष्का-
मणम् । मलादीनामित्यादिशब्देन धातूनां धातुन्तरे प्रक्षेपणम् । कर्मपंचकम् आहारपचना-

सक्थी ये षडंग है और उनमेंसे प्रत्येकके आंखे, हृदय आदि प्रत्यंग होते हैं ।
सुश्रुतसंहितामें कहा है “ चार शाखा (याने दो हाथ और दो पैर), पांचवा
मध्यकाय व छठा शिर ये षडंग है । प्रत्यंगविभाग इसप्रकार है— मस्तक,
उदर, पृष्ठ, नाभी, ललाट, नासा, चिवुक (ठुड़ी), वस्ती और ग्रीवा । दो२
कर्ण, नेत्र, भ्रू, शंख, अंस, कक्ष, स्तन, वृषण, पार्श्व नितंब, जानु, बाहु और
ऊरु । अंगुलियां बीस है । स्रोतस् आगे बतलायें गये हैं । ” ॥ १ ॥

अंगोंके याने शरीर अवयवोंके उपादान याने मूलकारणस्वरूप घट-
कोंका अहर्निश याने निरंतर उत्पादन याने अभिव्यक्ति, विनाश याने व्यक्तरूपका
अदर्शन, अभिवृद्धि याने उनके अपने स्वरूपसे उपबृंहण और संक्षय याने न्हास
हुआ करता है । इन चार क्रियाओंके सातत्यको याने अखंडित प्रवृत्तिकोही
जीवन कहते हैं । सारांश, उत्पत्ति—विनाश तथा वृद्धि—क्षयका सातत्यही जीवन
है ॥ २ ॥

जीवनकर्मकी सबसे अधिक साधक पांच प्रमुख क्रियायें होती हैं—

दिकम् । साधकतमं प्रधानं साधनम् । आहारपचनादिभिः पंचभिः कर्मभिर्जीवनाख्यं कर्म संपद्यते प्राधान्येनेति । एतस्य कर्मपंचकस्य । वातपित्तकफाः कर्तारः प्रोक्ता अभिहिताः । (३॥-५)

त्रिविधं कर्म पचनपोषणोत्सर्जनात्मकम् ।

प्रसारणाकुंचनाभ्यां चलनाद्विनिवर्तते ॥ ६ ॥

जीवनसाधनस्वरूपं कर्मपंचकं पोषणपचनोत्सर्जनस्वरूपकर्मत्रितयसंभवम् । कर्मत्रितयं चैत-
प्रसारणाकुंचनाभ्यां जायते । प्रसारणाकुंचनमपि चलनादिति सर्वकर्मणां चलनं प्रधानकार-
णम् । तत एवाख्यातं “ चलनात्मकं कर्मेति । ” (६)

आकुंचनात्संग्रहः स्यादुत्सर्गश्च प्रसारणात् ।

प्रसारणाकुंचनाभ्यां सर्वे स्त्रावा भवन्ति हि ॥ ७ ॥

आकुंचनादिति । आकुंचनं सान्निधावाकर्षणम् । संग्रहः पौन्यद्रव्याणामात्मन्यभि-
प्रवेशः । उत्सर्गः प्रक्षेपणम् । स्वतो दूरीकरणमिति । प्रसारणात् दूरीभावोत्पादकश्चलन-
विशेषः प्रसारणमिति । सर्वे स्त्रावाः पचनादिक्रियाकराः पित्तादीनां स्त्रावाः प्रसारणाकुंच-
नाभ्यां भवन्ति । आकुंचनमेकदेशस्य प्रसरणं चान्यदेशस्येति पारंपर्येण स्त्रावसंभव इति । (७)

संवेदना कारणं स्याच्चलनस्य स्वभावजा ।

सर्वकर्मकारणस्वरूपस्य चलनस्यापि कारणं संवेदना ज्ञानविशेषः । स्वभावजा इति

१ आहारका सम्यक्पचन, २ शरीरपोषक रसधातुका सर्व शरीरमें विक्षेपण,
३ श्वसन याने श्वासोच्छ्वास, ४ सत्र धातुओंका अनुक्रमसे पोषण, ५ मलोंका
याने शकृन्मूलस्वेदादिका शरीरके बाहर उत्सर्जन तथा पूर्वधातुका उत्तरधातुरूपमें
परिवर्तन । इन पांच क्रियाओंके कर्ता वात, पित्त, कफ बतलाये गये हैं ॥३॥४॥५॥

पचन, पोषण व उत्सर्जनकी तीनों क्रियायें आकुंचनप्रसरणके कारण याने
तद्रूप चलनके कारण होती हैं । इसलिये कर्म चलनात्मक बतलाया गया है ॥६॥

आकुंचनका अर्थ है निकट ले आना—अपने पास आकर्षित करना । उससे
संग्रह होता है याने पोष्य द्रव्योंका ग्रहण किया जाता है । उत्सर्गका अर्थ है
प्रक्षेपण । अर्थात् अपने पाससे दूर फेंकना । यह कार्य प्रसरणसे होता है ।
पासके वस्तुका दूर जानाही प्रसारण है । पचनादि क्रियाओंको करनेवाले पित्ता-
दिके सब स्त्राव प्रसरण आकुंचनके कारणही होते हैं । एक भागका आकुंचन व
दूसरे भागका प्रसरण जब लगातर होता है, स्त्राव होने लगता है । ७ ॥

सब क्रियाओंका मूल चलन है और चलनकाभी कारण है संवेदना ।

निसर्गजा । अथवा स्व आत्मा तद्भावश्चैतन्यं तस्माज्जायत इति । चेतनाश्रितपंचभूतविकारसमुदाया-
त्मकत्वान् सर्वावयवानामिति । उक्तं च चरकसंहितायाम् चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ।
तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहीति । (७॥)

कर्मस्थानान्यवयवाः प्रायः सर्वे शरीरगाः ॥ ८ ॥

विविधाकृतिसंस्थानमांसपेशीसमुद्भवाः ।

पेश्यस्तु मांससंघाता विविधकृतयः स्मृताः ॥ ९ ॥

संवेदनादिभिरभिनिर्वर्त्यमानानां कर्मणाभाधारभूतानां शरीरावयवानां सामान्यस्वरूपविश-
दीकरणार्थमुच्यते । कर्मस्थानानीति क्रियाधाराः । येष्वभिव्यक्तिः क्रियाविशेषाणां जायत इति ।
अवयवाः शरीरविभागाः अंगोपांगानीत्यर्थः । विविधाकृतिसंस्थाना इति आकृतिराकारः
संस्थानमवास्थितिविशेष ऊर्ध्वाधस्तिर्यगादिरूपः । मांसपेशीसमुद्भवाः मांसपेशीजनिताः ।
पेशस्तु नाम मांससंघाताः मांसघटकानां समुदायाः । विविधाकृतयः नानाविधाकाराः
॥ (८-९)

पेश्यः कलाः सिराः स्नायवः स्त्रोतांसीत्युपवर्णिताः ।

शरीरावयवा भिन्नाः स्वरूपगुणकर्मभिः ॥ १० ॥

अपि भिन्नाभिधानास्ते मांससंघातसंभवाः ।

परस्परं चानुबद्धाः क्रियानिर्वर्तनक्षमाः ॥ ११ ॥

संवेदनाका अर्थ है विशिष्ट ज्ञान । यह संवेदना स्वभावजा याने नैसर्गिक होती
है । अथवा स्वभावका दूसराभी एक अर्थ होता है । स्व याने आत्मा । उसका
भाव है चैतन्य । और इस चैतन्यसे उत्पन्न होती है संवेदना । कारण सर्व
अवयव चेतनाश्रित पंचभूत विकारसमुदायात्मक होते हैं । चरक संहितामें कहा
है “ है आत्मा चेतनावान् अतः उसको कर्ता मानते हैं । शरीरका अर्थ है चेतना-
धिष्ठानभूत पंचभूतविकारात्मक समयोगवाही वस्तु । ॥ ७ ॥

संवेदनादिसे निर्वर्तित कर्मोंके आधाररूप शरीरावयवोंका सामान्य स्वरूप
अब विशद करते हैं । प्रायः शरीरके सभी अवयव याने अंग प्रत्यंग कर्मस्थान
हैं याने विशिष्ट क्रियाओंकी अभिव्यक्ति उनमेंही होती है । इन अवयवोंकी
विविध आकृतियां होती हैं और विविध स्थितिमें याने ऊपर, नीचे अथवा तिरछे
वे स्थित रहते हैं । अवयवोंकी निर्भिति मांसपेशीओंसे होती है । विविध आकृति-
ओंके मांसघटकोंके संघातोंको (समुदायोंको) पेशी संज्ञा है । ८ ॥ ९ ॥

मांससंघातरूप विशिष्ट अवयवोंका विशिष्ट स्वरूपभी ध्यानमें रखना

तन्व्यः प्रच्छादकाश्चान्तस्त्वच एव कलाः स्मृताः ।

वाहिन्यश्च सिरास्तासां द्रवद्रव्यस्य वाहकाः ॥ १२ ॥

सिरासंज्ञाश्च ता एव धमन्यो वातवाहकाः ।

पेशीसंधिनिबद्धा ये स्थूलाः सूक्ष्माश्च तन्तवः ॥ १३ ॥

संचालकाश्च तैऽगानामाख्याताः स्नायुसंज्ञया ।

स्रोतांसि मार्गाः सामान्यास्तिराधमनिवर्जिताः ॥ १४ ॥

अवशिष्टा मांससंघाः पेश्यस्ताः परिकीर्तिताः ।

परस्परं चानुबद्धाश्चैते सर्वक्रियाकराः ॥ १५ ॥

मांससंघातस्वरूपाणामवयवविशेषाणां स्वरूपविशेषनिदर्शनार्थमुच्यते पेश्य इत्यादि । पेश्यादयः शरीरावयवाः स्वरूपगुणकर्मभिः हेतुभिः । भिन्नाभिधाना अपि भिन्नसंज्ञा अपि । मांससंघातसंभवाः मांससंघात एव सर्वेषामुपादानमिति । परस्परं चानुबद्धा अन्योन्यावलंबिनः । क्रियानिर्वर्तक्ष्मा इति कार्यसंपादनसमर्थाः । कलादीनां स्वरूपं विवृणोति । तन्व्य इति प्रस्ताराल्पत्वात् तनुवासः समाह्वाराः । प्रच्छादकाः त्वगंतर्गतानामवयवानामावरणरूपाः । अंतस्त्वच एवेति अंतर्गतास्त्वग्रूपा एव । कलाः कलासंज्ञयोपदिष्टा अवयवविशेषाः । आच्छादनस्वरूपेणावयवानां मर्यादारूपोऽवयवः कलासंज्ञः । यथोक्तं सुश्रुत-

अवश्यक है । यद्यपि पेशी, कला, सिरा, स्नायु, स्रोतस् आदि अवयवोंका स्वरूप गुण व कर्म भिन्न रहता है और उनकी संज्ञायेंभी भिन्न हैं; उन सबकी उत्पत्ति मांससंघातसेही होती है । वे सब परस्परसे संबद्ध रहकरही क्रिया संपादनकी पात्रता रखते हैं । त्वचाके अंतर्गत अवयवोंको जो एक पतले कपड़ेके समान आवरण याने वेष्टन होता है उसीको कला कहते हैं । कला त्वचाके स्वरूपकीही होती है । शरीरांतर्गत अवयवोंके मध्यभागमें मर्यादादर्शक प्रच्छादन अथवा आस्तरण का काम कला करती है । सुश्रुतने कहा है “कला सात हैं । धातु व आशयोंके वे मर्यादा होती हैं ।” जिनसे अन्यान्य द्रव्योंका अभिवहन होता है उन प्रणालिकाओंको वाहिनी कहते हैं । इन वाहिनीओंकोही सामान्यतः सिरा कहते हैं । किंतु शास्त्रीय परिभाषामें जिन वाहिनीओंमेंसे रसरक्तादिरूप द्रव द्रव्योंका वहन होता है उनको ‘सिरा’ यह विशिष्ट संज्ञा दी गयी है । इन वाहिनीओंमेंसेही जिनमें वायुका वहन होता है उनको धमनी संज्ञा दी गयी है । मांसके जो स्थूल व सूक्ष्म तंतु पेशीओंसे तथा संधिस्थानोंमें निबद्ध रहते हैं

संहितायाम् । कलाः खल्वपि सप्त संभवन्ति धात्वाशयांतरमर्यादा इति । वाहिन्य इति अभि-
वाहिन्यः । यामिर्द्रव्यांतराणामभिवहनं भवतीति । सिरासंज्ञाः । तासां सिराणां मध्ये ।
द्रवद्रव्यस्येति रसरक्तादिरूपस्य । सिरासंज्ञाः सिरा इति विशिष्टाभिधानाः । धमन्यः इति
धमनीसंज्ञाः । वातवाहकाः वातवाहिन्यः । पेशीसंधिनिवद्धा इति पेशीषु संधिषु च निवद्धाः ।
स्थूलाः स्थूलरूपाः । सूक्ष्मास्तनवः । तंतवः सूक्ष्मरूपा अवयवविशेषाः । संचालकाश्चांगाना-
मिति नानावयवानामाकुंचनप्रसरणसाधनाः । स्नायुसंज्ञया स्नायुनाम्ना आख्याताः । स्रोतां-
सीति स्रोतोभिधाना अवयवाः । मार्गाः सामान्यात् सामान्येन सर्वद्रव्याणां अभिवहनमार्गा
इति । यथोक्तं सुश्रुतेन—मूलात्खादंतरं देहे प्रसृतं त्वमिवाहि यत् । स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जि-
तम् । इति । अवशिष्टाः कलासिरादिभ्यः पूर्वमुक्तेभ्य अवशिष्टाः । मांससंज्ञा मांसघटकानां
संघाताः । पेश्यः पेशीसंज्ञाः । यदुक्तं उल्हणाचार्येण—“ मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः
पेशी इत्युच्यते ” (१०-१५)

संस्पर्शात् बाह्यवस्तूनामन्तःप्रेरणयाऽथवा ।

प्रतिबुद्धा वाहिनीर्भवेदना परिसर्पति ॥ १६ ॥

स्थानान्तरेषु च ततो धमन्यः स्नायुसंगताः ।

कुर्वन्ति चलनं स्नाय्वां ताश्च पेशीसमाश्रिताः ॥ १७ ॥

क्रियाः कुर्वन्ति पेशीनां विविधाश्चलनात्मिकाः ।

उनको स्नायु कहते हैं और उनकेही कारण शरीरके अंगोंकी — अवयवोंकी
आकुंचनप्रसरणरूप हलचल हो सकती है । सिरा व धमनीओंके अतिरिक्त जो
मार्ग हैं उनको स्रोतस् कहते हैं । सुश्रुतने कहा है “ शरीरमें जहां २
कोई छिद्र, अंतर या एकस्थानसे दूसरे स्थानमें जानेका मार्ग है उसको सिराधमनी-
ओंके अतिरिक्त (सामान्यतः) स्रोतस् कहते हैं । ” उपर्युक्त अवयवोंके अतिरिक्त
शरीरमें जो मांससंघ याने मांसघटकोंके समुदाय होते हैं उनको पेशी कहते हैं ।
उल्हणाचार्यने कहा है “ मांसघटकोंके समुदायोंको जो परस्परसे विभक्त रहते
हैं—पेशी कहते हैं ” ये सब अवयव परस्परसे निवद्ध रहकरही क्रियाओंको करते
हैं । १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

संवेदनामूलक नानाविध चलनस्वरूप कर्मोंके अभिनिर्वर्तनका क्रम अब
बतलाते हैं । बाह्यवस्तूका स्पर्श हानेसे अथवा अंतः प्रेरणासे याने विशिष्ट मान-
सिक भावोंके कारण जो प्रेरणा उत्पन्न होती है उससे वेदना याने संज्ञा जब
जागृत—उदीपित होकर संज्ञावाहिनीओंमेंसे संचार करने लगती है और संस्पृष्ट

पेशीसंचालनादाकुंचनप्रसरणात्मकात् ॥ १८ ॥

विक्षेपणं मलादीनां पोषकानां च संग्रहः ।

सूक्ष्मस्रोतोमुखेभ्यश्चास्त्रावाणां स्रवणं वहिः ॥ १९ ॥

संचालनं च गात्राणां भवत्युत्क्षेपणादिकम् ।

संवेदनामूलानां नानाविधचलनस्वरूपाणां कर्मणामभिनिर्वर्तनकर्म दर्शयितुमुच्यते ।
संस्पर्शादित्यादि । बाह्यवस्तूनां शरीरबाह्यद्रव्याणाम् । अन्तःप्रेरणया मानसोद्भूतै-
र्भावनाविशेषैः संजातया प्रेरणयेति । प्रतिबुद्धा उद्दीपिता । वेदना संज्ञा । वाहिनीभिः संज्ञा-
वाहिनीभिः । स्थानान्तरेषु संस्पर्शितेषु प्रेरणासंबद्धेषु वा स्थानविशेषेषु । धमन्यः वात-
वाहिन्यः । स्नायुसंगता इति स्नायुसंबद्धाः । कुर्वन्ति चलनं स्नाय्वामिति स्थानान्तरगता
वातवाहिनीः स्नाय्वामाकुंचनप्रसरणकारिण्यः । पेशीसमाश्रिताः पेशीचतुर्वद्धाः । पेशीसंचा-
लनात् मांसपेशीनां चलनात् । मलानां विक्षेपणमित्यादीनि कर्माणि जायन्त इति । (१६-१९॥)

संवेदना गतिः स्त्रावः पचनं पोषणं तथा ॥ २० ॥

उत्सर्जनं चेति मुख्याः षट् स्युर्जीवनहेतवः ।

स्थानान्तरगताः सर्वाः पचनोत्सर्जनादिकाः ॥ २१ ॥

प्रवर्तन्ते क्रियास्तासां षडिमे हेतवः स्मृतः ।

अवयवतक अथवा प्रेरणासंबद्ध स्थानतक पहुंचती है तब धमनीयें याने वातवाहि-
नीयें जो स्नायुसंबद्ध होती हैं स्नायुओंका चलन याने आकुंचनप्रसरण करने
लगती हैं । वे (स्नायु) पेशीओंसे संबद्ध रहते हैं । इसलिये वे पेशीओंकीभी
आकुंचनप्रसरणस्वरूप हलचल करते हैं पेशीओंके आकुंचन प्रसरणसे मलादि-
ओंका विक्षेपण, पोषक अंशोंका संग्रह, सूक्ष्म स्रोतोंके मुखसे द्रव पदार्थोंका
बाहर स्रावण, गात्रोंकी हलचल, उत्क्षेपण आदि क्रियायें होती हैं । १६ ॥
१७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

संवेदना, गति, स्त्राव, पचन, पोषण व उत्सर्जन ये छ जीवनके मुख्य
हेतु याने कारण होते हैं । भिन्न २ स्थानोंमें जो पचनोत्सर्जनादि
क्रियायें होती हैं उनके येही छ हेतु याने कारण माने गये हैं । २० ॥ २१ ॥

उत्पत्तिविनाशके सातत्यरूप जीवनके साधनभूत जो पचन, पोषण व
उत्सर्जन कर्म उनमें पचनकर्मही प्रधान होनेसे उनकाही अब प्रथम विवरण
करते हैं । शारीर धातुओं एवं अवयवोंका वर्धक षडसंयुक्त आहार ग्रहण करनेसे

संवेदनादयः षट् जीवनहेतवः इति जीवनाख्यस्य कर्मणः कारणाणि । स्थानान्तर-
गता इति विविधस्थानगताः क्रियाः । तसां षडिमे संवेदनादयो हेतवः । पचनपोषणोत्सर्जनानां
त्रीणि पचनपोषणविक्षेपणश्वसनोत्सर्जनानि च पंच वा पूर्वोक्तानि कर्माणि तेषां संवेदनादयः शरीरा-
व्ययानां साभाविका हेतव इति । (२१ ॥)

आहारेणाभिवर्धन्ते रसाद्याः सर्वधातवः ॥ २२ ॥

सम्यग्विपकेन कर्म प्रधानं पंचनं ततः ।

उत्पत्तिविनाशसातत्यस्वरूपस्य जीवनस्य साधनभूतानां पचनपोषणोत्सर्जनानां कर्मणां-
पचनस्य प्राधान्यात् तदेव प्राग्विवृणोति आहारेणेति शरीरद्रव्याणां वृद्धिकरेणोपभुक्तेन षट्-
साहारेण । अभिवर्धन्ते वृद्धिमायान्ति । सम्यग्विपकेन जठराग्निना यथावत् पाकमागतेन ।
रससंपन्नः सात्म्यश्चाहारः सम्यग्विपाकभावात् न धातुपुष्टये अपि तु नानाविधविकारो-
त्पादकस्तस्मात्पचनं सर्वकर्मसु प्रधानं कर्मेति । (२२ ॥)

मुखमामाशयः क्षुद्रमंत्रं च ग्रहणीकला ॥ २३ ॥

पक्वाशयाख्यं स्थूलांत्रं स्थानेष्वेतेष्ववस्थिताः ।

कमादाहारपचनं त्रयो दोषाः प्रकुर्वते ॥ २४ ॥

आहारपचनस्थानानि निरूपयति । मुखमित्यादि । आमाशयः मुक्ताशय

रसरक्तादि सब धातुओंकी वृद्धि होती है । यह आहार जठराग्निसे समुचित रीतिसे
विपाचित होकरही रसादि धातुओंकी वृद्धि करता है । किंतु षड्रससंपन्न और
सात्म्य आहारभी, यदि उसका उचित विपाक न हुआ तो धातुओंकी पुष्टि नहीं
करता किन्तु नानाविध विकारोंको उत्पन्न करता है । इसलिये पोषण, पचन
व उत्सर्जन इन तीनों कर्मोंमें पचनकर्मही प्रधान माना गया है । २२ ॥

आहारका निम्न स्थानोंमें पचन हुआ अरता है । पहिला स्थान है मुख ।
दूसरा आमाशय याने मुखमेंसे आगे जानेके बाद जिस बस्तिमान अवयवमें
उसका संग्रह होता है वह महास्रोतसका विभाग । तीसरा स्थान क्षुद्रांत्र । चौथा
ग्रहणी । (पीछे बतलाया जा चुका है कि क्षुद्रांत्रकेही अंतिम विभागको ग्रहणी
कहते हैं ।) और पांचवां स्थान है स्थूलांत्र जिसको पक्वाशय कहते हैं । वात,
पित्त व कफ तीनों दोष मुखादि स्थानानुक्रमसे आहारका पचन करते
हैं । २३ ॥ २४ ॥

पाचककर्मकेभी पचनस्थानोंके समान कुछ भेद होते हैं । वे इसप्रकार—

प्रथमाधारो दतिसमाकारो महास्रोतोविभागः क्षुद्रांजमिति लब्धं त्रम् । ग्रहणीकला इति क्षुद्रा-
नस्य चरमो विभागः । स्थूलांजं च । क्रमादिति मुखादिक्रमात् । (२३-२४)

चर्वणं क्लेदनं संस्वेदनं सारविवेचनम् ।

विभागाः पचनाख्यस्य कर्मणः प्रमुखाः स्मृताः ॥ २५ ॥

स्थानानि तेषां पचनसंस्थानमभिधीयते ।

आहारपचनस्थानान्यभिधाय पचनकर्मभेददर्शनार्थमुच्यते । चर्वणमिति पिष्टीकरणं
दन्तैः । क्लेदनं द्रवीकरणम् । संस्वेदनं परितापनम् । सारविवेचनं सारांशपृथक्करणम् । एते
विभागाश्चत्वारः पचनाख्यस्य कर्मणः प्रमुखाः । स्थानानि पूर्वोक्तानि मुखादीनि । पचन-
संस्थानमिति पचनसंस्थानसंज्ञया । अभिधीयते निरुच्यते । (२५ ॥)

अन्नं भक्ष्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यं चतुर्विधम् ॥ २६ ॥

घनद्रवविभागेन द्विविधं वा समीरितम् ।

भक्ष्यमिति चर्वणयोग्यम् । पेयं पानयोग्यं द्रवस्वरूपम् । चोष्यमिति ओष्ठाभ्यां रस-
शोषणयोग्यम् । लेह्यं सूक्ष्मं पिष्टस्वरूपमार्द्रमपि न पानयोग्यम् । चर्वणं विनाऽपि मुखास्त्रावसाहित-
मम्भ्वहार्थम् । इति चतुर्विधम् । घनद्रवविभागेन द्विविधं वेति । (२६ ॥)

अवश्यं धिरलत्वाय घनस्यान्नस्य चर्वणम् ॥ २७ ॥

१ चर्वणं याने आहारसे चबाकर पिष्ट बनाना । २ क्लेदनं याने द्रवीकरण ।
३ संस्वेदनं याने आहारको खदखाकर तपाना । और ४ सारविवेचनं याने सार-
किष्ट भागका पृथक्करण करना । ये चार पचनकर्मके प्रमुख विभाग हैं पचनके
पूर्वोक्त स्थानोंको 'पचनसंस्थान' कहते हैं ॥ २५ ॥

अन्नके चार प्रकार होते हैं— १ भक्ष्य याने चर्वणयोग्य २ पेय याने द्रव-
रूप पीनेके योग्य ३ चोष्य याने चूसनेके योग्य (अष्ठोद्वारा रसशोषणके योग्य)
और ४ लेह्य याने चाटनेके योग्य (सूक्ष्म पिष्टस्वरूप अन्न आर्द्र होता हुआ भी
पानयोग्य नहीं होता । उसको चाटना पडता है । बिना चबायेही मुखस्त्रावोंमें
मिश्र होकर वह पेटमें जाता है ।) इसी चतुर्विध अन्नके घन व द्रव-
प्रकारसे दो विभाग माने जा सकते हैं ॥ २६ ॥

घन अन्नको विरल याने पिष्टमय बनानेके लिये उसका चर्वण अवश्यक
होता है । किंतु पेय, चोष्य व लेह्य अन्नको चर्वणकी अवश्यकता नहीं रहती । २७ ॥

अब अन्नपचनक्रमका विस्तारसे वर्णन करते हैं । अन्नका स्पर्श होतेही

स्वाभावेन द्रवं नापेक्षते पेयादिकं त्रयम् ।

अवश्यमित्यादि । विरलत्वाय पिष्टत्वोत्पादनाय । घनस्य संघातरूपस्य ।
पर्वणमवश्यं न तत्पेयादिकं त्रयमपेक्षत इति (२७॥)

स्पर्शेनान्नस्य कुर्वन्ति वक्त्रगा वेदनावहाः ॥ २८ ॥

आकुंचनं प्रसरणं पेशीनां प्रतिबोधिताः ।

स्त्रावः संचालनात्पेशीस्त्रोतोभ्यः सम्प्रजायते ॥ २९ ॥

तस्मादन्नं द्रवीभूतं कण्ठेनाकृष्यते सुखम् ।

स्रोतोगतस्यास्य रसो रसनेनानुभूयते ॥ ३० ॥

स्त्रावोऽयं बोधकश्चेष्मा कथितो रसबोधनात् ।

विस्तारेणान्नपचनक्रमं विशदीकर्तुमुच्यते । स्पर्शेनेत्यादि । वक्त्रगा वेदनावहा
इति मुखावयवगताः संज्ञावाहिन्यः । पेशीनां रसनादिगतानाम् । स्त्रावः बोधकाख्यः श्लेष्मरू-
पोऽग्रे वक्ष्यमाणः । पेशीस्त्रोतोभ्यः रसनादिगतानां मांसपेशीनां स्रोतोमुखेभ्यः । तस्मात्
स्त्रावाद् द्रवीभूतं प्रक्लिन्नम् । कण्ठेनेति कण्ठगतेनान्नवहस्रोतोमार्गेण । सुखमाकृष्यते ।
स्रोतोगतस्येति प्रक्लेदनाद् रसनास्रोतःस्वमिप्रविष्टस्य । अस्य अन्नस्य । रसो मधुराम्लादिः ।
रसनेन रसनेन्द्रियेण अनुभूयते । अयं रसनादिगतस्रोतोनिर्गतः स्त्रावः । बोधकः इति बोध-
कसंज्ञयोपदिष्टः श्लेष्मा कथितः आख्यातः । रसबोधनात् हेतोः । (२८-३०॥)

मुखमेंकी संज्ञावाहिनियां जागृत होकर तत्रस्थ याने जिह्वा आदिके पेशीओंका
आकुंचन प्रसरण करने लगती हैं । इसप्रकार पेशीओंका संचालन होनेसे पेशीओंके
स्रोतसोंमेंसे स्त्राव होने लगता है । जिह्वा आदि मांस पेशीओंके स्रोतसोंके छिद्रों-
मेंसे जो यह स्त्राव पेशीसंचलनसे निकलता है उसीका नाम बोधक कफ है
जिसका वर्णन आगे किया गया है । यह स्त्राव अन्नमें मिलनेसे उसको किंचित्
द्रवरूप आता है जिसके कारण कण्ठगत अन्नवह स्रोतोमार्गमेंसे उनका विना आयास
आकर्षण हो सकता है । इसप्रकार मुखमेंही अन्नद्रवीकरणकी क्रिया प्रारंभ
होनेके कारण उसका सूक्ष्मभाग जिह्वाके सूक्ष्म स्रोतसोंमें प्रवेश कर सकता है ।
और इस तरह अन्नके मधुराम्लादि रसका रसनाको अनुभव होता है मुखमें
जिह्वादिके पेशीओंमेंसे जो यह स्त्राव निकलता है और जिसके कारण अन्नका
स्वाद-रस प्रतीत होता है उसीको शास्त्रज्ञोंने बोधक नामका कफ
माना है । २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

कण्ठके अंतवर्ती अन्नमार्गकी याने मांसपेशीनिर्मित अन्ननलिकाकी आकुंचन-

कण्ठस्थस्यान्नमार्गस्याकुंचनं च प्रसारणम् ॥ ३१ ॥

आर्द्रीकृतस्य वाऽर्द्रस्यान्नस्यार्कषणकारणम् ।

आकुंचनप्रसरणादास्त्रावो यश्च जायते ॥ ३२ ॥

स्निग्धः श्लेष्माभिधोऽन्नस्य सुखसंचारकारणम् ।

कण्ठस्थस्येति कण्ठस्यान्तर्वर्तिनः । अन्नमार्गस्य अन्नवहस्रोतसो मांसपेशीविनिर्मितनलिकाकारस्य । आर्द्रीकृतस्य बोधकश्लेष्मणा द्रवीकृतस्य । आर्द्रस्य वेति स्वभावत एव आर्द्रस्य । आकर्षणकारणं अन्तराकर्षणहेतुः । आकुंचनप्रसरणादिति अन्नमार्गस्य । आस्त्रावः द्रवपदार्थः । स्निग्धः स्निग्धगुणयुक्तः । श्लेष्माभिधः श्लेष्मसंज्ञः । तत एव च कण्ठः श्लेष्मस्थानत्वेनाख्यात इति । (३१-३२ ॥)

कण्ठेनामाशयगतं चान्नं प्रक्लिद्यते ततः ॥ ३३ ॥

श्लेष्मणा क्लेदकाख्येन द्रवरूपं प्रजायते ।

कण्ठेनेत्यादि । आमाशयगतमिति आमाशयप्राप्तम् । प्रक्लिद्यते द्रवीक्रियते । क्लेदकाख्येन क्लेदकसंज्ञयाऽख्यातेन । उक्तमष्टांगहृदये यथा—“ यस्त्वामाशयसंस्थितः । क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनादिति । द्रवरूपं भिन्नसंघातवान् द्रवावस्थम् । (३३ ॥)

कण्ठेनाकर्पितं भुक्तं प्रथमं यत्र तिष्ठति ॥ ३४ ॥

प्रसरणात्मक हलचल होनेसे जो स्निग्ध गुणका द्रव पदार्थ निकलता है, जिसके कारण अन्ननलिकामें चिकनाहट रहती है और स्निग्ध (चिकनी) अन्ननलिकामेंसे आर्द्रीकृत याने द्रवीकृत अथवा आर्द्र याने स्वभावतः द्रव अन्न आगे बिना आयास आकर्षित होता है; सारांश जिस स्निग्ध द्रवपदार्थके कारण अन्नका कंठनलिकामेंसे सुखसे संचार होता है उसीको श्लेष्मा कहते हैं और यही कारण है कि कंठको श्लेष्माका स्थान माना गया है । ३१ ॥ ३२ ॥

कंठसे आये हुये अन्नका आमाशयमें क्लेदन याने अधिक द्रवीकरण होता है । क्लेदक नामका कफ आमाशयमें अन्नको द्रवरूप बनाता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ क्लेदक कफ आमाशयमें रहता है । और अन्नसंघातका क्लेदन करनेके कारण उसको क्लेदक कफ कहते हैं ” ३३ ॥

आमाशय शब्दका उपयोग यहांपर किस अवयवके लिये किया है यहभी ध्यानमें रखना चाहिये । कंठमेंसे याने अन्ननलिकाद्वारा भुक्तान्न प्रथम जिस स्थानमें पहुंचकर ठहरता है और जो छोटी मोटी मांसपेशियोंसे बनता है उसको

निर्मितो मांसपेशीभिरामाशय इति स्मृतः ।

पचनस्थानस्यामाशयस्य स्वरूपदर्शनार्थमुच्यते । कंठेनेत्यादि । भुक्तमभ्यवहतम् । मांसपेशीभिः पृथुवहुलस्वरूपैर्मांससंघातैः । आमाशयः प्रथमः पेशीविनिर्मितो भुक्ताशय इति । यदुक्तं सुश्रुतसंहितायाम् । स चतुर्विधस्याहारस्याधारः । स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति । (३४॥)

पेशीसमाश्रितं द्रव्यं निःसृतं चलनात् वहिः ॥ ३५ ॥

स्रोतोभ्यश्चान्नसंघातक्लेदनं क्लेदकः कफः ।

क्लेदकारणस्य श्लेष्मणः स्वरूपमाह । पेशीसमाश्रितमिति आमाशयपेशीस्रोतोगतम् । निःसृतं प्रच्युतम् । क्लेदकः क्लेदकसंज्ञः कफः । (३५॥)

अन्नमामाशयगतं फेनिलं च द्रवीकृतम् ॥ ३६ ॥

जायते मधुरीभूतं षड्सत्त्वे भवत्यपि ।

कटुक्षाराद्यन्वितस्य संस्पर्शः क्षोभकारणम् । ३७ ॥

न स्यादित्येव मधुरीभावाभिप्राय इष्यते ।

अन्नमित्यादि आमाशयप्राप्तमन्नं फेनिलं द्रवीकृतम् । षड्सत्त्वे षड्सयुक्तत्वेऽपि मधुरीभूतं जायते । यथोक्तं चरकसंहितायाम्—अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्सस्य प्रपाक्तः । मधुरा-

आमाशय कहते हैं । भुक्तान्नका वही प्रथम आश्रयस्थान है । सुश्रुत संहितामें कहा है वह (आमाशय) चतुर्विध आहारका आधार है । वहाँके उदकगुणोंसे (स्त्रावोंके कारण) आहार प्रक्लिन्न याने विद्रावित होकर उसका संघातभिन्न होता है और सुखजर याने पचन योग्य बनता है ॥ ३४ ॥

आमाशयकी पेशीओंमेंका यह द्रव्य (स्त्राव) उन (पेशीओं) के संचालनसे पेशीगत स्रोतस्रोतोंसे बाहर विस्त्रावित होता हुआ अन्नसंघातका क्लेदन (द्रवीकरण) करता है । इसलिए उसको क्लेदक कफ कहते हैं ॥ ३५ ॥

आमाशयमें आनेपर अन्नका फेनिल याने फेंसयुक्त द्रव बनताही है । किन्तु वह षड्सयुक्त होनेपरभी मधुर बन जाता है । चरकसंहितामेंभी षड्सयुक्त भुक्तान्नका पाक होनेपर फेंसयुक्त व मधुर द्रवीभवन होना स्वीकार किया गया है । इस मधुरताका आमाशयमें इसलिए प्रयोजन होता है कि, अन्नमें मधुरके अतिरिक्त कटुक्षारादि अन्य रसभी रहते हैं । उनका स्पर्श आमाशयका क्षोभक होनेका संभव रहता है । इसप्रकार आमाशयका क्षोभ न हो इसलिए यहाँपर मधुरीभाव (माधुर्य)

घात् कफो भावात् केनभूत उदीर्यते ॥ इति । कथंभूतं माधुर्यमित्युच्यते । कटुक्षाराद्य-
न्वितस्येति मधुरेतरसान्वितस्य । क्षोभकारणम् कटुम्लत्वात् क्षोभहेतुः । मधुरीभावाभि-
प्रायः माधुर्याभिप्रायः । कटुम्ललेवणान्वितमप्यनमसुखस्पर्शनं भवेदेवं माधुर्योत्पादनं भवती-
त्यभिप्रायः । (३७ ॥)

विक्षेदनं च मधुरीकरणं भिन्नकर्मणी ॥ ३८ ॥

भिन्नं तत्कारणद्रव्यमवश्यमधिगम्यते ।

स्वत्यामाशयात् द्रव्यद्वयं चोभयकर्मकृत् ॥ ३९ ॥

द्रव्यं भिन्नगुणं स्थानादेकस्मादेव न स्रवेत् ।

भिन्नं द्रव्यं भिन्नभागात्स्रवतीत्यधिगम्यते ॥ ४० ॥

माधुर्योत्पादकद्रव्यस्याविभागेन संयुतः ।

विभागश्चान्नसंघातकृदकश्लेषमसंश्रयः ॥ ४१ ॥

आमाशयाभिधानेन ख्यात इत्यनुमीयते ।

आमाशयस्थेऽन्ने मधुरीभावोत्पादनं कथं संभवतीत्युच्यते । विक्षेदनं द्रवीकरणम् ।
मधुरीकरणं मधुरीभावोत्पादनम् भिन्नकर्मणीति भिन्नस्वरूपं कर्मद्वयम् । भिन्नं भिन्न-
स्वरूपम् । तत्कारणं कर्मद्वयस्य कारणम् । तेजोभूयिष्ठस्य विक्षेदकत्वात् पृथिव्यंबुगुणभूयिष्ठस्य च

की अवश्यकता रहती है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

आमाशयस्थ अन्नमें यह मधुरीभाव कैसा होता है इसका विवरण अब करते हैं ।
विक्षेदन याने द्रवीकरण ये और माधुर्योत्पादन दो भिन्न स्वरूपकी क्रियायें हैं । अर्थात्
उनका कारणद्रव्यभी भिन्नस्वरूपकाही होना चाहिये । कारण तेजकी अधिकतासे
विक्षेदन होता है तो पृथिवीजलकी अधिकतासे माधुर्योत्पादन होता है इसलिये
क्षेदन करनेवाले द्रव्यका गुण माधुर्यका उत्पादन करनेवाले द्रव्यके गुणसे भिन्न
होना अवश्यही है । इसप्रकार यह प्रकट है कि, इन दो क्रियाओंको करनेवाले
दो पृथक् द्रव्योंका स्राव आमाशयमें होता है । विक्षेदक व माधुर्योत्पादक द्रव्योंके
गुण भिन्न होनेके कारण यहभी स्पष्टही है कि उनका स्राव एकही स्थानमेंसे नहीं
हो सकेगा । अर्थात् अमाशकेही भिन्न २ भागोंमेंसे उनका स्राव होता होगा यह
ध्यानमें आ सकता है । अन्नसंघातका क्षेदन करनेवाला कफ जिसमें आश्रित रहता
उस आमाशयके एक भागसे वह भागभी संयुक्त रहता है कि जिसमेंसे
माधुर्योत्पादक द्रव्यका स्राव होता है ॥ अर्थात् मानना पड़ता है की आमाशयकेही

माधुर्योत्पादकत्वात् क्लेदनमाधुर्योत्पादनस्वरूपकर्मद्वयस्य कारणं भिन्नगुणं द्रव्यमवश्यमिति । भिन्नगुणत्वाच्च द्रव्यद्वयस्य स्थानादेकस्मात् सावोऽसंभाव्य इति भिन्नं द्रव्यं भिन्नभागात् आमाशयस्य भागद्वयात् स्रवतीत्यधिगम्यते । ततश्चमाधुर्योत्पादकद्रव्यस्राविभागेन संयुतः क्लेदकस्त्वस्राविविभाग आमाशयाऽख्ययाऽख्यातः । आमाशयसंज्ञया ख्यातस्यावयवस्य भागद्वयान्यां क्लेदनमाधुर्योत्पादनकरं द्रव्यद्वयं प्रस्रवतीत्यनुमीयत इत्यभिप्रायः (३८-४१ ॥)

अधो याति द्रवीभूतं भुक्तमामाशयात् क्रमात् ॥ ४२ ॥

पित्तं च च्यवमानेऽस्मिन् मिश्रीभवति याकृतम् ।

लघ्वेत्रे प्राप्तमन्नं तु पच्यमानाशयाभिधे ॥ ४३ ॥

पित्तेन खिद्यते पेशीस्रोतःप्रविश्रुतेन च ।

सम्यक् प्रस्वेदितं चान्नं ग्रहण्यां प्रविभज्यते ॥ ४४ ॥

पाचकाख्येन पित्तेन सारःकिट्टमिति द्विधा ।

संस्वेदनार्थं पित्तस्य द्रवस्य स्राव इष्यते ॥ ४५ ॥

तेजोरूपेण संस्विन्नेऽद्रवेण रसशोषणम् ।

पंचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् ॥ ४६ ॥

त्यक्तद्रवत्वं ग्रहणीसंश्रितं पित्तमीरितम् ।

दो पृथक् विभागोंमेंसे क्लेदकद्रव्य और माधुर्योत्पादक द्रव्य प्रस्रुत होता है । इसका यही अर्थ है कि जिस अवयवविभागमेंसे क्लेदक द्रव्य प्रस्रुत होता है उसको तो आमाशय मानतेही हैं किंतु जिसमेंसे माधुर्योत्पादक द्रव्य प्रस्रुत होकर अन्नमें संमिश्र हो जाता है उसकोभी आमाशयसंबद्ध अवयव मानना चाहिये । ३८-४१ ॥

आमाशयमें अन्नका क्लेदन होनेके बाद पित्तद्वारा उसकी पचनक्रिया किस-प्रकार होती है इसका अब वर्णन करते हैं । भुक्तानका चर्वणक्रियाद्वारा तथा बोधक व क्लेदक कफद्वारा मुखमें तथा आमाशयमें क्लेदन याने द्रवीकरण होनेके बाद उसके जितने २ अंशका क्लेदन होता है उतना २ अंश आमाशयमेंसे नीचे पच्यमानाशयमें याने क्षुद्रांत्रमें जाया करता है और उसमें यकृतमेंका पित्त आकर मिश्रित हुआ करता है । यकृतमेंके जिस रंजक पित्तका पीछे वर्णन किया गया है उससे यह पित्त भिन्न है । यह पचनोपयोगी द्रव पदार्थ है । इसका आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें पृथक् निर्देश नहीं किया गया है । किंतु वह प्रत्यक्ष होनेके कारण ग्रहण करना चाहिये । ४२ ॥

आमाशये क्लेदनानन्तरमन्नपचनं पित्तेन यथा विधीयत इत्याह । **अथ इति** आमाशय-
स्याधोभागस्थिते पच्यमानाशये । **क्रमात्** न युगपदिति । यावानंश आहारस्य प्रक्षिप्तो भवेत्
तावानेवाधो याति । **च्यवमान** इति अधः प्रवर्तमाने । **याकृतं** यकृतोद्भवम् । आहारपचनोपयु-
क्तमिदं पित्तं रजकपित्ताद्विन्नमिति । न चास्यायुर्वेदतंत्रेषु पार्थक्येनोद्धेखोऽपि प्रत्यक्षप्रत्यय इति ।
लघ्वंत्रे क्षुद्रांत्रे पच्यमानाशयाख्ये । **पित्तनेति** क्षुद्रांत्रगेन द्रवरूपेण **पेशीस्रोतःप्रविस्तृतेन**
अंत्रपेशीस्रोतोमुखेभ्य आकुंचनप्रसरणाभ्यां प्रसृतेन । **प्रस्वेदितमित्यभितप्तम्** । **ग्रहण्यां**
क्षुद्रांत्रस्याधःप्रदेशे ग्रहणीसंज्ञे । **पाचकाख्येन** पाचकसंज्ञयोपदिष्टेनाद्रवरूपेण । **सारो** रसरूपः ।
किट्टं मलाख्यम् । **स्वेदनार्थं** तापनार्थमिति । **द्रवस्य** पित्तस्य स्राव इत्यते । द्रवरूपेण पित्तेना-
नुमिश्रं स्विद्यत इति । **तेजोरूपेणेति** उष्मरूपेण । **अद्रवेण** त्यक्तद्रवत्वेन । **रसशोषणम्**
सारार्कर्षणम् । ततश्च पंचभूतात्मकत्वेऽपि सर्वेषां सृष्टवस्तूनां पंचभूतात्मकत्वात् । **तैजसगुणो-**
दयादिति तैजसगुणप्रकर्षात् । त्यक्तद्रवत्वं ग्रहणीसंश्रितं पित्तमीरितमाख्यातं पूर्वैरायुर्वेदायैरिति-
शेषः । (४३+४६॥)

सारस्वरूपोऽन्नरसः स्रोतोभिरुपशोषितः ॥ ४७ ॥

यकृद्याति सिरानीतः शरीरस्योपवृंहणः ।

किट्टं च द्विविधं मूत्रं वस्तौ संचयीते द्रवम् ॥ ४८ ॥

मलाशयाख्ये स्थूलांत्रे घनं संचयीते शकृत ।

द्रवीभूत अन्न पच्यमानाशय नामके लघ्वंत्रमें आनेके बाद वहांके पेशी-
ओंके आकुंचनप्रसरणसे उनके स्रोतोंमुखोंसे प्रविस्तृत पित्तसे अन्नका स्वेदन होता
है । स्वेदनक्रिया पर्याप्त हो जानेके बाद उसका ग्रहणमें प्रवेश होता है जहांपर
पाचकपित्तद्वारा उसमेंका सार याने शरीरपोषक रसभाग व त्याज्य मलभाग पृथक्
किये जाते हैं । अन्नसंस्वेदनके लिये द्रवरूप पित्तकी अवश्यकता होती है और वह
लघ्वंत्रगत पेशीस्रोतसोंमेंसे झरता है । किन्तु रसशोषण याने सारभागके आकर्षणके
लिए द्रवरहित केवल ऊष्मास्वरूप पित्तकी अवश्यकता होती है । ग्रहणीस्थित यह
पाचकपित्तभी यद्यपि पंचभूतात्मक है, उसमें तैजसगुणका उत्कर्ष रहनेके कारण
वह द्रवरहित केवल ऊष्मास्वरूप रहता है ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

ग्रहणीमें जिसका पृथक्करण होता है—जो शरीरधातुओंका पोषक व स्थिर-
रूपका होता है वह सारस्वरूप अन्नरस अंत्रपेशीगत स्रोतसोंद्वारा शोषित होकर
रसवाहिनीसिराओंद्वारा यकृतमें जाता है । सुश्रुतसंहितामें कहा है “ वे (रसवा-
हिनी सिराएँ) पित्ताशयमेंसे अन्नपानरसका—जिसका उष्णतासे पचन हो चुका

ऊर्ध्वमाकृष्यते पक्वाशयस्याकुंचनान्मलः ॥ ४९ ॥

उत्सृज्यते च तस्यैवाधोभागस्य प्रसारणात् ।

अपानाख्येन मरुता पेशीस्रोतःस्थितेन च ॥ ५० ॥

मूत्रोत्सर्गकरो वायुर्बस्तिपेशीसमाश्रितः ।

सारस्वरूप इति शरीरधातूनामुपवृंहणकरोऽन्नस्य स्थिरौऽशः स्रोतोभिः अन्न-
पेशीगतैः । उपशोषित आकर्षितः । सिराभिरिति अत्राद्रुपगताभी रसबाहिर्नाभिः । यथोक्तं
सुश्रुतसंहितायाम् । “ तास्तु पित्ताशयमभिप्रपन्नास्तत्रस्थमेवाक्षपानरसं विपक्वमौष्ण्यात् विवेचय-
न्त्योऽभिवहंत्यः शरीरं तर्पयन्ति । किद्वं द्विविधम् । तत्र मूत्रं वस्तौ मूत्राशये संचयीते । स्थूलांत्रे
शकृत्संचयीत इति । सुश्रुतोक्तं यथा-अधोगमास्तु मूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति । चरक-
संहितायां च-मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वंक्षणौ च । पुरीषवहनां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदं
च । इति । ऊर्ध्वमिति पक्वाशयस्योपरिविभागे । आकुंचनात् पक्वाशयस्य पेशीनाम् ।
उत्सृज्यते शरीरात् बहिः क्षिप्यते । अधोभागस्येति स्थूलांत्राधोभागस्य । प्रसारणात्
विकासात् । अपानाख्येनेति अपानसंज्ञयाऽख्यतेनोदरस्याधोभागस्थितेन । पेशीस्रोतः-
स्थितेनेति पक्वाशयपेशीनां स्रोतःसंस्थितेन । मूत्रोत्सर्गकरो वायुरिति । बस्तिगत-
मूत्रोत्सर्जनकरः । बस्तिपेशीसमाश्रितः मूत्राशयपेशीनां स्रोतोगतः । मूत्रोत्सर्जनकर्मण्यपि

है-अभिवहन करती हैं । ” इसप्रकार अन्नमेंके रसभागका एक ओर शोषण होता
है तो दूसरी ओर उसके किद्वभागकी भी व्यवस्था होती रहती है । किद्वका द्रव-
भाग जो मूत्र उसका बस्तिमें याने मूत्राशयमें संचय होता है और धनभाग
पुरीष (शकृत्) उसका स्थूलांत्रमें-जिसको मलाशयभी करते हैं-संचय होता
है । सुश्रुतने कहा है “ अधोगामिनियां (सिरायें) मूत्र, पुरीष, शुक्र, आर्तव
आदिका नीचे वहन करती हैं । ” चरकने कहा है “ मूत्रवह स्रोतसोंका मूल
बस्ति व दो वृक्क याने मूत्रपिंड हैं । पुरीषवह स्रोतसोंका मूल पक्वाशय (स्थूलांत्र)
व स्थूल गुद है । ” पक्वाशय याने मलाशयके पेशीओंके आकुंचनक्रियाद्वारा यह
घनमल प्रथम पक्वाशयमें ऊपर खींचा जाता है और उसीके अधोभागके प्रसारणसे
वह शरीरके बाहर फेंका जाता है । मलका यह उत्सर्जनकार्य पक्वाशयके पेशीओंके
स्रोतसोंमें स्थित अपान नामके वायुद्वारा होता है । और मूत्रोत्सर्जनका कार्य
बस्तिपेशीओंके स्रोतसोंमें समाश्रित वायु करता है । पक्वाशय और मूत्राशय
(बस्ति) के पेशीस्रोतसोंमें आश्रित वायु एक अपान नामकाही है । किंतु भिन्न

वायोरोपानाख्यस्य सहाय्यं भवति अपि तु वंस्तिपेशीस्रोतोगतं वायुना मूत्राशयान्मूत्रमुत्सृज्यते विशेषेणेति । (४८-५० ॥)

अंतःपक्वाशये वायुर्यश्चान्नमलसम्भवः ॥ ५१ ॥

मलस्वरूप एवस्यादन्यः पेशीसमाश्रितः ।

समीरणः कर्मकरः पक्वाशयसमीरणः ॥ ५२ ॥

वायुरुत्सर्जनार्हः स्यान्मलरूपो यथा मलः ।

पक्वाशयान्तःसंचितस्य वायोर्मलरूपत्वदर्शनार्थमुच्यते । अंतरिति अन्तर्भागे पक्वाशय-
नलिकायामिति । अन्नमलसम्भवः आहारस्थितानां वायवीयांशानां मलस्वरूपादुत्पन्नः । चरक
संहितायामुक्तं यथा-किट्टात्स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः । इत्यादि । मलस्वरूप एव । अन्य
इति मलस्वरूपादन्यः । पेशीसमाश्रितः पक्वाशयपेशीस्रोतःसमाश्रितः । समीरणो वायुः ।
कर्मकरः मलसंग्रहोत्सर्जनकर्मकरः । पक्वाशयसमीरणः पक्वाशयस्य प्रेरकः । उत्सर्ज-
नार्हश्च मलरूपो वायुर्मलवत् पुरीषवदिति । (५१-५२ ॥)

एवं विपक्वादाहारात् यः सारः संप्रजायते ॥ ५३ ॥

धातवस्तेन पुष्यन्ते रसाख्येन रसादयः ।

आहारे सर्वधातूनां पोषकद्रव्यसंग्रहः ॥ ५४ ॥

स्थानके संश्रयसे वह भिन्न कार्य करता है । ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

पक्वाशयके अंतर्भागमें जो अन्नमलसे समुद्भूत वायु संचित होता है वह मलस्वरूप रहता है । आहारमें जो वायवीय अंश रहते हैं उनके मल-
स्वरूपमेंसे इस मलस्वरूप वायुकी उत्पत्ति होती है और घनद्रव मलोंके समान यह वायुस्वरूप मलभी उत्सर्जन करने योग्य होता है । उससे कर्मकारी अपान वायु भिन्न होता है । वह पक्वाशयके पेशीस्रोतोंमें रहकर मलोत्सर्जनकी क्रियाको करता है । ५१ ॥ ५२ ॥

इस प्रकार उक्त रीतिसे क्षुद्रांत्र, ग्रहणी व यकृतमें विपाचित आहारमेंसे जो रस नामका सार उत्पन्न होता है उससे रसरक्तादि सातों धातुओंका पोषण होता है । आहारमें रसादिशुक्रांत सभी धातुओंके पोषक द्रव्योंका संग्रह रहता है । कारण शरीरधातुओंके समान आहारभी पांचभौतिक होता है । आहारके द्रवरूप सार भागको आहाररस कहते हैं । ५३ ॥ ५४ ॥

यद्यपि शरीरके अवयवों याने हृदय-कुण्डलादि अंगोपांग, रसरक्तादि

द्रव्यरूपश्चास्य सार आहाररस उच्यते ।

एवमुक्तप्रकारेण । विषकवादाहारात् परिपाकं गतादन्नात् । सारः सम्प्रजायते । तेन रसाख्येन रसाभिधानेन रसादयो धातवः पुण्यन्ते । यत आहारे सर्वधातूनां रसादि-
शकान्तानाम् । पोषकद्रव्यसंग्रहो वर्तते । पांचभौतिकत्वात् शरीरधातूनां तथा आहार्यद्रव्याणामिति ।
अस्येत्याहारस्य । सारः सारभागः आहाररस इत्युच्यते । (५३॥-५४॥)

शरीरावयवाः सर्वे धातवश्च मला अपि ॥ ५५ ॥

अपि भिन्नस्वरूपास्ते पंचभूतांशसम्भवाः ।

विविधं द्रव्यमाहार्यं पंचभूतांशसम्भवम् ॥ ५६ ॥

शरीरधातूनामाहार्यद्रव्याणां च सामान्यं दर्शयितुमुच्यते । शरीरावयवाः अंगो-
पांगानि हृदयमाशयादीनि । धातवो रसादयः । मलाः पुरीषादयः । भिन्नस्वरूपाः पर-
स्परं विसदृशा अपि । पंचभूतांशसम्भवाः पंचभूतविकारोत्पन्नाः । शरीरेष्ववयवेषु धातुमलेषु
च नानाविधत्वेऽपि सर्वेषां पंचभूतात्मकत्वं सामान्यमिति भावः । शरीरवत् विविधं नानाविधस्वरू-
पम् । घनं द्रवं स्थूलं मधुरादिरसविशेषैरेन्वितं प्राण्यंगफलमूलधान्यादिस्वरूपम् । आहार्यं आहारत्वे-
नोपयोज्यम् । पंचभूतांशसंभवमिति पंचभूतोत्पन्नम् । यदाह सुश्रुतः पृथिव्यपूतेजोवाऽवाकाशानां
समुदायात् द्रव्याभिनिवृत्तिः । सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नर्थे । इति च चरकः (५५-५६)

धातुओं और पुरीषादि मलोंके स्वरूप भिन्न होते हैं उन सबकी उत्पत्ति पंच-
भूतांशोंके विकारसेही होती है । अर्थात् उनमें नानाविधत्व रहता हुआभी पंच-
भूतात्मकत्वका सामान्यत्वभी रहता है । शरीरके इन पदार्थोंके समानही
पंचभूतात्मक होते हैं आहार्य द्रव्यभी । जो नानाविधरूपके याने घन, द्रव, स्थूल
रूपके मधुरादि षड्सौंसे युक्त कुछ प्राणिज कुछ वनस्पतीके धान्य फल मूल-
रूपके होते हैं । सुश्रुतने कहा है “ पृथिवी, अप्, तेज, वायु व आकाशके
समुदायसे द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है । ” “ इस अर्थसे सभी द्रव्य पांचभौतिक
होते हैं ” ऐसा चरकनेभी कहा है । ५५ ॥ ५६ ॥

पांचभौतिक शरीरमें आकाश अवकाशरूप है याने शरीरमें परमाणुवर्जित
सुषिर (सच्छिद्र) प्रदेश है उसीको आकाश मानना चाहिये । सुश्रुतसंहितामें
कहा है “ शब्द शब्देन्द्रिय, सब छिद्रसमूह और विविक्तता आकाशीय हैं ” चरकने
भी कहा है “ शब्द, कान, लघुता, सूक्ष्मता, और विवेक आकाशात्मक हैं । ”
परमाणु पार्थिव, आप्य आग्नेय व वायव्य इसप्रकार चतुर्विध होते हैं । उन २

नभोऽवकाशरूपं स्यात् शरीरे पांचभौतिके ॥

भौमाप्याग्नेयवायव्याश्चतुर्धा परमाणवः ॥ ५७ ॥

अन्नैस्तद्गुणभूयिष्ठैर्विवर्धन्ते चतुर्विधैः ।

नभ इत्यादि । पांचभौतिके शरीरे नभ आकाशः । अवकाशस्वरूपं परमाणुविवर्जितसुषिरप्रदेशरूपम् । सुश्रुतसंहितायामुक्तं यथा—आंतरिक्षास्तु शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च आकाशात्मकम् । शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च इति च चरकसंहितायाम् । भौमादयश्चान्ये परमाणवश्चतुर्धा चतुर्विधाः । तद्गुणभूयिष्ठैः पृथिव्यादिगुणभूयिष्ठैरन्नैर्विवर्धन्ते । वृद्धिः समानैः सर्वेषामिति समानाभिवर्धनात् । (५७)

मांसास्थि भौमं शारीरं द्रव्यमाप्यं रसादिकम् ॥ ५८ ॥

पार्थिवान्पांशभूयिष्ठेनाहारेण विवर्धते ।

कटुवम्लरसभूयिष्ठमन्नमुष्णं विवर्धनम् ॥ ५९ ॥

तैजसानां तथा तेजस्तजोराशिसमुद्भवम् ।

रूक्षं तिक्ततरसं वायोरन्नं भवति वर्धनम् ॥ ६० ॥

वायुर्वायोः श्वासगतः श्रेष्ठं चान्यद्विवर्धनम् ।

पार्थिवादिभिर्द्रव्यैः शरीरगतानां द्रव्यविशेषाणामभिवर्धनं दर्शयितुमाह । मांसास्थि

भूतोंके याने पार्थिवादिके गुणोंका अधिक्य अन्नमें होनेसे (शारीर) परमाणुओंकी वृद्धि होती है । ५७ ॥

शारीर द्रव्योंमेंसे घनरूप मांस व अस्थि पार्थिव हैं व रसादि आप्य हैं । और इनकी पृथिवीजलगुणभूयिष्ठ आहारसे वृद्धि होती है । कटु व अम्ल रस-भूयिष्ठ अन्न उष्ण (वीर्य) रहता है जैसे पीपली, काली मिर्ची, सुंठ आदि द्रव्य कटुरसभूयिष्ठ है तथा चींच, आमला आदि द्रव्य अम्लरसभूयिष्ठ है । इन उष्णवीर्य द्रव्योंसे शरीरके रक्तादि तैजस पदार्थोंकी वृद्धि होती है । तथा शारीरिक तैजस द्रव्योंका अभिवर्धक सूर्य प्रकाशभी है । रूक्ष व तिक्ततरसका अन्न वायुकी वृद्धि करता है । तथा श्वसनकर्मद्वारा आकृष्ट बाह्य वायुसेभी शरीरगत वायुकी वृद्धि होती है । अन्नगत वायुकी अपेक्षा शरीरके वायवीय अंशोंकी वृद्धि करनेमें यह श्वसनाकृष्ट वायुही श्रेष्ठ है । कारण वह अधिक शुद्ध होता है । ५८ ॥

५९ ॥ ६० ॥

शारीर धातुओंकी वृद्धिके लिये तेज व वायुसे विवर्जित कितनाभी

इति मांसमस्थि चेति समाहारादेकवचनम् । घनरूपं मांसमस्थि चेति धातुद्वयं भौमं पार्थिवम् । रसादिकं द्रवरूपम् । आप्यमिलवृणभूयिष्ठम् । पार्थिवाप्यांशभूयिष्ठेनेति पार्थिवांशभूयिष्ठेन पार्थिवं तथा आप्यांशभूयिष्ठेनाप्यमिति । आहारेण अग्नेन । विवर्धते । कद्वम्लरसभूयिष्ठमिति कणामरिचनागरादिकं कटुरसभूयिष्ठमम्लीकामलकादिकं चाम्लरसभूयिष्ठम् । उष्णं उष्णवीर्यं चान्नम् । तैजसानां रक्तादीनां पित्ताश्रयाणां शरीरद्रव्याणाम् । अभिवर्धनम् । तथा तेजोराशिसमुद्भवं उष्णांशुजनितम् । तेजश्च तैजसानामभिवर्धनमिति । रूक्षं रूक्षगुणयुक्तम् । तिक्तरसमन्नं वायोर्वर्धनम् । तथा वायुः बाह्यो वातः । श्वासगतः श्वसनकर्मणाऽकृष्टः । वायोः शरीरगतस्य श्रेष्ठं विवर्धनम् । आहार्यद्रव्यगतात् श्वासाकृष्टो वायुर्विशुद्ध इति । (५८॥-६०॥)

पर्याप्तैरप्यन्नपानैस्तेजोवायुविवर्जितैः ॥ ६१ ॥

न ना जीवत्यतस्तेजो वायुर्जीवनसाधनम् ।

शरीरवृद्धिकरेष्वहार्यद्रव्येष्वपि तेजसो वायोश्च जीवनसाधकत्वं दर्शयितुमुच्यते । पर्याप्तैरिति धातुवर्धनार्थमुचितप्रमाणैः । अन्नपानैः आहार्यद्रव्यैः । तेजोवायुविवर्जितैः तेजसा प्रकाशेन वायुना च रहितैः । ना नरः । न जीवति । अतः हेतोरेतस्मात् । तेजो वायुश्च जीवनसाधनमिति । तेजोवायुरहितं जीवनमशक्यमिति भावः । (६१ ॥)

द्रव्यं स्थूलं द्रवं स्थूलैर्द्रवैरन्नैर्विवर्धते ॥ ६२ ॥

अन्नपान किया तोभी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता । इसलिये मानना पडता है कि तेज व वायु जीवनसाधक है । उनके बिना जीवन अशक्य हो जाता है । ६१ ॥

शरीरका मांस व अस्थिरूप स्थूलद्रव्य घन अन्नसे-रोटी, मांस, भात-ओदन आदिसे वृद्धिगत होता है तो रसादि द्रव धातु दूध, फलोंका रस आदि द्रव द्रव्योंसे वर्धित होते हैं । तेज व वायुरूप (शरीरका) सूक्ष्म द्रव्य सूर्यप्रकाश तथा बाह्य श्वासाकृष्ट वायुद्वारा वृद्धिगत होता है । ६२ ॥

पांच भूतोंमें पृथिवी स्थूल है और द्रव्योंकी अधिष्ठानरूपिणी है । शरीरके अवयव-अंगोपांग भी स्थूल हैं और वे पार्थिवांशोंकेही आधिक्यसे उत्पन्न होते हैं । इसलिये विशेषतः पार्थिवांशोंका आधिक्य जिसमें है ऐसे अन्नसेही उनकी वृद्धि होती है । ३३ ॥ ६४ ॥

आहारपचनक्रियाका निरूपण करनेके बाद श्वसनकर्मका विवरण करते हैं । कर्मवत्त्व याने क्रियारूपमें अवस्थितिही शरीरका जीवन है । शरीरा-

सूक्ष्मं तेजोवायुरूपं तेजसा वायुना तथा ।

द्रव्यं स्थूलं द्रवमिति शरीरं द्रव्यं स्थूलं घनं मांसास्थिरूपं द्रवं च रसादिरूपम् । स्थूलैरिति घनैर्मांसास्पौदनादिभिः । द्रवैः पानीयदुग्धफलरसादिभिः । विवर्धते । तेजोवायुरूपं सूक्ष्मं च तेजसा उष्णांशुप्रकाशरूपेण । वायुना वाद्येन नासाकृष्टेन विवर्धत इति । शरीरगत-स्रोमणो वायोश्चाभिवर्धकं तेजो वायुरिति । (६२ ॥)

भूतानां पृथिवी स्थूला द्रव्याधिष्ठानरूपिणी ॥ ६३ ॥

स्थूलाः शरीरावयवाः पार्थिवांशसमुद्भवाः ।

पार्थिवान्नैर्विशेषण स्यात्तेषामभिवर्धनम् ॥ ६४ ॥

भूतानामिति पृथिव्यपूतेजोवाय्वाकाशानाम् । पृथिवी स्थूला । स्थूलाः आकृत्वस्थानत्वात् दृश्यरूपाः । शरीरावयवाः अंगोपांगानि । पार्थिवांशसमुद्भवाः पार्थिवांशविक्रयादुत्पन्नाः । ततस्तेषां विशेषण पार्थिवान्नैः पृथिव्यंशविक्रैर्नैः अभिवर्धनं स्यात् । (६३ ॥-६४ ॥)

कर्मवत्त्वं शरीरस्य जीवनं परिकथ्यते ।

शरीरावयवानां च यत्कर्म चलनात्मकम् ॥ ६५ ॥

करोति सर्वं तद्वायुः पार्थिवाणुसमाश्रितः ।

षयवोंका जितना चलनात्मक कर्म है वह सब पार्थिवाणुसमाश्रित वायुही करता है । याने पार्थिवाणुओंकाही संचालन होनेके कारण वायुको पार्थिवाणु-समाश्रित बतलाया गया है । चरक संहितामें कहा है “ परमाणुभेदसे शरीरके अवयव अगणित होते हैं । उन परमाणुओंके संयोग व विभागका कारण है कर्मस्वभावी वायु । ६५ ॥

शरीरावयवोंका पोषक अन्न विविध प्रकारका है । किंतु शरीरांतर्गत वायुका आहार अन्नसे समाकृष्ट वायुभी एक है । ६६ ॥

अन्न किसको कहते हैं यह अब बतलाते हैं । निर्मल बाह्य वायुका नासिका मार्गसे शरीरके अंदर फुफ्फुसोंमें जाना और शरीरमें संचार करनेसे मल्लिनी-भूत वायुका नासामार्गसेही शरीरके बाहर निकल जाना—इस वायुके यातायात याने आगमन निर्गमनको अन्न संज्ञा है । ६७ ॥ ६८ ॥

इस अन्न कर्मके साधक अवयवोंको आससंस्थान कहते हैं । नासिकाके दो पुट याने विवर, कंठगता आसवाहिनी नलिका और वक्षस्पलके दहिने और

आहारपचननिरूपणानन्तरं श्वसनं विवृणोति । कर्मवत्त्वमिति क्रियारूपेणावस्थितत्वं । जीवनम् । शरीरावयवानां स्थूलसूक्ष्मरूपाणाम् । चलनात्मकं कर्म वायुः पार्थिवाणुसमाश्रितः पार्थिवाणूनामेव चालनत्वात्तदाश्रित इति । यथोक्तं चरकसंहितायाम् । शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्ति । तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मत्वमावश्च । (६५ ॥)

अन्नं शरीरावयवपोषकं विविधं यथा ॥ ६६ ॥

वायोराहार एव स्याद्वायुः श्वासादृतस्तथा ।

शरीरावयवानां पोषकं यथाऽन्नं विविधं तथा वायोः शरीरान्तर्गतस्य श्वासादृतो वायु राहार इति ॥ ६६ ॥

वायोरच्छस्य बाह्यस्य नासयाऽन्तःप्रवेशनम् ॥ ६७ ॥

उत्सर्जनं दूषितस्य शरीरान्तर्गतस्य च ।

यातायातमिदं वायोः श्वसनं परिकीर्त्यते ॥ ६८ ॥

किं नामाश्वसनमिति अच्छस्य निर्मलस्य । नासया नासिकाद्वारेण । अन्तः प्रवेशनम् फुफ्फुसान्तर्गमनम् । उत्सर्जनम् नासयैव बहिर्निष्क्रामणम् । दूषितस्य शरीर संचारान्मालिनभूतस्य । वायोः यातायातम् निर्गमागमनम् । श्वसनं श्वसनसंज्ञं कर्म । परिकीर्त्यते निगद्यते ॥ ६७-६८ ॥

वाये दोनो बाजूमें विभाजित फुफ्फुसपिंड इन तीन अवयवोंका आससंस्थानमें समावेश होता है । ६९ ॥

नासिका, आसमार्ग और फुफ्फुसोंका जो निरंतर आकुंचनप्रसरण होता है उसीके कारण श्वसन कर्मका संपादन होता है । ७० ॥

दोनो फुफ्फुसोंकी बनावट पेशीनिर्मित होती है । और उनका अंतर्भाग सुषिर याने सछिद्र होता है । आसमार्गसे बाहरसे आकृष्ट वायु फुफ्फुसोंमें संचित होता है । और दूषित याने मलिन वायु फुफ्फुसोंके आकुंचनसे बाहर फेंका जाता है । ७१ ॥ ७२ ॥

फुफ्फुसोंका स्वरूपभी श्वसनकर्मके अनुकूलही रहता है । जलबिंदुमें वायुके भरनेसे जैसा बुद्बुद् याने बुडबुडा बनता है उसके समान आकारके कोषोंसे याने पतली त्वचाकी थैलियोंसे फुफ्फुस पिंडोंकी पेशियां फैली हुई रहती हैं । इनके कोषोंमें स्वाभाविकतःही वायु भरा हुआ रहता है । और वे (फुफ्फुसोंकी पेशियां) आकुंचन प्रसरणकी योग्यता रखती हैं । अर्थात् पेशियोंके स्रोतसोंमें प्रपूरित वायुके

तत्साधकाश्चावयवाः श्वाससंस्थानसंज्ञकाः ।

नासापुटं श्वासवहं स्रोतः कंठगतं तथा ॥ ६९ ॥

द्विभागः फुफ्फुसश्चैवं श्वाससंस्थानमीरितम् ।

श्वसनकर्मसाधनान्यंगान्याह । तत्साधका इति श्वसनकर्मसाधकाः । अवयवाः अंगानि । श्वाससंस्थानसंज्ञकाः अवयवाश्चैते श्वाससंस्थानं नाम । नासापुटमिति नासिकाविवरद्वयम् । श्वासवहं स्रोतः कंठगतम् । कण्ठस्थिता श्वासवायुवाहिनी नलिका पेशी-
विनिर्मिता इति । द्विभागः फुफ्फुस इति वक्षसि वामदाक्षिणपार्श्वयोरवस्थितौ फुफ्फुस-
पिण्डौ । एवमेतेऽवयवास्तयः श्वाससंस्थानमीरितमाख्यातम् (६९ ॥)

नासायाः श्वासमार्गस्याकुंचनं च प्रसारणम् ॥ ७० ॥

फुफ्फुसस्याप्यविरतं तच्च श्वसनकर्मकृत् ।

श्वसनार्थं कर्म कथं संपद्यत इत्याह । नासायाः श्वासमार्गस्य फुफ्फुसस्यापि च
अविरतं आकुंचनप्रसरणम् श्वसनकर्मकृत् । एतेषामवयवानामविरतात् आकुंचनप्रसरणात् श्वसनं
कर्म सम्पद्यत इति (७० ॥)

पेशीविविर्मिते चान्तःसुषिरे फुफ्फुसद्वये ॥ ७१ ॥

वायुःसंचयीते श्वासमार्गेणान्तःसमाहृतः ।

कारणही उनका आकुंचन प्रसरण निरंतर होता है । ७३ ॥

नासा श्वासमार्ग और फुफ्फुसपिण्ड इन सबके आकुंचन प्रसरणसे श्वसनकर्म होता है । और आकुंचन प्रसरणका कारण होता है वायु । इसलिये यही कहना पड़ता है कि, वायुही सब श्वसनकर्मका कर्ता है । ७४ ॥

नासामार्गसे आकृष्ट वायु वातवाहिनीओं तथा रसवाहिनीओंद्वारा सब शरीरमें फैलता है । फुफ्फुसोंमें रुधिरमें संमिश्र होकर वायु हृदयमें आता है और तत्रस्थ रसके साथ रसवाहिनीओंद्वारा शरीरमें फैलता है और शरीरके समस्त अवयवोंमें संस्थित भिन्न-भिन्न नामके व्यानसमान आदि वायुओंका पोषण करता है । फुफ्फुसांतर्गत वायुका नाम उदान वायु है । कारण कहाही है कि “ नासा गल व नाभितक वह संचार करता है । ” उसका उर्जाकरत्व यह भी एक कर्म बतलाया है और वह सर्वदेहगत है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ वह वाक्-प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्ण व स्मृति यह सब कर्म करता है । ” इसपरसे इस याने उदान वायुकाभी सर्व शरीरमें संचार प्रतिबोधित होता है । ७५ ॥

उत्सृज्यते दूषितश्च फुफ्फुसाकुंचनाद्वहिः ॥ ७२ ॥

पेशीविनिर्मित इति विशिष्टाकृतिभिर्भाससंघातैर्विरचिते । अन्तःसुषिरे
सुषिरान्तर्भागे । फुफ्फुसद्वये फुफ्फुसपिण्डद्वये । श्वासमार्गेण श्वासवहस्रोतसा । अन्तः
समाहृतः अन्तराकृष्टः । वायुः सञ्चीयतेऽवस्थानं करोति । सत्सृज्यते वहिःक्षिप्यते ।
दूषितः मलिनः । फुफ्फुसाकुंचनान् फुफ्फुससंकोचान् । (७१+७२)

बुद्बुदाकृतिभिः कोषैर्वायुनाऽन्तः प्रपूरितैः ।

समन्ततः प्रविचिताः पेश्यः फुफ्फुसपिण्डयोः ॥ ७३ ॥

आकुंचनप्रसरणक्षमाश्चापि ततोऽनिशम् ।

श्वसनकर्मानुकूलं फुफ्फुसस्वरूपं दर्शयन्नाह । बुद्बुदाकृतिभिरिति-वायुनाऽन्तः पूरितो
जलविन्दुर्वुद्बुद इत्युच्यते । तत्समानाकारैः । कोषैः तन्तुत्वग्निर्मितैः । वायुना स्वभावावस्थितेन ।
अन्तःप्रपूरितैः वातपूर्णैरिति । समन्ततः सर्वतः । प्रविचिताः वितताः । पेश्यः
फुफ्फुसपिण्डयोरिति । ततश्चानिशमाकुंचनप्रसरणक्षमा भवन्ति । पेश्यन्तःपूरितेन वायुना
फुफ्फुसपेशीनामाकुंचनप्रसरणमविरतं जायत इति । (७३ ॥)

आकुंचनं प्रसरणं सर्वं श्वसनकारणम् ॥ ७४ ॥

विधीयते वायुनाऽतः श्वासकर्मकरो हि सः ।

पचन व श्वसनकर्ममें दोषोंका संबंध दर्शानेके बाद अब शारीर धातुओंके पोषणमेंभी उनके संबंधका वर्णन करते हैं ।

आहारसंभूतरस भुक्तमार्गमेंसे वायुद्वारा यकृतमें आकृष्ट होनेके बाद वहांपर रंजक नामके पित्तद्वारा वह रंजित होता है । सुश्रुतने कहा है “ वह आप्परस यकृत् व ग्रीहामें विपाचित व रंजित होता है । ” यकृतमेंसे वह [रस] हृदयमें याने रसविक्षेपण यंत्रमें आता है । और हृदयमेंसे वायुद्वाराही उसका सब शरीरमें विक्षेपण होता है । हृदयकी पेशीओंमें समाश्रित व्यान नामका वायु हृदयके पेशीओंका आकुंचन प्रसरण करता है जिसके कारण रसवाहिनीओंकेद्वारा रस हृदयके बाहर फेंका जाता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ रसधातु व्यानवायुके विक्षेपण कर्मके कारण सब शरीरमें एकसाथ बड़े वेगसे फेंका जाता है ” सुश्रुत-सहितामें कहा है “ उस (रस) का स्थान हृदय है । हृदयमेंसे वह चोबीस धमनिओंमें प्रवेश करता हुवा—जिनमें दस उपर जानेवाली, दस नीचे जानेवाली व चार तिरछी जानेवाली होती हैं — प्रतिदिन सब शरीरका पोषण, वर्धन, धारण

वायुरेव श्वसनकर्मकर्ता प्रधान इति दर्शनार्थमुच्यते । आकुंचनं प्रसरणं सर्वमिति नासाश्वासमार्गफुफ्फुसानाम् । वायुना विधीयत इति सः वायुः श्वासकर्मकर इति । (७४ ॥)

नासाकृष्टोऽखिले देहे वाहिनीभिः प्रसारितः ॥ ७५ ॥

अशेषावयवावस्थवातानामुपबृंहणः ।

नासाकृष्टो वायुः अखिले देहे वाहिनीभिरिति रसवाहिनीभिश्च सिरामिः । फुफ्फुसांतर्गतरुधिरसमाश्रितो हृदयं गत्वा तत्रत्येन रसेन सह रसवाहिनीभिर्देहे प्रसर्पति । अशेषावयवावस्थवातानामिति शरीरावयवविशेषसंस्थानां व्यानसमानादिसंज्ञानां वातानामुपबृंहणः पोषको भवतीति । फुफ्फुसान्तर्गतो वायुरुदानाख्यो “ नासानाभिगलांश्चरेत् ” इत्युक्तेऽपि ऊर्जाकरत्वमस्य कर्माख्यातं सर्वदेहगतम् । वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जावलवर्णस्मृतिक्रियः । इत्यष्टांगहृदये । ततश्चास्य सर्वशरीरसंचारोऽप्यधिगम्यत इति । (७५ ॥)

आकृष्यमाणः स्रोतोभी रसश्चाद्धारसम्भवः ॥ ७६ ॥

पित्तेन रंजकाख्येन यकृत्प्लन्होश्च रंजितः ।

हृद्रतो वायुना देहोऽखिले विशिष्यते सदा ॥ ७७ ॥

आकुंचनप्रसरणाद्वायुः पेशीसमाश्रितः ।

हृदयस्थं रसं व्यानो वाहिनीभिः क्षिपेत् वहिः ॥ ७८ ॥

व संतोष करता है । ” व्यायवायुका स्थान बतलाते हुये अष्टांगहृदयमें कहा है “ व्यान हृदयमें रहता है, सब शरीरमें घूमता है और बड़ा वेगवान है । ” यद्यपि चरक व सुश्रुत संहिताओंमें यह निर्देश नहीं मिलता कि व्यानवायुका स्थान हृदय है, उन्होंने उसका सर्वदेहव्यापित्व और गतिप्रसारणादि क्रियाकारित्व मान्य किया है । चरकसंहितामें कहा है “ व्यान वायु शीघ्र गतिका होता हुआ शरीरको व्यापता है । वह गति, प्रसारण, निमेष आदि क्रियाओंको नित्य करता है । ” सुश्रुतसंहितामें कहा है “ व्यानवायु सर्व देहमें संचार करता है, रससंवहनमें उद्यत रहता है, स्वेद व रक्तका स्रावण करता है । क्रुद्ध होनेपर सब शरीरमें रोगोंको उत्पन्न करता है । ”

हृदयमेंसे निकलनेवाली रसवाहिनीओंमेंसे व्यानवायुद्वारा विक्षेपित रस उनकी शाखोपशाखाओंमें जाता है और उनके द्वारा ऊपर, नीचे, तिरछा शरीरके प्रत्येक विभागमें फैलता है । रसवाहिनीओंकी अंतिम शाखाएं अत्यंत सूक्ष्म होती हैं । अष्टांगहृदयमें कहा है “ कमलतंतुओंकेसमान अतिसूक्ष्म स्रोतोमागोंसे

स च शाखोपशाखाभिर्वाहिनीनां समन्ततः ।

ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च शरीरे परिसर्पति ॥ ७९ ॥

धातूनंगान्युपांगानि स पुष्पात्यखिलान्यपि ।

पचनश्चसनकर्मणोर्दोषसंबंधं दर्शयित्वा शरीरधातुपोषणे तत्संबंधं दर्शयति । आकृष्यमाण इत्यादिना । आकृष्यमाण इति संशोष्यमाणः । स्नातोभिः भुक्तमार्गाद्यकृदभिप्रपन्नैः । रंज-
काख्येन रंजकसंज्ञेन । यकृत्प्लीहान्दोरिति तत्स्रोतःसु । रंजितः प्राप्तारागः ।
सुश्रुतसंहितायामुक्तम्—स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति । ततो हृद्गतः हृदयं प्राप्तः ।
वायुना व्यानाख्येन हृत्पेशीस्रोतःस्वस्थितेन । अखिले देहे विक्षिप्यते । यदुक्तमष्टांगहृदये
व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा । युगपत्सर्वतोऽजसं देहे विक्षिप्यते सदा । सुश्रुत-
संहितायां च—तस्य (रसस्य) च हृदयं स्थानम् स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दक्ष,
दक्ष चाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चाहृष्ट-
हेतुकेन कर्मणा । इति । आकुंचनप्रसरणादिति संकोचविकासात् । पेशीसमाश्रितः
हृत्पेशीसंश्रितः । व्यान इति व्यानसंज्ञः । व्यानाख्यस्य वायोःस्थानं हृदयमित्यष्टांगहृदये
अभिहितम् । यथा—व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः । इति । चरकसंहितायाम् ।
सुश्रुतसंहितायां च व्यानस्थानत्वेन हृदयस्यानिर्देशेऽपि सर्वदेहव्यापित्वं गतिप्रसरणादिक्रिया-
कारित्वं चोपदिष्टम् । यथा चरकसंहितायाम्—देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम् ।

जो दूर २ तक फैले हैं—रस शरीरका पोषण करता है । ” रसही शरीरके सब
धातुओंका तथा आंगोपांगोंका पोषण करता है । अर्थात् सब शरीरावयवोंका
पोषक यह रसधातु हृदयके बाहर निकलकर सूक्ष्मानुसूक्ष्म स्रोतसोंद्वारा सर्वदा सब
शरीरमें फैलकर शरीर धातुओंका पोषण करता है । सतत अनुसर्पण याने फैलाव-
संचारके कारण ‘रस’ शब्दकी निरुक्ति देतेसमय सुश्रुतने कहा है “निरंतर
जिसका गमन-भ्रमण होता है उसको रस कहते हैं । रस गतिवाचक धातु है ।
इसप्रकार परिसर्पित होकर रस धातुआदिओंका पोषण करता है । ७६-७९ ॥

हृदयकी पेशियां, रसवाहिनीयां तथा उनकी शाखाएं इन सबका प्रेरक
व्यान नामक वायुही है । इसलिये उसीको रसविक्षेप कर्मका कर्ता मानते हैं । ८० ॥

अब आहाररससे रसधातुका भिन्नत्व स्पष्ट करते हैं । सम्यक् विपाचित
आहारका सारस्वरूप रस-जिसको अन्नरस कहते हैं रंजक पित्तद्वारा पुनश्च विपा-
चित होकर उसको लाल रंग आता है । तब वह रसधातु कहलाता है । अर्थात्
यह रसधातु आहारोत्पन्न रससे भिन्न है यह स्पष्टही है । जो रस यकृत्तमें प्राप्त

गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदां ॥ सुश्रुतसंहितायां च “कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवह-
नोद्यतः । स्वेदासृक्सावणश्चापि पंचधा चेष्टयत्यपि । कुद्वश्च कुरुते रोगान् प्रायशः
सर्वदेहगान् । इति । वाहिनीभिः रसवाहिनीभिः । हृदयाभिर्गताभिः बहिः
क्षिपेदिति हृदयात् बहिः शरीरेऽखिले क्षिपेदिति । शाखोपशाखाभिः वाहि-
नीनामिति रसवाहिनीनां सर्वदेहप्रसृताभिः । समंततः सर्वत्र । परिसर्पति प्रसर्पति ।
सर्वदेहप्रविष्टताभिः सूक्ष्मासूक्ष्माभिर्वाहिनीभि रसधातुः सर्वशरीरमभिसर्पतीति । यथोक्तमष्टांग-
हृदये “ बिसानामिव सूक्ष्माणि दूरं प्रविष्टानि च । द्वाराणि स्रोतसां देहे रसो यैरुपचीयते ”
इति सर्वेषां शरीरावयवानां पोषको रसधातुः सूक्ष्मासूक्ष्मैः स्रोतोभी हृदयाद्विनिर्गतेः सर्वदा सर्व
शरीरं परिसर्पन् धातूनामुपवृंहणकरो भवतीति । सततानुसर्पणादेव “ रस, गतौ अहरहर्गच्छतीति
रसः ” इति रसशब्दस्य निरुक्तिर्दर्शिता सुश्रुतेन । परिसर्पणाच्च धात्वादीन् पुष्पातीति । (७६-७९॥)

हृत्पेशीनां वाहिनीनां सशाखानां समीरणः ॥ ८० ॥

समीरणः स्यात् व्यानाख्यो रसविक्षेपकर्मकृत् ।

हृत्पेश्यादीनां समीरण इति प्रेरकः । व्यानाख्यः समीरणः रसविक्षेपकर्मकृदिति ।

(८०॥)

सम्यग्विपक्वाद्धारस्य रसोऽनुरससंज्ञकः ॥ ८१ ॥

पुना रंजकपित्तेन विपक्वो रागसंयुतः ।

होकर रंजित होता है उसका रंग लाल होते हुएभी आयुर्वेदमें उसका रसधातु
संज्ञासेही व्यवहार किया गया है यह अब दर्शाते हैं । रस नामसे जिस धातुका
वर्णन किया गया है, जो आहाररससे भिन्न रहता है, और हृदयस्थ व्यान वायु
द्वारा जिसका विक्षेपण होता है और जो सर्व शरीरमें मिलता है उसका वर्ण
(रंग) लाल (रक्त) होता हुआभी उसको रक्तधातु नहीं कहा गया है अपितु
रस यही उसकी संज्ञा बतलायी गयी है । ८३ ॥

हृदयस्थ शरीरसंचारी लाल रंगके धातुको रस कहनेके विषयमें अष्टांग-
हृदयका प्रमाण उद्धृत करते हैं:—“ व्यान वायुद्वारा निश्चयसे रसधातु (शरीर-
गत सात धातुओंमेंसे आद्य धातु) ही विक्षेपोचित कर्मके कारण एक साथही
नित्य अखंडित रीतिसे शरीरमें फैका जाता है । इससे विदित होता है कि,
हृदयस्थित धातुको रससंज्ञाही दी गयी है । ८४ ॥ ८५ ॥

“ कमल तंतुके समान सूक्ष्म व दूरदूरतक फैले हुए स्रोतसोंके जो द्वार
शरीरमें होते हैं उनमेंसे (भ्रमण करता हुआ) रस अपना पोषण कार्य करता

रसधातुरिति ख्यातो भिन्नश्चाहारजाद्रसात् ॥ ८२ ॥

अन्नरसाद्रसधातोर्विशेषं दर्शयन्नाह । सम्यग्विपक्वाहारस्य रसः सारस्वरूपः
अन्नरससंज्ञकः अन्नरस इत्यभिधानः । पुनश्च रंजकपित्तेन विपक्वः रागसंयुतश्च रसधातुः ।
स च आहारसाद्भिन्न इति । (८१-८२)

सर्वदेहगतो धातुर्न चाहाररसस्तथा ।

यश्च विक्षिप्यते देहे हृदयस्थेन वायुना ॥ ८३ ॥

रक्तवर्णोऽपि नाम्नाऽसौ रसधातुरिति स्मृतः ।

यकृत्प्राप्तस्य रंजितस्य रसस्य रक्तवर्णत्वेऽपि रसधातुसंज्ञयैव व्यवहार इति निदर्शनार्थ-
मुच्यते । सर्वदेहगत इति सर्वशरीराश्रितः । धातुः रसामिधानः । “रससृङ्मांसमेदोऽस्थि-
मज्जशुक्राणि धातवः ” इति रसादिशुक्रांतानां धातूनां व्यापित्वात् रसधातोः सर्वशरीरगतत्वमनु-
मीयते । हृदयस्थेन वायुना देहे विक्षिप्यत इत्युपवर्णनात् रक्तवर्णोऽपि सर्वशरीरे विक्षिप्यमाणो
धातु रसाख्य एव न रक्ताख्य इत्यधिगच्छति । (८३ ॥)

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ॥ ८४ ॥

युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ।

रसानाम्नोऽपदिष्टः स्याद्धातुरेवं हृदि स्थितः ॥ ८५ ॥

हैं । ” इस वचनमें भी रसधातुहीका सर्वशरीरव्यापी होना बतलाया गया है ।
सब रसवह स्रोतसोंका मूल, आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें, हृदयही बतलाया गया है ।
चरकसंहितामें कहा है—“रसवह स्रोतसोंका मूल हृदय व दस धननियां हैं । ”
रक्तवह स्रोतसोंका मूल यकृत्, प्लीहा और रक्तवह सिरा बतलाया गया है ।
अर्थात् हृदयमेंसे व्यान वायुद्वारा जिसका विक्षेपण होता है वह आयुर्वेदीय अभि-
प्रायके अनुसार निःसंशय रसधातुही है, यद्यपि रंजक पित्तद्वारा उसका रंग रक्त
(लाल) बनाया जाता है । ८६-८८ ॥

पचनादि क्रियाके कारण आहारद्रव्योंमेंसे समाकृष्ट शरीरके पोषक अंश
याने शरीर धातुओंकी वृद्धि करनेवाले अंश जिसमें विलीन रहते हैं याने अन-
भिव्यक्त द्रवरूपसे रहते हैं उसको रसधातु कहते हैं रसत्वका अर्थ विलीनत्वही
है । रसनके कारण उसको रस कहते हैं । ८९ ॥

अब रक्तधातुका वर्णन करते हैं । सब शरीरमें प्रविष्ट रसधातु शरीर संचा-
रके बाद शरीरगत ऊष्माके कारण जब विपाचित होता है तब उसको रससंज्ञा

हृदयस्थस्य शरीरसंचारिणश्च धातो रसत्वे प्रामाण्यदर्शनार्थमष्टांगहृदयोक्तं निदर्शयति ।
व्यानेन इति व्यानाख्येन । **रसधातुः** शरीरगतानां धातूनामाद्यो रसाख्यो धातुः । **हि** इत्यव-
 धारणार्थे । रसाधातुरेवायं नेतर इति । **विक्षेपोचितकर्मणा** विक्षेपः प्रक्षेपणं उचितं
 अभ्यस्तं कर्म यस्येत्येवंरूपेण । **युगपदिति** एकसमयमेव । **अज्ञस्यमित्यखंडितम्** । **सदा** नित्यं
 विक्षिप्यते । **एवमुक्तप्रकरणे** हृदि स्थितो धातू रसनाम्नोपदिष्ट इति । (८४-८५)

विसानामिव सूक्ष्माणि दूरं प्रविस्तृतानि च ।

द्वाराणि स्रोतसां देहे रसो यैरुपचर्यते ॥ ८६ ॥

सर्वदेहगतश्चैवं रसधातुरुदाहृतः ।

मूलं हृदयमाख्यातं स्रोतसां रसवाहिनाम् ॥ ८७ ॥

रक्तस्य तु यकृत्प्लीहा तथा रक्तवहाःसिराः ।

विक्षेपणं रसस्यैव धातोरित्यभिभाषितम् ॥ ८८ ॥

हृदयस्थस्य धातो रसामिधेयत्वे हेत्वन्तराणि दर्शयितुमुच्यते । **विसानामिवे-**
त्यादिना । श्लोकेनानेन शरीरगतानां स्रोतसां रसाकर्षणमाख्यातमष्टांगहृदये । तथा सर्वशरीरगतो
 रसधातुश्चेत्युपवर्णितम् । हृदयं रसवहानां स्रोतसां मूलमिति च प्राचीनतंत्रैश्चभिहितम् । यथा
 चरकसंहितायाम्—रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः । **रक्तस्येति** रक्तवहानां
 स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च । इति । रसस्यैव शरीरं **विक्षेपणमित्यभिभाषितम्** । व्यानेन रसधातुर्हि

मिलती है । कहा है “ शरीरस्थ अग्निके अंश धातुओंमें संश्रित रहते हैं और
 उनके मांघ दीप्तिके कारण धातुओंकी वृद्धि व क्षय हुआ करते हैं । ” रक्तत्वका
 अर्थ है परस्पराणुरागित्व । द्रवस्वरूपमें स्थित परमाणुओंका परस्परकी ओर आकर्षण
 होता है उसीको परस्पराणुरागित्व—आकर्षकत्व कहते हैं । रक्तसंज्ञासे तद्गत
 परमाणुओंका परस्पराकर्षकत्व सूचित होता है रक्तवर्णत्व सूचित नहीं होता ।
 आहारगत द्रव्योंका जठराग्निके साथ संयोग होनेसे रसरूपमें विलीन
 परमाणुओंका रक्तरूपमें पुनः संहतीभाव होनेके कारण मांसकी व परिणामतः
 मूर्तावयवोंकी उत्पत्ति होती है । संघातका उत्पादकत्व विशिष्ट पचनकर्मके कारण
 जिसमें उत्पन्न होता है वही मांसपूर्व रक्त नामका धातु है । इस रक्तधातुमेंके
 कुछ परमाणु परस्परकी ओर आकृष्ट होते हुए संघीभूत होकर मांस धातुके रूपमें
 अभिव्यक्त होते हैं । आकर्षणके अर्थसे रंजधातुका प्रयोग रक्तशब्दमें किया गया
 है । रसधातुका सब शरीरमें संचार होनेके बाद उसका जो विपाकोद्भव अवस्थांतर
 होता है उसीको रक्तधातु कहा गया है । ९० ॥ ९१ ॥

इत्यादिना । इत्याद्यभिधानात् हृदयस्थो रसधातुः शरीरे तस्यैव विक्षेपणमित्यायुर्वेदीयतन्त्रान्तर-
गतोऽभिप्रायः । रंजकपिचनेनातुरंजितेऽपि विक्षिप्यमाणस्य न रक्तधातुत्वं प्रतिपादितम् । (८६-८८)

पोषकांशाः शरीरस्याऽहारद्रव्यसमाहृताः ।

विलिना यत्र तिष्ठन्ति स रसो धातुरीरितः ॥ ८९ ॥

रसत्वं स्याद्विलीनत्वं रसनाद्रस उच्यते ।

रसशब्दस्यान्वर्थकत्वनिदर्शनार्थमुच्यते । **पोषकांशाः शरीरस्येति** शरीरधातूना-
मभिवृद्धिकरा द्रव्यांशाः । **आहारद्रव्यसमाहृताः** आहारान् पचनादिकर्मणा समाकृष्टाः ।
विलीना इति अनभिव्यक्तेन द्रवरूपेणावस्थिताः । यत्र तिष्ठन्ति स रसो धातुरिति । **रसनाद्वि-**
ल्यनाद्रस इति आहारद्रव्याणां द्रवरूपावस्थितस्य सारभागस्य रस इत्यन्वर्थकं नामेति (८९ ॥)

प्रसृतश्चाखिले देहे रसधातुरनन्तरम् ॥ ९० ॥

विपक्वश्चोष्मणा रक्तधातुरित्यभिधीयते ।

परस्परानुरागित्वं नाम रक्तत्वमिष्यते ॥ ९१ ॥

रक्तधातुत्वं दर्शयति **प्रसृतं** इत्यादिना । **अनन्तरमिति** शरीरसंचारादनन्तरम् ।
विपक्वः पाकमागतः । **ऊष्मणा इति** सर्वशरीरगतेनोष्मणा । **यत उक्तम्** स्वस्थानस्थस्य काया-
भेदंशा धातुषु संस्थिताः । तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्वयः । इति । **रक्तधातुः** रक्ता-
ख्यो धातुरिति । **परस्परानुरागित्वमिति** परमाणूनां द्रवस्वरूपेऽवस्थितानां परस्पराकर्षक-

रस व रक्तके विशिष्ट स्वभावोंका अधिक स्पष्टीकरण करते हैं । स्पंदन
याने प्रस्रवण (निक्षरण) की अवस्थामें रहनेवाले द्रव्यको रस कहते हैं । द्रवत्वका
कारण स्पंदन (निक्षरण) होता है । कहाही है “ स्पंदनका असमवायि कारण
द्रवत्व है । ” स्पंदनकी अवस्थामें स्थित रसस्वरूप द्रव्यमें विक्षेपण याने पृथक्ता
की और उन्मुखता की प्रवृत्ति होती है । अर्थात् इसका प्रधान भावविशेष अथवा
गुणविशेष स्पंदन-विक्षेपण होता है । परस्परमें अनुरक्त होनेके कारण रक्तांतर्गत
परमाणु संश्लिष्ट होकर याने परस्परका आलिंगन करते हुए जब संहतीभावको
प्राप्त करते हैं मांस संज्ञाको पाते हैं । मांसशब्दका अर्थ व्यक्तीभाव है । मर्या-
दित परिमाणके कारण (परिच्छिन्नपरिमाणत्व) व्यक्तीभाव उत्पन्न होता है ।
मांस शब्दमें ‘ मांङ् ’ धातु है जिसका अर्थ है मान याने नापना । इसीसे प्रकट
होता है कि मांसकी मर्यादा परिमाण (मापने) योग्य होती है । इसलिये
शरीरधातुओंमें पहिले मूर्तत्वको याने परिच्छिन्नपरिमाणत्वको प्राप्त करनेवाले
धातुको मांस कहा गया है । जितना २ मूर्त है उतता सब मांसही समझना

त्वम् । रक्तत्वं रक्तधातुत्वम् । रक्तसंज्ञया तद्द्रव्यगतानां परमाणूनां परस्पराकर्षकत्वं सूच्यते न रक्तवर्णत्वमिति भावः । आहारगतानां द्रव्याणां जठराग्निसंयोगाद्रसरूपे विलीनानां पुनः संहती-
भावान्मांसोत्पत्तिः । मूर्तावयवानामुत्पत्तिरिति । संधातोत्पादकत्वं यस्मिन् जायते विशिष्टेन पचन-
कर्मणा स मांसपूर्वो धातु रक्तसंज्ञः । तद्रताः परमाणवः केचित् परस्परमाकुष्यमाणाः संधीभावा-
न्मांसत्वेनाविव्यक्तिमायान्तीति आकर्षणार्थाद्रजनात् रसधातोः सर्वशरीरसंचारानन्तरं विपाकोद्भव-
मवस्थान्तरं रक्तधातुसंज्ञया परिगणितमिति । (९०-९१)

द्रव्यं तु स्यंदनावस्थावस्थितं रससंज्ञकम् ।

विश्लेषणं चापि भवेत्स्यंदने द्रवकारणे ॥ ९२ ॥

रक्तत्वे संहतीभावहेतुः संश्लेष इष्यते ।

परस्परानुरागित्वात् संश्लिष्टाः परमाणवः ॥ ९३ ॥

संहतीभावमापन्ना मांसमित्यभिधीयते ।

व्यक्तीभावार्थको मांसशब्द इत्यभिभाषितः ॥ ९४ ॥

द्रव्यं मूर्तं व्यक्तरूपं मांसनाम्नोपदिश्यते ।

रसरक्तमांसानां स्वभावविशेषसूचकस्य शब्दार्थस्याभिव्यजनार्थमुच्यते । द्रवमित्यादि ।

स्यंदनावस्थावस्थितमिति प्रसवणावस्थायामवस्थितम् । विश्लेषणं नाम पृथग्भावो-
न्मुखित्वम् । स्यंदने सावणे । द्रवकारणे इति स्यंदनहेतुभूते । यत उक्तं — स्यंदनासमवायि-

चाहिये । आहार द्रव्योंका पहिले रसरूपसे विलयन और फिर उसीमेंसे मांसरूपसे अभिव्यक्ति शरीरमें होती है । इन दोनों अवस्थाओंके बीचमें स्यंदनात्मक रसके बाद और प्रव्यक्त मांसके पूर्व जो संधीभावोत्पादक विशिष्ट गुणको आश्रय देने-
वाली अवस्था होती है उसीको रक्त नाम दिया गया है अर्थात् वह अपने नामसेही सूचित करता है कि, उसमें रंजकत्व याने अनुराग-परस्परमीलनकी आसक्ति-जिसके कारण परमाणुओंका समुदाय हो सकता है-रहती है सूक्ष्मा-
नुसूक्ष्म स्रोतसोंमें संचार करनेकी पात्रता असंहत पदार्थमेंही हो सकती है । वह संधीभावके हेतुभूत रक्तमें नहीं रह सकती । इसीलिये मानना पड़ता है कि, रसधातुमेंही अभिसरणक्षमता है रक्तमें नहीं । इसी कारण सुश्रुतने कहा है
“ रस गतिवाचक धातु है । निरंतर जो गतिमान् है उसीको रस कहा जाता है । ९२-९४ ॥

उक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि, उत्सर्जन, निःश्वसन, पचन, तथा पोषण ये सभी क्रियायें वात, पित्त व कफ इन तीन दोषोंसे अनुबद्ध हैं याने

कारणं द्रवत्वमिति । रसस्वरूपे स्यदनं विश्लेषणं नाम भावविशेषो वा प्रधान इति । रक्तत्वे रक्तस्वरूपे द्रव्ये । संहतीभावहेतुरिति पिंडीभावकारणम् । संश्लेषः परस्पराकर्षणम् । इष्यते अपेक्ष्यते । ' श्लिष् ' आलिगने इति धात्वर्थोभिधानात् संश्लेषः संधीभावहेतुरिति । परस्परानुरागित्वात् परस्पराकर्षणभावात् । संश्लिष्टाः परस्परालिगनावस्थिताः । परमाणवः संहतीभावमापन्ना इति संधीभावं गताः । मांसमभिधीयते मांसमित्युच्यते । व्यक्तीभावार्थक इति परिच्छिन्नपरिमाणत्वेनाभिव्यक्तत्वार्थकः । मांसशब्दः । ' माड्, माने इति धात्वर्थात् मांसशब्दस्य मानत्वं परिमाणपरिच्छेदोऽनुमेय इति । मूर्तं द्रव्यं मांसनाम्ना उपदिश्यते । यन्मूर्तं तत्सर्वं मांसमिति । आहृतानां द्रव्याणां रसरूपेण विलयनं ततश्च मांसरूपेण शरीरे व्यक्तीभावस्तन्मध्ये स्यदनात्मकान् रसादनन्तरं पुनः संधीभावोत्पादकत्वगुणविशेषाश्रितो रक्तधातुः स्वनाम्ना परमाणुसमुदायकारणस्य रजकत्वस्य सूचकं इति । सूक्ष्मानुसूक्ष्मस्रोतःसंचारणक्षमत्वमसंहतत्वम् । न च तद्रक्तत्वे संधीभावहेतावतिष्ठत इति रसत्वमेवाभिसरणक्षमं न रक्तत्वम् । तत एवोक्तं ' रस गतौ अहरहर्गच्छतीति रसः इति सुश्रुतसंहितायाम् (१२-१४॥)

उत्सर्जनं निःश्वसनं पचनं पोषणं तथा ॥ ९५ ॥

दोषत्रयानुबद्धाः स्युः सर्वाश्चैवंविधाः क्रियाः ।

उत्सर्जनाद्याः क्रियाश्चैवं दोषत्रयानुबद्धाः वातादिदोषत्रये संबद्धाः । उत्सर्जन-पचनादीनि कर्माणि सर्वाणि दोषत्रयमनतिक्रम्य वर्तन्त इति । (९५॥)

उनंके बिना वे नहीं हो सकती । ९५ ॥

मलोत्सर्जनका कर्मभी दोषानुबद्धही हैं । पुरीष, मूत्र, स्वेद तथा शरीरमें जो भी नासानेत्रादिगत अन्य मल हैं वे सभी वायुकेही कारण उत्सर्जित होते हैं । कारण स्रोतसोंके संचालनका प्रेरक वायुही है । स्रोतःसंचालनसेही मलोंका उत्सर्जन हो सकता है । ९६ ॥

हस्तपादोंका आकुंचन व प्रसरण, अन्नका चर्वण, तथा अन्नका आमाशयमें कंठद्वारा प्रवेशन, वाक्प्रवर्तन, आशयों तथा स्रोतसोंकी नानाविध प्रकारकी हलचलें ये सब क्रियायें चलनकर्मका कर्ता वायुकेही कारण होती हैं । संक्षेपमें वायुका चलनकर्म इसप्रकारका रहता है:- शरीरके अणुओंके याने सूक्ष्म अवयवोंके प्रेरणात्मक याने संवेदनात्मक आद्य चलनको उत्साह करते हैं । यही उत्साह जब विशिष्ट स्थानोंमें प्रकट होता है तब अनेक प्रकारकी हस्तपादोंकी हलचल एवं श्वसन आदि क्रियायें होती हैं । इसप्रकार चलनात्मक कर्म द्विविध है । १ अव्यक्त उत्साहके रूपमें और २ व्यक्त क्रियाओंके रूपमें । और इस व्यक्ता-

शकृन्मूत्रं तथा स्वेदो मलाश्चान्ये शरीरगाः ॥ ९६ ॥

हेतुस्तर्जने तेषां वायुः स्रोतःसमीरणः ।

मलोत्सर्जनाख्यं कर्मापि दोषानुबद्धमिति दर्शनार्थमुच्यते । शकृन्मूत्रस्वेदाख्यास्तथा अन्ये नासानेत्रादिगताश्च । मलाः । स्रोतःसमीरण इति स्रोतसां प्रेरकः । सर्वेषां मलानामुत्सर्जको वायुः स्रोतःसंचालनादिति (९६ ॥)

आकुंचनं प्रसरणं हस्तयोः पादयोरपि ॥ ९७ ॥

अन्नस्य चर्वणं चान्तःप्रवेशो वाक्प्रवर्तनम् ।

आशयानां स्रोतसां च चलनं विविधात्मकम् ॥ ९८ ॥

सर्वं संपादयत्येतत् वायुश्चलनकर्मकृत् ।

आकुंचनादिकं सर्वं कर्म चलनात्मकं चलनकर्मकृत् वायुः संपादयतीति (९७-९८ ॥)

उत्साह आद्यं चलनमणूनां प्रेरणात्मकम् ॥ ९९ ॥

स्थानान्तरगतं तस्य व्यक्तत्वं विविधाः क्रियाः ।

द्विविधं व्यक्तमव्यक्तं यत्कर्म चलनात्मकम् ॥ १०० ॥

तत्करोति शरीरस्य वायुश्चलनकारणम् ।

वायोः क्रियाकारित्वं समासेनाह । उत्साह इत्यादि । उत्साह इति आद्यं प्रथमं अणूनां शरीरांतर्गतानां सूक्ष्मावयवानाम् । प्रेरणात्मकम् संवेदनात्मकमुत्साह इति ।

व्यक्त चलनात्मक कर्मको चलनका कारण वायुही करता है । ९९ ॥ १०० ॥

वायुके समान पित्तभी जिन सर्व शरीरगत सामान्य क्रियाओंको करता है उनका अब निर्देश करते हैं । रक्तस्थ द्रव्योंके सारकिट्टका विवेचन याने साररूप रसभागका और मलभागका पृथक्करण जिसके कारण होता है उस रक्तस्थ द्रव्यको पित्त कहते हैं । धातुपोषणकार्यमें पोषक अंशोंका पचन पित्त करता है इसलिये उसको धातुपाचक माना गया है । अन्न, अन्नरस, रक्त तथा अन्य सभी देहधातुओंका पचन जिस द्रव्यसे होता है उसीको पित्त संज्ञा दी गयी है । यह पित्त द्रवरूप है और वह अन्नादिमें मिश्रित होकर पचनका कार्य करता है । इस द्रवस्वरूप पित्तके अतिरिक्त पित्तका दूसरा एक प्रकार है जो केवल ऊष्मास्वरूप है । शरीरमें प्रभा याने दीप्ति अथवा कांति, उष्णता, रूपका दर्शन आदिका कर्ता यही पित्त है । इसीप्रकार बुद्धि, मेधा, अभिमान आदिके द्वारा अभिप्रेतार्थसाधक सभी शारीरिक कार्योंको यह तैजस पित्तही करवाता है जो अद्रव केवल ऊष्मास्वरूप होता है । वास्तवमें द्रवरूप और अद्रवरूप सभी पित्त

स्थानान्तरगतमिति स्थानविशेषेष्वनुभूयमानम् । व्यक्तत्वं स्पष्टम् । विविधाः क्रियाः हस्तपादानामुत्क्षेपणापक्षेपणाद्याः श्वसनाद्याश्च । एवं द्विविधं व्यक्तमव्यक्तं च चलनात्कं कर्म । वायुः करोति । यतः स एव चलनकारणमिति । (१७-१०० ॥)

द्रव्यांशानां रसस्थानां सारकिट्टिविवेचनम् ॥ १०१ ॥

जायते येन रक्तस्थं तत्पित्तं समुदाहृतम् ।

पचनं पोषकांशानां धातूनामपि पोषणे ॥ १०२ ॥

करोति पित्तं तद्भातुपाचकं परिकीर्तितम् ।

अन्नमन्नरसो रक्तमपरे देहधातवः ॥ १०३ ॥

पच्यन्ते येन तत् द्रव्यमारव्यातं पित्तसंज्ञया ।

प्रभावणौष्यकारित्वं शरीरे रूपदर्शनम् ॥ १०४ ॥

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनम् ।

करोति पित्तमखिलं कर्म देहस्य तैजसम् ॥ १०५ ॥

सर्वशरीरगतं पित्तस्य सामान्यं कर्म दर्शयितुमुच्यते द्रव्यांशानामित्यादि ।

रसस्थानामिति रसधातुगतानाम् । सारकिट्टिविवेचनं सारमलस्वरूपं पृथकरणम् ।

येन जायते तद्रक्तस्थं पित्तमिति । धातुपोषणे पोषकांशानां पचनं करोति तत् पित्तं धातुपाचकम् । अन्नं आहारः । अन्नरसः आहारसारः । रक्तं रक्ताख्यो धातुः । अपरे

तैजसही है । किंतु आहरादिका पाचक पित्त द्रवाश्रित होता है और बुद्धि आदिओंका प्रबोधन करनेवाला पित्त अद्रव होता है । सारांश शरीरका जितना तैजस कर्म है वह सब पित्तकेही कारण होता है । १०२॥१०२॥१०३॥१०४॥१०५॥

अब श्लेष्माके याने कफके सर्व शरीरगत सामान्य कर्मका वर्णन करते हैं । संधिवंधन याने संधिओंका संश्लेष (चिकनाहट), शारीर अंगोंकी स्थिरता याने दृढता, उपसर्जन याने शारीर घटकोंका उत्पादन, शैत्य याने शीतता, क्षमत्व याने सहिष्णुता, स्निग्धत्व याने सहतीकरण-संधीभाव, पोषक द्रव्योंका संग्रह, आदि शरीरमें जितना संश्लेषणात्मक कार्य है वह सब शरीरगत अपगुणभुयिष्ठ याने सोमगुणात्मक श्लेष्माही करता है । १०६ ॥ १०७ ॥

शरीरके भिन्न २ स्थानोंमें जितनी नानाविध क्रियाएँ होती हैं उनमें तीन प्रमुख हैं १ संचालन २ विपचन और ३ परिपोषण । इन तीन क्रियाओंको अनुक्रमसे वात, पित्त, व कफ करते हैं । १०८॥ १०९॥

दोषश्चानुसार कर्मत्रितयप्राधान्यदर्शन नामक तृतीय दर्शन समाप्त ।

अन्ये सर्वे धातवः । येन पच्यन्ते तत् द्रव्यं पित्तमिति । अन्नादिषु मिश्रीभूय पचनकृत् पित्तमिदं द्रवस्वरूपम् । प्रभा दीप्तिः कान्तिर्वा । वर्णः स्वामात्रिको गौरादिः । औष्ण्यं उष्णता । एतेषां कारणम् । बुद्धिमेधाभिमानाद्यैर्बुद्धिविशेषैः । अभिप्रेतार्थसाधनम् । इष्टार्थसिद्धिः । इत्याद्यखिलं कर्म तैजसं तेजोरूपमद्रवं पित्तं करोति । द्रवमद्रवं वा पित्तं तैजसमपि आहारादीनां पाचकं द्रवाश्रितमितरच्च बुद्ध्यादीनां प्रबोधनमद्रवमिति तैजसं कर्म शरीरस्याखिलं पित्तं संपादयतीति । (१०१-१०५॥)

संधीनां बंधनं स्थैर्यमंगानामुपसर्जनम् ।

शैत्यं क्षमत्वं स्निग्धत्वं पोषकद्रव्यसंग्रहः ॥ १०६ ॥

शरीरस्यैतदाखिलं कर्म संश्लेषणात्मकम् ।

करोत्यव्गुणभूयिष्ठः श्लेष्मा सर्वशरीरगः ॥ १०७ ॥

श्लेष्मणः सर्वदेहगतं सामान्यं कर्मोच्यते । संधीनां बंधनमिति संधिसंश्लेषः । स्थैर्यमंगानां दृढतोत्पादनम् । उपसर्जनम् शरीरघटकानामुत्पादनम् । शैत्यं शीतता । क्षमत्वं सहिष्णुत्वम् । स्निग्धत्वं संधीभावः । पोषकद्रव्यसंग्रहः पोषकांशानां संग्रहः । अखिलमेतत् श्लेषणात्मकं शरीरस्य कर्म । अव्गुणभूयिष्ठः सोमगुणात्मकः श्लेष्मा सर्वदेहगः करोति । (१०६-१०७)

प्रवर्तन्ते शरीरस्य क्रियाः स्थानान्तरेषु याः ॥

विविधाः साधकं तासां प्रमुखं कर्मणां त्रयम् ॥ १०८ ॥

संचालनं विपचनं तथा च परिपोषणम् ॥

कर्मत्रयस्य कर्तारो वातपित्तकफास्त्रयः ॥ १०९ ॥

स्थानान्तरसंभवानां क्रियाणां प्रमुखं साधकं 'संचालनं गतिः विपचनं पचनम् । परिपोषणं चेति कर्मणां त्रयम् । तस्य कर्तारश्च वातपित्तकफास्त्रयो दोषाः क्रमेणेति । दोषत्रयानुसारेण कर्म कर्मणां कर्मत्रितयप्राधान्यदर्शनं नाम तृतीयं दर्शनम् । (१०८-१०९)

इति तृतीयं दर्शनम् ।

चतुर्थ दर्शनम् ।

(दोषत्रितयानुसारेण विकारत्रितयदर्शनम्)

वातादयश्चाविकृताः शरीरस्योपकारकाः ।

त एव विकृताः सन्तो नानाविकृतिकारकाः ॥ १ ॥

शरीरावस्थितानां वातादीनां कर्माण्यभिधाय विकृतिनिदर्शनार्थमुच्यते । वातादय इत्यादि । अविकृताः स्वभावावस्थिताः । शरीरस्य उपकारकाः । स्वाभाविकक्रिया-संपादनादिति । विकृताः सन्तः वैषम्यं प्राप्ताः सन्तः । नानाविधविकृतिकारकाः । यथोक्तमष्टांग हृदये-वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः । विकृताऽविकृता देहं ऋन्ति ते वर्तयन्ति च । (१)

दोषा विकृतिमापन्ना विकृतिं देहकर्मणाम् ।

कुर्वन्ति ऋहासो वृद्धिश्च वैपरीत्यमिति त्रिधा ॥ २ ॥

प्रमुखं विकृतिलक्षणमुच्यते । विकृतिमापन्ना दोषाः । विकृतिं वैषम्यम् । स्वभाव-विरुद्धं कर्मेति । देहकर्मणाम् देहसंवन्धिनां स्वाभाविकानां कर्मणाम् । ऋहासो न्यूनत्वम् । वृद्धिः स्वभावमानादाधिक्यम् । वैपरीत्यं स्वभावविरोधः । इति त्रिधा विप्रकारेण । शरीर-कर्मणां ऋहासो वृद्धिवैपरीत्यमिति त्रिविधं विकृतिलक्षणं समासत इति । (२)

चतुर्थदर्शनम् ।

(तीन दोषोंके अनुसार त्रिविधविकारदर्शनम्)

शरीरमें स्थित वातादि दोषोंकी स्वाभाविक क्रियाओंका अभीतक वर्णन करनेके बाद उनकी विकृतिका वर्णन करते हैं । अविकृत याने स्वाभाविक स्थितिमें जो वातादिदोष शरीरके उपकारक होते हैं याने शरीरकी स्वाभाविक क्रियाओंको समुचित रीतिसे चलाते हैं, वेही विकृत हो जानेपर याने विषम स्थितिमें अनेक विकारोंको उत्पन्न करते हैं । अष्टांगहृदयमें कहाही है “ वात, पित्त व कफ ये तीन दोष अविकृत स्थितिमें शारीरिक क्रियाओंको चलाते हैं और विकृत स्थितिमें बिघाडते हैं ” । १ ॥

अब विकृतिका प्रमुख लक्षण बतलाते हैं । विकृतिका अर्थ है स्वाभाविक-विरुद्धक्रिया । दोष जब विकृत हो जाते हैं शरीरके स्वाभाविक क्रियाओंमें बिघाड उत्पन्न करते हैं । यह बिघाड (विकृति) मुख्यतः तीन प्रकारकी होती है—

उत्साहहानिरनिले क्षीणे हानिश्च कर्मणाम् ।

विविधानां सर्वदेहगतानां चलनात्मनाम् ॥ ३ ॥

पित्ते मन्दोऽनलः क्षीणे मंदश्चोऽष्मा शरीरगः ।

क्षीणे श्लेष्मणि शैथिल्यं संधिऽण्वंगेषु जायते ॥ ४ ॥

हीनातिमिथ्यायोगयुक्ता वातादयः शारीरकर्मणां हीनातिमिथ्यायोगकारकाः । अतो दोषाणां हीनादियोगानुसारेण क्रियावैषम्यं दर्शयन् हीनयोगस्वरूपं विवृणोति । **उत्साहहानि-**रिति शरीरावयवानां प्रवृत्तिमाद्यम् । **अनिले** वायौ । **क्षीणे** स्वाभाविकप्रमाणादूनतां गते । **हानिः** कर्मणामिति **कर्मसु** न्यूनत्वम् । **विविधानां** हस्तपादायाकुंचनश्चसनमलोत्सर्जनादीनाम् । **चलनात्मनाम्** गतिस्वरूपाणाम् । **पित्ते क्षीणे** सति **मंदोऽनलः** अभिमाद्यम् । **मंदश्च उष्मा** शरीरग इति सर्वशरीरे मंदोन्मत्त्वम् । **क्षीणे श्लेष्मणि** शैथिल्यं संधिषु सर्वाणेषु च जायते । (३-४)

वृद्धे समीरणे रौक्ष्यं बलहानिश्च जायते ।

कृशताऽनिद्रता काष्ण्यं दीनता बद्धविदक्ता ॥ ५ ॥

पित्ताभिवृद्धौ दाहश्च पीतविण्मूत्रनेत्रता ।

मंदाग्नित्वमनुत्साहस्तंद्रा शैत्यं श्लथंगता ॥ ६ ॥

१ ञ्हास याने स्वाभाविक क्रियामें कुछ न्यूनत्व निर्माण होना । २ वृद्धि याने स्वाभाविक क्रियामें आधिक्य उत्पन्न होना । ३ वैपरीत्य याने स्वाभाविक क्रियाके विरुद्ध क्रियाका होना । २ ॥

शरीरके स्वाभाविक क्रियाओंका पूर्वोक्त प्रकारसे ञ्हास, बुद्धि व वैपरीत्यकोही आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें अनुक्रमसे हीनयोग, अतियोग व मिथ्यायोग कहा गया है । अब इन हीन, अति व मिथ्यायोगके अनुसार क्रियावैषम्यका वर्णन करते हैं । जैसे अनिल याने वायु क्षीण होनेपर याने स्वाभाविक प्रमाणसे उसका प्रमाण कम हो जानेपर शरीरमें उत्साहहानि होती है । शरीर अवयवोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिमें माद्य उत्पन्न होता है । तथा कर्मोंकी हानि होती है याने क्रियाओंमें न्यूनत्व उत्पन्न होता है । अर्थात् हस्तपादादि अवयवोंकी आकुंचन प्रसारणादि तथा फुफ्फुस अंत्र आदिकी शसन मलोत्सर्जनादि गतिस्वरूप क्रियाओंमें न्यूनत्व निर्माण होता है । पित्त क्षीण होनेपर अग्नि तथा शरीरगत उष्माभी मंद हो जाता है । और श्लेष्मा क्षीण होनेपर संधिस्थानोंमें एवं गात्रोंमें शिथि-

निद्राधिक्यं श्लेष्मवृद्धौ श्वेतत्वं च त्वगादिषु ।

दोषाणामभिवृद्धिसंभवा विकारा यथा-वृद्धे समीरणे रौक्ष्यं त्वगादिषु शुष्कावभासता । बलहानिः स्निग्धगुणसंक्षयात् न्हासः सामर्थ्यस्येति । कृशता क्षीणत्वमंगानाम् । आनिद्रता निद्राल्पत्वम् । काण्ड्यमंगेषु कृष्णत्वावभासः । दीनता अल्पशक्तित्वात् दैन्यं ग्लानिरिव । बद्धविदकता मलग्रहः । पित्ताभिवृद्धौ दाहादयो विकाराः संजायन्ते । दाह इत्यनवस्थितत्वमसंहत्वं वा । औष्ण्यतैक्षण्याभिवृद्ध्या शरीरावयवाः परस्परं सहवासमसहन्तः संव्रस्ता भवन्ति तदा दाह इत्युच्यते । पीतविष्णूमूत्रनेत्रता इति मलादिषु पीतत्वम् । श्लेष्मवृद्धौ मन्दाभित्वादयो विकारा भवन्ति । मन्दाभित्त्वं पचनाल्पत्वादनुमेयम् । अनुत्साह इति क्रियास्वप्रवृत्तिः । तन्द्रा निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेदिति । जाग्रतोऽपि निद्रागतस्येवाकर्मण्यत्वं तन्द्रालक्षणमुत्साहहीनत्वात् जायते । शैत्यमंगेषु शीतत्वम् । श्लेष्मांगता इत्यंगानां कर्मसंक्षमत्वम् । निद्राधिक्यं त्वगादिषु श्वेतत्वं चेति । (५-६॥)

कर्मस्वभावजं दोषवृद्ध्या स्थानान्तरेषु यत् ॥ ७ ॥

जायते वैपरीत्यं तत् व्याधिनाम्नोपदिश्यते ।

विकृतिभेदो वैपरीत्यं नाम—अस्वभावजं स्वाभाविकं न स्यादेवंविधम् । दोष-
वृद्ध्या वातादिदोषाणामभिवर्धनेन । दोषाणां वृद्धिक्षयाभ्यां वैषम्योत्पादनेऽपि वृद्धस्यैव विकार-

लता उत्पन्न होती है ३॥ ४॥

अब दोषोंकी वृद्धि याने अतियोग होनेसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका वर्णन करते हैं । वायु वृद्ध होनेसे रूक्षता याने त्वचा आदिमें शुष्कताकी उत्पत्ति होती है । स्निग्ध गुणका क्षय होनेके कारण बल (सामर्थ्य) काभी न्हास होता है । शरीर कृश होने लगता है, निद्रा कम आने लगती है, शरीरपर कालापन छाने लगता है, अल्प शक्तित्वके कारण दैन्य याने ग्लानि आ जाती है और मलवृद्धता होती है । पित्त वृद्ध होनेसे दाह होता है—शरीरद्रव्योंकी सहन-शीलता कम हो जाती है । अर्थात् उष्णता तीक्ष्णता आदिकी वृद्धिसे शरीरके अवयव याने परमाणु परस्परका सहवास सहन करनेमें असमर्थ होते हैं उसीको दाह कहते हैं ।) विष्ठा, मूत्र व नेत्रोंमें पीलापन आ जाता है । श्लेष्माकी अभिवृद्धिके कारण अग्निमंद हो जाता है याने पचनशक्ति कम हो जाती है, आलस्य-उत्पन्न होता है । तन्द्रा याने सुप्ति (जाग्रत दशांमेंभी निद्रिस्त मनुष्यके समान उत्साहहीनताके कारण जो अकर्मण्य उत्पन्न होता है उसीको तन्द्रा कहते हैं ।)

कर्तृत्वम् । क्षीणः स्वयं स्वकर्मकरणेऽसमर्थो व्याधुत्पादको न स्यादिति । स्थानान्तरेषु अवयवविशेषेषु । तत् वैपरीत्यं कर्मणां व्याधिनाशना व्याधिसंज्ञया । उपदिश्यते आख्यायते । (७॥)

ऽहासो वृद्धिरनारोग्यमपि स्याद्गुणकर्मणाम् ॥ ८ ॥

पीडाकरत्वं रोगत्वं वैपरीत्योद्भवं भवेत् ।

क्षीणाः कुर्वन्ति वाताद्याः संक्षयं गुणकर्मणाम् ॥ ९ ॥

वृद्धाश्च वृद्धिं कुपिता वैपरीत्यस्य कारणाः ।

वैपरीत्यं विपर्यासः स्थानानुगतकर्मणाम् ॥ १० ॥

वृद्धिक्षयोरनारोग्यकरत्वेऽपि रोगसंज्ञयोपादिष्टस्य विकृतिविशेषस्य वैपरीत्योद्भवत्वं दर्शयितुमुच्यते । ऽहासो वृद्धिरित्यादि । ऽहासो न्यूनत्वम् वृद्धिराधिक्यम् । अनारोग्यं । आरोग्यस्याभावः अस्वास्थ्यमिति । गुणकर्मणाम् दोषगुणानां रूक्षस्निग्धादीनाम् । कर्मणां च उत्सर्जनपोषणादीनाम् । पीडाकरणं रोगत्वमिति । रोगत्वमिति ' रंजंतीति रोगाः ' इति निरुक्त्या पीडाकरणं रोगत्वमिति । वैपरीत्योद्भवम् दोषकर्मणां वैपरीत्यादुद्भवो यस्यैवंविधम् । कथं वैपरीत्य एव रोगकरत्वमित्याह । क्षीणाः स्वगुणकर्महीनाः वाताद्याः संक्षयं ऽहासम् । गुणकर्मणाम् । वृद्धाः स्वमानाभिवाधिताश्च वृद्धिं गुणकर्मणां कुर्वन्ति । यथा क्षीणे पचनकर्मणि पित्ते पक्तिहानिरभिवृद्धे चातिपक्तिर्जायते । कुपिताः अयथामार्गमभिप्रवृत्ताः । यथोक्तमष्टांगहृदये । कोपस्तूमागमागमिता ।

गात्रोंमें शीतता उत्पन्न होती है—शरीर थंडा लगता है । शरीरके अवयव अपना २ काम मंदतासे करने लगते हैं, निद्रा अधिक आती है और त्वचा आदिपर श्वेतत्वकी छाया आती है । ५ ॥ ६ ॥

दोषविकृतीके कारण भिन्न २ स्थानोंमें जो अस्वाभाविक व विपरीत क्रिया होती है उसीको व्याधि संज्ञा दी गयी है । वातादि दोषोंके वृद्धि व क्षय दोनोंके कारण क्रियावैषम्य उत्पन्न होता है, तथापि यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि अभिवृद्धि दोषही विकारको उत्पन्न कर सकता है । क्षीणदोष जो स्वयं अपना निजी कर्म करनेमेंभी असमर्थ होता है वह व्याधिको उत्पन्न नहीं कर सकता । ७ ॥

इतनाही नहीं किंतु दोषोंके वृद्धि क्षयके कारण यद्यपि अनारोग्य होता है, दोषोंके वैपरीत्यके बिना जिसको व्याधि कहा जा सकेगा ऐसी विकृति उत्पन्न नहीं हो सकती । दोषोंके रूक्षस्निग्धादि गुणों एवं उत्सर्जन पोषणादि कर्मोंका ऽहास याने न्यूनत्व और वृद्धि याने आधिक्य होनेसे अनारोग्य होता है, किन्तु

इति । सुश्रुतसंहितायां च । एवं प्रकुपितास्तास्तान् शरीरप्रदेशानागम्य तास्तान् व्याधीन् जनयन्ति । प्रकुपितास्तु खलु प्रकोपणविशेषात् दूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वृतयन्त्यपरिसंख्येयानिति चरकसंहितायाम् । वातादिदोषाणां वृद्धिक्षयप्रकोपावस्थावस्थितानां स्वकर्मवृद्धिक्षयकरत्वं रोगोत्पादकत्वं च चरकसंहितायामुपवर्णितं यथा - दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिंगं दर्शयन्ति यथात्रलम् । क्षीणा जहति लिंगं स्वं । पित्तादेवोष्मणः पाक्तिर्नराणामुपजायते । तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् । प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते । स चैवोजः स्मृतः काये स च पामोपदिश्यते । सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां मतः । तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपच्यते । कुपिता वैपरीत्यावस्थां गता वातादयः सर्वव्याधीनामुत्पादकाः (८-१०)

रुग्भेदा विविधास्तोदभेदनव्यधनादयः ।

संकोचो वेष्टनं कंपः स्पन्दनं स्तम्भनं तथा ॥ ११ ॥

विवंधश्च मलादीनां कुपितः कुरुतेऽनिलः ।

शूलो वातविकारेषु प्रधानो विविधः स्मृतः ॥ १२ ॥

वातप्रकोपोद्धवा विकारा यथा - रुग्भेदा इति शूलप्रकाराः । विविधा वक्ष्यमाणस्वरूपाः । तोदः सूच्यादिभिस्तुद्यत इव रुक् । भेदनं मिद्यत इव वेदनाविशेषः । व्यधनं तोदस्यैव प्रकारः । शूलसूच्या शलाकया वा तुद्यत इव रुग्विशेषः । संकोचः आकुंचनमिव स्नायुपेश्यादीनाम् । वेष्टनं परिवेष्टितवत् व्यथाविशेषः । कंपः कंपनम् । स्पन्दनं

जिसमें पीडा होती है ऐसा रोगत्व उत्पन्न होनेके लिये उनके (गुणकर्मोंके) वैपरित्यक्ताही अवश्यकता होती है । रोग शब्दकी निद्रक्तिही है, कि जो रुजा याने पीडा करता है उसको रोग कहना चाहिये । वातादि दोष यदि क्षीण हुए तो उनके गुणकर्मोंकाभी क्षय याने जहास होता है । अपने स्वाभाविक प्रमाणसे यदि वातादि दोषोंकी वृद्धि होती है तो उनके गुणकर्मोंकीभी वृद्धि होती है । उदाहरणार्थः— पचनका कर्ता पित्त यदि क्षीण हुआ तो पचनकीभी हानि होती है और पित्त बढनेसे पचन अधिक शीघ्र होने लगता है । किंतु दोष जब कुपित होते हैं तभी वैपरित्यको उत्पन्न करते हैं । अपने स्थानसे दूसरे स्थानमें दोषोंका प्रसर होता है जब प्रकोप कहते हैं । अष्टांगहृदयमें कहा है “ उन्मार्ग-गामिताही कोप कहा जाता है । ” सुश्रुतसंहितामें कहा है “ इसप्रकार प्रकुपित होते हुए शरीरके अन्यान्य विभागोंमें आकर भिन्न २ व्याधिओंका निर्माण करते हैं । चरकसंहितामेंभी कहा है “ दोष जब प्रकुपित होते हैं विशिष्टप्रकारके प्रकोपणके कारण तथा विशिष्ट दूष्यके कारण विशिष्ट प्रकारके अपरिसंख्येय विकारोंको

स्फुरणम् । स्तंभनं स्तब्धता पेश्यादीनामाकुंचनप्रसाराक्षमत्वम् । विबन्धो मलादीना-
मिति अवरोधः । शूलः इति पीडाकरो वेदनाविशेषः । वाताविकारेषु प्रकुपितवातोद्भव-
व्याधिषु । प्रधानः प्रमुखः । विविधो नानाविधः । वातप्रकोपात्समुद्भवानां व्याधीनां शूलात्म-
कत्वमिति । (११—१२)

विदाहश्च तथा कोथः स्त्रावः स्वेदश्च पाकिता ।

करोति कुपितं पित्तं प्रधानो दाह उच्यते ॥ १३ ॥

पित्तकोपोद्भावा विकारा यथा — विदाह इति दाहः । कोथः दाहाधिक्यात्
मांसादीनां विनाशकरः पाकः कोथ इति । स्त्रावः परिस्रवणं रुधिरक्लेदादीनाम् । स्वेद इति
स्वेदः । पाकिता संहतानां मांसादीनां परिपाटनं पाकस्तद्भावाः पाकिता । कुपितमिति
विपरीतभावमागतम् । पित्तं करोति । दाहश्चैतेषु विकारेषु प्रधान इति । (१३)

शोथो विबन्धः काठिन्यमुपलेपश्च शीतता ।

करोति कुपितः श्लेष्मा प्रधानः शोथ उच्यते ॥ १४ ॥

श्लेष्मणः कुपितस्य विकारा उच्यन्ते । शोथ इति अयथावत्संचयात्संजात उत्सर्धः ।
विबन्धः अवरोधः । संचयात्स्वाभाविकस्याभिसरणस्याभाव इति । काठिन्यं शोधावस्थायां
संचयस्याधिक्यात्काठिनस्पर्शवत्त्वम् । उपलेपः स्निग्धत्वस्याधिक्यात् लिप्तत्वमिव शीतता शैत्यम् ।
सर्वेषु प्रधानः शोथ इति । (१४)

वे उत्पन्न करते हैं ” चरकसंहितामें यहभी वर्णन किया गया है कि, वातदिदोष
वृद्धि व क्षय करते हैं और प्रकुपित अवस्थामें रोगोत्पत्ति करते हैं । चरकने कहा
है “ दोष प्रवृद्ध होनेपर अपने २ बलके अनुसार अपने २ लक्षणोंको प्रकट
करते हैं । पित्तकी उष्णतासेही मनुष्यका पचन होता है । वही पित्त प्रकुपित होनेपर
अनेक विकार उत्पन्न करता है । श्लेष्मा प्राकृत—स्वाभाविक स्थितिमें बलकारक
होता है । किंतु वही विकृत होनेपर मलरूप बन जाता है । शरीरमें स्वाभाविक
स्थितिमें जो ओज कहलाता है वही विकृतावस्थामें पाप्मा कहा जाता है । वायुके
कारणही सब हलचल होती है । उसीको प्राणियोंका प्राण माना गया है ।
उसीके कारण रोग उत्पन्न होते हैं और उसीसे उपरोध (क्रियाविरोध) होता
है । सारांश दोषोंके स्व २ स्थानीय कर्मोंमें जो विपर्यास उत्पन्न होता है उसीको
बेपरीत्य कहते हैं । वातादि दोष कुपित याने विपरीत होनेपरही सब व्याधीओंको
निर्माण कर सकते हैं । ८-१० ॥

अब वातके प्रकोपसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका वर्णन करते हैं । वात-

विक्षेपणं च पचनं पोषणं त्रिविधा : क्रियाः ।

शूलो दाहस्तथा शोथस्तासां विकृतयः स्मृताः ॥ १५ ॥

स्वभाविकस्य कर्मत्रयस्य वैषम्यं नाम विकारत्रितयमिति उच्यते । विक्षेपणं पचनं पोषणं च एतासां क्रियाणां क्रमात् शूलो दाहः शोथ इति विकृतयस्तिष्ठ इति । ॥ (१५)

स्थानान्तरेषु कर्माणि शरीरे विविधान्यपि ।

संचालने च पचने पोषणेऽन्तर्भवन्ति हि ॥ १६ ॥

विकाराश्चापि विविधास्तथा स्थानान्तरोद्भवाः ।

शूले दाहे तथा शोथे सर्वेऽप्यन्तर्भवन्ति ते ॥ १७ ॥

स्थानान्तरेष्वित्यादि । विविधान्यपि कर्माणि संचालनादित्रितयेऽन्तर्भवन्ति । तस्मात् विकाराः व्याधयः । स्थानान्तरोद्भवाः अवयवान्तरेषु समुत्पन्नाः । शूले दाहे शोथे च अन्तर्भवन्ति । संचालनाख्यस्य कर्मणो विकृतिः शूलः । पचनाख्यस्य विकृतिर्दाहः । पोषणाख्यस्य च शोथ इति सर्वविकाराणां शूलादित्रितयेऽन्तर्भाव इति । अत्र एवोक्तम् शूलं नर्तेऽनिका-
दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात् । इति (१६-१७)

स्वभावावस्थितो वायुरव्याहतगतिर्यदा ।

स्रोतःसंचालनात्सम्यगुत्सर्गादिक्रियाकरः ॥ १८ ॥

जन्म रूग्भेद याने शूलके प्रकार अनेक हैं । तोद-वारीक सुईके रोंचनेके समान पीडा), भेदन (मानो कोई फोड रहा है इस प्रकार पीडा), व्यधन (बड़े सुईसे रोंचनेके समान वेदना), स्नायु, पेशी आदिओंका संकोच, वेष्टन (परिघेष्टन समान पीडा), कंप, स्पंदन (स्फुरण), स्तंभन याने स्तब्धता (पेशीआदिके आकुंचनप्रसरणमें अक्षमत्व), मल आदिओंका विबंध याने अवरोध आदि सब विकार वातप्रकोपसे होते हैं और प्रायः वे सभी-शूलकेही प्रकार हैं । इसलिये वात विकारोंमें शूलही प्रधान माना जाता है । वातव्याधि शूलात्मकही होता है । ११ ॥ १२ ॥

पित्तप्रकोपके कारण बिहाद, कोथ [दाहके अधिक्यसे मांस आदिका सड़ना) रुधिर-क्लेद आदिका साव, स्वेद और पाकिता (मांसादि घन धातुओंमें विच्छिन्नता-छाले) आदि विकार होते हैं-किंतु पित्तप्रकोपजन्य विकारोंमें दाह प्रधान माना गया है । १३ ॥

श्लेष्मा प्रकुपित होनेसे शोथ याने सूजन (धातुओंके अयथाप्रमाण संचय-

स्रोतोरोधेनावरुद्धः संशोषाद्वाऽतिसंचयात् ।

चलस्वभावाद्उन्मार्गगतः पीडाकरो भवेत् ॥ १९ ॥

क्रद्धेन वायुना स्रोतःपेशीनां यत्प्रपीडनम् ।

क्रियतेऽनेकरूपं तत् शूल इत्यभिधीयते ॥ २० ॥

स्वभावावस्थित इति अविकृतः । अद्याहतगतिः अनिरुद्धसंचारः । स्रोतःसंचालनात् स्रोतसाम् अभिवहनमार्गाणां संचालनात् । आकुंचनप्रसरणात्मकात् उत्सर्गादिक्रियाकरो भवति । स्रोतोरोधेनेति पेश्यन्तर्गतस्रोतसामवरोधेन । अवरुद्धः प्रतिबद्धः । संशोषात् स्रोतसां शुष्कत्वात् । अतिसंचयात् स्रोतोगतानां द्रव्याणां संचयाधिकात् । चलस्वभावात् चलनात्मत्वात् । उन्मार्गगतः स्वाभाविकमार्गगतानां स्रोतसामवरोधात् अस्वाभाविकमार्गगतः पीडाकरो भवेदिति । शूलं लक्षयति । क्रद्धेन वायुना स्रोतःपेशीनामिति स्रोतोनिर्मापकानां मांससंघातानां प्रपीडनं क्रियते । अनेकरूपमिति पेशीस्वरूपानुसारेण नानारूपम् । तदिति प्रपीडनम् । शूलं अभिधीयते । स्रोतोरोधात् अस्वाभाविकमार्गप्रवृत्तेन वायुना पेशीनां विविधं प्रपीडनं शूलो नानाविध इति । (१८-२१)

प्रमाणावस्थितं पित्तं स्ववीर्येण विभाजनम् ।

करोत्यन्नस्य धातूनां कर्म तत्पचनं स्मृतम् ॥ २१ ॥

धातून्संदूषयेत्पित्तमाहारमपि दूषितम् ।

कोही शोथ-सूजन कहते हैं ।) विबन्ध याने अवरोध (संचयके कारण स्वाभाविक अभिसरणको जो विरोध होता है उसको विबन्ध कहते हैं ।), काठिन्य-शोषकी अवस्थामें संचयाधिक्यके कारण कठिनस्पर्शत्व उत्पन्न होता है ।), उपलेप (स्निग्धत्वके आधिक्यसे उत्पन्न होनेवाला लिप्तत्व) और शीतता आदि विकार उत्पन्न होते हैं । किंतु उनमें शोथही प्रधान माना जाता है । १४ ॥

विक्षेपण, पचन, व पोषण ये तीन स्वाभाविक क्रियायें हैं और अनुक्रमसे उनकीही विक्रियायें शूल, दाह व शोथ होती हैं । १५ ॥

जिसप्रकार शरीरके भिन्न २ स्थानोंकी स्वाभाविक क्रियायें अनेक होकर भी उन सबका संचालन, पचन व पोषण इन तीन क्रियाओंमेंही समावेश हो जाता है; उसीप्रकार स्थानभेदके अनुसार विकारोंकी अनेकता होनेपर भी वे सभी शूल, दाह व शोथ इन तीन विकारोंमें अंतर्भूत होते हैं । अर्थात् संचालनकर्मकी विकृति शूल, पचनकी दाह और पोषणकी शोथ । इसीलिये कहा है “वायुके बिना शूल, पित्तके बिना दाह और कफके बिना शोथ हो नहीं सकते । ” १६॥१७॥

तैक्ष्ण्यमुत्पद्यते तेन पाकः कोथश्च जायते ॥ २२ ॥

व्रणोत्पत्तिकरः पाकः पेशीनां स्रोतसामपि ।

वैद्गध्यमुपतापश्च स दाहः परिकीर्तितः ॥ २३ ॥

वैषम्यं प्राप्तस्य पित्तस्य पाककोथादिस्वरूपं विकृतं कर्म विशदीकर्तुमुच्यते । प्रमाणा-
वस्थितमिति स्वभावावस्थितम् । स्ववीर्येण स्वीयेन गुणविशेषेण । विभाजनं पचनं पृथ-
करणं वा । अन्नस्य इति भुक्ताहारस्य । धातूनां रक्तादीनाम् । तत् पचनं पचनाख्यं कर्म ।
दूषितं पित्तं धातून् आहारं च सन्दूषयेत् । ततश्च तैक्ष्ण्यमुत्पद्यते । तेन तैक्ष्ण्येन पाकः कोथश्च जायते ।
व्रणोत्पत्तिकर इति व्रणसंजननः । पेशीनां स्रोतसां चेति पाकशब्देनान्वयः । पेशीषु
स्रोतःसु च व्रणोत्पत्तिकरः पाक इति । वैद्गध्यमिति अतिपाकः । उपतापः अधिकतरोऽन्मा
ताप इति । स दाहः परिकीर्तितः इति दाहसंज्ञयोपदिष्टः । पित्तं प्रकुपितं धात्वादिषु तैक्ष्ण्यो-
त्पादनात् यदा उपतापं जनयेत् तदा दाहः, यदा च व्रणोत्पत्तिकरं तदा पेशीनां पेशीविनिर्मितानां
स्रोतसां च पाकः कोथश्च भवेदिति । (२१-२३)

संग्रहात्पोषकांशानां संश्लेषाच्च परस्परम् ।

स्वभावावस्थितः श्लेष्मा कुरुते कर्म पोषणम् ॥ २४ ॥

उत्सर्जनस्य हीनत्वात्संग्रहस्यातियोगतः ।

स्वाभाविक याने अविकृत स्थितिमें वायुकी गति अव्याहत रहती है ।
स्रोतसोंके याने अभिवहनमार्गोंके आकुंचनप्रसरणात्मक संचालनसे अनिरुद्ध
संचारका वायु उत्सर्गादि क्रियाओंको करता है । स्रोतसोंके संशोषसे याने शुष्क
होजानेसे अथवा स्रोतोगत द्रव्योंका अधिक संचय होनेसे वायु अवरुद्ध होकर
चलस्वरूपके कारण उन्मार्गगामी बनना है । और इसतरह अस्वाभाविक मार्गसे
जाता हुआ वह पीडा-दुःख करता है । वृद्धवायु स्रोतसोंके पेशीओंको जो पीडा
करता है उसको शूल कहते हैं । पेशीओंके आकृतिस्थिति आदिके अनुसार
शूलकेभी नानाविध भेद होते हैं । १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

स्वाभाविक स्थितिमें पित्त अपने वीर्यसे याने विशिष्ट गुणोंसे अन्नका याने
भुक्त आहारका तथा धातुओंका जो विभाजन याने पृथकरण करता है उसको
पचन कहते हैं । पित्त दूषित होनेपर धातुओंको तथा आहारकोभी दूषित करता
है । जिसके कारण तीक्ष्णता उत्पन्न होती है । तीक्ष्णताके कारण पाक व कोथकी
उत्पत्ति होती है । पाकके कारण पेशीओं व स्रोतसोंमें व्रण उत्पन्न होते हैं ।

जायते संचयः शोथः स एव परिकीर्त्यते ॥ २५ ॥

संग्रहात्पोषकांशानामिति आहाराकृतानां पोषकद्रव्यांशानां यथावत्संग्रहात् । संश्लेषात् पोष्यपोषकांशानां सन्निकर्षात् । स्वभावावस्थित इति अविकृतः श्लेष्मा पोषणं कर्म कुरुते । उत्सर्जनस्येति मलानां शरीराद्वहिर्धानां च स्थानान्तरे । प्रक्षेपणस्य हीनत्वादल्पतात् । संग्रहस्य इति पोषकांशानाम् । अतियोगतः आधिक्यात् । संचयः स्थानविशेषे उचितादधिकसमयमवस्थितिः संचयः । स एव शोथ इति परिकीर्त्यते । (२४-२५)

बहवश्चानेकरूपा व्याधयः सम्भवन्त्यपि ।

नातिक्रामन्ति ते शूलो दाहः शोथ इति त्रयम् ॥ २६ ॥

बहव इति ज्वरयक्ष्मादयोऽनेकसंज्ञामिरभिहिताः । अनेकरूपा इति विमललक्षणाः । व्याधयः शूलो दाहः शोथ इति त्रयं नातिक्रामन्ति । व्याधीनां बहुत्वेऽपि शूलदाहशोथेषु सर्वेषामन्तर्भाव इति । (२६)

शूलात्मकास्तथा दाहात्मकाः शोथात्मका इति ।

स्थानान्तरगताः सर्वे भिद्यन्ते व्याधयस्त्रिधा ॥ २७ ॥

व्याधीनां सर्वेषां शूलदाहशोथात्मकत्वात् शूलात्मकाः केचित् केचित् दाहात्मकाः शोथात्मकाश्च केचिदिति स्थानान्तरगताः अवयवविशेषेष्वाश्रिताः सर्वे व्याधयः त्रिधा भिद्यन्ते । त्रिविधरूपा भवन्तीति । (२७)

पाककी अधिक मात्रा होनेको वैदग्ध्य और ऊष्माकी अधिक मात्राको उपताप कहते हैं । इन दोनोंमें दाह होता है । पित्त अकुपित होकर धात्वादियोंमें तैक्ष्ण्योत्पादनके कारण जब उपताप उत्पन्न करता है तब उसको दाह कहते हैं और जब स्रोतसों व पेशियोंमें त्रण उत्पन्न करता है तब उसको कोथ कहते हैं ।

२१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

आहाराकृष्ट पोषक द्रव्यांशोंके यथाप्रमाण संग्रहद्वारा तथा पोष्यपोषक अंशोंके संश्लेष याने संघटनेके द्वारा श्लेष्मा स्वाभाविक स्थितिमें पोषणका कर्म करता है । किंतु विकृत स्थितिमें उत्सर्जनकी हीनताके कारण याने जब मलोंका शरीरके बाहर तथा एक धातुका अन्य धातुमें उत्सर्जन (प्रक्षेपण) अल्प प्रमाणमें होता है, अथवा पोषक अंशोंका संग्रह अधिक प्रमाणमें होता है--विशिष्ट स्थानोंमें जो संचय होने लगता है याने संगृहीत अंश उचित समयसे अधिक कालतक एकही स्थानमें रहने लगते हैं तब उस स्थितिको शोथ कहते हैं । २४ ॥ २५ ॥

ज्वर, यक्ष्मा आदि अनेक संज्ञाओंकी और अनेक रूपोंकी याने भिन्न २

वातप्रकोपो व्याधीनां हेतुः शूलात्मनां मतः ।

शूलात्मकाः समाख्याता व्याधयो वातसम्भवाः ॥ २८ ॥

पित्तप्रकोपो व्याधीनां हेतुर्दाहात्मनां मतः ।

दाहात्मकाः समाख्याता व्याधयः पित्तसम्भवाः ॥ २९ ॥

श्लेष्मप्रकोपो व्याधीनां हेतुः शोथात्मनां मतः ।

शोथात्मकाः समाख्याता व्याधयः श्लेष्मसम्भवाः ॥ ३० ॥

शूलात्मनां व्याधीनां वातप्रकोपो हेतुरिति वातसम्भवाः शूलात्मकाः । दाहात्मनां च पित्तप्रकोप इति दाहात्मकाः सर्वे पित्तसम्भवाः । शोथात्मनां च श्लेष्मप्रकोपो हेतुरिति शोथात्मका व्याधयः श्लेष्मसम्भवाः समाख्याताः । वातपित्तश्लेष्मोद्भवा व्याधय इति आख्याते शूलात्मकत्वं दाहात्मकत्वं शोथात्मकत्वं चेति व्याधीनां स्वरूपदर्शनमित्यभिप्रायः । (२८-३०)

नानाविधानां वाताद्याः कर्मणां हेतवो यथा ।

विविधानां विकाराणामपि ते हेतवस्त्रयः ॥ ३१ ॥

वाताद्या यथा सर्वकर्मणां हेतवस्तथा विविधानां विकाराणामपि हेतवः । विषमाणि कर्मा-
ण्येव विकारा इति । (३१)

व्याधीनामामता पच्यमानता पक्वता तथा ।

लक्षणोंकी व्याधियां यद्यपि दोषोंके प्रकोपके कारण उत्पन्न होती हैं, उन सबका शूल, दाह व शोथ इन तीन प्रकारोंमेंही समावेश होता है । २६ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि भिन्न २ स्थानके व्याधिओंके तीनही प्रकार किये जा सकते हैं—१ शूलात्मक व्याधियां, २ दाहात्मक व्याधियां, तथा ३ शोथात्मक व्याधियां । अन्यान्य अवयवोंमें होनेवाली सब व्याधिओंका इसप्रकार त्रिविध वर्गीकरण हो सकता है । २७ ॥

शूलात्मक व्याधियां वातप्रकोपके कारण होती हैं इसलिये उनको वातो-
द्भव व्याधियां कहते हैं । दाहात्मक व्याधियां पित्तप्रकोपके कारण होती हैं इस-
लिये उनको पित्तोद्भव व्याधियां कहत हैं । शोथात्मक व्याधियां श्लेष्मप्रकोपके
कारण होती हैं इसलिये उनको श्लेष्मसंभव व्याधियां कहते हैं । अर्थात् प्रतिपादनका
अभिप्राय यही है कि, यद्यपि व्याधिओंको वातसंभव, पित्तसंभव व श्लेष्मसंभव
ऐसे नाम दिये जाते हैं उनका वास्तवमें स्वरूप शूलात्मक, दाहात्मक व शोथा-
त्मकही रहता है । २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

श्लेष्मापित्तानिलै स्तिस्रश्चावस्थाः सम्भवन्ति हि ॥ ३२ ॥

व्याधीनामित्यादि । शूलदाहशोथात्मकादिभेदवत् व्याधीनां प्रत्येकम् आमता इत्या-
मावस्था पच्यमानता पच्यमानावस्था पक्वता पक्वावस्था इत्यवस्थास्तिस्रः सम्भवन्तीति ।
(३२)

व्याधुत्पत्तिकरं द्रव्यमपक्वं पाचकाग्निना ।

स्थानान्तरगतं दुष्टमाख्यातं चामसंज्ञया ॥ ३३ ॥

व्याध्यवस्थाविभागानां विशदीकरणार्थं व्याधुत्पत्तिकारणमामाख्यं द्रव्यं विवृणोति ।
व्याधुत्पत्तिकरमिति रोगोत्पत्तिकारणम् । वातादीनां दोषाणां रोगोत्पादकत्वेऽभिहिते कथं वा
पुनरामाख्यस्य द्रव्यस्य रोगोत्पादकत्वमिति ? उच्यते । वातादीनां चलनपचनपोषणकर्मणामन्य-
तमे विकृतिमापन्ने ताद्विकृत्यैवामः स्थानान्तरेण संजातो विकाराणामभिव्यक्तिकर इति ।
द्रव्यमित्याहाररूपं पचनस्थानगतं धातुन्तराणि चेति । अविपक्वाहारवदविपाकाद्विकृता धातवोऽपि
विकारोत्पादका इति । तत एव रसादिधातूनां प्रदुष्टानां विकारा उपवर्णिताः । यथा चरकसहि
तायाम् । अथद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता । हृह्रासो गौरवं तन्द्रा सांगमदो ज्वरस्तमः ।
इत्याद्या रसदोषप्रभवाः । कुष्ठवोसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दरः । इत्यादयो रक्तदोषात् । अधि-
मांसार्बुदं कालगलशाल्मकशुंडिकाः । इत्यादयो मांसप्रदोषजन्याः । प्रमेहादयश्च भेदोदोषजाः ।
अध्यस्थिदन्तादयश्चास्थिदोषसंभवाः । रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा इत्याद्या मूलादोषोद्भवाः । ह्येया-

नानाविध स्वाभाविक क्रियायै जिसप्रकार वातादि दोषोंके कारण हुआ
करती हैं, वैसेही नानाविध विकारभी वातादि दोषोंके कारणही होते हैं । विषम-
कर्मकाही अर्थ है विकार । ३१ ॥

कफ, पित्त व वायुके कारण व्याधिओंकी तीन अवस्थायें माननी पडती
हैं—१ आमावस्था २ पच्यमानावस्था और ३ पक्वावस्था । ३२ ॥

व्याधिओंकी आमादि तीन अवस्थाओंका यथार्थ स्पष्टीकरण होनेके लिये
व्याधिकारण आमद्रव्यका स्वरूप विशद करना अवश्य है । सामान्यतः सर्व विका-
रोंका मुख्य कारण विकृत वादादि दोषही हैं । किंतु वातादि दोषोंके पचन-
चलनादि कर्मके विकृतिसे निर्माण हुआ आमही भिन्न २ स्थानोंमें प्रकटरूप
व्याधिविशेषकी उत्पत्ति करता है । पचन स्थानमें (पाचक द्रव्यकी न्यूनतासे ।
अविपाचित आहार एवं रसादि धातु भिन्न २ व्याधिओंके उत्पादक होते हैं । ऐसे
रोगोत्पादक द्रव्यकोही आम कहते हैं । अविपाचित अवस्थामें रोगोत्पादक होनेसेही
दुष्ट-विकृत-रसक्तादि धातुओंके विकारोंका वर्णन किया गया है । जैसे चरक-

हर्षणादयश्च शुक्रदोषजन्याः परिकीर्तिताः । अपक्वमिति अप्राप्तपाकमयथावत्पाकं चेति । पचनस्वभावादपि पित्तादभिवृद्धादजर्णं जायते इत्युक्तत्वात् । पाचकाग्निना जठराग्निना धात्वग्निना च । धात्वन्तर्गतोऽन्मा धातुपाकात्पाचक इति । स्थानान्तरगतमिति शरीरावयवेष्ववस्थितम् । दुष्टं अयथावत्पाकात् विकृतिमापन्नम् । आमसंज्ञया आम इत्यभिधानेन । आख्यातम् । पचनस्थानगतमन्नं शरीरं वा द्रव्यान्तरमविषकं दुष्टं चामसंज्ञितमिति भावः । वाग्मटेनोक्तमष्टांगहृदये — “ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमायमपाचितम् । दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते । ” आमाशयशब्दोऽत्र अविषक्वद्रव्यश्रयार्थः । अन्यथा आमाशयगतमिति विशेषणं रसस्यानर्थकं स्यात् । आद्यो रसाख्यश्च धातुरामाशयगतो न भवतीति । अष्टांगहृदय एव — ध्यानेन रसधातुर्हि विशेषोचितकर्मणा । युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा । इत्युपवर्णनात् हृदयं रसस्थानमाख्यातम् । आद्यशब्देनाहारपरिणामोद्भवस्यान्नसारस्य स्वीकारेऽपि आमाशयगतत्वं न संगच्छते । आमाशयस्य शुद्धात्रापस्पर्शस्य सूक्ष्मस्रोतोभ्यः प्रसवणानन्तरमाहारसत्त्वमिति । महास्रोतोविभागादन्य आमाशयश्चाख्यातो वाग्मटेन । यथा रंजकपित्तवर्णने “आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रसरंजनादिति । रसरंजनं तु यकृच्छीन्होरित्याख्यातं सुश्रुतसंहितायाम् । स खलु आप्यो रसः यकृच्छीहानौ प्राप्य रागमुपैतीति । सुश्रुतसंहितायां विषमज्वरवर्णने — अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात्स्थानं प्रपद्यते । ततश्चात्रामाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम् । इत्यत्रामाशयशब्देन धात्वन्तरमासाश्रयसमिप्रेतगधिगम्यते । यत आमाशयदुष्टिव्यतिरेकेण धात्वन्तरगतदोषाद्विषम-

संहितामें कहा है —

अश्रद्धा, (आहारसंबंधी अनिच्छा) अरुचि, (पदार्थोंके स्वादका अवास्तव ज्ञान) मुखवैरस्य (मुखमें अवास्तव रुचि-कडवी खारि इ.) अरसज्ञता (पदार्थोंके रुचिका अज्ञान) हृल्लास, गौरव, तंद्रा, अंगमर्दके साथ ज्वर, आदि विकार रस धातु दुष्ट होनेके कारण होते हैं । कुष्ठ, विसर्प, पिडका, रक्तपित्त, प्रदर इत्यादि रोग रक्त दुष्ट होनेके कारण होते हैं । मांस दुष्ट होनेसे अधिमांस, अर्बुद, कील, (काटिण मांसांकुर) गलशाळूक, (एक कंठविकार) शुंडिका (एक कंठविकार) आदि विकार होते हैं । मेदोदोषके कारण प्रमेहादि विकार होते हैं । अस्थिदोषके कारण अधिदंतादि विकार होते हैं । मज्जा दुष्ट होनेसे पर्वोंमें (संधिओंमें) पीडा भ्रम, मूर्च्छा आदि विकार होते हैं । और शुक्र दोषके कारण क्लेब्य, अहर्षण (निरुत्साह) आदि विकार होते हैं ।

अपक्व शब्दके जिसका पाक हुआ नहीं अथवा जिसका पाक अव्यवस्थित रीतीसे हुआ है ऐसे दोनों अर्थ होते हैं । पित्तका स्वाभाविक कार्य पचन होते

ज्वरः । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् — दोषोल्पयोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्यवा पुनः । धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् । तथा — धात्वन्तरस्थो लीनवान्न सौक्ष्म्यादुपलक्ष्यत इति । एते नामाशय इति यथावत्पचनाभावादामावस्थितो धातुविशेषः स्थानविशेषो वेऽत्यधिगम्यते । कोष्ठान्तर्गतस्यैवामाशयस्यांगीकारात् कोष्ठविकृतिरहितानां व्याधीनां तदुत्पादकदोषाणां च सामत्वं नोपपद्यते । तस्मात्स्थानान्तरेष्वपाचितं द्रव्यमामस्तदाश्रयस्थानमामाशयश्चेति । रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते । मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जातः शुक्लसम्भवः । इति परिपाट्याऽनया धातोर्धात्वन्तरोत्पत्तौ पूर्वधातुस्वरूपं विहायोत्तरधातुत्वे परिणामात्पूर्वरसरूपेणावस्थितो धातुसार आद्यो रसाख्यो धातुरित्यनया कल्पनया वाग्भटोक्तं आद्यं रसं चेति अभिधानद्वयमनुगतार्थम् । अन्यथा—रसासृङ्मांसमेदोस्थिमज्जशुकाणि धातवः । इत्यानुपूर्व्यनुसारादाद्यशब्देन रसत्वे सिद्धे रसमिति पुनराख्यानमनर्थकं रसशब्दप्रयोगे वा आद्यमिति विशेषणे पौनरुक्त्यम् । अपक्वमयथावत् विपक्वं वा द्रव्यं शरीरान्तर्गतं दुष्टमामसंज्ञं रोगोत्पादकमित्यभिप्रायः । (३३) ।

आमद्रव्यं तु भुक्तादेः कारणस्यानुरोधतः ।

दोषप्रकोपणं देहे सर्वतः परिसर्पति ॥ ३४ ॥

आमद्रव्यं पूर्वोक्तम् । भुक्तादेः कारणस्यानुरोधत इति भुक्तद्रव्याणां गुणात्सुसारतः । दोषप्रकोपणम् वातादीनामन्यतमस्य प्रदूषणम् । रूक्षादिगुणभूयिष्ठेन प्रदुष्टेनाहारेण

हुएभी पित्त अभिवृद्ध होनेसे अजीर्ण उत्पन्न होता है । पाचक अग्नि-केभी दो अर्थ हैं—एक जाठराग्नि और दूसरा धात्वग्नि । धातुओंके अंदर रहनेवाला ऊष्मा धातुओंका पचन करता है इसलिये उसकोभी पाचकाग्निही कहते हैं । दुष्टका अर्थ है अनुचित पाकके कारण विकृत्तिको प्राप्त । उक्त संज्ञाओंके ये अर्थ ध्यानमें रखकरही प्रस्तुत श्लोकके अभिप्रायको समझना चाहिये । इन संज्ञाओंमें ‘आम’ संज्ञाका विशेष स्पष्टीकरण देनेकी अवश्यकता है । पचन-स्थानमें गया हुआ अन्न अथवा अन्य कोई शारीरद्रव्य (धातु आदि) जब अविपक्व व दुष्ट हो जाता है तब उसको ‘आम’ कहते हैं । वाग्भटने अष्टांगहृदयमें कहा है “ऊष्माके अल्पबल होनेके कारण आमाशयगत आद्य धातु जो रस वह जब अपाचित रह जाता है तब उसको आम कहते हैं ।” यहांपर आमाशयशब्दसे अभिप्रेत है अपक्व द्रव्यके सभी आश्रयस्थान । अन्यथा आमाशयगत यह रसका विशेषण अनर्थक हो जायगा । आद्य रसनामका धातु आमाशयमें (जठरमें) नहीं रहा करता । अष्टांगहृदयमेंही कहा है “व्यानवायुके द्वारा हृदयमेंसे रस धातु

वातप्रकोपः उष्णतीक्ष्णादिगुणभूयिष्ठेन पित्तप्रकोप इत्यादि । देहे सर्वतः परिसर्पति (३४) ।

स्थानान्तरस्य वैगुण्यात् विसर्पन् यत्र सज्जति ।

विकारं कुरुते तत्र धातूनां संप्रदूषणात् ॥ ३५ ॥

स्थानान्तरस्येति शाखाकोष्ठगताद्यानामवयवानाम् । वैगुण्यात् विकृतेः । विसर्पन् परिसर्पन् इति आमिनातुसंधेयम् । सज्जति अवस्थेति । तत्र स्थानान्तरे धातूनां स्थानान्तरगतानां रसरक्तादीनाम् । संप्रदूषणात् विकारं कुरुते । (३५)

वातपित्तकफा दोषाश्चामद्रव्येण मूर्च्छिताः ।

शरीरस्थान् दूषयन्ति सर्वतः परिसर्पणात् ॥ ३६ ॥

वातपित्तकफा इति आमोत्पत्तिस्थानाश्रिता दोषाः । आमद्रव्येण मूर्च्छिताः । मिश्रीभूताः । शरीरस्थान् शरीरगतान् दोषभेदान् धातुंश्चेति शेषः । दूषयन्ति । सर्वतः परिसर्पणात् शरीरे सर्वत्र संचारात् । (३६)

आमद्रव्येण संयुक्ता वातपित्तकफास्त्रयः ।

दुष्टाश्च व्याधिविज्ञाने निर्दिष्टा दोषसंज्ञया ॥ ३७ ॥

आमद्रव्ययुता दोषा व्याधिविज्ञाने दोषसंज्ञया निर्दिष्टा इति । व्याधिविज्ञाने दोषशब्दात् आमयुक्तदोषाणां ग्रहणमिति । दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च मयात् शोकाच्च षड्विधः । अतिसारः । इत्या-

सब शरीरमें एकसाथ फैका जाता है ।” इससे स्पष्ट है कि, रसधातुका स्थान हृदय है आमाशय नहीं है । यद्यपि यह मानलिया कि आय शब्दका अर्थ विपाचित होकर विभाजन क्रियाके कारण जो अन्नका साररूप भाग पृथक् होता है, तोभी उसकाभी स्थान आमाशय (जठर) नहीं है । आमाशयका अर्थ क्षुद्रांत्र लेनेसेभी उचित अर्थ नहीं होता । कारण क्षुद्रांत्रके सूक्ष्म स्रोतस्रोतोंमेंसे आहारांश आकृष्ट होनेपरही उसको आहारसका स्वरूप प्राप्त होता है । अर्थात् इस आहाररसका स्थान क्षुद्रांत्रकेभी अतिरिक्त है । इसप्रकार जठर एवं क्षुद्रांत्रसेभी यहांपर आमाशयका ग्रहण नहीं हो सकता । बारभटने महास्रोतोविभागकेभी अतिरिक्त आमाशय बतलाया है । जैसे रंजक पित्तके वर्णनमें वह कहता है “ आमाशयाश्रयी पित्त रसका रंजन करनेसे रंजक कहलाता है ।” सुश्रुतके कथनानुसार रसका रंजन यकृत व प्लीहामें होता है । सुश्रुत संहितामें कहा है “ वह आप्य रस यकृत व प्लीहामें जाकर पाक व रागको प्राप्त करता है ।” विषमउवरके वर्णनमें सुश्रुतने कहा है “ वह (आम) अहो-

दिषु दोषैरिति आमद्रव्यसहितैः समैर्दोषैरित्यधिगन्तव्यमिति । (३७)

संचयश्च प्रकोपश्च प्रसरः स्थानसंश्रयः ।

दोषाणामामयुक्तानामेव स्यात् व्याधिकारकः ॥ ३८ ॥

संचयादयश्च दोषाणां आमयुक्तानामेव व्याधिकारका इति । निरामत्वे व्याधुत्पादनस्या-
सम्भवात् । (३८)

रूक्षं शूलकरं चामद्रव्यं तद्वातसंज्ञकम्

आमद्रव्यं पित्तसंज्ञमुष्णं तीक्ष्णं विदाहकृत् ॥ ३९ ॥

स्निग्धं शोथकरं चामद्रव्यं स्यात् श्लेष्मसंज्ञकम् ।

निदानोक्तावामदोषशब्दौ पर्यायवाचकौ ॥ ४० ॥

रूक्षमित्यादि । रूक्षादिगुणं शूलकरं च आमद्रव्यं वातसंज्ञम् । उष्णं तीक्ष्णं विदाह-
कृच्च आमद्रव्यं पित्तसंज्ञम् । स्निग्धं शोथकरं च श्लेष्मसंज्ञम् । एवं निदानोक्तौ रोगविज्ञाने प्रयुक्तौ
आमदोषशब्दौ आमो दोषश्चेति शब्दौ । पर्यायवाचकौ एकार्थवाचकाविति । आमयुक्तानां
वातादीनां व्याधुत्पादकत्वात् रूक्षादिगुणयुक्तस्यामस्यैव वातादिदोषसंज्ञयाऽख्यायामिति । (४०)

अविषक्वाहाररसस्त्वाम इत्यभिधीयते ।

दुष्टं देहगतं चान्यत् द्रव्यमप्यामसंज्ञकम् ॥ ४१ ॥

रात्रमें अन्यान्य स्थानोंमें जाता हुआ जब आमाशयमें आता है विषमज्वर को उत्पन्न करता है । ” यहांपर आमाशय शब्दसे स्पष्ट अभिप्राय है अन्यान्य धातुओंका—जोभी आमके आश्रयस्थान होते हैं । कारण आमाशयकी (जठर अथवा क्षुद्रांत्र) विकृतिके अभावमेंही अन्य धातुगत दोषके कारण विषम ज्वर उत्पन्न होता है । सुश्रुतनेही कहा है “ जिसका ज्वर निकल गया हो ऐसे मनुष्यका अपथ्यसेवनसे अल्प दोष किसी रसादि धातुमें जाकर विषमज्वरको उत्पन्न करता है । ” तथा “ धातुओंमें लीन दोष सूक्ष्म होनेके कारण ध्यानमें नहीं आता ” । इन वचनोंसे यह स्पष्ट होता है कि यहांपर आमाशयसे जिसमें अयोग्यपाचित द्रव्यरूप आम रहता है वह विशिष्ट धातु अथवा विशिष्ट स्थानही अभिप्रेत है । यदि यही मान लिया जाय कि कोष्ठान्तर्गत आमाशयही यहांपर अभिप्रेत है तो आपत्ति यह होगी कि, कोष्ठ विकृतिओंके अतिरिक्त व्याधिओंमें तथा उनके उत्पादक दोषोंमें आमत्व रहताही नहीं । इसलिये मानना अवश्य है कि, अन्यान्य स्थानोंमें जो अपाचित द्रव्य रहता है उसकोही

अविषक्वाहाररस इति अपक्वस्य अयथावद्विषक्वस्य वा आहारस्य रसः ।
आम इति आमसंज्ञया अभिधीयते । तथा दुष्टं विकृतं विकारोत्पादकं च । द्रव्यं धातूपधातु-
रूपम् । द्रव्यं आमसंज्ञकम् । (४१)

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयागतं रसमामं प्रचक्षते ॥ ४२ ॥
अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् ।
कोद्वेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम् ॥ ४३ ॥
इत्याख्यातं ततः सर्वशरीरे धातुदूषणात् ।
व्याध्युत्पत्तिकरं यच्च पोषणानुपयोगि यत् ॥ ४४ ॥
मलस्वरूपं तत्सर्वमाम इत्यभिधीयते ।
विदग्धं वा शरीरस्थमपथ्यं वा स्वभावतः ॥ ४५ ॥
येन द्रव्येण धातूनामुत्पत्तिरभिवर्धनम् ।
न जायते जायते च विकृतिर्विविधात्मिका ॥ ४६ ॥
आमाभिधानं तत् द्रव्यं शरीरस्यापकारकम् ।
अभिप्रायस्तत्रकृतामयमेवाधिगम्यते ॥ ४७ ॥

आम कहना चाहिये और उस द्रव्यके आश्रयस्थानको आमाशय कहना चाहिये । वाग्भटने आमके जो 'आद्य' व 'रस' ये दो विशेषण दिये हैं उसमेंभी समुचित गर्भितार्थ है । " रससे रक्त उत्पन्न होता है, रक्त से मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा व मज्जासे शुक्र उत्पन्न होता है । " यह जो धातुओंके उत्पत्तिका क्रम बतलाया गया है उसमें पूर्वधातु उत्तर धातुमें परिणत होते समय अपने पूर्वरूपको छोड़ता है और उत्तरधातुमें पूर्ण परिणत होनेके पहिले रसावस्थाको प्राप्त करता है, यह कल्पना अभिप्रेत है । अर्थात् पूर्ण परिणत उत्तर धातुकी पूर्व अथवा आद्य अवस्था रसरूपकीही होती है । इस कल्पनासेही वाग्भटने 'आद्य' व 'रस' इन दोनो विशेषणोंका प्रयोग किया है । अन्यथा रस, रक्त, मांस, मेद आदि सप्त धातुओंमें आद्य धातु रसही होनेके कारण आद्य शब्दका प्रयोग अनर्थक अथवा पुनरुक्तिदोषयुक्त हो जायगा । सारांश अनुचित रीतीसे विषक्व अथवा अपक्व ऐसे शरीरांतर्गत दुष्ट द्रव्यों-कोही आम कहना चाहिये और साक्षात् उसीके कारण रोग उत्पन्न होता है । ३३॥

ऊष्मण इत्यादि । वाग्भट्टोक्तमामलक्षणं यथा—**ऊष्मणः** जाठराग्नेर्धात्वग्नीनां च । **अल्पबलत्वेन** सामर्थ्यहीनतया । **धातुमाद्यं** पूर्वधातुमुत्तरधात्वपेक्षया । **दुष्टमिति** विकृतम् । **आमाशयगतमिति** यकृद्गतम् । रंजकपित्तवर्णने “आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रस-रंजनादित्युक्तत्वात् । **रसमित्याहारसं** धातूनामाद्यरसस्वरूपं च । आमं प्रचक्षत इति । अप-क्वमाहारसं तथा धातूनामाद्यमुत्पादकरसं च दुष्टमामप्रचक्षत इति । अन्यच्च वाग्भट्टोक्त-मामलक्षणं यथा—**अन्ये** इत्याचार्याः । **दोषेभ्यो** वातादिभ्यः **अतिदुष्टेभ्यः** अतिविकृतेभ्यः । **अन्योन्यमूर्लनादिति** परस्परं मिश्रीभावात् । **कोद्वेभ्य** इति तृणधान्यविशेषात् । विषस्ये-वामसंभवं वदन्तीति । दुष्टदोषसंमिश्रणप्रभावादामद्रव्योत्पत्तिरिति । **इत्याख्यातमुपवर्णितम् ।** **ततः** हेतोः । सर्वशरीरे । **धातुदूषणात्** धातूनां रसादीनां वैषम्योत्पादनात् । **व्याध्युत्प-त्तिकरं** रोगोत्पादकम् । **पोषणानुपयोगि** शरीरपोषणयाक्षमम् । **मलस्वरूपं**—मलिनी-करणामल इति—शरीरे मालिन्योत्पादकमुत्सर्जनार्हम् । तत्सर्वं द्रव्यमाम इति । विदग्धं वेत्यादिना पुनरामद्रव्यं लक्षयति । **विदग्धमिति** विरुद्धविपाकात् परिदग्धतां गतम् । स्वभावतोवाऽपथ्य-मिति क्षारशुक्तादिकं तथा दुर्जरं दूषितान्नमित्यादि । येन च द्रव्येण धातुनामुत्पत्तिरभिवर्धनं न जायते विकृतिश्च जायते तत् शरीरस्यापकारकं द्रव्यमामभिधानमामसंज्ञमिति । विकारो-त्पादकं द्रव्यं सर्वं सामान्येनामसंज्ञमिति तत्रकृतामभिप्राय आमवर्णनादधिगम्यते । (४२-४७)

शारीरद्रव्यभिन्नं यत् क्रियावैषम्यकारकम् ।

आहार द्रव्योंके गुणोंके अनुसारही यह आम द्रव्य दोषोंका प्रकोपण बनकर शरीरमें सर्वत्र संचार करता है । याने रूक्षादिगुणभूयिष्ठ प्रदुष्ट आहारसे वात प्रकोप होता है । उष्णतीष्णादिगुणभूयिष्ठ आहार दुष्ट होनेपर पित्तको प्रकुपित करता है । और स्निग्धशीतादिगुणभूयिष्ठ आहारके दुष्ट होनेके कारण श्लेष्माका प्रकोप होता है । ३४ ॥

किसी विशिष्ट स्थानके-शाखाकोष्ठगत आदि अवयवके-वैगुण्यसे याने विकृतिसे-आम जब उस स्थानपर पहुँचता है, अवरुद्ध होकर वहाँके धातुओंको दूषित करता हुआ वह विकारको उत्पन्न करता है । ३५ ॥

आमोत्पत्ति जहाँ होती है उस स्थानके वातपित्तकफ दोष आम द्रव्य उनमें मिश्रित होनेके कारण दुष्ट हो जाते हैं । और सर्वत्र परिभ्रमण करते हुए शरीरस्य अन्य दोषभेदोंको तथा धातुओंकोभी दूषित करते हैं । व्याधिविज्ञानमें दोषसंज्ञासे जिनका निर्देश आता है । वे स्वाभाविक स्थितिके क्रियाकारी दोष नहीं होते अपि तु आयुक्त दुष्ट दोष होते हैं । “ एक अथवा अनेक

द्रव्यमामाभिधानं तद्दोषनाम्नोपदिश्यते ॥ ४८ ॥

शरीरद्रव्यभिन्नं शरीरधातुभ्यो भिन्नगुणम् । क्रियावैषम्यकारकमिति भिन्नगुणत्वात् क्रियासु वैषम्योत्पादकम् । यथोक्तमष्टांगहृदये-वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरितै-विपर्यय इति । चरकसंहितायां च-रसास्तावत् षट् मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः । ते सम्य-गुपयुज्यमानाः शरीरं यापयन्ति । मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोषप्रकोपायोपकल्पन्ते ।
आमाभिधानं तत् द्रव्यं दोषनाम्ना दोषसंज्ञया उपदिश्यते । रोगोत्पादकं द्रव्यमेवामसंज्ञकं व्याधिविज्ञाने चिकित्सायां च दोषसंज्ञया व्यवहियते । वमनविरेचनादिभिर्निर्हियमाणानि द्रव्याणि विजातीयत्वादपकारकत्वादामस्वरूपाणि श्लेष्मपित्तादिदोषसंज्ञया व्यपदिश्यन्ते । व्याघ्रुत्पादकानां मामयुक्तानां दोषाणां संचयप्रकोपादयश्चाख्याताः । संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् । व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्विषक् । सर्वदेहप्रविसृतात्सामान् दोषान् न निर्हरेत् । इत्यादि-भिर्वाक्यैरामयुक्तानां दोषाणां शरीरे प्रसारस्तेषां शोधनादिभिर्निर्हरणं च रोगोत्पादकस्यामस्य दोषा-न्तरस्य च साहचर्यसूचकमिति । (४८)

द्रव्यमामाभिधानं वा दोषः प्रकुपितोऽपि वा ।

स्थानान्तरेषु संसक्तः संचयं चाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

द्रव्यमामाभिधानमित्यामसंज्ञं रोगोत्पादकं द्रव्यम् । दोषः प्रकुपितो वा इति

दोषसे, भयसे तथा शोकसे अतीसार होता है । ” इत्यादि वचनोंमें दोष शब्दसे आमद्रव्यसहित (साम) दोषोंकाही ग्रहण करना चाहिये । ३६ ॥ ३७ ॥

आमयुक्त दोषोंकाही संचय, प्रकोप व स्थानसंश्रय व्याधिकारक हो सकता है । निराम (आमरहित) स्थितिमें व्याधिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । ३८ ॥
व्याधिविज्ञानमें रूक्षादिगुणयुक्त शूलकर आमद्रव्यकोही वात कहते हैं । तथा उष्ण, तीक्ष्ण व विदाहकर आमद्रव्यको पित्त और स्निग्ध व शोथकर आमद्रव्यको श्लेष्मा कहते हैं । निदानशास्त्रमें आम व दोष ये शब्द पर्यायवाचक मानना चाहिये याने एकही अर्थसे उनका प्रयोग किया जाता है । आमयुक्त वातादि दोषही व्याधिउत्पादनमें समर्थ होनेके कारण निदानशास्त्रमें रूक्षादिगुणयुक्त आमद्रव्यकोही वात, उष्णादिगुणयुक्त आमद्रव्यको पित्त और स्निग्धादि गुणयुक्त आमद्रव्यको कफ मानना चाहिये । ३९ ॥ ४० ॥

अपक्व तथा अयथावत् पक्व आहारसको तो आम मानाही गया है, किंतु शरीरमें जो २ भी अन्य दुष्ट याने विकारोत्पादक द्रव्य (धातु अथवा उपधातु)

आमाभिप्रायेणोक्तः प्रकुपितो वा दोषः । शोथे संचयीमानानां प्रदुष्टानां रसरक्तादीनां दोषसंज्ञया व्यपदेशः । यदाहं सुश्रुतः—त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोक इत्युच्यते । एतेन व्याध्युपवर्णने दोषाणामामदुष्टानां रसरक्तादीनामामसंज्ञानां च व्यवहारः संज्ञयैकया विहित इत्यधिगम्यते । स्थानान्तरेषु शरीरस्यांगविशेषे तु । संसक्त इत्यवरोद्धः । उक्तं च चरकसंहितायाम् । क्षिप्यमाणः स्ववैगुण्याद्रसः सञ्जति यत्र सः । करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः । दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् । सुश्रुतसंहितायां च कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यत्र संगः स्ववैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते इति । संचयमधिगच्छति संसक्तः संचितो भवति । (४९)

प्रविशेच्च ततो धातुष्वसृङ्मांसादिषु क्रमात् ।

विपाकश्चास्य भवति धातुस्थेनोष्मणा पुनः ॥ ५० ॥

प्रविशेदित्यादि असृङ्मांसादिषु संचयस्थातगतेषु धातुषु । एवमामस्य दोषाणां वा धातुप्रवेशमनुलक्ष्यैव ज्वरकुष्ठादीनां रसरक्तादिधातुगतत्वमाख्यातम् । विपाक इति शुद्धाशुद्धद्रव्यविभागः । धातुभ्यो दोषाणामामस्य वा पृथकरणम् । धातुस्थेनाष्मणा इति धातुगतेन स्वाभाविकेन पत्तिकर्मणा पित्तेन । (५०)

धातुभिः प्रविभक्तस्योत्सर्जनं जायते बहिः ।

आमद्रव्योत्सर्जनेन व्याधिरप्युपशाम्यति ॥ ५१ ॥

होता है उसका भी आमसंज्ञासेही निर्देश किया जाता है । ४१ ॥

इसके पूर्व बतलायाही जा चुका है कि, वाग्भटने आमकी व्याख्या करते समय कहा है “ जठराग्नि एवं धात्वाग्निके अल्पबलत्वके कारण अपाचित व दुष्ट आमाशयमें गया हुआ जो आद्य धातु रस उसको आम कहते हैं । ” यहभी बतलाया जा चुका है कि यहांपर आमाशयसे यकृत् का और आद्य धातुसे आहाररसका तो बोध होताही है, किंतु आमाशयसे शरीरगत आम द्रव्यका प्रत्येक आश्रयस्थान और आद्य धातुसे उत्तर धातुकी अपेक्षा पूर्व धातुकी रसावस्थाकाभी ग्रहण होता है । अर्थात् अपक्व आहाररसको तथा उत्तर धातुओंके पूर्व उत्पादक रसको दुष्ट होनेपर आम संज्ञा मिलती है । वाग्भटनेही आमका अन्य लक्षणभी दिया है । उसने कहा है “ कुछ आयुर्वेदाचार्य मानते हैं कि, दोष जब अति दुष्ट याने अतिशय विकृत होते हैं और अन्योन्यमूर्च्छित याने परस्परमें मिश्रित होते हैं, उनसे आम उत्पन्न होता है—जिसप्रकार कोदु धान्यसे विष उत्पन्न होता है । ” सारांश दुष्ट दार्पोंके संमिश्रणके प्रभावके कारण आमद्रव्यकी उत्पत्ति

धातुभिः प्रविभक्तस्येति व्याधिस्थानीयधातुभ्यो निर्गतस्य । उत्सर्जनं बहिः शरीरात् बहिरुत्सर्गः । जायते । आमद्रव्योत्सर्जने व्याधिरूपशाम्यति । कस्यचित् रसरक्तादिकं विषमाहारदिभिर्दुष्टं शरीरे परिसर्पत् स्ववैगुण्यात्स्थानान्तरे सञ्जाति, ततस्तत्र संचयो आभते स्थानगतरक्तमांसादिषु च प्रवेशः, कालेन स्थानीयोन्मप्रभावाद्विपक्वं पूयत्वमागतं पुण्यभूतं च व्रणमार्गेण बहिर्गच्छति व्याध्युपशमश्च स्यादिति सर्वविकारेणामद्रव्यसंचयादुत्सर्जनं यावदनुक्रमः । (५१)

आमाख्यं द्रव्यमथवा दोषः संचयीते यदा ।

प्रविश्य धातून् व्याधीनामामावस्था हि सा मता ॥ ५२ ॥

आमाख्यमित्यादि आमद्रव्यं दोषो वा धातून् प्रविश्य यदा संचयीते तदा व्याधीनामामावस्था इति । व्याधिस्थानीयधातुष्वनुपवेशावस्था व्याध्युत्पात्तिकस्य द्रव्यस्यामावस्था नाम । (५२)

यस्यां धातूष्मणा दोषो धातुभिः प्रविभज्यते ।

व्याधीनां सा पच्यमानावस्थेति परिकीर्त्यते ॥ ५३ ॥

धातुभ्यो दोषाणां प्रविभज्यमानावस्था पच्यमानावस्थेति । (५३)

आमः संनिचितो यस्यां धातुभ्यश्च पृथग्भवेत् ।

होती है । उसके कारण सब शरीरमें रसरक्तादि धातु दूषित होते हैं याने उनमें वैषम्य उत्पन्न होता है । और धातु दूषित होनेसे पोषणके अनुपयोगी, व्याधि उत्पन्न करनेवाला, मलस्वरूप जो २ द्रव्य उत्पन्न होता है उस सर्व द्रव्यको आम कहते हैं । शरीरको मलिन करनेवाले याने मालिन्योत्पादक उत्सर्जनाई सब द्रव्यको आम कहा जाता है । आमद्रव्यकी औरभी एक व्याख्या बतलाते हैं । “ विकृत पाकके कारण परिदग्ध द्रव्य अथवा स्वभावतः शरीरके लिये क्षारशुक्तादि अपथ्यकर द्रव्य—जिससे धातुओंकी अभिवृद्धि नहीं होती अपितु विविधप्रकारकी विकृति उत्पन्न होती है उस शरीरके अपायकाक द्रव्यकोभी आम कहना चाहिये । सारांश अन्यान्य ग्रंथकारोंका अभिप्राय ध्यानमें रखते हुए यही कहना पड़ता है कि, जो २ विकारोत्पादक द्रव्य है उसको सामान्य रीतीसे आमसंज्ञा उचित है । ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

शरीरकी क्रियाओंमें वैषम्य उत्पन्न करनेवाला विजातीय आम नामका द्रव्यकोही व्यधिविज्ञानमें दोष संज्ञासे माना गया है । विजातीयसे अभिप्राय

पक्वावस्था व्याधिविद्विर्व्याधीनां समुदाहृता ॥ ५४ ॥

यस्यामवस्थायां पृथग्भवेदामो धातुभ्यः सा पक्वावस्थेत्युदाहृता । इति । (५४)

धातुभिः प्रविभक्तस्य दोषस्योत्सर्जनं बहिः ।

स्वाभाविकैः शकृन्मूत्रस्वेदानामयनैर्भवेत् ॥ ५५ ॥

धातुभिरित्यादि । प्रविभक्तस्य दोषस्य रोगोत्पादकस्य द्रव्यस्य सर्वदेहगतस्य । बहिः शरीरादुत्सर्जनं स्वाभाविकैः शकृन्मूत्रस्वेदानामयनैरुत्सर्जनमार्गैर्भवेदिति मलमूत्रादिसहितमुत्सर्जनं भवति । (५५)

दोषः शरीरैकदेशे शोथरूपेण संचितः ।

त्वग्भेदनात् बहिर्याति व्रण इत्युच्यते हि सः ॥ ५६ ॥

शरीरैकदेशे शोथरूपेण संचितो दोषः त्वग्भेदनात् शोथस्थानीयत्वचो भेदनात् बहिर्याति । त्वग्भेदनं चैतत् व्रण इत्युच्यते व्रणसंज्ञयाऽख्यायत इति । (५६)

त्रीणि मुख्यानि कर्माणि तद्विकारा अपि त्रयः ।

अवस्थानां च लिङ्गानां मुख्या भेदास्त्रयो मताः ॥ ५७ ॥

त्रीणि मुख्यानि कर्माणि शरीरे चलनपचनपोषणाख्यानी । तद्विकाराः कर्मविकारा अपि त्रयः, चलनविकारः पचनविकारः पोषणविकारश्चेति । अवस्थानां रोगावस्थानाम् ।

है शरीर द्रव्योंके गुणसे भिन्न गुणका द्रव्य । वह विजातीय होनेके कारण शरीरकी स्वाभाविक क्रियाओंमें वैषम्य याने विकृति उत्पन्न करता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ समान गुणके द्रव्योंसे शरीर द्रव्योंकी वृद्धि होती है और विपरीत गुणके द्रव्योंसे उनमें वैपरित्य उत्पन्न होता है । ” चरकसंहितामेंभी कहा है “—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त व कषाय ये षड्स । उनका ठीक उपयोग हुआ तो वे शरीरके उपकारक होते हैं । किंतु उनका यदि अनुचित उपयोग किया गया तो दोषोंका प्रकोप करते हैं । ” अर्थात् व्याधिविज्ञान एवं चिकित्सा शास्त्रमें रोगोत्पादक आम-द्रव्यकेही विषयमें दोषसंज्ञाका व्यवहार किया गया है । वमनविरेचनादिद्वारा जो द्रव्य शरीरके बाहर निकाले जाते हैं वे विजातीय होनेके कारण शरीरके लिये अपकारक होते हैं । उनका आमस्वरूप अवस्थामें दोष संज्ञासेही निर्देश किया जाता है । इन व्याघ्युत्पादक आमयुक्त दोषोंकेही संचय, प्रकोप आदि होते हैं । “ दोषोंके संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंचय, व्यक्ति, (रोगाभिव्यक्ति) व (रोग) भेदोंको जो जानता है वही भिषक् हो सकता है । ” “ सर्व

लिङ्गानां व्याधिलक्षणानाम् । मुख्यास्त्रयो भेदाः । आमपच्यमानपक्वावस्थाश्चेत्यवस्थाभेदास्त्रयः । शूलो दाहः शोथ इति च व्याधिलक्षणानि त्रीणि मुख्यानि । (५७)

व्याधीनां विविधत्वेऽपि स्थानसंस्थानभेदतः ।

प्रधाना हेतवः प्रोक्ता वातपित्तकफास्त्रयः ॥ ५८ ॥

एवं व्याधीनां विकाराणाम् । विविधत्वे नानारूपत्वेऽपि । स्थानसंस्थान-
भेदतः स्थानान्यामपक्वाशयादीनि, संस्थानानि लक्षणानि ज्वरगुल्मादीनि तेषां भेदतः प्रकारानु-
सारतः । प्रधाना मुख्याः । हेतवः कारणानि । वातपित्तकफास्त्रयो दोषा इति । त्रैविध्यात्कर्मणां
तत्कर्तृणां च कर्मवैषम्यस्वरूपाणां व्याधीनामपि त्रय एव हेतवो वातपित्तश्लेष्माणो दोषाः ।
अतश्चरकसंहितायामुक्तम्—स्वधातुवैषम्येनीमत्तजा ये विकारसंघा बहवः शरीरे । न ते पृथक्
पित्तकफानिलेभ्यः । अष्टांगहृदये च “ तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा । विकारजातं
त्रिविधम् (त्रीन् दोषान्नातिवर्तत) । इति दोषान्नयानुसारेण विकारत्रितयदर्शनं नाम
चतुर्थ दर्शनम् ।

इति चतुर्थ दर्शनम्.

देहमें प्रसृत सामदोषोंको बाहर न निकालना चाहिये (अर्थात् प्रथम स्वस्थान-
में लाकरही उनका निर्हरण करना चाहिये ।) ” इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट होता
है कि, आमयुक्त दोषही शरीरमें प्रसृत होते हैं और उनकाही शोधनादि क्रिया-
ओंद्वारा निर्हरण करना पड़ता है । अर्थात् रोगोत्पादक आमद्रव्यका और अन्यान्य
दोषोंका नित्य साहचर्यही उपर्युक्त वर्णनसे सूचित होता है । ४८ ॥

आमनामका रोगोत्पादक द्रव्य अथवा आमभिप्रायसे उक्त प्रकुपित
दोषोंका किसी विशिष्ट स्थानमें अवरोध होनेसे है उसका संचय हो जाता
है । शोथमें जो प्रदुष्ट रसरक्तादि संचित होते हैं उनकाभी दोष संज्ञा-
सेही निर्देश किया गया है । सुश्रुतने कहा है “ त्वचा मांस (आदि)
में स्थित दोषोंका समुदाय जब किसी एक विभागमें संचित हो जाता है,
उस संचयके कारण होनेवाले स्थानोत्सेधको (ऊंचापन) शोथ कहते हैं । ”
इससे स्पष्ट होता है कि, व्याधि वर्णनमें आमदुष्ट दोषों तथा रसरक्तादि धातु-
ओंका एक आम संज्ञासेही निर्देश किया जाता है । यह आमद्रव्य अथवा प्रकुपित

दोष शरीरके किसी विशिष्ट अंग (स्थान) में अवरुद्ध हो जाता है। चरकने कहा है—“शरीरमें (हृदयमें से) फेंका हुआ रस (धातु) अपने वैगुण्य (वैषम्य-विकृति) के कारण जिस स्थानमें अवरुद्ध होता (रुक जाता) है उस स्थानमें वह विकृतिको उत्पन्न करता है।” इसप्रकार दोषोंका प्रकोप शरीरके किसी स्थानमें होता है। सुश्रुत संहितामें कहा है “दोष कुपित होकर शरीरमें परिभ्रमण करते हुए अपने वैगुण्यके कारण जिस स्थानमें अवरुद्ध हो जाते हैं वहीं व्याधि उत्पन्न होता है।” अर्थात् स्थानविशेषमें अवरुद्ध होनेके कारण प्रकुपित दोषोंका संचय होने लगता है। ४९ ॥

इसके बाद वह आमद्रव्य याने सामदोष रक्त, मांस आदि धातुओंमें प्रवेश करता है। अर्थात् जिस स्थानमें उसका संचय होता है उस स्थानके रक्तमांसादि धातुओंमेंही वह प्रवेश करता है। साम दोषका इसप्रकार होनेवाला धातुप्रवेश ध्यानमें रखकरही ज्वरकुष्ठादि रोगोंका धातुगतत्व बतलाया गया है। धातुगत उष्मासे उसका फिर विपाक होने लगता है। याने शुद्ध व अशुद्ध द्रव्य पृथक् होने लगता है। अर्थात् धातुओंसे विकृत दोष अथवा आमका पृथक्करण होता है। ५० ॥

इसप्रकार पृथक्करण होनेके कारण व्याधिस्थानीय धातुओंसे सामदोष जब पृथक् हो जाता है, उसका शरीरके बाहर उत्सर्जन हो जाता है। आम द्रव्यका इसप्रकार उत्सर्जन हो जानेपर व्याधिका उपशम हो जाता है। उदाहरणार्थ किसी एक व्यक्तिके रसरक्तादि धातु, विषमाहारादि कारणोंसे दुष्ट होगये। वे शरीरमें भ्रमण करते २ अपने वैगुण्यसे किसी स्थानमें रुक गये। वहांपर उनका संचय हुआ। संचयसे आम दोषने उस स्थानके रक्तमांसादि धातुओंमें प्रवेश किया। कुछ कालके बाद तत्रस्थ धात्वग्नि (धातुगत उष्मा) के प्रभावसे पचन हुआ। विपाकके बाद धातुसे आमदोष पृथक् रूपमें पृथक् हुआ। और व्रणमार्गसे बाहर चला गया। इसप्रकार व्याधिका उपशम हुआ। सभी व्याधिओंमें आम-संचयसे लेकर आमोत्सर्जनतक इसी क्रमसे व्याध्युपशम होता है। ५१ ॥

आमद्रव्य अथवा आयुक्त दोष धातुओंमें प्रविष्ट होकर जब संचित होने लगता है, उसको व्याधिकी आमावस्था कहते हैं। व्याधिस्थानीय धातुओंमें

व्याध्युत्पत्तिकर द्रव्यका याने आमका प्रवेश होनेकी अवस्थाकोही व्याधिकी सामता कहते हैं । ५२ ॥

व्याधि आमावस्थाके बाद पच्यमानावस्थामें प्रवेश करता है । जिस अवस्थामें धातुगत ऊष्माके सामदोषका पचन होता है याने धातुओंसे आमद्रव्य पृथक् होने लगता है उसको व्याधिकी पच्यमानावस्था कहते हैं । ५३ ।

पच्यमानावस्थाके बाद व्याधिकी पक्वावस्था प्राप्त होती है । जिस अवस्थामें धातुओंसे आमद्रव्य पूर्णतया पृथक् व उत्सर्जनयोग्य हो जाता है । उसको पक्वावस्था कहते हैं । रोगोत्पादक द्रव्य धातुओंसे भक्त होनेके बाद उसका शरीरके बाहर शकृत्, मूत्र व स्वेदोत्सर्जनके स्वाभाविक मार्गोंद्वाराही उत्सर्जन होता है । अर्थात् उसका (रोगोत्पादक द्रव्य) शकृन्मूत्रादिके साथही उत्सर्जन होता है । ५५ ॥

शरीरके किसी विभागमें दोष (आमद्रव्य) शोथरूपसे जब संचित होता है, तब वह शोथस्थानकी त्वचाका भेदकर बाहर आता है । इस त्वग्भेदनकोही व्रण कहते हैं । ५६ ॥

शरीरकी क्रियायें तीन हैं (१ चलन, २ पचन, ३ पोषण), उनके विकारभी तीनही हैं । (१ चलनविकार, २ पचनविकार व ३ पोषणविकार) व्याधिओंकी तीनही अवस्थायें हैं (१ आमावस्था, २ पच्यमानावस्था व ३ पक्वावस्था) तथा व्याधिओंके तीनही मुख्य लक्षण हैं । १ शूल, २ दाह व ३ शोथ । सारांश आमपक्वाशयादि स्थानों तथा संस्थानों याने ज्वरगुल्मादि लक्षणोंके भेदानुसार नानाविध रूपके व्याधि होते हैं । किंतु उनके वात पित्त कफ ये तीनही मुख्य कारण हैं । कर्म व उनके कर्ता तीन २ ही होनेके कारण कर्म वैषम्यरूप व्याधिओंकेभी वात पित्त कफ ये तीनही कारण हो सकते हैं । इसीलिये चरकसंहितामें कहा है “ स्वधातुवैषम्यके निमित्तसे जो नानाविध विकार शरीरमें पैदा होते हैं वे कफ, पित्त व वायुसे प्रथक् नहीं होते । ” अष्टांग-हृदयमेंभी कहा है “ जितनेभी विकार हैं वे स्वधातुवैषम्यके कारणही होते हैं । और वे तीन दोषोंको छोड़कर नहीं होते । ”

॥ तीन दोषोंके अनुसार विकारोंका त्रिविधत्वदर्शननामक चतुर्थ दर्शन समाप्त ॥

पंचमं दर्शनम् ।

(वातादिदोषाणां विकारसंख्यास्वरूपदर्शनम् ।)

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिसर्पताम् ।

विविधस्थानसंस्थाना विकारा बहवः स्मृताः ॥ १ ॥

वातादिदोषप्रकोपोद्भवानामायुर्वेदीयतंत्रोक्तानां विकाराणां स्वरूपनिदर्शनार्थमुच्यते ।
कुपितानामिति स्वस्थानात् बहिर्निर्गतानाम् । यत उक्तमष्टांगहृदये—‘ कोपस्तून्मार्गगामिता ’
 इति । **दोषाणां** रोगोत्पादकानामद्रव्येण युतानां वातादीनाम् । **शरीरे** शरीरावयवेषु । **परिसर्पतां**
 प्रसर्पताम् । **विविधस्थानसंस्थाना** इति नानाविधानि स्थानानि लक्षणानि च येषामेवंविधाः ।
 विकारा व्याधयो बहवः स्मृता आख्याताः । आयुर्वेदीयैरिति शेषः । (१)

अशीतिर्वातजाश्चत्वारिंशदुक्तास्तु पित्तजाः ।

विकाराणां श्लेष्मजानां विंशतिः परिकीर्तिता ॥ २ ॥

अशीतिर्वातजाः वातोद्भवाः । **चत्वारिंशत्पित्तजाः** । **श्लेष्मजानां च** विकाराणां
विंशतिः परिकीर्तिता । उक्तं चरकसंहितायां यथा । **अशीतिर्वातविकाराः** चत्वारिंशत्पित्तविकाराः
विंशतिः श्लेष्मविकारा इति । (२)

पांचवा दर्शन ।

(वातादि दोषोंका विकारसंख्यास्वरूपदर्शन ।)

वातादि दोष विकृत होकर आम (रोगोत्पादक) द्रव्यके सहित अपना
 स्थान छोड़कर अन्य स्थानोंमें संचार करते हुए भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न
 लक्षणोंके जो नानाविध व्याधि निर्माण करते हैं उनका आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें वर्णन
 किया है । १ ॥

ऐसे विकारोंकी संख्या चरकसंहितामें वातविकार ८०, पित्तविकार ४० व
 कफविकार २० इसप्रकार दी गई है । जिन विकारोंके नाम व स्वरूप निम्न
 प्रकार है । २ ॥

(१) नखभेद दातपैरोंके नखोंका फाटना । (२) पादशूल पादतलोंमें
 वेदना । (३) पादभ्रंश याने चलनेके समय एक अथवा दोनो पैर अपेक्षित
 स्थानमें न पडना । (४) विपादिका हात पैरोंकी त्वचा फटजाना ऐसा इस

नखभेदः पादशूलः पादभ्रंशो विपादिका ।
 पिंडिकोद्वेष्टनं सुत्पपादता वातखुडुता ॥ ३ ॥
 गृध्रसी जानुभेदश्च जानुविश्लेषणं तथा ।
 ऊरुस्तंभश्चोरुसादो गुदभ्रंशश्च पंगुता ॥ ४ ॥
 गुदार्तिर्वृषणोत्क्षेपो वंक्षणानाह एव च ।
 शोफस्तंभं उदावर्तो विद्भेदः श्रोणिभेदनम् ॥ ५ ॥
 खंजत्वं वामनत्वं च कुब्जत्वं च त्रिकग्रहः ।
 पृष्ठग्रहश्च हन्मोहस्तथा पार्श्वविभर्दकः ॥ ६ ॥
 हृद्द्राव उदरावेष्ट उद्धर्पो वक्षसस्तथा ।
 ग्रीवास्तंभो बाहुशोष उपरोधश्च वक्षसः ॥ ७ ॥
 कण्ठोर्ध्वंसस्तथा मन्यास्तंभश्च हनुताडनम् ।
 मूकत्वं दंतशैथिल्यमोष्ठभेदोऽरसन्नता ॥ ८ ॥
 दंतभेदश्च वाक्संगः कपायास्यत्वमित्यपि ।
 वक्षस्तोदस्तथा गंधाहता च मुखशोषणम् ॥ ९ ॥
 घ्राणनाशः कर्णशूलमशब्दश्रवणं तथा ।

विकारका स्पर्शीकरण चक्रपाणिने किया है । (५) पिंडिकोद्वेष्टन पिंडरियामें जखडना जैसी पीडा । (७) वातखुडुता पैरोंके तलोंकी त्वचामें सच्छिद्रता । (८) गृध्रसी इस नामका एक वातविकार—जिसमें कटिभागसे तलेतक एक पैरमें स्तंभ व वेदना होते हैं । (९) जानुभेद जानुसंधिमें भेदन जैसी पीडा । (१०) जानुविश्लेषण जानुसंधिकी शिथिलता । (११) ऊरुस्तंभ ऊरु [मांडी] में स्तब्धता—[चलनेमें असमर्थता] । (१२) ऊरुसाद ऊरुओं [मांडी] का स्पर्श-ज्ञान कम होना—[चलन कम होना] । (१३) गुदभ्रंश गुदद्वारकी पेशियां शिथिल होकर मलोत्सर्जन समय बाहर निकलना । (१४) पंगुता दोनों पैरोंमें चलनेकी असमर्थता । (१५) गुदार्ति गुदद्वारमें पीडा । (१६) वृषणोत्क्षेप वृषणका ऊपर [खींचा] जाना । (१७) वंक्षणानाह वंक्षण [उदरका नीचेका भाग—अंडसंधि] में वायुसे फुलना । (१८) शोफस्तंभ जननेन्द्रियकी स्तब्धता [चेतना हीनत्व] । (१९) उदावर्त उदरमें वायुकी वृद्धि और उसके इतसातः भ्रमणसे पीडा । (२०) विद्भेद मल पतला होना । (२१) श्रोणिभेद श्रोणि [कमर] में

उच्चैःश्रुतिश्च बाधिर्यं वर्त्मस्तंभस्तथाऽर्दितम् ॥ १० ॥

तिमिरो वर्त्मसंकोच अक्षिशूलं तथैव च ।

अक्षिव्युदासो ग्लानिश्च भ्रूव्युदासश्च वेपथुः ॥ ११ ॥

शंखभेदः केशभूमिस्फुटनं च शिरोरुजा ।

ललाटभेदश्चैकांगरोगः पक्षवधस्तथा ॥ १२ ॥

जृम्भा रौक्ष्यं च सर्वांगरोगश्चाक्षेपकः श्रमः ।

दण्डकश्च विषादश्चातिप्रलापो भ्रमस्तथा ॥ १३ ॥

श्यावारुणावभासत्वं पारुष्यं च त्वगादिषु ।

हिकाऽऽम्रस्तथा स्वापासनादिष्वनवस्थितिः ॥ १४ ॥

असंख्येयविकाराणामविष्कृततमा इमे ।

अशीतिरुक्ताः प्राधान्याद्विकारा वातसंभवाः ॥ १५ ॥

चरकसंहितायामुपवर्णितानां वातविकाराणामशीतिरुच्यते — (१) नखभेदः नखानां स्फुटनम् । (२) पादशूलः पादतलयोः शूलः । (३) पादभ्रंशः पादस्यान्यतरस्य द्वयोर्वाऽनपेक्षिते स्थले पतनम् । (४) विपादिका पाणिपादस्फुटनमिति चक्रपाणिः । (५) पिंडिकोद्वेष्टनं पिंडिकयोर्जघामांसपिंडयोस्त्वद्वेष्टनमिव (६) सुप्तपादता पादतलयोः

भेदन जैसी पीडा । (२२) खंजत्व लंगडापन (एक पैरकी चलनमें असमर्थता) (२३) वामनत्व स्नायुसंकोचके कारण शरीरमें जहस्यता ? । (२४) कुब्जत्व स्नायुसंकोचके कारण शरीरमें वक्रता । (२५) त्रिकग्रह त्रिकास्थिका स्तंभ । (२६) पृष्ठग्रह पृष्ठवंशका स्तंभ । (२७) हृन्मोह हृदयकी शक्ति कम होना । [यहां हृत् शब्दसे मस्तिष्कका प्रहण करना उचित है ।] (२८) पार्श्ववर्मदक पार्श्वभागोंमें [फसलिओंमें] दवानेके समान पीडा । (२९) हृद्द्राव हृदयकी पेशीओंका शैथिल्य । (३०) उदरावेष्ट उदरमें बंधनके समान स्तब्धता । (३१) वक्ष-उद्धर्ष वक्षःप्रदेशमें [छातीमें] कंप । (३२) ग्रीवास्तंभ ग्रीवागत स्नायुओंका स्तंभन । (३३) बाहुशोष बाहुओंमें शुष्कत्व । (३४) वक्ष-उपरोध वक्षःप्रदेशमें अवरोध याने भरा हुआ जैसा प्रतीत होता । (३५) कंठोष्वंस कंठनलिकामें शुष्कत्व । (३६) मन्यास्तंभ मानकी शिराओंका स्तंभ [संज्ञाहानि] । (३७) हनुभेद हन्वस्थीमें भेदन जैसी पीडा । (३८) मूकत्व वाग्वाहिनीओंके विकृतिके कारण बोलनेकी असमर्थता । (३९)

स्पर्शान्नत्वम् । (७) वातखुड्गता पादतलत्वाच्च व्रणवाहुल्यम् । (८) गृध्रसी-स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठो-
रुजालुजंघापदं क्रमात् । गृध्रसी स्तंभरुक्तोदैर्गुणहाति । इति लक्षणान्वितो रुक्विशेषः (९) जानु-
भेदः जान्वोर्भेदनवत् शूलः । जानुविश्लेषणम् जानुसंधिशैथिल्यम् (११) ऊरुस्तंभः
ऊर्वोः स्तब्धता, संचालनेऽक्षमत्वम् । (१२) ऊरुसादः ऊर्वोः संज्ञाहानिः । (१३) गुदभ्रंशः
अपानपेशीनां श्लथत्वम् । (१४) पंगुता सक्थिद्वयस्य संचाराक्षमत्वम् । (१५) गुदार्तिः गुद-
पीडा । (१६) वृषणोत्क्षेपः वृषणयोरूर्ध्वगमनम् । (१७) वंक्षणानाहः वंक्षणयोर्वातपूर्णत्वम् ।
(१८) शोफःस्तंभः मेहनस्य स्तब्धता संज्ञाहानिरिति । (१९) उदावर्तः वायोस्नार्गगमनम् ।
(२०) विड्भेदः शकृद्द्रवत्वम् । (२१) श्रोणिभेदः श्रोण्यां भेदनवत्पीडा । (२२) खंजत्वमिति
सक्थ एकास्याक्षमत्वं चलनादिषु । (२३) वामनत्वं संकोचादंगानाम् । (२४) कुब्जत्वम्
स्नायुसंकोचादंगानां वक्तव्यम् । (२५) त्रिकग्रहः त्रिकस्तंभः । (२६) पृष्ठग्रहः पृष्ठवंशस्य
स्तंभः । (२७) हृन्मोहः हृदयस्याक्षमत्वम् । (हृच्छेदनाच्च मस्तिष्कग्रहणमुचितम् ।)
(२८) पार्श्वविमर्दकः पार्श्वयोः पीडा । (२९) हृद्द्रावः हृत्पेशीनां शिथिलत्वम् । (३०)
उदरावेष्टः उदरस्यावेष्टनमिव (३१) उद्धर्षो वक्षसः इति वक्षसि कंपनमिव । (३२) ग्रीवा-
स्तंभः ग्रीवागतस्नायुस्तंभः (३३) बाहुशोषः बाह्वोः शुष्कत्वम् । (३४) उपरोधो
वक्षसः अवरुद्धमिव वक्षो भासते (३५) कंठोर्ध्वसः कंठस्रोतसि रुक्षत्वं शुष्कत्वं च ।
(३६) मन्यास्तंभः ग्रीवाशिराणां स्तंभः संज्ञाहानिः । (३७) हनुभेदनं हन्वोर्भेदनमिव च ।

दंतशैथिल्य दांतोंका हिलना (४०) ओष्ठभेद ओष्ठत्वचाका फटना । (४१)
अरसज्ञता रुचिनाश । (४२) दंतभेद दांतोंका फटना । (४३) वागसंग याने
वाचा अवरुद्ध होना । (४४) कषायास्यत्व याने मुखमें फिटकरीकी जैसी रुचि
उत्पन्न होना । (४५) वक्षस्थलमें तोद (४६) नेत्रोंमें तोद (४७) मुखमें
शोष । (४८) घ्राणनाश घ्राणेंद्रियकी शक्ति कम होना । (४९) कर्ण-शूल
(५०) अश्रद्धश्रवण याने बिना किसीने शब्द कियेही शब्द सुननेमें आना ।
(५१) उच्चैः श्रुति याने जोरसे बोलनेपर सुननेमें आना । (५२) बाधिर्य याने
शब्दज्ञानका पूर्ण अभाव । (५३) वर्त्मस्तंभ याने नेत्रोंकी निषोन्मेषमें अक्षमता ।
(५४) अर्दित याने चेहरेका आधा हिस्सा तेडा होना । (५५) तिमिर याने
प्रकाशमेंभी अंधकारके समान भास होना । (५६) वर्त्मसंकोच याने पांपनिओंका
आकुंचन होना (५७) नेत्रशूल (५८) आक्षिब्युदास याने आंखें खुली हुई
रहना [बंद न होना ।] (५९) ग्लानि याने सर्व शरीरमें बलभ्रंशके समान
भास होना । (६०) व्युदास भ्रुकुटिओंका विस्तार होना । (६१) वेपथु याने

(३८) मूकत्वं वाग्धानिः । शब्दोत्पत्तेरक्षमत्वमिति । (३९) दंतशैथिल्यम् दंताश्चला भवन्तीति ।
 (४०) ओष्ठभेदः ओष्ठपाटनम् (४१) अरसज्ञता रसज्ञानाभावः । (४२) दंतभेदः
 दंतानां पाटनम् । (४३) वागसंगः वागवरुद्धा भवतीति (४४) कषायास्यत्वम् मुखं कषाय-
 रसान्वितम् (४५) वक्षस्तोद इति वक्षस्तुद्यत इव पीडा । (४६) अक्षितोदः अक्षिणी तुद्यते
 इव । (४७) मुखशोषणम् वक्त्रशोषः । (४८) घ्राणनाशः घ्राणेंद्रियस्य गंधह्रणाक्षमत्वम् ।
 (४९) कर्णशूलं रुक्णयोः । (५०) अशब्दश्रवणमिति शब्दाभावे शब्दश्रवणम् ।
 (५१) उच्चैःश्रुतिरिति उच्चैरुच्चारितस्य श्रवणम् अथवा स्वल्पोच्चारितस्याप्युच्चैःश्रवणम् ।
 (५२) बाधिर्यं शब्दज्ञानाभावः । (५३) वर्त्मस्तंभः अक्षिर्वर्मनोः स्तंभः निमेषोन्मेषणाक्षमत्व-
 मिति । (५४) अर्दितम् वक्त्रार्धे वक्त्रतोत्पादको वातव्याधिरर्दितमिति । (५५) तिमिरः प्रका-
 शेऽप्यंधकारप्रवेश इवाभासः । (५६) वर्त्मसंकोचः वर्त्मकुंचनम् । (५७) अक्षिशूलं अक्ष्णोः
 पीडा । (५८) अक्षिव्युदासः विस्फारित इवाक्षिणी जायेते । (५९) ग्लानिः सर्वाङ्गानां
 बलभ्रंश इवाभासः । (६०) भ्रूव्युदासः भ्रूविस्तारः । (६१) वेपथुः कंपः । (६२) शंखभेदः
 शंखास्त्रोर्भेदनवत् शूलः । (६३) केशभूमिस्फुटनम् शिरस्त्वक्पाटनम् । (६४) शिरोरुजा
 शिरःशूलम् । (६५) ललाटभेदः ललाटे भिद्यत इव शूलविशेषः । (६६) एकाङ्गरोगः पक्षव-
 धाख्यः । (६७) जृम्भा । (६८) रौक्ष्यं अंगेषु । (६९) सर्वाङ्गरोगः सर्वाङ्गवधः ।
 (७०) आक्षेपकः गात्राणामाक्षेपकरो वातव्याधिः । (७१) श्रमः कारणाभावेऽपि श्रान्तत्वम् ।

कंप । (६२) शंखभेद याने शंखास्थि [तमंचा] ओमें भेदनवत् पीडा होना ।
 (६३) शिरकी त्वचाका फट् जाना । (६४) शिरोरुजा याने शिरःशूल
 (६५) ललाटभेद याने कपालमें भेदनके समान पीडा होना । (६६) एकाङ्ग-
 रोग याने पक्षाघात [शरीरके] अर्ध भागका लूला पड जाना । (६७) जृम्भा
 (६८) शरीरका रुक्ष होना (६९) सर्वाङ्गरोग याने सर्व शरीरका दूलापन ।
 (७०) आक्षेपक (तीव्र वातविकार—जिसमें हात पैर इत्यादिका आक्षेप याने
 हिचकना एक लक्षण रहता है) (७१) श्रम याने विनाकारणसे थक जाना ।
 (७२) दंडक याने दंडके समान स्तंभ (७३) विपाद याने उत्साहहानि
 (७४) अतिप्रलाप याने अनर्थक बकवक् करना । (७५) भ्रम याने शरीरका
 तथा अंगोंका भ्रमण होना (चक्कर आना) । (७६) त्वचा आदिपर श्यावत्व
 अथवा अरुणत्वकी छाया होना । (७७) पारुष्य याने त्वचा आदिका शुष्क
 होना । (७८) हिक्का (हिचकी) । अस्वप्न निद्रानाश । (८०) अनवस्थिति
 चलना, बैठना, सोना इत्यादि किसीमेंभी स्वास्थ न होना । दोष दूष्य संबंधके

(७२) दण्डकः दण्डवत्स्तम्भः । (७३) विषादः उत्साहहानिः । (७४) अतिप्रलापः अनर्थकं वचः प्रलाप इति । (७५) भ्रमः शरीरस्यांगानां वा भ्रमणमसंस्थितत्वमिति । (७६) श्यावारुणावभासत्वमिति त्वगादिषु श्यावत्वमरुणत्वं वा । (७७) पारुष्यं त्वगादिषु खरत्वं - शुष्कत्वं च । (७८) हिक्रा स्वनामख्याता । (७९) अस्वप्नः निद्रानाशः । (८०) स्थानासनादिष्वनवस्थितिः स्थानासनशयनादीनामिच्छाद्वेषौ क्षणे क्षणे इति । असंख्येयविकाराणां दोषदूष्यानुबंधादसंख्येयानाम् । आविष्कृततमाः प्रव्यक्तरूपा इति । अशीतिर्वीतसंभवा विकारा उक्ताः । चरकसंहितायामिति । (३-१५)

भेदस्तोदश्च शूलश्चोद्धर्ष संवेष्ट एव च ।

अर्तिश्चैवं षड्विकाराः शूलभेदा उदाहृताः ॥ १६ ॥

उक्तानामशीतिसंख्यानां विकाराणां स्वरूपसामान्यदर्शनार्थमुच्यते । भेद इत्यादि भेदादयो विकाराः । शूलभेदाः षट्संख्याः । यथा मिथत इव शूलप्रभारो भेदः । तुयत इव सूच्यादिमिस्तोदः । शूल इति सूक्ष्मा सामान्या । उद्धर्ष इति स्पर्शनासहत्वपूर्वका रुक् । संवेष्टः वेष्टनमिव । अर्तिरित्याख्यातो विकारः शूलपर्यायः । एवं भेदादिभिराख्याताः शूलप्रकाराः स्थानान्तरसंभवा इति । (१६)

आवेष्टश्चावमर्दश्चोत्क्षेपः संकोच इत्यपि ।

अनुसार वातविकार असंख्य होनेपरभी उक्त अशीति विकार विशेष व्यक्तरूप होनेके कारण चरकसंहितामें बतलाये गये हैं । (चरकसंहितामें अशीतिसंख्याके वातविकारोंकी गणना करनेका अभिप्राय इसप्रकार बतलाया है) (३-१५)

अब उक्त ८० वातविकारोंका सामान्यस्वरूप दर्शते हैं । शूलके छ भेद बतलाये गये हैं [१] भेद [२] तोद [३] शूल [४] उद्धर्ष [५] संवेष्ट और [६] अर्ति । ये अन्यान्य स्थानोंमें होते हैं । भेद याने फुटनेकी जैसी वेदना । तोद याने सूईके रोंचनेके समान वेदना । शूल याने सामान्य पीडा । उद्धर्ष याने जिस पीडामें स्पर्श सहन नहीं हो सकता । संवेष्ट याने वेष्टनके समान पीडा । अर्ति याने शूलका एक प्रकार । १६ ॥

आवेष्ट [उदरावेष्टादि], अवमर्द [पार्श्वावमर्दादि.], उत्क्षेप [वृष्णोत्क्षेपादि] संकोच [वर्मसंकोचादि], ये विकार पेश्यादिके आकुंचके कारण होते हैं । १७ ॥

मुखशोषादि शोषस्वरूपके विविध विकार रुक्ष गुणके अभिवर्धनके कारण उत्पन्न होते हैं । स्नायु व पेशीओंके स्तम्भके कारण मन्यास्तम्भादि, त्रिक्रमहादि,

आकुंचनोद्भवाश्चैते विकाराः समुदाहृताः ॥ १७ ॥

उक्तेषु विकारेषु आवेष्टः उदरावेष्टादिः । अवमर्दः पार्श्ववमर्दादिः । उत्क्षेपः
वृषणोत्क्षेपादिः । संकोचः वर्त्मसंकोचादिः । एते आकुंचनोद्भवाः पेश्यादिसंकोचोद्भवा विकारा
इति । (१७)

शोषस्वरूपा विविधा विकारा रौक्ष्यसम्भवाः ।

स्तंभो ग्रहश्चोपरोधःसंकोचः स्तंभसंभवाः ॥ १८ ॥

क्षोभादप्यतियोगाद्वा प्रलापाक्षेपकादयः ।

स्वगुणग्रहणेऽशक्तिरिन्द्रियाणां वधोऽपि वा ॥ १९ ॥

सुप्तिश्चैते समाख्याताः संज्ञाविकृतिकारणाः ।

शोषस्वरूपा इति मुखशोषादयः । रौक्ष्यसंभवाः रूक्षगुणस्याभिवर्धनेनोत्पद्यन्ते
इति । स्तंभो मन्यास्तम्भादिः । ग्रहः विकग्रहादिः । उपरोधः वक्षोपरोधादिः । संकोचो
वर्त्मसंकोचादिः । एते विकाराः स्तंभसंभवाः स्नायुपेशीस्तंभात्संभवन्ति । क्षोभात् अस्वाभा-
विका गतिर्वेगवती क्षोभः । अतियोगात् अतिप्रवृत्तिः । प्रलापाक्षेपकादयः । अतिप्रवर्तनं वाचः
प्रलाप इति । स्वगुणग्रहणे गंधादीनां स्वविषयाणां ग्रहणे । अशक्तिः अक्षमत्वम् । इन्द्रियाणां
घ्राणादीनाम् । वधः विनाशः । सुप्तिः माथम् । एते संज्ञाविकृतिकारणाः संज्ञावाहिनीनां
विकृतिः कारणं येषामेवंविधाः । (१८-१९ ॥)

वक्षोपरोधादि तथा वर्त्मसंकोचादि विकार उत्पन्न होते हैं । [वायुके] क्षोभके याने
अस्वाभाविक व वेगवती गतिके तथा अतियोगके याने अतिप्रवृत्तिके कारण प्रलाप
आक्षेपकादि विकार उत्पन्न होते हैं । संज्ञावाहिनीओंके विकृतिके कारण इन्द्रियोंमें
स्वगुणग्रहणकी असमर्थता [जैसे आँखसे न दिखना इ०] तथा इन्द्रियोंका वध याने
विनाश तथा सुप्ति याने माथ इतने विकार उत्पन्न होते हैं । १८ ॥ १९ ॥

८० वात विकारोंमें जो भेदनामका वातविकार बतलाया गया है उसके
दो प्रकार होते हैं । एक शूलस्वरूप व दूसरा विदारण याने फटनेके
रूपका । जानुश्रोण्यादिमें होनेवाला भेद शूलस्वरूपका होता है और नखादिका
भेद विदारण रूपका [फटनेके रूपका] होता है । २० ॥ २१ ॥

वातविकारोंमें विड्भेद नामका जो विकार बतलाया गया है वह वास्तवमें
वातस्वभावके विरुद्ध है । विड्भेदका अर्थ मल पतला होना । मलका
यह पतलापन द्रवद्रव्यकी अधिकतासे उत्पन्न होता है । रूक्षादि गुणस्व-
भावका वायु तो द्रवशोषक है । इसलिये सामान्यतया वायु शकृत्प्रहकर याने

भेदोऽत्र द्विविधः शूलस्वरूपश्च विदारणम् ॥ २० ॥

जानुश्रोण्यादिभेदस्तु शूलरूप उदाहृतः ।

नखदन्तोष्ठपादानां भेदस्तु स्याद्विदारणम् ॥ २१ ॥

भेद इति अशीतिसंख्याकेषु विकारेषूक्तो भेदस्वरूपो विकारविशेषः । द्विविधो द्विप्रकारः । शूलस्वरूपः एकः । अपरश्च विदारणं पाटनम् । जानुश्रोण्यादीनां भेदः शूलरूपः नखादीनां भेदस्तु विदारणं विदारणरूप इति । (२०-२१)

विकारो भेदरूपेषु विड्भेदः परिकीर्तितः ।

विड्भेदः स्यात् द्रवाधिक्यात् वायुः स्यात् द्रवशोषकः ॥ २२ ॥

शकृद्ग्रहकरो वायुर्न स्यात् विड्भेदकारकः ।

अल्पमल्पं फेनिलं च मारुतेनातिसार्यते ॥ २३ ॥

अतिसारेऽपि वातानुबन्धादेव द्रवाल्पता ।

वायोर्विकारेषु रौक्ष्यादभिधेयेऽपि विड्ग्रहं ॥ २४ ॥

विड्भेद एवाभिहितश्चितनीयमिदं भवेत् ।

वातविकारेषूक्तस्य विड्ग्रहस्य वातस्वभावविरुद्धत्वं निर्दिशति । विड्भेद इति पुरीषस्य द्रवत्वम् । द्रवाधिक्यात् द्रवद्रव्यस्याधिक्येन । जायते । वायुः रूक्षादिगुणस्वभावः ।

मलको बांधनेवाला होता है पतला करनेवाला नहीं । वातातिसारमेंभी वायुके कारण द्रवकी अल्पताही रहती है और थोडा २ व फेनिल मलसात्र होता है । गुदमार्गसे द्रव्य द्रव्यके अधिक उत्सर्जनको अतिसार कहते हैं । किंतु उसमेंभी जब वायुका अनुबन्ध होता है, मलमें द्रवका प्रमाण अल्प हो जाता है । अतः वातविकारोंमें वायुकी रूक्षतासे विड्ग्रहकी गणना करनाही उचित है । विचारणीय है कि विड्भेदकी गणना वातविकारोंमें क्यों कि !

ठीक तो यही विदित होता है कि, वायुकी वृद्धि होनेसे रूक्षताभी बढ़ती है जिसके कारण पुरीषमेंका द्रव संशोषित होकर उसमें गाढता आजाती है, इसतरह वातविकारोंमें बद्धविट्कताका समावेश करना उचित हो जाता है । किंतु लिपिकारके प्रमादसे 'विड्ग्रह' की जगह 'विड्भेद' लिखा गया होगा । चक्रपाणिने इस शंकाके निरसनके लिये जो कहा है 'कि वातज अतीसारमें होनेवाला विड्भेदभी वातजही मानना चाहिये' समाधानकारक नहीं है । कारण वातानुबन्धसे अतीसारमें विड्भेद उत्पन्न होता है, यह कहना अतीसारके

द्रवशोषकः द्रवाणां शोषकारकः । ततश्च शकृद्ग्रहकरः गाढविद्धताकरः । न विड्भेदकारको भवेदिति । अल्पमल्पमिति अल्पप्रमाणम् । फेनिलं स्वल्पद्रवणे संयुतो वायुः फेनस्वरूपः । मारुतेन वायुना । अतिसार्यते । इति वर्णनान् अतिसारेऽपि “ गुदेन बहुद्रवसरणमतिसारः ” वातानुबंधात् वातसंबंधात् । द्रवाल्पता अल्पद्रवत्वम् । ततश्च वायोर्विकारेषु रौक्ष्यात् वातस्य विड्ग्रहेऽभिधेयेऽपि विड्ग्रहस्य परिगणने समाचनीऽपि । विड्भेदोऽभिहितः चरकसंहितायाम् । इत्येतच्चितनीयमिति । वातऽभिवृद्धे रौक्ष्येणभिवृद्धेन संशोषणान् पुरीषे गाढोष्पतिरिति वद्धविद्धता वातविकारेषूपपद्यत इति विड्ग्रहस्थाने विड्भेद इत्युल्लेखो लिपिकारप्रनादोद्भव एवेत्यधिगम्यते । चक्रपाणिनाऽप्यस्मिन् शंकानिरासार्थमादृता युक्तिः, ‘ वातजातिसारेऽपि विड्भेदो वातज एवेति ’ नालं समाधानाय । यतो वातानुबंधादतिसारे विड्भेद इत्यातिसारसंप्राप्तिविकृष्टम् । प्रवृद्धोऽव्धातुरतिसारेहेतुराख्यातः । अव्धातुमिश्रणान् पुरीषे द्रवोत्पत्तिः । वातानुबंधान् द्रवाल्पत्वेनातिसारेऽल्पमल्पमतिसार्यत इति वर्णनान् वायुर्द्रवाल्पत्वस्य हेतुराख्यातो न द्रवकरणमिति चक्रपाणिनोक्तमतिसारगतं द्रवत्वं वायोर्विड्भेदकर्तृत्वेनाप्रस्तुतम् । अतो वातविकारैश्चर्चातिसंख्याकेषु विड्ग्रह एव गणनीय इति । (२२-२४॥)

स्रोतःस्वयनभूतेषु रुद्धो वायुर्विमार्गगः ॥ २५ ॥

मर्दयेत्पीडयेद्वेगात्स शूलः परिकथ्यते ।

संचयस्यातियोगाद्वा संकोचाद्रौक्ष्यसम्भवात् ॥ २६ ॥

संप्राप्तीकेही विरुद्ध है । प्रवृद्ध अप् धातुही अतिसारका हेतु बतलाया गया है । पुरीषमें अप् धातुका मिश्रण होनेसे पतलापन आ जाता है । वातज अतीसारमें जो यह कहा गया है कि, वातानुबंधसे अल्पद्रवत्वके कारण फेनिल व अल्प मलोत्सर्जन होता है, वायुको द्रवाल्पत्वकाही हेतु बतलाया गया है न कि द्रवत्व अथवा बहु द्रवत्वका । इसलिये चक्रपाणिने जो बतलाया है—वायुही अतीसारमें विड्भेदको उत्पन्न करता है, अप्रस्तुत है । अर्थात् प्रतिपादनका अभिप्राय यही है कि, ८० वातविकारोंमें ‘ विड्भेद ’ के स्थानपर ‘ विड्ग्रह ’ कीही गणना करनी चाहिये । २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

वातविकारोंमें शूलकाही प्राधान्य होनेके कारण शूलका स्वरूप अब अधिक विशद करते हैं । अग्न याने मार्गभूत स्रोतसोंमें रुद्ध होनेके कारण वायु जब विमार्गगामी हो जाता है तब वह पेशीओंमें मर्दन करता हुआ जो पीड़ा करता है उसीको शूल कहते हैं । घनस्वरूप व द्रवस्वरूप द्रव्योंका तथा सूक्ष्म वायुकाभी वहन करनेवाले सभी मार्गोंमें—जिनको स्रोतस् संज्ञा दी गयी है, वायु अवरुद्ध

स्रोतोमार्गेषु रुद्धेषु रुद्धो भवति मारुतः ।

शूलप्राधान्याद्वातविकाराणां शूलस्वरूपं विशदीकुर्वन्नवाह । स्रोतःस्विति स्रोतः-
संज्ञयाऽख्यातेषु । अयनभूतेष्विति घनद्रवाणां द्रव्याणां सूक्ष्मस्य वायोश्च मार्गस्वरूपेषु ।
यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् । मूलाखादन्तरं देहे प्रसृतं त्वमिवाहि यत् । स्रोतस्तदिति विज्ञेयम् ।
इति । रुद्धः अवरुद्धः । वायुः । विमार्गगः रुद्धत्वादयथामार्गप्रवृत्तः । मर्दयेत् स्रोतांसि
तदाश्रमभूताश्च पेशीरवपीडयेदिति । पीडयन् पीडाकरो भवति मर्दनात् । स शूलः परि-
कथ्यते । शूल इत्याख्यायाऽभिधीयते । वायुश्च कस्मात् रुद्धो भवतीत्युच्यते । संचयस्येति
रसरक्तादीनां धातूनां संग्रहस्य । अतियोगात् इति अतिमानात् । संकोचात् आकर्षणात् ।
रौक्ष्यसंभवादिति रूक्षगुणोत्पन्नात् । स्रोतोमार्गेषु स्रोतोरूपमार्गेषु । रुद्धेषु अवरुद्धेषु ।
मारुतो वायू रुद्धो भवति । (२५-२६॥)

ग्रीवामन्यादिषु स्तंभः स्नायुशोथसमुद्भवः ॥ २७ ॥

पृष्ठत्रिकग्रहाद्याश्च पेश्यन्तः शोथसम्भवाः ।

कुञ्जत्ववामनत्वाद्याः स्नायुसंशोषसम्भवाः ॥ २८ ॥

स्तम्भसंकोचरूपाश्च सर्वाङ्गैकाङ्गसम्भवाः ।

भवन्ति शोथात् शोषाद्वा स्नायवादीनां यथायथम् ॥ २९ ॥

हो सकता है । सुश्रुतने स्रोतसूकी व्याख्या करते समय कहा है “ जितना २
भी एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जानेका रास्ता शरीरमें है उसको स्रोतसूही कहना
चाहिये । ” इन स्रोतसूमें किसी कारणसे अवरुद्ध होनेके कारण वायु अपना
स्वाभाविक मार्ग छोड़कर भलतेही मार्गसे जाने लगता है । और स्रोतसूको तथा
उनके आश्रयभूत पेशीओंको रगड़ता हुआ पीडा करता है । इस पीडाकाही
नाम शूल है ।

वायुके इस अवरोधका कारण निम्न प्रकारका होता है । रसरक्तादि धातु-
ओंका किसी प्रकार विशिष्ट स्थानमें अति संचय होनेके कारण, अथवा रूक्षताके
कारण स्रोतसूका संकोच होनेसे स्रोतसूके मार्गोंमें अवरोध (अटकाव) उत्पन्न होता
है जिससे वायुभी रुद्ध हो जाता है । २५ ॥ २६ ॥

ग्रीवा, मन्या आदिओंके स्तंभरूपका जो वातविकार है (यह औरभी
कई स्थानोंमें होता है) वह स्नायुओंके शोथके कारण उत्पन्न होता है ।
पृष्ठ व त्रिक आदि स्थानोंके ग्रहस्वरूपका वातविकार पेशीओंके अंतर्भागमें होने-

प्रीवामन्यदिध्विति स्तंभस्वरूपो विविधस्थानगतो विकारविशेषः स्नायुशोथ-
समुद्भवः । पृष्ठत्रिकादीनां ग्रहाः पेद्यन्तःशोथसंभवाः पेशीनां शोथाज्जा-
यन्त इति । कुब्जत्ववामनत्वाद्याः संकोचलक्षणास्तु स्नायुसंशोषात् संभवन्ति ।
स्तंभसंकोचरूपाश्चान्ये वातविकाराः सर्वांगसंभवा एकांगसंभवा वा शोथात् स्नायुपेशीनां
शोषाद्वा भवन्तीति स्तंभस्वरूपाणां वातविकाराणां स्नायुपेशीगतः शोथः शोषो वा हेतुरिति ।
शोथसंभवाः केचित् शोषसंभवाश्च केचनेति । (२७॥-२९)

भवन्ति गतिवैषम्यादन्ये कंपभ्रमादयः ॥ २९ ॥

कंपभ्रमादयश्चान्ये वातविकारा गतिवैषम्यात् चलनविकृतेर्भवन्तीति । (२९॥)

वायोर्धातुक्षयात् वृद्धिः कोपः स्यान्मार्गरोधतः ॥ ३० ॥

वायोर्धातुक्षयात् वृद्धिः स्वस्थानेऽभिवर्धनम् । कोपः अयथामार्गप्रवृत्तिः मार्गरोधतः
अतिसंचयादवरुद्धेषु संशोषाद्वा संकुचितेषु स्रोतःसु मार्गस्यावरोधः । (३०)

देहे रौक्ष्याभिवृद्धिः स्यादभिवृद्धे समीरणे ।

रौक्ष्याद्भवति मांसादिधातूनामुपशोषणम् ॥ ३१ ॥

तस्मादंगेषु पारुष्यं त्वगादीनां विदारणम् ।

आकुंचनस्वरूपाश्च विकाराः संभवन्ति हि ॥ ३२ ॥

बाळे शोथसे उत्पन्न होता है । उसी प्रकार कुब्जत्व, वामनत्व आदि वातविका-
रोंकी उत्पत्ति [इन विकारोंमें स्नायुओंका संकोच यह मुख्य लक्षण रहता है]
स्नायु-शुष्क होनेके कारण होती है । सारांश, वातविकारोंमें जितनेभी स्तंभ व
संकोच स्वरूपके विकार हैं, वे सब शरीरमें अथवा शरीरके किसी एक विभागमें
दोनों प्रकारसे हो सकते हैं और वे यातो स्नायु व पेशीओंमें शोथ उत्पन्न
होनेके कारण अथवा उनके शुष्क हो जानेके कारण होते हैं । शोथ व शोष
ये दोही उनके मुख्य कारण होते हैं । २७-२९ ॥

वायुके गतिवैषम्यके याने चलनविकृतिके कारण कंप, भ्रम आदि अन्य
वातविकारोंकी उत्पत्ति होती है । ३० ॥

धातुओंका क्षय होनेसे वायुकी वृद्धि होती है । और कोपका याने अपने
स्वाभाविक मार्गको छोड़कर भलतेही मार्गसे जानेका कारण है उसके स्वाभाविक
मार्गका अवरोध । पहिले बतलाया जा चुका है कि, स्रोतोमार्गमें अतिसंचय
होनेके कारण अथवा उनके शुष्क होनेके कारण वायुका अवरोध होता है । ३०॥

समीरणेऽभिवृद्धे रौक्ष्यवृद्धिः ततो मांसादिशोषणम् ततश्चांगेषु रौक्ष्यं पारुष्यं खररपर्शत्वम् । त्वगादीनामित्यादिशब्दादोष्ठदंतादीनाम् । विदारणं पाटनम् । आकुंचनस्वरूपाः कुब्जत्ववामनत्वादयः विकाराश्च सम्भवन्ति । (३१-३२)

स्निग्धद्रवस्वरूपाणां द्रव्याणामतिसंचयात् ।

स्रोतारोधो भवेत्तेन मारुतश्चोपरुध्यते ॥ ३३ ॥

रुद्धः संचालनेऽंगानामसमर्थश्च जायते ।

स्तंभः शोथश्च शूलश्च विकाराः संभवन्त्यतः ॥ ३४ ॥

स्निग्धद्रवस्वरूपाणामिति रसरक्तमेदोधात्वादिरूपाणाम् । अतिसंचयात् अतिवृद्धिकृतात् अपाककृताद्वा । स्रोतारोधः स्रोतसां प्रपूर्णादवरोधः । तेन स्रोतारोधेन । मारुतः उपरुध्यते रुद्धगतिर्यायते । संचालने आकुंचनप्रसरणादिरूपे । अंगानां स्थूलसूक्ष्मरूपाणाम् । असमर्थः अक्षमः । स्तंभः स्तब्धता । शूलः वेदना । शोथः उत्सेधः । विकाराः स्तंभादिरूपाः । सम्भवन्ति । (३३-३४)

शोथस्तंभात्मकाः प्रायो विकाराः शूलसंयुताः ॥ ३४ ॥

शोथस्तंभात्मकाः शोथः स्तंभश्चेति आत्मा स्वरूपं येषामेवंविधाः । विकाराः ऊरुस्तंभादयः । उक्तेष्वशीतिसंख्याकेषु शोथस्वरूपाणां पृथक्त्वेनानिर्देशेऽपि ऊरुस्तंभादिषु

शरीरमें वायु वृद्ध होनेसे रूक्षता बढ़ जाती है जिसके कारण मांसादि धातु शुष्क होने लगते हैं । मांसादिधातु शुष्क होनेसे शरीरके अवयवोंमें रूक्षता उत्पन्न होती है, उनका स्पर्श रूक्ष याने खरखरीत लगता है, त्वचा, दांत, ओष्ठ आदि फटने लगते हैं । और कुब्जत्व, वामनत्व आदि आकुंचनस्वरूपके विकार उत्पन्न होते हैं । ३१ ॥ ३२ ॥

स्निग्ध व द्रवरूपके द्रव्योंके याने रस, रक्त, मेद आदि द्रवस्वरूप धातुओंके अतिसंचयके कारण स्रोतसोंका अवरोध होता है । इन धातुओंका प्रमाण स्वाभाविक प्रमाणसे जब बढ़ जाता है अथवा उनका यथाप्रमाण पचन जब नहीं होता तब उनका किसी विशिष्ट स्थानमें संचय होने लगता है और स्रोतोमार्ग उनसे प्रपूरित हो जाता है—भर जाता है । इसप्रकार उनका अवरोध हो जाता है । स्रोतोमार्गोंका इसप्रकार अवरोध होनेसे वायुभी रुद्ध होता है और शरीरके स्थूल व सूक्ष्म अंगोंका संचालन करनेमें वह असमर्थ हो जाता है । जिसके कारण शूल याने वेदना, शोथ याने उत्सेध व स्तंभ याने स्तब्धताके स्वरूपके

शोथदर्शनात् । अनुक्तानां च वातरक्तादीनां शोथस्वरूपेषु स्तंभलक्षणेभ्यु च शूलोऽपि प्रायेण भवतीति । प्राय इति संज्ञाहानियुतेषु शोथस्तंभस्वरूपेषु शूलाभावः । (३४ ॥)

चलने हीनतां याते क्वचित्संज्ञाऽपि हीयते ॥ ३५ ॥

संशोषणात्तथा शोथात् संज्ञाहानिर्भवत्यतः ।

चलन इति पेशीस्नाय्वादीनां संकोचप्रसरणे । हीनतां याते स्रोतोरोधात् हीनत्वं गते । संज्ञाऽपि हीयते क्वचिदिति संज्ञावहानामवरोधात् । केचिद्विकारेषु संज्ञाहानिरपि । संशोषणात् शुष्कत्वात् । शोथात् संचयाधिक्यात् । स्रोतःस्वयनभूतेषु । अवरुद्धेषु संज्ञा-हानिः । संज्ञाहानिरियं व्याधिप्रदेशे वथावत्स्पर्शज्ञानादनुमेया । (३५ ॥)

संकोचलक्षणाः केचित्स्तंभरूपाश्च केचन ॥ ३६ ॥

एवं वाताधिकाराणां द्वैविध्यं स्यात्स्वरूपतः ।

नानाविधा अपि व्याधयो वातसंभवाः समासतो द्विविधाः । संकोचलक्षणाः पेशीस्नायुसंकोचो अंगविशेषाणां संकोचो वा लक्षणं येषामेवंरूपाः । स्तंभरूपाः स्तंभलक्षणाः ग्रीवास्तंभमन्यास्तंभादिलक्षणाः इति । भेदस्वरूपेषु सृष्टिस्वरूपेषु च विकारोद्भास्यातेष्वपि मार्गसंरो-धात् कुपितवातोद्भवानां संकोचस्तंभरूपं द्वैविध्यम् । स्नेहाल्पत्वात् शोषणाच्च त्वगादीनां स्फुटने वायोर्ह्नामार्गगमनस्वरूपस्य कोपस्याभावः । मार्गावरोधात्कोपोद्भवानामेव कष्टत्वात् संकोचस्तंभात्मक-

विकार उत्पन्न होते हैं । ३३ ॥ ३४ ॥

शोथ व स्तंभस्वरूपके ऊरुस्तंभादि विकार प्रायः शूलसे युक्त रहते हैं । ऊपर जो ८० वातविकार बतलाये गये हैं उनमें शोथस्वरूपके विकारोंका पृथक् निर्देश नहीं है । तथापि उनमें शोथ रहताही है । उसीप्रकार वातरक्तादि विकारोंमें—जिनका निर्देश इन ८० में आया नहीं है—भी शोथ रहताही है । इन शोथात्मक एवं स्तंभात्मक विकारोंमें प्रायः शूलभी रहता है । प्रायः कहनेका कारण इतनाही है कि जिन शोथस्तंभात्मक विकारोंमें संज्ञाहानि रहती है उनमें शूल नहीं होता । ३५ ॥

स्नायुपेशी आदिओंके संचालनमें याने आकुंचन—प्रसरणमें जब स्रोतस्रोतोंके अवरोधके कारक हनित्व आता है याने स्नायुपेशीओंका आकुंचन प्रसरण जब कम हो जाता है तब कभी २ तत्रस्थ संज्ञावह स्रोतस्रोतोंकाभी अवरोध हो जानेके कारण संज्ञाहानिभी हो जाती है । संशोषणके याने शुष्कत्वके कारण तथा शोथके याने अतिसंचयके कारण स्रोतोमार्ग अवरुद्ध होनेपर संज्ञाहानि हो जाती है ।

विकाराणां द्वैविध्यं प्राधान्येनाख्यातमिति शोथलक्षणानामपि स्तंभात्मकेष्वन्तर्भावः (३६॥)

संकोचलक्षणाः प्रायो विकाराः शूलवर्जिताः ॥ ३७ ॥

विकाराः स्तंभरूपाश्च प्रायशः शूलसंयुताः ।

वातविकारेषु शूलवत्त्वं दर्शयितुमुच्यते । संकोचलक्षणा विकाराः प्रायः शूलवर्जिता इति । संशोषणात्स्रोतसां वायोः संचारामावात् शूलाभाव इति । संधिसंकोचादिषु शूलसंभवान् प्राय इत्याख्यातम् । स्तंभरूपाश्च शूलसंयुताः संचयादवबुद्धस्य वायोः उन्मार्गप्रवृत्त्या शूलवत्त्वं स्तंभस्वरूपेषु । संवेदनाल्पवान् सुप्तिलक्षणेषु शूलाभावान् प्रायश इत्याख्यानम् । (३७॥)

स्रोतोरोधात्प्रकुपितो वायुरंगानि पीडयेत् ॥ ३८ ॥

तेष्वसृग्बहिरायाति बाहिर्नीनां प्रपीडनात् ।

प्रपीडितांगेषु ततोऽरुणत्वमवभासते ॥ ३९ ॥

रसधातुर्न विकृतेष्वंगेषु प्रतिपद्यते ।

स्रोतोरोधान्न पुष्पन्ति रुग्धिष्ठानधातवः ॥ ४० ॥

मलस्वरूपमायान्ति श्यावत्वमुपजायते ।

श्यावत्वमरुणत्वं च वायो रित्यभिभाषितम् ॥ ४१ ॥

वर्णोत्पत्तिकरो वायुर्न रूपरहितः स्वयम् ।

संज्ञाहानि हुई है या नहीं यह व्याधिस्थानमें यथावत् स्पर्शज्ञान है या नहीं इससे जाना जा सकता है । ३५ ॥

यद्यपि वातव्याधिके अनेक प्रकार बतलाये गये हैं, संक्षेपमें उनके स्वरूप-परसे दोही प्रकार माने गये हैं—१ संकोचरूप व २ स्तंभरूप । पेशी व स्नायुओंके संकोचके कारण विशिष्ट स्थानोंका या अंगोंकाभी संकोच जिनमें होता है उनको संकोचरूप वातविकार कहना चाहिये । और जिनमें विशिष्ट स्थानोंका स्तंभ होता है उनको स्तंभरूप वातविकार कहना चाहिये । भेदस्वरूपके व सुप्तिस्वरूपकेभी वातविकार बतलाये गये हैं । किंतु उनमेंभी स्रोतोरोधके कारण वायु कुपित होकर यातो संकोच अथवा स्तंभ उत्पन्न करताही है इसलिये वातविकारोंका द्वैविध्यही मानना पडता है । जिसस्थानमें स्निग्धता कम हो जाती है तथा वह शुष्क हो जाता है वहां त्वचा आदि फट जानेके कारण वहां वायुका उन्मार्गगमन याने कोप नहीं हुवा करता । मार्गविरोध के कारण वायु कुपित होनेसे जो विकार उत्पन्न होते हैं उनमेंही अधिक पीडा हुआ करती है । इसलिये संकोचात्मक

वातविकारेषूक्तमरुणत्वं विवृणोति । स्रोतोरोधादिति पेशीस्रोतसामवरोधान् । प्रकु-
पितः । विमार्गप्रवृत्तः अंगानीत्यंगगता पेशीः । प्रपीडयेत् वेगादवमर्दयेदिति । तेषु पीडितां-
गेषु । असृक् रक्तम् । बहिरायाति । स्रोतसां बाह्यदेशे प्राप्नोति । बाहिनीनां प्रपीडनादिति
पेशीस्रोतागतानां सूक्ष्मबाहिनीनां प्रपीडनात् । प्रपीडितांगेषु वातप्रपीडितावयवेषु विकारस्था-
नेषु । अरुणत्वं अवभासते । कुपितेन वायुना प्रपीडितांगेषु बहिर्देशेऽवस्थितस्यासृजोऽरुणत्वमवभा-
सत इति । शोथस्तंभस्वरूपेषु वातविकारेष्वरुणत्वम् । श्यावत्वं कथमुत्पद्यत इत्याह । रसधातु-
रिति शरीरावयवानां पोषक आयो रसाख्यो धातुः । विकृतेष्वंगेषु शोषणादतिसंचयाद्वा
विकृतेषु । स्रोतोरोधात् स्रोतसां रसवहानां विवद्धत्वात् । रुग्धिष्ठानधातवः रोगस्थान-
गता धातवो रक्तमांसादयः । मलस्वरूपमायान्ति पोषणाभावात् हानसत्त्वा मलरूपा भव-
न्तीति । ततश्च श्यावत्वं श्यावावभासत्वम् । उपजायते । एवं वातविकारेषूक्तं श्यावत्व-
मरुणत्वं च वायोः कुपिताद्वायोर्जायत इत्यग्निभाषितमुक्तम् । स्वयं रूपरहितो वायुर्न वर्णो-
त्पत्तिकरः । रूपरहितः स्पर्शवान् वायुरिति । (३८-४१॥)

ओषः श्लोषश्च दाहश्च धूमको दवधुस्तथा ॥ ४२ ॥

अन्तर्दाहोऽसदाहश्च विदाहश्चाम्लकस्तथा ।

अंगगन्ध अतिस्वेदश्चांगेष्वधिक्थमूपमणः ॥ ४३ ॥

मांसशोणितयोः क्लेदश्चांगानामवदारणम् ।

य स्तंभात्मक दोही प्रकारोंका प्राधान्यसे वर्णन किया है । शोथलक्षणके विकारों-
काभी स्तंभात्मक विकारोंमेंही समावेश होता है । ३६ ॥

जिन विकारोंमें संकोच यह प्रमुख लक्षण रहता है उनमें प्रायः शूल नहीं
हुआ करता । स्रोतोमार्ग शुष्क होनेसे वायुके संचारको अवकाश नहीं रहता, इस-
लिये शूलभी नहीं होता । इसका यह अर्थ नहीं है कि किसीभी सकोचात्मक
विकारमें शूल नहीं होता । कारण संधिओंके संकोचमें शूल हो सकता है ।

स्तंभरूपके विकार सामान्यतः शूलयुक्त होते हैं । संचयसे अवरुद्ध वायुके
उन्मार्गगामी प्रवृत्तिके कारण स्तंभरूप विकारोंमें शूल उत्पन्न होता है । किंतु जिन
स्तंभात्मक विकारोंमें सुप्ति यह लक्षण रहता है उनमें संवेदनाही अल्प रहनेके
कारण शूलका अभाव होता है । ३७ ॥

वातविकारोंमें उत्पन्न होनेवाले ' अरुणत्व ' नामके लक्षणका अब विवरण
करते हैं । पेशीगत स्रोतसोंके अवरोधके कारण प्रकुपित याने विमार्गप्रवृत्त वायु
अंगोंका याने पेशीओंका जोरसे मर्दन-पीडन करने लगता है । इससे तत्स्थानीय

हस्तपादादिकानां त्वद्वाहश्च त्वग्विदारणम् ॥ ४४ ॥

रक्तपित्तं रक्तकोठाश्चर्मादरणं तथा ।

हरितत्वं रक्तमण्डलानि हारिद्रताऽपि च ॥ ४५ ॥

कक्षा तिक्तास्यता पूतिमुखता नीलिका तथा ।

अतृप्तिश्चास्यपाकश्च तृष्णाधिक्यं च कामला ॥ ४६ ॥

गलपाकोऽक्षिगाकश्च पाकश्च गुदमेढ्रयोः ।

तमःप्रवेशनं जीवादानं हरितपीतता ॥ ४७ ॥

त्वङ्नेत्रमूत्रवर्चःसु मुखे लोहितगंधिता ।

रक्तविस्फोटकाश्चत्वारिंशदेवमुदाहृताः ॥ ४८ ॥

आविष्कृततमा मुख्या विकाराः पित्तकोपजाः ।

चरकसंहितायामुपवर्णिताः पित्तविकाराश्चत्वारिंशत् यथा—(१) ओषः अग्निना दह्यते इव दाहः । पार्श्वस्थितेनेव वह्निना पीडा इति चक्रपाणिना व्याख्यातम् । (२) ग्लेपः दाहश्चेकदेशीयः सामान्यः । किंचिद्गहनमिवेति चक्रपाणिः । (३) दाहः सर्वांगदाहः । (४) धूमकः कंठाधूमनिर्गम इव । (५) दवथुः स्थानविशेषे तीव्रो दाहः । धगधग इति लंके ख्याता इति चक्रपाणिः । (६) अन्तर्दाहः कौष्ठान्तर्दाहः । (७) अंसदाहः अंसयोर्दाहः । (८) विदाहः

सूक्ष्म रक्तवाहिनियांभी रगडी जाती हैं, और उनमेंसे किंचित् रक्तांश बाहर आ जाता है । अतः वातपीडित विकारस्थानमें अरुणत्व किंचित् रक्तिमा दिखाई देता है । शोथ व स्तम्बरूप विकारोंमें व्याधिस्थानके बाह्य भागपर यह अरुणत्व दिखाई देता है ।

इसीप्रकार श्यावत्वभी उत्पन्न होता है । शोषण अथवा अतिसंचयसे विकृत अंगोंमें याने व्याधिस्थानोंमें रसवह स्रोतसोंके अवरोधके कारण शरीरावयवोंका पोषक रसनामका आद्य धातु नहीं पहुंच सकता । जिससे व्याधिस्थानके रक्तमांसादि धातुओंका पोषण होना बंद हो जाता है । पोषणके अभावमें उनको मलस्वरूप प्राप्त होता है । अर्थात् वे सत्त्वहीन हो जाते हैं । इससे व्याधिस्थानकी त्वचापर श्यावत्व आ जाता है । इसप्रकार वातविकारोंमें वायु कुपित होनेके कारण अरुणत्व व श्यामत्व उत्पन्न होते हैं । अन्यथा वायु स्वयं—जो रूपरहित है—वर्ण याने रंगकी उत्पत्ति नहीं कर सकता । ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४० ॥

अब पित्त विकारोंका वर्णन करते हैं । चरक संहितामें जिन ४० पित्त

अन्नस्य भुक्तस्य विदग्धत्वमाशयदाहादनुमेयम् । (९) अम्लकः अम्लोद्विगणम् । (१०) अंग-
गंधः तीव्रः पूतिर्गंधः । (११) अतिस्वेदः स्वेदस्यातिप्रवर्तनम् । (१२) अंगेष्वधिक्य-
मूष्मणः स्वभावादधिक्यमुष्णस्पर्शोऽंगानामिति । मांसशोणितयोः क्लेद इति
(१३) मांसक्लेदः । (१४) शोणितक्लेदश्च । मांसशोणितयोर्द्रव्यवामिवृद्धिः ।
(१५) अंगानामवदारणम् हस्तपादादीनामंगानां परिपाटनम् । (१६) त्वग्दाहः
त्वङ्मात्रदाहः । (१७) त्वग्निवारणम् त्वचां विपाटनम् । (१८) रक्तपित्तम्
नासत्रैवगुदमेतूदिभिर्दूषितस्य रक्तस्यासावः । पित्तदूषितस्य रक्तस्य सावो रक्तपित्तमित्याख्या-
तम् । यथा चरहसंहितायाम्-पित्तं रक्तस्य विकृतेः संसर्गात् दूषणादपि । गंधवर्णानुवृत्तेश्च रक्तेन
व्यपदिश्यते इति । (१९) रक्तकोठाः रक्तवर्णाः शोथविद्वः । (२०) चर्मावदरणं त्वग्निवार-
णस्य पूर्वोक्तत्वात् चर्मावदरणमिति स्तरूपेण त्वग्निनिर्गम इति । (२१) हरितत्वं हरितवर्णतांशेषु ।
(२२) रक्तमंडलानीति रक्तकोठानां मंडलानि । (२३) हरिद्रता हरिद्राभत्वमंगेषु । (२४)
कक्षा विस्फोटविशेषः । मुश्रुतसंहितायां धुदरंगेषु कक्षालक्षणं यथा-बाहुपार्श्वसकक्षासु कृष्णस्फोटा
सवेदनाम् । पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामिति विनिदिशेत् । (२५) तिक्तास्यता मुखतिक्ताता । (२६)
पूतिमुखता पूतिर्गंधित्वं मुखे । (२७) नीलिका नीललांछनानि शरीरे । व्यंगमेव स्थानान्तरेण
वर्णान्तरं च नीलिक्लेद्यन्ये इति उल्हाणाचार्यो व्यंगव्याख्यायाम् । कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा
नीलिमां विदुः इति माधवः । (२८) अचुप्तिः पित्ताधिक्यात्समुचिताहारेणातृप्तिः । (२९) आस्य-

विकारोंका वर्णन किया गया है उनके नामः—(१) ओप याने अग्निसे जलनेके
समान जलन होना । चक्रपाणिने अपनी व्याख्यामें ओपका अर्थ दिया है
पार्श्वस्थित अग्निसे दाह जैसी पीडा । (२) प्लोप याने किसी एक विभागमें
सामान्य दाह होना । चक्रपाणि प्लोपको किंचित् दाह समझता है । (३) दाह
याने सर्वांगका दाह । (४) धूमक याने कंठमें धूम जैसे निकलना । (५) दवथु
याने विशिष्ट स्थानमें तीव्र दाह होना [जलन] । लोग जिसको धगधग कहते
हैं उसीको चक्रपाणि दवथु समझता है । (६) अंतर्दाह याने कोष्ठके अंतर्भागमें
दाह होना । (७) अंसदाह याने अंसोंमें दाह होना । (८) विदाह याने
आमाशयका दाह । यह भुक्त अन्न विदग्ध होनेसे उत्पन्न होता है । (९) अम्लक
याने अम्ल (खट्टे) डकार आना । (१०) अंगगंध याने शरीरकी दुर्गन्धि । (११)
अतिस्वेद । (१२) उष्माधिक्य शरीरका स्पर्श अधिक उष्ण प्रतीत होना ।
(१३) मांसक्लेद मांसमें आर्द्रता । (१४) रक्तक्लेद (मांस व रक्तमें द्रवत्वकी
वृद्धि होनेकोही क्लेद कहते हैं) । (१५) अंगवदरण हात, पैर आदि अवयवोंकी त्वचा

पाकः मुखान्तर्गतकलापाकः । पादनमिति । (३०) तृष्णाधिक्यम् । (३१) कामला प्रसिद्धा । (३२) गलपाकः मुखपाकवत् । (३३) अक्षिपाकः अक्षिवर्त्मन्तःपाकः । गुद-
मेदूयोः पाकः इति (३४) गुदपाकः (३५) मेदूपाकश्च पृथक् गणितौ । (३६) तमःप्रवेश-
नम् अंधकारे प्रवेश इव । (३७) जीवादानं स्थानासनादिचरतिः अतिग्लानिरिति (३८) हरि-
तपीतता त्वङ्नेत्रमूत्रवर्चसु हरितत्वं पीतत्वं चेति (३९) मुखे लोहितगंधता रक्तगंध-
इव गंधो मुखे । (४०) रक्तविस्फोटकाः रक्तवर्णाः स्फोट्याः । एवं चत्वारिंशदविष्कृततमा
विकाराश्चरकसंहितायामाख्याता इति । (४२-४८॥)

औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं च सर्वेषु विकारेष्वनुवर्तते ॥ ४९ ॥

सर्वेष्वारोप्यतेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु विकारेषु औष्ण्यं उष्णगुणामिवृद्धिः । तैक्ष्ण्यं तीक्ष्णगुणामिवृद्धिश्च अनुवर्तते । उष्णतीक्ष्णगुणामिवृद्धिमूलाः सर्वे पित्तविकारा इति । (४९)

अन्ने कोष्ठगतेऽम्लत्वमपिपाकात्प्रजायते ।

तेनाम्लोद्धारता कंठेऽम्लत्वं दाहश्च जायते ॥ ५० ॥

कोष्ठे विदग्धादाहारादाहः समुपजायते ।

रक्तोष्मणा विवृद्धेन दाहः स्यात्सर्वदेहगः ॥ ५१ ॥

रक्तं कट्वम्लतीक्ष्णोष्णैराहारैः परिदुष्यति ।

फट्जाना (१६) त्वग्दाह केवल त्वचाका दाह होना (१७) त्वग्विदारण याने त्वचाका फटना (१८) रक्तपित्त याने दूषित रक्तका नासा, नेत्र, गुद, मेदू आदि मार्गसे स्राव होना । पित्तद्वारा दूषित रक्तके स्रावको रक्तपित्त कहते हैं । चरकसंहितामें कहा है “ रक्त विकृतिमें दूषित होकर पित्तभी रक्तके साथ उसी गंध व वर्णका होकर पडता है । ” (१९) रक्तकोठ याने रक्तवर्णके शोथके थिपके (२०) चर्मावदरण [इसके पूर्व त्वग्विदारणका निर्देश आ चुका है । यहांपर चर्मावदरणसे त्वचाकी छालें जानेका ग्रहण करना चाहिये ।] (२१) हरितत्व याने शरीरपर हरापन आना । (२२) रक्तमंडल याने रक्त कोठोंके मंडल होना । (२३) हरिद्रता याने हल्दीके समान शरीरका रंग पीला होना । (२४) कक्षा [यह विस्फोटकाही एक विशेष प्रकार है । सुश्रुत संहितामें क्षुद्र रोगोंके वर्णनमें ‘कक्षा’ का लक्षण देते समय कहा है “ बाहु, फसलिया व कांखमें वेदनायुक्त काली स्फोटा होती है और जो पित्तप्रकोपसे उत्पन्न होती है उसको कक्षा [काखभुलाई] कहते हैं । ” (२५) तिक्तास्यता याने मुख कडुआ होना ।

विदग्धमम्लं तीक्ष्णं च स्याद्विशेषेण दाहकृत् ॥ ५२ ॥

तस्मादंगावदरणं क्लेदनं मांसशोणिते ।

रक्तकोठाश्च रक्तानि मंडलानि भवन्त्यपि ॥ ५३ ॥

स्रोतोभ्यश्चातितीक्ष्णत्वाद्विभिन्नेभ्यः स्ववत्यसृक् ।

पित्तयुक्तमधोऽर्ध्वं तद्रक्तपित्तमुदीर्यते ॥ ५४ ॥

तैक्ष्ण्यात्कलानां पाकः स्यात्पाकश्चास्यगुदादिषु ।

वृद्धं रक्तगतं पित्तं विदग्धं विदहत्यसृक् ॥ ५५ ॥

असृग्विदग्धं जनयेत्पीतत्वं च त्वगादिषु ।

हरितत्वं च नीलत्वं कोथाऽवस्थां गतेऽसृजि ॥ ५६ ॥

दाहः कोथश्चोष्णवृद्धिर्मुख्यं विकृतिलक्षणम् ।

पित्तरोगेषु सर्वेषु सामान्यमनुवर्तते ॥ ५७ ॥

चत्वारिंशत्संख्याकानां पित्तविकाराणां सामान्येन स्वरूपनिदर्शनार्थमुच्यते । अन्न इत्यादिना ।

कोष्ठगत इति आमाशयादिगते । अम्लत्वं अम्लीभावः । अविपाकात् यथावत्पचनाभावात् । तेन अम्लत्वेन । अम्लोद्धारता । अम्लत्वं दाहश्च कठे जायते । कोष्ठे दाहश्चापि । रक्तोष्मणा इति रक्तगतेन पित्तेन । विवृद्धेन सर्वदेहगो दाहः । रक्तं परिदुष्यति विकृतं जायते । विदग्धमिति अयथापक्वम् । अम्लं स्वभावादाधिकमम्लम् । तीक्ष्णं चेति । मधुरं

(२६) पूतिमुखता याने मुखमें दुर्गन्धि । (२७) नीलिका याने शरीरपर नीले लालून उत्पन्न होना । डल्हमाचार्यने व्यंगकी व्याख्या करते समय कहा है कि, शरीरके अन्यान्य स्थानोंपर जो कृष्णवर्ण लालून होते हैं उसकोही नीलिका कहते हैं । माधवने कहा है “ चेहरेपर अथवा शरीरपर जो काले दाग पडते हैं उसको नीलिका कहते हैं । ” (२८) अतृप्ति याने पित्ताधिक्यके कारण सन्तुष्टि आहारसेभी तृप्ति न होना [शीघ्र पचन होना] (२९) आस्यपाक याने मुखांतर्गत कलाका [आंतर त्वचाका] फट जाना [मुखमें छाले] । (३०) तृष्णाधिक्य याने प्यास अधिक लगना । (३१) कामला (३२) गलपाक याने गलेमें छाले (३३) अक्षिपाक याने आंखकी पांपनिया अंदरसे फुलना । (३४) गुदपाक (३५) मेढूपाक (३६) तमःप्रवेशन याने अंधकारमें प्रवेश करनेका आभास होना । (३७, जीवादान याने अति ग्लानि [कहींभी बैठने ठहरनेकी प्रवृत्ति न होना ।] (३८) हरितपीतता याने त्वचा, नेत्र, मूत्र, विष्टा आदिका रंग हरा व पीला हो जाना । (३९) मुखमें लोहितगंधिता रक्तके समान

लवणं किंचिदशीतोष्णमसंहतम् । इति शुद्धस्वरूपं रक्तस्याख्यातम् । तस्मिन् तीक्ष्णायैराहारै-
स्तीक्ष्णत्वमम्लत्वं चास्वाभाविकं विवर्धत इति । तीक्ष्णत्वाच्च दाहकृद्भवति । तस्मात् तीक्ष्णत्वात् ।
अंगावदरणं अंगेषु त्वचो विदारणम् । मांसशोणितयोः क्लेदः । रक्तकोष्ठमंडलानि च भवन्ति ।
स्रोतोभ्य इति रक्तवहस्रोतोभ्यः । भिन्नेभ्यः विदारितेभ्यः । रक्तं स्रवति पित्तयुक्तं न केवलं
रक्तम् । अधोर्ध्व ऊर्ध्व नासाक्षिकर्णास्यैर्मंदूयोनिगुदैरधः । इति । तद्रक्तपित्तम् कलानां नासा-
स्यादिगतपेश्यावरणरूपाणाम् । वृद्धं सप्रमाणादभिवृद्धम् । विदहत्यसृगिति रक्ते विदाहमुत्पाद-
यति । विदग्धं च तत् त्वगादिषु पीतत्वं जनयेत् । दूषिते रक्ते तीक्ष्णत्वाधिक्यान् स्रोतोविभेदो रक्त-
पित्तकरः तीक्ष्णत्वालपत्वे च पीतत्वोत्पादनम् । हरितत्वं नीलत्वं च कोथावस्थां गते इति कोथा-
द्धीनसत्त्वं मलरूपेऽसृजि हरितनीलवर्णोत्पत्तिः । एवं दाहः कोथः ऊष्मवृद्धिश्चेति पित्तविकारेषु
सर्वेषु सामान्यम् । केषुचिद्दाहः केषुचित्कोथः केषुचिदुष्मवृद्धिश्चेति । (५०-५७)

उष्माऽभिवृद्धो गात्रेषु संतापं जनयत्यति ।

नोत्पादयेद्विदग्धत्वं न वा कोथकरो भवेत् ॥ ५८ ॥

द्रवस्वरूपे विकृते पित्ते तैक्ष्ण्यं विवर्धते ।

तैक्ष्ण्याद्दाहश्च कोथश्च क्लेदः समुपजायते ॥ ५९ ॥

विदाहः क्लेदनं धातुस्रोतसामवदारणम् ।

कामलारक्तपित्ताद्याः कुष्ठपांडुभ्रमादयः ॥ ६० ॥

मुखका गंध आना (४०) रक्तविस्फोटक याने लाल रंगके फोडे । ४२-४८ ॥

इन सभी याने ४० पित्त विकारोंमें उष्ण व तीक्ष्ण गुणोंकी अभिवृद्धि होती है याने उष्ण व तीक्ष्ण गुणके अभिवृद्धिमूलकही सब पित्तविकार हैं । ४९ ॥

अब ४० पित्तविकारोंका सामान्यरीतिसे स्वरूपनिर्दर्शन करते हैं । अन्न कोष्ठमें जानेके बाद ठीक विपाचित नहीं होता तब उसमें अम्लत्व आ जाता है । जिसके कारण खड़े डकार आने लगते हैं, कंठमें खट्टापन प्रतीत होता है और जलन होने लगती है । इसप्रकार आहारके विदग्ध होनेसे कोष्ठमेंभी दाह होने लगता है । याने रक्तगत पित्त बढ जानेसे सर्व शरीरमें दाह होने लगता है । कटु, अम्ल, तीक्ष्ण व उष्ण आहारसे रक्त दूषित हो जाता है । जब वह विदग्ध याने अयथावत् पक्व, स्वाभाविकसे अधिक अम्ल व तीक्ष्ण होता है तब अधिक दाह करने लगता है । शुद्ध स्वरूपमें रक्त मधुर व लवण रुचिका, समशीतोष्ण और असंहत याने पतला रहता है । तीक्ष्णादि आहारके कारण उसमें अस्वाभाविक तीक्ष्णत्व व अम्लत्व बढ़ता है । और वह विशेष दाह करने

विकारा विविधा दाहक्लेदकोथात्मका अमी ।

पित्तविकाराणां दाहात्मकत्वं दर्शयितुमुच्यते । **उष्मा इति** द्रवहीनमुष्णत्वम् । **संताप** ऊष्मणोऽभिवृद्ध्या गात्रेषु तापः । ननु शरीरस्यार्द्रत्वात् पित्तं शरीरगतं द्रवद्रव्यं विहाय कथं नाऽभिवृद्धिं यायादुष्मस्वरूपेणेति ? । द्रवद्रव्याश्रितेऽपि पिने द्रवत्वं जलांशभूयिष्ठं तदूनत्वे ऊष्मण आधिक्यं जायते अपि तु न द्रवाभिवृद्धिः । ऊष्णतीक्ष्णादियुग्मभूयिष्ठानां द्रव्याणामत्युपयोगा-
पदा पित्तस्यैवंविधस्याभिवृद्धिस्तदोष्मणा सह द्रवस्याप्यभिवृद्धिः । द्रवाश्रित एव विदग्धत्वमिति द्रवरहित उष्मा विदग्धत्वं नोत्पादयेत् । प्रमाणावस्थितं द्रवाश्रितं पित्तं सारकिट्टरूपेण पचनकर्म-
रूढपि तत्कर्मणैव केषांचन द्रव्यांशानां परस्परसंधानम् । स्वप्रमाणाद्विषमतां गते च संधानहानेः सर्व एव द्रव्याणवः पृथग्भावमास्थिताश्चातिदग्धा भवन्तीत्यवस्थेऽयं विदग्धत्वसंज्ञयाऽख्यायते ।
ततश्च विदग्धत्वं विच्छेदनात् विनाशकरं भवति । **कोथकरो न भवेदिति** द्विदग्धत्वाभावात् । विदाहाद्घातूनां विनाशोन्मुखत्वं कोथ इति । **द्रवस्वरूपे** द्रवाश्रिते । **तीक्ष्णं** तीव्रोष्मता । **दाहः** विदग्धत्वम् । **कोथोऽभिहितस्वरूपः** । **क्लेदः** घनद्रव्येभ्यो (मांसरूपेभ्यो) द्रवस्य पृथग्भावः । **विदाहादयो विकाराः** चत्वारिंशत्पित्तविकारेषु परिगणिताः **दाहक्लेद-
कोथात्मका इति** दाहात्मकाः केचित्, क्लेदात्मकाः केचित् केचिच्च कोथात्मका इति । (५८-६० ॥)

आहारस्य रसादीनां धातूनां पित्तकोपतः ॥ ६१ ॥

लगता है । इस तीक्ष्णत्वके कारण त्वचा फटने लगती है, मांसशोणितमें क्लेद होने लगता है और रक्तकोठ व रक्तमंडल त्वचापर उठने लगते हैं । रक्तके अति तीक्ष्णत्वके कारण रक्तवाहिनियां फटकर उनमेंसे पित्तयुक्त रक्तस्राव होने लगता है । यह पित्तयुक्त रक्तस्राव अधोमार्गसे याने गुद व मूत्रमार्गसे तथा उर्ध्वमार्गसे याने नासा, नेत्र मुखादिमार्गसे होता है—जिसको रक्तपित्त कहते हैं । रक्तके तीक्ष्ण-
त्वकेही कारण नासामुखादिगत पेशीओंके आवरणरूपिणी कलाओंका (अंत-
स्त्वचाका) पाक होता है और मुखपाक, गुदपाक आदि विकार होते हैं । रक्त-
गत पित्त अपने प्रमाणसे अधिक जब बढ जाता है, विदग्ध होकर रक्तको जलाने
लगता है । विदग्ध रक्तही त्वचा आदिपर पीलापन उत्पन्न करता है । तीक्ष्णत्वके
आधिक्यके कारण रक्त दूषित होता है तब रक्तवह स्रोतसोंमें व्रण होनेसे
रक्तपित्त उत्पन्न होता है । और तीक्ष्णत्वकी मात्रा कम रहती है तब त्वचा
आदिपर पीतत्व आजाता है । रक्तका जब कोथ होता है याने रक्त जब सङ्ग
जाता है अर्थात् मलरूप हो जाता है, हरित व नील रंगकी उत्पत्ति करता है ।

प्रदुष्टं पचनं दाहसंज्ञया परिकीर्त्यते ।

दाहस्वरूपाः प्रायेण विकाराः पित्तसंभवाः ॥ ६२ ॥

आहारस्य धातूनां च प्रदुष्टं विकृतं पचनं दाहः । विकाराश्च प्रायेण दाहरूपाः ।
पित्तविकाराः पचनक्रियावैषम्याज्जायन्ते दाहश्चैषां सामान्यं स्वरूपमिति (६१-६२)

चत्वारिंशदभिख्याता विकाराः पित्तकोपतः ।

एतेषु परिसंख्याताः पौनःपुन्येन केचन ॥ ६३ ॥

दाहाख्यानेनांगदाहोऽनाख्यातोऽप्यनुमीयते ।

आख्यानादंगदाहस्याऽख्यातश्च द्रव्यधुर्भवेत् ॥ ६४ ॥

त्वङ्मांसदरणाद्भिन्नं न स्याच्चर्मावदारणम् ।

हरितत्वं तथा हारिद्रत्वमाख्यातमेकदा ॥ ६५ ॥

तन्नेत्रमूत्रवर्चःसु पुनरप्यभिभाषितम् ।

एवं पित्तविकारेषु द्विरुक्तिरुपलक्ष्यते ॥ ६६ ॥

चत्वारिंशदभिख्याता इति चरकसंहितायामुक्ताः । पौनःपुन्येनेति पुनः
पुनः । यथा — दाहाख्याने पुनरांगदाहकथनम् । अंगदाहाख्याने द्रव्यधुरित्याद्याः स्वरूपसदृशा
एव केचित् पुनराख्याताः । अंगादिभेदाद्विज्ञानामपि दाहादिस्वरूपसाम्यानां ग्रहणादेव चत्वारि-
ंशसंख्या पूर्तिरिति । (६३-६६)

सारांश, सामान्यतया पित्तरोगोंमें दाह, कोथ और उष्णताकी वृद्धि ये
मुख्य लक्षण होते हैं । ५०-५७ ॥

पित्तविकारोंकी दाहात्मताका अब वर्णन करते हैं । केवल उष्मा याने द्रव-
हीन पित्त शरीरमें बढ़ता है—शरीरमें संताप (स्वाभाविकसे अधिक उष्णता)
उत्पन्न करता है । यहाँपर शंका यह होती है कि, जब शरीर आर्द्र है, तो
शरीरगत द्रवद्रव्यके बिना पित्तकी ऊष्मास्वरूपसे वृद्धि कैसी हो सकती है ? किंतु
इसका उत्तर सरल है । यद्यपि पित्त द्रवद्रव्यमें आश्रित रहता है, द्रवत्वमें जो
जलांश रहता है उसके कम होनेके कारण उष्णताका आधिक्य हो जाता
है, किंतु उष्णतीक्ष्णादि गुणभूयिष्ठ द्रव्योंके अतिउपयोगसे जब पित्तकी वृद्धि हो
जाती है तब ऊष्माके साथ द्रवद्रव्यकीभी वृद्धि होती है । विदग्धत्व द्रवाश्रित
रहता है । इसलिये जब केवल याने द्रवरहित ऊष्मा बढ़ता है, वह विदग्धत्वको
उत्पन्न नहीं करता । द्रवाश्रित पित्त अपने स्वाभाविक प्रमाणमें सारकिट्टका विभा-
जन करता हुआभी अपने पचन क्रियाके कारणही कुछ द्रव्यांशोंका परस्परसंधान

तृप्तिस्तंद्रा च निद्राया आधिक्यं गुरुगात्रता ।
 स्तैमित्यं च तथाऽलस्यं स्नावो मधुरता मुखे ॥ ६७ ॥
 मलाधिक्यं बलासश्चोद्विरणं श्लेष्मणस्तथा ।
 कण्ठस्य हृदयस्योपलेपः श्वेतावभासता ॥ ६८ ॥
 धमनीनां प्रतिचयोऽदर्दः शाताग्निता तथा ।
 गलगण्डस्तथैवातिस्थौल्यं च परिकीर्तितम् ॥ ६९ ॥
 नेत्रमूत्रपुरीषेषु श्वेतत्वमिति विंशतिः ।
 अविष्कृततमाः श्लेष्मविकाराः परिकीर्तिताः ॥ ७० ॥

चरकसंहितायामुक्ता विंशतिः श्लेष्मविकारा यथा— (१) तृप्तिः अभुक्तेऽपिभुक्तवत् ।
 (२) तंद्रा अस्वप्ने सप्रगत इव चेष्टाहानिः । (३) निद्राधिक्यम् अतिनिद्रा (४) गुरुगात्रता
 जडांगत्वम् । (५) स्तैमित्यं त्वग्वहिः शीताधिक्यस्यानुभवः (६) आलस्यं अनुसाहः कर्मणि ।
 (७) स्नावः (८) माधुर्यं च मुखे पानीयवत्स्नावः मधुरत्वं च । (९) मलाधिक्यम् ।
 नासानेत्रादिषु । (१०) बलासः बलक्षयः मंदज्वरित्वं स्थूलांगता वा इति चक्रपाणिनाऽर्थ
 प्रयमाख्यातं बलासस्य । तत्र बलक्षयस्य वातविकारत्वात् स्थूलांगतायाश्च वक्ष्यमाणेनातिस्थौल्ये-
 नाभिदात् मंदज्वरित्वं ग्राह्यम् । (११) उद्विरणं श्लेष्मणः इति मुखेन श्लेष्मस्नावः । उपलेपः

करता है । किंतु पित्तका स्वाभाविक प्रमाण जब विध्वज जाता है, इस संधान-
 क्रियामें भी हानि हो जाती है और पृथक्भूत सब द्रव्याणु अतिदृग्ग हो जाते हैं ।
 इस अवस्थाकोही 'विदग्धत्व' संज्ञा है । विदग्धत्व विश्लेषण क्रियासे
 विनाशक बनता है । द्रवरहित ऊष्मा जब बढ़ता है तब न विदग्धत्वको उत्पन्न
 करता है न कोथ उत्पन्न करता है । धातुओंके विदाहके कारण अणुओंमें जो
 विनाशोन्मुखता उत्पन्न होती है उसको कोथ कहते हैं और जब विदग्धता नहीं
 होती कोथभी नहीं उत्पन्न होता । द्रवस्वरूप याने द्रवाश्रितपित्त विकृत होनेपर
 तैक्ष्ण्य याने ऊष्माकी तीव्रता बढ़ती है । और तीक्ष्णताके कारण दाह
 (विदग्धता), कोथ तथा क्लेद याने घनद्रव्यमेंसे द्रवका पृथक् होना उत्पन्न
 होते हैं । विदाह, क्लेदन, धातु व स्रोतसोंका विदारण, कामला, रक्तपित्त, कुष्ठ,
 पांडु, भ्रम आदि नानाविध विकार दाह, क्लेद व कोथात्मक होते हैं । सारांश ४०
 पित्तविकारोंमेंसे कुछ दहात्मक, कुछ क्लेशात्मक व कुछ कोथात्मक होते हैं । ५८-६० ॥

आहारके तथा रसादि धातुओंके, पित्तप्रकोपसे पचन विकृतिकोही दाह

(१२) कण्ठस्य (१३) हृदयस्य च । इति श्लेष्मणाऽवलिप्त इव कंठहृदये । (१४) श्वेतावभा-
सता त्वचि श्वेतत्वम् । (१५) धमनीनां प्रतिचयः वातवाहिनीनामवरोध इव । (१६)
उर्द्धः कंड्वान्वितानि कोष्ठमंडलानि । (१७) शीताग्निता मंदग्नित्वम् । (१८) गलगंडः
कंठोद्धवो गंडरूपः शोथो लंबमानो गलगंडसंज्ञः । (१९) अतिस्थौल्यं स्तनोदरादीनां स्थूलत्वे-
नोपलक्ष्यम् । (२०) नेत्रमूत्रपुरीषेषु श्वेतावभासता श्वेतत्वमित्याविष्कृततमा व्यक्तरूपाः
श्लेष्मविकारा विंशतिः । (६७-७०)

शीतत्वं संचयाधिक्यमग्निमांद्यमिति त्रयम् ।

श्लेष्मोद्भवेषु सर्वेषु विकारेष्वनुवर्तते ॥ ७१ ॥

श्लेष्मविकाराणां सामान्यस्वरूपनिदर्शनार्थमुच्यते । शीतत्वं शैत्यामिवृद्धिः । संच-
याधिक्यं शरीरद्रव्यविशेषेषु संग्रहाधिक्यम् । अतिवृद्धिरिति । अग्निमांद्यं पचनक्रियाहीनत्वम् ।
श्लेष्मविकारेष्वेतत् त्रयं व्युत्पन्नं समस्तं वाऽनुवर्तते इति । (७१)

श्वेतावभासता श्वेतनेत्रमूत्रपुरीषा ।

श्वेतावभाससामान्यादेकरूपमिदं द्वयम् ॥ ७२ ॥

श्लेष्मविकारेषु श्वेतावभासता श्वेतनेत्रमूत्रपुरीषता चेति विकारद्वयं पृथक्त्वेनाख्यातमपि
श्वेतावभासत्वसामान्यादेकमेव स्वरूपेणेति । (७२)

कहते हैं । प्रायः सभी पित्तज विकार दाहस्वरूपके होते हैं याने पचनक्रियाकी
विकृतिसेही वे उत्पन्न होते हैं और उनमें सामान्यरूपमें दाह होता है । ६१॥६२॥

चरकसंहितामें वर्णित ४० पित्तविकारोंमें कुछ तो पुनरुक्त हैं । जैसे दाह
कहनेपरभी पुनः अंगदाहका निर्देश किया है, अंगदाह कहनेपर पुनः दवथु-
काभी वर्णन किया है । वास्तवमें अंगदाह, दवथु आदि दाहकेही भेद हैं ।
इसीप्रकार त्वचा व मांसके विदारणके चर्मका विदारण भिन्न नहीं है । एवं हरि-
तत्व व हरिद्रत्वका निर्देश कर पुनश्च नेत्र, मूत्र आदिका हरितत्व व पीतत्व
बतलाया है । इसप्रकार पित्तविकारोंकी गणनामें द्विरुक्ति प्रतित होती है । ६३ ॥
६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अब श्लेष्मविकारोंका वर्णन करते हैं । चरक संहितामें निम्न लिखित २०
कफविकार बतलाये गये हैं:—(१) तृप्ति याने बिना भोजन कियेही भोजनके
समान समाधान होना । (२) तंद्रा याने जागृत अवस्थामेंभी निद्रित मनुष्यके समान
क्रियाहानि । (३) निद्राधिक्य (४) गुरुगात्रता याने शरीरमें जडत्व

घातादास्ये कषायत्वं रसाश्लत्वं च जायते ।
 कटुतिक्तास्यता पित्तात् श्लेष्मणा मधुरास्यता ॥ ७३ ॥
 रसावबोधके द्रव्ये रसनायामवस्थिते ।
 श्लेष्माभिधे पित्तकफं मिश्रीभूय विवर्धितम् ॥ ७४ ॥
 आस्ये कटुत्वं तिक्तत्वं माधुर्यं जनयेत्कमात् ।
 संभूयमानमाहाररसे स्वीयरसानुगम् ॥ ७५ ॥
 संशोष्यमाणे रसनेन्द्रिये रूक्षणे वायुना ।
 क्लेदाभावादन्नरसो न सम्यगवबुध्यते ॥ ७६ ॥
 अव्यक्तत्वादसस्यास्ये कषायत्वं प्रजायते ।
 घातात्संज्ञावाहिनीनां रसाज्ञानं च जायते ॥ ७७ ॥

वातादीनां विकारेषु रसवैषम्यरूपाणां कटुतिक्तास्यतादीनां स्वरूपं निर्दिश्यते । वाता-
 दित्यादि कषायास्यत्वादीनि वातादिभिर्जायन्त इत्युक्तम् । रसावबोधके आहारादिद्रव्यरस-
 ज्ञानकरे द्रव्ये बोधकश्लेष्मास्ये । रसनायामवस्थिते इति रसनास्रोतोगते । पित्तकफं
 पित्तं कफश्च । कटुत्वं तिक्तत्वं पित्तात् कफाश्च माधुर्यम् । संशोष्यमाणे क्लेदाप्यत्वात् शुष्के । रस-
 नेन्द्रिय इति रसनेन्द्रियाधिष्ठाने जिह्वायाम् । रसः सम्यग्ज्ञावबुध्यते । क्लेदनाद्विलीनानां द्रव्या-

प्रतीत होना । (५) स्तैमित्य याने त्वचापर शीताधिक्यका अनुभव होना ।
 (६) आलस्य याने अनुत्साह । (७) मुखास्त्राव मुखमेंसे पानीका जैसा स्राव होना ।
 (८) मुखमाधुर्य मुखमें निस्य मधुर रुचि प्रतीत होना । (९) मलाधिक्य याने
 नासानेत्र आदिमें अधिक मलसंचय होना । (१०) बलास । चक्रपाणिने
 बलास के तीन अर्थ दिये हैं । वे हैं बलक्षय, मंदज्वरत्व व स्थूलांगता ।
 किंतु इनमेंसे बलक्षयका समावेश वातविकारोंमें होता है । स्थूलांगताका निर्देश
 आगे स्थौल्यमें आया है । अर्थात् मंदज्वरताही बलासका अर्थ समझना चाहिये ।
 (११) श्लेष्मोद्विगण मुखसे कफका स्राव होना । (१२) कंठोपलेप कंठ श्लेष्मासे
 लिप्त होना । (१३) हृदयोपलेप हृदय श्लेष्मासे लिप्त होना । (१४)
 श्वेतावभासता याने त्वचापर श्वेतरंग दिखायी देना । (१५) धमानीप्रतिचय
 वातवाहिनीओंका अवरोध । (१६) उर्द्व याने त्वचाके ऊपर कंडु [खुजली]
 युक्त मंडलोंका निर्माण होना । (१७) शीताग्निता याने अग्निमांस (१८) गलगंड
 याने कंठमें [बाह्य भागमें] उत्पन्न होनेवाला गंडरूप शोथ जो गलेपर लंबमान

शानां रसनास्रोतःप्रवेशाद्रसबोधनमिति । अव्यक्तत्वात् कषायत्वम् परिपाके मधुराणां
आम्रादीनां फलानां बाल्येऽव्यक्तो रसः कषाय इत्यनुभूयते । घातादिति वधात् । संज्ञावाहि-
नीनां रसस्वादकराणाम् । रसाज्ञानं असंज्ञत्वं जायते । (७३-७७)

दोषोद्भवानां संख्याने विकाराणां विनिश्चिते ।

द्रव्यस्थानक्रियाभेदादीनां युक्तिर्न दृश्यते ॥ ७८ ॥

अशीतिवर्तविकाराश्चत्वारिंशत्पित्तविकारा विंशतिः श्लेष्मविकारा इति विकाराणां विनि-
श्चिते संख्याने परिगणने । द्रव्यादिभेदस्वरूपा युक्तिः योजना न दृश्यते । द्रव्याणां तत्रास्थ-
नि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः । इत्यादिनाऽख्यातानाम् । स्थानानां पकाशयकटीसक्थि
इत्यादिना निर्दिष्टानाम् । क्रियाणां वा श्वसनपचनादीनां वैषम्यानुसारेण विकाराश्चेति न परिगणिता
दृश्यन्ते । आविष्कृततमा इत्याख्यातेऽपि नखदन्तभेदाद्या वायोरारख्याता वातरक्तामवाताद्याः कष्टरूपा
अपि न परिगणिताः पित्तस्यांगदाहदवयुश्लोषस्वरूपाः कथिता न कुष्ठमसूरिकादिस्वरूपाः । श्लेष्मण अंग-
गौरवालस्यादयश्चाभिहिता न यक्ष्मप्रमेहादयः कृच्छ्रसाध्यरूपाः । ततश्चाशीत्यादिसंख्याविनिश्चयः केन
वा युक्तिविशेषेण विहितः किंवा विकाराणामाविष्कृततमत्वलक्षणमिति यथावन्नाधिगम्यत इति । (७८)

स्वाभाविकं कर्म वातादीनां देहोपकारकम् ।

जायते विपरीतं तन्नाम्ना विकृतिरुच्यते ॥ ७९ ॥

दिखाई देता है । (१८) अतिस्थौल्य [इसमें स्तन व उदरका स्थौल्य मुख्यतासे
दिखाई देता है ।] (२०) श्वेतावभासत्व नेत्र, मूत्र, पुरीष आदिका रंग श्वेतसा
प्रतीत होना । येही २० श्लेष्माके व्यक्तरूपके विकार हैं । ६७-७० ॥

शीतत्व याने शैल्याभिवृद्धि, संचयाधिक्य याने शारीर द्रव्योंकी अधिक
वृद्धि होना और अग्निमांघ याने पचनक्रियाका मंदत्व ये तीन लक्षण अकेले वा
सभी एकदम सब श्लेष्मविकारोंमें रहते हैं । ७१ ॥

यद्यपि श्वेतावभासता व श्वेतनेत्रमूत्रपुरीषता ये दो पृथक् विकार बतलाये
गये हैं, वास्तवमें उनका स्वरूप एकसाही है । ७२ ॥

वातके कारण मुखमें कषायरुचिका अनुभव होता है । तथा रस [रुचि] का
ज्ञानभी नहीं होता । पित्तके कारण मुख कटु व तिक्तरसका अनुभव करता
है । और कफके कारण मधुर रसका । जिह्वापर याने जिह्वापेशीगत स्रोतसोंमें
बोधक कफ नामका रसज्ञान करा देनेवाला द्रव्य रहता है । उसमें जब पित्त
बढ़कर मिश्र होता है, तिक्त व कटु स्वाद होता है और कफ बढ़कर मिश्रित

सभ्यागत्या हि धातूनां गतिर्देहोपकारिणी ।

विपरीता शूलसंज्ञा नानाविकृतिकारिणी ॥ ८० ॥

सम्यक् पाकादि धातूनां पक्तिर्देहोपकारिणी ।

विपरीता दाहसंज्ञा नानाविकृतिकारिणी ॥ ८१ ॥

धातुसंहननात्सम्यक् क्रिया देहोपकारिणी ।

श्लेष्मणाख्या विरुद्धा सा शोथसंज्ञाऽपकारिणी ॥ ८२ ॥

स्वाभाविकानां गतिपक्तिषोषणाख्यानां कर्मणां वैषम्यमेव त्रिविधं सर्वविकारारम्भकमिति दर्शयति । वातादीनां स्वाभाविकं कर्म विपरीतं जायते तदा विकृतिरुच्यते । यथा - देहोपकारिणी गतिर्विपरीता शूलसंज्ञा । पक्तिः पचनम् । विपरीता दाहसंज्ञा । श्लेष्मणाख्या क्रिया विपरीता शोथसंज्ञा । शूलदाहशोथात्मकानां त्रिविधानां विकारणामुत्पादकमिदं त्रिविधं कर्मवैषम्यम् (७९-८२)

गतिः पक्तिःश्लेष्मणं च तिस्रः स्वाभाविकाः क्रियाः ।

शूलो दाहश्च शोथश्च तद्विकारास्त्रयो मताः ॥ ८३ ॥

गतिरित्यादि । गत्याद्याः क्रियास्तिसस्तासां शूलादयस्त्रयो विकाराः क्रमादिति । (८२)

वातादीनां प्रदुष्टानामामद्रव्यस्य वा पुनः ।

होता है, मधुर स्वाद होता है । किंतु जब वायुकी रूक्षताके कारण रसनेन्द्रिय याने जिह्वा शुष्क होती है, बोधक श्लेष्माका स्राव कम होने लगता है, जिसके कारण अन्न के स्वादका सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता । क्लेदन [द्रावण] के कारणही उसमें विलीन द्रव्यांशोंका रसनाके स्रोतसोंमें प्रवेश होकर रुचिज्ञान होता है । रस [स्वाद] के अव्यक्तताके कारण कषायत्व उत्पन्न होता है । पक्व होनेपर मधुर-स्वादका अनुभव देनेवाला आम्रफल जब कच्चा होता है तब वास्तवमें उसका कोई प्रकट स्वाद नहीं होता । किंतु व्यवहारमें उसके स्वादको कषाय संज्ञासेही जानते हैं । रसका आस्वाद लेनेवाली संज्ञावाहिनीओंका नाश होनेसे रसज्ञानभी नहीं हो सकता । ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

चरकसंहितामें जो उर्पयुक्त वातज ८०, पित्तज ४० तथा कफज २० विकारोंकी संख्या दी है वह दूष्य स्थानों एवं क्रियाओंके विभिन्नताके अनुसार उत्पन्न होनेवाले विकारोंकी नहीं है । दूष्यभेदके अनुसार विकारभेदभी हुआ करता है । जैसे बतलाया गया है कि वायु अस्थिओंमें रहता है, पित्त स्वेदरक्तमें रहता

स्थानान्तरानुसारेण विकारान्तरसम्भवः ॥ ८४ ॥

वातादीनां प्रदुष्टानां दोषाणां आमद्रव्यस्य वा स्थानान्तरानुसारेण स्थानान्तराश्रय-
विशेषान् विकारान्तराणां नानाविधानां सम्भवः । कारणसामान्येऽपि स्थानादिभेदात्कार्यरूपाणां
विकाराणां वैविध्यमिति । यथोक्तं चरकसंहितायाम् — स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।
स्थानान्तरगश्चैव जनयत्यामयान् बहून् । तथा च — प्रकुपितास्तु खलु ते प्रकोपणविशेषात्
दूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यपरिसंख्येयान् । मुश्नुतसंहितायां च-एवं प्रकुपिता-
स्तास्तान् शरीरप्रदेशानगम्य तास्तान् व्याधीन् जनयन्ति । ते यदा उदरसंनिवेशं कुर्वन्ति तदा
गुल्मविद्रध्युदराग्निसंगानाहविष्वक्विकारितसारप्रभृतीन् जनयन्ति । वातिगताः प्रमेहाश्मरीमूत्रा-
घातमूत्रदोषप्रभृतीन् । वृषणगता वृद्धीः । मेदूगता निरुद्धप्रकशोपदंशशूकदोषप्रभृतीन् । शुदगता
भगंदराशःप्रभृतीन् ऊर्ध्वत्रुजगतास्तूर्ध्वजान् । त्वड्मांसशोणितस्थाः क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि विसर्पाश्च ।
मेदोगता ग्रंथ्यपच्यर्बुदगलगंडालजीप्रभृतीन् । इति । (८४)

सौम्याः केचित्सुसाध्याश्च साध्यास्तीव्राश्च केचन ।

भवन्ति व्याधयो दोषबलावलविशेषतः ॥ ८५ ॥

हेतुस्थानविभेदानुसारं विविधानां व्याधीनां केचिन् सौम्या अल्परुजः । सुसाध्याः
सुखसाध्याः । असाध्यास्तीव्रास्तीव्ररुजः केचनेति दोषबलावलविशेषतः भवन्ति । (८५)

है इत्यादि । अर्थात् वातपित्तादि दोषोंद्वारा दूष्य धातुओंका तथा उनके पक्वाशय
कटी, सक्थि आदि स्थानोंका एवं श्वसनपचनादि क्रियाओंका विचार विकारोत्प-
त्तिका विचार करते समय ध्यानमें रखना अवश्यक होता है । इन सबके वैषम्यके
अनुसार उत्पन्न होनेवाले विकारोंकी गणना उक्त संख्यामें नहीं है । उक्त ८०
विकारोंको आविष्कृततम याने विशेष प्रकट कहा गया है । किंतु वायुके नख-
दंतादिके भेद जैसे सामान्य विकारोंका वर्णन देनेपरभी वातरक्त, आमवात आदि जैसे
कष्टकर विकारोंका निर्देशभी नहीं है । पित्तविकारोंमें अंगदाह, दबथु, प्लोष आदि
सूक्ष्मभेदभी दर्शाये किंतु कुष्ठ, मसूरिका आदि विशिष्ट रोगोंका नामनिर्देश
तक नहीं है । इसीप्रकार श्लेष्मविकारोंमें अंगगौरव, आलस्य, आदि विका-
रोंका वर्णन किया है । किंतु यक्ष्मा प्रमेह आदि कष्टसाध्य विकारोंका निर्देश नहीं ।
वातादि दोषोंके विकारोंकी [८० इत्यादि] संख्या एवं उक्त विकारोंका आविष्कृत-
तमत्व [व्यक्तत्व] किस तत्वके अनुसार निश्चित किया गया यह एक अवश्य
विचारणीय विषय है । ७८ ॥

आहारश्च विहारश्च कालः कर्म च मानसम् ।

दोषप्रकोपणमिदं स्यादपथ्यचतुष्टयम् ॥ ८६ ॥

आहारादिकमपथ्यचतुष्टयं दोषप्रकोपणमिति । कालः शीतोष्णवर्षालक्षणो विपरितस्वभावो दोषप्रकोपणो भवति । मनसि विकारमापन्ने मनोवहानां सहकारित्वेनावस्थितानां वातवाहिनीनां विकारात् धातुवैषम्योत्पादनाच्च शरीराणामपि विकाराणां कारणं मानसं कर्माख्यातम् । (८६)

हेत्वन्तरैः स्वभावाद्वाऽयलत्वं येषु विद्यते ।

स्थानेषु तेष्वेव दोषाः कुपिता व्याधिकारकाः ॥ ८७ ॥

कथं सर्वदेहव्यापित्वे दोषाणां स्थानविशेषे रोगोत्पादकत्वमित्युच्यते । हेत्वन्तरैरिति आहारविहारादिभिर्विशिष्टैः । सामान्येन दोषदूषकत्वेऽपि स्थानान्तरे विशेषेण दूषणकर्तृत्वं द्रव्येषु प्रभावसंज्ञम् । स्वभावादिति प्रकृतिविशेषात् । अयलत्वं असमर्थत्वम् येषु तेष्वङ्गेषु दोषा व्याधिकारकाः । स्थानविशेषवैगुण्यात् व्याधिविशेषसंभव इति । यथोक्तं मुश्रुतसंहितायाम् । कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यत्र संगः स्ववैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते । स्ववैगुण्यादिति स्थानवैगुण्यात् । (८७)

दोषाः शरीरसामर्थ्यात् कदाचित्कुपिता अपि ।

स्वयमेवोपशाम्यन्ते न भवेत् व्याधिदर्शनम् ॥ ८८ ॥

वातादि दोषोंके अनुक्रमसे गति, पचन व पोषण यह तीन कर्म स्वाभाविक अवस्थामें देहोपकारक हैं । किंतु उनमें वैपरीत्य याने वैषम्य उत्पन्न होनेसे शरीरमें विकृति उत्पन्न होती है । स्वाभाविक गति देहोपकारक होती है, विपरीत होनेपर उसकोही शूल कहते हैं । गतिवैपरीत्यसे अनेक विकार उत्पन्न होते हैं । धातुओंका सम्यक् पचन देहोपकारक होता है । विपरीत होनेपर उसको दाह कहते हैं और दाहसे अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है । श्लेषणक्रियाकी स्वाभाविक स्थितिमें धातुसंहनन [धातुसंघटन] यह देहोपकारक क्रिया होती है । वही विपरीत होनेपर उसको शोथ कहते हैं और शरीरमें विविध व्याधि होते हैं । सारांश शूलदाहशोथात्मक विविध विकार गति, पचन व पोषण क्रियाओंके वैषम्यके कारणही उत्पन्न होते हैं । ७९-८३

दूषित याने बिघड़े हुए वातादि दोषोंके अथवा आमद्रव्यके स्वस्थानको छोड़कर अन्य स्थानमें जानेके कारण नानाविध विकार उत्पन्न होते हैं । कारणोंमें सामान्य होते हुएभी स्थानादिभेदोंसे कार्यरूप विकारोंका वैविध्य उत्पन्न हो

कुपिता अपि दोषाः शरीरसामर्थ्यादिति दोषप्रतिकारक्षमत्वात् । शाम्यन्ते तदा व्याधिदर्शनं न भवेत् बलवतामप्यपि न व्याधिकारकमिति । यथोक्तमष्टांगहृदये-व्यायामस्निग्ध-दीप्ताग्निवयःस्थूलशालिनाम् । विरोध्यपि न पीडयै । इति । (८८)

दोषप्रशमनायाऽलं यदा न स्यात् शरीरगम् ।

स्वाभाविकं बलं हीनं जायन्ते व्याधयस्तदा ॥ ८९ ॥

यदा स्वाभाविकं हीनं बलं दोषप्रशमनायाऽलं न स्यात्तदा व्याधयो जायन्ते इति । समानैः कारणैः केषांचिदेव व्याधिसंभवे बलाबलविशेषो हेतुरिति । (८९)

स्वल्पदोषोद्भवाः सौम्या विहीनोपद्रवाश्च ये ।

व्याधयः सुखसाध्यास्ते प्रशमन्त्यौषधैर्विना ॥ ९० ॥

सम्यक्चिकित्सिता मध्यदोषाश्चोपद्रवैर्युताः ।

प्रशमन्ति विकारास्ते कष्टसाध्याः प्रकीर्तिताः ॥ ९१ ॥

प्रभूतदोषास्तीव्राश्च तीव्रोपद्रवसंयुताः ।

असाध्या व्याधयस्ते न प्रशमन्ति चिकित्सितैः ॥ ९२ ॥

सर्वेषामेव व्याधीनां साध्यत्वादिकं यथा-स्वल्पदोषोद्भवाः तत एव च सौम्याः स्वल्परुजः । विहीनोपद्रवाश्च साध्याः । औषधैरिति चिकित्साविशेषैर्विना प्रशमन्ति । मध्यदोषा

सकता है । चरकसंहितामें कहा है “ कुपित दोष स्थानांतरणं जाकर विशिष्ट हेतुओंके कारण अनेक रोगोंको उत्पन्न करता है । ” तथा “ दोष प्रकुपित होकर प्रकोपण (दोषप्रकोपहेतु) विशेषके तथा दूष्य (धातुमल) विशेषके कारण नानाविध विशिष्ट विकारोंको उत्पन्न करते हैं ” सुश्रुतसंहितामेंभी कहा है “ दोष इसप्रकार प्रकुपित होकर भिन्न २ शरीरावयवोंमें जाकर भिन्न २ व्याधिओंको उत्पन्न करते हैं । वे जब उदरमें प्रविष्ट होते हैं-गुल्म, विद्रधि, उदर, अग्निमांघ, आनाह, विषूचिका, अतिसार प्रभृति विकार उत्पन्न होते हैं । वे जब मूत्राशयमें प्रवेश करते हैं प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रदोष, प्रभृति विकारोंको उत्पन्न करते हैं । वृषणमें जानेपर दोष वृषणवृद्धिको उत्पन्न करते हैं और जननेंद्रियमें जानेपर निरुद्धप्रकश (मूत्रद्वारसंकोच) उपदंश, शूकदोष आदि विकारोंको, तथा गुदमें जानेपर भगंदर, अर्श आदि विकारोंको निर्माण करते हैं । ऊर्ध्वजत्रुमें ऊर्ध्वगत रोगोंको, त्वचा, मांस शोणितमें जानेपर क्षुद्ररोगोंको तथा कुष्ठ, वीसर्प आदि रोगोंको, मेदमें जानेपर ग्रंथि, अपचि, अर्बुद, गलगंड, अलजी आदि विकारोंको उत्पन्न करते हैं । ८४ ॥

उपद्रवयुताश्च सम्यक्चिकित्सितैः । प्रभूतदोषा अत एव तीव्रास्तीव्रोपद्रवाश्च चिकित्सितैरपि न प्रशम्यन्तीति । यथोक्तमष्टांगहृदयेः—अल्पहेत्वग्रूपरूपोऽनुपद्रवः । अनुपद्रवोऽनुपद्रवः । अतुल्यदोषदेशर्तुप्रकृतिः । सुखः । शस्त्रादिसाधनः कृच्छ्रः संकरे च ततो गदः । अनुपक्रम एव स्यात् स्थितोऽत्यन्तविपर्यये । इति वातादिदोषाणां विकारसंख्यास्वरूपदर्शनं नाम पंचमं दर्शनम् ॥ (१०-१२)

॥ इति पंचमं दर्शनम् ॥

रोगोंमेंसे कुछ सौम्य याने अल्पपीडाकर व सुसाध्य रहते हैं तो कुछ तीव्र याने विशेष पीडाकर व कुछ असाध्य रहते हैं । दोषोंके विशिष्ट बलावलके प्रमाणके कारण रोगोंकी यह सौम्यता अथवा तीव्रता अथवा साध्यता-असाध्यता उत्पन्न होती है । ८५ ॥

जिन प्रमुख चार प्रकारके अपथ्यसे दोषोंका प्रकोपण होता है वे निम्न-प्रकार हैं—१ आहार २ विहार ३ काल व ४ मानसकर्म । आहारविहारके समानही वर्षा ऋतुमें शीत, शीत ऋतुमें ऊष्मा आदि प्रकारसे काल जब विपरीत होता है उसके कारणभी दोषोंका प्रकोप हो सकता है । मानस विकृतिके कारण याने मनोवह स्रोतसोंमें अर्थात् मानसिक संवेदनाओंका सहकारित्वसे वहन करनेवाली वातवाहिनीओंके विकृतिके कारण धातुवैषम्योत्पत्ति हो सकती है जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं । ऐसे रोगोंका कारण मानस विकृतिही समझी जाती है । ८६ ॥

आहारविहारादि अन्यान्य कारणोंसे अथवा स्वाभाविक रीतीसे याने विशिष्ट प्रकृतिके कारण शरीरके जिस अथवा जिन स्थानोंमें (अवयवोंमें) दुर्बलता उत्पन्न होती है उनमें स्थित दोषही कुपित होकर व्याधि उत्पन्न करते हैं । खाद्य-द्रव्योंमें सामान्यतः दोषोंको दूषित करनेका सामर्थ्य तो रहताही है । किंतु विशिष्ट स्थानके दोषोंको कुपित करनेके उनके (द्रव्योंके) सामर्थ्यको प्रभाव कहते हैं ।

सारांश किसी विशिष्ट स्थानमें वैगुण्य उत्पन्न होता है तभी उसमें विशिष्ट व्याधिका संभव होता है । सुश्रुतसंहितामें कहा है “ कुपित दोष शरीरमें भ्रमण करते हुए जिस स्थानमें उस स्थानके वैगुण्यके कारण वे अवरुद्ध हो जाते हैं वहीं व्याधि उत्पन्न होता है । ८७ ॥

शरीरका सामर्थ्य याने दोषप्रतिकारसामर्थ्य जब पर्याप्त रहता है, दोष दुष्ट होनेपरभी व्याधि उत्पन्न नहीं हो सकता । दूषित दोष स्वयं शांत हो जाते हैं । इसलिये कहा है कि, बलवान् व्यक्तिओंको अपथ्यसेभी व्याधि नहीं होता । अष्टांगहृदयमें कहा है “ व्यायाम करनेवाले, स्निग्ध (मेद मज्जा आदि स्निग्धधातुपूर्ण) जिनका अग्नि प्रदीप्त है, जो युवा हैं और जो बलशाली हैं उनको विरोधी—अपथ्य आहारविहारसेभी पीडा (व्याधि) नहीं होती ” । ८८ ॥

जब शरीरका स्वाभाविक बल हीन हो जाता है और अपनी शक्तिसे दोषोंका प्रशम करनेके लिये वह पर्याप्त नहीं होता, उससमय व्याधि उत्पन्न हो सकता है । व्यध्युत्पत्तिमें शरीरका बलाबलही विशेष कारणीभूत होता है । ८९ ॥

व्याधिओंके साध्यासाध्यत्वके विषयमें अब कहते हैं । अल्पदोषोद्भव, सौम्य याने जिनमें पीडा कम रहती है और जिनमें उपद्रवभी नहीं रहते ऐसे व्याधि सुखसाध्य होते हैं और बिना औषधीकेभी उनका प्रशम हो सकता है । जिनमें दोषोंका प्रकोप मध्यम प्रकारका रहता है व जिनमें उपद्रव रहते हैं और जिनकी उचित चिकित्सा करनेसे वे शांत हो सकते हैं उन व्याधिओंको कष्ट-साध्य व्याधि कहते हैं । जिनमें दोष अतिशय प्रमाणमें कुपित होते हैं, जो स्वयं तीव्र होते हैं और जिनके उपद्रवभी तीव्र होते हैं उन व्याधिओंको असाध्य समझना चाहिये । चिकित्सा करनेपरभी वे शांत नहीं हो सकते । अष्टांगहृदयमें कहा है “ अल्प हेतुके, अल्परूपके व बिना उपद्रवके तथा दोष, देश व ऋतुके संबंधमें जिनमें समानता नहीं होती ऐसे व्याधि सुखसाध्य होते हैं । शस्त्रादि साधनद्वारा चिकित्सा करनेयोग्य तथा जिनमें उपद्रव होते हैं ऐसे व्याधि कृच्छ्र [कष्ट] साध्य होते हैं । और जिस व्याधिमें दोषोंका आत्यंतिक विपर्यय [वैपरीत्य] रहता है वे चिकित्सा करनेके अयोग्य याने असाध्य होते हैं । ”

॥ वातादिदोषोंके विकारोंकी संख्या व स्वरूपदर्शन नामक पंचम दर्शन समाप्त ॥

षष्ठं दर्शनम् ।

(शूलदाहशोथात्मकविकारत्रैविध्यदर्शनम्)

शरीरसंवृद्धिकराः सर्वाः स्वाभाविकाः क्रियाः ।

वैषम्यं विविधं तासां व्याधयः क्षयकारकाः ॥ १ ॥

स्थानसंस्थानभेदेन विकारा विविधा अपि ।

क्रियावैषम्यभेदेन शरीरक्षयकारणाः ॥ २ ॥

कथं वा वातादीनां तत्क्रियाणां च वैषम्यं विविधव्याधिकारणं भवतीति निदर्शनार्थं-
मुच्यते । शरीरसंवृद्धिकरा इति शरीरधातूनां बलस्य च वृद्धिकराः । श्वसनपचनादिभि-
रेव शरीरपोषणं भवतीति । वैषम्यं व्याधय इति वातादिक्रियावैषम्यमेव व्याधिसंज्ञम् । उक्तम-
ष्टांगहृदये—रोगस्तु दोषवैषम्यम् । चरकसंहितायां च—रोगस्तु धातुवैषम्यम् इति । विकृतानां
दोषाणां क्रियावैषम्यानंतरमेव व्याधिसंभवात् । क्रियावैषम्यं व्याधय इत्याख्यातम् । रोगस्तु दोष-
वैषम्यमित्युक्तवता वाग्भटेनापि तेषामुन्मार्गगमनानन्तरं रोगसंभवो दर्शितः । यथा—कोपस्तून्मार्ग-
गामिता । लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसंभवः इति । स्थानसंस्थानभेदेनेति स्थान-
विशेषाणामाशयाद्यभिधेयानाम् । संस्थानानां लक्षणानां ज्वरातीसारादीनामनुसारेण । क्रियावै-
षम्यभेदेन विविधस्य क्रियावैषम्यस्य स्थानभेदादिना भेदः । शरीरक्षयकारणाः शरीरधातूनां

षष्ठदर्शन

(शूलदाहशोथात्मक विकारत्रैविध्यदर्शनम्)

वातादि दोषोंका तथा उनकी क्रियाओंका वैषम्य किस प्रकार व्याधि-
ओंको उत्पन्न करता है इसका अब प्रस्तुत दर्शनमें विवरण करते हैं । शरीरकी
श्वसनपचनादि स्वाभाविक क्रियाओंसे शरीरके धातुओंकी एवं बलकी वृद्धि होती
है । उनके विविध प्रकारके वैषम्यकोही व्याधि कहते हैं और उनसे शरीरकी
स्वाभाविक क्रियाओंका क्षय होता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ दोषवैषम्यही
रोग है । ” चरकसंहितामें कहा है “ धातुवैषम्यही रोग है । ” विकृत
दोषोंकी क्रियाओंमें वैषम्य उत्पन्न होनेपरही व्याधि उत्पन्न हो सकता है । अर्थात्
वास्तवमें क्रियावैषम्यकोही व्याधि कहा जाता है । वाग्भटनेभी—जिसने दोष-
वैषम्यकोही रोग कहा है—यह मानलिया है कि, दोष उन्मार्गगामी होनेपरही
रोगसंभव हो सकता है कारण कोपकी व्याख्या देते समय वाग्भटने कहा है

क्रियाणां च न्यूनाधिकप्रमाणेन सर्वाङ्गैर्काङ्क्षंभवानां व्याधीनां बलाबलत्वानुसारेण शरीरधातूनां ऋास इति सर्वव्याधीनां परिणामः । (१-२)

क्षीयन्ते धातवः कैश्चित् व्याधिभिः सर्वदेहगाः ।

रसादीनामन्यतमाः कैश्चिद्गान्त्रान्तरस्थिताः ॥ ३ ॥

सर्वधातुक्षयकराः कथ्यन्ते सार्वदेहिकाः ।

स्थानान्तराश्रिताश्चान्ये रोगाः प्रादेशिका इति ॥ ४ ॥

सर्वांशेन क्षयं केचित्क्रियतांशेन केचन ।

रोगाः कुर्वन्ति धातूनां बलाबलविभेदतः ॥ ५ ॥

क्षीयन्त इति ऋासमाप्नुवन्ति । कैश्चित् व्याधिभिः सर्वदेहगाः । रसादीनामन्यतमा इति सर्वे धातवः सर्वदा न व्याधिभिः क्षीयन्ते । गान्त्रान्तरस्थिताः अङ्गविशेषेष्ववस्थिताः । कैश्चित् व्याधिभिः कदाचित् सर्वे सर्वशरीरगा धातवः क्षीयन्ते । कदाचिदन्यतमाः । कदाचिदङ्गविशेषगताः सर्वे क्षीयन्ते कदाचित् केचिदेवेति । सर्वधातुक्षयकरा इति शरीरगानां सर्वेषां धातूनां रसरक्तादेरन्यतमस्य वा सर्वदेहगतस्य । सार्वदेहिकाः सर्वशरीरव्यापिन इति कथ्यन्ते । स्थानान्तराश्रिता इति केपुचिदेव स्थानेषु समुत्पन्नाः । प्रादेशिकाः । सर्वांशेनेति असाध्यवस्थायामेव । बलाबलविभेदतः व्याधीनां बलाबलानुसारेणेति । (३-५)

“ दोषोंकी उन्मार्गगामिताकोही कोप कहा हैं । कोपावस्थामेंही दोष अपने २ चिन्होंको प्रकट करते हैं और रोगोत्पत्तिभी होती है । ” आमपक्वाशयादि भिन्न २ स्थान तथा लक्षणोंके भेदके अनुसार रोग नानाविध होते हैं । किंतु शारीरिक धातुओंका क्षय करना यह रोगोंका कार्य-परिणाम-चलनपचनादि क्रियाओंके वैषम्यके अनुसारही होता है । विकार नानाविध होनेपरभी धातुक्षयरूपी रोगोंका परिणाम त्रिविधही होता है । १ ॥ २ ॥

कुछ व्याधिओंके कारण सब शरीरके सभी अथवा कुछ धातुओंका ऋास होता है तो कुछ व्याधिओंके कारण विशिष्ट अवयवोंमें स्थित धातुओंमेंसे सबका अथवा कुछहीका क्षय होता है । जिनमें सब धातुओंका अथवा सर्व शरीरमें संचार करनेवाले एक अथवा अनेक धातुओंका क्षय होता है उनको सार्वदेहिक रोग कहते हैं । कारण रसरक्तादि धातु अकेलेभी सर्व शरीरव्यापी हैं । विशिष्ट स्थानोंमेंही उत्पन्न होनेवाले रोग प्रादेशिक कहे जाते हैं । कुछ रोग (असाध्य अवस्थामें) धातुओंका संपूर्ण क्षय करते हैं तो कुछ अंशतः क्षय करते हैं । रोगके

दोषाणामामयुक्तानां प्रदुष्टानां यदा भवेत् ।
 स्वाभाविकेन धातूनां सामर्थ्येन प्रतिक्रिया ॥ ६ ॥
 तदा व्याधिविनाशः स्याद्धातूनां चाभिवर्धनम् ।
 दुष्टदोषप्रशमने धातवश्चाक्षमा यदा ॥ ७ ॥
 धातवः संक्षयं यान्ति रोगाश्चासाध्यतां तदा ।

शरीरसामर्थ्यादोषाणां प्रतिकारे संजाते चिकित्सां विनैव व्याधिनाशो भवेत् । धातवो यदा दोषप्रशमने चिकित्सासहाय्येनाप्यक्षमास्तदा रोगाश्चासाध्यतां यान्तीति । व्याधिस्वरूपविवेचन-प्रसंगेन पूर्वप्रकरणोक्तस्य पुनरुक्तिः । (६-७)

उत्पादनाल्पता चातिसंक्षयः क्रमवर्जितः ।
 धातुक्षयः स्याद्द्विविधः क्रियावैषम्यभेदतः ॥ ८ ॥

शरीरधातूनां न्हासो हेतुद्वयाद्वर्ततेति दर्शयितुमाह । उत्पादनाल्पता इति धातूनां नित्योत्पादस्य हीनत्वम् । अतिसंक्षयः न्हासस्याधिक्यम् । क्रमवर्जित इति उत्पत्तिन्हासयोः स्वाभाविकं क्रमं विहाय । क्रियावैषम्यभेदतः पचनपोषणादिक्रियावैषम्यानुसारेणेति । (८)

उपभुक्तं सम्यगन्नं धातूनामुपवृंहणम् ।
 धातूत्पत्तिकरं न स्यात् वैषम्याद्देहकर्मणात् ॥ ९ ॥

बलावलानुसारं धातुओंका न्यूनाधिक प्रमाणमें क्षय होता है । ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

आमयुक्त व दुष्ट दोषोंकी शरीर धातुओंके स्वाभाविक सामर्थ्यसेही प्रतिक्रिया होती है तब बिना चिकित्सासेही रोगका नाश हो जाता है और धातुओंकी वृद्धि होती है । किंतु दुष्ट दोषोंका प्रशमन करनेमें धातुओंकी शक्ति जब अपर्याप्त होती है, चिकित्साकी सहायता देनेपरभी धातुओंका क्षयही होते रहता है, रोग असाध्य अवस्थाको पहुंचता है । ६ ॥ ७ ॥

शरीर धातुओंके उत्पत्तिन्हासके नित्य क्रमको छोड़कर, न्हास दो प्रकारोंसे होता है । एकतो उनके नित्य उत्पादनका प्रमाण कम हो जानेसे और इसका किसी आंगुत कारणसे एकदम अधिक न्हास हो जानेसे । क्रियावैषम्यके अनुसार इनमेंसे किसीभी कारणसे धातुक्षय हो सकता है । ८ ॥

धातुओंका नित्य उत्पादनका प्रमाण कम होनेका कारण ऐसा होता है कि, शरीरकी पचनादि क्रियाओंके वैषम्यके कारण सम्यक् याने हितकर और धातुपोषक आहारसेभी धातुओंकी नवीन उत्पत्ति कम प्रमाणमें होने लगती है । ९ ॥

उत्पादनाल्पताया हेतुं दर्शयति । सम्यगन्नं हिताहारः । उपवृंहणं पोषकं पोषक-
द्रव्यसम्पन्नम् । धातूत्पत्तिकरं धातूत्पादनसमर्थम् । देहकर्मणां वैषम्यात् पचनादिक्रियाणां
वैषम्यात् । (९)

धातुक्षयश्चातियोगाज्जायते देहकर्मणाम् ।

धातुक्षयश्च देहकर्मणामतियोगात् जायते । अतियोगश्चायं द्विविधः । स्वाभा-
विकोऽस्वाभाविकश्चेति । स्वाभाविकानां श्रमव्यायामव्यवायादीनामतियोगः स्वाभाविकः व्याधि-
क्लेशरूपश्चास्वाभाविक इति । अतियोगात्कर्मणां श्रान्ताः क्लान्ताश्च देहधातव्यंशं हीनसत्त्वाः सन्तो
मलरूपत्वमायान्त्यधिकांशेनेति धातुक्षयः । (१०)

स्नेहक्लेदक्षयाद्रूक्षशुष्काः शरीरधातवः ॥ १० ॥

संकोचात्स्रोतसां पोष्यद्रव्यांशग्रहणाक्षमाः ॥

न पुष्णन्ति क्रियायोगाद्धीनसत्त्वा भवन्ति च ॥ ११ ॥

स्वाभाविकानां दोषकर्मणां वैषम्यादपि धातूत्पादने वैषम्यं दर्शयन्नाह—स्नेहक्लेदक्षया-
दिति अतिश्रमेण रूक्षशुष्काद्याहारेण वा शरीरगतस्य स्नेहस्य क्लेदस्य च क्षयात् । शुष्काः रूक्षा
अपि च । संकोचात्स्रोतसामिति रूक्षशुष्कत्वात् स्रोतःसंकोचः । पोष्यद्रव्यांशग्रहणा-
क्षमाः पोष्याणां आहारगतद्रव्याणां ग्रहणाय अक्षमाः । स्रोतसां संकोचात् पोषकांशानामप्रवेश

शारीरक्रियाओंके अतियोगके कारण धातुक्षय होता है । यह अतियोग दो
प्रकारका होता है—१ स्वाभाविक, २ अस्वाभाविक । श्रम, व्यायाम, मैथुनादि
स्वाभाविक कर्मोंके अतियोगको स्वाभाविक अतियोग कहते हैं । व्याधिक्लेशरूप
अतियोगको अस्वाभाविक अतियोग कहते हैं । कर्मोंके अतियोगके कारण शरीर-
धातव्यंश श्रान्त व क्लान्त होते हुए हीनसत्त्व बनते हैं और अधिकांशसे मलरूपत्वको
प्राप्त होते हैं । इसीको धातुक्षय कहते हैं । ९ ॥

दोषोंकी स्वाभाविक क्रियाओंमें वैषम्य उत्पन्न होनेसे धातूत्पादनक्रियामेंभी
वैषम्य उत्पन्न होता है । अतिश्रमके कारण शारीरघटकोंमेंकी स्निग्धता व द्रवता
कम हो जाती है और शरीरधातु रूक्ष व शुष्क बन जाते हैं । अथवा रूक्ष व
शुष्क आहारादिके कारणभी शरीरधातुओंकी स्निग्धता व द्रवता कम हो जाती
है । और वे रूक्ष व शुष्क बनते हैं । धातुओंके इस रूक्षत्व व शुष्कत्वके कारण
स्रोतसोंका संकोच हो जाता है । और संकुचित स्रोतोमार्ग आहारगत
पोष्य द्रव्यांशोंको पर्याप्त प्रमाणमें धातुओंतक नहीं पहुँचा सकते । इसलिये

इति । ततश्च न पुष्णन्ति । क्रियायोगात् स्वाभाविकानां चलनाद्यानां क्रियाणां योगात् । हीनसत्त्वाः क्षीणसाराः । भवन्ति क्रियासम्पादनेऽसमर्था इति । वातकृतेऽयं धातुविकृतिरित्यास्यायते । (११)

अतिस्निग्धाश्च संक्लिन्नाः स्नेहक्लेदातियोगतः ।

पोष्यद्रव्यांशपचनाक्षमाः स्रोतोनिरोधनात् ॥ १२ ॥

न च पुष्णन्त्यभिष्यंदाद्धीनसत्त्वा भवन्ति हि ।

अपरश्च धातूनामनुत्पादने हेतुर्यथा—स्नेहक्लेदातियोगतः इति स्निग्धद्रवरूपाणां द्रव्याणामतियोगमुपयोगात् । पोष्यद्रव्यांशपचनाक्षमाः पोष्यद्रव्याणां सात्मीकरणायासमर्थाः स्रोतोनिरोधनात् स्नेहक्लेदाभ्यां प्रपूर्णात् स्रोतोनिरोधः । न पुष्णन्तीति । अभिष्यन्दादिति शोथस्यंदहेतुरार्द्रत्वामिवृद्धिरभिष्यंदो नाम । श्लेष्मविकृतिजनितोऽयं धातुक्षयः । (१२ ॥)

विदग्धत्वं गतास्तीक्ष्णोष्णाद्यैरन्नैश्च धातवः ॥ १३ ॥

विदाहान्न च पुष्णन्ति कोथस्तेषूपजायते ॥

विकृतं पित्तमपि धातुक्षयकरं भवतीति निदर्शनार्थमुच्यते । विदग्धत्वं विषमपाक्त्वम् । कोथो विदाहाद्विनाशोन्मुखावस्था । धातुक्षयश्चैवंविधः पित्तकृत इत्यभिधीयते । (१३ ॥)

संशोपात्क्लेदनाद्वापि धातुवंशाः क्षीणशक्तयः ॥ १४ ॥

आहारगत पोष्य द्रव्यांश कम प्रमाणमें धातुओंको मिलते हैं । इसप्रकार धातुओंके पोषणमें न्यूनत्व उत्पन्न होता है । किंतु चलनादि स्वाभाविक क्रिया तो उनको करनीही पड़ती है । इन कारणोंसे धातु हीनसत्त्व याने क्षीणसार बनते हैं । यह धातुविकृति वायुके वैषम्यसे उत्पन्न होती है । ११ ॥

धातुओंके अनुत्पादनमें कफविकृतिभी कारण होती है । स्नेह व क्लेदके अतियोगके कारण याने स्निग्ध व द्रवरूप द्रव्योंका प्रमाण शरीरमें अधिक हो जानेसे स्रोतसोंका अवरोध होता है और धातु पोष्यद्रव्योंका पचन याने सात्मीकरण करनेमें असमर्थ हो जाते हैं । स्रोतसोंमें स्निग्ध व द्रवद्रव्योंका प्रमाण अधिक होनेकी इस स्थितिको अभिष्यंद कहते हैं । इस अभिष्यंदसेभी धातुओंका पोषण होनेमें अडचन पैदा होती है और वे हीनसत्त्व बनने हैं । १२ ॥

विकृत पित्तभी धातुक्षयका कारण होता है । तीक्ष्ण व उष्ण आदिप्रकारके आहारके कारण धातुओंमें विदग्धता उत्पन्न होती है याने उनका पचन विषम होता है इस विषम पचन अथवा विदाहके कारण उनका पोषण तो ठीक होताही

मलस्वरूपाः कालेन कोथस्तेषूपजायते ।

संशोषात् रूक्षशुष्कप्रायाहारादिभिः । क्लेदनात् द्रवाद्याहारातियोगात् । मल-
स्वरूपाः सत्त्वहीनत्वात् । भवन्तीति शेषः । कालेन शोषक्लेदानन्तरं कोथ उपजायते ।
शोषात् क्लेदातियोगाद्वा हीनसत्त्वेषु कोथसम्भव इति । (१४॥)

शोषः क्लेदस्तथा कोथस्त्रिधैवं क्षयकारणम् ॥ १५ ॥

नानाविधानां व्याधीनां भेदाश्चापि त्रयो मताः ।

रोगाः शोषोद्भवाः केचित् केचित्क्लेदोद्भवास्तथा ॥ १६ ॥

केचित्कोथोद्भवाश्चेति भिद्यन्ते व्याधयस्त्रिधा ।

व्याधयो विविधाश्चापि स्थानसंस्थाननामभिः ॥ १७ ॥

त्रिविधा एव ते शोषक्लेदकोथोद्भवा इति ।

कालेनोपेक्षिताः सर्वे कोथत्वमुपयान्ति हि ॥ १८ ॥

एवं शोषक्लेदकोथभेदात् त्रिधा क्षयकारणम् । नानाविधानामपि व्याधीनां भेदाः
शोषाद्यनुसारेण त्रय इति । स्वाभाविकानां चलनपचनपोषणाख्यानां कर्मणामविकृतानां शरीरधातु-
संवर्धनं यथा उदकैः तथा विकृतिमापन्नानां विकारसंज्ञयाऽख्यातानां च संवर्धनविरुद्धं धातुसंक्षय-
क्षोदक इति स्थानविशेषात् बलाबलविशेषाच्च विविधा अपि व्याधयः सर्वेऽपि धातुक्षयोदकाः ।

नही किंतु उनमें कोथ उत्पन्न होता है । १३ ॥

बिदाहके कारण पित्तज विकृतिमें जिसप्रकार कोथ उत्पन्न होता है उसी-
प्रकार वातज व कफज विकृतिओंके अंतिम अवस्थामेंभी कोथ उत्पन्न होताही है ।
है । कारण, रूक्ष शुष्क द्रव्योंके आहारसे धातु शुष्क बननेसे अथवा द्रवादि-
द्रव्योंके आहारके अतियोगसे धातुश क्षीणशक्ति बन जाते हैं । अतएव मलस्वरूप
होते हैं तब उनमें कुछ समयके बाद कोथ उत्पन्न होने लगता है । १४ ॥

सारांश, शोष, क्लेद व कोथ ये तीनही धातुक्षयके कारण है । इनके अनु-
सार नानाविध व्याधिओंके भेदभी तीन होते हैं । कुछ रोग शोषोद्भव, कुछ
क्लेदोद्भव तथा कुछ कोथोद्भव होते हैं । स्थान व लक्षणोंके कारण यद्यपि रोगोंके
भिन्न २ नाम होते हैं, वास्तवमें उन सबका अंतर्भाव उक्त तीन प्रकारोंमें किया जा
सकता है । रोगोंकी उपेक्षा होनेपर कुछ समयसे सभी रोगोंमें कोथ उत्पन्न
होताही है । स्वाभाविक अवस्थामें अविकृत दोष, चलन, पचन व पोषण क्रिया-
ओंद्वारा शरीर धातुओंका संवर्धन करते हैं । किंतु इस धातुवृद्धिकी क्रियामें वैषम्य

क्रियाणां त्रैविध्यात् विक्रियाणामपि त्रैविध्यमेव शोषादिरूपं सर्वव्याधीनां कारणं ततश्च कारणानु-
विधायित्वाद्रोगाणां त्रयो भेदाः । केचिच्छोषोद्भवाः केचित् क्लेदोद्भवाः कोथोद्भवाश्च केचिदिति । शोषाव-
स्थायां क्लेदावस्थायां वा उपेक्षिताः कालेन कोथत्वमुपयान्ति । कोथत्वेन विपरिणमन्त इति । (१४॥-१८)

संश्लेषणं हि धातूनां प्रधानं वृद्धिकारणम् ॥

विश्लेषणं संहतानां प्रधानं क्षयकारणम् ॥ १९ ॥

संश्लेषणमिति परस्परालिंगनमेकीभावः । वृद्धिकारणम् । विश्लेषणं पृथग्भावः ।
संहतानामेकत्वावस्थितानाम् । क्षयकारणम् । (१९)

यस्माद्विश्लेषणं तीव्रवेगं धातुषु जायते ।

पचनं कर्म विकृतं कोथ इत्यभिधीयते ॥ २० ॥

को नाम कोथ इति ? यस्मात् कर्मणः तीव्रवेगं आशुकारित्वेन तीव्रं विश्लेषणकारणं
विकृतं पचनं कोथ इति । (२०)

संशोषणाद्धीनसत्त्वाः क्षीणावस्थां गता अपि ।

धातवो न विशीर्यन्ते कोथस्योत्पत्तिमन्तरा ॥ २१ ॥

(यावत्कोथो न जायते)

संशोषणाद्धीनसत्त्वा अपि धातवः कोथमन्तरा न विशीर्यन्ते । कोथो विश्लेषणहेतुः
प्रधान इति । (२१)

होनेसे अनेक विकार उत्पन्न होते हैं । और हरएक विकृतिका पर्यवसान धातु-
संवर्धनके विरुद्ध याने धातुक्षयमेंही होता है । स्थानविशेषानुसार तथा रोगी व
रोगके बलाबलके अनुसार व्याधियोंके अनेक प्रकार होते हुएभी सब रोगोंका
अंतिम परिणाम धातुक्षयमेंही होता है । क्रिया तीन होनेसे विकृतिभी
तीन प्रकारकी होना स्वाभाविक है । शोष क्लेद व कोथ इन तीन कारणोंसेही
सब रोगोंकी उत्पत्ति होती है । अर्थात् इन कारणोंके कार्यरूप रोगोंकाभी वर्गी-
करण कारणभेदानुसार होना स्वाभाविक है । १४॥-१८ ॥

संश्लेषण अथवा परस्परालिंगन—एकीभाव ही धातुवृद्धिका प्रधान कारण है ।
और संहत याने एकीभावको प्राप्त धातुओंके क्षयका प्रधानकारण है विश्लेषण ।
१९ ॥

जिसके कारण धातुओंका विश्लेषण तीव्र वेगसे होने लगता है उस
विकृत पचनकोही कोथ कहते हैं । २० ॥

संशोषणके कारण यद्यपि धातुओंका सत्त्वनाश होता है और वे क्षीण

क्षीणेषु मलरूपेषु संक्लेदश्चोपजायते ।

संक्लेदानन्तरं कोथो न कोथः क्लेदवर्जितः ॥ २२ ॥

कोथादेव विशीर्यन्तेऽभिष्यन्ना अपि धातवः ।

मलरूपेषु हीनसत्त्वेषु क्लोदोत्पत्त्यनन्तरं कोथोत्पत्तिः । विश्लेषणकारिणः स्यंदनस्य द्रवत्वं कारणमिति । अभिष्यन्नाः क्लिना अपि धातवः । कोथादेव कोथोद्भवादेव विशीर्यन्ते । (२२ ॥)

शोषःक्लेदश्च कोथश्च जायन्ते धातुषु क्रमात् ॥ २३ ॥

क्लेदः कोथोऽपि वाऽरंभाद्भवेद्धेतुविभेदतः ।

कोथः सर्वविकाराणां प्रधानः क्षयकृन्मतः ॥ २४ ॥

शोषादयः क्रमाद्भवन्ति ! आरंभतो वाऽपि क्लेदः कोथश्च भवेत् । हेतुविभेदत इति विकृति-हेत्वनुसारेण । कोथः प्रधानः क्षयकृदिति शोषादिक्रमेण क्रमं विना वा सप्रत्यक्षानां व्याधीनां धातुक्षयरूपे परिणामे कोथः कारणं विश्लेषकत्वादिति । (२२ ॥-२४)

अतियुक्तैर्व्यवायाद्यैः कर्मणा साहसेन वा ।

शोषो भवति धातूनां शोष इत्यभिधीयते ॥ २५ ॥

संक्लेदश्चाथ शुष्केषु यदा धातुषु जायते ।

न चोत्पत्तिर्न वा वृद्धिर्न पक्तिर्न च पोषणम् ॥ २६ ॥

होने लगते हैं, जबतक उनमें कोथकी उत्पत्ति नहीं होती तबतक वे विशीर्ण नहीं होते । अर्थात् कोथही विश्लेषणका प्रधान हेतु है । २१ ॥

क्षीण व मलरूप याने हीनसत्त्व धातुओंमें क्लेद उत्पन्न होने लगता है । और क्लेदके बादही कोथही उत्पत्ति होती है । विना क्लेदके याने अभिष्यंदके कोथ होही नहीं सकता । अभिष्यंद अथवा क्लेद उत्पन्न होनेपरभी कोथकी अवस्था प्राप्त होनेतक धातुओंका विश्लेषण नहीं होता । २२ ॥

धातुओंमें क्रमसे शोष, क्लेद व कोथ उत्पन्न होते हैं । अथवा आरंभसेही क्लेद अथवा कोथ विकृतिके कारणानुसार हो सकते हैं । सर्व विकारोंमें धातुक्षय करनेवाला कोथही प्रधान है । शोषादि क्रमसे अथवा विना इस क्रमकेभी उत्पन्न व्याधिका अंतिम परिणाम जब धातुक्षयमें होने लगता है तब उसके पहिले कोथकी अवस्था उत्पन्न होतीही है । कोथकाही साक्षात् परिणाम धातुओंके विश्लेषणमें होता है । २३ ॥ २४ ॥

शोथ व कोथकी विशेषता अब सोदाहरण स्पष्ट करते हैं । व्यवय

कोथः संजायत तेन विशीर्यन्ते च धातवः ।

तदा धातुक्षयकरो राजयक्ष्माऽभिधीयते ॥ २७ ॥

कासः श्वासो रक्तपित्तमित्याद्या राजयक्ष्मणि ।

उपद्रवाः समाख्याताः क्लेदकोथोद्भवास्तु ते ॥ २८ ॥

क्लेदहीनाः कोथहीनाः केवलं शोषरूपिणः ।

तीव्रोपद्रवहीनास्ते व्याधयः शोषसंज्ञकाः ॥ २९ ॥

शोषकोथयोर्विशेषमुदाहरणेन विशदीकुर्वन्नाह । अतिपुक्तैरित्यादि । व्यायाद्यैर्हेतुभिः धातूनां शोष इति क्षयः । राजयक्ष्मपर्यायत्वेनाभिहितः शोषः शोषान् धातुक्षीणतारूपात् भिन्नः । तत एव च क्षयो राजयक्ष्मणो हेतुराख्यातः । यथा चरकसंहितायाम्—अथवावलमारमं वेगसंधारणं क्षयम् । यक्ष्मणः कारणं विद्यान् चतुर्थं विषमाशनमिति । राजयक्ष्मभिन्नाश्च शोषाख्या विकाराः कीर्तिताः । यथा सुश्रुतसंहितायाम्—व्यवायशोकस्थाविर्यव्यायामाध्वोपवासतः । व्रणोरक्षतपीडाभ्यां शोषानन्ये वदन्ति हि । तथा च क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंज्ञिताः । चिकित्साऽप्येषां क्षयाणां राजयक्ष्मभिन्नेऽत्यभिप्रायेण, चिकित्सतं तु तेषां हि प्रागुक्तं धातुसंक्षये । इति शोषचिकित्सायां सुश्रुतेनारख्यातम् । माधवाचार्येणोक्तं यथा—क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युजायते । एवं हेत्वन्तरैः क्षीणेषु शुष्केषु धातुषु यदा संक्लेदः क्लेदाभिवृद्धिः अभिव्यन्द इति यावत् । तदा उत्पत्तिवृद्ध्यादयो न भवन्ति । क्लेदाभिवृद्ध्या रुद्धेषु स्रोतःसु रसप्रवेशमात्राभि-

(मैथुन) आदि कर्मोंके अतिरेकसे तथा साहसकर्मोंसे (अतिश्रमादि) धातु शुष्क होते हैं । धातुओंके इसप्रकार शुष्क होनेकोही शोष याने क्षय कहते हैं । व्याधिविज्ञानमें जिसको राजयक्ष्मा कहा गया है वह धातुक्षीणतारूप शोषसे भिन्न है । इसीलिये क्षय राजयक्ष्माका हेतु बतलाया गया है । चरकसंहितामें कहा है “ राजयक्ष्माके चार कारण हैं—१ अपने बलके प्रमाणसे अधिक श्रम करना २ वेगसंधारण ३ क्षय और ४ विषमाशन । शोषनामके विकार राजयक्ष्मासे भिन्न बतलाये गये हैं । सुश्रुतसंहितामें कहा है “ व्यामाम, शोक, स्थाविर्य (वार्धक्य) व्यवाय, मार्गक्रमण व उपवासके कारण तथा व्रण व उरःक्षतके पीडाके कारण शोषविकार होते हैं । उनकोभी क्षयही कहते हैं और वे प्रत्येक धातुके नामके जाने जाते हैं (रक्तक्षय, मांसक्षय इ.) । ” उनकी चिकित्सा राजयक्ष्मासे भिन्न है इस अभिप्रायसे शोषचिकित्सा में सुश्रुतने कहा है कि, उनकी चिकित्सा पीछे धातुक्षयमें बतलायी गयी है । ” माधवाचार्यने कहा है “ क्षयके कारण शोष (राजयक्ष्मा) उत्पन्न होता है । ”

वृद्धिरिति । यथोक्तं चरकै—रक्तं विवद्धमार्गत्वात् मांसादीन्ानुपचते । अष्टांगहृदये तु—
रसोऽप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव तु । सुश्रुतसंहितायाम् श्लेष्मणोपरुद्धमार्गत्वाक्षयोत्पत्तिरभि-
हिता । यथा कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु । क्षीयन्ते धातवः सर्वे । इति । अनन्तरं कोथः
संजायते । ततश्च विशीर्यन्ते धातवः । तदा राजयक्ष्माऽभिधीयते । राजयक्ष्मोपद्रवाः कासश्वासाद्याः
क्लेदकोथोद्भवा इति । त्रिदोषोद्भवेषु राजयक्ष्मलक्षणेष्वेकादशसंख्यान्वपि कासः श्वासो रक्तापित्तमिति
त्रिणि प्रधानानि । एतल्लक्षणत्रयेऽप्यसाध्यत्वनिर्देशात् । यथा सौश्रुते—त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः
कासश्वासासृगामयैः जह्यात् शोषार्दितं जंतुम् । श्लेष्मविकृतिरूपात् क्लेदात् पित्तविकृतिरूपात्
कोथाच्च लक्षणत्रयमिदं संजायते । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् । ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य
चागमः । शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छंद एव च । कासः कंठस्य चोर्ध्वसो विज्ञेयः कफकोपतः । इति ।
राजयक्ष्मणो लक्षणेष्वेकादशसंख्यान्वपि स्वरमेदः शूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोरितिमानि लक्षणानि
सामान्येन धातुक्षयसूचकानि वायोराख्यातानि । ज्वरकासरक्तपित्तादयश्चोपद्रवाः श्लेष्मपित्तकृताः
क्लेदकोथोद्भवा इत्याख्यानम् । उपद्रवाः समाख्याताः क्लेदकोथोद्भवास्तु ते इति । क्लेदकोथहीनाः
शोषरूपिणः केवलम् । तीव्रोपद्रवहीनाः यथा राजयक्ष्मोदाहरणे दर्शितम् । ते व्याधयः
शोषसंज्ञका इति । (२५-२९)

शरीरस्थैकदेशस्य तथा धात्वन्तरस्य वा ।

क्लेदकोथविहीनो यः क्षयः शोषोऽभिधीयते ॥ ३० ॥

धातु शुष्क याने क्षीण होकर उनमें जब क्लेद याने अभिष्यंद
उत्पन्न होता है उससमय धातुओंकी न उत्पत्ति होती है, न वृद्धि, न पचन
न पोषण । क्लेद (द्रव) के वृद्धिसे अवरुद्ध स्रोतसोंमें रसप्रवेश नहीं हो सकता,
इसलिये धातुओंकी उत्पत्तिवृद्ध्यादिभी नहीं हो सकती । चरकने कहा है
“ रक्तका मार्ग रुद्ध हो जानेसे मांसादिकी उत्पत्ति नहीं होती ” अष्टांगहृदयमें कहा
है “ (स्रोतोमार्ग रुद्ध होजानेके बाद) रससे रक्तही उत्पन्न नहीं होता तो मांस
कहांसे उत्पन्न होगा ? ” सुश्रुतने श्लेष्मासे मार्ग अवरुद्ध होजानेसे क्षय उत्पन्न
होता है इसका वर्णन करते समय कहा है “ कफप्रधान दोषोंसे रसमार्ग रुद्ध
हो जानेके कारण सब धातु क्षीण होने लगते हैं । ” इसप्रकार स्रोतोमार्गके
अभिष्यंदके कारण धातुओंकी उत्पत्ति, वृद्धि, पचन व पोषण बंद हो जानेके बाद
कोथ उत्पन्न होता है जिसके कारण धातु सडसडके शीर्ण होने लगते हैं । इस
अवस्थाकोही राजयक्ष्मा कहते हैं । राजयक्ष्माके जो कास, श्वास आदि उपद्रव
बतलाये हैं वे क्लेद व कोथकेही कारण उत्पन्न होते हैं । त्रिदोषोद्भव राजयक्ष्माके

शरीरस्येति सर्वशरीरस्य । एकदेशस्य स्थानविशेषस्य । धात्वन्तरस्य रसादी-
नामन्यतमस्य । क्लेदकोथविहीनः क्षयः शोष इति । (३०)

स्वाभाविकं शरीरस्य कर्म संश्लेषणात्मकम् ।

शोषस्तद्हीनयोगात्स्यात्संचयश्चातियोगतः ॥ ३१ ॥

विश्लेषणं क्षयकरं मिथ्यायोग उदाहृतः ।

स्वाभाविकमित्यादि-संश्लेषणात्मकं अभिवृद्धिकराणां द्रव्याणां संश्लेषादेव शरीराभि-
वृद्धिरिति । शोषः शुष्कता न्हास इति । तद्हीनयोगादिति संश्लेषणस्य हीनत्वात् । संचयः
अतिसंग्रहात् । अस्वाभाविका वृद्धिरिति । अतियोगतः संश्लेषणाधिक्यात् । विश्लेषणं संहतानां
पृथग्भावः । क्षयकरमिति विनाशकरम् । मिथ्यायोग इत्यस्वाभाविकं कर्म । शरीरद्रव्याणां
स्वाभाविकस्योत्पादनस्य हीनयोग अतियोग मिथ्यायोगश्चेति विकृतिभेदास्त्रयः तेषु हीनयोगान्
न्हासः अतियोगादतिवृद्धिर्मिथ्यायोगाच्च क्षयो धातूनामिति । (३१ ॥)

स्वाभाविकस्यैव हीनातियोगौ कर्मणो यतः ॥ ३२ ॥

नोपद्रवकरौ मिथ्यायोगस्तीव्ररुजाकरः ।

विश्लेषणकरो मिथ्यायोगः स्यात्कोथसंश्लक्षः ॥ ३३ ॥

स्वाभाविकस्येत्यादि । हीनातियोगौ हीनत्वमधिकत्वमपि स्वाभाविकस्यैवेति

एकादश लक्षणोंमें भी कास, श्वास व रक्तपित्त ये तीनही प्रधान लक्षण माने गये
हैं । इन तीन लक्षणोंसे युक्त राजयक्ष्मा असाध्य माना गया है । सुश्रुतने कहा
है “ कास श्वास व रक्तपित्त इन लक्षणोंसे युक्त शोषके रोगीकी चिकित्सा नहीं
करना चाहिये । ” श्लेष्माके विकृतिके, पित्तसे विकृतिसे तथा कोथके कारण
ये तीनों लक्षण उत्पन्न होते हैं । सुश्रुतनेही कहा है “ पित्तके कारण ज्वर, दाह,
अतिसार व रक्त पडना, सिर भरासा प्रतीत होना, आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।
और कफकोपके कारण कास व कंठोर्ध्वस, आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ” राज-
यक्ष्माके एकादश लक्षणोंमें स्वरभेद, शूल, अंस व पार्श्वोका संकोच ये जो सामा-
न्यतः धातुक्षयके लक्षण बतलाये गये हैं वे वायुके हैं । ज्वर, कास, रक्तपित्त
आदि जो कफपित्तकृत लक्षण बतलाये गये हैं वे क्लेद व कोथसेही उत्पन्न होते हैं ।
क्लेदकोथहीन शोषविकारोंमें तीव्र उपद्रव नहीं रहते यह राजयक्ष्माके उदाहरणमें
दर्शाया है । इन क्लेदकोथहीन व्याधियोंकोही शोष संज्ञा दी गयी है । २५-२९॥

सारांश शरीरके किसी विभागमें अथवा किसी एक धातुमें जो क्षय होता

स्वाभाविकम् । नोपद्रवकराविति तीव्रोपद्रवकरो न भवतः । मिथ्यायोगः अस्वाभाविकं कर्म । तीव्ररुजाकरः । हीनातियोगयोर्विकारकारित्वेऽपि मिथ्यायोगे तीव्रोपद्रवकारित्वं क्षयकारित्वं च विश्लेषेण । शरीरधातूनामन्यतमस्याल्पोत्पादनं तथाऽभिवृद्धिश्च क्रियावैषम्यस्वरूपमपि स्वाभाविकस्योत्पादनस्याभावे विश्लेषणाक्षयकरो मिथ्यायोगस्तीव्रतरः स च कोथसंज्ञक इति (३३)

संक्षयाद्धीनसत्त्वा ये धात्वंशा मलरूपिणः ।

भवन्ति संचितास्तेषु क्लेदः कोथश्च जायते ॥ ३४ ॥

शोषो न हेतुर्व्याधीनां हेतुः स्यात्क्लेदकोथयोः ।

व्याधिर्न केवलं शोषः स्यान्नानाव्याधिकारणम् ॥ ३५ ॥

क्षीणावस्थायां कोथोत्पत्तिदर्शनार्थमुच्यते—संक्षयादिति पोषणात्पत्रात् । हीन-सत्त्वाः सारहीनाः । मलरूपिण इति सारहीनत्वात् मलस्वरूपमागताः । संचिताः उत्सर्जनाभावान् संचयं गताः । उत्सर्जिताश्चेन् क्लेदादिविकृतेरसंभवः । क्लेदः आर्द्रत्वमस्वाभाविकं विकारोत्पादकम् । कोथश्च क्लेदानन्तरं विशीर्यमाणत्वम् । शोषो धातुशोषः । न व्याधीनां हेतुर्व्याधिर्वा । धातुविश्लेषणात् क्षयकारित्वं व्याधिलक्षणमुपलक्ष्येदं व्याख्यानमिति । (३४-३५)

अतिशुक्लैर्द्रवस्निग्धैस्तथाऽहारातियोगतः ।

अविपाकेन धातूनां संक्लेदः सम्प्रजायते ॥ ३६ ॥

है और जिसमें क्लेद व कोथ नहीं रहते उसकोही शोष कहते हैं । ३० ॥

शरीरका स्वाभाविक कर्म संश्लेषणात्मक है । याने शरीराभिवृद्धिकर द्रव्योंके संश्लेषणसे शरीरकी वृद्धि होती है । इस संश्लेषण क्रियाका प्रमाण कम होजानेसे शरीर द्रव्योंका (धातुओंका) शोष होता है । किंतु इस संश्लेषण क्रियाका अतियोग होता है तब शरीरवृद्धिकर द्रव्योंका संचय होने लगता है याने उनकी अस्वाभाविक वृद्धि होती है । जहां संश्लेषणात्मक कर्म होना चाहिये वहां क्षयकारक विश्लेषणात्मक कर्मके होनेको मिथ्यायोग कहते हैं । अर्थात् वह अस्वाभाविक कर्म है । शरीर द्रव्योंके स्वाभाविक उत्पादनकर्मकी तीन प्रकारकी विकृति होती है—१ हीनयोगके कारण २ अतियोगके कारण और ३ मिथ्यायोगके कारण । इनमेंसे हीनयोगके कारण धातुओंका (शरीर द्रव्योंका) ञ्हास होता है, अतियोगके कारण प्रमाणातीत वृद्धि होती है । और मिथ्यायोगके कारण क्षय होता है । ३१ ॥

स्वाभाविक क्रियाओंके हीन व अतियोग तीव्र उपद्रवोंको उत्पन्न नहीं

मिथ्याविपाकादथवा क्लेदः क्षीणेषु धातुषु ।

क्लेदस्योत्पत्तिहेतुं दर्शयन्नाह । अतिगुक्तैरिति अतिप्रमाणेनोपयुक्तैः । द्रवस्निग्धैः द्रवैः स्निग्धगुणैश्चाहारैः । आहारातियोगतः इति पथ्यद्रव्यस्यायाहारादतिमान्नोपयुक्तात् । अविपाकेन आहारस्य धात्वन्तराणां च । संक्लेदः क्लेदाभिवृद्धिः । मिथ्याविपाकादिति पचनस्य वैषम्यात् । क्षीणेषु धातुषु मलस्वरूपमागतेषु धात्वंशेषु । क्लेद उत्पद्यते । द्रवस्निग्धादीनामत्युपयोगात् हीनसत्वानां धातूनां चास्वाभाविकान् पचनादिति हेतुद्वयात् क्लेदसंभव इति । (३६॥)

स्रोतोनिरोधः संक्लेदादभिप्यंदश्च जायते ॥ ३७ ॥

हीयते चलनं तस्माद्धातूनां चाभिवाहनम् ॥

ततः संजायते शोथो धात्वंशैरतिसंचितैः ॥ ३८ ॥

स्तम्भो गुरुत्वमुत्सेधः शीतत्वमविपाकिता ।

शूलश्चेत्यादयः शोथाद्विकाराःसम्भवन्ति हि ॥ ३९ ॥

हेतुः क्लेदस्याविपाको मिथ्यापाक इति द्विधा ।

अविपाकोद्भवः क्लेदः प्रायः शोथकरो भवेत् ॥ ४० ॥

मिथ्याविपाकात्प्रायेण क्लेदः कोथकरो भवेत् ।

स्थाननामादिभेदेन विकारा विविधा अपि ॥ ४१ ॥

करते । किंतु मिथ्यायोग याने अस्वाभाविक कर्म तीव्र पीडा करता है । हीन व अतियोगके कारण भी विकार तो उत्पन्न होताही है । किंतु मिथ्यायोगका विशेषही यह है कि उसके कारण तीव्र पीडा देनेवाले उपद्रव और धातुओंका क्षय विशेषतः होते हैं । शरीर धातुओंमेंसे किसीका उत्पादन अल्प हुआ अथवा किसीकी अभिवृद्धि हुई तो क्रियावैषम्य अतएव रोग अवश्यही उत्पन्न होगा । किंतु उसमें धातुओंका क्षय व तीव्र वेदना नहीं रहती । और मिथ्यायोगमें स्वाभाविक उत्पादन कर्मकाही अभाव हो जानेके कारण और विश्लेषणक्रियाके कारण वह अधिक तीव्र पीडा व धातुओंका क्षय करता है । यह तीव्रतर मिथ्यायोगही कोथ है । ३२ ॥ ३३ ॥

धातुओंके क्षीण अवस्थामें कोथ किसप्रकार उत्पन्न होता है यह अब दर्शाते हैं । पोषणके अल्पत्वके कारण जो धात्वंश हीनसत्त्व और परिणामतः मलरूप बनते हैं उनके उचित उत्सर्जनके अभावमें वे संचित होते हैं और संचयके कारण उनमें क्लेद व कोथ उत्पन्न होते हैं । उनका योग्य उत्सर्जन हो सकता तो

द्विधा शोथात्मकाः केचित्केचित्कोथात्मका इति ।

क्लेदान् शोथकोथयोः सम्भवं दर्शयितुमुच्यते । **स्रोतोनिरोध** इति क्लेदस्थानस्थितानां स्रोतसामवरोधः । **अभिप्यंदः** संक्लेदात् स्रवणोन्मुखत्वम् । **चलनं** पेशीनां स्नाय्वां च । **धातूनामभिवाहनं** स्थानान्तरगमनम् । **तत** इति चलनाभिवाहनहीनत्वात् । **शोथः** अयथावत्संचयः शोथ इति । यथाह सुश्रुतः—त्वङ्मांसस्थायी दोषसघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते । पुनश्चैक एवोत्सेधसामान्यादिति शोथलक्षणं चरकेणोक्तम् । अष्टांगहृदये-त्वङ्मांससंश्रयम् उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः । इति निचयात्मकत्वं शोथत्वमाख्यातम् । **स्तंभः** स्तब्धत्वं संचाराक्षमत्वम् । **गुरुत्वं** जडता । **उत्सेधः** उन्नतत्वम् । **शीतत्वम्** शीतस्पर्शवत्त्वम् । एतदारंभे शोथास्यामावस्थायां भवति । पच्यमानावस्थायां तु दाहः । उक्तं सुश्रुतसंहितायाम्—तत्र मंदोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनता अल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम् । दृश्यते पच्यत इव चाभिक्षाराभ्यां ओषधोषपरीदाहाश्च भवन्ति ज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिंगमिति । **अविपाकिता** स्वाभाविकस्य सारकिट्टरूपस्य पचनस्याभावः । **शूलो** वेदनाविशेषः शोथात्संभवति । **हेतुः** उत्पत्तिकारणम् । **अविपाकः** आहारदीनां स्वाभाविकपचनाभावः । **मिथ्यापाकः** धातूनां विदग्धत्वम् । इति द्विधा क्लेदहेतुः । तत्र अविपाकोद्भवः प्रायो बाहुल्येन शोथकरः । तीक्ष्णत्वादविपाकेऽपि कोथसंभवान्प्राय इति । **मिथ्याविपाकात्** कोथकरः । प्रायणेति मिथ्याविकेऽपि तीक्ष्णगुणाल्पत्वान् प्राक् शोथोत्पत्तिरनन्तरं च कोथसंभवः । **स्थाननामादिभेदे**नेति

संचयही न होने पाता और फिर उनका क्लेदनभी न हो सकता । अस्वाभाविक क्लेदन विकार उत्पन्न करता है, स्वाभाविक क्लेदन नहीं । क्लेदके बाद कोथ उत्पन्न होता है । धातुओंका केवल शोष न स्वयं व्याधि है, न व्याध्युत्पादक है । अपितु क्लेद व कोथकी उत्पत्ति शोषसे होती है । इसलिये माना जाता है कि शोषके कारण अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं । ३४ ॥ ३५ ॥

अब क्लेदके उत्पत्तिके कारणका वर्णन करते हैं । जिनमें द्रव व स्निग्ध पदार्थोंका प्रमाण अधिक है ऐसे पदार्थ भक्षण करनेसे तथा अतिरिक्त प्रमाणमें आहार करनेसे आहारका तथा धातुओंका पचन ठीक नहीं होता, जिससे धातुओंका क्लेद होने लगता है । याने उनमें प्रमाणातीत द्रवत्व उत्पन्न होता है । अथवा मिथ्या विपाकके कारण याने पचन क्रियाके वैषम्यके कारणभी क्षीण याने मलस्वरूपके धातुओंके अंशोंमें क्लेद उत्पन्न होता है । सारांश दो कारणोंसे क्लेदोत्पत्ति होती है—
१ द्रवस्निग्धादि पदार्थोंके अत्युपयोगसे तथा २ हीनसत्व धातुओंके विकृत पचनसे । ३६ ॥

स्नानान्यामपक्वाशययकृत्सीहादीनि नामानि ज्वरकुष्ठोदरादीनि । तेषां भेदेन विशेषेण । विविधा नानाविधत्वं गताः । द्विधा द्विस्वरूपाः । केचित् शोथात्मकाः शोथसामान्यलक्षणाः केचित् कोथात्मकाः कोथसामान्यलक्षणा इति (३७-४१)

क्लेदश्च हेतुः सर्वेषामभिप्यंद इति स्मृतः ॥ ४२ ॥

अभिप्यंदोद्भवाः सर्वे विकाराः सम्भवन्ति हि ।

सर्वेषां विकाराणां क्लेदो हेतुः । शोषावस्थायां तीव्रोपद्रवाणामभावात् कोथस्य च क्लेदान्तरसम्भवात् । क्लेदोद्भवाः सर्वे विकाराः । अभिप्यंद इति रोगहेतुः क्लेदो-अभिप्यंदसंज्ञः । ततश्च सर्वे रोगाः अभिप्यन्दोद्भवाः प्रायेणेति । (४२ ॥)

द्रवाण्येवाभिसर्पन्ति पोष्यद्रव्याणि धातुषु ॥ ४३ ॥

द्रवावस्थां गता एवोत्क्रामन्ते धातवः क्रमात् ।

द्रवस्वरूपे पचनं सारकिट्टवियेचनम् ॥ ४४ ॥

वृद्धिक्षयकरं कर्मसातस्यं जायते क्रमात् ।

धातुरूपः स्यात् शरीरे रसरक्ताश्रितो द्रवः ॥ ४५ ॥

मलरूपो हीनसत्वश्चाख्यातो मूत्रसंज्ञया ।

देहोपकारकं कर्म मूत्रस्य क्लेदवाहनम् ॥ ४६ ॥

क्लेदसे शोथ व कोथका संभव कैसा होता है यह अब दर्शाते हैं । क्लेदके याने द्रवाधिक्यके कारण स्रोतसोंका अवरोध होता है । और उनमें अभिप्यंद याने स्रवणोन्मुखता होती है । जिसके कारण पेशीओं तथा स्नायुओंका चलन कम होने लगता है और धातुओंका स्रोतसोंमेंसे अभिवाहनभी कम प्रमाणमें होता है । इसप्रकार चलन व अभिवाहन क्रियाओंमें मंदत्व आनेसे धातुओंका किसी स्थानमें स्वाभाविक प्रमाणसे अधिक संचय होता है जिसको शोथ कहते हैं । सुश्रुतने कहा है “ त्वचा व मांसस्थ (साम) दोषसंघात जब शरीरके किसी एक भागमें संचित होता है, उसको शोफ (शोथ) कहते हैं । चरकनेभी उत्सेध-सामान्य यही शोथका लक्षण बतलाया है । अष्टांगहृदयमेंभी कहा है “ त्वचा व मांसमें संचयके कारण जो उत्सेध (स्वाभाविक प्रमाणसे अधिक उन्नतत्व) उत्पन्न होता है उसको शोथ कहते हैं । अर्थात् शोथ संचयात्मक है । ” शोथसे जो विकार उत्पन्न होते हैं उनमें स्तम्भ याने स्तब्धत्व (संचार करनेकी अक्षमता) गुरुत्व याने जडता, उत्सेध याने उन्नतत्व, शीतत्व (शोथकी आभावस्थामें शीतस्पर्श

समाख्यातं न तद्वस्ति संचितं साधयेज्जलम् ।
 त्वक्कलास्नायुधमनीपेशीस्रोतःसिरदिषु ॥ ४७ ॥
 आर्द्रताकारणं मांसमयेष्ववयवेषु यत् ।
 जलं तदेवाभिहितं मूत्रं देहस्य धारकम् ॥ ४८ ॥
 रसरक्ताद्धीनसत्त्वं वस्तौ संच्रीयते जलम् ।
 निर्याति मूत्रमार्गेण तथा सर्वशरीरगम् ॥ ४९ ॥
 हीनसत्त्वं स्वेदरूपं निर्याति स्वेदवाहिभिः ।

व्याधिर्हनुत्वेनाख्यातस्य क्लेदस्य स्वरूपनिदर्शनार्थमुच्यते । द्रवाणीति अभिसरण-
 योग्यानि । अभिस्पर्शन्ति ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् सर्वशरीरे प्रसरन्ति । पोष्यद्रव्याणि आहारा-
 कृष्टानि रसरूपाणि । द्रवावस्थां गताः द्रवरूपमागताः । उत्क्रामन्ते धातव इति
 द्रवरूपेण पूर्वस्वरूपविनाशादुत्तरपदार्थरूपेणोत्पत्तिः । द्रवस्वरूपे सारकिट्विवेचनमिति ।
 आहारस्य धातूनां वा द्रवत्वोत्पादनानन्तरं सारमलस्वरूपो विभागो भवति । वृद्धिक्षयकरं
 केनचिदंशनोत्पन्नानां न्हासः कियतांशेन पुनरभिवर्धनं चेति । कर्मसातत्यमित्यखंडितं
 कर्म । जायते । धातुस्वरूप इति । देहधारणकर्मकरः सारयुक्तः । रसरक्ताश्रितः
 क्लेदः । मलस्वरूपश्च क्लेदः मूत्रसंज्ञयाख्यातः । शरीर इति सर्वशरीरे न मूत्राशये ।
 तदेव विशदीक्रियते । देहोपकारकं शरीरक्रियासाधकम् । मूत्रस्य कर्म क्लेदवाहनम् शरीरधातुषु

होता है और पच्यमान अवस्थामें दाह होता है । सुश्रुतनें कहा है—“ मंदोष्मता,
 त्वक्खसर्पणता, शीतशोफता, स्त्रैर्य, मंदवेदनता, अल्पशोफता ये शोथके आमलक्षण हैं ।
 और अग्नि व क्षारके समान जलना, दहन, ओष, चोष, परीदाह, ज्वर, पिपासा,
 भोजनपर अरुचि, ये पच्यमान अवस्थाके लक्षण हैं । ”), अविपाकिता याने
 स्वाभाविक सारकिट्ट पृथक्करणका अभाव, और शूल याने विशिष्ट प्रकारकी
 वेदना इतने विकार प्रमुख हैं । क्लेदकी उत्पत्ति अविपाकसे याने स्वाभाविक
 पचन कर्मके अभावसे अथवा मिथ्यापाकसे याने धातुओंकी विदग्धतासे—इन दो
 कारणोंसे होती है । इनमें अविपाकोद्भव क्लेद प्रायः शोथ उत्पन्न करता है ।
 और मिथ्याविपाकोद्भव क्लेद प्रायः कोथकर होता है । प्रायः कहनेका कारण
 यह है कि, अविपाक यदि तीक्ष्ण हुआ तो उससेभी कोथ हो सकता है ।
 और मिथ्या विपाकमेंभी अल्प तीक्ष्णता रही तो प्रथम शोथ व तदनंतर कोथ
 उत्पन्न होता है । आमाशय, पक्वाशय, यकृत, पींडा आदि स्थानभेदके अनुसार
 तथा ज्वर, कुष्ठ, उदर आदि नामभेदके अनुसार यद्यपि विकार नानाविध होते हैं

क्लेदनिर्वाहणम् । समाख्यातम् । यथाऽष्टांगहृदये । अवष्टम्भः पुरीषस्य मूत्रस्य क्लेदवाहनम् । स्वेदस्य क्लेदविधृतिरिति । तन् **वस्तिसंचितं** मूत्राशये संचितम् । जलं न साधयेत् । मूत्राशयसंचितं मलरूपमूत्रमनुलक्ष्य नोक्तं मूत्रस्य क्लेदवाहनं कर्मेति । मूत्राशयसंचितस्योत्सर्जनीयत्वादेव । त्वगाद्यवयवेषु आर्द्रताकारणं जलं मूत्रसंज्ञं देहधारकमिति । दोषधातुमलमूलं हि शरीरमिति वचनान् मलानां देहधारकत्वमाख्यातम् । उत्सर्जनीयस्वरूपेण मूत्रेण पुरीषेण च वस्तिपक्वाशयसंचितेनैतन्नभवेदित्यभिप्रायआयुर्वेदीयतंत्रकृताम् अवष्टम्भः पुरीषस्य मूत्रस्य क्लेदवाहनम् । स्वेदस्य क्लेदविधृतिरित्यनेनाऽभिव्यज्यते । **रसरक्तादिति** रसान् रक्ताच्च धातोः । **हीनसत्त्वं** कालेन हीनवीर्यं मलस्वरूपं जलम् **मूत्रमार्गेण** तथा **सर्वशरीरगम्** पेश्यादिप्वार्द्रताकारणम् । **स्वेदरूपं** वाष्पावस्थावस्थितम् । सेदवाहिमिनिर्गति । यथाकालं हीनसत्त्वं जायते तदा सेदरूपेणास्य निर्गम इति । (४३॥-४९॥)

जलस्य मूत्रसंज्ञस्याऽभिवृद्ध्या क्लेदसंभवः ॥ ५० ॥

आहाराद्यैर्हेतुभिश्च संक्षयात् शोषसंभवः ॥

मूत्रसंज्ञस्येति क्लेदाभिवहनाख्यकर्मकारिणः शरीरगतस्य जलस्वरूपस्य । **अभिवृद्ध्या** द्रवाचैराहारगतैरभिवर्धनान् । **क्लेदसंभवः** शरीरेऽस्वाभाविका क्लेदवृद्धिः । **आहाराद्यैरिति** रुक्षशुष्कभूयिष्ठैः क्लेदक्षयकारिभिः । **शोषसंभवः** क्लेदशोषणम् । (५०)

द्रवेणातिविवृद्धेन मूत्राख्येन भवन्ति ये ॥ ५१ ॥

वास्तवमें वे दोही स्वरूपके होते हैं-एक शोथात्मक व दूसरे कोथात्मक । ३७-४१ ॥

सर्व विकारोंका हेतु क्लेदही रहता है । शोषकी अवस्थामेंभी जब तीव्र उपद्रव नहीं रहते क्लेदके बादही कोथ उत्पन्न होता है याने कोथकाभी हेतु क्लेदही रहता है । क्लेद जब रोगका कारण होता है तब उसीको अभिष्यंद कहते हैं । इसलिये सामान्यतः कहा जाता है कि, सर्व रोग अभिष्यंदसेही उत्पन्न होते हैं । ४२ ॥

रोगहेतुभूत जो क्लेद उसका स्वरूप अब अधिक विशद करते हैं । आहारसे आकृष्ट रसरूप पोष्यद्रव्य शरीर धातुओंमें इतस्ततः संचार करते हैं । धातुभी द्रवावस्थाको प्राप्त कर याने जिनका द्रवरूपमें पूर्वस्वरूप नष्ट होता है, उत्तरधातुरूपमें उत्क्रान्त होते हैं । पचन तथा सारकिट्टका विवेचन द्रवरूपमेंही हो सकता है । आहार व धातुओंमें प्रथम द्रवरूप निर्माण होता है तभी उसमेंका सारभाग एवं मलभाग पृथक् हो सकते हैं । उत्पन्न धातुओंके कुछ अंशोंका प्हास और कुछ अंशोंकी अभिवृद्धि इसप्रकार क्षयवृद्धिक्रमरूप सातत्यकोही

व्याधयो चिविधा मूत्रविकारा मेहसंज्ञकाः ।

अतिप्रवृत्तिर्मूत्रस्य सामान्यं मेहलक्षणम् ॥ ५२ ॥

अभिप्यंश्च धातूनां मांसस्य स्याद्विशेषतः ।

अभिप्यंदाद्धि मांसस्य पिडिकानां समुद्भवः ॥ ५३ ॥

प्रेमेहिणामभिप्यंदात् व्रणः कृच्छ्रेण सिध्यति ।

लिङ्गैरेवंविधैर्मांसाभिप्यंदोऽप्यनुमीयते ॥ ५४ ॥

प्रेमेहाणां सर्वदेहव्यापित्वमाधिगम्यते ।

क्लेदोद्भवानां विकाराणां स्वरूपं निर्दिश्यते द्रवणेत्यादिना । मूत्राख्येनेति सर्वदेहव्यापिनां जलांशेन । अभिप्यंदः द्रवस्यातिवृद्धत्वात् स्यंदनावस्था । मांसस्य विशेषतः इति रसरक्त-योर्द्रवरूपत्वात् क्लेदामिवृद्धिः स्वभावात्तु रूपा । अस्थनि कठिनत्वात् मेदोमज्जशुक्लेषु च स्निग्ध-द्रवरूपत्वात् क्लेदामिवृद्धेरसंभवः । घनस्वरूपे मांसे मृदुनि क्लेदाभिवर्धनात् शैथिल्यं संश्लेषत्वहानिकरं संपद्यते । मांसाभिप्यंदादेव पिडिकानां प्रमेहपिडिकानां शराविका-धानां संभवः । व्रणश्च कृच्छ्रेण सिध्यति । अभिप्यंदात् शैथिल्यमागतानां मांसाणूनां संधानं कृच्छ्रेण भवतीति । सर्वशरीरगस्य क्लेदस्य संदूषणान्मांसस्यासंहतत्वं सूचितं चरकसंहितायां यथा-बव्हवद्धं मेदो मांसं शरीरजः क्लेदः शुक्रं शोणितं वसा मज्जा लसीका रसश्चौजः संख्यात इति दूष्यविशेषः ।

जीवन कहते हैं । शरीरमें रसरक्ताश्रित द्रव (क्लेद) धातुरूप रहता है तो हीनसत्त्व मलस्वरूप द्रवको मूत्र कहते हैं । यह मूत्रसंज्ञक मलस्वरूप द्रव केवल मूत्राशयमें ही नहीं अपितु सर्व शरीरमें रहता है । बतलाया गया है कि, मूत्रका कर्म क्लेदवाहन याने शरीर धातुओंमें क्लेदका निर्वहण है । और यह कर्म शरीरके लिये उपकारक है । अष्टांगहृदयमें कहा है “पुरीषका कार्यं अवष्टंभ, मूत्रकां क्लेद-वाहन और स्वेदका क्लेदविधृति है ।” वस्तिमें जो जलके समान मूत्र नामका द्रव रहता है वह और उक्त क्लेदवाहक मूत्र भिन्न हैं । वस्तिसंचित मूत्र यह क्लेदवाहनका कार्य नहीं करता । कारण वह उत्सर्जन योग्य होता है । वस्तुतः आयुर्वेदमें त्वगादि अवयवोंमें अर्द्रता उत्पन्न करनेवाले व कायम रखनेवाले द्रव द्रव्यकोही यह देहोपकारक मूत्रसंज्ञा दी गयी है । यह मूत्र देहधारक है । ‘शरीर दोषधातु-मलमूल है’ इस वचनसे स्पष्ट होता है कि मलभी देहधारणाका कर्म करते हैं । उत्सर्जनीय स्वरूपके वस्ति व पक्वाशयमें संचित मूत्र व पुरीष नामके पदार्थ यह देहधारणका कार्य नहीं करते । इस आशयको ध्यानमें रखते हुए ही आयुर्वेदीय

अवृद्धमिति असंहतमित्यत्र व्याख्यातं चक्रपाणिना । शरीरशैथिल्यं च चरकेणाभिहितं प्रमेहविकारेषु । यथा-शरीरशैथिल्यात् स (श्लेष्मा) घिसर्पन् शरीरे मेदसैवादितो मिथीभावं गच्छति । मांसदुष्टिश्चाख्याता-स मांसे मांसप्रदोषात् पूतिमांसपिडकाः शराविकायाः संजनयतीति । एवं-विधैर्लिङ्गैर्लक्षणेमांसमभिप्यदः प्रमेहाणां सर्वदेहव्यापित्वं च अधिगम्यते । सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभृताविलम्बता । इति लक्षणान् मूत्रातिप्रवृत्तिसामान्यलक्षणा अपि प्रमेहविकारा न केवलं वृक्कवस्तिसमाश्रिताः अपि तु सर्वदेहव्यापिन इति । सर्वदेहसंचारिणो मूत्राख्यस्य क्लेदस्य संदूषणान्मूत्रविकारा इति । ततश्च प्रमेहत्वं मूत्रविकारत्वं नाम क्लिष्टावस्था शरीरावयवानां व्यस्तानां समस्तानां वा इति बोध्यम् । (५१॥-५४॥)

क्लेदाभिवृद्धिः स्थानेषु केषुचिज्जायते यदा ॥ ५५ ॥
 स्थानान्तराश्च विविधा जायन्ते व्याधयस्तदा ।
 दोषदूष्यविशेषेण भेदः क्लेदेषु जायते ॥ ५६ ॥
 संजायन्ते व्याधिभेदाः स्थानभेदानुसारतः ।
 सर्वदेहगतं मांसमभिप्यन्नं यदा भवेत् ॥ ५७ ॥
 जलरूपस्याभिवृद्ध्या मेहः संजायते तदा ।
 रसधात्वाश्रितः क्लेदश्चाभिवृद्धो यदा भवेत् ॥ ५८ ॥
 स्रोतः संपूरणादामवातो व्याधिः प्रजायते ।

ग्रंथकारोंने जहां पुरीषका कर्म अवष्टंभ और मूत्रका क्लेदवाहन बतलाया है वहां उस पुरीषका व मूत्रका अर्थ पक्षाशयगत व वस्तिगत पुरीषसे व मूत्रसे सर्वथा भिन्न है । स्वेदका कर्म जो क्लेदविधृति बतलाया है उससेभी यही स्पष्ट होता है । रस व रक्तमेंसे जो हीनवर्ध मलस्वरूप जलांश वस्तिमें संचित होता है वह मूत्रमार्गसे उत्सर्जित होता है । उसी प्रकार सर्व शरीरगत पेशीआदिके आर्द्रताका कारण व जो यथाकाल हीनसत्त्व होनेवाला स्वेदरूप याने वाष्परूपका मल वह स्वेदवाही मार्गसे निकल जाता है । ४३-४९ ॥

क्लेदवहनका कर्म करनेवाले इस 'मूत्र' संज्ञक जल द्रव्यकी शरीरमें जब अभिवृद्धि होती है तब अस्वाभाविक क्लेदकी उत्पत्ति होती है । और रूक्षशुष्क-भूयिष्ठ याने क्लेदक्षयकर आहारसे क्लेदका शोषण होता है । ५० ॥

अब क्लेदोद्भव विकारोंका स्वरूप दर्शाते हैं । मूत्र नामका यह सर्व देह-व्यापी जलांश स्वाभाविकसे अधिक प्रमाणमें बढ़ता है, वह मेहनामके अनेकविध मूत्रविकारोंको उत्पन्न करता है । मेहका सामान्य लक्षण है मूत्रकी अतिप्रवृत्ति ।

क्लेदोऽतिवृद्धः स्रोतोभिराकृष्टो वस्तिसंचितः ॥ ५९ ॥

विनिर्यात्यतिमात्रेणातिमूत्रत्वं प्रजायते ।

यदा संचीयते क्लेदश्चातिवृद्धोऽदरान्तरे ॥ ६० ॥

आकृष्यमाणः स्रोतोभिरुदरं परिकीर्त्यते ।

मुष्ककोपान्तरे क्लेदः संचितो वृद्धिसंज्ञया ॥ ६१ ॥

संज्ञाभेदो विकाराणां स्थानभेदावबुद्धये ।

रसधात्वाश्रितः क्लेदो यदा स्यात्सर्वदेहगः ॥ ६२ ॥

प्रवृद्धस्तेन सर्वांगशोथः संजायते तदा ।

देहैकदेशे क्लेदस्य रसधातुगतस्य वा ॥ ६३ ॥

वृद्धिः संजायते प्रादेशिकः शोथस्तदा भवेत् ।

ग्रन्थ्यर्बुदापचीगंडमालाविद्रधिसंज्ञकाः ॥ ६४ ॥

संजायन्ते क्लेददुष्ट्या विकारा मांससंश्रिताः ।

क्लेदोद्भवानां व्याधीनां स्थानाद्यनुसारेण नानाविधत्वं दर्शयन्नाह । क्लेदाभिवृद्धिरित्यादि । केपुचित्स्थानेषु क्लेदाभिवृद्धिस्तदा स्थानाश्रया इति स्थानविशेषाश्रयाः व्याधयः । दोषदूष्यविशेषेणेति वातादीनां दोषाणां रसादीनां धातूनां चान्यतरेणाश्रितत्वात् । क्लेदभेदः

रस व रक्त द्रवरूप होनेसे उनमें क्लेदकी वृद्धि होना स्वभावानुसारही है । अस्थि कठिन होनेके कारण तथा मेद, मज्जा व शुक्र स्निग्धद्रवस्वरूप होनेके कारण उनमें क्लेदवृद्धि हो नहीं सकती । किंतु घनस्वरूप व मृदु मांसमें जब क्लेद बढ़ता है, मांसका संधात शिथिल हो जाता है । इसप्रकार रस, रक्त व मांसमें—विशेषतः मांसमें—अभिष्यंद होता है । मांसके अभिष्यंदके कारण प्रमेहपिडिका—शराविका आदि उत्पन्न होती हैं । अभिष्यंदके कारण प्रमेही मनुष्यका व्रण कष्टसेही साध्य होता है । कारण अभिष्यंदसे मांसाणु शिथिल हुवा करते हैं । अतः उनका संधान नहीं होता । चरकसंहितामें बतलाया है कि सर्व शरीरगत क्लेदका संदूषण होता है, इससे यही सूचित किया गया है कि मांसका संहतत्व कम हो गया है । चरक कहता है “ मेद, अबद्ध याने शिथिल मांस, शरीरज क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका, रस व ओज ये दूष्यविशेष हैं ” अबद्ध मांसकी व्याख्या चक्रपाणिनें असंहत मांस, की है । प्रमेह विकारोंमें शरीरका शिथिल होना चरकने बतलाया है । वह कहता है “ वह (श्लेष्मा) शरीर शैथिल्यके

क्लेदविशेषः । स्थानभेदाच्च व्याधिभेदाः क्लेदोद्भवानां व्याधिनां भेदाः । कथमिति चेत् उच्यते-
 सर्वदेहगतमिति सर्वांगसंश्रितम् । मांसमभिष्यन्नम् । जलरूपस्य क्लेदस्येति ।
 मेहः प्रमेहोत्पादका विकृतिः । सर्वदेहविकृतेरनंतरं प्रभूताविलम्बता जायते । रस-
 धात्वाश्रितः द्रवत्वादसधातौ क्लेदस्यावस्थानं स्वाभाविकम् । स्रोतःसंपूरणात्
 रसोत्स्रवणानां स्रोतसां संपूरणात् । आमवातः आमवाताख्यो व्याधिः । आमेन सहितो
 वायुरत्र विकृतिकारणमिति । आमवातवर्णने माधवाचार्येणोक्तं यथा-वातपित्तकर्मेभ्यो दूषितः
 सोऽन्नजो रसः । स्रोतांस्यभिव्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः इति । स्रोतोभिराकृष्ट इति मूत्रा-
 शयानुसारिभिः स्रोतोभिः । अतिमूत्रं मूत्रातिप्रवृत्तिलक्षणाः सर्वे प्रमेहविकाराः । क्लेदाभिवृद्धि-
 स्वरूपा सर्वदेहविकृतिराख्याता 'मेहः संजायते तदा, इत्यनेन । ततश्चानेन न पौनरुक्त्यम् । उदरा-
 न्तरे इति उदरकलायाम् । उदरमित्युदकोदरम् वाताद्युपसृष्टेषु जलसंचयाभावात् । मुष्कको-
 षान्तरे संचितो वृद्धिसंज्ञया मूत्रवृद्धिसंज्ञया । मूत्रवृद्धिलक्षणं माधवेनांक्तं यथा-अंभोभिः
 पूर्णदतिवत् क्षीमं याति सरुड्मृदुः । इति । संज्ञाभेदः विकृतिसामान्येऽप्यभिधानान्तराणि आमवातो-
 दरादीनि । स्थानभेदानुसारतः स्थानविशेषमनुसृत्य । एकदेशे हस्तपादोदरपृष्ठादीनामन्य-
 तमे स्थाने । प्रादेशिकः शोथः अयमेव विषक्वो व्रणत्वमुपैति । यथाह वाग्भटः—एकदेशो-
 त्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणमिति । ग्रंथ्यनुदादयो व्याधयः मांससंश्रिताः मांसाश्रये-
 णोत्पद्यन्ते इति । स्थानान्तरेषु मांसविकृतिसम्भवाः । (५५-६४)

कारण शरीरमें संचार करता हुआ प्रथम मेदके साथ मिश्रित होता है । ” मांस
 दुष्टिके विषयमें भी वह कहता है “ मांस दुष्ट होनेसे मांसमें
 पिडिका, शराविका आदि उत्पन्न होती हैं । ” इन लक्षणोंसे मांसके अभि-
 ष्यंदकी तथा प्रमेहके सर्वशरीर व्यापित्वकी कल्पना हो सकती है । अर्थात् उनका
 सामान्य लक्षण है मूत्र अधिक प्रमाणमें होना । यद्यपि मूत्रकी अतिप्रवृत्ति यह
 प्रमेह विकारोंका सामान्य लक्षण होता है, यह न समझना चाहिये कि वे केवल
 वृक्कोमें तथा वस्तिमेंही आश्रित रहते हैं, अपितु वे सर्वदेहव्यापि होते हैं ।
 कारण सर्वदेहव्यापी मूत्रके याने क्लेदके विघटनेसेही उक्त मूत्रविकार होते हैं ।
 सारांश, प्रमेह अथवा मूत्रविकार शरीरावयवोंमेंकी-सबकी अथवा कुछकी क्लिनावस्था-
 मेंही होते हैं । ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

स्थानभेदके अनुसार क्लेदाभिवृद्धिजन्य व्याधियोंका वर्णन अब करते हैं ।
 कुछ विशिष्ट स्थानोंमेंही जब क्लेदाभिवृद्धि होती है, उन स्थानोंमें विविध प्रकारकी
 व्याधियां उत्पन्न होती हैं । दोष व दूष्यके विशेषसे क्लेदके भेद होते हैं और

क्लेदोद्भवानां व्याधीनां शोथः सामान्यलक्षणम् ॥ ६५ ॥

शोथः स्यात्संचयाधिक्यादतः श्लेष्मोद्भवो मतः ।

संवीमैकांगजाः सर्वे विकाराः शोथलक्षणाः ॥ ६६ ॥

विभिन्नाः स्थानसंस्थानैरपि श्लेष्मोद्भवा हि ते ।

क्लेदोद्भवानामित्यादि—सामान्यं लक्षणं सर्वव्याधिषु विद्यमानत्वात् । शोथः संचयाधिक्यात् रसरक्तमांसक्लेदादीनामतिकालमतिमात्रं संचयादिति । संचय एव शोथः । अतः एतस्माद्धेतोः श्लेष्मोद्भवः शोथः श्लेष्मणश्चाविकृतं कर्म संचयः संग्रहो वा । तस्यैव वैषम्यात् शोथसंभव इति शोथः श्लेष्मोद्भवः । शोथात्मकाश्च व्याधयः सर्वे श्लेष्मोद्भवा इति । अत एवोक्तप्रमाण-हृदये—शूलं नतं निलादाहः पिताच्छेफः कफोदयात् । इति । (६५-६६ ॥)

मिश्र्यापाकाच्च तीक्ष्णोष्णैराहारैर्दाहसंयुतः ॥ ६७ ॥

क्लेदो भवति कोथश्च तदा धातुषु जायते ॥

कदाचिद्द्रवरूपेषु कोथो भवति धातुषु ॥ ६८ ॥

रसरक्ताद्येषु घनस्वरूपेषु कदाचन ॥

मांसाद्येषु कदाचिद्बोभयरूपेषु धातुषु ॥ ६९ ॥

व्याधयः कोथसामान्ये भिन्नरूपा भवन्ति हि ।

स्थानभेदके अनुसार क्लेदजन्य व्याधिभेदभी उत्पन्न होते हैं । सर्वदेहगत मांसका अभिष्यंद जत्र होता है, जलरूपकी याने क्लेदकी अभिवृद्धि होनेसे मेह उत्पन्न होता है । रसधातुमें आश्रित क्लेद जब बढ़ता है, स्रोतसोंके प्रपूरणके कारण आमवात नामका रोग उत्पन्न होता है । इस व्याधिमें आमके साथ वायुभी विकृतिका कारण होता है । आमवातके वर्णनमें माधवाचार्यने कहा है “ वह अन्नज रस वात पित्त व कफद्वारा दूषित होकर अनेक वर्णका व पिच्छिल बनता हुआ स्रोत-सोंमें अभिष्यंद उत्पन्न करता है । ” अतिवृद्ध क्लेद वस्तिमें जानेवाले स्रोतसोंके द्वारा आकृष्ट होकर जब वस्तिमें संचित होता है, अधिक मात्रामें शरीरके बाहर जाने लगता है । इस व्याधिको बहुमूत्र कहते हैं । जब अतिवृद्ध क्लेद उदरके अंतर्गत कलामें संचित होता है, उसको ‘उदर’ रोग कहते हैं । यहांपर ‘उदर’ का अर्थ उदकोदर लेना चाहिये । कारण वातौदरादिमें जलसंचय नहीं हुआ करता । अंड-कोषमें जब क्लेद संचित होता है, वह अंडवृद्धि नामके विकारको उत्पन्न करता है । अंडवृद्धिका लक्षण माधवने बतलाया है “ अंडमें पखालके समान पानी भरा हुआ

क्लेदस्य तत्संभवानां व्याधीनां च स्वरूपमभिधाय कोथरूपं विवृणोति । मिथ्यापाका-
दिति अस्वाभाविकपचनात् । पोषकांशानां सारकिटविवेचनं पाकः स्वाभाविकः । धातुस्वरूपेण
संघावस्थावस्थितानां शरीरद्रव्यांशानां पाकश्चास्वाभाविक इति । तीक्ष्णोष्णाद्यैरिति पित्तप्रको-
पणैः । दाहसंयुतः संश्लिष्टानां सहावासविनासनं विशेषणकारणं दाहस्तेन संयुतः क्लेदस्तदा कोथः
विशीरणमिति यावत् । मांसाद्येष्टिविति बहुवचनं मांसमयेषु शिरास्नायुपेक्ष्याद्यवयवविशेषवित्यभि-
प्रायेण । मांसमस्थि चेति धातुद्वये धनरूपे बहुवचनप्रयोगो नस्यादिति । उभयरूपेष्टिविति भेदोम-
शक्येषु । कोथसामान्ये कोथात्मकत्वेऽपि द्रव्यस्थानभेदात् भिन्नत्वं व्याधीनामिति । (६७-६९)

रसरक्तोद्भवे कोथे पांडुरकामलादयः ॥ ७० ॥

रक्ताश्रिते विशेषेण रक्तपित्तसमुद्भवः ।

त्वग्लसीकागते विस्फोटाद्याश्च समसूरिकाः ॥ ७१ ॥

नातिनीक्ष्णो यदा कोथश्चास्यं पाकादिसंभवः ।

श्वित्रं क्षुद्राणि कुष्ठानि जायन्ते विविधानि च ॥ ७२ ॥

तीव्रात्कोथाद्भि धातूनां महाकुष्ठसमुद्भवः ।

शोथे बाह्येऽन्तर्गते वा व्रणः कोथात्प्रजायते ॥ ७३ ॥

धातुक्षयकरः कोथः पित्तं दुष्टं विदाहकृत् ।

रहता है । उसका क्षोभ होता है, उसमें पीडा होती है और वह मृदु लगता है । ”
यद्यपि क्लेदाभिवृद्धिकी विकृति सबमें सामान्य रहती है उनके स्थानभेदका ज्ञान
होनेके लिये क्लेदजन्य विकारोंको उदर, आमवात, अंडवृद्धि आदि नाम दिये गये
हैं । जब रसाश्रित क्लेद सब शरीरमें बढता है तब सब शरीरपर शोथ उत्पन्न
होता है । किंतु वह जब शरीरके किसी एक विभागमें बढता है तब उसी-
विभागमें शोथ उत्पन्न होता है । यह प्रादेशिक शोथही पक्क होनेपर व्रण बनता
है । वाग्भटने कहा है “ व्रणका पूर्व लक्षण एकदेशोत्थित शोथ है । ” मांसा-
श्रित क्लेद जब दुष्ट होता है, मांसमें ग्रंथि, अर्बुद, अपची, गंडमाला व विद्रधि
नामके विकार उत्पन्न होते हैं । जिस स्थानके मांसमें क्लेदवृद्धि होगी उसी
स्थानमें ये विकारभी उत्पन्न होंगे । ५५-६४ ॥

क्लेदोद्भव सभी व्याधिओंमें शोथ यह लक्षण रहताही है । रस, रक्त,
मांस, क्लेद आदिके अधिक कालतक अथवा अधिक प्रमाणमें संचित होनेके
कारण शोथ उत्पन्न होता है । इस लिये मानागया है कि श्लेष्मासे शोथ उत्पन्न

व्याधिः कुष्ठमिति प्रोक्तो येन कुष्णन्ति धातवः ॥ ७४ ॥

ततः कोथात्मकाः सर्वे विकाराः कुष्ठरूपिणः ।

रोगाः कुष्ठत्वसामान्ये विभिन्नस्थानलक्षणाः ॥ ७५ ॥

कीर्तिता भिन्नसंज्ञाभिः स्थानभेदानुरोधतः ।

कोथात्मकानां व्याधीनां भेददर्शनार्थमुच्यते । रसरक्तोद्भव इति रसरक्ताश्रिते । पांडुरुकामलादयः । यथोक्तं चरकेण पांडुरोगवर्णने—समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम् । वायुना बलिना क्षिप्तं संप्राप्य धमनीर्दश । प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम् । प्रदूष्य कफ-वातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत् । पांडुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वाचि । स पांडुरोग इत्युक्तः । कामलायां च—तस्य पित्तममृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते । इत्याख्यातम् । रक्ताश्रिते विशेषेणेति रक्तगत एव कोथे । रक्तपित्तसमुद्भवः । यथाह चरकः—तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते । लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते । तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदेव यत्कृत्स्नीहप्रमवाणां लोहितवहानां च सोतसां मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदेव लोहितं दूषयति । त्वङ्गलसीकागते इति बाह्यत्वगाश्रिते । मसृरिकाविस्फोटादयः । नातितीक्ष्ण इति साधारणः । आस्य-पाकादिसंभव इत्यत्रादिशब्देन गुदभेदूपाकादीनां ग्रहणम् । श्वित्रं श्वेतकुष्ठम् । भुद्रकुष्ठानि त्वङ्मात्राश्रितानि । तीव्रात् महाकुष्ठसमुद्भव इति असृङ्मांसप्रदूषणान्महाकुष्ठानि । त्वङ्मांसशोणितलसीकाश्चतुर्धा दोषोपघातविकृता इति कुष्ठविकारोत्पादकं दूष्यचतुष्टयवैषम्यं चर-

होता है । कारण श्लेष्माका अतिकृत कर्म संचय—संग्रह है । वही विकृत होनेसे शोथ होता है । सर्वांगमें उत्पन्न होनेवाले अथवा एकांगमें उत्पन्न शोथात्मक सब विकार यद्यपि उनके स्थान व लक्षण भिन्न होते हैं, श्लेष्मोद्भवही माने जाते हैं । इसी लिये अष्टांगहृदयमें कहा है “ बिना वायुके शूल नहीं हो सकता, बिना पित्तके दाह तथा बिना कफके शोथभी नहीं हो सकता । ६५ ॥ ६६ ॥

क्लेदके तथा तत्संभव व्याधियोंका वर्णन करनेके बाद अब कोथके स्वरूपका विवरण करते हैं । पोषकांशोंके सारकिट्टका विवेचन होनेको स्वाभाविक पाक (पचन) कहते हैं । संघावस्थामें अवस्थित धातुस्वरूप शरीर द्रव्यांशोंकाही जब पाक होने लगता है तब उस पचनको अस्वाभाविक पचन समझना चाहिये । पित्त-प्रकोपक तीक्ष्ण व उष्ण आहारके कारण इसप्रकारका अस्वाभाविक पचन अथवा मिथ्यापाक जब होता है तब क्लेद दाहयुक्त बनकर धातुओंके कोथका रूप धारण करता है । और वह कभी रसरक्तमें तो कभी घनस्वरूपके मांस, स्नायु, सिरा पेशी आदिमें, तो कभी उभयस्वरूपके मेद, मज्जा व शुक्र धातुओंमें भिन्न रूपके

केणाऽभिहितम् । शोथे व्रणः कोथादिति शोथस्थाने संचितानां रक्तादीनां कोथात् व्रणः संजायते । धातुक्षयकर इति विश्लेषणात् विनाशकरः । कोथः । विदाहकृदिति कोथकृत् । कुष्ठमिति कुष्ठसंज्ञया । कोथ एव कुष्ठमिति । कुण्ठन्ति विशीर्णा भवन्ति । कुष्ठत्वसामान्ये एवं स्थानलक्षणभेदात् कोथानां भिन्नसंज्ञाभिर्व्यपदेशः । (७०-७५)

दाहोद्भवानां व्याधीनां कोथः सामान्यलक्षणम् ॥ ७६ ॥

मिथ्याविपाकाद्दाहः स्यात् दुष्टपित्तोद्भवो हि सः ।

सर्वान्गैकांगजाः सर्वे विकाराः कोथलक्षणाः ॥ ७७ ॥

विभिन्नाः स्थानसंस्थानैरपि पित्तोद्भवा हि ते ।

दाहोद्भवानामित्यादि । कोथो दाहान् दाहश्च दुष्टपित्तादिति कोथलक्षणाः सर्वे विकाराः पित्तोद्भवा इति । (७६-७७ ॥)

शोषः क्लेदश्च कोथश्च त्रिविधं व्याधिकारणम् ॥ ७८ ॥

क्षयः क्लेदश्च कोथश्च व्याधयस्त्रिविधास्ततः ।

वात वृद्धया भवेत् शोषः पित्तात्कोथः प्रदूषितात् ॥ ७९ ॥

क्लेदः स्यात् श्लेष्मणश्चैवं त्रिदोषा व्याधिहेतवः ।

सम्यग्गतिप्रदो वायुः शरीरेऽविकृतो यदा ॥ ८० ॥

व्याधियोंको उत्पन्न करता है । इन सब व्याधियोंमें कोथका सामान्य रहताही है । ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

रस व रक्ताश्रित कोथके कारण पांडुरोग, कमला आदिरोग उत्पन्न होते हैं । पांडुरोगके वर्णनमें चरक कहता है “ हृदयमें स्थित उदीर्ण पित्त जब बलवान् वायुद्वारा फेंका जाता है और धमनिओंमें आता है और त्वचा व मांसके मध्यमें आश्रित हो जाता है, कफ, वायु, रक्त, त्वचा व मांसको दूषित करता है । तथा त्वचापर पांडु, पीला, हरा आदि प्रकारके रंग उत्पन्न करता है । उसको पांडुरोग कहते हैं । ” कामला रोगके वर्णनमें कहा है “ दूषित पित्त रक्त व मांसको विदग्ध करता हुआ कामला रोग उत्पन्न करता है । ” रक्तमें कोथ उत्पन्न होनेसे रक्तपित्त नामका विकार उत्पन्न होता है । चरकने कहा है “ इस प्रकारके आचरणसे उसका पित्त प्रकुपित हो जाता है । और पित्तका प्रमाण रक्तमें स्वाभाविकसे अधिक हो जाता है । प्रमाणसे अधिक हो जानेके कारण वह जब शरीरमें भ्रमण करता हुआ यकृत् व प्लीहामेंसे विकलनेवाले रक्तवह स्रोतसोंके

स एव विकृतो रुद्धगतिः शूलकरो भवेत् ।
 स्थानान्तरेषु रुद्धत्वाद्वायोरुन्मार्गगामिनः ॥ ८१ ॥
 वेगः पीडाकरः क्षोभः शूल इत्यभिधीयते ।
 सम्यक् पाककरं पित्तं शरीरेऽविकृतं यदा ॥ ८२ ॥
 तदेव विकृतं तैक्षण्यात् स्याद्विदाहस्य कारणम् ।
 तैक्षण्यात्स्पर्शासहिष्णुत्वं यद्विश्लेषणकारणम् ॥ ८३ ॥
 स विदाह इति ख्यातस्ततः कोथः प्रजायते ।
 सम्यक् चयकरः श्लेष्मा शरीरेऽविकृतो यदा ॥ ८४ ॥
 स एव विकृतश्चातिसंचयात् शोथकृद्भवेत् ।

शोषादि त्रिविधं व्याधिकारणम् । क्षयादयश्च त्रिविधा व्याधय इति दूष्यस्थानादिभेदे-
 र्भिन्नानां व्याधीनां क्षयादिव्रितयेन्तर्भाव इति । वातवृद्ध्या इति । वातात्प्रवृद्धादेव शोषः ।
 मार्गसंरोधात्कुपिते वायौ शूलसंभव इति । पित्तात् श्लेष्मणश्च प्रकुपितात् क्रमेण कोथः क्लेशश्चैवं
 त्रिदोषा व्याधिहेतवः प्रधाना इति । सम्यग्गतिप्रद इति स्वाभाविकचेष्टाप्रवर्तकः । रुद्धगतिः
 सोतसां संशोषात्पूरणाद्वा व्याहतगतिः । शूलकरः विविधवेदनाविशेषोत्पादकः । शूलं लक्षयति
 वायोः पीडाकरो वेगः क्षोभापरपर्यायः शूलः । सम्यक्पाककरमिति आहारस्य धातूनां च

मुखोंमें अवरुद्ध हो जाता है, रक्तको दूषित करता है । ” जब कोथ बाह्यत्वचा
 व लसीकामें रहता है मसूरिका, विस्फोट आदि रोगोंको उत्पन्न करता है । कोथ
 जब अतीतीक्ष्ण नहीं रहता याने साधारण रहता है मुखपाकादि रोगोंको उत्पन्न
 करता है । मुखपाक, गुदपाक, मेढूपाक आदिके समान साधारण कोथ श्वित्र याने
 श्वेतकुष्ठ और अनेक प्रकारके क्षुद्र कुष्ठोंको उत्पन्न करता है । धातुओंके
 तीव्र कोथके कारण महाकुष्ठ उत्पन्न होता है । रक्त व मांस दुष्ट होनेसे
 महाकुष्ठ उत्पन्न होता है । चरकने कहा है कि, त्वचा, मांस रक्त व लसीका
 इन चारोंके विकृतिसे कुष्ठविकार उत्पन्न होते हैं । बाह्य वा अंतर्गत
 शोथस्थानमें संचित रक्तादिके कोथसे व्रण उत्पन्न होता है । दुष्ट व
 विदाहकारी पित्तके कारण धातुक्षयकर कोथकोही कुष्ठसंज्ञा मिलती है । कारण
 उससे सर्व धातु विशीर्ण होते हैं । इससे स्पष्ट है कि कोथात्मक सर्व विकार कुष्ठ-
 रूपकेही होते हैं । यद्यपि कोथात्मक विकारोंमें कुष्ठत्वसामान्य रहताही है भिन्न २
 स्थानों व लक्षणोंके अनुसार उनको भिन्न संज्ञायें दी जाती हैं । ७१-७५ ॥

सारं किं विभागस्थं कर्म स्वाभाविकं करोतीत्येवंविधम् । विदाहस्येति वक्ष्यमाणलक्षणस्य । अस-
हिष्णुत्वं असहकारित्वम् । विश्लेषणकारणम् संहतानां पृथग्भावकारणम् । विदाहः ।
ततश्च कोथो विशीरणाद्विनाशकर इति । सम्यक्चयकर इति शरीरावयवानामुपबृंहणः ।
अतिसंचयात् अतिमात्रमतिकालं च संग्रहात् । शोथकृद्भवतीति । (६८-८४॥)

गतिः पक्तिश्चयश्चेति दोषकर्म स्वभावजम् ॥ ८५ ॥

शूलो दाहश्च शोथश्च दोषकर्म विकारजम् ।

स्थानान्तरेषु देहस्य कर्माणि विविधान्यपि ॥ ८६ ॥

गतिपक्तिचयाख्येषु त्रिष्वेवान्तर्भवन्ति हि ।

स्थानान्तरेषु विविधा व्याधयः संभवन्त्यपि ॥ ८७ ॥

ते शूलदाहशोथेषु त्रिष्वेवान्तर्भवन्ति हि ।

गत्यादिकं स्वभावजं दोषकर्म त्रिविधं तथा विकारजं दोषकर्म शूलादिकं त्रिविधम् । देहस्य
विविधानि कर्माण्यपि गत्यादिष्वन्तर्भवन्त्येवमेव स्थानान्तरीया व्याधयोऽपि विविधाः शूलादि-
ष्वन्तर्भवन्तीति । (८५-८७॥)

वातादयश्चाविकृता दोषा जीवनहेतवः ॥ ८८ ॥

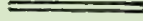
त्रयो विकृतिमापन्नास्त एव व्याधिहेतवः ।

दाहोद्भव व्याधिओंमें कोथ यह सामान्य लक्षण रहता है । मिथ्या विपा-
कके कारण दाह होता है तथा पित्त दुष्ट होनेसे मिथ्या विपाक होने लगता है ।
कोथात्मक सभी विकार-चाहे वे सर्वगगत हो चाहे एकांगगत-यद्यपि उनके
स्थान व लक्षण भिन्न होते हैं, पित्तोद्भवही माने जाते हैं । ७६ ॥ ७७ ॥

व्याधियोंके मुख्य कारण तीन हैं-शोष, क्लेद व कोथ । और व्याधिभी त्रिविध
होते हैं-क्षयात्मक, क्लेदात्मक तथा कोथात्मक । दूष्य व स्थानके कारण व्याधिओंके
कितनेभी अनेकविध भेद हुए तोभी उन सबका इन तीन प्रकारोंमेंही समावेश
होता है । वायु वृद्ध होनेसे शोष होता है । स्रोतसोंके रुद्ध होनेसे कुपित वायु शूल
उत्पन्न करता है । पित्त दूषित होनेसे कोथ होता है । और श्लेष्मा प्रकुपित होनेपर
क्लेद होता है । इसप्रकार तीन दोष व्याधिओंको उत्पन्न करते हैं । वायु अविकृत
स्थितीमें शरीरका ठीक संचालन करता है किंतु वही विकृत होनेपर गति रुद्ध
होनेसे शूल उत्पन्न होता है । विशिष्ट स्थानमें रुद्ध होकर वायु जब
उन्मार्गगामी बनता है उसके क्षोभक व पीडाकर वेगको शूल कहते हैं ।

वातादयोऽविकृता जीवनहेतवोऽपि विकृतिमापन्नास्त एव त्रयो व्याधिहेतवः । यथोक्त-
मष्टांगहृदये—य एव देहस्य समा विवृध्यै त एव दोषा विषमा वधाय ॥ यस्मादतस्ते हितचर्ययैव
क्षयात् विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ॥ इति शूलदाहशोथात्मकविकारत्रैविध्यदर्शनं नाम षष्ठं दर्शनम् ॥

॥ इति षष्ठं दर्शनम् ॥



अविकृत स्थितिमें पित्त पचन कर्म ठीक करता है । याने आहार तथा
धातुओंके सारकिट्टका विभाजन करनेका स्वाभाविक कर्म पित्त अपनी स्वाभा-
विक स्थितिमें करता है । वही विकृत होनेसे अपनी तीक्ष्णताके कारण
विदाहको उत्पन्न करता है । तीक्ष्णके कारण जिसका स्पर्श सहन नहीं
होता और जो विश्लेषण करता है उसको विदाह कहते हैं और
विदाहसेही कोथ उत्पन्न होता है । श्लेष्मा अविकृत स्थितिमें शरीरपोषण-
कार्य ठीक रीतिसे करता है । किंतु वही विकृत होनेपर अतिसंचय
व अतिसंचयके कारण शोथ उत्पन्न करता है ७८-८४ ॥

दोषोंका स्वाभाविक कर्म है गति, पचन व पोषण । उनका वैकारिक कर्म
है शूल, दाह व शोथ । शरीर के भिन्न २ स्थानोंमें यद्यपि अनेक प्रकारकी क्रियायें
होती हैं उन सबका समावेश उक्त तीन क्रियाओंमेंही होता है । उसीप्रकार भिन्न
२ शरीरभागोंमें अनेक प्रकारकी व्याधियोंकी यद्यपि उत्पत्ति होती है, उन सबका
शूल, दाह व शोथ इन तीनोंमेंही अंतर्भाव होता है । ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

वातादिदोष अविकृत स्थितिमें जीवनको चलाते हैं किंतु वेही विकृत होने-
पर व्याधिओंको उत्पन्न करते हैं । अष्टांगहृदयमें कहा है “ जो दोष सम स्थितीमें
शरीरकी वृद्धि करते हैं वेही विषम स्थितिमें शरीरका नाश करते हैं । इसलिये
हिताचरणद्वारा क्षय व वृद्धिसे उनको बचाना चाहिये । ”

॥ शूलदाहशोथात्मकविकारत्रैविध्यदर्शन नामक षष्ठ दर्शन समाप्त ॥

। सप्तमं दर्शनम् ।

॥ संसर्गसन्निपातस्वरूपदर्शनम् ॥

मिथ्याहारविहाराद्यैर्दुष्टा वातादयस्त्रयः ।

व्यस्ताः समस्ता विविधान् व्याधीनुत्पादयन्ति हि ॥ १ ॥

वातपित्तश्लेष्मणां विकृतिभेदानुसारेण व्याधीनां त्रैविध्यमभिधाय संसर्गस्य दोष-
द्वयस्य सान्निपाताख्यस्य दोषत्रयस्य स्वरूपं व्याधिविशेषोत्पादकत्वं च विशदीकर्तुमुच्यते । मिथ्या-
हारविहाराद्यैरित्यादि । व्यस्ता इति एकैकशो द्विशश्च । समस्ताः सर्वे मिलिता वातपित्त-
श्लेष्माणः । व्याधीनुत्पादयन्ति । (१)

एकदोषोद्भवाः केचिद्भेदाः केचित् द्विदोषजाः ।

केचित् त्रिदोषजनिताः प्रकोपणविभेदतः ॥ २ ॥

एकदोषोद्भवादयो रोगाः प्रकोपणविभेदतः । आहाराचारादिस्वरूपस्य दोषप्रको-
पणस्य भेदानुसारतः । एकदोषप्रकोपणात् एकदोषजाः द्विदोषप्रकोपणात् दोषद्वयजनिताः त्रिदोष-
प्रकोपणाच्च दोषत्रयोद्भवा इति । (२)

एकदोषोद्भवाः संसर्गजाश्चापि त्रिदोषजाः ।

सप्तमदर्शन

(संसर्गसन्निपातस्वरूपदर्शन)

पूर्वदर्शनमें वातपित्तकफके विकृतिभेदानुसार व्याधियोंके त्रैविध्यका वर्णन किया
अब, दो दोष एकत्र मिलकर अथवा तीन दोष एकत्र मिलकर—जिनको क्रमसे
संसर्ग व सन्निपात कहते हैं—किन विशिष्ट व्याधियोंको उत्पन्न करते हैं, संसर्ग व
सन्निपातका स्वरूप कैसा होता है इस विषयमें विवेचन करते हैं ।

मिथ्या आहारविहारादि कारणोंसे वातादि दोष दूषित होकर व्यस्त याने
अकेले २ अथवा दो दोष मिलकर तथा समस्त याने सब मिलकर अनेक व्याधि-
ओंको उत्पन्न करते हैं । १ ॥

प्रकोपणके भेदानुसार याने आहारविहारादिके कारण यदि एकही दोष
प्रकुपित हुआ तो वह अकेला, दो अथवा तीनों प्रकुपित हुए तो दोनो अथवा
तीनो मिलकर रोगोत्पादन करते हैं । इसलिये कुछ रोग एक दोषोद्भव, कुछ द्विदो-

व्याधयश्चानुमीयन्ते यथास्वं दोषलक्षणैः ॥ ३ ॥

एकदोषोद्भवद्वयो व्याधयस्तद्वत्तदोषलक्षणैरनुमयन्ते । संसर्गजा इति द्विदोषजाः ।
यदुक्तमष्टांगहृदये—संसर्गः सन्निपातश्च तद्वद्वित्रिक्षयकोपतः इति । (३)

दोषयोरन्यतरयोरेकस्थाने यदा भवेत् ।

प्रदुष्टिर्युगपद्दोषविद्धिः संसर्ग आहृतः ॥ ४ ॥

अन्यतरयोरिति वातपित्तश्लेष्मणां द्वयोः एकस्थाने युगपद्दुष्टिः संसर्गः । (४)

सर्वेषामेव दोषाणामेकस्थाने यदा भवेत् ।

प्रदुष्टिर्युगपत्सन्निपातश्चाख्यायते तदा ॥ ५ ॥

सर्वेषां दोषाणामेकस्थाने युगपत् दुष्टिः सन्निपात आख्यायते (५)

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्या विरुद्धाश्च परस्परम् ।

गुणास्तेषां नाभिवृद्धिरेकत्र युगपद्भवेत् ॥ ६ ॥

पित्तादौष्ण्यं कफात् शैत्यं संगर्गे श्लेष्मपित्तयोः ।

स्निग्धता रूक्षता चापि संसर्गे कफवाययोः ॥ ७ ॥

गुणयोरभिवृद्धिर्न परस्परविरुद्धयोः ।

न चान्योन्यविरुद्धानां लिंगानामपि संकरः ॥ ८ ॥

पोद्भव और कुछ त्रिदोषोद्भव होते हैं । २ ॥

उनके २ लक्षणोंपरसे व्याधि एक दोषोद्भव है, या संसर्गज याने द्विदोषोद्भव है, या सन्निपातज याने त्रिदोषोद्भव है इसका अनुमान किया जा सकता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “दो दोषोंके क्षय अथवा कोपको संसर्ग और तीन दोषोंके क्षय—कोपको सन्निपात यह संज्ञा है । ३ ॥

दोषोंमेंसे कोईभी दो दोष जब किसी एक स्थानमें एकदम दूषित हो जाते हैं, उसको संसर्ग कहते हैं । ४ ॥

सभी याने तीनो दोष जब एकही स्थानमें एकदम दुष्ट हो जाते हैं, उसको सन्निपात कहते हैं । ५ ॥

यहांपर शंका हो सकती है—वात, पित्त व कफ ये तीनो दोष परस्परविरुद्ध गुणोंके हैं । फिर उनमेंसे दोनोंका अथवा तीनोंका एकही स्थानमें और एकही समय प्रकोप कैसा हो सकता है ! कफके स्निग्धगुणके विरुद्ध वातका रूक्षगुण है । पित्तके उष्ण गुणके विरुद्ध कफका शीतगुण है । इसप्रकार वातादि

सन्निपातेऽपि दोषाणां परस्परविरोधिनाम् ।

गुणानामभिवृद्धिर्न लक्षणानां न संकरः ॥ ९ ॥

स्निग्धता रूक्षता शैत्यमौष्ण्यं गौरवलाघवे ।

द्रवत्वं च घनत्वं च मंदता तीक्ष्णता तथा ॥ १० ॥

एवमादीनि दोषाणां विरुद्धानि परस्परम् ।

लिङ्गान्यतश्चान्यतमे व्याधौ तेषामसंभवः ॥ ११ ॥

परस्परविरुद्धगुणानां दोषाणां द्वयोस्त्रयाणां वा युगपदेकस्थाने प्रकोपणस्यासंभवाशङ्क्यो-
च्यते । शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्या इति वातादीनां गुणाः । परस्परं विरुद्धाः । स्निग्धविरुद्धो
रूक्षः शीतविरुद्धोष्ण इत्यादि । ततस्तेषां युगपदेकत्र नाभिवृद्धिः । पित्तश्लेष्मसंसर्गे औष्ण्यं शैत्यम्,
कफवातयोः संसर्गे स्निग्धता रूक्षता इति परस्परविरुद्धगुणयोरभिवृद्धिर्न भवेत् । लिङ्गानां
दोषलिङ्गानां न संकरः । सन्निपातेऽपि एवमेव विरुद्धगुणानां लिङ्गानां च न संकरः । स्निग्धत्वादीनि
परस्परविरुद्धानि तेषां सन्निपाते असंभवः (६-११)

ज्वरस्य वेगो न भवेन्मन्दस्तीक्ष्ण इति द्विधा ।

न भवेद्वा त्रिधा मन्दस्तीक्ष्णो विषम इत्यपि ॥ १२ ॥

नातिसारे शीतमुष्णमिति द्वेधाऽतिसार्यते ।

घनं द्रवं तथाऽल्पाल्पं न त्रिधा वाऽतिसार्यते ॥ १३ ॥

दोषोंके गुण परस्परविरुद्ध हैं । ऐसी अवस्थामें उनकी एकही स्थानमें व एकही
समय अभिवृद्धि होना असंभव है । उदाहरणार्थ—कफ व पित्तके संसर्गमें पित्तका
औष्ण्य और कफका शैत्य ये दोनो गुण एकही स्थानमें एकही समय अभिवृद्ध
कैसे हो सकेंगे ? वात व कफके संसर्गमें कफका गुण स्निग्धता व वातका
गुण रूक्षता इन परस्परविरुद्ध गुणोंकी एकही स्थानमें एकदम अभिवृद्धि कैसी हो
सकेगी ? इनके परस्परविरुद्ध गुणोंका अन्योन्य संकरभी कैसा हो सकेगा ?
सन्निपातमें भी परस्परविरोधी दोषोंके गुणोंकी अभिवृद्धि एकही स्थानमें होना अथवा
उनके लक्षणोंका संकर होना असंभव प्रतीत होता है । स्निग्धता—रूक्षता, शैत्य—
औष्ण्य, गौरव—लाघव, द्रवत्व—घनत्व, मंदता—तीक्ष्णता इत्यादि प्रकारसे दोषोंके
लक्षण परस्परविरुद्ध हैं । अतः किसी एक व्याधिमें उनका संमिलित होना
असंभव है । ६-११ ॥

अब इस आशंकाकोही उदाहरणोंसे अधिक स्पष्ट करते हैं । ज्वरका वेग
एकही समय मंद व तीक्ष्ण अथवा मंद, तीक्ष्ण व विषम नहीं हो सकता । कफके

नीलत्वमरुणत्वं च श्वेतता पीतता तथा ।

वर्णानां युगपत् व्याधावेकत्र च न संभवः ॥ १४ ॥

घनत्वं सुषिरत्वं च स्पर्शश्च कठिनो मृदुः ।

व्याधौ युगपदेकत्र न भवेयुः कदाचन ॥ १५ ॥

सर्वेषां समवेतानामथवा दोषयोर्द्वयोः ।

व्याधावेकत्र युगपन्न भवेद्विगसंकरः ॥ १६ ॥

विरुद्धगुणानां दोषाणां समकालमेकत्रामिवर्धनादिकस्यासंभवमुदाहरणैर्विशदीकरोति ।
ज्वरस्येत्यादि—**मन्दो वेगः** श्लेष्मानुबंधात् । यथोक्तं सौश्रुते—नात्युष्णगात्रता छर्दिरंगसादोऽविपा-
किता । नात्युष्णगात्रतामनुलक्ष्य माधवाचार्येणोक्तं स्तैमित्यं स्तिमितो वेग इति । तीक्ष्णो वेगः
पित्तानुबंधात् । यथाह सुश्रुतः—वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः इत्यादि । **द्विधा** द्विप्रकारः ।
संसर्गजे ज्वरे । **त्रिधा** त्रिप्रकारः मंदस्तीक्ष्णो विषम इति । सर्वजे सर्वलिङ्गानीति संनिपातजनितस्य
ज्वरस्य सामान्यलक्षणं सुश्रुतेनाख्यातम् । विषमो वेगस्तु वातानुबंधात् । वेपथुर्विषमो वेगः कंठोष्ठ-
परिशोषणम् । इति वातज्वरलिङ्गं सुश्रुतसंहितायाम् । **अतिसारे शीतमुष्णमिति** कफपित्तानुबंधात् ।
यथोक्तं माधवेन—शुक्लं सांद्रं श्लेष्मणा श्लेष्ममिश्रं विसं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः । **उष्णं** पित्तानुबंधात् ।
सुश्रुतसंहितायामुक्तं यथा । पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकज्वरार्तः । अल्पाल्प-
मिति वातानुबंधादतिसार्यते । यथोक्तं सौश्रुते—वर्चो मुच्यत्यल्पमल्पं सफेनं रुक्षं श्यावं सानिलं

संबंधसे मंदवेग होता है और पित्तके संबंधसे तीक्ष्ण । सुश्रुतने कहा है “ गात्रोंका अतिउष्ण न होना, छर्दि, अंगसाद व अविपाकिता (ये कफ ज्वरके लक्षण हैं) । ” नात्युष्णगात्रताके अर्थसेही माधवाचार्यने स्तैमित्य याने स्तिमित (मंद) वेग यह लक्षण बतलाया है । पित्तज्वरके लक्षणोंमें सुश्रुत कहता है “ तीक्ष्णवेग, अतिसार, निद्राल्पत्व तथा वमी ” ये लक्षण होते हैं । संनिपातज्वरमें मंद, तीक्ष्ण व विषम ये तीनों लक्षण एकदम कैसे हो सकते हैं ? संनिपातज्वरके सामान्य लक्षण सुश्रुतमें बतलाया है कि उसमें सब दोषोंके लक्षण रहते हैं । ज्वरका विषम वेग वातानुबंधके कारण होता है । वातज्वरलक्षणोंमें सुश्रुत कहता है— “ वेपथु, विषमवेग और कंठ व ओष्ठ शुष्क होना ” ये लक्षण रहते हैं । अर्थात् ये परस्परविरुद्ध तीनों लक्षण एकही साथ कैसे रह सकते हैं ?

इसीप्रकार अतिसारमें कफ व पित्तके संबंधसे एकही साथ मल शीतभी और उष्णभी नहीं हो सकता । कफ व पित्तके अनुबंधसे अतिसारमें क्रमसे मल शीत व उष्ण रहता है । माधवने कहा है “ श्लेष्माके कारण शुक्ल, सांद्र, कफ-

मास्तेन इति । नीलत्वादीनां चापि युगपदेकत्र न संभवः । एकस्याभावेऽन्यतरस्य सत्त्वात् । घनत्वं सुषिरत्वं परस्परविरुद्धम् । कठिनो मृदुश्च स्पर्शः परस्परविरुद्धः । संसर्गः सन्निपातश्च तद्विचित्रक्षयकोपतः । इति वाग्भटोक्तम् । तथा तत्र तत्रोक्तानां मिश्रीभावविशेषदर्शनात् द्वांद्विक-मन्यतमं ज्वरं सान्निपातिकं वा विद्यादित्यादि चरकाद्यभिहितमधिकृत्य एवं सर्वेषां द्वयोर्वा एकत्र व्याधौ संकरो न भवेदिति संसर्गसन्निपातावस्थायां द्वयोस्त्रयाणां युगपत्प्रकोपाद्विगंसंकरसंभवमनु-लक्ष्याशंकासम्भवः । (१२-१६)

व्याध्युत्पत्तिकरं मुख्यं वैषम्यं दोषकर्मणाम् ।
तेषां द्वयोस्त्रयाणां वा युगपद्विकृतिर्भवेत् ॥ १७ ॥
विकृतं चलनं कर्म कदाचित् व्याधिकारणम् ।
चलनं पचनं चेति कदाचित् द्वितयं भवेत् ॥ १८ ॥
कदाचित् त्रीणि कर्माणि पोषणं पचनं गतिः ।
विकृतानि भवेयुर्वा व्याधीनुत्पादयन्ति च ॥ १९ ॥

स्निग्धरूक्षादिदोषगुणानां परस्परविभिन्नानां युगपदसंभवे संसर्गसंनिपातत्वं नाम दोष-कर्मणां द्वयोस्त्रयाणां वा वैषम्यमिति प्रतिपादनार्थमुच्यते । व्याध्युत्पत्तिकरमिति रोगोत्पा-दनम् । मुख्यं यद्विना रोगाणामुत्पत्तिर्न भवेदिति । वैषम्यं स्वभाववैपरीत्यम् । दोषकर्मणां चल-

मिश्र, विस्त्र व शीत होता है । और पित्तानुबंधसे उष्ण होता है । सुश्रुतसंहितामें कहा है “ पित्तके कारण मल पीत, नील अथवा रक्तवर्ण होता है । और तृष्णा, मूर्च्छा, दाह, पाक व ज्वर ये लक्षण होते हैं । ” वातानुबंधसे अल्प २ मल होता है । सुश्रुतही कहता है “ वातके कारण मल थोडा २ फेनसहित, रूक्ष, व श्याव होता है । ” अर्थात् एकही समय सफेद, पीला, नीला, अरुण अथवा श्याव वर्णके मलका उत्सर्जन कैसा हो सकता है ? उसीप्रकार अतिसारमें एकही समय मल घनभी, द्रवभी और फेनिल व थोडा २ भी नहीं हो सकता । इसीप्रकार कठिन और मृदु ये परस्परविरुद्ध स्पर्श एकही साथ एकत्र कैसे रह सकते हैं ? सब दोषोंके समवायमें अथवा दो दोषोंके मिश्रणमें उनके परस्परविरुद्ध लक्षणोंका संकर नहीं हो सकता । यदि नहीं तो वाग्भटने यह कैसा कहा कि दो दोषोंके क्षय-कोपसे संसर्ग और तीन दोषोंके क्षय-कोपसे संनिपात होता है ? अथवा चरकनेभी यह कैसा बतलाया कि, संसर्गमें दो दोषोंके लक्षणोंका तथा संनिपातमें तीनोंके लक्षणोंका मिश्रण रहता है : सारांश, संसर्ग व संनिपातमें दोनों अथवा

नार्दीनाम् । तेषां तन्मये । द्वयोर्लयाणां वा विकृतिर्भवेत् । यथा कदाचित् चलनमेकं कदाचित् चलनं पचनं चेति द्वितयं कदाचिच्च पोषणं पचनं गतिश्चेति त्रीण्यऽपि विकृतानि भवेयुः । (१७-१९)

एकदोषोत्थितश्चैककर्मवैषम्यसम्भवः ।

कर्मद्वयस्य वैषम्याज्जातः संसर्गजः स्मृतः ॥ २० ॥

कर्मत्रयस्य वैषम्याज्जातः स्यात्सन्निपातजः ।

कर्मवैषम्यानुसारेण विकाराणामेकदोषजत्वादिकमिति एकदोषोत्थितो व्याधिर्नाम एककर्मवैषम्यसंभवः एवं संसर्गजः कर्मद्वयवैषम्यसंभवः । सन्निपातजो नाम कर्मत्रितय-वैषम्यसंभव इति । (२० ॥)

गतिवैषम्यजाः सर्वे विकारा वाजजाः स्मृताः ॥ २१ ॥

पचनस्य च वैषम्याज्जातास्ते पित्तजा इति ।

संग्रहस्य च वैषम्याज्जातास्ते श्लेष्मजा इति ॥ २२ ॥

गतिपचनसंग्रहाख्यानां दोषकर्मणां वैषम्यानुसारेण वातजाः पित्तजाः श्लेष्मजाश्चेति विकाराः स्मृता आख्याताः । (२१-२२)

गतिवैषम्यजा वातविकाराः शूललक्षणाः ।

पित्तजाः पक्तिवैषम्यजनिता दाहलक्षणाः ॥ २३ ॥

तीनो दोषोंका एकदम प्रकोप होता है और उनके लक्षणोंका उनमे संकर रहता है यह वर्णन शंकास्पद है । १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

उक्त आशंकाका निरसन इस प्रकार होता है । परस्परविरुद्ध गुणोंके दोषोंकी एकही समय विकृति उत्पन्न होना असंभव है । किंतु संसर्ग व संनिपातका यह अर्थ नहीं है । दोष जिन क्रियाओंको करते हैं उनमेंसे दोनो अथवा तीनो क्रियाओंके वैषम्यको संसर्ग व संनिपात संज्ञा है । मुख्यतः दोषोंकी क्रियाओंमें वैषम्य उत्पन्न होनेसेही रोग उत्पन्न होता है । श्वसनपचनादि क्रियाओंमेंसे दो अथवा तीनों क्रियाओंकीभी एकसमय व एकस्थानमें विकृति हो सकती है । किसी समय चलनक्रियाकी विकृतिके कारण रोग उत्पन्न हो सकता है, किसी समय चलन व पचन इन दो क्रियाओंके विकृतिसे रोग उत्पन्न होगा । तो किसी समय चलन, पचन व पोषण तीनों क्रियायें विकृत होकर रोगोत्पत्ति करेंगी । १७-१९ ॥

यदि एकही दोषकी क्रिया विकृत हुई तो एकदोषज रोग उत्पन्न होगा । दो दोषोंकी क्रियायें विकृत हुई तो द्विदोषज याने संसर्गज रोग उत्पन्न होगा ।

जाताः संग्रहवैषम्यात् श्लेष्मजाः शोथलक्षणाः ।

गतिवैषम्यजा इत्यादि--गच्छादिकर्मवैषम्यजा वातजादिविकाराः क्रमात् शूललक्षणाः
शूलप्रधानाः । दाहलक्षणा दाहप्रधानाः । शोथलक्षणाः शोथात्मान इति । (२३ ॥)

पोषणं पचनं चेति कर्मणी विषमे यदा ॥ २४ ॥

सः श्लेष्मपित्तसंसर्गः शोथदाहकरो भवेत् ।

शोथदाहात्मकास्तस्माद्विकाराः सम्भवन्ति हि ॥ २५ ॥

पोषणं गतिरित्येते कर्मणी विषमे यदा ।

सः श्लेष्मवातसंसर्गः शोथशूलकरो भवेत् ॥ २६ ॥

शोथशूलात्मकास्तस्मात् व्याधयः सम्भवन्ति हि ।

चलनं पचनं कर्मद्वितयं विषमं यदा ॥ २७ ॥

स वातपित्तसंसर्गः शूलदाहकरो भवेत् ।

शूलदाहात्मकास्तस्माद्विकाराः सम्भवन्ति हि ॥ २८ ॥

और तीनों दोषोंकी क्रियायें विकृत हुई तो त्रिदोषज याने सान्निपातिक रोग उत्पन्न होगा । वात, पित्त व कफकी अनुक्रमसे गति, पचन व पोषण क्रियाओंकी विकृतिसे जो विकार उत्पन्न होते हैं वे वातज, पित्तज व कफज विकार कहे जाते हैं । गतिवैषम्यके कारण वातज, पचनविकृतिके कारण पित्तज और संग्रह अथवा पोषणके विकृतिसे कफज । २० । २१ ॥ २२ ॥

गतिवैषम्यके कारण होनेवाले वातविकारोंमें शूल यह प्रधान लक्षण रहता है । पचनवैषम्यके कारण उत्पन्न होनेवाले पित्तविकारोंमें दाह यह प्रधान लक्षण रहता है । और संग्रहवैषम्यके कारण उत्पन्न होनेवाले कफविकारोंमें प्रधान लक्षण रहता है शोथ । २३ ॥

जब पोषण, व पचन ये दो क्रियायें विकृत होती हैं उसको कफपित्तसंसर्ग कहते हैं और उससे शोथ व दाह ये लक्षण उत्पन्न होते हैं । अर्थात् उनसे शोथदाहात्मक विकार उत्पन्न होते हैं । पोषण व गति ये दो क्रियायें जब बिघडती हैं, उसको कफवातसंसर्ग कहते हैं । उसमें शोथ व शूल उत्पन्न होता है । अतः उनसे शोथशूलात्मक विकार उत्पन्न होते हैं । चलन व पचन ये दो क्रियायें जब बिघडती हैं, उसको वातपित्तसंसर्ग कहते हैं । उसमें शूल व दाह होता है । अतः उनसे शूलदाहात्मक विकार उत्पन्न होते हैं । इसप्रकार संसर्ग तीन प्रकारके होते हैं--१ कफपित्तसंसर्ग २ कफवातसंसर्ग और ३ वातपित्तसंसर्ग ।

कर्मत्रयं च विषमं पोषणं पचनं गतिः ।

सन्निपातः शोथदाहशूलोत्पत्तिकरो भवेत् ॥ २९ ॥

शोथो दाहश्च शूलश्च विकारे सन्निपातजे ।

सर्वलिंगानि जायन्ते वैषम्यात्सर्वकर्मणाम् ॥ ३० ॥

संसर्गसन्निपातस्वरूपं विशदीकुर्वन्नाह । पोषणपचनाख्ययोः कर्मणोर्वैषम्यं श्लेष्मपित्तसंसर्गो नाम । स च शोथदाहकरः तदुद्भावाश्च व्याधयः शोथदाहात्मकाः । पोषणं गतिरित्येतयोर्युगपद्वैषम्यात् श्लेष्मवातसंसर्गः शोथशूलकरस्तदुद्भावाश्च व्याधयः शोथशूलात्मकाः । चलनपचनयोर्वैषम्याद्वातपित्त-संसर्गः शूलदाहकरस्तज्जाश्च व्याधयः शूलदाहात्मका इति संसर्गाख्यः । पोषणपचनगतिसंज्ञानां कर्मणां त्रयाणामपि युगपद्वैषम्यात् सन्निपातः शोथदाहशूलकरस्तस्मादुत्पन्ने व्याधौ शोथादीनि सर्वलिंगानि भवन्ति । (२४-३०)

दोषाणां कर्मणां साम्यं सर्वेषां वृद्धिकारणम् ।

वैषम्यं च तथा तेषां सर्वेषां क्षयकारणम् ॥ ३१ ॥

उत्पादनं वर्धनं वा शरीरे न भवेद्यदा ।

ऽहासो विनाशश्च भवेद्विकृतिः सान्निपातिकी ॥ ३२ ॥

जब पोषण, पचन व गति इन तीनों क्रियाओंमें एकदम वैषम्य उत्पन्न होता है, उसको सन्निपात कहते हैं । उसमें शोथ, दाह व शूल उत्पन्न होते हैं । सभी क्रियाओंके वैषम्यके कारण शोथ, दाह व शूलयुक्त व्याधयां उत्पन्न हो सकती हैं । २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

सन्निपात किसप्रकार क्षयकर होता है यह अब दर्शाते हैं । दोषोंकी क्रियायें जब सम अवस्थामें रहती हैं, उससे [दोषकर्मसाम्यसे] सभी शारीरधातुओंकी वृद्धि [संवर्धन] होता है । किंतु जब इन क्रियाओंमें वैषम्य उत्पन्न होता है तब वे शारीरधातुओंका क्षय- [-ऽहास] करती हैं । क्रियासाम्यसे शारीर अवयवोंके सूक्ष्म घटकोंका भी- नवीन घटकोंका उत्पादन व अभिवर्धन [पोषण] होता है । किंतु जिस क्रियावैषम्यसे इन सूक्ष्म घटकोंका यह उत्पादन व पोषण कम होने लगता है, अथवा बंदही हो जाता है उससे उनका याने सूक्ष्म घटकोंका और उनके घटित धातुओंका विनाश होने लगता है । इसप्रकार धातुओंका विनाश जिस विकृतिके कारण होता है उसको सान्निपातिकी विकृति कहते हैं । गति, पचन व पोषण ये जो जीवनकी साधिका तीन क्रियायें हैं उनमें याने उन सबमेंही

सन्निपातस्य क्षयकरत्वं दर्शयितुमर्हते । वृद्धिकारणमिति शरीरधातूनां संवर्धन-
करम् । क्षयकारणम् शरीरधातूनां क्षयकरम् । उत्पादनं वर्धनं वेति शरीरावयवानां दूक्षमाणां
घटकसंज्ञानां नवीनोत्पत्तिरुपवृंहणं च । न भवेत् । ऋणः क्षीणता । विनाशश्च यथा भवेत्सा
विकृतिः सान्निपातिकी नाम । जीवनसाधनं गत्यादिर्नर्मयवे विकृतिमाधने शरीरद्रव्याणा-
मभिवर्धनं न भवेत् भवेच्च क्षय इति सन्निपातसम्भवा विवक्षाः क्षयकारिण इति । (३१-३२)

रोगोत्पत्तिकरं द्रव्यमाम इत्यभिभाषितम् ।

शरीरस्थाः प्रदुष्टा वा दोषा वातादयस्त्रयः ॥ ३३ ॥

यद्वा शरीरमाविश्य द्रव्यं द्रव्याणि दूषयेत् ।

शरीरस्थान्यसात्म्यं तत् व्याधिकारणमुच्यते ॥ ३४ ॥

रोगोत्पत्तिकारणस्य द्रव्यस्य स्वरूपं सामान्येन निर्दिशति । रोगोत्पत्तिकर-
मित्यादि । आम इत्यभिभाषितम् प्रागुपवर्णितम् । प्रदुष्टा वातादयो वा इति दुष्टेषु
वातादिषु आमद्रव्ये च न स्वरूपभेदः । यद्वा शरीरमाविश्य द्रव्यमिति रोगो-
त्पादनस्वभावं बाह्यं द्रव्यं विषसंज्ञयाऽख्यायमानम् । द्रव्याणीति धातवो रसरक्तादयः ।
असात्म्यमनभ्यस्तं विरुद्धमिति यावत् । सर्वमेतत् व्याधिकारणमिति । आमद्रव्यं दोषाश्च
दुष्टाः शरीरव्याधिहेतवः । बाह्यं द्रव्यं रोगोत्पादकं हेतुरागंतुसंज्ञः । अमेन दोषैर्वा व्याधयः
समुत्पन्नाः शरीरास्तथा बाह्यद्रव्येणोत्पन्ना आगंतव इति । (३३-३४)

यदि विकृति उत्पन्न होगी तो स्वाभाविक है कि, शरीर द्रव्यों [धातुओं] का संव-
र्धन बंद हुवा होगा और उनका विनाश होने लगेगा । अतः सन्निपातज विकार
विनाशकारी होते हैं । ३१ ॥ ३२ ॥

पीछे बतलाया जा चुका है कि, रोगोत्पत्तिकर द्रव्यको आम कहते हैं ।
अथवा दुष्ट वातादि दोषभी रोग उत्पन्न करते हैं । इसका स्पष्टार्थ यही होता है
कि, दुष्ट वातादि दोष और आम द्रव्यके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है । अथवा,
बाहरका कोई द्रव्य—जिसमें रोगोत्पादनकी शक्ति होती है — शरीरमें प्रवेशकर
शरीर द्रव्योंको याने रसरक्तादि धातुओंको दूषित करता है । और असात्म्य हो-
नेके कारण याने पूर्वाभ्यस्त न होनेके कारण वहभी रोग उत्पन्न करता है ।
सारांश व्याधुत्पादनके दो हेतु होते हैं — १ शरीरांतर्गत और २ बाह्य । शरी-
रांतर्गत हेतुभी दो प्रकारके होते हैं — १ आम द्रव्य २ दुष्ट दोष । बाह्य हेतुको
आगंतु कहते हैं । अर्थात् इन भेदोंके अनुसार व्याधिओंके भी भेद होते हैं —

पोषणाख्यं कर्म येन द्रव्येण परिदूष्यते ।

श्लेष्मप्रकोपणं तत्स्यात्पचनं येन दूष्यते ॥ ३५ ॥

पित्तप्रकोपणं नाम चलनाख्यस्य कर्मणः ।

द्रव्यं प्रदूषकं वायोस्तत्प्रकोपणमुच्यते ॥ ३६ ॥

प्रदूषकं यत्सर्वेषां कर्मणां नाशकारणम् ।

द्रव्यं तद्विषरूपं स्यात्सन्निपातप्रकोपणम् ॥ ३७ ॥

द्रव्यमिति आमाख्यं बाह्यं रोगोत्पादकं वा । पोषणादिकर्मणां प्रदूषकं श्लेष्मादिदोषाणां प्रकोपणमिति । सर्वेषां पोषणादीनां कर्मणां प्रदूषकम् । नाशकारणम् क्षयकरम् । विषरूपं विनाशकत्वात् । तत्सन्निपातप्रकोपणम् (३५-३७)

विषं नाम हि त् द्रव्यं विनाशायोपकल्पते ।

दोषाः प्रदुष्टा वाताद्या विषरूपत्वमागताः ॥ ३८ ॥

विनाशायोपकल्पन्ते वैषम्यात्सर्वकर्मणाम् ।

विनाशकत्वसामान्याद्विकारे सन्निपातजे ॥ ३९ ॥

विषरूपाणि जायन्ते सर्वाङ्गैकाङ्गजेष्वथवा ।

१ शरीर अथवा निज व्याधि - जो आम द्रव्य अथवा दुष्ट दोषोंके कारण होता है । और २ आगंतु व्याधि - जो बाह्य विषके कारण रोगोत्पादक द्रव्यके कारण होता है । ३३ ॥ ३४ ॥

जिससे पोषणकर्म दूषित होता है उस द्रव्यको श्लेष्मप्रकोपण द्रव्य कहते हैं । जिससे पचनकर्म दूषित होता है उसको पित्तप्रकोपण द्रव्य कहते हैं और जिससे चलन (गति) कर्म दूषित होता है उसको वात-प्रकोपण द्रव्य कहते हैं । फिर वह [प्रकोपण द्रव्य] चाहे शरीरांतर्गत आम-स्वरूपका हो अथवा रोगकारक बाह्य द्रव्य हो । जो द्रव्य उक्त तीनों कर्मोंको दूषित करता है और धातुओंका नाश (क्षय) करता है वह उसके विनाशक गुणके कारण विषरूप माना जाता है । उसको सन्निपातप्रकोपण द्रव्य कहते हैं । ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

विष उस द्रव्यका नाम है जो शरीर धातुओं (द्रव्यों) का विनाश करता है । प्रदुष्ट वातादि दोषभी जब विषरूपत्वको प्राप्त होते ह, सब क्रियाओंके वैषम्यके कारण वेभी शरीर धातुओंका विनाश करते हैं । सान्निपातिक

विषं नाम यत् द्रव्यं विनाशाय शरीरद्रव्याणाम् । **विषरूपत्वं** विनाशकरत्वम् । **सर्वाङ्गैकाङ्गजेऽथवा** इति सर्वाङ्गजे स्थानविशेषोद्धवे वा व्याधौ । सन्निपातो नाम दोषत्रयस्य वैषम्यं विनाशकरं तस्मात्समुत्पन्ने सर्वाङ्गव्यापिनि स्थानविशेषाश्रये वा व्याधौ विषलक्षणं विनाशकत्वं सामान्यमिति । (३९ ॥)

एकदोषोत्थिताः साध्याः कृच्छ्रसाध्या द्विदोषजाः ॥ ४० ॥

असाध्याः सन्निपातोत्था व्याधयः समुदाहृताः ।

क्रमादेकद्वित्रिकर्मवैषम्यजनिता इति ॥ ४१ ॥

एकदोषोत्थिता इत्यादि । एकद्वित्रिदोषजनितानां व्याधीनां क्रमान् सुसाध्यत्वं, कृच्छ्रसाध्यत्वमसाध्यत्वं चाख्यातं तत्र एकद्वित्रिकर्मणां वैषम्यं कारणमिति । (४०-४१)

संसर्गसन्निपातानां तारतम्यविकल्पनात् ।

भेदा भवन्ति नोक्तास्ते सौक्ष्म्यादव्यक्तलक्षणाः ॥ ४२ ॥

संसर्गाणां सन्निपातानां च तारतम्यविकल्पनया भेदा भवन्ति । यथोक्तमष्टाङ्गहृदये - पृथक् त्रीन् विद्धि संसर्गद्विधा तत्र तु तान्त्रय । त्रयोदश समस्तेषु । पञ्चविंशतिरित्येवं वृद्धेः क्षीणेश्च तावतः । एकक्षयद्वन्द्वद्वया सविपर्यययाऽपि ते । भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टास्त्रिषष्टः स्वास्थ्यकारणम् । इति । **सौक्ष्म्यात्** तारतम्यस्य सूक्ष्मत्वात् । **अव्यक्तलक्षणाः** अस्पष्टलक्षणा इति नोक्ताः । इति संसर्गसन्निपातस्वरूपदर्शनं नाम सप्तमं दर्शनम् । (४२)

॥ इति सप्तमं दर्शनम् ॥

विकारोम-फिर वे विकार चाहे सर्वदेहिक हो अथवा प्रादेशिक हो-विनाशकत्वका सामान्य रहताही है । इसलिये विशिष्ट स्थानोंमें अथवा सब शरीरमेंभी भिन्नरूपके विषरूपद्रव्य उत्पन्न हो जाते हैं । ३८ ॥ ३९ ॥

एकदोषज रोग सुख साध्य होते हैं । द्विदोषज याने संसर्गज रोग कृच्छ्र- (कष्ट) साध्य होते हैं । और त्रिदोषज याने सान्निपातिक रोग प्रायः असाध्य होते हैं । सारांश रोगोंका साध्यत्व-तथा असाध्यत्व दोषोंकी एक, दोन अथवा तीन क्रियाओंकी विषमतापर निर्भर होता है । ४० ॥ ४१ ॥

संसर्ग व सन्निपातके तारतम्यकल्पनाके अनुसार अनेक भेद होते हैं । किंतु वे सूक्ष्म व अस्पष्टलक्षणके होनेके कारण उनका निर्देश यहाँपर नहीं किया गया । अष्टाङ्गहृदयमें **संसर्ग**-दोषद्वयकी संयुक्त विकृती-के भेद १८ व **सन्निपात**-तीन दोषोंकी संयुक्त विकृती-के प्रकार ३८ बतलाये हैं । जिन प्रकारोंमें समप्रमाणसे अथवा विषम प्रमाणसे वृद्ध व क्षीण दोष संयुक्त रहते हैं । ४२ ॥

दोषोंका संसर्गसन्निपातदर्शननामक सप्तम दर्शन समाप्त ।

॥ अष्टमं दर्शनम् ॥

विकृतिविशेषोत्पादकदोषानुबन्धदर्शनम् :

ज्वरातिसारकुष्ठाद्या रोगाः स्थानान्तराश्रिताः ।

दोषाधिक्यानुसारेण भेदस्तेषूपकल्प्यते ॥ १ ॥

रोगो वाताधिकः पित्ताधिकः श्लेष्माधिकस्तथा ।

दोषवैषम्यसम्भवानां विकाराणां स्वरूपविशेषोत्पादकं दोषाधिक्यं विशदीकुर्वन्नाह ।
ज्वरातिसारकुष्ठाद्या इत्यादि । स्थानान्तराश्रिता इति विशिष्टस्थानोद्भवाः । स्थान-
विशेषगतो विकृतिविशेष एव व्याधिनाम्नाऽख्यायत इति । यथोक्तं सौश्रुते—एवं प्रकुपितास्तांस्तान्
शरीरप्रदेशानागम्य तांस्तान् व्याधीन् जनयन्ति । अष्टांगहृदये च—स एव कुपितो दोषः समुत्थान-
विशेषतः । स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरुते बहून् । इति । दोषाधिक्यानुसारेण वाता-
धन्यतरस्याधिकादिति । भेदो वक्ष्यमाणस्वरूपः । वाताधिकः पित्ताधिकः श्लेष्माधिक इति (१ ॥)
व्याधिर्विशिष्टो दुष्टेन येन दोषेण जायते ॥ २ ॥

अष्टम दर्शन

(विकृतिविशेषोत्पादकदोषानुबन्धदर्शन)

वातादि दोषोंके वैषम्यसे उत्पन्न होनेवाले व्याधिओंके विशिष्ट स्वरूपके
उत्पादक वातादि दोषोंका आधिक्य विशद करते हैं ।

ज्वर, अतिसार, कुष्ठ, आदि विकार शरीरके भिन्न २ स्थानोंमें—भिन्न स्थानोंके
विकृतीसे उत्पन्न होते हैं । ऐसी विशिष्ट स्थानोंमें होनेवाली विशिष्ट विकृतिकोही
व्याधि-रोग संज्ञा दी गयी है । सुश्रुतसंहितामें कहा है—“ दोष प्रकुपित होकर
भिन्न २ शरीर विभागोंपर आक्रमण करते हुए भिन्न २ व्याधिओंको उत्पन्न करते
हैं ” । अष्टांगहृदयमेंभी वर्णन किया है कि, उत्पादक कारणोंके भेदके अनुसार
कुपित दोष भिन्न २ स्थानोंमें भिन्न २ रोगोंकी उत्पत्ति करते हैं । व्याधिओंमें जिस
दोषका आधिक्य—प्राधान्य होता है उसके अनुसार वातप्रधान, पित्तप्रधान, कफ-
प्रधान इसप्रकारका व्याधिका निर्देश किया जाता है । १ ॥

ज्वर, अतिसार, गुल्म आदि व्याधि मुख्यतः जिस कुपित दोषके कारण
उत्पन्न होते हैं वही (दोष) उस व्याधिमें प्रमुख (उत्पादक) दोष माना जाता

स एव तस्मिन् प्रमुखः स्यात् व्याधौ न तथेतरौ ।
 रक्तपित्तं ज्वरः कुष्ठमित्याद्याः पित्तदुष्टिजाः ॥ ३ ॥
 पित्तमेव प्रधानं स्यादेतेषु न तथेतरौ ।
 ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना ॥ ४ ॥
 दुष्टमुन्मार्गं पित्तं ज्वरं संजनयेदिति ।
 विदग्धं पित्तमेव स्याद्रक्तपित्तस्य कारणम् । ५ ॥
 दोषदूष्यानुबन्धेऽपि सामान्यात्पाककोथयोः ।
 पित्तं कुष्ठेषु सर्वेषु प्रधानं पाककोथकृत् ॥ ६ ॥

दोषविशेषस्यैव, व्यधिविशेषोत्पादकत्वात् प्रतिविकारं वातादीनां प्राधान्यं विकारस्वरूप-
 विशेषोत्पादकमाशङ्क्योच्यते । व्याधिरित्यादि । विशिष्टो ज्वरातिसाराणामन्यतमः । येन
 दोषेण जायते स एव प्रमुखः । यथा रक्तपित्ताद्याः पित्तदुष्टिजाः । तेषु पित्तं प्रधानं नेतरौ ।
 उन्मार्गगमिति अन्त्रात् बहिरागल्य रसानुगम् । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम्—दुष्टाः सहेतुमिदोषाः
 प्राप्यामाशयमूष्मणा । संहता रसमागत्य रसखेदप्रवाहिणाम् । स्रोतसां मार्गमावृत्य मंदीकृत्य हुताश-
 नम् । निरस्य बहिरूष्माणं पक्तिस्थानाच्च केवलम् । तत एवोक्तमष्टांगहृदये—ऊष्मा पित्तादृते नास्ति
 इत्यादि । विदग्धं दुष्टं दाहाद्युत्पादकम् । रक्तपित्तकारणम् । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम्—विदग्धं

है । दूसरे नहीं । उदाहरणः—“ पित्तदुष्टीसे “ रक्तपित्त उत्पन्न होता है अतः रक्त-
 पित्तमें पित्तहीका प्राधान्य रहता है, वातकफोंका नहीं । उसीप्रकार ज्वरमें, कुष्ठमें,
 पित्तही प्रधान रहता है । कारण उन रोगोंकी उत्पत्ति मुख्यतः पित्तके विकृतिसेही
 होती है । ज्वरके संबंधमें अष्टांगहृदयमें लिखा हैः—ऊष्माके विना (संतापके
 विना) ज्वर नहीं होता, और ऊष्मा—संताप पित्तदुष्टीके विना उत्पन्न नहीं होता ।
 पित्तही विकृत व उन्मार्गगामी होकर ज्वरको उत्पन्न करता है । सुश्रुतसंहितामें कहा
 है— अपने २ कारणोंसे कुपित दोष आमाशयमें प्राप्त होकर तत्रस्थ ऊष्माके सहित
 रसधातुमें मिश्र होकर रसवह व खेदवह स्रोतसोंका अवरोध व पाचक अग्निका
 मांघ उत्पन्न करते हुवे पचनस्थानसे तत्रस्थ ऊष्माको बाहर निकालते हैं ” । पित्त
 विदग्ध — दूषित अवस्थामें दाह एवं रक्तपित्तको उत्पन्न करता है । सुश्रुतने
 कहा हैः—विदग्धं पित्तसे विदग्ध हुवा रक्त नासा, मुख आदि ऊर्ध्व तथा अधः मलमू-
 त्रादि मार्गोंसे निकलता है । कुष्ठ विकारोंमें वातादि दोष एवं त्वचा, रक्त,
 मांस, लसीका इत्यादि धातुओंका संबंध होते हुएभी रक्तमांसादिका पाक व

सद्युणैः पित्तं विदहत्याशु शोणितम् । ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा । इति । **दोष-
दूष्यानुबंधेऽपीति** वातादीनां दोषाणां सर्वेषां, त्वग्लसीकासृगामिषमिति धातूनां दूष्यरूपाणां
संबंधेऽभिहितेऽपि **सामान्यात्पाककोथयोः** सर्वेषां कुष्ठप्रकाराणां पाककोथात्मकत्वान् । यथोक्त-
मष्टांगहृदये-कालेनोपेक्षितं यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपुः । प्रपद्य धातून् व्याप्यान्तः सर्वान् संक्लेष
चावहेत् । सस्वेदक्लेदसंकोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदारुणान् । इत्यादि । ततः कुष्ठेषु पित्तं प्रधानम् ।
(२-६)

दोषानुबंधात् व्याधीनां भेदो लिंगेषु जायते ।

सौम्यतातीव्रतारूपो न लिंगान्तरसम्भवः ॥ ७ ॥

कफानुबंधात्सौम्यत्वं ज्वरवेगस्य जायते ।

वातानुबन्धाद्वैषम्यं ज्वरवेगस्य जायते ॥ ८ ॥

यदाऽनुबंधरहितं पित्तं ज्वरकरं भवेत् ।

ज्वरवेगस्य तीक्ष्णत्वं विशेषाज्जायते तदा ॥ ९ ॥

कुष्ठेषु केवलं पित्तं तीव्रपाककरं भवेत् ।

वातानुबंधादास्त्रावो रक्तपित्तेऽल्पशो भवेत् ॥ १० ॥

कोथका कारण दूषित पित्तही होता है । अतः पित्तही कुष्ठ विकारोंका प्रधान
उत्पादक है । अष्टांगहृदयमें लिखा है-कुष्ठ विकारोंमें उपेक्षासे सर्व धातुओंमें
क्लेद कोथ कृमिओंकी उत्पत्ति होती है, और शरीर याने शरीरके धातु सड़ जाते
हैं ॥ २-६ ॥

किसीएक दोषके प्राधान्यके कारण उत्पन्न विशिष्ट व्याधिमें जब अन्य
दोषोंकाभी अनुबंध होता है तब व्याधिस्वरूपमें जो अन्य अवस्था उत्पन्न होती
है इसके संबंधमें विवरण करते हैं । दोषोंके अनुबंधके कारण व्याधिके
लक्षणोंमें जो भेद उत्पन्न होता है वह तीव्रता अथवा सौम्यताके रूपका होता है
अन्य [उत्पादकदोषलक्षणसे भिन्न] लक्षण उत्पन्न नहीं होता । याने उसी
मुख्यदोषोद्भव लक्षणका स्वरूप अन्य दोषानुबंधके कारण तीव्र अथवा सौम्य
हो जाता है । किंतु मूल लक्षणमें बदल नहीं होता अथवा अन्य लक्षण निर्माण
नहीं होता । उदाः—पित्तप्रधान दाहात्मक रक्तपित्तमें श्लेष्मानुबंधके कारण शैत्यो-
त्पत्ति न होगी । ज्वरमें श्लेष्मानुबंधसे इतनाही होगा कि ज्वरवेग सौम्य होगा ।
और ज्वरमें यदि वातानुबंध हो, ज्वरवेग विषम होगा याने उसमें अनिश्चितता

रक्तपित्तं यदा तीक्ष्णाद्विदाहादेव जायते ।

श्लेष्मानुबंधश्चैतस्मिन्न भवेदाहहानिकृत् ॥ ११ ॥

दोषाणामन्यतमस्य प्राधान्येनोत्पत्तेषु व्याधिविशेषेषु पुनर्दोषाणामनुबंधात् किंवाऽवस्था-
न्तरमिति दर्शनार्थमाह । दोषानुबंधादिति वातादीनामेकस्यान्यतरयोर्वा सम्बन्धात् ।
सौम्यतातीव्रतारूपः व्याधिविशेषलक्षणानां सौम्यत्वतीव्रत्वरूपः । लिङ्गान्तर-
सम्भव इति पित्तप्रधाने दाहात्मके रक्तपित्तादौ श्लेष्मणा दाहविरुद्धं शैत्यमित्यादि । यथा —
कफानुबंधात् श्लेष्मणः सम्बन्धात् । ज्वरवेगस्य ज्वरसंतापस्य । सौम्यत्वमिति संताप-
स्याभिवृद्धिर्नाधिका । वातानुबंधाच्च विषमो वेग इति संतापवृद्धेरनियतत्वम् । यथोक्तं
वाग्भटन-आगमापगमक्षोभमृदुतावेदनोष्मणाम् । वैषम्यं तत्रतत्रांगे तास्ताः स्युर्वेदनाश्रलाः ।
इति । अनुबंधरहितमिति कफवातसंबन्धरहितं केवलम् । ज्वरवेगस्य तीक्ष्णत्वं तीव्रः
सन्तापः । यथोक्तं माधवाचार्येण — वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्चेत्यादि । तीव्रपाककरमिति
विशेषात्क्रोधकरम् । वातानुबंधात् रक्तपित्ते अल्पशः आस्त्रावः । रक्तपित्तं तीक्ष्णादि-
दाहादेव जायते । सौम्यश्चेद्विदाहस्तदा रक्तपित्तस्यासम्भवः । ततश्च श्लेष्मानुबंध एतस्मिन्न
भवेत् । दाहहानिकृदिति सांद्रं सपांडु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितमिति चरकाद्युप-
र्णनेऽपि रक्तपित्ते सांद्रत्वं श्लेष्मानुबंधान्न विदाहस्योनत्वादिति । (७-११)

उत्पन्न होगी । वाग्भटने कहा है “ (ज्वरका) आगम, उपगम, क्षोभ, मृदुता,
वेदना व ऊष्मा इनका (वातानुबंधसे) वैषम्य उत्पन्न होता है । ” जब ज्वरमें
कफवातका कोई संबंध नहीं होता और अकेले पित्तकेही कारण वह उत्पन्न होता
है, ज्वरवेग विशेष तीक्ष्ण रहता है । (ज्वर विशेष तीव्र होता है ।) माधवाचार्यने
कहा है “ पित्तज्वरमें ज्वरका वेग तीक्ष्ण रहता है और अतिसारभी होता है । ”
कुष्ठविकारोंमें वातकफरहित केवल पित्त तीव्र पाक करता है याने विशेषतः
कोष्ठ उत्पन्न करता है । रक्तपित्तमें यदि वातानुबंध रहा तो रक्त का स्त्राव थोड़ा
होता है । तीव्र विदाहकेही कारण रक्तपित्त होता है अतः दाहहानि करनेवाला
श्लेष्मानुबंध उसमें नहीं होता । कारण विदाह सौम्य रहा तो रक्तपित्त होगाही
नहीं । यद्यपि चरकने कहा है । के “ कफान्वित रक्तपित्त सांद्र, पांडुवर्ण, स्नेह,
और पिच्छिल रहता है । ” उसका अर्थ इतनाही है कि रक्तपित्तमें जो सांद्रत्व
(घनत्व) उत्पन्न होता है वह दाहके न्यूनत्वके कारण नहीं होता अपितु
श्लेष्मानुबंधके कारण होता है । ७ । ८ । ९ । १० । ११ ॥

लक्ष्यते विकृतिर्येन तल्लिङ्गमभिधीयते ।

आयते विकृतिर्येन स दोषो रोगकारकः ॥ १२ ॥

लक्ष्यत इत्यनुमीयते । विकृतिः स्थानान्तरगतो विकृतिविशेषो व्याधिसंज्ञः । येन तल्लिङ्गमिति । ज्वरातिसारगुल्मादीनां संतापः, गुदेनातिद्रवसरणम्, गुल्मरूपः शोथ इत्यादीनि लक्षणान्येव व्याधिस्वरूपदर्शकानि । तत्रान्तरेषु बहुनामुपद्रवस्वरूपाणामपि विकाराणां लक्षणत्वेनोल्लेखः । यथा वातज्वरलक्षणे, संधीनां विशेषः, उर्वोः सादः, स्वनः कर्णयोः, शंखयोर्निस्तोदः, पिपासा, हृदयग्रहः, शुष्कच्छर्दिः शुष्ककासः क्ष्वत्तूद्वारविनिग्रहः इत्यादयश्चरकसंहितायामाख्याताः । अपि तु सन्तापविशेष एव प्राधान्येन ज्वरं वाताद्यनुबंधोपलक्षणः तदितरे चोपद्रवस्वरूपा इति । यथाऽतिसारे - बहुद्रवसरणस्य सामान्यलक्षणस्य विशेषाद्वाताद्यनुबंधो दर्शितः । विज्वलमामं विज्वलमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगंधमीपत्-शब्दमशब्दं वा विवद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं वातात् । स्निग्धं, श्वेतं पिच्छिलं तंतुमत् आमं गुरु दुर्गंधं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं श्लेष्मातिसारे इत्युपवर्णितं चरकसंहितायाम् । गुल्मभेदोपवर्णने च - छीहाटोपांत्रकूजनाविपाकोदावर्तांग-मर्दमन्याशिरःशंखशूलवृश्नरोगाश्चैनमुपद्रवन्ति । (वातगुल्मः) ज्वरभ्रमदधुपिपासागलतालुमुख-शोषप्रमोहविड्भेदाश्चैनमुपद्रवन्ति । (पित्तगुल्मः) इत्यनेन ज्वरभ्रमादयश्चोपद्रवत्वेनाख्याताः । अष्टांग-

अब व्याधिओंका लक्षण किसको कहना चाहिये इसका वर्णन करते हैं । पहिले बताया है कि, विशिष्टस्थानमें उत्पन्न होनेवाली विशिष्ट विकृतिकोही व्याधि कहते हैं । विकृतिका मुख्य निदर्शक अथवा विकृतिका स्पष्ट अनुमान जिससे होता है उसको लिंग अथवा लक्षण कहते हैं । उदा०ज्वरका लक्षण संताप, अतिसारका लक्षण गुदमार्गसे द्रवपदार्थका अधिक उत्सर्जन, गुल्मका लक्षण विशिष्ट शोथ आदि लक्षणोंसे व्याधिओंका स्वरूप दर्शाया जाता है । आयुर्वेदीय ग्रंथोंमें उपद्रवस्वरूप अनेक विकारोंकाभी लक्षणके नामसेही उल्लेख किया गया है । जैसे वातज्वरके लक्षणोंमें संधिविश्लेष, ऊरुओंका जखडना, कानमें आवाज होना पिपासा, हृदयग्रह, शुष्कछर्दि, शुष्ककास, उद्गारका अवरोध इत्यादिभी वातज्वरके लक्षणके नातेही चरकसंहितामें बतलाये गये हैं । किंतु वास्तवमें विशिष्टप्रकारका ज्वरवेग अथवा संतापही प्राधान्यसे वातानुबंधि ज्वरका लक्षण हो सकता है । और इतर सर्व उपद्रव होते हैं । अतिसारका सामान्य लक्षण है गुदमार्गसे बहुद्रवसरण । किंतु उसमेंभी वातानुबंधका निर्देश किया गया है । चरकसंहितामें कहा है “ वातके कारण विज्वल, आम, रूक्ष, द्रव, सशूल, आमगंधि मलका उत्सर्जन,

हृदये-द्विधा सपरतंत्रत्वात् व्याधयोऽन्त्याः पुनर्द्विधा । पूर्वजाः पूर्वरूपांस्त्या जाताः प्रश्नादुपद्रवाः । इति व्याध्युपलक्षणरूपात् ज्वरादीनां संतापादिकादन्यतरे विकारा लक्षणत्वेनोक्ता अपि उपद्रवरूपा एवेति सूचितम् । पित्तवैषम्यसंभवे ज्वरे वातानुबंधात्संतापस्य वैषम्यं, श्लेष्मानुबंधात्संतापस्य सापेक्ष-तया मांशं केवलपित्तेन तीक्ष्णं संतापस्येति । पित्तदुष्टिसंभवे ज्वरे वाताद्यनुबंधो न पित्तविरुद्ध-लिंगोत्पादनकर इति संतापामिवृद्धिर्ज्वरस्य, गुदेनातिद्रवसरणमतिसारस्येत्यादि विकृतिलक्षणं नान्ये शूलशोषादयो विकाराश्चोपद्रवस्वरूपाः । येन वातादिना दुष्टेन । विकृतिः विकारो ज्वरादिः । जायते स दोषो रोगकारकः प्राधान्येन । अन्यदोषानुबंधो - व्याधिसवरूपे तारतम्योत्पादकोऽपि न व्याधिकारणमिति । (१२)

अन्यदोषस्यानुबंधात् व्याधिलिंगेषु जायते ।

लिंगानां तारतम्यं न विरुद्धानां समुद्भवः ॥ १३ ॥

अतिसारस्य लिंगं स्यात् द्रवाणामतिसारणम् ।

वातानुबंधादल्पत्वं न भवेत् गाढविदकता ॥ १४ ॥

सांद्रत्वमपि सापेक्षमुक्तं श्लेष्मानुबंधतः ।

श्लेष्मा शोथविकाराणां सर्वेषां हेतुरुत्तमः ॥ १५ ॥

किञ्चित् शब्दके साथ अथवा निःशब्द-होता है । और मूत्र एवं वायुका अवरोध होता है । ” कफानुबंधसे स्निग्ध, श्लेत्, दुर्गंधि मलस्राव होता है । गुल्मभेदोंमें वातगुल्मका वर्णन करतेसमय कहा है “ प्लीहावृद्धि, आटोप (वातवृद्धीसे उदरमें शूल) अंत्रमें शब्द होता (अंत्रकूजन) अपचन, उदावर्त, (अंत्रमें वायुका विरुद्ध भ्रमण) अंगमर्द, मस्तकमें विशेषतः शंखास्थिमें शूल आदि उपद्रव होते हैं । एवं गुल्मविकारमें पित्तके अनुबंधसे ज्वर, भ्रम, दबथु (किसीएक स्थानमें तीव्र दाह) तृषा, कंठशोष, मुखशोष आदि उपद्रव होते हैं । उक्त विकारोंके स्वरूपसे स्पष्ट होता है कि लक्षण नामसे निर्देश होनेपरभी वे उपद्रवरूपही हैं । अष्टांगहृदयमें कहा है “ व्याधि दो प्रकारके (मुख्यतः) होते हैं । १ स्वतंत्र और २ परतंत्र । परतंत्रकेभी दो भेद होते हैं - १ पूर्वरूप और २ उपद्रव । व्याधिओंके लक्षणका उक्तस्वरूप ध्यानमें रखनेसे यह विदित होगा कि, ज्वरके लक्षणोंमें संताप - (ज्वरवेग) के अतिरिक्त अन्य विकारोंका यद्यपि समावेश किया गया है, वास्तवमें वे सर्व उपद्रवही हैं । पित्तवैषम्योद्भव ज्वरमें वातानुबंधके कारण संताप याने....ज्वरवेग विषम होगा, श्लेष्मानुबंधके कारण सापेक्षतया संताप

उत्सेधः सर्वशोथानां लक्षणं समुदाहृतम् ।

वातानुबंधादल्पत्वमुत्सेधस्य न शुष्कता ॥ १६ ॥

क्लेदाभिवृद्धिर्मेहानामुक्तं सामान्यलक्षणम् ।

निदानं कफकृत्सर्वं श्लेष्मा क्लेदकरो यतः ॥ १७ ॥

वातानुबन्धान्मेहेषु क्लेदाल्पत्वं न शोषणम् ।

दाहः पित्तानुबन्धेन भवेत्पाको न जायते ॥ १८ ॥

दोषस्यान्यतरस्यानुबंधात् व्याधुत्पादकदोषलक्षणेषु तारतम्योद्भवः न लक्षणान्तरसंभव इत्यु-
दाहरणैर्विशदीक्रियते । अन्यदोषस्येति व्याधुत्पादकादन्यस्य । व्याधिलिंगेषु व्याधुपल-
क्षणस्वरूपेषु प्रधानलिंगेषु । तारतम्यम् न्यूनाधिकत्वं सापेक्षम् । विरुद्धानां व्याधिस्वरूप-
विरुद्धानाम् । न समुद्भवः । यथा - अतिसारस्य अतिसारणादतिसार इति निरुक्त्याऽभिधेयानु-
मेयस्वरूपस्य । द्रवाणां कोष्ठसंचितानाम् । वातानुबंधादिति अतिसारोत्पादकदोषेणानु-
बन्धात् । अल्पत्वं सापेक्षतया द्रवस्याल्पत्वम् । न गाढविट्कता अतिसारविरुद्धं बद्धमलत्वं
न स्यात् । श्लेष्मानुबंधादपि सांद्रत्वं सापेक्षम् नातिसांद्रतेति । शोथविकाराणा-
मिति शोथात्मकानां विकाराणाम् । उत्तमः प्रधानः । वातानुबंधात् शोथात्मकविकारेषु
वायोरनुबंधात् । अल्पत्वमुत्सेधस्य सापेक्षत्वेनोत्सेधस्याल्पत्वम् । न शुष्कता शोथसामान्य-

मंद होगा और केवल पित्तके कारण संताप तीक्ष्ण होगा । इससेभी स्पष्ट होगा
कि, जो ज्वर पित्त दूषित होनेके कारणही आता है उसमें यद्यपि वातानुबंध
हुआ तोभी वह पित्तविरुद्ध लक्षणको उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिये संतापकी
अभिवृद्धिही ज्वरका प्रधान लक्षण है । अतिसारविकृतिका मुख्य लक्षण गुदमार्गसे
‘ बहुद्रवसरण, यही है । शूलशोषादि अन्य वर्णित विकार लक्षणरूप नहीं अपितु
उपद्रवस्वरूप होते हैं ।

जिस (दुष्ट) दोषके कारण विकृति उत्पन्न होती है उसकोही मुख्यतः
रोगोत्पादक समझना चाहिये । उसमें अन्य दोषोका अनुबंध रहाभी, उसके
कारण व्याधिके स्वरूपमें तारतम्य (न्यूनाधिकत्व) उत्पन्न होगा किंतु भिन्नस्वरूप
लक्षण उत्पन्न नहीं हो सकता । १२ ॥

मुख्य रोगोत्पादक दोषके अतिरिक्त अन्यदोषका अनुबंध याने संबंध होनेसे
व्याधीके लक्षणोंमें तारतम्य उत्पन्न होगा किंतु मुख्य दोषके विरुद्ध लक्षण नहीं
उत्पन्न हो सकते । उदाहरणार्थः—अतिसारका लक्षण है गुदमार्गसे द्रवका
अतिसरण । इसमें जब वातानुबंध होता है तब अल्प २ अतिसरण होता है ।

लक्षणविमूढा । मेहेषु क्लेदाभिवृद्धौ द्वेषु । वातानुबन्धात्क्लेदाल्पत्वमपि शोषणं शरीरधातूनां न स्यात् । दाहश्च पित्तानुबन्धे स्यादपि न पाकः । प्रमेहविकारेषु पाकस्यासंभव इति । पिडिकानां पाको न प्रमेहलक्षणम् किंतु पिडिकानामेव । (१३-१८)

दोषाणां व्याधिहेतूनां दूष्यस्थानविभेदतः ।

भवेत्लक्षणभेदोऽपि वैलक्षण्यं न जायते ॥ १९ ॥

रसरक्ताश्रितः शोथो मृदुर्मांसाश्रितो घनः ।

स्नाय्वाश्रितो ग्रंथिलश्च कठिनो जायतेऽस्थिषु ॥ २० ॥

पृथुलो मांसले देशे स्वल्पमांसे तनुर्भवेत् ।

दोषाणामित्यादि । व्याधिहेतूनामिति व्याविशेषप्रधानहेतुरूपाणां वाताद्यन्य-
तमानाम् । दूष्यस्थानविभेदतः दूष्याणां धातुमलानां स्थानानां च अंगविशेषाणां विभेदतः
विशेषानुसारम् । लक्षणभेद इति लक्षणेषु तारतम्यात्मको विशेषः । वैलक्षण्यं विरुद्धं लक्षणं
तस्य भावः । व्याध्युत्पादकदोषविरुद्धलक्षणत्वमिति । न जायते । लक्षणभेदानुदाहरति - रस-
रक्ताश्रित इति द्रवधात्वाश्रितः । मृदुः द्रवसंचयात्प्रपीडनेन निम्नोन्नतो भक्त्येवंविधः ।
मांसाश्रितो घन इति प्रपीडनाच्च शम्यति । स्नाय्वाश्रितश्च ग्रंथिलः ग्रंथिसमाकारः ।
कठिनोऽस्थिष्विति कठिनत्वादस्थनाम् । पृथुल इत्युपचितः । मांसले देशे प्रभूत-
मांसमये स्थाने । स्वल्पमांसे तनुपेशीयुते ललाटादौ तनुरित्यल्पोपचयः । (१९-२० ॥)

किंतु मुख्यलक्षणके विरुद्ध मूलमें घनत्व निर्माण नहीं होता । उसीप्रकार अतीसारमें श्लेष्मानुबन्धसे जो सांद्रत्व उत्पन्न होता है वहभी सापेक्षही रहता है । दुसरा उदाहरण शोथविकारका । सर्व शोथविकार श्लेष्माके कारण होते हैं । और सर्व प्रकारके शोथोंका प्रधान लक्षण बतलाया गया है उत्सेध याने उन्नतत्व । जब शोथविकारमें वातानुबन्ध होता है तब मुख्य शोथके विरुद्ध शुष्कता नहीं उत्पन्न होती । अपितु उत्सेधका अल्पत्व रहता है । सर्व प्रकारके मेहविकारोंका सामान्य लक्षण बतलाया गया है क्लेदाभिवृद्धि । चूंकी श्लेष्माही क्लेदोत्पत्ति कर सकता है इसलिये मानागया है कि मेहविकार कफसेही उत्पन्न होते हैं । मेहविकारोंमें वातानुबन्ध रहा तो शुष्कता उत्पन्न नहीं होती । इतनाही है कि, उसमें क्लेदकी मात्रा कम रहती है । पित्तानुबन्धके कारण दाह होगा किंतु पाक न होगा ।

१३ । १४ । १५ । १६ । १७ । १८ ।

विशिष्ट व्याध्युत्पादक जो प्रधान दोष होता है उसके लक्षणोंमें धातुमलानां दूष्योके तथा शरीरके भिन्न स्थानों (अवयवों) के अनुसार भी तारतम्यात्मक

शोथभेदाः स्थानदूष्यप्रभेदाद्विन्नरूपिणः ॥ २१ ॥

श्लेष्मोद्भवा एव दुष्टः श्लेष्मा संचयकारणम् ।

पित्तानुबंधात् शोथेषु विदाहश्चाशुपाकिता ॥ २२ ॥

वातानुबंधात् शोथेषु संचयस्याल्पता भवेत् ।

वायुर्न संचयकरो न शोथोत्पादकस्ततः ॥ २३ ॥

दुष्टश्लेष्मोद्भवे शोथे संचयाल्पत्वसूचकम् ।

शोथो वातप्रधानश्चेत्युक्तं व्याधिविवेचने ॥ २४ ॥

न संचयकरं पित्तं न शोथोत्पादकं ततः ।

प्रदुष्टश्लेष्मसंभूते शोथे स्यादाहसूचकम् ॥ २५ ॥

शोथः पित्तप्रधानश्चेत्याख्यानं व्याधिनिश्चये ।

श्लेष्मोद्भवा एवेति श्लेष्मणा एव जायन्ते शोथाः सर्वे नान्येन दोषेण । यतः श्लेष्मा संचयकारम् । पित्तानुबंधाद्विदाहः आशुपाकिता च शोथस्थानेषु संचितद्रव्येषु च । तथा वातानुबंधात् संचयाल्पता उत्सेधाल्पत्वादनुमीयते । वायुः संचयकरो नाख्यात इति शोथोत्पादको न भवति । वातप्रधानः शोथ इति व्याधिविवेचने तत्रैकद्विरुक्तं तत्संचयाल्पत्वसूचनाभिप्रायेणैवमेव पित्तप्रधानः शोथ इत्याख्यानं शोथे दाहसूचकमिति (२१-२५)

भेद उत्पन्न हो सकता है । किंतु दूष्य व स्थानभेदके कारण मुख्यलक्षणके विरुद्ध लक्षण (वैलक्षण्य) नहीं उत्पन्न हो सकता । दूष्य व स्थानभेदके अनुसार लक्षणोंमें जो तारतम्य उत्पन्न होसकता है उसका शोथके उदाहरणसे स्पष्टीकरण करते हैं । शोथ जब रस व रक्तमें आश्रित रहता है—मृदु रहता है । वही मांसाश्रयसे घन होता है, स्नायुके आश्रयसे गठीला और अस्थिके आश्रयसे कठिन बनता है । मांसल विभागका शोथ पृथुल रहता है और जिस स्थानमें मांस थोड़ा रहता है उस स्थानका शोथ तनु याने पतला रहता है । १९ । २० ।

यद्यपि दूष्य व स्थानभेदके अनुसार शोथकेभी अनेक भेद माने गये हैं, यह ध्यानमें रखना चाहिये कि सब शोथ श्लेष्माके कारणही होते हैं । कारण श्लेष्माकाही कार्य संचय करनेका है । शोथमें यदि पित्तानुबंध रहा तो विदाह उत्पन्न होगा और उसका पाकभी शीघ्र होगा । उसमें यदि वातानुबंध रहा तो शोथस्थानमें संचय अल्प होगा । किंतु वायु स्वयं न संचयकर है न शोथोत्पादक ॥ किंतु व्याधिविज्ञानमें जब यह कहा गया है कि, यह शोथ वातप्रधान है तो उसका इतनाहि अर्थ समझना चाहिये कि, यह शोथ दुष्टश्लेष्मोद्भव होताहुआभी

दोषान्तरानुबन्धेन व्याधिभेदप्रकल्पने ॥ २६ ॥

हेतुर्यथास्वं लिङ्गानां विशेषज्ञानमिष्यते ।

व्याधौ कफोद्भवे वातानुबन्धः शोथलक्षणे ॥ २७ ॥

संचयात्क्षीणधातूनामुत्सेधाल्पत्वसूचकः ।

पित्तानुबन्धो दाहस्याशुपाकस्यावबोधकः ॥ २८ ॥

व्याधौ पित्तोद्भवे वातानुबन्धः कोथलक्षणे ।

कोथात्संक्षीणधातूनां क्लेदाल्पत्वस्य सूचकः ॥ २९ ॥

श्लेष्मानुबन्धः स्निग्धत्वादतिक्लेदावबोधकः ।

व्याधौ वातोद्भवे पित्तानुबन्धः शोषलक्षणे ॥ ३० ॥

विदाहसूचकः श्लेष्मानुबन्धः शोथसूचकः ।

अन्यदोषानुबन्धेन रहितः स्वस्वलक्षणम् ॥ ३१ ॥

व्याधिं संजननयेद्दोषो दुष्टः संपूर्णलक्षणम् ।

श्लेष्मपित्तानिलोद्भवानां शोथकोथशोषात्मनां व्याधीनां दोषान्तरानुबन्धादवबोधं संप्रहेण दर्शयन्नाह । दोषान्तरानुबन्धेनेत्यादि । व्याधिभेदप्रकल्पने श्लेष्मप्रधानः पित्तप्रधानो वातप्रधान एव व्याधिभेदानां परिगणने । हेतुरभिप्रायः । लिङ्गानां व्याधिविशेषलक्षणानाम् ।

इसमें वातानुबन्धके कारण संचयाल्पता रहेगी याने उत्सेध अल्प रहेगा । इसी प्रकार पित्तभी न संचयकर है, न शोथोत्पादक । किंतु व्याधिविज्ञानमें जहां कहा जाता है कि यह शोथ पित्तप्रधान है, उससे इतनाही सूचित होता है कि, इस शोथमें दाह होगा । २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

श्लेष्मा, पित्त व वायुसे उत्पन्न होनेवाले शोथकोथशोषात्मक रागोंमें अन्य-दोषानुबन्ध किसप्रकार जानना चाहिये इसका अब एकत्र वर्णन करते हैं । अन्यान्य दोषानुबन्धयुक्त व्याधिओंके भेदोंकी याने वातप्रधान, पित्तप्रधान, श्लेष्मप्रधान व्याधिओंके भेदोंकी गणना करते समय यह विशेषकर ध्यानमें रखना चाहिये कि उसका मूल कारणीभूत दोष कौनसा है और उसका अपना विशिष्ट लक्षण कौनसा है । और अन्यदोषके अनुबन्धके कारण उसके विशिष्ट लक्षणमें कौनसा तारतम्य उत्पन्न हुआ है । जैसे — कफोद्भव व्याधिमें मुख्य लक्षण शोथ रहता है । अब इस व्याधिमें जब वातानुबन्ध होता है तो उसके कारण क्षीण धातुओंका संचय होने लगता है जिससे उत्सेधमें अल्पत्व रहता है । किंतु जब उसीमें पित्तानुबन्ध रहता है तो उसके कारण शोथमें दाह होगा और उसका

विशेषज्ञानम् विशेषस्य तारतम्यरूपस्य ज्ञानम् । यथा - कफोद्भवे शोथलक्षणे वातानुबंध उत्से-
धास्पत्वस्य पित्तानुबंधश्च दाहस्य सूचकः । **पित्तोद्भवे कोथलक्षणे** च वातानुबंधः क्लेदाल्पत्वस्य
श्लेष्मानुबंधश्च अतिक्लेदस्य सूचकः । **वातोद्भवे शोषलक्षणे** च पित्तानुबंधो दाहस्य श्लेष्मानु-
बंधश्च शोथस्य सूचकः । शुष्कद्रव्याणामसंचारासंचयः शोथस्वरूप इति । **अन्यदोषानुबंधेन**
रहितः इति एक एव दोषः । **स्वस्वलक्षणम्** शोथादिस्वीयलक्षणयुतम् । **संपूर्णलक्षणम्** पूर्ण-
प्रमाणैः शोथादिलक्षणैरुपेतमिति । अन्यदोषानुबंधरहिते दोषे तद्वक्षणं शोथादिकं व्याधिविशेषेषु
पूर्णतयोपलक्ष्यं दोषान्तरानुबंधश्च व्याधुत्पादकदोषलक्षणेषु न्यूनाधिकत्वसूचक इति व्याधिविज्ञानेऽभि-
हितो न भिन्नलिङ्गोत्पादक इति (२६-३१)

सर्वेषामेव रोगाणां दुष्टा वातादयस्त्रयः ॥ ३२ ॥

शोषः कोथश्च शोथश्च तत्कृता विकृतिस्त्रिधा ।

सामान्यहेतुस्त्रिविधा रोगा विकृतिभेदतः ॥ ३३ ॥

स्थानभेदानुसारेण विशेषस्तेषु जायते ।

ज्वरातिसारकुष्ठघ्ना रक्तपित्तोदरादयः ३४ ॥

पाकभी शीघ्रही होगा । उसी प्रकार पित्तोद्भव व्याधिमें मुख्य लक्षण कोथ
रहता है । किंतु उसमें जब वातानुबंध रहता है तो वातके कारण क्षीण धातु
ओंमें क्लेद अल्प प्रमाणमें उत्पन्न होता है । और उसीमें यदि श्लेष्मानुबंध रहा तो
क्लेदका प्रमाण अधिक होगा । वातोद्भव व्याधिमें मुख्य लक्षण शोष रहता है ।
उसमें पित्तानुबंधके कारण दाह उत्पन्न होगा और श्लेष्मानुबंधके कारण शोष
उत्पन्न होगा । शुष्क द्रव्योंका संचार न होनेके कारण संचय होने लगता है
जिससे शोथ उत्पन्न होता है । जब व्याधिमें अन्य दोषका अनुबंध नहीं रहता
याने उसका मूल उत्पादक अकेला दोषही रहता है तब उस दोषका जो अपना
मुख्यलक्षण वही उसमें उत्पन्न होता है । याने अन्यदोषानुबंध रहित दोष जब
अकेला दूषित व रोगकारक हो जाता है, अपने खास लक्षणको संपूर्ण प्रमाणमें
उत्पन्न करता है । जैसे—कफ शोथको, पित्त दाहको और वायु शोषको । ॥ २६
॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

वातादिदोषोंका वैषम्य होनेपरभी जबतक स्थानविशेषमें विकृति उत्पन्न नहीं
होती विशिष्ट व्याधिकी उत्पत्तिभी नहीं होती । अर्थात् विशिष्ट स्थानके विकृतिके
कारणही व्याधुत्पत्ति होती है यह अब दर्शाते हैं ।

गंडार्जुदापचीग्रंथिविद्रधिऋषिपदादयः ।
 आयामस्तंभसंकोचाः सर्वांगैकांगसंभवाः ॥ ३५ ॥
 यक्ष्मकासश्वासशूलवातरक्तादयश्च ये ।
 विविधस्थानसंस्थानाः स्थानवैगुण्यसम्भवाः ॥ ३६ ॥
 स्थानदुष्टिविशेषः स्यात् विशिष्टव्याधिकारणम् ।
 क्षोभश्चामाशये क्लेदाभिवृद्धया छर्दिऋद्धवेत् ॥ ३७ ॥
 अतिसारकरश्चात्र भवेदव्यातुवर्धनात् ।
 श्वासमार्गस्य वैगुण्यं विना कासो न जायते ॥ ३८ ॥
 श्वासः फुफ्फुसवैगुण्यं विना व्याधिर्न जायते ।
 भवेत्स्वेदवहस्रोतोनिरोधं न विना ज्वरः ॥ ३९ ॥
 मांसस्रोतोऽवरोधेन विना शोथो न जायते ।
 रसरक्तविदाहेन विना पांडुर्न जायते ॥ ४० ॥
 कुष्ठं मांसादिधातूनां न कोथेन विना भवेत् ।
 रक्तपित्ते विदग्धेऽपि विदाहश्चाधिको यदा ॥ ४१ ॥

सब रोगोंके सामान्य हेतु दूषित वात, पित्त व कफ होते हैं । उनकी अनुक्रमसे शोष, कोथ व शोथ इस तीन प्रकारकी विकृति होती है । विकृतिके त्रिविधत्वके अनुसार रोगभी त्रिविधही होते हैं । किंतु स्थानभेदके अनुसार उनमें विशेष उत्पन्न होते हैं । ज्वर अतिसार, कुष्ठ, रक्तपित्त, उदर, गंड, अर्जुद, अपची, ग्रंथि, विद्रधि, श्लीपद, आयाम, स्तंभ, संकोच आदि सर्वांगमें वा एकांगमें होनेवाले रोग, अथवा राजयक्ष्मा, कास, श्वास, शूल, वातरक्त आदि रोग जो आमाशय, पकाशय, आदि अनेक स्थानोंमें होते हैं और जिनके अनेक लक्षण होते हैं, वे सभी स्थानवैगुण्यके कारणही उत्पन्न होते हैं । ज्वरादि विशिष्ट व्याधि स्थानवैशिष्ट्य तथा दुष्टिवैशिष्ट्यके कारणही उत्पन्न होते हैं । उदाहरणार्थ— अस्वाभाविक विशिष्ट गतिके कारण पीडाकर क्षोभ उत्पन्न होता है । किंतु जब आमाशयमें क्लेद (द्रव) के अभिवृद्धिके कारण क्षोभ होता है छर्दि उत्पन्न कहता है । चरक संहितामें कहा है “ महास्रोतसमें वायु प्रवृद्ध होकर दोषोंका ऊर्ध्व उत्क्लेश — प्रक्षेपण करता हुआ आमाशयकाभी क्षोभ करता है और मर्मोंका पीडन करता हुआ छर्दिको उत्पन्न करता है । ” यहांपर आमाशयका

अन्तःकोष्ठगतो रक्तातिसारः संभवेत्तदा ।

दोषा विकृतिमापन्नाः कर्माणि विकृतानि वा ॥ ४२ ॥

स्थानेषु विगुणेष्वेव व्याधीनुत्पादयन्ति हि ।

वातादीनां दोषाणां वैषम्येऽपि स्थानविशेषविकृत्या एव व्याधिविशेषोत्पत्तिरिति दर्शनार्थ-
मुच्यते । विविधस्थानसंस्थाना इति नानाविधानि स्थानानि पक्वामाशयादीनि संस्था-
नानि लक्षणानि च येषामेवंविधाः । स्थानानां वैगुण्यात् वैषम्यात् संभव उत्पत्तिर्येषामिति ।
स्थानदुष्टिविशेष इति स्थानानां दुष्टीनां च विशेषः । विशिष्टव्याधिकारणम् ज्वरादी-
नामन्यतमस्य व्याधेः कारणम् । यथा क्षोभ इत्यस्माभाविको गतिविशेषः पीडाकरः । आमाशये
दतिसमाकारे । क्लेदाभिवृद्ध्या द्रवस्वातिवृद्ध्या लुद्धिः । यथोक्तं चरकसंहितायाम्-वायुर्महास्रोतसि
संप्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन् । आमाशयोक्लेशकृतां च मर्म प्रपीडयंश्चर्दिमुर्दारयेत् । अत्रे-
क्षोभ इत्यनुसंधेयम् । यथोक्तं सौश्रुते—संशम्यापां धातुरन्तः कृशानुं कर्चोमिश्रो मारुतेन प्रणुनः ।
वृद्धोऽर्तावाधः सरत्येष यस्मात् व्याधिं घोरं तं त्वतीसारमाहुः । श्वासमार्गस्येति श्वासवहस्रो-
तसः कण्ठगतस्य । यदुक्तं कासचिकित्सिते चरकसंहितायाम् । अधः प्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः-
समाश्रितः । उदानभावमापन्नः कंठे सक्तस्तथोऽरिंसि । शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास
उच्यते । फुफ्फुसवैगुण्यं विना श्वासो न जायते—फुफ्फुसाश्रितो वायुरस्थ इत्याख्यातः

क्षोभही अभिप्रेत है यह स्पष्ट है । किंतु यही क्षोभ जब अत्रमें होता है, अतिसारको
उत्पन्न करता है । सुश्रुतसंहितामें कहा है “ अप्धातु वृद्ध होकर अंतरग्रिका
शमन करता हुआ मलके साथ मिश्र होकर जब वायुसे संचालित होता है, मल
मार्गसे उत्सर्जित होता है । इस व्याधिको अतिसार कहते हैं । ” श्वासमार्गके याने
कंठगत श्वासवह स्रोतसके वैगुण्यके विना कास नहीं उत्पन्न हो सकता । चरकने
कासचिकित्सामें कहा है “ वायु अवरुद्ध होनेके कारण ऊर्ध्वस्रोतसका आश्रय लेता
है और उदानभावको प्राप्त होता है तब कंठमें तथा उरमें अवरुद्ध होता हुआ शुष्क
अथवा आर्द्र कासको उत्पन्न करता है । ” उसी प्रकार फुफ्फुसके वैगुण्यके विना
श्वास नामका रोग नहीं हो सकता । उरस्थ वायुही फुफ्फुसोंमें अश्रित रहता है और
उसके वैगुण्यसेही श्वास उत्पन्न होता है । चरकने कहा है — “ प्राणवाही स्रोतसोंमें
वायु जब कुपित होता है उरस्थ कफको उछालता हुआ वह हिक्का व
श्वासको उत्पन्न करता है । ” वैसेही, स्वेदवहस्रोतसोंके विरोधकेविना ज्वर नहीं
उत्पन्न हो सकता । स्वेदवह स्रोतस्त्वचामें होते हैं । जिससे स्वेदन होता है
उसको स्वेद कहते हैं ” इस निरुक्तिके अनुसार जठराग्नि नामके पित्तका अभिवहन

तद्वैष्ण्यात् श्वासोत्पत्तिर्जायत इत्युक्तम् । यथा चरके - माश्रतः प्राणवाहीनि स्रोतास्याविश्य कुप्यति । उरःस्थः कफमुष्ण्य हिकाश्वासान् करोति सः । स्वेदवहस्रोतोविरोधं विना इति स्वेदवहानां त्वग्गतानाम् । स्विद्यत अनेनेति स्वेद इति निरुक्त्यनुसारेण स्वेदवहानां जठराग्निसंज्ञस्य पित्तस्याभिवहानामपि स्रोतसां विरोधं विना । पित्तवहस्रोतोनिरोधादस्रवापित्तं कोष्ठगताहारपचनायालं न भवेदित्यामसंभवः । विमार्गगत्वापित्तस्याभिवर्धितः शरीरोष्मा त्वग्गतानां स्रोतसामवरोधादनिर्गच्छन् बहिरंतर्गतानां धातूनां संतापं जनयतीत्याहारपाचकं पित्तं मलश्च वाष्परूप इत्युभयरूपं द्रव्यमभिप्रेत्योक्तं स्वेदवहस्रोतोनिरोधं विनेति । यथोक्तं चरकसंहितायां ज्वरोत्पत्तिवर्णने - रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिथाय अग्निमुपहत्य पाक्तिस्थानादूर्न्माणं बहिर्निरस्येत्यादि । मांसस्रोतोनिरोधेन विना मांसपेशीगतानां सूक्ष्मस्रोतसामवरोधाद्विना । स्रोतोनिरोधात्संचितान्येव द्रव्याण्युत्सेधकराणीति । यथोक्तं श्वयथुचिकित्सिते चरकसंहितायाम् - बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि संदृपयतीह वायुः । तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति । रसरक्तविदाहेनेति रसरक्तयोर्विदाहाद्विशेषेण । यदुक्तं चरकेण - समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम् । वायुना बलिना क्षिप्तं संप्राप्य धमनीदंश । प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसन्तरमाश्रितम् । प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत् । पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि । स पाण्डुरोग इत्युक्तः । रसस्य हृदयाश्रितत्वात् हृदये समवस्थितमित्युपवर्णनादत्र रसदुष्टिरभिहिता । कुष्ठं मांसादिधातूनां कोथेन विना न भवेदिति कोथोपलक्षणम् । कुष्ठमभिधा-

करनेवाले स्रोतसोंकोभी स्वेदवहस्रोतसही कहना चाहिये । पित्तवह स्रोतसोंका निरोध होनेके कारण पित्त कोष्ठगत आहारका पचन करनेके लिये असमर्थ होता है । इसीलिये आमोत्पत्ति होती है । पित्त उन्मार्गगामी होनेके कारण शरीरोष्मा बढ़जाता है । त्वग्गत स्रोतसोंके अवरोधके कारण वह शरीरके बाहर निकल नहीं सकता । इसलिये अंतर्गत धातुओंमें वह अधिक उष्णता उत्पन्न करता है । सारांश, आहारपाचक पित्त और मलरूप स्वेद इन दोनोंके अवरोधका बोध 'स्वेदवहस्रोतसोंका अवरोध' इसवचनसे होता है । चरकसंहितामें ज्वरोत्पत्तिवर्णनमें कहा है "रसवह तथा स्वेदवह मार्ग बंद हो जाते हैं । अग्नि मंद हो जाता है । पचनस्थानसे ऊष्मा बाहर निकलता है । इत्यादि" मांसपेशीगत सूक्ष्म स्रोतसोंके अवरोधके विना शोथ नहीं उत्पन्न हो सकता । स्रोतोनिरोधके कारण जो द्रव्य संचित होते हैं वेही उत्सेध उत्पन्न करते हैं । श्वयथुचिकित्सामें चरकने कहा है "वायु जब बाह्य सिराओंमें आकर कफ, रक्त व पित्तको दूषित करता है और उनके द्वारा उसके मार्ग जब

नादधिगम्यते । रक्तपित्तं इति रक्ते पित्ते च । अंतःकोष्ठे महास्रोतस्यंत्रविभागे । तद्गतस्यैव गुदमार्गेण प्रवर्तनात् । पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते । पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम् । कुर्याद्रक्तातिसारं तु । इति चरकोक्ते कोष्ठस्यानिर्देशेऽपि प्रकृतत्वादधिगम्यते पित्तं कोष्ठगतमिति । शोकातिसारे रक्तस्यातिसरणं कोष्ठविकृत्यैवेति सुश्रुतसंहितायामुपवर्णितम् । यथा — तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य वाष्पावेगः पाक्तिमाविश्य जंतोः । कोष्ठं गत्वा क्षोभये-
त्तस्य रक्तम् । इत्यादिभिरधिगम्यते । दोषा विकृतिमापन्नाः स्वहेतुभिर्दुष्टाः । कर्माणि पचनादीनि वा विकृतानि विषमतां गतानि । स्थानेषु कोष्ठादिषु । विगुणेषु दुष्टेषु । व्याधीनुत्पादयन्ति व्याधिविशेषान् ज्वरातिसारादीन् जनयन्ति इति । एतदभिप्रायेणोक्तमष्टांग-
हृदये-स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः । स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरुते नह्निति । (३६-४२॥)

रोगाः सर्वांगगाः केचित्केचिदेकांगसम्भवाः ॥ ४३ ॥

केचिदेकांगसर्वांगसम्भवा इति ते त्रिधा ।

धातुरोषः प्रमेहश्च कुष्ठं सर्वांगगा इमे ॥ ४४ ॥

अवरुद्ध हो जाते हैं तब वह जिसका लक्षण उत्प्रेष है उस श्रयथुको उत्पन्न करता है । ” पांडु रोगभी रस व रक्तके विदाहके बिना नहीं उत्पन्न हो सकता । चरकने कहा है “ समुदीर्ण पित्त हृदयमें आकर वायुद्वारा क्षेपित होता हुआ दश धमनिओमेंसे शरीरमें फैलता है और त्वचा व मांसमें आश्रय लेकर कफ, वात, रक्त, त्वचा व मांसको दूषित करता हुआ त्वचापर पांडु, पीला, हरा आदि बहुविध वर्ण उत्पन्न करता है । इस रोगको पांडुरोग कहते हैं । ” ऊपर बतलाया गया है कि, समुदीर्ण पित्त हृदयमें आता है । हृदयही रस धातुकामी आश्रयस्थान है । अर्थात् यह ध्यानमें आसकेगा कि, इस रोगमें हृदयमें आया हुआ पित्त प्रथम रस धातुको दूषित करता है । उसीप्रकार कुष्ठ रोगभी मांसादिधातुओंके क्रोथके बिना नहीं हो सकता । रक्त व पित्त विदग्ध होनेपरभी जब अंतःकोष्ठमें यानें महास्रोतसके अंतर्नामके विभागमें विदाह होने लगता है तभी रक्तातिसार उत्पन्न हो सकता है । अंतःकोष्ठगत रक्तही गुदमार्गसे उत्सर्जित होता है । चरकने “ पित्तातिसारी मनुष्य जब पित्तल खाद्यपेय पदार्थोंका सेवन करता है तब उसका पित्त प्रबल होकर रक्ततिसारको उत्पन्न करता है ” इस अपने प्रचनमें यद्यपि कोष्ठका निर्देश नहीं किया किंतु प्रकृत वर्णनसे स्पष्ट ही है कि,

कासः श्वासश्चातिसारो गुल्मो विद्रधिर्वुदम् ।

अश्मरी छर्दिरर्शासीत्यादयश्चैकदेशजाः ॥ ४५ ॥

भवेत् शोथस्तु सर्वांगे स्थानेष्वन्यतमेषु वा ।

गंडार्बुदापचीग्रंथिविद्रधिश्छीपदादयः ॥ ४६ ॥

रोगाश्चैते शोथभेदाः स्थानधात्वन्तरोद्भवाः ।

दाहः पाकश्च सर्वांगे स्थानेष्वन्यतमेषु वा ॥ ४७ ॥

विसर्पव्रणविस्फोटादयः स्थानान्तरोद्भवाः ।

भिन्नसंज्ञाश्चास्यनासागुदपाकादयस्तथा ॥ ४८ ॥

ज्वरः सर्वांगगश्चापि दाहभेदो रसाश्रितः ।

सर्वांगगा इति सर्वदेहव्यापिनः । एकांगजाः स्थानान्तरेष्वेव जायन्त इति । प्रादेशिका इत्यर्थः । एकांगसर्वांगसम्भवा इति उभयरूपेण संभवन्ति । धातुशोषादयः सर्वांगगाः कासादयश्चैकांगसम्भवानामुदाहरणरूपाः । शोथस्तु कदाचित्सर्वांगे स्थानान्तरेषु च कदाचिञ्जायते । गंडादयः शोथभेदा एव स्थानान्तरोद्भवाः । शोथवद्दाहः पाकश्चापि सर्वांगे कदाचित् स्थानान्तरेषु च कदाचिद्भवति । विसर्पव्रणादयः स्थानान्तरोद्भवाः कोथभेदाः । आस्यपाका-

कोष्ठगत पित्तही यहांपर अभिप्रेत है । शोकातिसारमें जो रक्तका अतिसरण होता है वहभी कोष्ठविकृतिकेही कारण, यह सुश्रुतनेभी माना है । सुश्रुत कहता है “भिन्नकारणोंसे शोक करनेवाले मनुष्यका—जो कम भोजन करता है—बाष्पावेग कोष्ठमें जाकर (तत्रस्थ) रक्तको क्षोभित करता है ।” वातादि-दोष अपने कारणोंसे विकृत अथवा दुष्ट होनेपर अपनी उत्सर्जनादि क्रियाओंकोभी विकृत करते हैं । और कोष्ठादि विशिष्ट स्थानोंमें—जो दुष्ट (त्रिगुण) हुआ हो—जाकरही ज्वर, अतिसार आदि व्याधिओंको उत्पन्न करते हैं । इसी अभिप्रायसे अष्टांगहृदयमें कहा है “वही कुपित दोष हेतुविशेषसे भिन्न २ स्थानोंमें पहुंचता हुआ अनेक भिन्न विकारोंको उत्पन्न करता है ।” । ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

स्थानभेदानुसार रोग तीन प्रकारके होते हैं— १ सर्वांगज याने सर्वदेहव्यापी सार्वदेहिक २ एकांगज याने प्रादेशिक और ३ उभयव्यापी जो सार्वदेहिकभी होते हैं और प्रादेशिकभी हो सकते हैं । उदा०— धातुशोष, प्रमेह, कुष्ठ आदि रोग सार्वदेहिक होते हैं । कास, श्वास, अतिसार, गुल्म, विद्रधि, अर्बुद, अश्मरी,

दयश्च पाकभेदाश्चैकस्थानसम्भवा इति । ज्वरोऽपि सर्वाङ्गो दाहः स्याद्रसाश्रितः । यथोक्तं चरके-
तद्यदा प्रकुपितमामाशयाद्रूमाणमुपसृज्याथमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्वेत्य रसस्वेदवहानि
स्रोतांसि पिघाय द्रवत्वादभिमुपहृत्य पक्तिस्थानाद्रूमाणं बहिर्निरस्य प्रपीडयत् केवलं शरीरमनु-
प्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयतीति । (४३-४८ ॥)

वातपित्तकफा दुष्टाः सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥ ४९ ॥

व्याधिन्वयथास्वं शूलादिलक्षणान् जनयन्ति हि ।

वातपित्तकफा दुष्टा दोषाः शूलादिलक्षणान् सर्वाङ्गसंश्रयान् एकाङ्गसंश्रयान् वा व्याधिन्
यथास्वं सस्रलक्षणान् जनयन्ति । (४९ ॥)

यस्य दोषस्य वैषम्यं समानं येषु यक्ष्मसु ॥ ५० ॥

ते भिन्नाः स्थानसंज्ञाभिरपि तद्दोषसंभवाः ।

यस्य वातादेः वैषम्यं विकारः शूलादिः । भिन्नाः स्थानसंज्ञाभिरपि विभिन्नस्थाने-
षूपन्नास्तथा भिन्ननामधेया अपि । तद्दोषसंभवाः तस्मात् शूलादिकारणान् वातादौ दोषात्
संभवो येषामेवंविधाः । स्थानान्तरसंभवानां भिन्नसंज्ञानामपि विकाराणां शूलादिसामान्यात् वात-
जत्वादिष्वन्तर्भाव इति । शूलसामान्यलक्षणाः सर्वे वातजाः दाहात्मानः पित्तजाः शोथलक्षणाश्च सर्वे
श्लेष्मजा इति दोषानुसारेण त्रिविधत्वेऽन्तर्भावः सर्वविकाराणामिति । (५० ॥)

छर्दि, अर्श आदि रोग प्रादेशिक हैं । शोथ उभयविध है । वह सर्वाङ्गमेंभी हो सकता
है और किसी एक स्थानमेंभी । गंड, अर्बुद, अपची, ग्रंथि, विद्रधि, श्लोषद आदि
रोग शोथकेही भिन्न २ स्थान व धातुओंमें होनेवाले भेद हैं । शोथके सामान दाह
(कोथ) केभी भेद है जो विशिष्ट स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं । भिन्न संज्ञाके पाक
जैसे आस्यपाक, नासापाक, गुदपाक आदि पाककेही भेद है जो किसी एक
विशिष्ट स्थानमें उत्पन्न होते हैं । रसाश्रित ज्वरभी सर्वाङ्गग दाहकाही भेद है ।
चरकने कहा है “ पित्त प्रकुपित होकर आमाशयमें उष्मासे संमिश्र होता हुआ आहार-
परिणामस्वरूप जो आद्य रसनामका धातु उसमें आकर और रसस्वेदवह स्रोतसोंका
निरोध कर ज्वरको उत्पन्न करता है । ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

सारांश वातपित्त कफ दुष्ट होनेपर सार्वदेहिक अथवा प्रादेशिक व्याधि-
ओंको—जिनके शूलआदि लक्षण होते हैं—उत्पन्न करते हैं । ४९ ॥

जिन रोगोंमें जिस दोषकी विकृतिका सामान्य रहता है वे भिन्न स्थानके
व भिन्न नामके होतेहुएभी, मानना चाहिये कि, उसी दोषसे उत्पन्न हुए हैं । उदा०—
जिन रोगोंमें शूलका सामान्य हो, उनके स्थान व नाम यद्यपि भिन्न २ हो,

दोषान्तरानुबन्धेऽपि मुख्यं विकृतिलक्षणम् ॥ ५१ ॥

शूलादिकं च सर्वेषु सामान्येनावतिष्ठते ।

दोषान्तरानुबन्धेऽपीति वातादिदोषाणामन्यतमेनोत्पन्ने व्याधौ दोषान्तरस्य संबन्धेऽपि । मुख्यमुत्पादकदोषसंबन्धि । विकृतिलक्षणम् विकृतिसूचकं लक्षणम् । शूलादिकं वाताद्यनुसारेण । सामान्येनावतिष्ठते सर्वेषु सामान्यं वर्तते । (५१ ॥)

दोषवैषम्यलिङ्गानां तारतम्यावबुद्धये ॥ ५२ ॥

दोषान्तरस्यानुबन्धो रोगेषु परिकीर्तितः ।

मुख्यलक्षणसामान्ये दोषानुबन्धाख्यानहेतुं दर्शयति । दोषवैषम्यलिङ्गानामिति वादादिदुष्टिजनितलक्षणानाम् । तारतम्यावबुद्धये न्यूनाधिकत्वावबोधार्थम् । दोषान्तरस्यानुबन्धः परिकीर्तितः । संतापलक्षणे पित्तप्रधाने ज्वरे श्लेष्मानुबन्धोपदेशात् संतापस्य नाति-तिम्रत्वावबोधो हेतुरित्येवम् । (५२ ॥)

इति विकृतिविशेषोत्पादकदोषानुबन्धदर्शनं नामाष्टमं दर्शनम् ।

॥ इत्यष्टमं दर्शनम् ॥

सबका वातज रोगोंमेंही समावेश करना चाहिये । उसीप्रकार जिनमें दाहका सामान्य हो उनको पित्तज रोग तथा जिनमें शोथविकृतिका सामान्य हो उनको श्लेष्मज रोगही समझना चाहिये । सारांश सर्व रोगोंका दोषानुसार त्रिविध वर्गीकरण होता है । ५० ॥

यद्यपि वातजरोगमें अन्य दोषोंका अनुबन्धभी हुआ, वाताविकृतिसूचक मुख्य लक्षण जो शूल उसका उन सबमें सामान्य रहताही है । इसी प्रकार पित्तज रोगोंमें तथा कफज रोगोंमें अन्यदोषानुबन्ध रहनेपरभी अनुक्रमसे पित्ताविकृतिसूचक दाह और कफविकृतिसूचक शोथ इन लक्षणोंका सामान्य रहताही है । ५१ ॥

मुख्य लक्षणका सामान्य रहनेपरभी अन्य दोषानुबन्धका विवरण क्यों किया ? इस आशंकाका निरसन करनेके लिये कहते हैं— दोषोंके विकृतिजनित मुख्य लक्षणोंमें जो तारतम्य याने न्यूनाधिकत्व उत्पन्न होता है उसकोभी जाननेके लिये रोगोंमें अन्यदोषानुबन्धका वर्णन किया जाता है । उदा०— पित्तप्रधानज्वरका मुख्य लक्षण रहता है संताप । किंतु उसमें श्लेष्मानुबन्ध यदि रहा तो संताप (ज्वरवेग) अतिशय तीव्र न रहेगा अथवा वातानुबन्ध रहा तो संताप विषमवेगका होगा इत्यादि । ५२॥

विकृतिविशेषोत्पादक दोषानुबन्धदर्शनात्मक अष्टम दर्शन समाप्त ।

॥ नवमं दर्शनम् ॥

॥ चिकित्सायां दोषानुबन्धदर्शनम् ॥

दोषाः प्रदुष्टाः सर्वेषां व्याधीनां कारणं यतः ।

दोषप्रशमनं तस्मात्सामान्यं स्याच्चिकित्सितम् ॥ १ ॥

वातादीनां व्याधुत्पादकत्वमभिधाय चिकित्सानुबन्धं दर्शयितुमुच्यते । दोषा इत्यादि । प्रदुष्टा विकृतिमापन्नाः । सर्वेषां व्याधीनामिति शारीराणाम् । मानसानां विकारणां रजस्तमोद्भवत्वात् । बाह्याहेतुसमुद्भवानां शारीराणामप्यागंतुस्वरूपाणां न वाताद्युत्पादकत्वम् । यथोक्तं चरकसंहितायाम् “ आगंतुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति ” । दोषप्रशमनमिति वातादीनां कुपितानामुपशमनम् । सामान्यं चिकित्सितम् विशिष्टव्याधिचिकित्सायां व्याधिविपरीतानामौषधादीनां प्राधान्यम् । यथोक्तं चरकसंहितायाम्— “ सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातंकविपरीतमेवावचारयेत् यथास्मत् । इति । चिकित्सितमिति धातुसाम्योत्पादका उपायाः । चिकित्सालक्षणं चरकोक्तं यथा— चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते । प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेऽत्यभिधीयते । इति । (१ ॥)

नवम दर्शन

(चिकित्सामे वाताद्यनुबन्धदर्शन.)

वातादिके रोगोत्पादकत्वका वर्णन करनेके बाद अब उनके चिकित्सानुबन्धका विवरण करते हैं । दुष्ट याने विकृत दोषही सब शारीर व्याधिओंके कारण है, । अतः सामान्यतः चिकित्साभी दोषप्रशमनी होनी चाहिये । यहांपर ध्यानमें रखना चाहिये कि, दोष केवल शारीर व्याधिओंकेही कारण होते हैं, मानस व्याधिओंके नहीं । कारण बतलाया गया है कि, मानसव्याधि रज. व. तसमे उत्पन्न होते हैं । शारीर व्याधि-ओंमेंर्भा आगन्तु स्वरूपके व्याधि दोषजन्य नहीं होते । चरकसंहितामें कहा है “ आगंतु व्याधि उत्पन्न होनेके अनंतर वातपित्तश्लेष्माओंका वैषम्य होता है ।

अतः दोषविकृतिकेही कारण उत्पन्न होनेवाले शारीर व्याधिओंकी सामान्य चिकित्सा दोषोंके अनुसार होनी चाहिये । व्याधिविपरीत चिकित्सामें प्रभावसे व्याधिविनाशक औषधिओंकाही प्राधान्य रहता है । चरकसंहितामें कहा है “ रोगका यदि अनुबन्ध हो याने रोग अभिव्यक्त व स्वतंत्र हो उसकी हेतुविपरीत

वृद्धाः क्षीणाश्च वाताद्याः क्रियावैषम्यहेतवः ।

वृद्धानां न्हासनं तेषां क्षीणानां चाभिवर्धनम् ॥ २ ॥

चिकित्सितं समासेन क्रियावैषम्यनाशनम् ।

वृद्धा इति अथवा वृद्धिः । क्षीणाः यथावत्प्रमाणाद्धीनाः । वाताद्याः वातपित्तश्लेष्माणो दोषास्तयः । क्रियावैषम्यहेतवः स्वाभाविकक्रियासु वैषम्यकारणाः । तेषां वृद्धानां न्हासनं क्षीणानां च अभिवर्धनमिति चिकित्सितम् । यथा सुश्रुतसंहितायामुक्तम् । दोषाः क्षीणा वृंहयितव्याः कुपिताः प्रशमयितव्याः वृद्धा निर्हर्तव्याः समाः परिपाल्या इति । (२ ॥)

वृद्धिः क्षयश्च दोषाणामस्वास्थ्योत्पादकावपि ॥ ३ ॥

प्राधान्येन विकाराणामुत्पत्तिरभिवर्धनात् ।

क्षीणे दोषे क्षयं यान्ति कर्माणि विविधान्यपि ॥ ४ ॥

दोषाभिवृद्ध्या व्याधीनां विविधानां समुद्भवः ।

वातादीनां वृद्धिक्षययोः सामान्येनास्वास्थ्योत्पादकत्वेऽपि विशेषेण व्याधुत्पादकत्वं दोषवृद्धेर्दर्शयितुमुच्यते । वृद्धिरित्यादि । अस्वास्थ्योत्पादकाविति स्वाभाविकक्रियासु वैषम्योत्पादनादनारोग्यकरौ । अपि तु विकाराणां ज्वरकुष्ठादीनां व्याधीनाम् । उत्पत्तिरभिव-

चिकित्सा न करनी चाहिये अपितु व्याधिविपरीत औषधका उपयोग करना चाहिये । ”

चिकित्साका अर्थ है धातुसाम्योत्पादक उपाय । चरकने चिकित्सालक्षण बतलाते हुए कहा है “ वैद्य, परिचारक रोगी व औषध इन चारोंकी (धातु-विकृतिकी अवस्थामें) धातुसाम्यके लिये जो प्रवृत्ति उसीको चिकित्सा कहते हैं । ” । १ ॥

अपने अपने स्वाभाविक प्रमाणसे अभिवृद्ध अथवा क्षीण वातादि दोषही स्वाभाविक क्रियाओंमें विषमता उत्पन्न करते हैं । वृद्ध दोषोंका न्हास करना तथा क्षीणोंका पोषण करना और इस प्रकार क्रियावैषम्यको नष्ट करना यही चिकित्साका संक्षेपमें अभिप्राय है । सुश्रुतसंहितामें कहा है — “ क्षीणदोषोंका वृंहण करना चाहिये, वृद्धदोषोंका निर्हरण (विरेचनादि द्वारा) करना चाहिये, और सम दोषोंका पालन करना चाहिये । यही चिकित्सासंबंधी सिद्धांत है । ” ॥ २ ॥

यद्यपि सामान्यतः दोषोंके वृद्धि व क्षय अस्वास्थ्य याने शरीरकी स्वाभाविक क्रियाओंमें विषमता उत्पन्न करनेवाले हैं, ज्वरकुष्ठादि विकारोंकी उत्पत्ति मुख्यतः

धनात् दोषाणामभिवृद्धयैव भवतीति । क्षीणे यथासप्रमाणाद्धानत्वं गते । दोषे वाताद्यन्यतमे । कर्माणि उत्साहादीनि क्षयं यान्ति परिहीयन्ते । अपि तु दोषाभिवृद्ध्या व्याधीनां समुद्भव इति । प्रकुपितानामेव व्याधिकर्तृत्वमभिहितं दोषाणां कोपश्च संचयानन्तरमित्याख्यातम्—संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् । व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्विषक् । इति । स्वकर्मसंपादनेऽप्य समर्थाः क्षीणा न व्याधिविशेषोत्पादने समर्था भवन्ति । क्षीणेऽन्यतमे दोषे तद्विपरीतस्येतरस्या- भिवर्धनाद्विकारोत्पत्तिरिति क्षीणत्वमपि विकारोत्पत्तिहेतुत्वंनाख्यातम् । अपि तु वृद्ध एव दोषः स्वलक्षणैरन्वितः ; व्याधिविशेषमुत्पादयितुं प्रभवेदित्युक्तं दोषाभिवृद्ध्या व्याधीनां समुद्भव इति । (३-४ ॥)

सर्वरोगेषु सामान्यं कर्मवैषम्यलक्षणम् ॥ ५ ॥

शूलो दाहश्च शोथश्च दोषवृद्धिसमुद्भवम् ।

उक्तार्थं विशदीकर्तुमुच्यते । सर्वरोगेष्विति दोषदूष्यस्थानभेदाद्विभिन्नेषु । सामान्यं सर्वव्यापित्वेनावस्थितम् । कर्मवैषम्यलक्षणम् । कर्मणां चलनपचनपोषणाख्यानां वातादि- दोषकर्मणां स्वाभाविकानां वैषम्यं वैपरीत्यं तल्लक्षणम् । शूलश्चलनवैषम्यलक्षणः दाहः पचन-

दोषोंके अभिवृद्धिके कारणही होती है । दोष जब क्षीण हो जाते हैं याने अपने स्वाभाविक प्रमाणसे उनका प्रमाण शरीरमें कम हो जाता है, शरीरके उत्सा- हादि विविध कर्मोंमें न्यूनत्व उत्पन्न होता है । किंतु व्याधि तभी पैदा होता है जब कि दोष बढ़ जाते हैं । शास्त्रमें बतलाया है कि प्रकुपित दोषही व्याध्युत्पादक होते हैं और दोषोंका प्रकोप संचयके अनंतरही हुआ करता है । सुश्रुत कहता है— “दोषोंका संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति व भेदको जो जानता है वही योग्य वैद्य हो सकता है ।” दोष क्षीण होनेपर यद्यपि अपना २ कर्म संपादित करनेमें असमर्थ होते हैं, इसका यह आशय नहीं कि क्षीण दोष रोगका निर्माण करते हैं । कोईभी एक दोष जब क्षीण होता है तब उसके विपरीत गुणोंके दोषकी वृद्धि होती है और यह वृद्ध दोषही विकारोत्पादन करता है । इस दृष्टिसे दोषोंका क्षयभी विकारोत्पादक माना गया है । वास्तवमें, वृद्ध दोषही विशिष्ट व्याधिका निर्माण कर सकता है । ३ । ४ ॥

उक्तार्थकोही अधिक विशद करनेके लिये कहते हैं—दोष, दूष्य व स्थान इनके भेदोंसे जिनके अनेक प्रकार होते हैं ऐसे सभी निज (शारीर) विकारोंमें चलन, पोषण, पचन इन वातादि दोषोंकी स्वाभाविक क्रियाओंके वैषम्यरूप लक्षण

वैषम्यलक्षणः शोथश्च पोषणवैषम्यलक्षणः त्रितयमेतत् दोषवृद्धिसमुद्भवम् दोषाणां वातपित्त-
श्लेष्मणां वृद्ध्या समुद्भव उत्पत्तिर्यस्यैवंविधम् । वातवृद्ध्या शूलः पित्तवृद्ध्या दाहः श्लेष्मा-
भिवृद्ध्या च शोथ इति दोषाणां वृद्धिरेव व्याध्युत्पत्तिहेतुरिति । (५॥)

मंदत्वं कर्मणां क्षीणे मारुते चलनात्मनि ॥ ६ ॥

संवृद्धे शूलशोषाद्या विकारा विविधात्मकाः ।

क्षीणे पित्ते न पचनं भवेत्पचनकर्मणि ॥ ७ ॥

संवृद्धे दाहपाकाद्या विकाराः सम्भवन्ति हि ।

क्षीणे श्लेष्मणि धातूनां नाभिवृद्धिर्भवेदपि ॥ ८ ॥

क्लेदशोथात्मका वृद्धे विकाराः सम्भवन्ति हि ।

दोषाणां क्षीणवृद्धानां विकृतिभेदं दर्शयति । मंदत्वमिति हीनत्वम् । कर्मणां
उत्साहचलनादीनां शरीरोपकारकाणाम् । क्षीणे स्वप्रमाणाद्धीने । मारुते वायौ । चलनात्म-
नीति गतिस्वभावे । संवृद्धे स्वप्रमाणादभिवृद्धे । शूलशोषाद्याः पूर्वोक्ताः । क्षीणे पित्ते न
पचनं भवेत् आहारस्य धातूनां च यथावत् पाको न भवेत् । संवृद्धे च दाहपाकाद्या विकाराः
सम्भवन्ति । तथैव क्षीणे श्लेष्मणि धातूनामभिवृद्धिर्न भवेत् श्लेष्मणाल्पत्वात् यथावत्
वृद्धिर्न भवेत् । क्लेदशोथाद्याश्च विकाराः संवृद्धे संभवन्ति । शूलदाहशोथात्मकानां व्याधीनां
समुत्पत्तिर्दोषाणामभिवृद्ध्या भवेन्न संक्षयादिति । (८ ॥)

सामान्यतः रहता है । चलनक्रियाकी विषमताका लक्षण है शूल, पचनवैषम्यका
दाह और पोषणवैषम्यका शोथ । शूल, दाह व शोथ ये तीनों अनुक्रमसे वात,
पित्त व श्लेष्माके अभिवृद्धिके कारणही होते हैं । अर्थात् दोषाभिवृद्धिही व्याध्युत्पत्तिका
वास्तविक कारण है । ५ ॥

क्षीण व वृद्ध दोषोंके विकृतिका स्वरूप निम्न प्रकार होता है:— गति-
स्वभाव वायुके क्षीण (अपने प्रमाणसे हीन) होनेपर उत्साह, चलन आदि
कर्मोंमें मंदत्व उत्पन्न होता है । और उसीके वृद्ध होनेपर शूल, शोष आदि पूर्वोक्त
नानाविध विकार उत्पन्न होते हैं । पित्त जब क्षीण हो जाता है आहारका तथा
धातुओंका यथावत् पचन नहीं होता । किंतु वह जब बढ जाता है — दाह, पाक
आदि विकार उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार कफ क्षीण होनेसे धातुओंके अभिवृद्धिका
कार्य यथावत् नहीं होता किंतु उसीके वृद्ध होनेके कारण क्लेद, शोथ आदि विकारोंकी
उत्पत्ति होती है । सारांश, शूल-दाह-शोथात्मक विकारोंकी उत्पत्ति दोषोंके
अभिवृद्धिके कारणही होती है, क्षयके कारण नहीं, । ६ । ७ । ८ ॥

संक्षीणेऽन्यतरे दोषे वृद्धश्चान्यतरो भवेत् ॥ ९ ॥

वृद्धश्च कुरुते रोगान् विविधान् स्वस्वलक्षणान् ।

संक्षीण इत्यादि । अन्यतरे वाताद्यन्यतमे । अन्यतर इति क्षीणादन्यतरस्त-
द्विपरीतगुणः । स्वस्वलक्षणान् वृद्धदोषलक्षणान् । एकस्य संशयादपरस्तद्विपरीतगुणो वृद्धो
दोषो व्याध्युत्पत्तिकर इति । (९ ॥)

क्षीणस्वलक्षणः क्षीणो विकारोत्पादनेऽक्षमः ॥ १० ॥

क्षीणस्वलक्षण इति क्षीणानि स्त्रीयानि चलनपचनादीनि लक्षणानि यस्यैवंविध ।
क्षीणो दोषः । विकारोत्पादने शूलदाहादिसंस्काराणां विकाराणामुत्पादने । अक्षमः असमर्थः
क्षीणसार्प्यादिति । (१० ॥)

दोषाणामभिवृद्धानां देहे स्थानान्तरेषु वा ।

प्रदुष्टानामुपशमः सामान्यं स्याच्चिकित्सितम् ॥ ११ ॥

दोषप्रशमनं चिकित्सितं सामान्यं सर्वरोगेष्विति निदर्शयन्नाह । दोषाणामित्यादि
देह इति सर्व शरीरे । स्थानान्तरेषु केषुचित्स्थानविशेषेषु । प्रदुष्टानामिति विकृतानाम् ।
उपशमः शोधनशमनादिभिः । सामान्यं सर्वशरीरगेष्वेकांगजेषु वा विकारेषु प्रयोजनीयम् ।
यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् — संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् । अष्टांगहृदयेऽपि — एवमन्यान-
पिव्याधीन्स्वनिदान विपर्ययात् । चिकित्सेदिति । निदानं चात्र प्रकुपिता वातपित्तश्लेष्माणः ।

वात पित्त कफमेंसे कोईभी एक दोष क्षीण होनेसे उसके विपरीत गुणोंका
दोष बढ जाता है । और यह अभिवृद्ध दोषही अपने लक्षणोंके अनेक रोगोंको
उत्पन्न करता है । अर्थात् एक दोषके क्षयसे उसके विपरीत गुणोंके दोषकी जो
वृद्धि होती है उसीके कारण व्याध्युत्पत्ति होती है । ९ ॥

चलनपचनादि स्वाभाविक लक्षणभी जिसके क्षीण हो जाते हैं ऐसा क्षीणदोष
शूलदाहादि स्वरूपके विकारोंको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाता है । १० ॥

उक्त प्रतिपादनसे स्पष्ट हो जाता है कि सर्व रोगोंमें सामान्यरूपसे दोष-
प्रशमनी चिकित्साही हितकर होती है । सर्व शरीरमें अथवा शरीरके किसी विशिष्ट
स्थानमें जो दोष अभिवृद्ध होकर विकृति उत्पन्न करते हैं उनका शोधन, शमन
आदि उपचारोंसे उपशम करना यही सामान्य चिकित्सा है । विकार सर्व शरीरमें हो
अथवा शरीरके किसी एक अंगमें हो उसके उत्पादक दोषका शमन करनाही हितकर
होता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ (इसी प्रकार अन्य) व्याधियोंकी चिकित्सा
भी उनके २ निदानविपरीत रीतिसेही करनी चाहिये । यहांपर निदानका अर्थ

यदुक्त - सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः । दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम् । इत्यादि ।
व्याधिस्थाने प्रकुपितानां दोषाणां प्रशमनात् स्थानविशेषोद्वेगेषु व्याधिशेषेषु प्रयोजनीयायां
व्याधिविपरीतचिकित्सायामपि दोषप्रशमनसामान्यमुपपद्यते इति । (॥ ११ ॥)

चिकित्सितं लंघनारव्यं बृंहणाख्यमिति द्विधा ।

समाख्यातं तयोर्बृंहणाख्यं देहाभिवर्धनम् ॥ १२ ॥

शोधनं शमनं चेति लंघनं दोषनाशनम् ।

चिकित्सितमित्यादि । लंघनाख्यं बृंहणाख्यं चेति द्विधा चिकित्सितमाख्यातम् ।
तत्र कृद्भिरिति शेषः । यथोक्तमष्टांगहृदये - उपक्रम्यस्य हि द्वित्वात् द्विधैवोपक्रमो मतः । एकः
संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः । बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावृद्धाहतौ । इति । तयोर्मध्ये
बृंहणाख्यं देहाभिवर्धनम् शरीरस्योपबृंहणं न व्याधिविनाशकम् । “ क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा
दुर्बला नित्यमध्वगाः । स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः ॥ शोषाशो-
प्रह्णादोषैर्व्याधिभिः कर्षिताश्च ये । तेषां क्रव्यादमांसानां बृंहणा लघवो रसाः । इति क्षीणानां
व्याधिक्षीणानां च बृंहणमाख्यातं चरकसंहितायाम् । एवमेवाष्टांगहृदये “ बृंहयेत् व्याधिभैषज्य-
मद्यस्त्रीशोक्कर्षितान् । भाराध्वोरक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान् । गर्भिणीसृतिक्वालवृद्धान् ग्रीष्मेऽप-

है प्रकुपित वातादिदोष । कहा है— “ सब रोगोंका निदान कुपित मलही होते
हैं । ” “ दोषही सब रोगोंका एकमात्र कारण है । ” व्याधिविपरीत चिकित्सामें भी
व्याधिस्थानीय दोषोंका प्रशमन होता है । अतः सर्व प्रकारकी चिकित्सामें रोगोत्पादक
दोषोंका प्रशमन यह चिकित्साका तत्व अन्नाधित रहता है । ११ ॥

आयुर्वेदीय तंत्रकारोंने चिकित्साके मुख्यतः दो प्रकार वर्णन किये हैं—
(१) लंघन और (२) बृंहण । अष्टांगहृदयमें कहा है “ रोगी दो प्रकारके होनेके
कारण चिकित्सामी दो प्रकारकी मानी गयी है । (१) संतर्पण (२) अपतर्पण ।
इनकेही पर्यायवाचक शब्द हैं बृंहण व लंघन । इनमेंसे बृंहण चिकित्सा शरीरकी—
शारीरधातुओंकी — वृद्धि करती है परंतु बृंहणका अभिप्राय किसी विशिष्ट व्याधिका
नाश करना नहीं है । चरकसंहितामें कहा है “ क्षीण, क्षतयुक्त, कृश, वृद्ध, दुर्बल
नित्य मार्गचारी, नित्य स्त्री व मद्यका सेवन करनेवाले इनको तथा ग्रीष्मऋतुमें सर्व
साधारणको बृंहण उचित है । उसी प्रकार शोष, अर्श, व प्रह्णीके विकारोंसे जो
कृश हुए हो उनकोभी मांसरसादि बृंहण योग्य है । ” सारांश, जो स्वभावतः
क्षीण अथवा किसी व्याधिके कारण क्षीण हुए हो उनके लियेही चरकने

रानपि । ” इति बृंहणोपयोगो व्याधिक्षीणेषु क्षीणेषु चाख्यातो न व्याधितेषु । शोधनं शमनं चेति वक्ष्यमाणलक्षणम् लंघनं दोषनाशनम् व्याध्युत्पादकं दोषप्रशमनकरम् । लंघनमेव व्याधिविनाशकं द्विप्रकारमिति । (१२॥)

दुष्टो दोषश्चामसंज्ञं द्रव्यं वा व्याधिकारणम् ॥ १३ ॥

विनिर्याति बहिर्देहादुपायैर्विविधात्मकैः ।

चिकित्सा सा विकाराणां दोषोपशमकारिणी ॥ १४ ॥

चिकित्सालक्षणं संक्षेपेण विनिर्दिशति । दुष्ट इति वातादीनामन्यतमो विकृतो दोष आमसंज्ञं द्रव्यं वा व्याधिकारणम् तत् यैरुपायैर्देहाद्हरियाति सा चिकित्सा समासेनाख्यायते । दुष्टानां दोषाणामामाख्यस्य च द्रव्यस्य लक्षणसामान्यादोष आमद्रव्यं वेत्यभिहितम् । (१४)

वातादीनां प्रदुष्टानां दोषाणां बहिरीरणम् ।

निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्त्रविस्तृतिः ॥ १५ ॥

शोधनाख्यं समाख्यातं पंचधा विचिकित्सितम् ।

नोदीरयेद्बहिर्दोषान्ताम्यमुत्पादयेदिति ॥ १६ ॥

बृंहणचिकित्सा बतलायी है । अष्टांगहृदयमेंभी कहा है—व्याधि, औषध, मद्य व स्त्रीके कारण जो कृश हुए हो उनको बृंहण देना चाहिये । तथा भारवहन करनेवाले, नित्य मार्ग चलनेवाले, उरःभ्रती क्षीण, रूक्ष व दुर्बल, वातल, तथा गर्भिणी, सूतिका, बाल, वृद्धको बृंहण उचित है । इस प्रकार अष्टांगहृदयमेंभी बृंहण चिकित्साका उपयोग क्षीण व व्याधिर्ज्ञाणोंके विषयमेंही बतलाया गया है रोग नाशके लिये नहीं । लंघनकेभी दो प्रकार हैं—(१) शोधन व (२) शमन । और उसका उपयोग व्याध्युत्पादक दोषोंका नाश करनेके लिये होता है । सारांश, शोधन व शमनरूप लंघन व्याधिविनाशक उपाय है । १२ ॥

दुष्ट दोष अथवा आमनामका व्याध्युत्पादक द्रव्य जिन नानाविध उपायों द्वारा शरीरके बाहर उत्सर्जित किया जा सकता है उसीको संक्षेपमें चिकित्सा कहते हैं । दुष्टदोषोंके तथा आमनामक द्रव्यके लक्षण एकहीसे होनेके कारण दोष अथवा आमद्रव्य ऐसा कहा गया है । यही चिकित्सा दोषोंका उपशम करती है । १३ । १४ ॥

अब शोधन व शमनके भेदोंका वर्णन करते हैं । वातादि दुष्ट दोषोंका शरीरके बाहर उत्सर्जन करनेवाली शोधन चिकित्साके पांच प्रकार बतलाये गये हैं—

दीपनं पाचनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः ।

चिकित्सितं सप्तविधं शमनाख्यमुदीरितम् ॥ १७ ॥

शोधनाख्यस्य शमनाख्यस्य च भेदोपदर्शनार्थमुच्यते । वातादीनामित्यादि ।
वाहिरीरणम् शरीरात् बहिरुत्सर्जनम् । निरूहो बस्तिभेदः । सामान्येन बस्तिर्वातविकाराणां
प्रधानोपक्रम इत्याख्यातेऽपि अनुवासनापरपर्यायः स्नेहवस्तिः स्नेहनाद्वातोपशमनः निरूहस्तु
वायोः संशोधन इति शोधनचिकित्सायां निरूहोपदेशः । कायशिरोरेक इति कायेरेको
विरेचनाख्यः शिरोरेकश्च नस्याख्यः । नोदीरयेदिति वमनविरेचनादिवत् नोत्सर्जयेत् । साम्य-
मुपादयेदपि वमनविरेचनादिवदुत्सर्जनाभावेऽपि वृद्धस्योपशमनं करोतीति भावः । दीपनं
जाठराद्यन्निविवर्धनमौषधम् । पाचनं आहारादिपरक्वस्य पाचकमौषधम् । क्षुदीति क्षुद्रवरोधः
उपवासः । तृट् तृष्णाया अवरोधः । व्यायामः व्यायवस्थामेदानुसारं शरीरस्यांगविशेषाणां
वाऽयासजननं कर्म नानाविधम् । आतपः आतपसेवनम् । मारुतः विमलस्यवायोरुपसेवनम् ।
सप्तविधं चैतत् शमनाख्यं चिकित्सितम् । (१७)

(१) निरूह वस्ति (२) वमन (३) कायेरेक (विरेचन) (४) शिरोरेक (नस्य)
और (५) रक्तमोक्ष । सामान्यतः वातविकारोंपर बस्ति प्रधान चिकित्सा
वतलायी गयी है जिसके दो प्रकार हैं । एक निरूहवस्ति और दूसरा अनुवासन
वस्ति । अनुवासन वस्तिका दुसरा नाम है स्नेहवस्ति और वह वातशामक है ।
निरूह वस्तिही वायुका शोधन करता है । इसलिये उसकाही शोधन चिकित्सामें
समावेश किया गया है । कायेरेकका अर्थ है विरेचन । और शिरोरेकको नस्य कहते
हैं । शमन चिकित्सासे शोधन चिकित्साके समान दोषोंका शरीरके बाहर उत्सर्जन
नहीं होता अपितु बिना उत्सर्जन कियेही वृद्ध दोषोंका शमन किया जाता है ।
शमन चिकित्साके प्रकार सात हैं । याने अन्यान्य ७ उपायोंसे शमन चिकित्सा
अर्थात् रोगकारक दोषोंका उपशम किया जाता है । (१) दीपन (जठराग्नि
तथा सर्व शारीर धातुओंकी पचनशक्ति बढ़ानेवाले औषधीप्रयोग) (२) पाचन
(उपभुक्त आहारके अपक्वार्शोंका पचन करनेवाले औषधियोंका प्रयोग) (३)
क्षुधाका अवरोध (उपवास) (४) तृष्णाका अवरोध (जल आदि पानीय
द्रव्योंका सेवन न करना) (५) व्यायाम (रोग और रोगीकी अवस्थाके अनुसार
सर्व शरीर अथवा शरीरके विशिष्ट अवयवोंके विशिष्ट श्रम) (६) आतप (सूर्य
किरण-प्रकाश) और (७) वायु (शुद्ध व स्वास्थ्यकारक वायुका यथाविधि
सेवन करना) १५ - १७ ॥

द्रव्यं बहिर्विनिर्याति शरीराद्रोगकारणम् ।

शोधनात् शमनाद्वापि रोगशान्तिर्भवेत्तदा ॥ १८ ॥

रोगोत्पादकस्य द्रव्यस्य बहिर्गमनादेव व्याधिविनाश इति दर्शयितुमुच्यते । द्रव्यमित्या-
माख्यं प्रदुष्टा वातादयो वा । रोगकारणम् रोगोत्पादकम् । शमनैरुपायैर्धममनविरेचनादिवदुत्सर्गा-
भावेऽपि स्वाभाविकैरुत्सर्जनमार्गैः शनैः शनै रोगोत्पादकस्य द्रव्यस्योत्सर्जनं भवतीत्युक्तं शोधनात्
शमनाद्वाऽपि इति । (१८ ॥)

द्रव्यं रोगकरं चातिप्रवृद्धं वमनादिभिः ।

शोधनाख्यैरेककालं बलान्निर्हियते बहिः ॥ १९ ॥

द्रव्यमित्यादि । रोगकरं द्रव्यं अतिप्रवृद्धं शोधनैरुपायैर्निर्हियते । यथोक्तमष्टांगहृदये-
तत्राल्पे लघनं पथ्यं मध्ये लघनपाचनम् । प्रभूते शोधनं तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान् ॥ इति । (१९ ॥)

द्रव्यमल्पं रोगकरं शमनैर्दीपनादिभिः ।

निर्याति मलमूत्रादिसहितं चाल्पशः क्रमात् ॥ २० ॥

अल्पं द्रव्यं दीपनादिभिः चिकित्साप्रकारैः । मलमूत्रादिसहितम् । चिकित्सा-
विशेषैर्धातुभ्यः पृथग्भूतं मलमूत्रसेवादिसहितं स्वाभाविकैरुत्सर्जनमार्गैः । अल्पशः अल्पप्रमाणेन ।
क्रमात् न एकदैव । निर्याति शरीरात् बहिरिति । (२० ॥)

रोगोत्पादक द्रव्य शरीरके बाहर उत्सर्जित होनेसेही रोगविनाश हो सकता है यह दर्शानेके लिये कहते हैं: — आम नामका रोगोत्पादक द्रव्य अथवा वातादि दुष्ट दोष शोधन अथवा शमन उपायोंसे जब शरीरके बाहर उत्सर्जित हो जाते हैं तभी रोगका उपशम होता है । शमन उपायोंसे वमन विरेचनादिके समान यद्यपि दोषोंका तत्काल उत्सर्जन नहीं होता, तोभी क्रमशः स्वाभाविक उत्सर्जनमार्गोंसे रोगोत्पादक द्रव्य अथवा दुष्ट दोषोंका शमन उपायोंद्वारा उत्सर्जन होही जाता है । इस लिये कहा गया है कि रोगशान्ति शोधन अथवा शमन उपायोंसे होती है । १८ ॥

रोगकारक द्रव्यकी शरीरमें जब अतिशय प्रमाणमें वृद्धि होती है तब वह वमनादि शोधन उपायोंद्वारा तत्काल शरीरके बाहर उत्सर्जित करना उचित होता है । १९ ॥

रोगकारक द्रव्यका प्रमाण शरीरमें जब अल्प रहता है तब दीपनादि शमन उपायोंसे अल्पशः मलमूत्रके साथ २ ही वह शरीरके बाहर क्रमशः याने स्वाभाविक उत्सर्जन मार्गोंसे उत्सर्जित हो जाता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ रोगोत्पादक

दोषप्रमाणानुसारमुपायाः शोधनादयः ।

दुष्टदोषापहरणाः समाख्याता यथायथम् ॥ २१ ॥

दुष्टानां दोषाणामपहरणोपायाः शोधनादयश्चिकित्साविशेषा दोषप्रमाणानुसारं समाख्याताः ।
शोधनानां शमनानां च फलं दोषापहरणमिति । (२२ ॥)

दुष्टश्लेष्मापहरणं शोधनं वमनाभिधम् ।

विरेचनं पित्तहरं निरूहो वातशोधनः ॥ २२ ॥

श्लेष्माणं मूर्ध्नि निचितं नस्यकर्म विनिर्हरेत् ।

शोधनं रक्तदोषस्य सिरावेधः प्रकीर्तितम् ॥ २३ ॥

शोधनोपायानां परिणामविशेषं दर्शयति । दुष्टश्लेष्मापहरणमिति प्रदुष्टस्याति-
संचितस्य श्लेष्मण अपहरणं वमनम् । अल्पे च लंघनादीनां शमनानां प्रयोजकत्वात् । तद्वदेव प्रभूत-
पित्तहरणं विरेचनं, प्रभूतवातहरश्च निरूह इति । विरेकसामान्यत्वेऽपि स्थानविशेषे मूर्ध्नि प्रयोज्यत्वात्
नस्यकर्मणः पृथगाख्यानम् । रक्ताश्रयस्य दोषस्यापहरणत्वाच्च रक्तविरेकः सिरावेधः पृथक्संज्ञयो-
पदिष्टः । (२२-२३ ॥)

द्रव्यका प्रमाण यदि अल्प हो, लंघन हितकारक होता है, मध्यम हो तो लंघन
व पाचन और प्रभूत याने अतिशय हो तो शोधनही हितकर होता है । कारण
शोधनसे मलोंका समूल उन्मूलन किया जाता है । ” । २० ॥

दुष्ट दोषोंका अपहरण करनेवाले शोधनादि विशिष्ट चिकित्साके प्रकार
दोषोंके प्रमाणानुसारही बतलाये गये हैं । शोधन व शमन दोनों उपायोंका फल
एकही है । और वह है दोषापहरण । २१ ॥

अब शोधन उपायोंमेंसे प्रत्येकका विशिष्ट कार्य बतलाते हैं । दुष्ट और
अतिसंचित श्लेष्माका अपहरण वमन क्रियासे किया जाता है । इसीका प्रमाण अल्प
रहातो लंघनादि शमन उपाय किये जाते हैं । पित्त जब दुष्ट और अतिप्रमाणमें
संचित होता है, विरेचन क्रियाका अवलंबन किया जाता है और वायु अतिसंचित
होनेपर निरूह । श्लेष्मा जब सिरमें अतिसंचित होता नस्य दिया जाता है । नस्य
विशिष्ट स्थानका विरेचन होनेसे उसका पृथक् निर्देश किया गया है । दोष जब
रक्तका आश्रय लेकर दुष्ट होता है, सिराव्यधसे उसका स्राव किया जाता है । इस
क्रियाको रक्तविरेक अथवा रक्तमोक्ष कहते हैं । २२ । २३ ॥

द्रव्यमामं सर्वधातुप्रसृतं रोगकारणम् ।

पृथक्कृतं स्नेहनेन स्वेदनेन च कर्मणा ॥ २४ ॥

कोष्ठप्राप्तं विनिर्याति वमनाद्यैर्विशोधनैः ।

वमनविरेचननिरूहाख्यैः क्रमात् श्लेष्मपित्तानिलानां शोधनैः कथं सर्वदेहप्रसृतानां दुष्टानां दोषाणां निर्हरणमित्याशंकानिरासार्थमुच्यते द्रव्यमित्यादि । सर्वधातुप्रसृतमिति सर्वशरीरव्याप्तम् । पृथक्कृतं धातुभ्यो विभक्तम् । स्नेहनेन स्वेदनेन च कर्मणा । स्नेहनाख्येन स्वेदनाख्येन च कर्मविशेषेण । कोष्ठप्राप्तं कोष्ठगतेष्वामाशयादिषु प्राप्तम् । वमनाद्यैर्विनिर्याति मुखादिमार्गेण बहिरायाति । धातुषु व्यामिश्रितानि रोगद्रव्याणि स्वबलप्रमाणानुसारं स्थानान्तरेषु व्याधुत्पत्तिकराणि भवन्ति । तत्पृथक्करणं स्नेहनं स्वेदनं च । यथोक्तमष्टांगहृदये-स्नेहक्लिप्ताः कोष्ठगा धातुगा वा स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः । दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्हिह्यन्ते । इति ।

अथवावत्प्रयुक्तैराहारादिभिर्दुष्टा वातादयो दोषा रसेन सहाभिसर्पन्तः शरीरधातुष्वभिनिविष्टाः सन्तो व्याधिविशेषोत्पादका भवन्ति । एवं प्रदुष्टा दोषा एव आमाख्यं द्रव्यं रोगोत्पादकं वा द्रव्यं नाम । रूक्षतीक्ष्णाद्याहारगतद्रव्यानुसारं द्रव्यमामामिधानं कदाचिद्वातभूयिष्ठं कदाचित् पित्तभूयिष्ठं कदाचित् श्लेष्मभूयिष्ठं संसर्गसन्निपातप्रधानं वा भवति । ततश्च व्याधिविशेषेषु शूलदाहादीनां प्रादुर्भावः । धातुविमिश्रस्यैवविधस्य द्रव्यस्य पृथक्करणं धातुभ्यः शरीराद्बहिस्तत्सर्जनं चेति प्रयोजनं

सर्व देहमें व्याप्त दुष्ट दोषोंका वमन, विरेचन व निरूहद्वारा अनुक्रमसे श्लेष्मा, पित्त व वातका शोधन करनेसे निर्हरण कैसा हो सकता है ? इस विषयमें सार्ष्टीकरण करते हैं:— आमनामका रोगोत्पादक और सर्व शरीरमें व्याप्त द्रव्य स्नेहन व स्वेदन नामकी क्रियाओंद्वारा प्रथम धातुओंसे पृथक् कर कोष्ठगत आमाशयादि स्थानोंमें लाया जाता है । स्नेहन स्वेदन क्रियाओंके कारण श्लेष्मा आमाशयमें, पित्त पच्यमानाशयमें और वायु पक्काशयमें आता है । और वमन क्रियाके कारण श्लेष्मा मुखमार्गसे और विरेचन तथा निरूह क्रियाद्वारा अनुक्रमसे पित्त व वायु गुदमार्गसे बाहर उत्सर्जित होता है । दुष्ट दोष धातुओंमें मिश्र रहकरही अपने २ शक्ति व प्रमाणके अनुसार भिन्न २ स्थानोंमें व्याधिको उत्पन्न कर सकते हैं । अष्टांगहृदयमेंभी धातुमिश्र दोषोंके निर्हरणके लिये स्नेहस्वेदका प्रयोग प्रथम बतलाया है । कहा है “ कोष्ठगत, धातुगत अथवा शाखादिस्थानोंके स्रोतस्रोतोंमें विलीन (दुष्ट) दोष स्नेहसे क्लिन्न होकर और स्वेदसे द्रवीभूत होकर कोष्ठमें लाये जाते हैं और शोधनक्रियाद्वारा शरीरके बाहर निकाले जाते हैं । ”

चिकित्साभेदानां शोधनानां शमनानां च । धातुलीनस्य दोषस्यामद्रव्यस्य वोत्सर्जनं सुदुष्करं धातुक्षयकरं च स्यादिति विशदीकृतं दृष्टन्तेनाष्टांगहृदये यथा-“ सर्वधातुप्रविसृतान् दुष्टान्दोषान्न-
निर्हरेत् । लीनान् धातुष्वनुक्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव । आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हर-
त्वतः । ” धातुलीनानां दोषाणां पृथक्करणार्थमुपदिष्टः स्नेहविधिःस्नेदविधिश्च । स्नेहस्नेदाम्नां
दोषाणां पृथक्करणे युक्तिरुपवर्णिता चरकसंहितायाम् । यथा - “ तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायि-
विकाशीनि औषधानि स्वयंर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य सम्यक्पुक्त्या स्थूलाणुक्षोतोम्यः केवलं
शरीरगतं दोषसंघातं आश्रयत्वात् विन्यन्दयन्ति तैक्ष्ण्यात् विच्छिन्दन्ति ।

स विच्छिन्नः परिप्लवः स्नेहभाविता काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन् अणुप्रवण-
भावादामाशयमागत्य उदानप्रणवोऽग्निरवाप्यात्मकत्वात् ऊर्ध्वभागप्रभावादौषधस्य ऊर्ध्वमुद्भिद्यते
सलिलपृथिव्यात्मकत्वात् अधोभागप्रभावादौषधस्य अधःप्रवर्तते उभयतश्च उभयगुणत्वात् । ”
इति । स्नेहस्नेदाम्नां पृथग्भूतं व्याधिकारणं द्रव्यं समाकर्षणात् स्वाभाविकात् कोष्ठं प्राप्नोतीति
भावः । दोषाणां रोगोत्पादकानां कोष्ठात् शरीरे प्रसर्पणं धातुभ्यश्च कोष्ठे पुनरागमनं विक्षेपाकुंचन-
कर्मणा वायुना विधीयते । आहारोत्पन्नस्य रसस्याखिले शरीरे प्रसर्पणं हृदयात्सूक्ष्माणुसूक्ष्माभिर्वा-

वातादिदोष अयथावत् प्रयुक्त आहारादि कारणोंसे दुष्ट होकर रस धातुके
सहित शरीरमें संचार करते हुए सभी शरीर धातुओंमें मिश्र होजाते हैं और विशिष्ट
व्याधिओंको उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार दुष्ट दोषोंकोही आमद्रव्य अथवा रोगो-
त्पादक द्रव्य कहना चाहिये । रूक्ष-तीक्ष्णादि आहारगत द्रव्यके अनुसारही आम-
नामका द्रव्यभी कदाचित् वातभूयिष्ठ, कदाचित् पित्तभूयिष्ठ और कदाचित् कफ-
भूयिष्ठ रहता है । अथवा कभी कभी उसमें दो या तीनों दोषोंका प्राधान्य रहता
है । उनसे विशिष्ट व्याधिओंमें शूलदाह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं । शोधन व
शमन चिकित्साओंका प्रयोजनही यह है कि धातुओंमें मिश्र आमद्रव्यको धातुओंसे
पृथक् कियाजाय और उसको शरीरके बाहर उत्सर्जित किया जाय । धातुओंमें विलीन
अवस्थामें दुष्टदोष अथवा आमद्रव्यका उत्सर्जन एकतो कठिन है और दुसरे उसने
धातुओंकाही क्षय होनेका भय रहता है । इसी विषयको अधिक स्पष्ट करनेके
लिये अष्टांगहृदयमें बतलाया गया है “ सर्व धातुओंमें प्रसृत अवस्थामें दुष्ट
दोषोंका निर्हरण न करना चाहिये । जिस प्रकार कच्चे फलमेंसे रस निकालनेकी
चेष्टामें रस तो निकलना कठिन किंतु फलकाही नाश होता है, उसी प्रकार
धातुओंमें विलीन दोषोंका निर्हरण करनेके प्रयत्नमें उनके आश्रयभूत धातुओंकाही
नाश होनेका भय रहता है । ” धातुओंमें लीन दोषोंको धातुओंसे पृथक् करनेके

हिनीभिर्मलखरूपस्य च वाहिनीभिरेव पुनरागमनं प्रक्षेपणाकुंचनकर्मणा वायुना वाहिनीसंबद्धेन विधीयते तथैव दोषानां दुष्टानां शरीरे प्रसर्पणं कोष्ठात्पुनरागमनं च कोष्ठ इत्येवंविधवि-
वल्पनानुसारं शरीरप्रविसृतानामपि दोषाणां कोष्ठानयनं कोष्ठगतानां च वमनविरेचनादिभिः
शोधनैर्निर्हरणमित्ययं चिकित्साभेदो दोषप्रशमनायोपदिष्टः ।

प्रदुष्टदोषाख्येनामद्रव्यापरपर्यायेण वा द्रव्येण रोगोत्पादकेन प्रभूतप्रमाणेनाक्रान्तेषु
शारीरधातुष्वंगोपांगेषु च तद्दोषनिर्हरणार्थं स्वाभाविका मलोत्सर्जनक्रिया न प्रभवेदिति स्नेहस्वेदाभ्यां
पृथक्कृतस्य कोष्ठगतस्योत्सर्जनं शोधनैर्विधेयमित्याख्यातं “ प्रभूते शोधनं तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मला-
निति । ” (२४ ॥)

शमनैर्दीपनाद्यैस्तन्मूत्रस्वेदानुगं भवेत् ॥ २५ ॥

देहाद्वहिर्विनिर्याति मार्गैः स्वाभाविकैः क्रमात् ।

दुष्टदोषप्रशमनाद्विकारोपशमो भवेत् ॥ २६ ॥

शमनैरिति शमनाख्ययोपदिष्टैः । **दीपनाद्यैः** पूर्वमुक्तैः । तदिति आमाख्यं रोगो-
त्पादकं द्रव्यम् । **मूत्रस्वेदानुगं** धातुभ्यः प्रसृतं द्रवत्वसामान्यान्मूत्रस्वेदविमिश्रम् । **मार्गैः**
स्वाभाविकैरिति मूत्रस्वेदवहैः स्रोतोभिः । **क्रमादित्यल्पमल्पम्** । एवं **दुष्टदोषप्रशमनात्**
शोधनात् शमनाद्वा दुष्टानां दोषाणामुपशमात् । **विकारोपशमः** व्याधिविनाशः । न शोधयति

लियेही स्नेहविधि व स्वेदविधि बतलाये गये हैं । स्नेहस्वेदोंका यह पृथक्करणसामर्थ्य
घर्षण करतेसमय चरकने कहा है “ उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि व विकासि
औषधियां अपने २ वीर्यसे हृदयमें आकर धमनीद्वारा शरीरमें संचार करती हैं ।
उनका यदि सम्यक् प्रयोग किया जाय तो वे स्थूल व सूक्ष्म स्रोतसोंमेंसे अग्निगुण-
भूण्ड होनेसे सर्वशरीरगत दोषसंघात का विष्यंदन और तीक्ष्णत्वके कारण
विच्छेदन करती हैं । शरीरका जब स्नेहन किया जाता है तब यही प्रक्रिन्न
दोषसमुच्चय जिस प्रकार तेल लगाये पात्रको मधु चिपक नहीं सकता—उससे
पृथक् रहता है उसी प्रकार—धातुओंसे अलित रहता हुआ अपने सूक्ष्म व प्रवण याने
अधोवाही स्वभावके कारण आमाशयमें आता है । और अग्निवाय्वत्मक औषधके
प्रभावसे वही आमाशयगत दोषसंघात ऊपर फेंका जाता है याने वमन करता है
तथा पृथ्वीजलात्मक औषधके प्रभावसे नीचे फेंका जाता है याने विरेचन करता है ।
उभयविध प्रभावके औषधसे वमन व विरेचन दोनों प्रकारका कार्य होता है । ”
सारांश यही है कि, स्नेहस्वेदके द्वारा पृथक्कृत रोगोत्पादक द्रव्य रसविश्लेषण
क्रियासेही कोष्ठमें आजाता है । रोगोत्पादक द्रव्यको कोष्ठमेंसे सब शरीरमें

यद्दोषान् समाशोदरियत्यपि । समीकरोति विषमान् शमनं तश्च सत्यथा । इति शमनव्याख्यायां
' न शोधयति यद्दोषान् ' इत्यष्टांगहृदयोक्तस्य वमनविरेचनादिवन्न शोधयतीत्यभिप्रायः स्वीकर्तव्यः
अन्यथा शरीरावस्थितेष्वपि दोषेषु प्रदुष्टेषु व्याधिप्रशम इत्यभिप्रायस्यासंगतत्वात् । (२६ ॥)

स्थानाश्रिताः संशमनैः शोधनैः सर्वदेहगाः ।

प्रशमं यान्ति वाताद्या व्याध्यश्च तदुद्भवाः ॥ २७ ॥

शमनाव्यानां चिकित्साप्रकाराणां प्रादेशिकव्याधिविनाशकत्वं दर्शयति । **स्थानाश्रिताः**
स्थानविशेषेष्वश्रिता एकदेशजा इति । **संशमनैर्दोषनादिभिः । शोधनैश्च सर्वदेहगाः**
सर्वशरीराश्रयाः । स्थानविशेषेषु परिणामकराणां व्याधिविरुद्धानामपि चिकित्साविशेषाणां शमने-
ष्वन्तर्भावः । द्रव्यप्रभावात्स्थानान्तरेष्वश्रितानां दोषाणां प्रशमनं नाम स्थानवैयुण्यविनाशात्
दोषाणां व्याधिस्थानाद्बहिरुत्सर्जनम् । न चैतत् शोधनं वमनविरेचनादिवदिति संशमनमेव । ततश्च
सर्वदेहगानामल्पप्रमाणानां परिहरणमेकं स्थानान्तरगतानां च परिहरणमन्यदिति परिणामभेदात्सं-

फैलानेका तथा उसको धातुओंसे कोष्ठमें लानेका कार्य विशेष व आकुंचन क्रिया-
द्वारा वायु करता है । आहारसे उत्पन्न रस हृदयमेंसे सूक्ष्म अतिसूक्ष्म वाहिनीओंद्वारा
सर्व शरीरमें फैका जाता है और उसीके मलस्वरूपको वाहिनीओंद्वारा हृदयमें लाया
जाता है इन दोनों क्रियाओंको अनुक्रमसे प्रक्षेपण व आकुंचन कर्मसे वाहिनी-
संबद्ध वायुही करता है । इसी प्रकार कोष्ठगत दुष्ट दोषोंको शरीरमें संचारित
करना और शरीरमें प्रसृत दोषोंको कोष्ठमें लाना ये दोनों क्रियायें भी वायुके
कारणही होती हैं । इस कल्पनाके अनुसार शरीरमें प्रसृत दोषभी कोष्ठमें लाये
जाते हैं और कोष्ठमें आनेके पश्चात् वमन विरेचनादि शोधन उपायोंद्वारा उनका
निर्हरण किया जाता है ।

जब सर्व शरीर धातु अथवा शरीरके कुछ अंग उपांग दुष्ट दोषोंके अथवा
आमनामक रोगोत्पादक द्रव्यके अतिप्रमाणमें संचित होनेके कारण आक्रांत हो
जाते हैं तब इन संचित दोषोंका निर्हरण स्वाभाविक मलमूत्रोत्सर्जनक्रियाद्वारा
नहीं हो सकता । इसलिये उनको पहिले स्नेहस्येदद्वारा धातुओंसे पृथक् कर
कोष्ठमें लानेके पश्चात् वमनविरेचनादि शोधनोंद्वाराही उनका निर्हरण करना अवश्य
होता है । यही आशय ध्यानमें रखकर अष्टांगहृदयमें कहा गया है कि “दोषोंका
प्रमाण जब अतिशय रहता है उनका शोधनही करना अवश्य है । शोधन उनका
समूल निर्हरण कर सकता है । ” २४ ॥

शमनं द्विप्रकारम् । तत्र शरीरव्यापिनां दोषाणां शमनं हेतुविरुद्धं स्थानान्तरपरिणामकरं च द्रव्यप्रमावेण व्याधिविरुद्धमिति संज्ञाभेदः परिणामभेदोपदर्शनार्थमुपयोजित इति । (२७ ।)

दुष्टश्चामाशयात् श्लेष्मा शरीरे परिसर्पति ।

विशुद्धे च ततस्तस्मिन् वमनैरुपशाम्यति ॥ २८ ॥

दुष्टमंजगतं पित्तं शरीरे परिसर्पति ।

विशुद्धेऽत्र विरेकेण तत् शान्तिमुपगच्छति ॥ २९ ॥

वायुः पक्वाशये दुष्टः शरीरे परिसर्पति ।

विशुद्धे च निरूहेण वस्तिना परिशाम्यति ॥ ३० ॥

वमनादिभिः श्लेष्मादीनां प्रशमने हेतुं निर्दिशति । दुष्ट इत्यादि — आमाशयात् अन्नाधारात् दृढिसमाकारात् । श्लेष्मा द्रवरूपः । शरीरे शरीरधातुषु । विशुद्धे निर्मलत्वमापन्ने । तस्मिन् आमाशये । श्लेष्मा उपशाम्यति । एवमेव अत्रे पित्तस्थानत्वात् शुक्रात्रे । विशुद्धे पित्तं शान्तिमुपगच्छति । वायुश्च पक्वाशये निरूहेण विशुद्धे परिशाम्यति । उक्तं चरकसंहितायाम् — वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तादृि आदित एव

रोगोत्पादक आमद्रव्यका प्रमाण शरीरमें जब अल्प रहता है दीपनादि पूर्वोक्त शमन उपायोंसे वह (आमद्रव्य) धातुओंमेंसे द्रवरूपमें पृथक् होकर मूत्र व स्वेदमें मिश्र होता है और स्वाभाविक मार्गोंसे क्रमशः शरीरके बाहर उत्सर्जित होता है । एवंच शोधन और शमन उपायोंद्वाराही दुष्ट दोषोंका उपशम होकर रोगभी नष्ट होते हैं । अष्टांगहृदयमें शमनकी व्याख्या करते समय कहा है “ जो वमन विरेचनादिके समान एकदम व बलपूर्वक दोषोंका शोधन नहीं करता और उदीरणभी नहीं करता अपितु विषम दोषोंको समस्थितिमें लाता है उसको शमन कहते हैं और वह सात प्रकारका है । ” २५ ॥ २६ ॥

दीपनादि शमन चिकित्सासे वातादि दोषोंका प्रशम होकर तज्जन्य प्रादेशिक व्याधिओंका नाश होता है ॥ और शोधन चिकित्सासे सर्वशरीरगत व्याधिओंका नाश होता है । प्रादेशिक व्याधि उसको कहते हैं जो शरीरके विशिष्ट स्थान या अवयवमें उत्पन्न होता है । विशिष्ट स्थानोंपर परिणाम करनेवाले व्याधिविपरीत उपायोंकाभी शमन उपायोंमेंही अंतर्भाव होता है । विशिष्ट स्थानोंमें आश्रित दोषोंका औषधी द्रव्यके प्रभावसे जो प्रशमन होता है उसीका अर्थ है स्थानवैगुण्यका नाश कर व्याधिस्थानसे दोषोंका उत्सर्जन । यह उत्सर्जन वमन विरेचनादिके समान

आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमाकर्षति । तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते । विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तादृ आदित एव आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलं चापकर्षति । आस्थापनानुवासनं तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तदादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनाति । श्लेष्मादिदोषोत्पत्तिस्थानशोधनैर्वैमनादिभिर्दोषाणां शरीरप्रसार-स्तस्मान्नानाविधव्याधिसंभवश्चैवं परिहृतो भवतीति । (३०)

आत्याहाराद्यदार्जीर्णमाहारादेः प्रजायते ।

अनाहारस्तदा हीनमात्राहारश्च पाचनम् ॥ ३१ ॥

द्रव्यसुष्णगुणं वापि पचनायोपकरोते ।

आहारस्याविपाकश्च मन्दाग्नित्वाद्भवेद्यदा ॥ ३२ ॥

दीपनैरौषधैरग्निवर्धनं च भवेत्तदा ।

द्रवद्रव्यस्यातियोगादविपाको यदा भवेत् ॥ ३३ ॥

शोधन नहीं हैं अपितु संशमनही है । उक्त विवेचनसे ध्यानमें आसकेगा कि संशमन मुख्यतः दो प्रकारका है—(१) सर्वदेहगत अल्प प्रमाणके दुष्ट दोषोंका परिहरण करनेवाला और (२) विशिष्ट स्थानोंके दुष्ट दोषोंका परिहरण करनेवाला । सर्वशरीरव्यापी दोषोंका परिहरण हेतुविरुद्ध है और विशिष्ट स्थानोंपर औषधि प्रभावसे परिणाम करनेवाला संशमन व्याधिविरुद्ध है । अर्थात् हेतुविरुद्ध व व्याधिविरुद्ध ये भिन्नसंज्ञायें भिन्न परिणामोंकी दर्शक है । २७ ॥

दुष्ट श्लेष्मा आमाशय याने जठरमेंसे सब शरीरमें फैलता है । किन्तु वमनोंसे वही आमाशय जब निर्मल हो जाता है, श्लेष्माका उपशमन होता है । उसीप्रकार अंत्रगत याने क्षुद्रांत्रमेंका पित्त जब दुष्ट होता है वहभी शरीरमें फैलता है और विरेचनोंद्वारा अंत्र शुद्ध होनेपर पित्त शांत होता है । वायुभी दुष्ट होनेपर पक्वाशयमेंसे शरीरमें संचार करने लगता है और निरूह बस्तिद्वारा पक्वाशयशुद्धि होनेपर वायु शांत हो जाता है । चरक संहितामें कहा है— “ कफजन्य व्याधि-ओंपर सब उपक्रमोंमें वमन प्रधानतम है वह आमाशयमें प्रवेश कर अनेक विकार निर्माण करनेवाला श्लेष्माका मूलही नष्ट करता है । और श्लेष्माका नाश होनेसे शरीरके अंतर्गत श्लेष्मविकारोंकाभी उपशम हो जाता है । पित्तजन्य व्याधिओंपर विरेचनही सब उपक्रमोंमें प्रधानतम है । वहभी प्रथमही आमाशय (क्षुद्रांत्र) में

तृणानिरोधात्पचनं व्यायामात्पमारुतैः ।

सम्यग्विपाको धातूनां यथावदुपकल्पितैः ॥ ३४ ॥

वमनादीनां कार्याविशेषं निरूप्य दीपनादीनां शमनोपायानां विशेषं दर्शयन्नाह ।
अत्याहारादिति अतिमात्राहारात् अतिकालादिकाद्वा मिथ्याहारात् । आहारादेः आहारस्य
धातूनां च । अनाहारः उपवासः । हानमात्राहारः हानप्रमाणाहारः । तारतम्यानुसारेणा-
र्जाणस्य हानमात्रत्वं लघुरूक्षत्वादिकं चोपयोज्यम् । हानमात्राहारवत् द्रव्यमौषधरूपमाहार्यं वा ।
शुण्ठीमरिचपिप्पलीहिङ्गादीनि द्रव्याणि दीपनपाचनान्यौषधान्यप्याहार्याणि रुचिकराणि चेति ।
जठरानलेऽमंदेऽप्याहारस्यातिमात्रया संजातेऽजीर्णे हानमात्राशनमनशनं पाचनौषधानि वा
पचनार्थमुपयोज्यानि । यदाऽविपाको मन्दाग्नित्वात् जठराग्नेर्धात्वर्त्तानां च मन्दत्वात् ।
तदा दीपनैरग्निवर्धनम् । द्रवद्रव्यस्यातियोगात् द्रवाणां द्रव्याणामत्युपयोगात् ।
अविपाकः अपचनम् । तृणानिरोधात् पाननिषेधात् । व्यायामात्पमारुतैः व्यायाम
वातातपसेवनात् । धातूनां रक्तादीनां पचनम् । यथावदुपकल्पितैरिति व्याधिव्याधित-
देश्चतुर्वनुसारमुपयोजितैः । व्यायामात्पमारुतानां धातुपाचकत्वेनोपयोग इति । कोष्ठगतेऽजीर्णे

प्रवेश कर वैकारिक पित्तमूलका अपकर्षण करता है । उसीप्रकार वातके सर्व उप-
क्रमोंसे बस्तिही प्रधानतम है । वह प्रारंभमेंही पकाशयमें प्रवेश कर वैकारिक वात-
मूलका नाश करता है । श्लेष्मादि दोषोंके उत्पत्तिस्थानोंकाही वमनादि उपायोंसे
शोधन करनेसे शरीरमें दोषोंके प्रसारका तथा नानाविध व्याधिओंके उत्पत्तिका
संभवही नष्ट हो जाता है । २८ । २९ । ३० ॥

वमन आदि शोधन क्रियाओंके विशिष्ट कर्मोंका निरूपण करनेके बाद
अब दीपनआदि शमन उपायोंके विशेषका स्पर्धीकरण करते हैं:— अत्याहार
अथवा मिथ्याहारके कारण आहार व धातुओंका जब अजीर्ण हो जाता है उस-
समय उपवास करनेसे अथवा अल्प प्रमाणमें आहार करनेसे अपाचित अंशका
पचन होता है । अजीर्णके तारतम्यके अनुसार अल्प आहार अथवा लघुरूक्षादि
पदार्थोंका उपयोग करना चाहिये । अल्पप्रमाणमें आहार करनेके समानही आहारमें
औषधरूप उष्णद्रव्यका सेवनभी पचनकारक होता है । सोंठ, कालीमिरच,
पीपली, हिङ्ग, आदि कई द्रव्य ऐसे हैंकि जो दीपन पाचन हैं और जिनका
प्रयोग औषधके रूपमेंभी किया जाता है तथा रुचिकर आहार्य पदार्थोंके रूपमेंभी ।
जाठराग्नि जब मंद नहीं रहता किंतु अतिमात्रामें आहार करनेके कारण जब अजीर्ण

व्यायामवर्जनमुपादिष्टम् । यथा अष्टांगहृदये - वातपित्तामयां बालो वृद्धोऽजीर्णो च तं त्यजेत् । व्यायामगुणवर्णने च - लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तौऽग्निर्मेदसः क्षयः । इत्यादिना अग्निदीप्तिकत्वा-
माख्यातं तद्भातुगताग्निमभिप्रेत्येति ' त्यजेदजीर्णो, इत्यनेन न विरुद्धम् । धात्वग्निदीप्तिकत्वादेव
व्यायामस्य ' व्यायामात्पमारुतैर्विपाको धातूनामित्यत्रोपादिष्टम् । (३४)

दुष्टो दोषोऽथवा द्रव्यमामाख्यं रोगकारणम् ।

स्थानान्तरे वा सर्वत्र शरीरे संचयं गतम् ॥ ३५ ॥

स्थानान्तराश्रिता दोषभेदा वा सर्वदेहगाः ।

निरस्य धातुशुद्धयर्थं प्रयतन्ते स्वभावतः ॥ ३६ ॥

धातुसंशोधनकारणं दोषस्वभावं दर्शयितुमुच्यते । दुष्ट इत्यादि । रोगकारणं द्रव्यं स्थानान्तरे
सर्वत्र शरीरे वा संचितम् स्थानान्तराश्रिता रोगस्थानस्थिताः । दोषभेदाः शारीरक्रियानिवर्त-
कानां वातादीनां प्रभेदाः । सर्वदेहगाः सर्वशरीराश्रिता वा । निरस्येति कारणद्रव्येणान्वयः ।
रोगकारणं द्रव्यं निरस्य बहिरुत्सार्येति । धातुशुद्धयर्थं धातूनां नैर्मल्योत्पादनार्थं प्रयतन्ते ।
स्वभावतः स्वभावसामर्थ्यात् । शरीरधातूनामभिवर्धनवृत्तेषां परिशोधनमपि दोषाणां कर्म स्वभावज-
मिति । (३६ ॥)

होता है उससमय अल्पप्रमाणमें भोजन अथवा उपवास अथवा पाचन औषधोंका
सेवन इन तीनोंका उपयोग हो सकता है । जाठराग्नि तथा धात्वग्निके मंदत्वके
कारण जब अपचन होता है तब दीपन औषधोंका सेवन करनेसे अग्नि प्रदीप्त हो
जाता है । द्रव द्रव्योंका अतिप्रमाणमें सेवन करनेके कारण जब अपचन होता है,
तृष्णाका निरोध करनेसे पचन हो सकता है । व्याधि, रोगी, देश व ऋतुके बला-
नुसार व्यायाम, सूर्यकिरण व शुद्धवायुका सेवन करनेसे रक्तादि धातुओंका योग्य
पचन होता है । व्यायाम आतप-सूर्यकिरण-वायु इनका धातुओंका पचन करनेमेंही
उपयोग है । कोष्ठगत अजीर्णमें व्यायामवर्जन बतलाया गया है । अष्टांगहृदयमें
कहा है- “ वातपित्तके रोगी, बाल, वृद्ध व अजीर्णी व्यायाम न करें । ” किंतु
“ व्यायामगुणवर्णनमें कहा है कि व्यायामसे शरीरमें लाघव व कर्मसामर्थ्य प्राप्त
होता है, अग्नि प्रदीप्त होता है और मेदका क्षय होता है ” । इसमें दीप्ताग्नित्वका
जो निर्देश है वह धातुगग अग्निके दीप्तिका निदर्शक है । अतः अजीर्णी व्यायाम न
करें इस वचनसे विरुद्ध नहीं है । इस प्रकार व्यायाम धात्वग्निको दीप्त करता है
इस अभिप्रायसेही यहांपर कहा गया है कि, व्यायाम-आतप-व वायुसे धातु-
ओंका सम्यक् विपाक होता है । ३१ । ३२ । ३३ । ३४ ॥

विशोधनार्थं दोषाणां कर्म पाकादि यद्भवेत् ।

तत्स्वभावविरुद्धत्वात् दाहशूलदिकारणम् ॥ ३७ ॥

रोगोत्पादकद्रव्यप्रतिकारे दाहादीनां हेतूनां संभवं दर्शयन्नाह । विशोधनार्थमिति दोषोत्सर्जनात् धातुशुद्धयर्थम् । दोषाणां वातादीनां व्याधिप्रतिकारकाणाम् । पाकादि दुष्टद्रव्यस्य पृथक्करणोत्सर्जनादि । स्वभावविरुद्धत्वात् शरीरस्यापरिचितत्वात् । दुष्टद्रव्यस्य पचनोत्सर्जनादिकं कर्म न स्वाभाविकं न च वा नित्यमिति । दाहादिकारणम् दाहशूलशोधानां तदात्मकानां च व्याधीनां नानाविधानां कारणम् । रोगकारणस्य द्रव्यस्य पचनमस्वाभाविकं दाहोत्पादकम् । तस्योत्सर्जनमस्वाभाविकत्वात् शूलोत्पादकम् । संचयश्च शोथकारणमिति व्याधु-
त्पादकस्य द्रव्यस्य प्रतिकारावस्थायां दाहादीनां समुद्भव इति । (३७ ॥)

यद्यद्रुजाकरं देहे क्रियावैषम्यकारणम् ।

बाह्यं वाऽभ्यन्तरं द्रव्यं तत्सर्वं व्याधिकृन्मतम् ॥ ३८ ॥

दोषाः प्रदुष्टा वाताद्या द्रव्यमामं तथा मलाः ।

रोगकर्तृत्वसामान्यात् शब्दाश्चैकार्थवाचिनः ॥ ३९ ॥

यद्यदित्यादि । रुजाकरं पीडाकरम् । क्रियावैषम्यकारणम् पचनोत्सर्जनादि-
क्रियासु वैषम्यजननम् । बाह्यं स्वभावाद्रोगोत्पादकं विषादि । आभ्यन्तरं आहाराद्यविपक्रमाम-

सर्वशरीरगत अथवा भिन्न २ स्थानोंमें आश्रित अन्यान्य दोषोंके भेदोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और सामर्थ्यसेभी सर्व शरीरमें संचित अथवा विशिष्ट स्थानमें संचित रोगोत्पादक द्रव्य शरीरके बाहर उत्सर्जित होता है । शरीर धातुओंके अभिवर्धनके साथ उनका परिशोधनभी शारीरक्रियाप्रवर्तक दोषोंका स्वाभाविक कर्म है । ३५ ॥ ३६ ॥

रोगोत्पादक द्रव्यके प्रतीकारमें दाहादि कष्टदायक लक्षणोंका संभव होता है । दुष्ट दोषोंका उत्सर्जन व धातुओंकी शुद्धिके लिये व्याधिप्रतिकारक वातादि दोषोंका—दुष्ट द्रव्यका—धातुओंसे पृथक्करण, उत्सर्जन आदि जो कर्म होता है वह शरीरके नित्य परिचित याने स्वाभाविक कर्मके विरुद्ध अर्थात् नैमित्तिक व अस्वाभाविक होनेके कारण उससे अस्वाभाविक दाह, शूल व शोथ अथवा तज्जन्य व्याधि उत्पन्न होते हैं । रोगोत्पादक द्रव्यका अस्वाभाविक पचन दाह उत्पन्न करता है, उसका अस्वाभाविक उत्सर्जन शूल व अस्वाभाविक संचय शोथ उत्पन्न करता है । अर्थात् व्याधुत्पादक द्रव्यके प्रतिकारकी अवस्थामेंभी दाहदिका उद्भव होता है । ३७ ॥

संज्ञम् । तत्सर्वं व्याधिकृदिति । प्रदुष्टा विकृताः । वाताद्या वातपित्तश्लेष्माणः । द्रव्यमामं आमसंज्ञं द्रव्यम् मलाश्चेति । रोगकर्तृत्वसामान्यात् सर्वेषामेव रोगोत्पादकत्वात् । शब्दाः दुष्टदोषः आमः मलश्चेति शब्दाः । एकार्थवाचिनः समानार्थः । व्याधिविज्ञाने प्रयुक्तानां दुष्टदोषमलामशब्दानां रोगोत्पादकत्वाभिप्रायेण समानार्थकत्वमिति । (३९)

स्वाभाविकं शरीरस्य कर्म व्याधिविनाशनम् ।

उपायास्तत्सहायाश्च त्रिविधं स्याच्चिकित्सितम् ॥ ४० ॥

स्वाभाविकमिति शरीरस्य स्वभावसामर्थ्यजम् । शरीरवृत्तिकरा वातपित्तश्लेष्माण एव विकारप्रशमकारिणः । प्रभावान्वितायौषधादीनि क्षीणे स्वाभाविके शरीरसामर्थ्ये दोषाण्ये कार्यकराणि न भवन्तीति । तत्सहायाः स्वाभाविकस्य कर्मणः सहायाः । सर्वेऽपि चिकित्साभेदाः शरीरस्वभावस्य व्याधिविनाशकस्य सहायका इति । (४०)

शूलो दाहः शोथ इति त्रिविधं व्याधिलक्षणम् ।

शूलाद्युत्पादकं तस्मात्त्रिविधं व्याधिकारणम् ॥ ४१ ॥

वातादयश्च विकृतास्तस्मात् व्याधिचिकित्सितम् ।

वातादीनां प्रशमनं त्रिविधं स्यात्समासतः ॥ ४२ ॥

नानाविधानामपि व्याधीनां लक्षणकारणवत् चिकित्साया अपि त्रैविध्यं दर्शयन्नाह । शूल इत्यादि । शूलादिकं त्रिविधं व्याधिलक्षणम् । तत्कारणं च विकृता वातादयश्चयः । तस्मा-

शरीरमें जो २ कुछ रुजा याने पीडा करनेवाला अथवा पचन-उत्सर्जनादि स्वाभाविक क्रियाओंमें विषमता उत्पन्न करनेवाला बाह्य अथवा आभ्यन्तर द्रव्य हो वह सब व्याधिकारक ही समझना चाहिये । (बाह्य द्रव्यसे अभिप्राय है अपने स्वभावसेही रोगोत्पादन करनेवाले विषादि परार्थोंका और आभ्यन्तर द्रव्यसे अभिप्राय है अपाचित आहारादि याने आम द्रव्यका) व्याधिविज्ञानमें विकृत वातपित्तादि दोष, आम नामका द्रव्य और मल ये सर्व रोग उत्पन्न करते हैं इसलिये उनको समान अर्थकेही वाचक समझना चाहिये । याने व्याधिविज्ञानमें रोग उत्पन्न करनेके संबंधमें दुष्ट दोष, आम अथवा मल इन शब्दोंका उपयोग किया जाता है वहां उनका एकही अर्थ रहता है और वह है रोगोत्पादक द्रव्य । ३८॥३९॥

शरीरका स्वाभाविक कर्म व्याधिविनाश है याने शरीरके स्वाभाविक सामर्थ्यसे व्याधिविनाश होता है । शरीरके स्वाभाविक प्रवृत्तिओंके प्रेरक जो वातपित्तश्लेष्मा वेही अपने बलसे विकारोंका उपशम कर सकते हैं । किंतु शरीरका स्वाभाविक

वातादीनां प्रशमनं चिकित्सितमपि समासतन्निविधमिति । नानाविधानां चिकित्साप्रकाराणां वातादिदोषोपशमनत्वात् त्रिविधान्तर्भावः । (४२ ॥)

शोधनाख्यं समाख्यातं पंचधा वमनादिकम् ।

समाख्यातं दीपनादि सप्तधा विचिकित्सितम् ॥ ४३ ॥

बृंहणं लंघनं चेत्याख्यातं द्वेधा चिकित्सितम् ।

शोधनं शमनं चात्र भिद्यते लंघनं द्विधा ॥ ४४ ॥

चिकित्सितं बृंहणाख्यं क्षीणदेहस्य वर्धनम् ।

धातुवृद्धिकरत्वेऽपि न तत् व्याधिविनाशनम् ॥ ४५ ॥

वियोजकत्वसामान्यादेकमेव विरेचनम् ।

वस्तिर्विरेको वमनं वातादीनां विरेचनम् ॥ ४६ ॥

पित्तं रक्तगतं दुष्टं सिरामोक्षो विरेचयेत् ।

विरेचयेन्नाचनं च श्लेष्माणं मूर्ध्नि संचितम् ॥ ४७ ॥

समाख्यातं सप्तविधं क्षुत्तृणानिग्रहादिकम् ।

सामान्यात् शमनस्यैतदेकं शमनसंज्ञकम् ॥ ४८ ॥

कर्मसामर्थ्यं यदि क्षीण हो जाय तो प्रभावी औषधियांभी परिणाम नहीं कर सकती । इसलिये शरीरके इस स्वाभाविक कर्मसामर्थ्यको सहाय्यभूतही सब चिकित्साके प्रकार हो सकते हैं । ४० ॥

नानाविध व्याधिओंके लक्षणभेदानुसार जैसे तीन मुख्य भेद होते हैं उसी प्रकार चिकित्सामेंभी मुख्य प्रकार तीन हैं । शूल, दाह व शोथ ये तीनही व्याधिओंके प्रधान लक्षण हैं । शूलादिके उत्पादक, विकृत वात, पित्त व कफ ये तीनही व्याधिके कारण मुख्य हैं । इसलिये इनकी चिकित्साभी संक्षेपमें तीनही प्रकारकी हो सकती है । अनेकविध चिकित्साप्रकारोंका वातशामक, पित्त-शामक व कफशामक इन तीन प्रकारोंमेंहि समावेश हो जाता है । ४१॥ ४२॥

शोधनचिकित्साके वमनविरेचनादि पूर्वोक्त पांच भेद हैं । शमनचिकित्साके दीपनपाचनादि पूर्वोक्त सात भेद हैं । किंतु संपूर्ण चिकित्साके बृंहण व लंघन ये दोही भेद बतलाये हैं । और शोधन व शमन ये लंघनचिकित्साके दो प्रकार हैं । बृंहणचिकित्साका उपयोग क्षीण शरीरका संवर्धन करनेके लिये किया जाता है । वह धातुवृद्धिकर होती हुईभी उससे व्याधिविनाश नहीं हो सकता । याने दुष्ट

चिकित्साभेदानां प्रमुखाणां द्वैविध्यदर्शनार्थमुच्यते । शोधनाख्यमित्यादि । शोधनाख्यं पंचधा वमनादिकम् । प्राग्भिहितम् । दीपनादि सप्तधा शमनाख्यं च । पृष्ठणं लंघनं चेति लंघनं द्वेधा द्विप्रकारम् बृंहणाख्यं क्षीणदेहस्य क्षीणधातुत्वात् क्षीणशरीरस्य वर्धनम् अभिवृद्धिकरम् । न व्याधिविनाशनम् दुष्टदोषापहरणत्वेन नोपयोजनीयमिति । वियोजकत्वसामान्यात् पंचविधस्य वमनादेः शोधनस्य दोषविनिर्हरणरूपस्य कर्मणः सामान्यात् । एकं विरेचनमेव सर्वं शोधनमिति । यथा वस्तिर्विरंको वमनमिति त्रीणि वातादीनां विनिर्हराणि । सिरामोक्षः पित्तं रक्तगतं विरेचयेत् विनिर्हरेत् । नावनं नस्यं श्लेष्माणं मूत्रं संचितं विरेचयेत् । एवं पंचविधं शोधनं भिन्नाभिधेयमपि दोषविरेचनसामान्यात् विरेचनम् । क्षुत्तृष्णानिग्रहादिकम् सत्पविधं शमनम् । शमनस्य दोषप्रशमनरूपस्य कर्मणः सामान्यात् सदशवात् शमनसंज्ञम् । (४८ ॥)

रूक्षस्य वायोः शमनं तैलं स्नेहगुणोत्कटम् ।

तथा तीक्ष्णस्य पित्तस्य घृतं मंदगुणोत्कटम् ॥ ४२ ॥

स्निग्धस्य माक्षिकं रूक्षं श्लेष्मणः शमनं मतम् ।

तैलादीनि क्रमाद्वातादीनां संशमनं परम् ॥ ४० ॥

दोषोंका निर्हरण करनेके लिये उसका उपयोग नहीं किया जा सकता । शोधनके यद्यपि वमनादि प्रांच प्रकार बतलाये गये हैं उन सबमें वियोजनका याने दोष-निर्हरणका कर्म सामान्य होनेके कारण वास्तवमें विरेचनही शोधनचिकित्सा है । श्लेष्माको मुखमार्गसे विरोचित करनेको वमन कहते हैं और वायुको गुदमार्गसे विरोचित करनेको वस्ति कहते हैं । सिराव्यवकेद्वारा रक्तगतपित्तका विरेचन किया जाता है तो शीर्षमें संचित श्लेष्माको शिरोरेक याने नस्यसे विरोचित किया जाता है । इसप्रकार शोधनके पांच प्रकारोंको यद्यपि भिन्न २ नाम दिये गये हैं वास्तवमें उन सबमें वातादिदोषोंके विरेचन क्रियाका सामान्य होनेके कारण वे सब विरेचनसंज्ञार्हही हैं । क्षुधा व तृष्णाका निग्रह आदि शमनके सात प्रकार बतलाये गये हैं । वे सभी दोषोंका उपशम करनेका एकही कार्य करते हैं इस लिये उनको शमन यह सामान्य संज्ञा उचित है । ४३ । ४४ । ४५ । ४६ । ४७ । ४८ ॥

वातादि वृद्ध दोषोंका शमन करनेके लिये अनुकूलसे तेल तूप व मधु इन पदार्थोंको प्रधानतम माना गया है । जैसे:—रूक्ष वायुका शमन स्नेहगुणोत्कट

वातादीनां प्रवृद्धानां च प्रशमनं तैलादिकं प्रधानमाख्यातम् । रूक्षस्य वायोस्तद्रूप-
विरुद्धं तैलं संशमनम् । तथा तीक्ष्णस्य पित्तस्य मंदगुणोत्कटं घृतं, श्लेष्मणः स्निग्धस्य विरुद्धं रूक्षं
माक्षिकं मधु एवमेतद्वातादीनां परं श्रेष्ठं संशमनम् । वातादीनां प्रशमनत्वेन तैलादीनां
श्रेष्ठत्वमुक्तं वाग्भटाचार्येण यथा — वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण ।
एतन् ब्रह्मा भाषते ब्रह्मजो वा का निर्मत्रे वक्त्रुभेदोक्तिशक्तिः । इति (५० ॥)

स्थानान्तरेषु दोषाणां स्निग्धरूक्षादयो गुणाः ।

भिन्नप्रमाणाः शमनं तेषां नानाविधं भवेत् ॥ ५१ ॥

नानाविधत्वे व्याधीनां वाताद्यां हेतवस्त्रयः ।

संशोधनात् संशमनाद्विविधोपक्रमा अपि ॥ ५२ ॥

वातादीनामुपशमास्त्रिविधा व्याधिनाशनाः ।

अतोऽनुबंधो दोषाणां चितनीयश्चिकित्सिते ॥ ५३ ॥

स्थानान्तरेष्विति द्रव्याकृतिकर्मभेदाद्विज्ञेयवयवेषु । गुणाः दोषगुणाः । भिन्न-
प्रमाणाः क्वचिद्रूक्षस्याधिक्यं क्वचिस्निग्धस्य शीतादेश्च क्वचिदित्यादि । ततश्च तेषां स्थाना-
न्तरगतानां कुपितानां च दोषाणाम् । शमनं नानाविधं गुणभेदानुसारं बहुविधम् । अपि तु

तेलसे होता है । तीक्ष्ण पित्तका शमन मंदगुणोत्कट घृतसे होता है । तथा स्निग्ध
श्लेष्माका शमन रूक्षगुणक्त मधुसे होता है । तैल, घृत व मधु अनुक्रमसे वात, पित्त
व कफका शमन करते हैं इस लिये उनका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करता हुआ वाग्भटा-
चार्यने कहा है “ वात, पित्त व कफका शमन करनेमें अनुक्रमसे तैल, घृत व
मधु पथ्यकर है, यह सिद्धांत ब्रम्होने कहा हो अथवा उसके पुत्रने कहा हो
सत्यही है । ४९ । ५० ॥

भिन्न २ अवयवोंमें— जिनका घटकद्रव्य, आकृति व कर्म भिन्न २ प्रकारका
हैं—दोषोंके स्निग्धरूक्षादि गुण भिन्न २ प्रमाणमें रहते हैं । याने कहीं रूक्षगुणका
आधिक्य तो कहीं स्निग्ध व शीतादि गुणोंका आधिक्य रहता है । इस लिये उनमें
स्थित कुपित दोषोंका शमनभी उनके गुणभेदानुसार नानाविधही
होता है । यद्यपि स्थान व लक्षणोंके भेदोंके अनुसार व्याधि नानाविध होते हैं
उनके हेतु वातादि तीन दोषही हैं । दोषोंके शोधन वा शमनके भी यद्यपि वमन-
विरेंचनादि तथा दीपनपाचनादि अनेक प्रकार बतलाये गये हैं । वातादि तीन
दोषोंके तीन प्रकारके उपशमही ऐसे हैं कि जो सब व्याधिओंका नाश करते

नानाविधत्वे स्थानसंस्थानभेदाद्भिन्नत्वे । व्याधीनां वाताद्या दोषास्त्रयो हेतवः । एवमेव-
शोधनात् शमनाद्वा दोषाणां विविधोपक्रमा अपि वमनविरेचनदीपनपाचनादिभेदानु-
सारं नानाविधा उपक्रमा अपि वातादीनां व्याधिहेतुरूपाणां दोषाणां त्रयाणां उपशमात्
विनाशात् व्याधिनाशना भवन्ति । अत एतस्माद्धेतोः । अनुबधः संबंधो दोषाणां चितनीयो
व्याधिचिकित्सते । व्याध्युत्पत्तिकराणां दोषाणां प्रशमनं प्रधानं चिकित्सालक्षणमिति व्याधिचिकि-
त्सायां दोषानुबंधश्चितनीय इति (५१-५३ ॥)

चिकित्सायां वाताद्यनुबंधदर्शनं नाम नवमं दर्शनम् ।

॥ इति नवमं दर्शनम् ॥



हैं । इस लिये चिकित्सामें भी वातादि दोषोंके संबंधका विचार अवश्य है । सारांश,
व्याध्युत्पत्तिकर दोषोंका प्रशमनही चिकित्साका प्रधान लक्षण है, इसलिये चिकि-
त्सामें दोषानुबंधका विचार अवश्य करना चाहिये । ५१ । ५२ । ५३ ॥

चिकित्सामें वातादिदोषानुबंधदर्शन नामक नवम दर्शन समाप्त ।



॥ दशमं दर्शनम् ॥

चिकित्साविशेषे वाताद्यनुबन्धदर्शनम् ।

अपि स्वधातुवैषम्यनिमित्ता व्याधयोऽखिलाः ।

सामान्यहेतुः सर्वेषां दुष्टा वातादयस्त्रयः ॥ १ ॥

दोषभेदानुसारेण व्याधिभेदाः प्रकीर्तिताः ।

व्याधीनां प्रशमोपायास्ततो नानाविधा अपि ॥ २ ॥

दोषत्रयानुसारेण वर्णिताः स्मुर्यथायथम् ।

विविधानां व्याधीनां हेतुत्वेनाऽख्यातेऽपि स्थानविशेषवैगुण्यं सामान्यकारणरूपाणां दोषाणां संबंधं चिकित्सायां दर्शयितुमुच्यते । स्वधातुवैषम्यनिमित्ता इति । स्वमिति स्थानान्तरं धातवश्च रसरक्ताद्या दूष्यास्तेषां वैषम्यं निमित्तं येषामेवंविधाः । दूष्यस्थानविशेषात् व्याधिविशेषसंभव- इति प्राग्दर्शितमेव । “ तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा । विकारजातं विविधं त्रीन् दोषान् (नातिवर्तते) इत्यष्टांगहृदये । तथा — स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसंघा वहवः शरीरे । न ते पृथक्पितृकफानिलेभ्यः । इति च चरकसंहितायां व्याधीनां स्वधातुवैषम्यनिमित्तत्वमाख्यातम् ।

दशम दर्शन

[चिकित्साविशेषमें वाताद्यनुबन्धदर्शन]

यद्यपि विशिष्ट स्थानोंके वैगुण्यके कारणही अनेकविध व्याधिओंकी उत्पत्ति बतलायी गयी है, तथापि रोगोंके सामान्यकारणरूप जो दोष उनका चिकित्सामें संबंध किसप्रकार होता है, इसका अब वर्णन करते हैं । यद्यपि बतलाया गया है कि, सभी रोग स्वधातुवैषम्यनिमित्त होते हैं याने अपने २ स्थान एवं रसरक्तादि धातुरूप जो दूष्य उनके वैषम्य याने विकृतिके कारणही उत्पन्न होते हैं, उन सब (रोगों) का सामान्य कारण दूषित वात, पित्त व कफही होते हैं । पहिले यह भी बतलाया जाचुका है कि, विशिष्ट दूष्य व विशिष्ट स्थानके अनुसारही विशिष्ट व्याधि उत्पन्न होता है । अष्टांगहृदयमेंभी कहा है कि “ जितनाभी विकार (रोग) है वह सब स्वधातुवैषम्यके निमित्त होता हुआ भी वह तीन दोषोंको छोड़कर नहीं होता । ” चरकसंहितामेंभी कहा है “ स्वधातु-वैषम्यनिमित्तसे उत्पन्न होनेवाले जो अनेक विकारसंघ हैं वे कफ पित्त व वायुको छोड़कर नहीं हो सकते । ” अर्थात् वातादि दोष सर्वव्यापी होनेके कारण

सामान्यहेतुरिति सर्वरोगव्यापित्वेनावस्थायमानः । व्याधिभेदाः व्याधीनां ज्वरकुष्ठादीना-
मवस्थाविशेषाः । प्रशमोपायाश्चिकित्साप्रकाराः । नानाविधाः प्रतिविकारं विभिन्नाः ।
दोषत्रयानुसारणोपवर्णिताः । व्याधिविशेषाणां विशिष्टचिकित्सायामपि दोषत्रयानुबंधो वर्णित
इति । (१ - २ ॥)

दुष्टानामपि दोषाणां संगः स्थानान्तरे यदा ॥ ३ ॥

धात्वन्तरेषु च व्याधिरभिव्यक्तो भवेत्तदा ।

संगोऽवरोधः संचारविरोध इति । स्थानान्तरे कोष्ठायन्यतरस्थानेषु । धात्वन्तरेषु
रसायन्यतमे धातो । अभिव्यक्तः स्पष्टलक्षणो ज्वरगुल्मादिः । (३ ॥)

स्थानदुष्टिर्विकाराणां प्रधानो हेतुरुच्यते ॥ ४ ॥

स्थानवैगुण्योपशमाद्विकारोपशमो भवेत् ।

चिकित्सितं विकाराणां ज्वरादीनां प्रकीर्तितम् ॥ ५ ॥

सर्वं यथायथं व्याधिस्थानवैगुण्यनाशनम् ।

स्थानदुष्टिरिति स्थानवैगुण्यम् । स्थानवैगुण्योपशमात् स्थानान्तरीयविकृते-
रुपशमात् । विकारोपशमः व्याधिनाशः । चिकित्सितं धातुसाम्योपायाः । उक्तं
चरकसंहितायाम् — चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते । प्रवृत्तिधातुसाम्यार्था चिकित्सेऽप्य-

उनके बिना कोईभी रोग उत्पन्न नहीं हो सकता । यहभी बतलाया जा चुका है
कि, दोषोंके भेदके अनुसारही व्याधिओंकेभी भेद होते हैं । यानें व्याधियोंकेभी
वातजव्याधी, पित्तजव्याधी और कफजव्याधी ऐसे भेद होते हैं । उसी प्रकार
अन्यदोषानुबंधके कारण मूल व्याधिलक्षणमें तारतम्यरूप भेद उत्पन्न हो सकता
है । जैसे — ज्वर कुष्ठ आदि रोगोंकी विशिष्ट अवस्थायें दोषांतरानुबंधके कारण
उत्पन्न होती हैं । जिस प्रकार व्याधि नानाविध होते हैं वैसेभी यद्यपि उसके
प्रशमनकेभी अनेक प्रकार बतलाये गये हैं, उनका वर्णनभी तीन दोषोंके अनुसारही
किया गया है । सारांश, विशिष्ट रोगोंके विशिष्ट चिकित्सामेंभी दोषोंका संबंध
रहताही है । १ । २ ॥

दोष दुष्ट होनेपरभी उनका किसी विशिष्ट स्थानमें संग याने अवरोध होगा
तभी रसरक्तादि विशिष्ट धातुमें ज्वर, गुल्म आदि विकार प्रकट रूप धारण
करते हैं । ३ ॥

सब विकारोंका प्रधान हेतु बतलाया गया है स्थानदुष्टि याने विशिष्ट
स्थानका वैगुण्य । अर्थात् इस स्थानवैगुण्यका उपशम करनेसे याने विशिष्ट

मिथीयते । व्याधिस्थानवैगुण्यनाशनम् व्याधिरथानवैगुण्यस्य स्थानान्तरीयविकृतिविशेषस्य
वैगुण्यं नाशयेद्वैविध्यम् । व्याधिविशेषाणां चिकित्सितं नाम व्याधिरथानवैगुण्यविनाशोपाया
इति । (४ - ५ ॥)

हेतुव्याधिविपर्यस्तभेदात् द्वेधा चिकित्सितम् ॥ ६ ॥

दुष्टाश्चोपेक्षिता वातादयः शुर्व्याधिकारकाः ।

तेषां विकारहेतूनां प्रशमो येन जायते ॥ ७ ॥

चिकित्सितं च तद्वेतुविपरीतं प्रचक्षते ।

व्याधयः प्रशमं यान्ति स्थानान्तरसमाश्रयाः ॥ ८ ॥

यस्माच्चिकित्सितं व्याधिविपरीतं तदुच्यते ।

हेतुव्याधिविपर्यस्तभेदादिति हेतुविपर्यस्तं व्याधिविपर्यस्तं च । द्वेधा
द्विप्रकारम् । चिकित्सितम् । दुष्टा विकृतिभाषणाः । उपेक्षिताः आचिकित्सिताः । विकार-
हेतूनां तेषामिति दोषाणां वातपित्तश्लेष्मणाम् । मिथ्याहारविहारादिरूपो हेतुर्विप्रकृष्टः । तेन दुष्टा
वाताद्या विकाराद्युत्पादयन्तीति दोषा एव व्याधिहेतवः सन्निकृष्टा आख्याताः । यथोक्तं माधवा-
चार्येण—सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः । तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ।
इति । हेतुविपरीतं व्याधिहेतूनां दोषाणां विपरीतम् । यस्मात् व्याधयः प्रशमं यान्ति तत्

स्थानके विशिष्ट विकृतिका उपशम करनेसे रोगकाभी उपशम हो जाता है । ज्वरादि
सब विकारोंकी जो चिकित्सा याने धातुसाम्यके निर्माणके उपाय बतलाये गये हैं
वे व्याधिके विशिष्ट स्थानके विशिष्ट विकृतिका नाश करनेवालेही हैं । चरकनेभी
चिकित्साका अर्थ 'धातुसाम्यका निर्माण' ऐसाही किया है । चरक कहता है
“धातुओंकी विकृति होनेपर धातुसाम्यार्थ जो प्रवृत्ति है उसीको चिकित्सा
कहते हैं ।” सारांश, विशिष्ट व्याधिके चिकित्साका अर्थ यही है कि, व्याधि-
स्थानके वैगुण्यको नष्ट करना । ४ । ५ ॥

चिकित्साके दो प्रकार बतलाये गये हैं—१ हेतुविपरीत और २ व्याधि-
विपरीत । वातादि दोष दुष्ट होनेपर उनको उपेक्षा करनेसे याने चिकित्सा न
करनेसे वे व्याधिको उत्पन्न करते हैं । व्याधिके कारणभूत उन वातादि दोषोंका
जिन उपायोंसे शमन होता है उस चिकित्साको हेतुविपरीत चिकित्सा कहते हैं ।
हेतुकेभी दो प्रकार बतलाये गये हैं । एक विप्रकृष्ट और दूसरा संनिकृष्ट । मिथ्या
आहारविहारादि—जिनके कारण वातादि दोष दुष्ट होते हैं—को विप्रकृष्ट हेतु
कहते हैं । और आहारविहारादिके कारण वातादि दोष दुष्ट होकर व्याधिको

व्याधिविपरीतमिति । हेतुरूपाणां दोषाणामुपशमेन स्थानविशेषाश्रयिणां व्याधिविशेषाणां नोपशम इति व्याधिविपरीतोपक्रमस्तत्रकृद्भिरभिहितः । यथोक्तमष्टांगहृदये—अनुबन्धे तु सति हेतुविपर्ययम् । त्यक्त्वा यथायथं वैद्यो युज्याद्व्याधिविपर्ययम् । पित्तजनितस्यापि ज्वरस्योपशमनं मुस्तापर्पटकादिकं प्रयुज्यते व्याधिविपरीतार्थमभिप्रेत्येति । (६-८॥)

सामान्यं कर्म दोषाणां पचनोत्सर्जनादिकम् ॥ ९ ॥

भिन्नरूपं स्थानभेदाज्जायते श्वसनादिकम् ।

दाहादयश्च दोषाणां विकाराः सर्वदेहगाः ॥ १० ॥

स्थानान्तरगतास्तेहि व्याधयः स्युर्ज्वरादयः ।

औषधैः प्रशमं यान्ति दाहाद्याः सर्वदेहगाः ॥ ११ ॥

दोषप्रशमनैर्हेतुविरुद्धः स्यादुपक्रमः ।

यैरौषधैः शमं यान्ति स्थानान्तरगता गदाः ॥ १२ ॥

व्याधिप्रशमनैर्व्याधिविरुद्धः स्यादुपक्रमः ।

उत्पन्न करते हैं । इसलिये उन (वातादि दोषों) को संनिवृष्ट हेतु माना गया है । माधवाचार्यने कहा है “ सत्र रोगोंका कारण कुपित मल (दुष्ट दोष) ही हैं । और उनकेभी प्रकोपका कारण नानाप्रकारका अहितसेवन । ” हेतुविपरीत चिकित्सासे विकारहेतु जो दोष उनके विरुद्ध चिकित्सा अभिप्रेत है । भिन्न २ स्थानोंमें समाश्रित विशिष्ट रोगोंका जिसके कारण शमन होता है उस चिकित्साको व्याधिविपरीत चिकित्सा कहते हैं । कारण यह न समझना चाहिये कि, रोगोंके हेतुरूप दोषोंका उपशम होनेसे विशिष्ट स्थानाश्रित विशिष्ट व्याधिकाभी उपशम हो सकेगा । इसलिये उस विशिष्ट स्थानवैगुण्यके उपशमके उपाय शास्त्रकारोंने बतलाये हैं जिनको व्याधिविपरीत चिकित्सा कहा गया है । व्याधिमें अनुबन्ध होनेपर (व्याधिस्वरूप व्यक्त व स्थिर होनेपर) हेतुविपरीत चिकित्साका प्रयोग छोड़कर विशिष्ट व्याधिविपरीत चिकित्साका प्रयोग करना चाहिये । पित्तदोषजनित ज्वरका उपशम करनेके लिये मुस्ता, पर्पट आदि औषधीओंका प्रयोग व्याधिविपरीत चिकित्साके अभिप्रायसेही बतलाया है । ६-८ ॥

दोषोंका सामान्य याने सार्वदेहिक कर्म उत्सर्गपचनादिक है याने मल-मूत्रादिका उत्सर्ग वायुका कर्म है, आहारका पचन आदि पित्तका कार्य है और श्लेष्माका कार्य है धातुओंका पोषण । इस्यादि पहिलेही कहा है । किंतु दोषोंके

सामान्यमिति सर्वदेहगतम् पचनोत्सर्जनादिकम् पचनमाहारादिकस्य पित्त-
कर्म, उत्सर्गो मलमूत्रश्वासादीनां वायोः कर्म पोषणं च धातूनां श्लेष्मणः कर्म, । भिन्नरूपमिति
विशेषरूपम् । स्थानभेदात् पक्वाशयकटीसक्थि, इत्यादिनाऽख्यातस्थानविशेषानुसारम् ।
श्वासनादिकम् श्वसनाहारपचनादिकम् । दाहादयः दाहः पित्तस्य शूलः शोषश्च वायोः
श्लेष्मणः शोथ इति । सर्वदेहगाः सामान्येन सर्वशरीरव्यापिनः । स्थानान्तरगतास्ते ज्वरादयः
ज्वरकुष्ठादिनामधेयाः । औषधैर्वातादिदोषाणां शूलदाहादीनां च सर्वशरीरगतानां प्रशमनैः
स्निग्धशीतादिगुणयुक्तैः । व्यायामोपवासादिभिश्चान्यैरुपक्रमविशेषैरपीत्युपलक्षणादधिगन्तव्यम् ।
हेतुविरुद्धः हेतूनां वातादिदोषाणां विरुद्धत्वात्तत्संज्ञः । उपक्रमश्चिकित्सितमिति । स्थाना-
न्तरगताः स्थानविशेषेषूद्भूताः । व्याधिप्रशमनैरिति ज्वरातिसारादिव्याधिविनाशकैः
प्रमातृ । व्याधिविरुद्धः विशिष्टव्याधिनाशकत्वादितत्संज्ञः । (९-१२)

दोषप्रकोपेऽपि यदा व्याधीनामसमुद्भवः ॥ १३ ॥

उपक्रमस्तदा हेतुविरुद्धो दोषनाशनः ।

दोषप्रकोपात् व्याधीनां समुत्पत्तिर्यदा भवेत् ॥ १४ ॥

चिकित्सा स्थानवैगुण्योपशमात् व्याधिनाशिनी ।

येही उत्सर्गादि कर्म स्थानभेदसे याने पक्वाशय, कटी, सक्थी आदि
विशिष्ट स्थानोंमें भिन्न रूप याने विशिष्ट रूप धारण करता है । उसी प्रकार
वातादि दोषोंके यथानुक्रम शूल, दाह व शोथ ये विकारभी सार्वदेहिक हैं । किंतु
विशिष्ट स्थानोंमें वेही ज्वर, कुष्ठ आदि व्याधि होते हैं । वातादि दोषोंका तथा
उनके शूलादि विकारोंका प्रशम जिन औषधोंसे होता है वेभी स्निग्धशीतादि-
गुणयुक्त व सार्वदेहिक परिणाम करनेवाले होते हैं । तथा व्यायाम, उपवास आदि
विशिष्ट उपक्रमोंसेभी उनका प्रशमन होता है । अर्थात् इस दोषप्रशमन उपक्रम
अथवा चिकित्साको हेतुविपरित चिकित्सा कहते हैं । किंतु विशिष्ट स्थानोंमें
उद्भूत व्याधिओंका जिन विशिष्ट व्याधिनाशक औषधिओंके द्वारा प्रशमन होता
है उसको व्याधिविपरीत चिकित्सा कहते हैं । याने ज्वर, अतिसार इत्यादि व्याधि-
विनाशक चिकित्साको व्याधिविपरीत चिकित्सा कहते हैं । ९ । १० । ११ । १२ ॥

उक्तार्थकोही अब अधिक विशद करते हैं । दोषप्रकोप होनेपरभी जब
व्याधिका उद्भव नहीं होता याने विशिष्ट स्थानमें विशिष्ट विकृति नहीं उत्पन्न
होती अतएव व्याधि अपना कोई रूप प्रकट नहीं करता ऐसी अवस्थामें हेतु-
विपरीत याने दोषनाशन चिकित्सा करना उचित है । किंतु दोषप्रकोपका

उक्तार्थं विशदीकरोति दोषप्रकोपेऽपीत्यादिना । - व्याधीनां स्थानान्तरगत-
विकृतिविशेषरूपाणाम् । असमुद्भवः अनामिव्याक्तिः । स्थानवैगुण्योपशमात् स्थानान्तरगत-
दृष्टिविनाशात् । (१३ - १४ ॥)

दोषाणां स्थानवैगुण्येऽनुबंधश्च भवेदतः ॥ १५ ॥

उपक्रमेऽपि रोगाणां तद्विशेषावबुद्धये ।

दोषाणां व्याधिहेतूनां चितनीयं बलाबलम् ॥ १६ ॥

व्याधिचिकित्सायां दोषान्तरस्यानुबंधश्चितनीय इत्याह । स्थानवैगुण्ये व्याधि-
विशेषोत्पादके । अनुबंधः संबंधो हेतुरूपेण । अत उपक्रमेऽपि दोषाणां बलाबलं चितनीयमिति ।
स्थानवैगुण्यप्रशमनेऽपि वैगुण्यहेतूनां दोषाणां बलाबलं चिन्तनीयम् । (१५ - १६)

ज्वरे भवेद्यदा पित्तप्राधान्यात्तीक्ष्णताऽधिका ।

तदा ज्वरहरं मंदगुणोपेतं भिषग्जितम् ॥ १७ ॥

कफानुबंधाल्लिङ्गानि शैत्यादीनि ज्वरे यदा ।

भिषग्जितं ज्वरहरं तीक्ष्णोष्णगुणसंयुतम् ॥ १८ ॥

परिणाम व्याधिके प्रकट व विशिष्ट रूपमें ज्वर होता है ऐसी अवस्थामें स्थान-
वैगुण्यकाही उपशम करनेकी अवश्यकता होनेके कारण व्याधिविपरीत चिकित्सा
उपयुक्त होती है । १३ । १४ ॥

व्याधिविपरीत चिकित्सामें दोषानुबंधकाभी विचार करना अवश्यक है ।
व्याधिविशेषोत्पादक स्थानवैगुण्यमें अन्य दोषोंकाभी अनुबंध रहनेका संभव होता
है । इसलिये इस व्याधिविपरीत चिकित्सामेंभी व्याधिहेतुभूत दोषोंके बलाबलका
तारतम्यविशेष जाननेके लिये विचार करना चाहिये । १५ ॥ १६ ॥

उक्त सिद्धांतके विशदीकरणके लिये कुछ उदाहरण देते हैं । पित्तप्राधा-
न्यके कारण ज्वरमें जब तीक्ष्णता अधिक होती है याने ज्वरवेग तीव्र होता है,
तीक्ष्णगुणके विरुद्ध मंदगुणके पित्तशमन औषधोंका प्रयोग करना चाहिये । सुश्रुत-
संहितामें कहा है “ श्रीपणी, चंदन, उशीर, फालसा, मधुयष्टी इनका शर्करायुक्त
कषाय पैत्तिक ज्वरका नाशक होता है । अथवा सारिवादि कषाय शर्कराके साथ
सेवन करनेसे पित्तज्वरका नाशक होता है । ” इत्यादि मंदगुणकेही औषध सुश्रुतने
बतलाये हैं । तीक्ष्णगुणके अतिवृद्धिके कारण उत्पन्न होनेवाले दाह व पाकसे
जो विश्लेषण उत्पन्न होता है उसका मंदगुणसे उपशम होता है । सुश्रुतने कहा

कासे वातस्यानुबंधाद्रक्षता शुष्कता यदा ।
 तदा कासहरं स्निग्धगुणयुक्तं भिषग्जितम् ॥ १९ ॥
 कासः पित्तस्यानुबंधाद्दाहपाकयुतो यदा ।
 भिषग्जितं मंदशीतगुणं कासहरं तदा ॥ २० ॥
 कोष्ठे पित्तस्यानुबंधाद्दाहयुक्ते विरेचनम् ।
 मंदशीतगुणं स्वादु कषायं च प्रशस्यते ॥ २१ ॥
 कोष्ठे वातस्यानुबंधद्रूक्षे स्निग्धं विरेचनम् ।
 श्लेष्मणा मन्दकोष्ठस्यौषधं तीक्ष्णं विरेचनम् ॥ २२ ॥
 वातानुबंधः क्षीणानां धातूनां संचयाद्यदा ।
 श्वयथौ भेषजं धातुवर्धनं शोथनाशनम् ॥ २३ ॥
 पित्तानुबंधाद्धातूनां दाहः शोथकरो यदा ।
 शीतं दाहप्रशमनं भैषज्यं श्वयथौ तदा ॥ २४ ॥
 श्लेष्मानुबंधात् श्वयथौ स्निग्धत्वमधिकं यदा ।
 तदा शोथहरं रूक्षगुणयुक्तं भिषग्जितम् ॥ २५ ॥

है कि मंदगुण 'यात्राकर' है । उल्लहणाचार्यने 'यात्राकर' पदकी व्याख्या करतेसमय कहा है कि "शरीरमें स्थिरत्व निर्माण कर शरीरकी (जीवन) यात्राको जो चलाता है उसको 'यात्राकर' कहते हैं । "यात्रा का अर्थ है निर्वाह, वर्तन । "जब ज्वरमें कफानुबंधके कारण शैत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं तीक्ष्ण व उष्ण गुणयुक्त ऐसा ज्वरहर औषध देना चाहिये । सुश्रुतने श्लेष्मज्वरलक्षणोंके वर्णनमें गौरव, शीतता, उल्केद, रोमहर्ष, अतिनिद्रा " इन लक्षणोंका निर्देश किया है । इनके उपशमके लिये तीक्ष्ण व उष्ण गुणयुक्त औषधोंका प्रयोग बतलाये हैं जैसे "हरिद्रा, चित्तक, निंब, उशीर, अतिविष, वचा, कोष्ठ, मूर्वा, पटोल इनका कषाय मरिच व मधुके साथ सेवन करनेसे कफज्वर नष्ट होता है । शीत गुणके वृद्धिके कारण शरीरका जो स्तंभ होता है उसके निवारणके लिये ज्वरविनाशक किंतु उष्ण व तीक्ष्ण औषधोंका उपयोग कफज्वरमें उचित माना गया है । "शीतगुण आल्हादक व स्तंभक है । उष्ण उसके विपरीत है और विशेषतः पाचक है । तीक्ष्णगुण दाहपाककर एवं स्रावण है । " कासमें वातानुबंधके कारण रूक्ष व शुष्कता उत्पन्न होती है । चरकसंहितामें-

उक्तार्थमुदाहरणैर्विशदीकुर्वन्नाह—**ज्वरे तीक्ष्णताऽधिका इति** ज्वरवेगात्तीक्ष्णादनु-
मेया । **मन्दगुणोपेतं** तीक्ष्णविरुद्धं पित्तशमनम् । यथा सुश्रुतसंहितायाम्— श्रीपर्णी चंदनोशीर-
परूषकमधूकजः । शर्करामधुरो हन्ति कषायः पैत्तिकं ज्वरम् । पीतं पित्तज्वरं हन्यात्सारिवाचं
सशर्करम् । इत्यादीनि मन्दगुणयुक्तानि भेषजान्याख्यातानि । तीक्ष्णगुणाऽतिवृद्ध्या दाहपाकसम्भवस्य
विश्लेषणस्योपशमकरः स्यान्मन्दो गुण इति । मन्दो यात्राकरः स्मृतः इत्यस्य सुश्रुतसंहितायामुपवर्णनम् ।
डल्हणाचार्यैश्च “यात्राकर इति शरीरस्थायित्वाद्देहस्य यात्रां वर्तनं करोतीति व्याख्यातम् । कफानुबंधात्
शैत्यादीनि लक्षणानि । गौरवं शीतमुत्प्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता । इत्याद्याख्यातं श्लेष्मज्वरलक्षणे
सुश्रुतेन । **तीक्ष्णोष्णगुणसंयुतमिति** हरिद्रां चित्रकं निंबमुशीरातिविषे वचाम् । कुष्ठमिंद्रयवान्
मूर्वा पटोलं चापि साधितम् । पित्तेन्मरिचसंयुक्तं सक्षौद्रं कफजे ज्वरे । इत्यादीनि कफज्वरचिकि-
त्सायामौषधान्युक्तानि सुश्रुतसंहितायाम् । शीतगुणाभिवर्धनाज्जायमानस्यांगस्तंभस्यापनोदार्थ-
मुष्णतीक्ष्णानां ज्वरविनाशकराणामौषधानामुपयोगः श्लेष्मज्वरे विहितः । ल्हादनः स्तंभनः शीतः ।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात्पाचनश्च विशेषतः । दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावण इत्येतेषां गुणानां स्वरूपमुपवर्णितं
सुश्रुते तत्रैव । कासे वातस्यानुबंधाद्रूक्षता शुष्कता जायते । यदाह वातकासलक्षणे चरकः । शुष्कोरः—
कंठवक्त्रस्य हृष्टलोमः प्रताम्यतः । शुष्ककासः कफं शुष्कं कर्षन्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् । वातकास-
चिकित्सायां च—रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत् । वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तिः ।

मुखकंठ आदिमें शुष्कता रोमांच उरमें शुष्कता इत्यादि वातकासके लक्षण बतलाये
हैं । और उसके चिकित्सामें कहा है “रूक्ष मनुष्यके वातज कासपर प्रथम
स्नेहोपचार करने चाहिये । वातविनाशक सिद्धस्नेहादि औषधीयां, तथा धूम लेह
इत्यादि उपचार लाभदायक होते हैं । कंठकारी, गुडूचीके रसमें सिद्ध घृतभी
वातकासका नाश व अग्निदीपन करता है ।” सारांश यही कि वातकासमें रूक्ष
गुणके विरुद्ध स्निग्ध गुणके उपचार करने चाहिये । किंतु कासमें पित्तानुबंध
हुआतो दाह व पाक उत्पन्न होता है । चरक पित्तकासलक्षणमें कहता है “छाती
मेंसे धुंवासा आने लगता है, और तृष्णा, दाह, मूच्छा, अरुचि व भ्रमभी उत्पन्न
होते हैं ।” इसलिये पित्तानुबंधित कासमें मंद व शीतगुणके उपचार करने
चाहिये । पित्तकासचिकित्सामें चरकने खर्जूर वंशलोचन, गोखरू आदि
औषधोंका घृत व मधुके साथ सेवन करनेके लिये बतलाया है । ये सब
औषध मंद व शीत गुणकेही हैं । पित्तानुबंधके कारण कोष्ठमें जब दाह होता है,
मंद व शीत गुणके स्वादु व कषाय औषधोंका विरेचनही लाभदायक होता
है । अष्टांगहृदयमें कहा है “पित्तमें कषाय व मधुर औषधोंका

कंठकारिण्युद्वाचिभ्यां पृथक् विंशत्पलाद्रसे । प्रस्यः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वहिर्दीपनः । इत्यादि ।
पित्तानुबंधाद्दाहपाकयुत इति । ऊरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः । इति पित्त-
 कासलक्षणे चरकः । भिषग्जितं मन्दशीतगुणम् । पित्तकासचिकित्सिते “खर्जूरं पिप्पली वांशी श्वदंष्ट्रा
 चेति पंच ते । घृतक्षौद्रयुतैर्लेहाः श्लोकाथैः पित्तकासिनाम् । इत्यादि मन्दशीतगुणान्येवामिहितानि
 भेषजानि चरकसंहितायामिति । **विरेचनं** पित्तायुनुबंधे मन्दादिगुणयुक्तं प्रयोजनीयमित्यष्टांगहृदये
 वर्णितं यथा— कषायमधुरैः पित्ते विरेकः कटुकैः कफे । स्निग्धोष्णलवणैर्वायौ । इति ।
 पित्तानुबंधाद्दाहयुते कोष्ठे द्राक्षात्रिफलादिभिः कषायमधुरैर्मन्दशीतैर्विरेचनं शस्तम् । वातानुबंधाद्रूक्षे
 स्निग्धोष्णैरेडतेलादिभिः श्लेष्मदुष्टौ च कटुतीक्ष्णैः स्नुहीक्षीरादिभिरिरेचनं प्रशस्तमिति विरेचकत्व-
 सामान्येऽपि दोषानुबंधश्चितनीयश्चिकित्सायामिति । **श्वयथौ भेषजमिति** वातायुनुबंधानुसारेण
 चिकित्साविशेषधरकसंहितायामुपवर्णितो यथा — उपाचरेत्सेहमवन् विरूक्षणैः प्रकल्पयेत्सेहविधिं च
 रूक्षजे । घृतं तु पित्ताऽनिलजे सतिक्तं कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः । इत्यादि । एवं व्याधिविशेष-
 चिकित्सायामपि दोषानुबंधश्चिकित्साविशेषावबोधार्थमविगन्तव्योऽवश्यमिति । (१७-२५)

न केवलं दोषहरं भैषज्यं व्याधिनाशनम् ।

नोपेक्षणीयो दोषानुबंधो व्याधिचिकित्सिते ॥ २६ ॥

विरेचन देना चाहिये, कफमें कटु और वायुमें स्निग्ध, उष्ण व लवण । ” पित्तानुबंधसे कोष्ठ ज्वर दाहयुक्त होता है, द्राक्षा, त्रिफला, आदि मंद व शीत गुणके कषाय व मधुर औषधोंका विरेचन प्रशस्त होता है । किंतु वाता-
 नुबंधके कारण कोष्ठ ज्वर रूक्ष हो जाता है तैलादि स्निग्ध व उष्ण औषधोंद्वारा
 तथा श्लेष्मानुबंधके कारण कोष्ठ मंद होनेपर स्नुहीक्षीरादि कटु व तीक्ष्ण औषधो-
 द्वारा विरेचन देना चाहिये । एवंच कोष्ठदुष्टिमें विरेचन सामान्य है । किंतु
 दोषानुबंधके कारण उसके लिये उपयोग्य औषधोंके गुणोंकाभी विचार अवश्य
 है । अतः चिकित्सामें दोषानुबंधका विचार अवश्य करना चाहिये । श्वयथुमें जब
 क्षीण धातुओंके संचयसे वातानुबंध होता है, शोथनाशक व धातुवर्धक औषधोंकी
 योजना करनी चाहिये । और पित्तानुबंधके कारण धातुओंके दाहसे जब शोथ
 उत्पन्न होता है, शीत व दाहप्रशमन औषधोंका प्रयोग करना चाहिये । उसी
 प्रकार श्वयथुमें श्लेष्मानुबंधके कारण जब अधिक स्निग्धत्व उत्पन्न होता है, रूक्ष-
 गुणयुक्त शोथनाशक औषधोंका उपयोग करना चाहिये । चरकने वातादि दोष-
 संबन्धके अनुसार श्वयथुकी चिकित्सामें बतलाया है “ स्निग्ध श्वयथुपर रूक्ष
 उपचार और रूक्ष श्वयथुपर स्निग्ध उपचार करने चाहिये । पित्तज व वातज

केवलमिति व्याधिविशेषोपशमकारिणा गुणविशेषेण प्रभावाख्येन हनिम् । दोषहरं व्याधुत्पादकहेतुरूपात् दोषान् हरतीत्येवंविधम् । व्याधिचिकित्सिते व्याधिपरीतचिकित्सायामपि । दोषानुबन्धो नोपेक्षणीय इति । (२६ ॥)

स्थानदुष्टिं विना व्याधिविशेषाणामसंभवः ।

व्याध्यवस्थाविशेषश्च भवेद्दोषानुबन्धतः ॥ २७ ॥

स्थानदुष्टिं विना । स्थानविशेषवैगुण्यं विना व्याधिविशेषाणामसंभवेऽपि व्याध्यवस्थाविशेषः तारतम्यात्मको व्याधिलक्षणविशेषः दोषानुबन्धात् भवेदिति । (२७ ॥)

विकारोपशमः स्थानवैगुण्योपशमान्भवेत् ।

दोषानुसारिणी व्याधिचिकित्साऽशुफलप्रदा ॥ २८ ॥

व्याध्यवस्थाविभागावबोधार्थं दोषानुबन्धो यथा नोपेक्षणीयस्तथैव चिकित्सायामपि दोषानुबन्धश्चिन्तनीय इति निदर्शनार्थमुक्तम् । विकारोपशम इत्यादि । स्थानवैगुण्योपशमान् स्थानविशेषविकृतिविनाशात् । दोषानुसारिणीति व्याधिविपरीतत्वेऽपि दोषानुबन्धानुरोधिनी । आशुफलप्रदा शीघ्रफलदायिनी । आशुफलदायित्वात् व्याधिविशेषचिकित्सायामपि दोषानुबन्धानुसारेण चिकित्साविशेषः समादरणीय इति भावः । (२८ ॥)

श्वयथुपर तित्तऔषर्धायुक्त घृतका उपचार करना चाहिये और कफज श्वयथुपर कटु व उष्ण क्षारोंका प्रयोग करना चाहिये । ” इस प्रकार विशिष्ट व्याधिकी चिकित्सा करते समयभी विशिष्ट चिकित्साका ज्ञान होनेके लिये दोषानुबन्धका ज्ञान अवश्यक रहता है । १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

जिसमें विशिष्ट व्याधिके उपशमका विशिष्ट गुण — जिसको प्रभाव कहते हैं—नहीं रहता ऐसा केवल दोषनाशक औषध व्याधिका नाश नहीं कर सकता । इसके साथ यहभी ध्यानमें रखना चाहिये कि, व्याधिविपरीत चिकित्सामेंभी दोषानुबन्धकी उपेक्षा न हो । २६ ॥

विशिष्ट स्थानकी दुष्टि याने वैगुण्यके विना विशिष्ट व्याधिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । तोभी व्याधिके अवस्थाओंका विशेष याने व्याधिलक्षणोंका तारतम्य दोषानुबन्धकेही कारण होता है । २७ ॥

रोगावस्थाओंके विज्ञानमें दोषानुबन्धका ज्ञान जितना आवश्यक है उतनाही चिकित्सामेंभी दोषानुबन्धका विचार करना आवश्यक है । कारण, स्थानवैगुण्यके याने विशिष्ट स्थानके विकृतिके उपशमसे विकारोपशम होता है । किंतु

व्याधीनां भिन्नरूपाणामवस्थानां च हेतवः ।

चितनीयाश्चिकित्सायां दुष्टा वातादयस्त्रयः ॥ २९ ॥

व्याधीनां भिन्नरूपाणामिति ज्वरातिसारादीनां नानाविधलक्षणानाम् । अवस्थानाम् । मंदो ज्वरः, तीक्ष्णो ज्वरः, तीक्ष्णं दाहयुक्तमतिसार्यते, शीतं स्निग्धं वा तथाऽस्प्राप्यमित्याद्यानामवस्थानाम् । हेतवः कारणानीति । चिकित्सायां रोगोपक्रमे । दुष्टा वैषम्यं गता वातादयश्चितनीयाः । इति चिकित्साविशेषे वाताद्यनुबंधदर्शनं नाम दशमं दर्शनम् । (२९ ॥)

॥ इति दशमं दर्शनम् ॥

दोषसंबंधके अनुसार व्याधिविपरीत चिकित्सा शीघ्रफलदायी होती है । अतः व्याधिविशेषके अनुसार व्याधिविपरीत चिकित्सामें भी वातादि दोषोंके संबंधके अनुसार चिकित्साविशेषका आदर करना चाहिये । २८ ॥

सारांश ज्वर, अतिसार गुल्म आदि विभिन्न लक्षणके व्याधि एवं उनकी भिन्न २ अवस्थाओंके उत्पादक वातादि दोष होनेके कारण चिकित्सामें—व्याधिविपरीत चिकित्सामें भी उनका विचार करना चाहिये ।

चिकित्साविशेषमें वाताद्यनुबंधदर्शन नामक दशम दर्शन समाप्त ॥

॥ एकादशं दर्शनम् ॥

द्रव्यगुणवर्णने दोषानुबंधदर्शनम् ।

शरीरं पंचभूतांशसमुदायोद्भवं यथा ।

तत्पोषकस्तथाऽहारः पंचभूतांशसम्भवः ॥ १ ॥

विविधं द्रव्यमाहार्यं धान्यमूलफलादिकम् ।

दुग्धमांसादिकं सर्वं पंचभूतसमुद्भवम् ॥ २ ॥

दोषाणां स्वाभाविकं कर्म जीवनसाधनं तथा विकृतं विविधव्याधिसंज्ञमभिधाय शरीरस्या-
भिवर्धने संदूषणे च प्रधानकारणस्याहार्यादिद्रव्यस्य गुणवर्णने तेषां संबंधं दर्शयितुमाह । शरीर-
मित्यादि यथा शरीरं तथा तत्पोषकाऽहारोऽपि पंचभूतांशसम्भवः । पांचभौतिः कृत्वसामान्यात्
शरीरद्रव्याणामभिवृद्धिकरण्याहारद्रव्याणीति । यथोक्तमष्टांगहृदये । वृद्धिः समानैः सर्वेषामिति ।
आहार्यमाहारत्वेनोपयोज्यम् । भोज्यमिति । पंचभूतसमुद्भवम् द्रव्योपवर्णने वाग्भटेनोक्तं
यथा ' पंचभूतात्मकं तत्तु ' इति । (१-२)

बहुसंख्यमपि द्रव्यमाहार्यं रसभेदतः ।

षड्विधं स्याद्रसाः स्वादुरम्लश्च लवणस्तथा ॥ ३ ॥

एकादश दर्शन

(द्रव्य गुणवर्णनमें दोषानुबंधका दर्शन)

दोषोंका जो कर्म स्वाभाविक स्थितिमें जीवनसाधन तथा विकृत स्थितिमें
नानाविध व्याधिओंका उत्पादक होता है उसका विवरण करनेके बाद अब शरीरके
संवर्धन एवं दूषणमें प्रधान कारण जो आहार्य द्रव्य उसके गुणवर्णनमें दोषोंका
संबंध दर्शाते हैं ।

जिस प्रकार शरीर पंचभूतविकारांशसमुदायसे उत्पन्न होता है उसी
प्रकार शरीरका पोषक आहारभी पंचभूतांश — विकार समुदायसेही बनता है ।
दोनोंमें पंचभूतांशोंका सामान्य होनेके कारण आहार शरीर द्रव्योंका संवर्धन कर
सकता है । अष्टांगहृदयमें कहा है “ समान गुणोंके द्रव्योंसे समान गुणोंके पदा-
र्थोंकी वृद्धि होती है । ” आहारमें उपयोगी द्रव्य विविध हैं—जैसे—धान्य, मूल,
फल आदि (वानस्पतिक) एवं दूध, मांस आदि (प्राणिज) और वे सब पंच-
भूतोंसेही उत्पन्न होते हैं । १ ॥ २ ॥

कटुः कषायस्तिक्तश्च षडभिव्यक्तलक्षणाः ।

व्यक्ताव्यक्तस्वरूपेण सर्वद्रव्येष्ववस्थिताः ॥ ४ ॥

रसानामपि सर्वेषां व्यपदेशस्तु भूयसा ।

रसान्तरेण द्रव्याणां मधुराम्लादिसंज्ञया ॥ ५ ॥

बहुसंख्यं शालिगोधूमादिकं धान्यं तथा फलमूलशाकादिकं नानाविधम् । रस-
भेदतः मधुरादिरसभेदानुसारेणेति । षड्विधं षडेव रसा इति रसभेदानुसारं द्रव्यस्यापि
षड्भेदाः । स्वादादिरसाः षट् अभिव्यक्तलक्षणाः रसनेन्द्रियेण स्पष्टमवबोध्य इति । पंचभूतांश-
परिमाणभेदेन संमिश्रलक्षणान्त्राण्येकेऽपि नावबोध्य अनभिव्यक्तत्वादितरे । व्यक्ताव्यक्तस्वरूपेण
स्पष्टास्पष्टतया । सर्वद्रव्येषु अवस्थिताः । सर्वसं द्रव्यं सर्वमिति । पंचरसा हरीतकी
लवणरसवर्जितेऽत्यादिनाऽपवादेन सर्वरसत्वं द्रव्याणामसिद्धं न वाच्यम् । सामान्यत्वान्वियमाना-
मिति । रसानां मधुरादीनाम् व्यपदेशो भूयसेति एकद्रव्याश्रितानां भूयस्त्वेन व्यपदेशः
मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादि । रसान्तरेणेति भूयसा मधुरादिना द्रव्याणां मधुरादिसंज्ञया
व्यपदेशश्च । (३-५)

पंचभूतात्मकत्वेऽपि रसाद्या देहधातवः ।

पंचभूतांशवैशेष्याद्विभिन्नाश्च परस्परम् ॥ ६ ॥

यद्यपि आहार्यद्रव्य बहुसंख्य याने नानाविध हैं (जैसे-शाली, गोधुमादि-
तथा फलमूलशालादि) उसके रस याने स्वादके अनुसार छ प्रकार होते हैं ।
१ स्वादु, २ अम्ल, ३ लवण, ४ कटु, ५ कषाय और ६ तिक्त । इन छ रसोंका
लक्षण प्रकट होते हैं याने रसनासे उनका ज्ञान स्पष्ट रूपमें हो सकता है । पंच-
भूतांशोंके भिन्न २ प्रमाणोंके कारण संमिश्र लक्षणके नानाविध रसभेद हो सकते
हैं । किंतु इतने प्रकट याने रसनावबोध्य नहीं होते । वास्तवमें प्रत्येक द्रव्यमें
व्यक्त अथवा अव्यक्त रूपमें सभी रस होतेही हैं । ' लवणके अतिरिक्त बाकी
पांचोरस हरीतकीमें रहते हैं, इत्यादि अपवादभूत वचनोंपरसे यह न समझना
चाहिये कि द्रव्योंका सर्वरसत्व असिद्ध होता है । कारण नियम सामान्यरीत्यासेही
कहे जाते हैं । इसप्रकार प्रत्येक द्रव्यमें सभी रस विद्यमान रहते हैं तोभी जिस
रसका उसीमें आधिक्य हो उसीके नामसे वह द्रव्य जाना जाता है—जैसे शर्करा
मधुर है, अथवा इमली अम्ल है, इत्यादि । ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

यद्यपि रस, रक्त, मांस, मेद अस्थि मज्जा व शुक्र ये सात शारीर धातु
पंचभूतात्मक होते हैं, पंचभूतांशोंके विशेषताके कारण याने पंचभूतविकारोंके भिन्ना-

पंचभूतात्मकत्वेऽपीति पंचभूताविकारांशसमुदायात्मकत्वेऽपि । रसाद्या वेह-
धातवः रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणीति सप्त धातुसंज्ञाः । **पंचभूतांशवैशेष्यादिति**
पंचभूताविकाराणां विभिन्नांशत्वात् । **विभिन्नाः परस्परं** स्वरूपगुणकर्मभिर्भिन्नाः । द्रवं रक्तं,
घनं मांसं, कठिनं चास्थित्यादिस्वरूपो भेदः । (६ ॥)

एवं द्रव्याणि भूतानां परिमाणविभेदतः ।

परस्परं विभिन्नानि स्वरूपगुणकर्मभिः ॥ ७ ॥

एवमित्युपर्युक्तप्रकारेण । द्रव्याणि आहार्याण्यौषधरूपाणि च । **स्वरूपगुण-**
कर्मभिः स्वरूपं घनद्रवकठिनत्वादि, **गुणाः** शीतोष्णादयः **कर्माणि** दीपनपाचनस्नेहनवमन-
विरेचनज्वरादिव्याधिविनाशकत्वादीनि तैः । परस्परं विभिन्नानीति । (७ ॥)

द्रव्यैः समानैराहार्यैर्धातूनामभिवर्धनम् ।

मांसादीनां भवेत् न्हासो विरुद्धैश्चोपयोजितैः ॥ ८ ॥

द्रव्यैरित्यादि । समानैर्धातूनामभिवर्धनम् । **विरुद्धैः** स्वरूपगुणकर्मभेदेन धातुविरुद्धैः ।
न्हासः । वृद्धि समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः । इत्यष्टांगहृदये वाग्भटः । (८ ॥)

वैलक्षण्येऽपि धातूनां कर्म वृद्धिक्षयात्मकम् ।

समानं चास्य कर्तारो दोषा वातादयस्त्रयः ॥ ९ ॥

शसमुदायके कारण उनके स्वरूप, गुण व कर्म परस्परसे भिन्न २ हो जाते हैं ।
जैसे — रक्त द्रव है, तो मांस घन है, अस्थि कठिन है इत्यादि प्रकारका
स्वरूपभेद उनमें होता है । ६ ॥

इसीप्रकार आहार्य अथवा औषधी द्रव्योंमेंभी पंचभूतांशोंके मिश्रणके
प्रमाणमें प्रत्येक द्रव्य भिन्न होनेके कारण उनका स्वरूप, गुण, कर्म आदिके
विषयमें परस्परसे भिन्नता रहती है । याने प्रत्येकका घनद्रवादिस्वरूप, शीतोष्णादि
गुण, दीपन, पाचन, स्नेहन, वमन, विरेचन, ज्वरादिव्याधिविनाशन आदि कर्म
दूसरेसे भिन्न रहते हैं । ७ ॥

समान गुणोंके आहार्य द्रव्योंसे रसरक्तमांसादि शारीर धातुओंकी अभिवृद्धि
होती है । और विपरीत गुणोंके द्रव्योंसे उनका (धातुओंका) न्हास होता है ।
वाग्भट कहता है “ समान गुणोंके द्रव्योंसे वृद्धि व विपरीत गुणोंके द्रव्योंसे
न्हास होता है । ” ८ ॥

धातु परस्परसे भिन्न स्वरूपके होते हुएभी उनमें वृद्धिक्षयात्मक स्वाभाविक
तथा विकृतिस्वरूपका अस्वाभाविक कर्म समान होता है । याने प्रत्येक धातुकी

वैलक्षण्ये परस्परं भिन्नस्वरूपत्वेऽपि । वृद्धिक्षयात्मकम् स्वाभाविकं अस्वाभाविकं विकृतिस्वरूपं वा । समानं साधारणम् । अस्य कर्तारो वातादयस्त्रयः । वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः । तैरेवाव्यापनैः शरीरमिदं धार्यते । य एव देहस्य समा विवृद्धयै त एव दोषा विषम-
बधाय । इत्यादिभिर्वचनैर्दोषाणां सर्वक्रियाकारकत्वेनाख्यानात् । (९ ॥)

वातादीनां तु शीतोष्णस्निग्धरूक्षादयो गुणाः ।

गुणैः समानाश्चाहार्यद्रव्याणां देहधातुगाः ॥ १० ॥

वातादीनां गुणाः स्निग्धरूक्षादयः । स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृतरनः स्थिरः कफः । इत्यादिभिराख्याताः । आहार्यद्रव्याणां गुणैः समानाः । रसादीनां शरीरधातूनां आहार्यादिद्रव्याणां च सामान्यं स्निग्धरूक्षादिभिर्गुणैरिति । देहधातुगाः स्निग्धादिगुणाः श्लेष्मादीनां दोषाणां गुणस्वरूपेणावस्थिताः श्लेष्माद्या वा देहधातुव्याश्रिता इति । यथाऽष्टांगहृदये-तत्रास्थानि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः । श्लेष्मा शेषेषु तेनैवमाश्रयाश्रयिणां मिथः । इति दोषाणामाश्रयाश्चाभिहिता धातवो रसाद्या इति । (१० ॥)

शरीरगानां धातूनां यथावदभिवर्धनम् ।

द्रव्यं ' स्वस्थहितं ' नाम स्वास्थ्यसंवृद्धिकारणम् ॥ ११ ॥

वृद्धि तथा क्षय होताही है । इस कर्मके कर्ता है वातादि तीन दोष । वातादि दोषोंके सर्वक्रियाकरत्वके संबंधमें कहाही है — “ वात, पित्त व श्लेष्माही शरीरोत्पात्तिके कारण हैं । येही अव्यापन स्थितिमें शरीरको धारण करते हैं । ” अथवा “ जो समस्थितिमें शरीरकी वृद्धि करते हैं वेही दोष विषम अवस्थामें शरीरका नाशभी करते हैं । ” ९ ॥

वातादिदोषोंके जो शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि गुण बतलाये गये हैं वे आहार्य द्रव्योंके गुणोंके समानही हैं । अर्थात् रसादि शरीर धातुओंमें तथा आहार्य द्रव्योंमेंभी ये गुण समान रीतिसेही रहते हैं । ये सभी शरीरके धातुगत रहते हैं । या स्निग्धादि गुण अथ गुणस्वरूप कफादि दोष शरीरधातुओंमें आश्रित रहते हैं । अष्टांगहृदयमें कहा है “ अस्थिमें वायु, खेद व रक्तमें पित्त, और अवशिष्ट धातुओंमें श्लेष्मा रहता है । अर्थात् धातु आश्रय व दोष आश्रयी ऐसाही उनका संबंध है । ” सारांश रसादि धातुही दोषोंके आश्रयस्थान हैं । १० ॥

जिससे शरीरगत धातुओंकी अपने २ स्वाभाविक प्रमाणमें वृद्धि होती है उस द्रव्यको ' स्वस्थहित ' याने स्वास्थ्य-आरोग्यकी वृद्धि करनेवाला द्रव्य कहते

वृद्धिक्षयकरं धातोर्द्रव्यमन्यतरस्य यत् ।

वैषम्योत्पादनाच्चानाविकारोत्पादकं भवेत् ॥ १२ ॥

शरीरगानामित्यादि — यथावदिति स्वस्थशरीरप्रमाणानुसारम् । मज्जभेदोवसामूत्र पित्तश्लेष्मशकृत्यसृक् । रसो जलं च देहेऽस्मिन्नेकैकांजलिवर्धितम् । पृथक् स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजो-
मस्तिष्करेतसाम् । द्वावंजली तु स्तन्यस्य चत्वारो रजसः स्त्रियाः । समधातोरिदं मानम् । इति
स्वस्थस्य शरीरगतधातूनां प्रमाणमाख्यातं तदनुसारेणाभिवर्धनमिति । स्वस्थहितं नाम स्वस्थ
हितसंज्ञया परिभाषितम् । स्वास्थ्यसंवृद्धिकारणं स्वास्थ्यस्यारोग्यस्याभिवृद्धिकारणम् ।
वृद्धिक्षयकरमिति अथवात् वृद्धि क्षयं वा करोतीत्येवंविधम् । धातोर्न्यतरस्य
रसरक्तादीनामन्यतमस्य । वैषम्योत्पादनात् वृद्धिक्षयस्वरूपस्य वैषम्यस्योत्पादनात् । विकारो-
त्पादकं व्याधिविशेषोत्पादकम् । यदाह चरकः—रोगस्तु धातुवैषम्यमिति । (११-१२)

क्रमं विहायधातूनामभिवृद्ध्या क्षयेण वा ।

वातादयः प्रकुप्यन्ति दोषा धातुष्ववस्थिताः ॥ १३ ॥

क्रममिति कालादिरूपं स्वभावानुगतं परिमाणं वा । धातुष्ववस्थिताः
धात्वाश्रयाः । धातूनामयथावदभिवृद्ध्या क्षयेण च तद्रता वातादयो दोषा अपि
विकृतिमायान्तीति । (१३ ॥)

हैं । स्वस्थ याने आरोग्ययुक्त मनुष्यके शरीरमें धातुओंके परिमाणकी मर्यादा
आयुर्वेदीय मतानुसार निम्न है:—“ मज्जा १ अंजलि, भेद २ अंजलि, वसा ३
अंजलि, मूत्र ४ अंजलि, पित्त ५ अंजलि, श्लेष्मा ६ अंजलि, पुरीष ७ अंजलि,
रक्त ८ अंजलि, रस ९ अंजलि व जलांश १० अंजलि । एवं
ओज, मस्तिष्क व रेत (वीर्य-शुक्र) प्रत्येक अपने २ हस्तप्रमाणसे
एक २ प्रसृत (एक हातका अंजलि) (स्त्रियोंमें) दूध दो अंजली, रज (आर्तव)
चार अंजली । समधातु मनुष्यका यह परिमाण है । ” और इसके अनुसार स्वस्थ
शरीरमें धातुओंकी ‘ स्वस्थहित ’ द्रव्यके आहारसे अभिवृद्धि होती है । रसरक्तादि
धातुओंमेंसे किसी एक अथवा अनेककी इस प्रमाणको छोड़कर क्षय अथवा वृद्धि
करनेवाले द्रव्यसे वैषम्य उत्पन्न होनेके कारण नानाविध विकार याने भिन्न २ रोग
उत्पन्न होते हैं । इसीलिये चरकने कहा है—धातुवैषम्यही रोग है । ” ११॥ १२॥

इस क्रमको याने स्वाभाविक प्रमाणको छोड़कर जब धातुओंकी वृद्धि अथवा
क्षय होता है, उससे धातुओंमें आश्रित वातादिदोष प्रकुपित हो जाते हैं याने
उनमें विकृति-वैषम्य उत्पन्न होता है । १३ ॥

गुणा वातादिदोषाणां भुक्तद्रव्यगतैर्गुणैः ।

क्रमं विहाय धातुस्था विवर्धन्ते न हसन्ति वा ॥ १४ ॥

गुणा इत्यादि - भुक्तद्रव्यगतैरिति अशितद्रव्याश्रितैः । शरीरधातुगतानां दोषाणां वर्धने क्षपणे वा हेतुराहारद्रव्यगता गुणा इति । यथोक्तमष्टांगहृदये - दोषा दुष्टा-
रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान् । इति । (१४ ॥)

दोषाणां गुणवैषम्याद्वैषम्यं जायते यतः ।

गुणवैषम्यकृद्भुक्तं भवेद्दोषप्रकोपणम् ॥ १५ ॥

दोषाणामित्यस्य वैषम्येनान्वयः । गुणवैषम्यात् आहारगतद्रव्यगुणवैषम्यात् ।
भुक्तमाहारः । दोषप्रकोपणं वातादिदोषाणां वैषम्यकारणम् । (१५ ॥)

धातून् गुणान् वा दोषान्वा यद्वैषम्यमुपागतान् ।

समीकरोति तत् द्रव्यमारोग्याय प्रकल्पते ॥ १६ ॥

धातून्, गुणान्, दोषान् वा इति आश्रयाश्रयीभावादेतेषामन्योन्यं वैषम्यो-
त्पादकत्वमिति । समीकरोति स्वभावे स्थापयति । तदारोग्याय प्रकल्पते आरोग्यकरं
भवेत् । दोषधातुमलसाम्यमारोग्यं नामेति । (१६ ॥)

एवं स्वस्थहितं द्रव्यं कोपनं शमनं तथा ।

त्रिविधं पञ्चभूतांशसमुदायोद्भवं भवेत् ॥ १७ ॥

मनुष्य जिन द्रव्यों (पदार्थों) को भक्षण करता है उनके रूक्षस्निग्धादि गुणोंसे वातादिके गुण अभिवृद्ध अथवा क्षीण होते हैं । अर्थात् दोषोंके वृद्धिक्षयके कारण आहारद्रव्यगत गुणही होते हैं । अष्टांगहृदयमें कहा है “रसोंद्वारा दुष्ट दोष धातुओंको दूषित करते हैं और दोनो मिलकर मलोंको दूषित करते हैं ” १४ ॥

आहारगत द्रव्योंके गुणोंके वैषम्यसे दोषोंकाभी वैषम्य उत्पन्न होता है, गुणवैषम्य उत्पन्न करनेवाले आहारसेही, वातादि दोषोंका प्रकोप हुआ करता है । १५ ॥

वैषम्यको प्राप्त धातुओं-गुणों अथवा दोषोंकी समस्थिति जो निर्माण करता है वह द्रव्य आरोग्यप्रद माना जाता है । कारण दोष-धातु-मलोंकी साम्यावस्थाही आरोग्य है । १६ ॥

इसप्रकार पञ्चभूतांशसमुदायसमुद्भूत द्रव्य तीन प्रकारका होता है—
१ स्वस्थहित २ कोपन और ३ शमन । आहार व औषधी द्रव्य नानाविध होता है । उसमेंसे प्रत्येक द्रव्य उक्त तीनोंमेंसे किसी एक प्रकारमें समाविष्ट होताही है । आहारके रूपमें ग्रहण करने योग्य द्रव्य सामान्यतः स्वस्थहित है । कारण शरीर-

तेषां स्वस्थहितं नाम द्रव्यमाहारसंज्ञकम् ।

शमनं कोपनं नाम द्रव्यमौषधसंज्ञकम् ॥ १८ ॥

एवं स्वस्थहितादिसंज्ञं द्रव्यं त्रिविधम् । बहुत्वेऽप्याहारौषधिद्रव्याणां स्वस्थहितकोपन-
शमनरूपपरिणामानुसारात् त्रय एव भेदा इति । तेषां स्वस्थहितादित्रयाणाम् । स्वस्थहितं
नाम आहारसंज्ञकम् । समधातुशरीरमिव वर्धनस्यैवाहारस्योचितत्वात् । शमनं कोपनं चेति द्रव्यमौषध-
संज्ञम् । क्षीणानां दोषधातूनामविवर्धनादभिवृद्धानां च क्षपणात्स्वास्थ्यस्थापनं चिकित्सासाफल्य-
मिति । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायां - दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः कुपिताः प्रशमायितव्याः वृद्धा
निर्हर्तव्याः समाः परिपाल्या । इति । (१७ - १८ ॥)

वातादीनां समाख्याता रूक्षस्निग्धादयश्च ये ।

आहार्यौषधरूपाणां द्रव्याणामपि ते गुणाः ॥ १९ ॥

वातादिदोषाणां द्रव्याणां आहार्यौषधरूपाणां समाना एव गुणाः शीतोष्णादय इति ।
(१९ ॥)

धातूनां भिन्नरूपाणामपि सर्वक्रियाकराः ।

गुणस्वरूपा वाताद्यास्तद्वृद्धिक्षयकारणम् ॥ २० ॥

धातुओंकी समप्रमाणमें वृद्धि करनेवाला आहारही ग्रहण करना उचित है । शमन
व कोपन द्रव्योंको ' औषध ' कहते हैं । क्षीण दोष व धातुओंकी वृद्धिद्वारा तथा
वृद्ध दोष-धातुओंके क्षयद्वारा मनुष्यका स्वास्थ्य संपादित करनाही चिकित्साका
स्वरूप है । सुश्रुतसंहितामें कहा है " क्षीण दोषधातुओंका वर्धन एवं वृद्धोंका
पचास करना चाहिये और सम दोषधातुओंका पालन करना चाहिये
। १७ ॥ १८ ॥

वातादिदोषोंके जो रूक्षस्निग्धादि गुण होते हैं वेही आहाररूप अथवा
औषधरूप द्रव्योंकेभी होते हैं । अर्थात् दोषोंके व आहार-औषधोंके गुण सामानही
होते हैं । १९ ॥

भिन्न २ स्वरूपके धातुओंकी क्रियाओंके करनेवाले वातादि गुणस्वरूप
दोषही होते हैं । उनकी याने वातादि दोषोंकी वृद्धि एवं क्षय आहार्य अथवा औषध
नामके द्रव्योंके कारण होता है । दोषोंके आश्रयरूप जो धातु वे द्रव्यरूप हैं और
दोष गुणमय हैं वेही क्रियाकर हैं । उनकी वृद्धि वा क्षय करनेवाले द्रव्यको औषध
कहते हैं । २० ॥

द्रव्यमाहार्यमाख्यातमथवौषधसंज्ञकम् ।

धातूनामित्यादि । वाताद्याः सर्वक्रियाकराः । तद्वृद्धिक्षयकारणं तेषां वातादीनां वृद्धिक्षयेहेतुः । आहार्य तथा औषधसंज्ञं द्रव्यम् । दोषाश्रयाणां धातूनां द्रव्यरूपाणां गुणमया वाताद्याः क्रियाकराः तेषां च वृद्धिक्षयकरं द्रव्यमाहारसंज्ञमौषधं चेति । (२० ॥)

धातूनां गुणयुक्तानामेव वृद्धिः क्षयोऽपि वा ॥ २१ ॥

भवेन्न गुणहीनानां गुणाः सर्वक्रियाकराः ।

धातुवृद्धिक्षयकरं द्रव्यं गुणयुतं भवेत् ॥ २२ ॥

गुणयुक्तानां धातूनां वृद्धिः क्षयो वा न गुणहीनानां ततो गुणाः क्रियाकराः । गुणान्वित-
मेव द्रव्यं धातुवृद्धिक्षयकरम् । गुणहीनं हीनवीर्यं नाम क्रियाकरणेऽसमर्थमिति । (२१--२२ ॥)

धात्वंशेषु सुसूक्ष्मेषु स्निग्धरूक्षादयो यथा ।

द्रव्याणां च तथांशेषु गुणाः सूक्ष्मेष्ववस्थिताः ॥ २३ ॥

गुणस्वरूपः सूक्ष्मोऽशो धातूनां दोषसंज्ञकः ।

गुणयुक्तः सुसूक्ष्मोऽशो द्रव्याणां रससंज्ञकः ॥ २४ ॥

धात्वंशेष्वित्यादि । सुसूक्ष्मेष्विति सूक्ष्मावयवानामपि सूक्ष्मांशेषु । स्निग्ध-
रूक्षादयः वातादिदोषाणां स्वरूपत्वेनोक्ताः । द्रव्याणां आहार्यौषधिरूपाणाम् । अंशेषु
सूक्ष्मेषु गुणा अवस्थिताः । गुणस्वरूप इति गुणमयः गुणप्रायो वा । धातूनामंशो
दोषसंज्ञकः । तथा गुणयुक्तः गुणप्रायोऽशो द्रव्याणां रससंज्ञकः । द्रव्यगुणयोर्भिन्नत्वेऽपि
प्रभूतगुणाश्रयो धातूनां द्रव्याणां च सुसूक्ष्मोऽशो दोषसंज्ञो रससंज्ञकश्च क्रमात् ।
गुणगुणिनोरभेदोपचारादिति । (२३ -- २४ ॥)

गुणयुक्त धातुओंमेही वृद्धिक्षयरूप कार्य होता है । गुणहीनेमें नहीं ।
इसलिये गुणही सर्वक्रियाकर माने गये हैं । गुणयुक्त द्रव्यही धातुओंकी वृद्धि
अथवा क्षय करनेवाला होता है । गुणहीन याने हीनवीर्य द्रव्य क्रिया करनेमें
असमर्थ होता है । २१ । २२ ॥

धातुओंके अत्यंत सूक्ष्म अवयवकेभी सूक्ष्म अंशोंमें जिस प्रकार स्निग्धरूक्षादि
गुण वातादि दोषोंके स्वरूपसे-जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है—निवास
करते हैं, उसी प्रकार आहार्य एवं औषधीरूप द्रव्योंके सूक्ष्म अंशोंमें उक्त गुण
रहते हैं । धातुओंके गुणस्वरूप जो सूक्ष्मांश उनको दोष कहते हैं और
आहारौषधीद्रव्योंके सुसूक्ष्मांशको रस कहते हैं । कारण गुण व गुणिका अभेदोपचार
माना गया है । २३ ॥ २४ ॥

दोषाणां कर्म सामान्यमपि सर्वशरीरगम् ।

धातुस्थानविशेषेण कर्मभेदः प्रजायते ॥ २५ ॥

द्रव्याणां रससामान्यात्समानगुणकर्मणाम् ।

व्यक्तिभेदात्कर्म भिन्नं धातुस्थानान्तरे भवेत् ॥ २६ ॥

दोषाणामित्यादि । यथा दोषाणां वातादीनाम् । सामान्यं गत्यादिकं कर्म । अपि तु धातुस्थानविशेषेण कर्मभेदः । तथैव द्रव्याणां हरीतकीद्राक्षादीनाम् । रससामान्यात् मधुरादिरससादृश्यात् । मधुराद्येकैकरसभूयिष्ठानि द्रव्याणि बहुसंख्यानि । यथाऽष्टांगहृदये - घृतहेमगुडाक्षोड-मोचचोचपरूषकम् । इत्यादिना मधुरद्रव्यवर्गः । धात्रीफलाम्लीकामातुलंगालवेतसमित्यादिनाऽम्ल-द्रव्यवर्गः । वरं सौवर्चलं कृष्णं विडं सामुद्रमौद्रिदमित्यादिर्लवणवर्गः । पटोली चायंती बालकोशीरचंदनम् इत्यादिकस्तिक्तवर्गः । हिंशुमरिचपंचकोलादिः कटुकः । पथ्याऽक्षं शिरषिः खदिरौ मधु इत्यादिश्च कषायरसभूयिष्ठो द्रव्यवर्ग आख्यातः समानगुणकर्मणाम् । यथोक्त-वाम्भटेन — मधुरं श्लेष्मलं प्रायः । प्रायोऽम्लं पित्तजननम् । अपथ्यं लवणं प्रायश्चक्षुषोः । तिक्तं कटु च भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम् । कषायं प्रायशः शीतं स्तंभनं च । एवं बहूनां द्रव्याणां गुणकर्मसामान्येऽपि व्यक्तिभेदात् प्रतिद्रव्यं स्वरूपविशेषात् । कर्म भिन्नं धातुस्थानान्तरे धातुस्थानान्तरे च । यथोक्तं चरकसंहितायाम् = द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावात् गुणप्रभावात् द्रव्य-

यद्यपि वातादि दोषोंका गत्यादि सामान्य कर्म सार्वदेहिक है, विशिष्ट धातु व स्थानमें उसी कर्मके भेद उत्पन्न होते हैं । उसी प्रकार हरीतकी, द्राक्ष आदि द्रव्योंमें मधुरादिरससामान्यके कारण गुण व कर्मभी समान होते हैं । बहुतसे द्रव्य मधुरादि एक २ रसका जिनमें आधिक्य होता है ऐसेही रहते हैं । तूप, सुवर्ण, गुड, आक्रोड, केला, फनस, फालसा आदि मधुर वर्ग, आमला, इमली, अम्लवेतस आदि अम्लवर्ग, सैधवादि लवण वर्ग, पटोल चंदन आदि तिक्तवर्ग, हिंशु, मरिच आदि कटुवर्ग हरीतकी, खदिर आदि कषायवर्ग अष्टांग हृदयमें बतलाये हैं । और उनके सामान्य कार्योंकाभी वर्णन किया है । ' मधुर रस श्लेष्मल रहता है, अम्ल पित्तोत्पादक, लवण प्रायः नेत्रोंको अपथ्यकारक, तिक्त व कटुरस अवृष्य (शुक्रक्षयकर) और वातकोपन हैं, कषायरस प्रायः शीत व स्तंभन रहता है । " इस प्रकार अनेक द्रव्योंके गुणकर्म समान होते हुएभी प्रत्येक द्रव्यके अपने २ वैशिष्ट्यके अनुसार उसका २ कर्म भिन्न अथवा विशिष्टभी रहता है । और वह भिन्न धातुमें तथा भिन्न स्थानमें परिणाम करता है । चरकसंहितामें कहा है, द्रव्य अपने प्रभावसे अथवा अपने गुणोंके

गुणप्रभावाच्च तस्मिन् तस्मिन् काले तत्तदधिकरणमासाद्य तां तां च युक्तिमर्थं चतन्तमभिप्रेत्य यत्कुर्वन्ति-
तत्कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणम्, यदा कुर्वन्ति स कालः, यथा कुर्वन्ति
स उपायः, यत्साधयन्ति तत्फलमिति । चरकोऽक्तेऽस्मिन् द्रव्यप्रभावो नामाख्यातः स एव अव्यक्ति-
भेदो नाम । चरकोक्तो द्रव्यप्रभावः सुश्रुतेन स्वगुण इत्याख्यातः । यथोक्तम् — स्ववीर्यगुणयुक्तानि
द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्तीति । द्रव्यप्रभावलक्षणं वाग्भटेनोक्तं यथा — रसादिसाम्ये यत्कर्म
विशिष्टं तत्प्रभावजम् । इति । (२५ — २६ ॥)

घृतं स्निग्धगुणं स्निग्धधातूनामभिवर्धनम् ।

रक्तं विशेषेण भवेद्रक्तस्यैवाभिवर्धनम् ॥ २७ ॥

मांसवृद्धिकरं मांसं भवेन्मेदश्च मेदसः ।

धातुस्वरूपसामान्यं हेतुर्त्रयोपादिश्यते ॥ २८ ॥

द्रव्यप्रभावमुदाहरणैर्विशदीकर्तुमुच्यते । घृतमित्यादि । स्निग्धगुणं स्निग्धगुणभूयिष्ठम् ।
स्निग्धधातूनामिति भेदो मज्जशुकाख्यानाम् । घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमल्पामिष्यंदि
स्नेहनमित्यादयश्चाख्याताः सौश्रुते घृतगुणाः । चरकसंहितायां घृतस्य शुक्रमेदोवृद्धिकरत्वं स्पष्ट-
तयाऽभिहितम् । स्मृतिबुद्धयमिशुकौजःकफमेदोविवर्धनम् । इत्यादि । रक्तं रक्तवर्धनम् । मांसं

प्रभावसे अथवा दोनोंके प्रभावसे भिन्न २ समयमें भिन्न २ स्थानोंमें जो परिणाम करता है
उसीको कर्म कहते हैं । जिसके द्वारा करते हैं उसको वीर्य कहते हैं, जिस
तरहसे करते हैं उसको उपाय कहते हैं और जो साध्य करते हैं उसको फल
कहते हैं । चरकके इस वचनमें जिसका ' द्रव्यप्रभाव ' के नामसे निर्देश किया
गया है उसीका ' व्यक्तिभेद ' यह पर्याय है । चरकोक्त ' द्रव्यप्रभाव ' कोही
सुश्रुतने ' स्वगुण ' कहा है । सुश्रुत कहता है " स्ववीर्यगुणयुक्त द्रव्य कार्मुक
(कार्यसंपादनमें समर्थ) होते हैं । " वाग्भटेने प्रभावका लक्षण " रसादिका
सामान्यत्व होते हुएभी द्रव्यका जो विशिष्ट परिणाम होता है उसीको प्रभाव
कहना चाहिये इस प्रकार वर्णन किया है ॥ २५ ॥ २६ ॥

द्रव्यका प्रभाव अब उदाहरणोंसे स्पष्ट करते हैं । घृत स्निग्धगुणभूयिष्ठ
होनेसे स्निग्धधातुओंका याने मेद, मज्जा व शुक्र इनका अभिवर्धन करता है ।
सुश्रुतने कहा है — " घृत मधुर, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, और
स्नेहन है । " चरक संहितामें घृतके गुणोंमें शुक्रमेदोवृद्धिकरत्व स्पष्टरीतिसे
बतलाया गया है । रक्तका मुख्य कार्य रक्ताभिवर्धन यही बतलाया गया है ।
मांस मांसकी अभिवृद्धि करता है, और मेद मेदकी । चरकने कहा है " अन्य

मांसस्याभिवृद्धिकरं भेदश्च मेदसः । चरकेणामिहितं यथा—मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येन्यः शरीरधातुभ्यः । तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्जा, शुक्रं शुक्लेण गर्भस्त्वामगर्भेणेति । धातुस्वरूपसामान्यं धातुसादृश्यम् । हेतुरवेति । धातुवृद्धिकारणम् । (२७ - २८ ॥)

शतावरी स्तन्यकरी स्वाद्री द्राक्षा विरेचनी ।

भवेत् द्रव्यप्रभावेण विदारी मांसवर्धिनी ॥ २९ ॥

सादुरसत्वसामान्येऽपि शतावरी स्तन्यकरी स्तन्योत्पादिनी । द्राक्षा विरेचनी विदारी च मांसवर्धिनीऽस्त्वैवंविधो गुणविशेषस्तु द्रव्यप्रभावादिति । (२९ ॥)

द्रव्यं विरेचनं किञ्चित् किञ्चिद्भ्रान्तिकरं भवेत् ।

स्वेदस्योत्सर्जनं किञ्चित्किञ्चिन्मूत्रविरेचनम् ॥ ३० ॥

तीक्ष्णत्वस्योत्सर्जनस्य सामान्ये द्रव्यभेदतः ।

स्थानान्तरगतश्चैषां कर्मभेदः प्रजायते ॥ ३१ ॥

विरेचनादिकर्मकरं द्रव्यं उत्सर्जनकर्मकरस्य तीक्ष्णत्वस्य सामान्येऽपि द्रव्यभेदतः द्रव्यस्वरूपविशेषान् प्रभावाख्यात् विरेचनं वमनं मूत्रविरेचनमित्यादिरूपेण भिन्नकर्मकरं भवतीति । (३०-३१)

शारीरधातुओंकी अपेक्षा मांस मांससेही बढ़ता है, उसी प्रकार रक्त रक्तसे, मेद मेदसे वसा वसासे, अस्थि तरुणास्थिसे, मज्जा मज्जासे, शुक्र शुक्रसे, और गर्भ आमगर्भ (अंडा) से बढ़ता है । ” अर्थात् स्वरूपका सदृशगुणही अपने समान धातुकी वृद्धि करता है । २७ ॥ २८ ॥

स्वादुरस सबमें समान होते हुएभी शतावरी विशेषतः स्तन्यका उत्पादन करती है, द्राक्षा विरेचनी है और विदारी मांसवर्धिनी है । यह भिन्नता द्रव्यप्रभावके कारण उत्पन्न होती है । २९ ॥

तीक्ष्ण गुणके कारण उत्सर्जनक्रियासामान्य जिन द्रव्योंमें होता है उनमें-सेभी कुछ द्रव्य विरेचक होते हैं तो कुछ वांतिकर, कुछ स्वेदका उत्सर्जन करते हैं तो कुछ मूत्रका विरेचन करते हैं । अर्थात् द्रव्यभेदके अथवा व्यक्तिभेदके कारण भिन्न स्थानोंमें वे भिन्न २ परिणाम करते हैं । ३० ॥ ३१ ॥

द्रव्याणां गुणसामान्यात्सामान्यं सर्वदेहगम् ।

भवेत्कर्म स्थानधातुभेदाद्भिन्नं स्वभावतः ॥ ३२ ॥

गुणसामान्यात् स्निग्धरूक्षतीक्ष्णादीणां सादृश्यात् । सामान्यं सदृशं स्निग्धत्वरूक्ष-
त्वाभिवर्धनस्वरूपम् । सर्वदेहगं सर्वशरीरव्यापकम् । भिन्नं विशिष्टत्वाद्विविधरूपम् । स्वभा-
वतः इति द्रव्यवैशिष्ट्यभावात् । समानरसानां समानगुणानां च द्रव्याणां स्थानविशेषपरिणामि कार्यं
विभिन्नरूपं द्रव्यस्वरूपविशेषाज्जायते । (३२)

वातादीनामन्यतमं स्वगुणैर्यत्प्रकोपयेत् ।

द्रव्यं व्याधिविशेषस्योत्पादकं न च तद्भवेत् ॥ ३३ ॥

वातादीनामन्यतमं शमयेत्स्वगुणैरपि ।

द्रव्यं व्याधिविशेषस्य शमनं न च तद्भवेत् ॥ ३४ ॥

यत् द्रव्यं वातादीनामन्यतमं प्रकोपयेत् तन्न व्याधिविशेषस्योत्पादकं यच्च वातादीना-
मन्यतमं शमयेत् तत् व्याधिविशेषस्य शमनं न भवेत् । दोषप्रकोपेऽपि स्थानवैगुण्यात् व्याधिविशेष-
संभवः । दोषप्रशमनेऽपि स्थानवैगुण्योपशमात् त्रिहागेपमशमः । स्निग्धशीतादिभिः प्रकुपिते श्लेष्माणि

द्रव्योंके स्निग्धरूक्षादि गुणोंके सामान्यसे सर्व शरीरमें सामान्य रीतिसे
स्निग्धत्वरूक्षत्वादि गुणोंके अभिवर्धनका कार्य होता है । किंतु द्रव्यके स्वभाव
नुसार भिन्न २ स्थानों व धातुओंमें भिन्न स्वरूपका याने विशिष्ट प्रकारका कार्य
होता है । सांरांश, द्रव्यके विशिष्ट स्वरूपके कारण समानरसके व समानगुणोंके
द्रव्योंका विशिष्ट स्थानोंपर विशिष्ट परिणाम हुआ करता है । ३२ ॥

कोई द्रव्य अपने गुणसे वातादि दोषोंमेंसे किसीको प्रकुपित करता है,
उससे विशिष्ट व्याधिका उत्पादन नहीं होता । उसीप्रकार कोई द्रव्य वातादिमेंसे
किसीएक दोषका शमन करता है इसलिये यहभी न समझना कि वह विशिष्ट
व्याधिका शमन करता है । कारण केवल दोषप्रकोपसेही विशिष्ट व्याधि उत्पन्न
नहीं होते । अपितु दोषप्रकोपका परिणाम जब स्थानवैगुण्यमें होगा तभी व्याधि-
विशेषकी उत्पत्ति हो सकती है । उसी प्रकार, केवल दोषप्रशमनसेही व्याधिका
शमनभी नहीं हो सकता अपितु स्थानवैगुण्यका उपशम होनेपरही व्याध्युपशम हो
सकता है । उदा०--स्निग्धशीतादि द्रव्योंके कारण श्लेष्मा प्रकुपित होनेपरभी आस-
मार्ग आदि स्थान दुष्ट नहीं होता तबतक आसकासादि रोगोंकी उत्पत्ति नहीं होती ।
उसी प्रकार, तीक्ष्ण व उष्ण गुणके औषधोंसे श्लेष्माका उपशम होनेपरभी आसका-

श्वासकासादेर्व्याधिविशेषस्य सर्वदा न संभवः । प्रदुष्टे श्वासमार्गादिक एवावश्यं संभवः । तथा च तीक्ष्णोष्णगुणैरौषधैर्विजिते श्लेष्मण्यपि श्वासकासादिविनाशनमेव भैषज्यं व्याधौ श्वासकासादिके । ततश्च दोषप्रकोपात् व्याधिविशेषसंभवो दोषोपशमाच्च व्याधिविशेषोपशमो न भवेदिति । (३३-३४)

दोषः प्रकुपितो वाऽपि स्थानवैगुण्यमन्तरा ।

न च व्याधिविशेषाणां भवेदुत्पादनक्षमः ॥ ३५ ॥

द्रव्यं व्याधिविशेषस्योत्पादकं शमनं तथा ।

स्वभावानुगतैरेव गुणभेदैः प्रजायते ॥ ३६ ॥

दोषः प्रकुपितोऽपि स्थानवैषम्यं विना व्याधिविशेषाणां नोत्पादनक्षमः । यदुक्तं सुश्रुत-संहितायाम् — कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यत्र संगः स्ववैगुण्यात् व्याधिस्तत्रो-पजायते । तथैव व्याधिविशेषस्योत्पादकं शमनं वा द्रव्यमिति स्थानवैगुण्यकरं व्याधुत्पादकं स्थानवैगुण्यविनाशनं च व्याधिविनाशनम् । स्वभावानुगतैः विशिष्टस्वरूपत्वानुबद्धैः । गुणभेदैः द्रव्यप्रभावाख्यैः । प्रजायते । व्याधुत्पत्तिविनाशकरो द्रव्याणां गुणविशेषः स्वाभावोद्भवः प्रभावो नाम इति । (३५--३६)

द्रव्याश्रिता हि दोषाणां वृद्धिक्षयकरा गुणाः ।

स्निग्धशीतादयो वीर्यसंज्ञया परिकीर्तिताः ॥ ३७ ॥

सादिपर विशेष परिणाम करनेवाला प्रभावी औषध जबतक प्रयुक्त नहीं किया जाता उनका (श्वासकासादिका) परिहार न होगा । इसका यही अर्थ है केवल दोषोंके प्रकोपसे अथवा उपशमसे विशिष्ट व्याधिका उत्पत्ति अथवा विनाश नहीं हो सकता । ३३ । ३४ ॥

दोष प्रकुपित होनेपरभी स्थानवैगुण्यकेविना व्याधिविशेषके उत्पादनका कार्य नहीं करता । सुश्रुतसंहितामें कहा है “ कुपित दोष शरीरमें संचार करते २ जिस स्थानमें तत्रस्थ वैगुण्यके कारण अवरुद्ध होते हैं वही रोग उत्पन्न होता है । ” उसीप्रकार विशिष्ट व्याधिका उत्पादक अथवा शमक द्रव्यही स्थानवगुण्यको उत्पन्न कर सकता है तथा उत्पन्न स्थानवैगुण्यका उपशम कर सकता है । अर्थात् द्रव्यके स्वभावमें याने विशिष्टरूपमें जो विशिष्ट गुण (प्रभाव) रहते हैं उन्हीके कारण विशिष्ट व्याधिका उत्पत्ति अथवा विनाश हो सकता है । ३५ ॥ ३६ ॥

दोषोंके वृद्धिक्षयकर जो स्निग्धशीतादि गुण द्रव्योंमें आश्रित रहते हैं उनकोही ‘ वीर्य ’ संज्ञा दी गयी है । और जिससे विशिष्ट व्याधिका उत्पत्ति

येन व्याधिविशेषाणामुत्पत्तिः प्रशमोऽपि वा ।

भवेत्स्वभावो द्रव्याणां प्रभाव इति कीर्तितः ॥ ३८ ॥

द्रव्याश्रिताः सिग्धशीतादयो दोषाणां वृद्धिक्षयकरा गुणा वीर्यसंज्ञाः । व्याप्युत्पत्ति-
प्रशमकरः स्वभावः प्रभाव इति । 'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं' इति चरकसुश्रुतौ क्त्वा सर्वदेहगं
स्थानान्तरपरिणामि वा कार्यमाखिलं भवेद्येन तत् वीर्यसंज्ञया परिगणनीयं ततश्च वीर्यं प्रभावश्चेति
भिन्नत्वेनाख्यानं न समीचीनमिति नाऽशङ्कनीयम् । यतश्चरकसंहितायामेव-न केवलं गुणप्रभावादेव
द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति । द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावात् गुणप्रभावात् द्रव्यगुणप्रभावाच्च । इत्यादिना
गुणप्रभावावभिन्नो द्रव्यप्रभावोऽभिहितः । यत्कुर्वन्ति तत्कार्यमित्यभिधाय यत्कुर्वन्ति तदधिकरणमिति
च चरकसुश्रुताभ्यामाख्यातम् । शीतोष्णादीनां गुणानां सर्वदेहगतं शीतोष्णत्वाभिवर्धनमभिधाय
यत् कुर्वन्ति तदधिष्ठानमित्याख्यानादधिष्ठानान्तरगतत्वं कर्मणो द्रव्यप्रभावदेवेऽत्यधिगम्यते ।
मृदुतीक्ष्णादयश्च गुणा वीर्यसंज्ञयाऽख्याताः । यथा चरकसंहितायाम् — मृदु तीक्ष्णं गुरुलघुस्निग्ध-
रूक्षोष्णशीतलम् । वीर्यमष्टविधं केचिदिति । सुश्रुतसंहितायां च — तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः
शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छलविशदाः इति । विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य सः स्मृतः ।

अथवा प्रशम होता है, द्रव्यके उस स्वाभाविक विशिष्ट गुणको 'प्रभाव' संज्ञा दी
गयी है । 'जिसकेद्वारा द्रव्य कार्य करता है उसको वीर्य कहते हैं' इस चरक-
सुश्रुतके वचनसे जब यही प्रतीत होता है कि द्रव्यका कार्य, चाहे सार्वदेहिक हो
चाहे विशिष्ट स्थानमें परिणाम करनेवाला — वीर्यके कारणही होता है, आशंका
यह उत्पन्न होती है कि फिर वीर्य व प्रभाव भिन्न क्यों माने जाते हैं । किंतु यह
शंका निराधार है । चरकसंहितामें कहा है "केवल गुणप्रभावसेही द्रव्य परिणाम-
कारक नहीं होते । अपितु द्रव्य प्रभावसेभी होते हैं, गुणप्रभावसेभी होते हैं और
द्रव्य व गुण दोनोंके प्रभावसे होते हैं ।" इस वचनमें चरकने गुणप्रभावसे
द्रव्यका प्रभाव स्पष्टतया भिन्न बतलाया है । चरक-सुश्रुतोंने बतलाया है कि,
जहां जो परिणाम होता है वही कार्य है और "जहां कार्य होता है वह अधिकरण
याने स्थान है ।" शीतोष्णादि गुणोंसे सार्वदेहिक शीतोष्णादि गुणोंके अभिवर्ध-
नरूप कार्य होनेपरभी 'जिस स्थानमें द्रव्य कार्य करते हैं वह अधिष्ठान है, इस वचनके
अनुसार यह स्पष्ट होता है कि, विशिष्ट अधिष्ठानोंमें जो कार्य होता है वह द्रव्यके
प्रभावकेही कारण । मृदुतीक्ष्णादि गुणोंका वीर्य संज्ञासे निर्देश किया गया है ।
चरकसंहितामें कहा है "वीर्य अष्टविध है । — मृदु, तीक्ष्ण, गुरु, लघु,
स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण व शीत" सुश्रुत संहितामें कहा है "शीत, उष्ण, स्निग्ध,

इति च रसवीर्यविपाकमित्रं कर्म प्रभाव इत्याख्यातं चरकसंहितायाम् । चक्रपाणिना=वीर्य शक्तिः सा च द्रव्याणां गुणस्य वा इत्यस्मिन् व्याख्यातं तन्नोपपद्यते गुणानामेव वीर्यसंज्ञयाऽख्यानात् । गुणाः शीतोष्णादयस्तद्रूपाश्च वातादयः सर्वदेहव्यापिन इति वीर्यसंज्ञकानां गुणानां कर्म सामान्यं सर्वदेहगम् । तच्चाधिकरणविशेषेषु स्थानान्तरेषु विशिष्टरूपं प्रभावसंज्ञमिति । (३७ - ३८ ॥)

व्याधयः प्रशमं यान्ति स्थानान्तरसमुद्भवाः ।

भिन्नरूपाः प्रभावेण द्रव्याणां न गुणान्तरैः ॥ ३९ ॥

व्याधिविशेषाणां विनाशाय द्रव्यप्रभाव एव प्रभवेन शीतोष्णाद्या गुणविशेषा इति निदर्शयन्नाह — **व्याधय इत्यादि** व्याधयः स्थानान्तरसमुद्भवाः । **प्रभावेण** द्रव्यसमावसिद्धेन सामर्थ्येन । प्रशमं यान्ति न **गुणान्तरैः** स्निग्धोष्णादिभिर्वीर्यसंज्ञैरिति । एतदभिप्रायेणैवोक्तं चरकेण-पुष्करमूलं हिकाश्वासकासपार्श्वशूलहराणाम्, काश्मर्यफलं रक्तसंग्राहकं रक्तपित्तप्रशमनानां गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणाम्, खदिरः कुष्ठघ्नानां, रास्ना बाहराणां विडंगं कृमिघ्नानाम् इत्यादि । एतदभिप्रायेणैव मुश्रुतसंहितायामाख्यातम् — अमीमांसान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः । आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः । इति । स्वभावतो जन्मतः इति चात्र व्याख्यातं ङल्हणाचार्येण । (३९ ॥)

रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल व विशद ये गुण वीर्यसंज्ञक हैं । ” चरकसंहितामेंही वीर्य व विपाकसेभी द्रव्यका जो भिन्न परिणाम होता है उसको प्रभाव कहा है । चरकने कहा है “ विशिष्ट कर्मको प्रभाव कहते हैं । ” ‘द्रव्योंकी अथवा गुणोंकी शक्तिको वीर्य कहते हैं ” यह चक्रपाणिका व्याख्यान उचित नहीं प्रतीत होता कारण द्रव्योंके गुणोंकोही वीर्य संज्ञा दी गयी है । शीतोष्णादि गुण और गुणरूप वातादि दोष सर्वशरीरव्यापी हैं । इस लिये वीर्यसंज्ञक गुणोंका सामान्य कर्म सर्वशरीरगत होता है । वही कर्म जब विशिष्ट अधिकरणोंमें याने स्थानोंमें विशिष्ट रूपसे होता है उसको प्रभाव कहते हैं । ३७ ॥ ३८ ॥

विशिष्ट व्याधिओंका विनाश द्रव्यके प्रभावकेही कारण होता है, शीतोष्णादि विशिष्ट गुणोंके कारण नहीं होता यह दर्शाते हुए कहते हैं—भिन्न २ स्थानोंमें उत्पन्न हुए रोग द्रव्योंके स्वभावसिद्ध सामर्थ्यसे — जिसको प्रभाव कहते हैं—शांत होते हैं । किंतु शीतोष्णादि वीर्यसंज्ञक गुणोंसे वे शांत नहीं होते इसी अभिप्रायसे चरकने कहा है “ श्वास, कास व पार्श्वशूलहर द्रव्योंमें पुष्करमूल श्रेष्ठ है । रक्तपित्तप्रशमन द्रव्योंमें काश्मरीका पुष्प, मूत्रकृच्छ्र व वातहर द्रव्योंमें

देहस्यान्यतरे स्थाने विशिष्टं कर्म यद्भवेत् ।

द्रव्याणां गुणसामान्ये स प्रभावः स्वभावजः ॥ ४० ॥

प्रभावलक्षणं निर्दिशति—अन्यतरे स्थाने यकृत्प्लीहादौ । विशिष्टं पाण्डुरज्वरादीनामुत्पादनोपशमनादिरूपम् । स्वभावजः द्रव्यशक्तिविशेषजः । यथोक्तमष्टांगहृदये — रसादि-साम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम् । इति । (४० ॥)

उपयुक्तात्समाहाराद्गुणा द्रव्यरसाश्रयाः ।

क्रियाकराणां दोषाणां यथावदुपवृंहणात् ॥ ४१ ॥

सम्पादयन्ति शारीरं सर्वं कर्म स्वभावजम् ।

आहार्याणामपथ्यानां गुणा द्रव्यरसाश्रयाः ॥ ४२ ॥

हीनातियोगाद्दोषाणामभिवृद्ध्या क्षयेण वा ।

संदूषयन्ति शारीरं सर्वं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

भुक्तद्रव्यगुणाः शारीरकर्मसंदूषका इति निर्दर्शनार्थमुच्यते । समाहारादिति सम्यग्गाहारात् । दोषाणां यथावदुपवृंहणात् स्वमानानुसारमभिवर्धनात् । अपथ्यानां स्वभावात्संस्कारमिश्रणादिभिश्च शरीरधातुदूषकानाम् । हीनातियोगात् हीनमात्रमतिमात्रं बोधयोगात् ।

“गोक्षुर, कुष्ठन्नद्रव्योर्मे खदिर, वातहर द्रव्योर्मे रास्ना, कृमिघ्न द्रव्योर्मे विडंग श्रेष्ठ है । इत्यादि । ” इसी अभिप्रायसे सुश्रुतसंहितामें भी कहा है “ स्वभावतः प्रसिद्ध औषध अमीमांस्य व अचित्य होते हैं । तज्ज्ञ चिकित्सोंको चाहिये कि, उनकी प्रयोक्तानुसार योजना करें । ” स्वभावतः का अर्थ डल्हणाचार्यने जन्मतः ऐसा किया है । ३९ ॥

अब प्रभावका स्पष्ट लक्षण बतलाते हैं । शरीरके यकृत् प्लीहा आदि विशिष्ट स्थानोर्मे जो पाण्डु, उदर, ज्वर आदि रोगोंका उत्पादन अथवा उपशमनरूपका विशिष्ट कर्म द्रव्यके विशिष्ट शक्तिके कारण—गुणसामान्य होता हुआ भी होता है उसीको प्रभाव कहते हैं । अष्टांगहृदयमें कहा है “ रसादिका साम्य होते हुए भी जो विशिष्ट कर्म होता है उसको प्रभाव कहते हैं । ” ४० ॥

उपभुक्त द्रव्योंके गुणही शरीर क्रियाओंको दूषित करते हैं यह अब बतलाते हैं । उपभुक्त उचित आहारसे द्रव्यके रसोंमें आश्रित गुण क्रियाकर दोषोंका यथायोग्य पोषणकर याने उनके २ प्रमाणोंमें उनका संवर्धनकर शरीरके सब स्वाभाविक कर्मोंका संपादन करते हैं । तथा अपथ्यकारक आहार्य द्रव्योंके रसाश्रित गुण

दोषाणामभिवृद्ध्या क्षयेण वा दोषवैषम्यादिति । संदूषयन्ति कर्म इति कर्म-
वैपरीत्यमुत्पादयन्ति । (४१ - ४३ ॥)

व्याधयः कर्मवैषम्यात्स्थानान्तरसमुद्भवाः ।

ज्वरयक्ष्मादिसंज्ञाश्च विविधाः सम्भवन्ति हि ॥ ४४ ॥

दोषा एव हि सर्वेषां कर्मणामेककारणम् ।

साम्यमारोग्यकरणं वैषम्यं रोगकारणम् ॥ ४५ ॥

दोषाणां कारणं तस्य गुणा द्रव्यरसाश्रयाः ।

इति द्रव्यगुणाख्याने कृतं दोषानुसारतः ॥ ४६ ॥

आहार्योषधिद्रव्याणां गुणवर्णने वातादिदोषसंबन्धं निदर्शयितुमाह । कर्मवैषम्यात् पचनादि-
कर्मणां हीनमिथ्यातियोगान् । व्याधयः सम्भवन्ति । साम्यं दोषाणां समानावस्थानम् । वैषम्यं
समानान् च्युतिः । दोषधातुमलानां परिमाणं प्रतिशरीरं भिन्नम् । भिन्नत्वादानाद्देवैर्द्यादिभिः शरीरा-
णाम् । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् — वैलक्षण्यान् शरीराणामस्थायित्वात्तथैव च । दोषधातुमलादीनां
परिमाणं न विद्यते । मज्जेदोवसामूत्रपित्तश्लेष्मशक्त्यसृक् । रसो जलं च देहेऽस्मिन्नेकैकांजलि-
वर्धितम् । इत्याद्युक्तं परिमाणं सामान्येनेति । प्रतिशरीरं भिन्नप्रमाणेऽपि स्वस्थशरीरस्य यथास्व-

एवं आहार्य द्रव्योंका हीन अथवा अतिप्रमाणमें उपयोग करनेसे, दोषोंकी वृद्धि
अथवा क्षयसे शरीरके स्वाभाविक क्रियाओंको दूषित करते हैं । जो द्रव्य स्वभावसे
अथवा संस्कारमिश्रणके कारण शरीरके धातुओंको दूषित करते हैं उनको अपथ्य
द्रव्य कहते हैं । उनसे क्रियावैषम्य उत्पन्न होता है । ४१ । ४२ । ४३ ॥

कर्मवैषम्यका कारण भिन्न २ स्थानोंमें ज्वर, राजयक्ष्मा आदि नामके अनेक
रोग उत्पन्न होते हैं याने पचनोत्सर्जनादि शारीर क्रियाओंके हीन, मिथ्या अथवा
अतियोगके कारण रोगोत्पत्ति होती है । सब क्रियाओंके एकमात्र कारण दोषही
होते हैं । दोष जब अपने स्वाभाविक प्रमाणमें रहते हैं याने उनका साम्य रहता
है, आरोग्य अबाधित रहता है । किंतु जब उनका स्वाभाविक प्रमाण विषड जाता
है, रोग उत्पन्न होता है । दोषधातुमलोंका प्रमाण प्रत्येक शरीरमें भिन्न रहता है ।
कारण प्रत्येक शरीरकी ऊंचाई अथवा मोटाई भिन्न २ होती है । सुश्रुतसंहितामें
कहा है “ भिन्न २ शरीरोंमें वैलक्षण्य व अस्थिरत्व होनेके कारण दोषधातुमलादि-
कोंका निश्चित प्रमाण नहीं कहा जा सकता । ” “ मज्जा, भेद, वसा, मूत्र, पित्त
श्लेष्मा, शकृत् व रक्त इनका प्रमाण एकेक अंजलि अधिक रहता है ” इत्यादि वचनोंमें

स्वाभाविकं परिमाणमुपलक्ष्योच्यते वृद्धिक्षयात्मकं दोषाणां वैषम्यम् । तस्येति दोषाणां साम्यस्य वैषम्यस्य च । इति हेतोः । द्रव्यगुणाख्यानं द्रव्यगुणानामुपवर्णनम् । दोषानुसारतः दोषारोधेन कृतम् । वातनाशनमिदं द्रव्यं श्लेष्मर्धनमिदमित्यादि । (४४-४६ ॥)

वातस्य शमनं किञ्चित् द्रव्यमन्यत्प्रकोपणम् ।

किञ्चित्पित्तस्य शमनं तस्यैवान्यत्प्रकोपणम् ॥ ४७ ॥

श्लेष्माणं शमयेत्किञ्चित्तमेवान्यत्प्रकोपयेत् ।

किञ्चिद्भूतांशसंयोगभेदानामनुरोधतः ॥ ४८ ॥

संसर्गं सन्निपातं च शमयेद्वा प्रकोपयेत् ।

किञ्चित् द्रव्यं वातस्य शमनं प्रकोपणं च किञ्चिदेवमेव पित्तश्लेष्मयोरपि । भूतांश-संयोगभेदानामिति हरीतक्यादेः सृष्टद्रव्यस्योपादानस्वरूपपञ्चभूतविकारांशसंयोगविशेषाणाम् । संसर्गं दोषयोरन्यतरयोः संयोगम् । सन्निपातं दोषत्रयसंयोगम् । द्रव्यं स्वगुणप्रभावानुसारमेकस्य द्रव्योत्पत्त्या वा प्रकोपणं यथासं भवतीति । (४७-४८ ॥)

द्रव्याणां गुणकर्माणि दोषभेदानुसारतः ॥ ४९ ॥

बतलाया हुआ यह परिमाण सामान्यतः मानना चाहिये । प्रत्येक शरीरमें इनका प्रमाण भिन्न रहता है । तोभी स्वस्थ शरीरका जो स्वाभाविक प्रमाण उसके अनुसारही वृद्धिक्षयकी कल्पना याने दोषवैषम्यकी कल्पना करनी चाहिये । दोषोंके इस साम्य व वैषम्यको द्रव्यरसाश्रित गुणही कारण होते हैं । इसीलिये दोषोंके अनुसारही द्रव्योंके गुणोंकाभी वर्णन आयुर्वेदमें किया गया है । जैसे—अमुक द्रव्य वातनाशन है, अमुक कफवर्धन इत्यादि । ४४ । ४५ । ४६ ॥

कुछ द्रव्य वातके प्रशमन होते हैं तो कुछ प्रकोपण । कुछ पित्तके अथवा श्लेष्माके शमन होते हैं तो कुछ उनके प्रकोपण । तो कुछ द्रव्य पञ्चभूत-विकारांशोंके संयोगके वैशिष्ट्यके कारण — जिससे वे उत्पन्न होते हैं—उस संयोगके भिन्न २ प्रमाणोंके कारण संसर्ग याने दो दोषोंका प्रकोप अथवा शमन करते हैं तो कुछ सन्निपातका याने तीनों दोषोंका । सारांश द्रव्य अपने गुणप्रभावके अनुसार एक दो या तीनों दोषोंका प्रकोप अथवा शमन करते हैं । ४७ ॥ ४८ ॥

द्रव्योंके सार्वदेहिक गुण व कर्मोंका अनुमान दोषोंकी भिन्नताके अनुसार सामान्यतः किया जा सकता है । याने भिन्न २ स्थानोंमें अवस्थित दोषोंके

सामान्येनीनुमीयन्ते सर्वदेहगतानि हि ।

द्रव्याणामित्यादि । दोषभेदानुसारतः स्थानान्तरेष्ववस्थितानां दोषगुणानां शीतोष्णादीनामभिवृद्ध्या क्षयेण वा । सामान्येन सर्वस्थानेषु साधारण्येन अनुमीयन्ते । (४९ ॥)

वैशिष्ट्यं कर्मणां नानाविधं स्थानान्तरेषु यत् ॥ ५० ॥

द्रव्यस्वरूपवैशिष्ट्यं तत्करोति स्वभावजम् ।

वैशिष्ट्यं च श्वसनमलमूत्रोत्सर्जनाहारपचनादिरूपं स्थानविशेषेषु संभाव्यम् । कर्मणां गतिपचनादिनाम् । तत् द्रव्यस्वरूपवैशिष्ट्यं प्रतिद्रव्यं स्वरूपभेदः । करोति सम्पादयति । (५० ॥)

नानाविधानां द्रव्याणां गुणानानाविधास्ततः ॥ ५१ ॥

दोषान् धातूस्तथा व्याधीनुद्दिश्य परिकीर्तिताः ।

यथा शुंठी कफं वातं हन्तीति गुणवर्णनम् ॥ ५२ ॥

कृत्वा दोषानुसारेण स्थानान्तरगतो गुणः ।

हृद्यत्वं पुनराख्यातः स विशिष्टः स्वभावजः ॥ ५३ ॥

शीतोष्णादि गुणोंके वृद्धि अथवा क्षयसे द्रव्योंके गुणकर्मकाभी अनुमान हो सकता है । ४९ ॥

औषधि द्रव्योंसे भिन्न २ स्थानोंमें श्वास, मलमूत्रोत्सर्जन आहारपचन आदि प्रकारकी जो विशिष्ट क्रियायें होती हैं, द्रव्योंके स्वाभाविक वैशिष्ट्यके कारण होती हैं । ५० ॥

सूठ, मिरच आदि नानाविध द्रव्योंके दोष स्थान व विशिष्ट व्याधिओंपर परिणाम करनेवाले अनेक प्रकारके जो गुण होते हैं वे दोष, रसादिधातु व मल तथा उ्वर आदि व्याधिओंके अनुसार बतलाये जाते हैं । उदा०—यद्यपि शुंठीका दोषानुसार कफवातहरत्व कार्य बतलाया गया है, उसके विशिष्ट स्वभावके अनुसार हृद्यत्व याने हृदयपर विशेष परिणामकारकत्वभी साथही बतलाया है । हृद्यत्व यही उसका विशिष्ट प्रभाव है । पिप्पलीका वातनाशकत्व ब्रतलाया गया है उसी प्रकार उसका रोगानुसार श्वासकासघ्नत्वभी बतलाया है । दोषानुसार विदारी पित्तवातघ्नी है तो स्थानवैशिष्ट्यके अनुसार मांस व शुक्रका संवर्धन करती है । तथा रोगानुसार वह मूत्रला एवं रक्तपित्तविनाशिनी है । यही उसका

पिप्पली कफवाताघ्नीऽत्युक्त्वा दोषानुसारतः ।

श्वासकासघ्नत्वमुक्तं पुनरु रोगानुसारतः ॥ ५४ ॥

विदारी पित्तवातघ्नी मांसशुक्राभिवर्धिनी ।

मूत्रला वर्णवलदा रक्तपित्तविनाशिनी ॥ ५५ ॥

दोषधातुविकारोपशमत्वमिति कीर्तितम् ।

द्रव्याणां शुंठीपिप्पल्यादीनाम् । नानाविधा इति दोषस्थानव्याधिविशेषेषु परिणाम-
कराः । दोषान् वातादीन् धातून् रसादीन् मलानपीत्युपलक्षणात् । व्याधीन् ज्वरश्वासकासा-
दीन् । उद्दिश्योलपक्ष्य परिकीर्तिताः । यथा शुंठीऽति कफवातघ्नत्वेऽभिहितेऽपि हृद्यत्वाख्यानं
स्थानविशेषपरिणामिनो गुणस्यावबोधार्थम् । पिप्पल्या श्वासकासघ्नत्वं रोगानुसारतः । विदार्या मूत्रलत्वं
रक्तपित्तविनाशकत्वं च व्याधिविनाशको गुणविशेषः एवमौषधादिद्रव्योपवर्णने दोषधातुविकारोप-
शमत्वं यथासंभवं कीर्तितमिति । (५१-५५ ॥)

स्वास्थ्यवृत्तिकरा दोषगुणानामुपबृंहणात् ॥ ५६ ॥

रोगोत्पत्तिकराश्चापि दोषवैषम्यकारणात् ।

स्वभावतः स्थानदूष्यान्तराणां च प्रदूषणात् ॥ ५७ ॥

स्थानान्तरोद्भवानां च विकाराणामुपकमे ।

दोषानुबन्धशमना गुणा दोषानुसारतः ॥ ५८ ॥

आहार्याणामौषधानां द्रव्याणामुपवर्णिताः ।

यथावदधिगन्तव्याः स्वस्थानुरहितैःपिभिः ॥ ५९ ॥

व्याधिविनाशक गुण है । इस प्रकार औषधादि द्रव्योंका वर्णन करते समय उनका
दोष, धातु व विशिष्ट विकारोंका शमकत्व यथासंभव बतलाया है । ५१ ॥
५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

स्वस्थवृत्तिमें याने शरीरका आरोग्य कायम रखनेमें, रोग उत्पन्न करनेमें
तब उनका उपशम करनेमेंभी द्रव्योंके गुणही कारणीभूत होते हैं । यही दशति
हुए कहते हैं—द्रव्योंके गुण दोषोंके गुणोंका उपबृंहणकर स्वास्थ्यवृत्तिकर होते हैं
याने आरोग्य कायम रखते हैं । वेही अपने स्वभावसे दोषोंका वैषम्य उत्पन्नकर
तथा स्थान व दूष्यको दूषित करते हुए रोग उत्पन्न करते हैं । तथा वेही दोषानुसार
भिन्नस्थानोद्भव विकारोंकी चिकित्सामें दोषानुबन्धका याने व्याध्युत्पादक दोषोंका
शमन करते हैं । एवं व्याधिप्रत्यनीक (विपरीत) चिकित्सामें अपने व्याधिविनाशक
प्रभावसे व्याधिविनाशक होते हैं । व्याधिहेतुभूत दोषोंका शमन औषधीके गुणोंसे

स्वस्थवृत्तौ विकारोत्पादने व्याध्युपशमे च द्रव्यगुणाः कारणमिति दर्शयितुमुच्यते ।
स्वस्थवृत्तिकरा इति आरोग्यानुवृत्तिकराः । **दोषगुणानामुपबृंहणात्** शरीरक्रियाकराणां
 दोषाणां यथावद्गुणवर्धनात् । **रोगोत्पत्तिकराः** विकारोत्पादकाः । **दोषवैषम्यकारणात्**
 अयथावत् वृद्धिक्षयरूपं वैषम्यं तत्कारणात् । **स्वभावतः** द्रव्यस्वभावात् । **स्थानदूष्यान्तराणां**
 आमपकाशयादिस्थानानां धात्वन्तराणां च । **स्थानान्तरोद्भवानां** भिन्नस्थानजानाम् ।
दोषानुबन्धशमनाः व्याध्युत्पादकदोषोपशमनाः । व्याधिप्रत्यनीकचिकित्सायां व्याधिविनाशक-
 प्रभावात् व्याधिनाशः । हेतुभूतस्य दोषस्योपशमो वीर्यसंज्ञैर्भषैज्यगुणैरिति । **गुणाः** आहार्याणा-
 मोषधानां च । **स्वस्थातुरहितैषिभिः** विशेषतश्चिकित्सकैः । स्वस्थातुरहितसाधनोपायज्ञानादा-
 रोग्यरक्षणपूर्वकं व्याधिविनाशनं हेतुचिकित्साशास्त्रस्येति । इति द्रव्यगुणवर्णने दोषानुबन्धदर्शनं
 नामैकादशं दर्शनम् । (५६ - ५९ ॥)

॥ इत्येकादशं दर्शनम् ॥

होता है । स्वस्थ व रोगीके द्वितरी कामना करनेवालोंको विशेषतः चिकित्सकोंको
 चाहिये कि वे आहार्य तथा औषधी द्रव्योंके गुणोंको योग्य रीतिसे जानलें । कारण
 चिकित्साशास्त्रका हेतु द्विविध है—एक आरोग्यरक्षण और दूसरा व्याधिविनाश
 और वह स्वस्थ व आतुरके हितसाधनके उपायोंका ज्ञान होनेसे सिद्ध होता है ।
 ५६ । ५७ । ५८ । ५९ ॥

॥ द्रव्यगुणवर्णनमें दोषानुबन्धदर्शननामक एकादश दर्शन समाप्त ॥

द्वादशं दर्शनम् ।

(समासतो वातादीनां विज्ञेयविषयदर्शनम् ।)

(१) दोषधातुमलाख्यानि शारीरद्रव्याणि ।

दोषास्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः सप्त धातवः ।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि नामतः ॥ १ ॥

मलास्त्रयः शकृन्मूत्रपुरीषाद्याः समासतः ।

देहमूलमिति ख्याता दोषधातुमलास्त्रिवेमे ॥ २ ॥

शरीरावयवाः सर्वे त्रिष्वेवान्तर्भवन्ति हि ।

वातादीनां स्वरूपं शारीरक्रियाविकृतिकरत्वं च यथाविस्तरमभिधाय तत्संबन्धिनां विज्ञेयविषयाणां समासतः संग्रहार्थमुच्यते । दोषा इत्यादि । दोषास्त्रयो वातादयः, सप्त धातवो रसादयः शकृदाद्याश्च मलास्त्रय इत्येतानि त्रयोदशसंख्याकानि द्रव्याणि देहमूलमिति । हि यस्मात् शरीरावयवाः शरीरांगानि । सर्वे स्थूलसूक्ष्माः । त्रिष्वेव दोषधातुमलेष्वेव । अन्तर्भवन्ति

द्वादश दर्शनं

(संक्षेपतः वातादि दोषोंका विज्ञेयविषयदर्शनम् ।)

[१] मुख्य शारीर द्रव्य, दोषधातुमल ।

वातादि दोषोंका स्वरूप, शारीरक्रिया तथा विकारोंका कर्तृत्व संबंधी सविस्तर विवेचन करनेके पश्चात् उनके संबंधमें विज्ञेय विषयोंका संक्षेपरूप संग्रह करनेके अभिप्रायसे कहते हैं । वायु, पित्त व कफ ये तीन दोष रसरक्तादि सात धातु और शकृत, मूत्र व खेद नामके तीन मल एवं १३ मुख्य द्रव्य शरीरके मूल याने घटक द्रव्य हैं । शरीरके स्थूल सूक्ष्म सर्व अवयवोंका इन त्रयोदश द्रव्योंमेही अंतर्भाव होता है । सुश्रुतसंहितामें कहा है—शरीर “ दोषधातुमलमूल ” ही है । वातादि दोषोंके प्रत्येकशः ५ भेद, वसा लसीका इत्यादि उपधातु, रसरक्तादि धातुओंके कफपित्तादि मल इनकी परिगणना करनेसे देहमूलभूत त्रयोदश द्रव्योंकी संख्या बढ सकती है । (१-२)

दोषधातुमला एव सर्वेषामवयवानामुपादानमिति । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् - दोषधातुमलमूलं हि शरीरमिति । **समासत इति** संक्षेपेण । विस्तारे पुनर्वातादीनां प्रत्येकं पंच भेदाः , वसालसर्का-
घाधोपधातुसंज्ञाः, धातूनां मलाः कफपित्तादिसंज्ञाश्च परिसंख्येयाः । (१ - २ ॥)

(२) दोषधातुमलानां स्वरूपम् ।

सामर्थ्यात्कर्पसम्पन्नाः सूक्ष्मा वातादयस्त्रयः ॥ ३ ॥

स्थूला रसादयः सप्त दोषाधाराश्च धातवः ।

हीनसत्त्वा हि धातूनामंशास्ते मलसंज्ञकाः ॥ ४ ॥

दोषधातुमलानां स्वरूपविशेषं विवृणोति । **सामर्थ्यात्कर्पसम्पन्ना** इति धातुमला-
पेक्षया सामर्थ्यातिशयसम्पन्नाः । **दोषाधाराः** रसादिधात्वाश्रयेणावतिष्ठन्ते दोषा वातादय इति ।
यथोक्तमष्टांगहृदये—तत्रास्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु खेदरक्तयोः । श्लेष्मा शेषेषु । **हीनसत्त्वाः**
स्वल्पसामर्थ्याः । **धातूनामंशाः** । **मलसंज्ञकाः** मलसंज्ञयोपदिष्टाः । उत्पत्तिविनाशसातत्य-
स्वरूपं जीवनाख्यं कर्मानुभवन्तः क्षीणसामर्थ्या धातूनामंशा एव घनद्रवस्वेदावस्थावस्थिता
मलसंज्ञा इति । (३ - ४ ॥)

(३) शरीरकर्माणि प्रमुखानि तत्कर्तारश्च ।

त्रीणि कर्माणि मुख्यानि गतिः पक्तिश्च संग्रहः ।

वायुः पित्तं कफश्चेति कर्तारः प्रमुखास्त्रयः ॥ ५ ॥

[२] दोषधातुमलोंका सामान्य स्वरूप ।

दोष धातु और मलोंका स्वरूप अब दर्शाते हैं । दोष धातु व मलोंकी अपेक्षा
सूक्ष्म व सामर्थ्यातिशयसंपन्न होते हैं, धातु स्थूल व दोषोंके आश्रयरूप रहते हैं ।
अष्टांगहृदयमें लिखा है—वायु विशेषतः अस्थिधातुमें आश्रित रहता है, पित्त रक्त धातु
व स्वेदनामक मलमें एवं श्लेष्मा अवशिष्ट धातु व मलोंमें विशेषतः आश्रित रहता
है । धातुओंके सत्त्वहीन अंशकोही मल कहते हैं । उत्पत्तिविनाशसातत्य (अखं-
डितत्व) रूप जीवन क्रियाके अनुभवमें जिनका सामर्थ्य क्षीण होता है ऐसे,
घनरूप, द्रवरूप व बाष्पस्वरूप धातुओंका निर्देश मल संज्ञासे किया गया है ।
(३-४)

[३] शरीरसंबंधी मुख्य क्रिया व क्रियाकर दोष ।

(१) गति (२) पचन (३) संग्रह (पोषक द्रव्योंशोंका संग्रह)

यह तीन शरीरसंबंधी प्रमुख कर्म होते हैं । और अनुक्रमसे वायु, पित्त व कफ

त्रीणि कर्माणीति स्थानभेदानुसारेण विविधस्वरूपाणामपि कर्मणां त्रिविवेकान्तर्भावः । गतिश्चलनं सर्वावयवानाम् । पक्तिः पचनमाहारस्य धातूनां च । संग्रहः पोषकद्रव्याणां समाकर्षणम् । कर्तारः गत्यादिकर्मणां सम्पादकाः । प्रमुखास्त्रय इति स्थानान्तरगताः प्राणादिभेदाः कर्मान्तरसम्पादका अपि वातादिदोषत्रयभेदा इति प्राधान्यात् वातपित्तश्लेष्माणस्त्रय एव कर्तारः प्रमुखा इति । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् - वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः तैरेव अव्यापनैः शरीरमिदं धार्यते । (५ ॥)

(४) दोषाणां विशेषाधारा धातवो मलाश्च ।

वातादयः सर्वदेहव्यापिनोऽपि विशेषतः ।

वायुरस्थि स्थितः पित्तं रुधिरं समवस्थितम् ॥ ६ ॥

शेषेष्ववस्थितः श्लेष्मा पञ्चसंख्येषु धातुषु ।

स्वेदे प्रतिष्ठितं पित्तं श्लेष्मा मूत्रपुरीषयोः ॥ ७ ॥

सर्वशरीरव्यापिनामपि वातादीनां धातुविशेषावस्थानदर्शनार्थमुच्यते । वातादय इति । दोषाधाररूपाणां धातूनामस्थानि वायूराधारः, पित्तस्य रुधिरं, शेषाः पञ्च रसमांसमेदोमज्जशुक्राणि श्लेष्माणो विशेषत इति । मला अपि दोषाधारास्तेषां स्वेदः पित्तस्य मूत्रपुरीषौ च श्लेष्मण आधारी विशेषेणेति । रूक्षादिगुणस्वरूपस्य वायोरसमानगुणत्वात् मलान्तरं वाय्वाश्रयरूपं नोक्तम् । (६-७)

इनके कर्ता (करनेवाले) हैं । शरीरके भिन्न २ स्थानोंमें भिन्न २ कर्म होते हैं और इनको करनेवाले दोषोंके प्राणादि भेद बतलाये हैं । किंतु इन सब कर्मोंका अंतर्भाव गत्यादि तीन क्रियाओंमें होता है । प्राणादि भेद मुख्य दोषोंके होनेके कारण वातादि तीन दोषही प्रमुख क्रियाकारी माने गये हैं । सुश्रुत-संहितामें कहा है वायु, पित्त व कफ ये तीन दोषही देहोत्पत्तिके कारण हैं और येही अविकृत अवस्थामें शरीरका धारण करते हैं । (५)

[४] दोषोंके विशेषाधार धातु ।

सर्वशरीरव्यापी वातादि दोषोंका धातुविशेषमें अवस्थान (निवास) विशद करनेके लिये कहते हैं । दोषोंके आधाररूप धातुओंसे विशेषतः अस्थि वायुका, रक्त पित्तका और अवशिष्ट रस-मांस-मेद-मज्जा व शुक्र ये पांच धातु श्लेष्माके विशिष्ट स्थान हैं । धातुओंके समान मलभी दोषोंके आधाररूप बतलाये गये हैं । जैसे पित्तका आश्रय स्वेद, श्लेष्माके पुरीष व मूत्र । पुरीष, मूत्र व स्वेद इन तीनोंकाभी स्वरूप रूक्षादिगुणयुक्त वायुके स्वरूपसे भिन्न होनेके कारण कोईभी मल वायुका विशेष आश्रय बतलाया नहीं । (६-७)

(५) दोषाणां विशिष्टान्याश्रयस्थानानि ।

करपादं कटिः पक्वाशयस्त्वक् श्रवणेंद्रियम् ।
 अपानदेशः क्षुद्रांत्रं हृदुरो मस्तकस्तथा ॥ ८ ॥
 वायोः स्थानानि मुख्यानि पित्तस्य ग्रहणीकला ।
 क्षुद्रमंत्रं यकृन्नेत्रं हृदयं स्पर्शनेन्द्रियम् ॥ ९ ॥
 श्लेष्मणश्च शिरःकंठोऽरः क्लोम रसनेन्द्रियम् ।
 पर्वाण्यामाशयो घ्राणमेतानि स्युर्विशेषतः ॥ १० ॥

गुणसामान्याद्वातुमलवदंगविशेषा अपि वातादीनां विशिष्टस्थानानि यथा — करपादादीनि वायोः । ग्रहण्यादीनि पित्तस्य । शिर आर्दानि श्लेष्मण इति । क्षुद्रान्त्रमित्यत्रामाशयापरपर्यायत्वेनाभिहितम् । अष्टांगहृदये “ नाभिरामाशयः खेदो लसीका रुधिरं रसः । दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः । इति पित्तस्थानत्वेनाख्यात आमाशयः क्षुद्रान्त्रनाम । आहारपाचकस्य पित्तस्याश्रयत्वात् । क्षुद्रान्त्रस्योपरि स्थितो दृत्तिसमाकारस्त्वामाशयः स्थानं श्लेष्मणः, न पित्तस्य । पक्वाशयकटीसन्धि-श्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम् । स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः । इत्यष्टांगहृदयोक्तेषु वातस्थानेष्वामाशयो नाभिहितः । किन्तु समानवायुवर्णने “ समानोऽग्निसमीपस्थः, इत्यादिना वातस्थानमेकं

[५] दोषोंके विशिष्ट आश्रयस्थान ।

रूक्षस्निग्धादि गुणोंके सामान्यके कारण धातु व मल दोषोंके विशेष आश्रय बतलाये गये हैं । उसीप्रकार शरीरके भिन्न २ अंग अथवा अवयवभी वातादि दोषोंके विशिष्ट स्थान होते हैं । हस्त, पाद, श्रोणिमंडल, पक्वाशय, त्वचा, श्रवणेंद्रिय, अपान, क्षुद्रांत्र, हृदय, उरःप्रदेश, मस्तक यह वायुके मुख्य स्थान हैं । ग्रहणी, क्षुद्रांत्र, यकृत्, नेत्र, हृदय, स्पर्शनेन्द्रिय यह पित्तके और मस्तक, कंठ, उरःप्रदेश, क्लोम, जिह्वा, अस्थिसंधि, आमाशय यह श्लेष्माके मुख्य आश्रयस्थान हैं । यहांपर क्षुद्रांत्रका निर्देश पित्तस्थानरूप आमाशयके अभिप्रायसे किया है । अष्टांगहृदयमें क्षुद्रांत्रके अभिप्रायसेही आमाशय पित्तस्थान बतलाया गया है । कारण पाचकपित्त क्षुद्रांत्रमेंही आश्रित रहता है । क्षुद्रांत्रके उपरका अन्नाधाररूप आमाशय श्लेष्माका स्थान है; पित्तका नहीं । अष्टांगहृदयोक्त वात-स्थानोंमें आमाशयका निर्देश नहीं । अपि तु समानवायुके वर्णनमें “ समानवायु अग्निके समीप रहता है ” इत्यादि वर्णनसे आमाशय याने क्षुद्रांत्र वातस्थान

धुद्रान्त्रमिति सूचितम् । वातादीनां स्थानविशेषाख्याने वाग्भटोपदिष्टा धातवो मलाश्च प्रायुक्तत्वादत्र नाभिहितः । सर्वदेहव्यापिनो वातादयः स्थानेष्वेतेषु विशेषेणावतिष्ठन्त इति । (८-१० ॥)

(६) स्वस्थानां विकृतानां च दोषाणां प्रधानतमानि स्थानानि ।

सर्वेषु प्रमुखं वायोः प्रकृतिस्थस्य मस्तकम् ।

स्थानं तथा दूषितस्य पक्वाधानं विशेषतः ॥ ११ ॥

ग्रहणी प्रकृतिस्थस्य धुद्रान्त्रं विकृतस्य च ।

पित्तस्य प्रमुखं स्थानमाख्यातं श्लेष्मणस्तथा ॥ १२ ॥

हृदयं प्रकृतिस्थस्यामाशयो विकृतस्य च ।

वातादीनां विशिष्टस्थानेष्वपि प्रधानतमस्थाननिर्दर्शनार्थमुच्यते । सर्वेष्वित्यादि । प्रधानत्वेनोक्तेष्वपि वातादीनां स्थानेषु वायोः प्रकृतिस्थस्येति समावावस्थितस्य । प्रमुखं स्थानं मस्तकं प्राणस्थानत्वेनोक्तः शिरोगतो मस्तिष्कः । दूषितस्य विकृतावस्थां गतस्य च पक्वाधानं पक्वाशयः स्थूलान्त्रमिति यावत् । प्रमुखं स्थानम् । एवमेव प्रकृतिस्थस्य पित्तस्य ग्रहणी विकृतस्य च धुद्रान्त्रं प्रमुखं स्थानम् । प्रकृतिस्थस्य श्लेष्मणो हृदयं विकृतस्यामाशयश्चेति । ननु वातपित्तश्लेष्मणां क्रमान् पक्वाशयो नाभिरामाशयश्चेति प्रमुखस्थानान्याख्याताति । यथा अष्टांगहृदये

सूचित किया गया है । वाग्भटने वातादि दोषोंके स्थानवर्णनमें धातु और मलों-काभी निर्देश किया है । किन्तु दोषस्थानरूप धातुमलोंका प्रथम स्वतंत्रतया वर्णन करनेसे यहांपर उनका उल्लेख किया नहीं । (८-१०)

[६] अविकृत तथा विकृत दोषोंके सर्वप्रमुख स्थान ।

वातादि दोषोंके जो प्रमुख स्थान बतलाये गये हैं उनमेंभी प्रामुख्य दर्शानेके लिये कहते हैं । वायुके सर्व स्थानोंमें अविकृत वायुका प्रमुख स्थान मस्तक याने मस्तकमें अवस्थित मस्तिष्क है और विकृत वायुका सर्वप्रमुख स्थान है पक्वाशय याने स्थूलान्त्र । इसी प्रकार अविकृत पित्तका प्रमुख स्थान ग्रहणी व विकृत पित्तका धुद्रान्त्र । और अविकृत श्लेष्माका सर्वप्रमुख स्थान हृदय व विकृत श्लेष्माका प्रमुख स्थान है आमाशय । प्राचीन शास्त्राकारोंने वायु, पित्त और कफ इनके मुख्य स्थान अनुक्रमसे पक्वाशय, धुद्रान्त्र और ऊर बतलाये हैं । जैसे अष्टांगहृदयमें “ वातका पक्वाधान याने पक्वाशय, पित्तका नाभि (लब्धंत्र) कफका उर (आमाशय) प्रमुख स्थान हैं ” सुश्रुत संहितामेंभी “ पक्वाशय, पक्वाशय व आमाशयका मध्य, और आमाशय अनुक्रमसे वात पित्त और

स्थानं वातस्य तत्रापि पकाशयानं विशेषतः । पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः । कफस्य सुतरामुरः । सुश्रुतसंहितायां च — तत्र वातः श्रोणिगुदसंश्रयः तदुपर्यधोनाभेः पकाशयः, पकामाशयमध्यं पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मण इत्युपवर्णितम् । तत्कथं मस्तको ग्रहणी हृदयमित्येतेषां प्राधान्यमुपपद्यते । उच्यते—पकाशयादिषु संचितानामेव वातादीनां वस्तिविरेको वमनमिति शोधनान्यभिहितानि । संशुद्धेषु चैतेषु स्थानेषु वातादिवैषम्यान् व्याधिसम्भवाभावावश्याख्यातं च तन्त्रान्तरेषु । यथा चरक-संहितायाम् — आस्थापनानुवासनं तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तदादित एव पकाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति । विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तद्वयादित एवामाशय (क्षुद्रान्त्र) मनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलं चापकर्षति । वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तद्वयादित एवामाशय-मनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति । जीवनसाधनीभूतानां प्रधानकर्मणां प्राकृतानां सम्पादका वातपित्तश्लेष्मणां भेदाः प्राणो वायुः, पाचकं पित्तमवलम्बकश्च श्लेष्मेति । प्रधानस्थानानि चैतेषां मस्तको ग्रहणी हृदयं चेत्याख्यातानि । तत एव च प्रकृतानां वातपित्तश्लेष्मणां प्रमुखानीमानि पकाशयः क्षुद्रान्त्रमामाशयश्चेति विकृतानामित्युपवर्णितम् । (११ - १२ ॥)

कफके प्रमुख स्थान हैं ” इस प्रकारका वर्णन किया गया है । इस प्रकारका वर्णन होते हुवे अविकृत और विकृत दोषोंके भिन्न २ प्रमुख स्थानका वर्णन — जो यहांपर बतलाया है — कैसा सम्मत हो सकेगा ? इस प्रकारकी संभवनीय आशंकाका परिहार निम्न प्रकार हो सकता है ।

पकाशयादि जो प्रमुख स्थान बतलाये हैं उनमें संचित वातादि दोषोंके ऊपर वस्ति, विरेचन, वमन इन शोधनोंका उपयोग होता है । पकाशय क्षुद्रान्त्र और आमाशय, वस्ति विरेचन व वमन उपायोंसे शुद्ध होनेपर वातादि दोषोंके विकृतिसे संभवनीय विकारोंका परिहार हो सकता है । इस अभिप्रायका स्पष्टीकरण चरकसंहितामें किया है । वातके ऊपर “ सर्व उपक्रमोंमें अनुवासन वस्ति, श्रेष्ठतम है । वह पकाशयमें प्रविष्ट होकर वैकारिक वातमूलका विनाश करता है । पित्तके ऊपर सर्व उपक्रमोंमें विरेचन श्रेष्ठ है । कारण वह आमाशयमें (क्षुद्रान्त्रमें) प्रविष्ट होकर वैकारिक पित्तमूलको नष्ट करता है । और वमन श्लेष्माके उपक्रमोंमें श्रेष्ठतम है, जो आमाशयमें प्रविष्ट होकर वैकारिक श्लेष्ममूलका विनाश कर सकता है ” इस वर्णनसे पकाशयादि स्थान विकृत वातादि दोषोंके प्रमुख स्थान स्पष्ट प्रतीत हो सकते हैं । वातादिके प्राण आदि जो भेद बतलाये हैं उनमें प्राणवायु, पाचकपित्त, और अवलम्बक श्लेष्मा इनका कार्य जीवनव्यापारकेलिये

(७) वातादीनां भेदाः

स्थानान्तरेषु दोषाणां कर्मभेदानुसारतः ॥ १३ ॥

वातादीनां पंच भेदाः प्रत्येकं परिकल्पिताः ।

सामान्येन सर्वदेहव्यापिनां सर्वशरीरक्रियाकरणामपि दोषाणां-स्थानान्तरेषु आम-
पकाशयादिपञ्चगेषु । कर्मभेदानुसारतः स्थानानुसारं कर्मभेदस्तदनुसारतः । भेदाः प्रकल्पितास्ते
प्रत्येकं पंच पंचसंख्याः स्युः । वातादीनां सर्वशरीरगतं चलनादिकं सामान्यं कर्म पंचधा प्रविभज्य
तत्कर्मकराः प्रत्येकं पंच भेदा दोषाणामुपकल्पिता वक्ष्यमाणस्वरूपाः । (१३ ॥)

(८) वातभेदानां नामस्थानानि ।

प्राणोदानौ तथा व्यानः समानश्चाथ पंचमः ॥ १४ ॥

अपान इति वातस्य भेदाः पंच प्रकीर्तिताः ।

प्राणः शिरस्युदानश्चोरसि व्यानो हृदि स्थितः ॥ १५ ॥

आमाशये समानश्चापानो वायुरपानगः ।

वायोः पंच भेदाः प्राणोदानव्यानसमानापानाख्याः । तेषां प्राणः शिरसि स्थितः । उदानश्च
उरसि इति उरोगते फुफ्फुसे । व्यानो हृदि उरोगते पेशीविनिर्मिते रसविक्षेपणयन्त्रस्वरूपे ।

प्रधान है । और इनके स्थान अनुक्रमसे मस्तक, ग्रहणी और हृदय होनेके कारण
वे वातादि अविकृत दोषोंके प्रमुख स्थान यहांपर बतलाये हैं । ११-१२ ॥

[७] वातादि दोषोंके भेद ।

सर्वशरीरव्यापी वातादि दोषोंके स्थानभेद और कर्मभेदके अनुसार
पांच भेद बतलाये गये हैं । दोषोंके सर्वशरीरव्यापी चलनादि कर्मके भेदोंके
अनुसारही दोषभेदोंकी कल्पना हो सकती है । १३ ॥

[८] वातभेदोंके नाम और स्थान ।

(१) प्राण (२) उदान (३) व्यान (४) समान (५) अपान ये वायुके
पांच भेद हैं । उनमेंसे प्राणवायु मस्तकमें याने मस्तकाश्रित मस्तिष्कमें रहता है ।
उदानवायु उर याने उरोगत फुफ्फुसमें । व्यानवायु हृदयमें याने उरोगत रसविक्षेपण-
यन्त्ररूप हृदयमें । समानवायु आमाशय याने क्षुद्रांत्रमें और आपानवायु अपान-
स्थानमें रहता है । सामान्यतः आपानका अर्थ है गुद । किंतु शुक्र, आर्तव, मल,

आमाशये इति शुद्धान्त्रे । समानोऽग्निसमीपस्थ इत्युपवर्णनात् । अपानो वायुरपानग इति उदरान्तरधःप्रदेशे । शुक्रार्तवशक्नुमूत्रगर्भनिष्क्रामणान्यस्य कर्माणाख्यातानि । तानि च सम्पादयितु-
मपानस्थितः सुश्रुताभिप्रायानुसारं पक्वाशयाश्रितो वा (पक्वाधानालयोऽपान इति सुश्रुतः) वायुर्न
प्रभवेदिति । (१४-१५ ॥)

(९) पित्तभेदानां नामस्थानानि ।

पाचकं रंजकं साधकाख्यमालोचकं तथा ॥ १६ ॥

भ्राजकं चेति पित्तस्य पाचकं ग्रहणीगतम् ।

यकृतस्थं रंजकाख्यं च साधकाख्यं हृदि स्थितम् ॥ १७ ॥

आलोचकं दृष्टिगतं भ्राजकं त्वचि संस्थितम् ।

पित्तभेदानां नामस्थानानि दर्शयति । पाचकरंजकसाधकालोचकभ्राजकाख्याः पंचभेदाः
पित्तस्य । ग्रहणी यकृतं हृदयं नेत्रे त्वगिति च स्थानानि क्रमादिति ।

(१०) श्लेष्मभेदानां नामस्थानानि ।

अवलम्बकसंज्ञश्च बोधकः क्लेदकस्तथा ॥ १८ ॥

तर्पकः श्लेषकः पंच श्लेष्मभेदा उदाहृतः ।

हृत्स्थोऽवलम्बकाख्यः स्याद्बोधको रसनागतः ॥ १९ ॥

मूत्र, गर्भ इतका उत्सर्जनरूप आपनका जो कार्य बतलाया है वह केवल गुदाश्रित
वायु कर नहीं सकता । अतः आपानशब्दसे उदरका नीचेका अन्तर्भाग माननाही
युक्त होगा । १४-१५ ॥

[९] पित्तभेदोंके नाम और स्थान ।

पित्तके पांच भेदोंके नाम हैं (१) पाचक (२) रंजक (३) साधक
(४) आलोचक और (५) भ्राजक । उनमेंसे पाचकपित्तका स्थान है ग्रहणी
रंजकका यकृत, साधकपित्तका हृदय, अलोचक पित्तका नेत्र, और भ्राजक पित्तका
त्वचा । (१६॥-१७॥)

[१०] श्लेष्मभेदोंके नाम और स्थान ।

श्लेष्माभेदोंके (१) अवलंबक (२) बोधक (३) क्लेदक (४) तर्पक
(५) श्लेषक ये पांच नाम हैं । अवलंबक श्लेष्मभेद हृदयमें और बोधक रसनामें
आश्रित रहता है । क्लेदककफका स्थान अमाशय, तर्पकका मस्तक, और श्लेषक-

आमाशये क्लेदकाख्यस्तर्पकः शिरसि स्थितः ।

श्लेष्मकाख्यो विशेषेणावस्थितश्चास्थिसन्धिषु ॥ २० ॥

श्लेष्मभेदानां नामस्थानानि यथा — अवलम्बकबोधकक्लेदकर्तृकश्लेष्मकाख्याः पंच भेदाः श्लेष्मणः स्थानानि चैतेषां हृद्रसनाऽमाशयशिरःसन्धय इति । अवलम्बकाख्यस्य स्थानमुर इत्याख्यातं तन्त्रकृद्भिस्तत् हृदयाभिप्रायेणेति प्रागुपवर्णितम् । (शा. त. द. उत्तरार्धे द्वितीये दर्शने) (१८-२० ॥)

[११] दोषाणां सर्वशरीरगतं सामान्यं कर्म ।

शरीरस्याखिलं कर्म विविधं चलनात्मकम् ।

करोत्यविकृतो वायुर्गतिमान् सर्वदेहगः ॥ २१ ॥

प्रकृतिस्थं तथा पित्तं तैजसं पचनात्मकम् ।

सर्वदेहगतं कर्म विविधं विनिवर्तयेत् ॥ २२ ॥

करोत्यविकृतः श्लेष्मा कर्म संश्लेषणात्मकम् ।

प्राणादिसंज्ञानां दोषभेदानां कर्मविशेषावबोधार्थं वातादीनां सामान्यं सर्वदेहगतं कर्म निर्दिशति । अविकृतो वायुर्गतिमानिति चलनात्मकं, पित्तं चाविकृतं तैजसमिति पचनात्मकं, श्लेष्मा चाविकृतः श्लेष्मक इति श्लेषणात्मकं सर्वशरीरगतं कर्म करोति । (२१ - २२ ॥)

[१२] प्राणवायोः कर्माणि ।

वायुः प्राणो विशेषेण संज्ञावहनकारणम् ॥ २३ ॥

नामके श्लेष्मभेदका स्थान अस्थिसंधी है । प्राचीन तंत्रकारोने श्लेष्मभेदोंके स्थानोंके वर्णनमें अवलंबककफका स्थान उर बतलाया है वह हृदयके अभिप्रायसेही बतलाया है । इस संबंधमें शारीरतत्त्वदर्शन उत्तरार्ध द्वितीय दर्शनमें स्पष्टीकरण किया गया है । (१८-२०)

[११] वातादिदोषोंका सर्वशरीरव्यापी सामान्य कार्य ।

गतिस्वभाव वायु अविकृत अवस्थामें सर्व शरीरका याने शरीरगत सर्व अवयवोंका संचालन करता है । अविकृत पित्त आहार तथा शरीरधातुओंका पचन करता है और श्लेष्मा अविकृत अवस्थामें सर्व शरीरमें संश्लेषण (संघटन-पोषण) का कार्य करता है । २१-२२ ॥

[१२] प्राणवायुके कार्यविशेष ।

वायुका प्राणसंज्ञक भेद जो मस्तिष्कमें रहता है, उसका कार्य संज्ञा-ज्ञानका अभिवहन यह मुख्य है । उद्गार (डकार) कास (खाँसी) निःश्वास (आसो-

उद्धारकासनिःश्वासष्टीवनान्नप्रवेशनम् ।

गतिरूपं कर्म नानाविधं चासौ निर्वयेत् ॥ २४ ॥

प्राणवायुविशेषेण संज्ञाग्रहनकारणम् । विविधचलनस्वरूपाणि कर्माणि सर्वावयवानां संज्ञामूलानि । बुद्धिहृदयेंद्रियचित्तधृगियुपवर्णितो वायुः प्राणाख्यः संज्ञाग्रहनं सर्वावयवेषु विदधातीति । (२३ - २४ ॥)

(१३) उदानस्य वायोः कर्माणि ।

उदानाख्यो विशेषेण वायुरुत्साहकारणः ।

कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां तथा वाचः प्रवर्तनः ॥ २५ ॥

उदानाख्यो वायुर्विशेषेणोत्साहकारण इति सूक्ष्मानुसूक्ष्माणां शरीरावयवानां सर्वेषां प्रेरकः । सूक्ष्मावयवसमुदायस्वरूपाणामङ्गविशेषाणां विशिष्टमभिव्यक्तं च चलनात्मकं कर्म तद्रतानां सूक्ष्मावयवानामनभिव्यक्ताचलनाज्जायते । सूक्ष्मावयवानां चलनमिदमुत्साहो नाम । तत्कर्ता च वायुरुदानाख्य इति । (२५ ॥)

(१४) व्यानवायोः कर्म ।

गतिप्रदो विशेषेण व्यानः सर्वक्रियाकरः ।

श्वास) ष्ठीवन (थुंकना) अन्नका प्रवेश इत्यादि विशिष्ट गतिरूप कार्यका संपादन संज्ञाके अभिवहनसेही प्राणवायु करता है । २३-२४ ॥

[१३] उदानवायुके कार्यविशेष ।

उदानवायु विशेषतः उत्साहका कारण होता है और उत्साहसे सर्व कर्मेन्द्रियोंकी प्रवृत्ति (अपने २ कार्योमें) करता है । शरीर अवयवोंका विशिष्ट प्रकारका कर्म विशिष्ट चलनक्रियासे होता है, और ऐसे अभिव्यक्तरूप चलनका कारण सूक्ष्म अवयवोंका (घटकोंका) सूक्ष्म व अव्यक्त चलन होता है । इस अव्यक्त सूक्ष्म घटकोंके चलनका नाम है उत्साह । और उसका कर्ता है वायुका उदानसंज्ञक भेद । २५ ॥

[१४] व्यानवायुके विशिष्ट कार्य ।

शरीरके सर्व अंगोपांगोंका विशिष्ट प्रकारका चलन यह व्यानवायुका कार्य है । अष्टांगहृदयमें लिखा है “ गति, अपक्षेपण, उत्क्षेपण, निमेषोन्मेष इत्यादि शरीरके सर्व कर्म व्यानवायुसेही संबद्ध हैं । २५ ॥

व्यानाख्यो वायुविशेषेण गतिप्रदः । सर्वेषामंगोपांगानां संचालनकरः । यथोक्तमष्टांग-
हृदये-गत्त्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः । प्रायः सर्वाः क्रियास्तरिम्न् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ।
इति । (२५ ॥)

(१५) समानवायोः कर्म ।

आकुंचनप्रसरणात् क्षुद्रांत्रस्य विशेषतः ॥ २६ ॥

करोत्याहारपचनं सामानाख्यः समीरणः ।

समानाख्यो वायुः क्षुद्रांत्रस्याकुंचनप्रसरणात् आहारपचनं करोति । आहारपचन-
सहायो भवति । आहारपाचकस्य पित्तस्यास्त्रावः समानवायुसंचालितादंत्राज्जायत इति । (२६ ॥)

[१६] अपानवातकर्म ।

अपानश्चाधोगतानां स्रोतसां संप्रवर्तनात् ॥ २७ ॥

शुक्रार्तवशक्नुमूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः ।

अपानः वातभेदः । अधोगतानां स्रोतसामिति शुक्रार्तवाद्यभिवहानात् ।
संप्रवर्तनात् प्रेरणात् । (२७ ॥)

[१७] पाचकपित्तकर्म ।

पाचकाख्यं विशेषेण पित्तमाहारपाचकम् ॥ २८ ॥

पाचकाख्यं पित्तमाहारस्य पाचकमिति । (२८ ॥)

[१५] समानवायुके विशिष्ट कार्य ।

उपभुक्त आहारका पचन करना यही समानवायुका प्रमुख कार्य है ।
आहारका पचन जिस पित्तसे होता है उसका उचित स्त्राव अंत्रके आकुंचन
प्रसरणसे हो सकता है । अंत्रका यह आकुंचन प्रसरण अंत्रगत समानवायु करता
है और इसी अभिप्रायसे आहारपचन समानवायुका कार्य बतलाया है । २६ ॥

[१६] अपानवायुका विशिष्ट कार्य ।

शरीरके अधोभागमें अवस्थित स्रोतसोंके प्रवृत्तिसे शुक्र, आर्तव, मूत्र,
मूत्र, गर्भ, इनका उत्सर्जन यह अपानवायुका कार्य है । २७ ॥

[१७] पाचक पित्तका कार्य ।

पाचक नामका पित्त उपभुक्त आहारका पचन करता है । आहारके पच-
नसेही उसको पाचक नाम दिया गया है । २८ ॥

[१८] रंजकपित्तस्य कर्म ।

रंजकाख्यं तथाऽहाररसरंजनकारणम् ।

रंजकसंज्ञं पित्तमाहाररसरंजनकारणम् आहाररसे यकृतप्राप्ते तत्रस्थेन पित्तेन रक्त-
त्वमस्मिन्नुपजायत इति । (२८ ॥)

[१९] रक्तगतो रंजकपित्तभेदः ।

रक्तस्य रंजनात्पित्तं रक्तस्थमपि रंजकम् ॥ २९ ॥

रक्तस्य रंजनादिति रक्तधातौ रागोत्पादनाद्रक्तेष्वणुरूपेष्ववयवेषु संहतीभाष-
हेतोरनुरागस्योत्पादनाद्रक्तगतमपि पित्तं रंजकं रक्तरंजकमित्याख्याया संख्येयम् । (२९ ॥)

[२०] साधकपित्तस्य कर्म ।

साधकस्य विशेषेण कर्म संज्ञाप्रबोधनम् ।

साधकपित्तस्य विशिष्टं कर्म संज्ञाप्रबोधनम् । अष्टांगहृदये-बुद्धिमेधामिमानाद्यैर-
भिप्रेतार्थसाधनान् । साधकं हृद्रतं पित्तम् । इत्युपवर्णितम् । प्राणवायुस्थानत्वेनाख्याते मस्तिष्कापर-
पर्याये समवस्थितमुष्मस्वरूपं पित्तमिदं स्वभावात्संज्ञाप्रबोधनं करोतीति । (२९ ॥)

[१८] रंजकपित्तका विशिष्ट कार्य ।

आहारोद्भव रसका रंजन करना — रसमें रक्तत्वका निर्माण करना यह
रंजकपित्तका कार्य है । २८ ॥

[१९] रंजक पित्तका रक्तधातुगत एक प्रकार ।

रक्तधातुमें उष्ण स्वरूप पित्तसे रंजन होता है याने रक्तगत सूक्ष्म अणुओंमें
परस्पर अनुराग उत्पन्न होता है । जिस अनुराग अथवा रंजनसे संघरूप मांसकी
उत्पत्ति हो सकती है । अतः रक्तगत पित्तकाभी रंजक संज्ञासे निर्देश हो सकता
है । २९ ॥

[२०] साधक पित्तके विशेष कार्य ।

साधकपित्तका विशिष्ट कार्य है संज्ञाप्रबोधन । प्राणवायुके विशिष्टस्थान-
रूप मस्तिष्कमें अवस्थित उष्णतारूप साधकपित्तसे संज्ञा उत्तेजित होती है ।
और इसी अभिप्रायसे अष्टांगहृदयमें “ बुद्धि, मेधा, अभिमान, आदिसे हृदयस्थ-
पित्त आकांक्षित अर्थका साधन करता है, अतः उसको साधक संज्ञा है ” इस
प्रकार साधकपित्तका वर्णन किया है । (यहांपर हृदयका अर्थ मस्तिष्क है ।)
साधकपित्तके वर्णनमें इसविषयमें स्पष्टीकरण हो चुका है । २९ ॥

[२१] आलोचकाख्यस्य पित्तस्य कर्म ।

आलोचकस्य पित्तस्य कर्म रूपावलोकनम् ॥ ३० ॥

आलोचकाख्यस्यावलोकनं कर्मेति । (३० ॥)

[२२] भ्राजकपित्तस्य कर्म ।

पित्तं भ्राजकमाख्यातं प्रभावर्णकरं त्वचि ।

भ्राजकाख्यं पित्तं प्रभावकरं त्वग्गतेनानेन स्थिरलसीकादेरच्छत्रसम्पादनादिति ।

(३० ॥)

[२३] अवलम्बकाख्यस्य श्लेष्मणः कर्म ।

श्लेष्माऽवलम्बको देहे स्निग्धत्वाद्युपबृंहणात् ॥ ३१ ॥

स्थानान्तरगतश्लेष्मभेदानामवलम्बकः ।

श्लेष्मभेदानामाद्योऽवलम्बकसंज्ञो हृहये समवस्थित इत्याख्यातपूर्वम् । हृदयाद्रसधातुना सहितो धमनीभिः सर्वशरीरे प्रसर्पन् स्थानान्तरगतानां श्लेष्मभेदानामुपबृंहणं करोतीत्यवलम्बक इति । (३१ - ३१ ॥)

[२४] क्लेदकश्लेष्मणः कर्म ।

द्रवीकरोति भुक्तान्नसंघातं क्लेदकः कफः ॥ ३२ ॥

क्लेदनाक्लेदक इति अन्वर्थसंज्ञ आमाशयस्थः श्लेष्मा तद्रतं भुक्तान्नसंघातं

[२१] आलोचक पित्तका कार्य ।

रूपदर्शन, यह कार्य दृष्टिगत आलोचक पित्तका है । ३० ॥

[२२] भ्राजक नामके पित्तका कार्य ।

त्वचामें आश्रित भ्राजकपित्तका विशिष्ट कार्य त्वचामें वर्ण और तेज-
खिताका निर्माण करना यह वतलाया है । त्वगाश्रित रक्तादिमें निर्मलत्व निर्माण
करनेसे यह कार्य हो सकता है । ३० ॥

[२३] अवलम्बक श्लेष्माका विशिष्ट कार्य

हृदयमें रहनेवाला अवलम्ब नामका श्लेष्माका भेद हृदयस्थ रसधातुके साथ
सर्व शरीरमें संचार करता हुआ शरीरगत भिन्न २ श्लेष्मस्थानोंमें स्निग्धत्वादि
गुणोंका उपबृंहण करता है । ३१-३१ ॥

[२४] क्लेदकश्लेष्माका कार्य विशेष ।

क्लेदक कफ आमाशयमें रहता है । और आमाशयमें प्राप्त आहारका क्लेदन

अभ्यवहृतान्नसमूहं द्रवीकरोति । घनद्रवाणां शुष्काद्राणां वा सर्वेषां भुक्तद्रव्याणामामाशये तत्स्थेन क्लेदनकर्मणा येन द्रव्येण क्लेदनं भवति सः श्लेष्मभेदः क्लेदको नाम । (३२ ॥)

[२५] बोधकस्य श्लेष्मणः कर्म ।

श्लेष्मा बोधकसंज्ञश्च भुक्तान्नरसबोधनः ।

रसनास्थितेन येन मुखक्षिप्तस्य द्रव्यस्य रसबोधनं भवति सः श्लेष्मभेदो बोधक इति । (३२ ॥)

[२६] तर्पकस्य श्लेष्मणः कर्म ।

शीतभावादिन्द्रियाणां तर्पकस्तर्पकः कफः ॥ ३३ ॥

सर्वेन्द्रियेषु शीतगुणात्समाधानकरः श्लेष्मा तर्पक इति ।

[२७] श्लेषकस्य श्लेष्मणः कर्म ।

श्लेषकाख्यश्च सन्धीनां संश्लेषणकरो भवेत् ।

सन्धिष्ववस्थितः श्लेषकाख्यः श्लेष्मा सन्धीनां विशेषतश्चास्थिसन्धीनां संश्लेषणकरः इति सन्धिस्थानेषु दाढ्योत्पादकः । (३३ ॥)

[२८] प्रकृतिभेदाः ।

शुक्रार्तवस्थैर्वाताद्यैर्वैशिष्ट्यमुपजायते ॥ ३४ ॥

याने द्रवीकरण करना यह इसका विशिष्ट कार्य है । क्लेदन कार्यसेही इस श्लेष्मभेदको क्लेदक संज्ञा दी गयी है । ३२ ॥

[२५] बोधकश्लेष्माके कर्म ।

बोधकश्लेष्मासे मुखक्षिप्त द्रव्यके रसका - स्वादका बोध होता है । ३२ ॥

[२६] तर्पक श्लेष्माका कार्य ।

अपने विशिष्ट शीत गुणसे तर्पक कफ सर्व इंद्रियोंमें समाधान रखता है । ३३ ॥

[२७] श्लेष्माके श्लेषक नामके भेदका कर्म ।

सन्धिओमें विशेषतः अस्थिसन्धिओमें श्लेषण याने स्थिरत्व निर्माण करना यह श्लेषक श्लेष्माका कार्य है । ३३ ॥

[२८] प्रकृतिके भेद ।

शुक्र व आर्तव याने पुरुषबीज व स्त्रीबीजमें अवस्थित दोषोंके अनुसार

देहान्तरेषु दोषानुसारिणी प्रकृतिस्त्रिधा ।

शुक्रार्तवस्थैरिति जनकजननीबीजगतैः । वैशिष्ट्यं विविधत्वम् । दोषानुसारिणी वाताद्यनुसारिणी । प्रकृतिः देहस्वभावः । त्रिधा विप्रकारा । वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिः श्लेष्मप्रकृतिरिति । ३४ ॥

[२९] वातप्रकृति लक्षणम् ।

रौक्ष्यं कृशांगत्वमसंहतत्वं

दीर्घांगता धूसरवर्णता च ।

सत्त्वालपता लोलुपताऽल्पनिद्रता

लिंगानि वातप्रकृतेः समासतः ॥ ३५ ॥

रौक्ष्यादीनि वातप्रकृतेर्लक्षणानि । रौक्ष्यं त्वक्पारुष्यं स्फुटनादीभिरनुमेयम् । कृशांगत्वं स्वाभाविकं न वैकारिकम् । असंहतत्वमिति कृशांत्वाद्वाचाणि विश्लिष्टानीवावभासन्ते । दीर्घांगता हस्तपादाद्यवयवा अगुल्यश्च दीर्घाकाराः शरीरमपि दीर्घं विशेषेणेति । धूसरवर्णता मलिनकृष्णवर्णत्वम् । सत्त्वालपता धैर्यहीनता बलहीनता चेति । लोलुपता अशनपानासक्तिः । अल्पनिद्रता चेति वातप्रकृतिलक्षणानि । ३५ ॥

[३०] पित्तप्रकृति लक्षणम् ।

तीक्ष्णानलत्वं शिथिलत्वमंगे

दृक्पादहस्तेषु च लोहितत्वम् ।

लिंगानि पित्तप्रकृतेः शरीर-

मुष्णं विशेषेण च गौरवर्णम् ॥ ३६ ॥

प्रकृतिके तीन भेद होते हैं — देहस्वभाव तीन प्रकारका होता है । १ वात-प्रकृति २ पित्तप्रकृति और ३ कफप्रकृति । ३४ ॥

[२९] वातप्रकृति-लक्षण ।

अंगमें रूक्षता, अंग कृश, अवयवोंमें धनत्वका अभाव (सौष्ठवका अभाव) सर्वशरीर तथा हस्तपादादि अवयवोंमें दीर्घत्व, शरीरके वर्णमें मालिन्य, बल व धैर्य अल्प, खानपानमें विशेष आसक्ति, अल्पनिद्रता यह लक्षण वातप्रकृतिके होते हैं । ३५ ॥

[३०] पित्तप्रकृति-लक्षण ।

जठराग्निका तीक्ष्णत्व, शरीर व अवयवोंमें शैथिल्य, नेत्र, हस्ततल व पाद-

तीक्ष्णानलत्वादीनि पित्तप्रकृतिलक्षणानि । शिथिलत्वमंगे इति शरीरावयवेषु दृढताऽभावः । दृक्पादहस्तेषु लोहितत्वम् नेत्रयोः पादतलयोः करतलयोश्च रक्तत्वम् । उष्णं गौरवर्णं च शरीरमिति पित्तप्रकृतिलक्षणानि समासतः । ३६ ॥

[३१] श्लेष्मप्रकृतिलक्षणानि ।

सुश्लिष्टगात्रः स्थिरगूढसन्धिः

प्रलम्बबाहुः पृथुपीनदेहः ।

वलान्वितश्चोज्ज्वलशुक्लवर्णः

श्लेष्माधिकः स्यात्पुरुषः प्रकृत्या ॥ ३७ ॥

सुश्लिष्टगात्र इति यथावदुपचयादंगानि यथास्वप्रमाणमुपबृंहितानि ततश्च सुश्लिष्टत्वम् । स्थिरगूढसन्धिः स्थिराः श्लेष्मप्रभावात् दृढा गूढाश्च मांसोपचयात् सन्धयो यस्यैवंविधः । प्रलम्बबाहुर्दीर्घहस्तः । पृथुपीनदेहः परिणाहपूर्णः पुष्टश्च देह इति । वलान्वितः सुश्लिष्टत्वादुपचितत्वाच्च । उज्ज्वलशुक्लवर्ण इति प्रभान्वितेन शुक्लवर्णेन युक्तः । पुरुषः प्रकृत्या श्लेष्माधिकः लक्षणैरेभिरन्वितः पुरुषः श्लेष्मप्रकृतिरिति । (३७ ॥)

[३२] संसर्गसन्निपातोद्भवाः प्रकृतिभेदाः ।

संसर्गसन्निपातानां तारतम्यानुसारतः ।

लिंगानुमेयाः प्रकृतिभेदा व्यामिश्रलक्षणाः ॥ ३८ ॥

दोषद्वयाद्दोषत्रयाद्वाऽधिकात् तारतम्यानुसारेण दोषाणां न्यूनाधिकत्वानुसारेण व्यामिश्रलक्षणाः सम्मिश्रलक्षणाः लिंगसंकरान्विता । इति । प्रकृतिभेदाः बहुशो देहमिन्नत्वान् । लिंगानुमेयाः शरीरगतैर्लक्षणैरनुमेयाः । शरीरगतलक्षणानुसारं प्रकृतिभेदानां स्वरूपमधिगन्तव्यमिति । (३८ ॥)

तलोंमें रक्तत्व, शरीर विशेष उष्ण, व गौरवर्णता यह पित्तप्रकृतिके लक्षण हैं । ३६ ॥

[३१] श्लेष्मप्रकृतिके लक्षण ।

शरीर व अवयव उचित प्रमाणमें पुष्ट व सौष्ठवयुक्त, संधिओंमें स्थिरत्व, बाहु दीर्घ, शरीर विशाल व बलशाली, उज्ज्वल शुक्लवर्ण ये लक्षण श्लेष्मप्रकृतिके होते हैं । ३७ ॥

[३२] संसर्गसन्निपाताधिक प्रकृति ।

दो अथवा तीन दोषोंके आधिक्यसे निर्माण होनेवाले प्रकृतिदोंमें संमिश्र दोषोंके लक्षण रहते हैं । लक्षणोंके अनुसार दोषोंका तारतम्य जानना चाहिये । ३८ ॥

[३३] वयोमानानुसारं वातादीनां प्राधान्यम् ।

बालं श्लेष्माधिकं मध्यं वयः पित्ताधिकं भवेत् ।

वयसि स्थिविरे वायुरधिकः स्यात्स्वभावात् ॥ ३९ ॥

वाय्वितारुण्यस्याविर्येषु श्लेष्मपित्तानिलानां प्राधान्यं स्वभावत इति ॥ ३९ ॥

[३४] अहोरात्रे वातादीनां प्राधान्यम् ।

आदिमध्यावसानेषु बलवन्तो भवन्ति हि ।

दिवसस्य निशायाश्च श्लेष्मपित्तानिलाः क्रमात् ॥ ४० ॥

आदिमध्यवसानेष्वित्यादि - दिवसस्य निशायाश्च मुहूर्तपंचकप्रमितेषु विभागे-
ष्वदिमध्यावसानेषु क्रमात् श्लेष्मा पित्तं वायुरिति दोषा बलवन्तो भवन्ति । (४० ॥)

[३५] भुक्तपचनावस्थानुसारं दोषाणां प्राधान्यम् ।

आमावस्थाऽवस्थितेऽन्ने भुक्ते श्लेष्मा विवर्धते ।

विपच्यमानावस्थे च पित्तं पक्वे समीरणः ॥ ४१ ॥

आमावस्थाऽवस्थित इति आमाशये प्रथमाधारेऽवस्थितस्याहारस्य प्रकृतिवस्थायाम् ।
विपच्यमानावस्थे पाचकाख्यस्यान्नावस्थितस्य पित्तस्य मिश्रणाद्विपाके वर्तमाने । पक्वे इति
सारकिट्टिविवेचनानन्तरम् । क्रमात् श्लेष्मा पित्तं समीरणश्च विवर्धत इति । (४१ ॥)

[३३] वयोमानमें वातादिदोषोंका प्राधान्य ।

बाल्यावस्थामें श्लेष्मा, मध्यम याने तरुण अवस्थामें पित्त व वृद्धावस्थामें
स्वभावतः वायुका प्राधान्य रहता है । ३९ ॥

[३४] अहोरात्रमें वातादिदोषोंका प्राधान्य ।

दिवस व रात्रिके पूर्वभागमें श्लेष्मा, मध्यभागमें पित्त और अंतिम विभागमें
वायु अधिक रहता है । ४० ॥

[३५] आहारकी पचनावस्थाओंमें दोषोंका प्राधान्य ।

उपभुक्त आहार आमाशयमें अपक्व रहता है जबतक श्लेष्माका प्राधान्य
रहता है । अत्रगत आहारकी पच्यमान अवस्थामें पित्त, और पचन होनेके अनंतर
वायुकी वृद्धि होती है । ४१ ॥

[३६] अहोरात्रादिसम्भवा दोषाभिवृद्धिः स्वभावजा ।

स्वाभाविका वृद्धिरियं न भवेत् व्याधिकारणम् ।

वयोऽहोरात्रिभुक्तावस्थाविशेषैरभिवर्धनं दोषाणां स्वाभाविकं न विकृतिरिति । (४१ ॥)

[३७] कालस्वभावादिवैषम्यहेतुः ।

ऋतुभेदास्तथाऽहारविहारौ कर्म मानसम् ॥ ४२ ॥

वैषम्ये हेतुराख्यातो वातादीनां चतुर्विधः ।

ऋतुभेदाः शीतोष्णवर्षालक्षणा वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराभिधानाः षट् ।

आहारः भोज्यपेयादिः । विहारः शारीरं कर्म । मानसं कर्म चिंताशोकादिकम् । दोषाणां

वैषम्ये वृद्धिक्षयप्रकोपस्वरूपे । हेतुश्चतुर्विधः । पूर्वजन्मकृतं कर्मापि दोषवैषम्यहेतुत्वेनाख्यातं

तद्विशेषेण प्रकृतिविशेषहेतुरित्यत्र नोक्तम् । (४२ ॥)

[३८] दोषाणां चयप्रकोपप्रशमकारणा ऋतवः ।

चयप्रकोपप्रशमा वायोग्रीष्मादिषु त्रिषु ॥ ४३ ॥

वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ।

चयप्रकोपप्रशमा इत्यादिनाऽनेन पथेन वातादीनां चयप्रकोपप्रशमकारणा ऋतुविशेषाः

प्रदर्शिताः श्रीमद्वाग्भटाचार्येणाष्टांगहृदये । ग्रीष्मवर्षाशरत्सु क्रमाद्वायोश्चयप्रकोपप्रशमाः । वर्षाशरद्धे-

मन्तेषु पित्तस्य श्लेष्मणश्च शिशिरवसन्तग्रीष्मेष्विति । (४३ ॥)

[३६] अहोरात्रादिमें होनेवाली स्वाभाविक दोषवृद्धि ।

वय, दिवस, रात्रि, भोजनकी पचनावस्था आदिमें होनेवाली वातादि दोषोंकी अभिवृद्धि स्वाभाविक होनेसे उसको विकृति न मानना चाहिये । ४१ ॥

[३७] दोषवैषम्यके कालस्वभावादि कारण ।

ऋतुभेद, आहार, विहार याने विविध शारीरक्रिया, व मानसिक कर्म इन चार प्रकारके कारणोंसे वातादि दोषोंका वृद्धि, क्षय व प्रकोपरूपवैषम्य उत्पन्न होता है । पूर्वजन्मकृत कर्मभी दोषप्रकोपका कारण बतलाया गया है, यह विशेषतः प्रकृतिभेदका कारण हो सकता है । ४२ ॥

[३८] दोषोंके चय, प्रकोप व प्रशमके कारण ऋतुभेद ।

ग्रीष्म, वर्षा, और शरद् इन ऋतुओंमें अनुक्रमसे वायुका संचय, प्रकोप व प्रशम होता है । पित्तका संचय वर्षाऋतुमें, प्रकोप शरद् ऋतुमें और प्रशम हेमन्त-ऋतुमें होता है । एवं श्लेष्माका संचय, प्रकोप व प्रशम अनुक्रमसे शिशिर, वसन्त व ग्रीष्म इन ऋतुओंमें होता है । ४३ ॥

[३९] चयप्रकोपकारणानां ऋतुभेदानां स्वभावविशेषाः ।

चीयते लघुरूक्षाभिरौषधीभिः समीरणः ॥ ४४ ॥

तद्विधेस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति ।

अद्भिरम्लविपाकाभिरौषधीभिश्च तादृशम् ॥ ४५ ॥

पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः ।

चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः ॥ ४६ ॥

तद्विधस्तद्विधे देहे स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ।

चयाः कोपाश्च दोषाणामेवं कालस्वभावजाः ॥ ४७ ॥

ग्रीष्मादियु संचिता अपि वाताद्याः प्रकुप्यन्ति ऋतुन्तरेष्वत्र हेतुर्विशदीकृतो वाग्मदे-
नाष्टागहृदये चीयते लघुरूक्षाभिरित्यादिभिः । लघुरूक्षाभिरिति ग्रीष्मर्तुस्वभावात् । तद्विधः
लघुरूक्षगुणः । तद्विधे देहे ऋतुस्वभावात् लघुरूक्ष शरीरे । कालस्यौष्ण्यात् ग्रीष्मसमयस्यो-
ष्णस्वभावात् । न कुप्यति । सम्प्रवृद्धोऽपि समीरणः स्रोतोरोधात्स्थानान्तरेष्ववरुद्धः प्रकुप्यति ।
स्रोतोरोधहेतुः शैत्यं तदभावात् ग्रीष्मसमये वायोर्न प्रकोपः । वर्षासु च शैत्यात्प्रकोप इति । तथा
पित्तं वर्षासम्लविपाकाभिरद्भिरम्लक्षारादिभृथिष्ठैराहारादिभिश्चयं याति अपि तु कालस्य शैत्यतः
वर्षाशैत्यात् कोपं न याति । शीतकाले स्निग्धादिभिः संचितः श्लेष्मा स्कन्नत्वात् घनीभूतत्वात् ।
न प्रकुप्यति । वासन्तिकेनोष्मणा प्रकृदात्प्रकुप्यतीति । चयाः कोपाश्च कालस्वभावाः सामा-
निकाः प्रत्यक्षसम्भवा इति । (४४-४७ ॥)

[३९] वातादि दोषोंके चयप्रकोपादिकारण ऋतुस्वभाव ।

ग्रीष्मादि ऋतुओंमें वातादि दोष संचित होनेपरभी कुपित न होनेका कारण
विशद करते हैं । ग्रीष्मऋतुमें लघु रूक्ष आदि औषधि-द्रव्योंसे रूक्षादिगुणयुक्त
शरीरमें रूक्षादिगुणविशिष्ट वायुका संचय होता है किंतु कालके उष्णस्वभावके
कारण प्रकोप नहीं होता । वर्षाऋतुमें तीक्ष्णोष्णगुणका पित्त ऐसेही गुणोंके अम्ल-
विपाकी औषधि-द्रव्य जल आदिसे संचित होता है, किन्तु वर्षाकी शीत-
त्वसे कुपित नहीं होता । शिशिर ऋतुमें स्निग्ध शीत औषधि द्रव्य आदिसे
स्निग्धादिगुणरूप श्लेष्माका संचय होता है, परंतु शीतस्वभावसे घनत्व होनेके
कारण प्रकोप नहीं होता । एवं कालके स्वभावसे दोषोंके भिन्न २ ऋतुओंमें चय,
प्रकोप व प्रशम होते हैं । ४४-४७ ॥

[४०] ऋतुस्वभावात्प्रकुपितानां वातादीनां प्रशमनानि ।

वाताद्याः प्रशमं यान्ति दोषा ऋत्वन्तरोद्भवाः ।

आहाराद्यैः समुचितैः ऋतुचर्योपपादितैः ॥ ४८ ॥

ऋत्वन्तरोद्भवा इति ऋतुभेदेषु संचिताः प्रकुपिताश्च । आहाराद्यैरित्याद्यशब्दो विहारौषधानां संग्राहकः । आहारेण विहारेण शोधनशमनस्वरूपैरौषधैश्चेति । ऋतुचर्योपपादितैः ऋतुचर्यायामुपदिष्टैः । (४८ ॥)

[४१] वातवृद्धिक्षयकारणानि द्रव्याणि ।

कषायतिक्तकटुकरसं द्रव्यं विशेषतः ।

लघुरूक्षगुणं शुष्कं शीतं वातविवर्धनम् ॥ ४९ ॥

स्वाद्वम्लपटुभूयिष्ठं गुरु स्निग्धं विशेषतः ।

द्रव्यमुष्णगुणोपेतं स्याद्वातक्षयकारणम् ॥ ५० ॥

कषायादिरसं लघुरूक्षगुणं शीतं च द्रव्यमाहारौषधस्वरूपं वातविवर्धनम् । तथा स्वादादिरसप्रायं गुरु स्निग्धमुष्णं चातिप्रयुक्तं वातक्षयकारणम् । (४९ - ५० ॥)

[४२] पित्तस्य वृद्धिक्षयकाराणि ।

तीक्ष्णोष्णगुणभूयिष्ठं कट्वम्ललवणोल्बणम् ।

आहारादिगतं द्रव्यं भवेत्पित्तविवर्धनम् ॥ ५१ ॥

तिक्तं कषायं मधुरं द्रव्यं शीतगुणान्वितम् ।

पित्तप्रशमनं मन्दगुणोपेतं विशेषतः ॥ ५२ ॥

[४०] ऋतुस्वभावसे प्रकुपित दोषोंका शमन ।

भिन्न २ ऋतुओंमें प्रकुपित वातादि दोषोंका शमन ऋतुचर्यामें उपदिष्ट आहारादिका उपयोग करनेसे हो सकता है । ४८ ॥

[४१] वातके वृद्धि व क्षयकारक द्रव्य ।

कषाय तिक्त व कटुरसके विशेषतः लघु रूक्ष गुणके शीत व शुष्क द्रव्य वातवृद्धिकर होते हैं । मधुर, अम्ल व लवण रस जिनमें अधिकांश रहते हैं ऐसे गुरु, स्निग्ध व उष्ण गुणके द्रव्य वायुका क्षय करते हैं । ४९-५० ॥

[४२] पित्तके वृद्धिक्षयकारक विशिष्ट द्रव्य ।

तीक्ष्ण व उष्ण गुण जिनमें अधिकतया रहते हैं, जो कटु, अम्ल व

तीक्ष्णादिगुणं कट्वम्ललवणरसोल्बणं द्रव्यं पित्तविवर्धनं तथा तिक्तादिरसं शीतं विशेषतो मन्दगुणान्वितं च पित्तप्रशमनम् । (५१ - ५२ ॥)

[४३] श्लेष्मवृद्धिक्षयकराणि द्रव्याणि

स्वादुम्ललवणं शीतं गुरुमन्दगुणान्वितम् ।

स्निग्धोल्बणं विशेषेण भवेत् श्लेष्मविवर्धनम् ॥ ५३ ॥

लघुरूक्षगुणं द्रव्यं कषायकटुतिक्तकम् ।

भवेत् श्लेष्मप्रशमनं तीक्ष्णमुष्णं विशेषतः ॥ ५४ ॥

स्वादुदिरसभूयिष्ठं गुरुमन्दस्निग्धगुणोल्बणं द्रव्यं श्लेष्मविवर्धनम् । लघु रुक्षं तीक्ष्णमुष्णं कषायादिरसं च श्लेष्मप्रशमनमिति । (५४ - ५४ ॥)

(४४) आहारमात्राभेदा वातादीनामभिवृद्धिकराः ।

हीनातिमात्रमशनं वातश्लेष्मविवर्धनम् ।

कमान्मिथ्याशनं प्रायो भवेत्पित्तविवर्धनम् ॥ ५५ ॥

हीनमात्रं स्वल्पमशनम् । अनशनं चापीत्यर्थवबोध्यम् । वायोविवर्धनम् । अतिमात्रं च श्लेष्मविवर्धनम् । तथा मिथ्याशनं समशनाध्यशनविषमाशनानि विरुद्धाशनं च प्रायः पित्तविवर्धनम् । मिथ्याशनाद्विदग्धत्वं पित्ताभिवर्धनमिति । (५५ ॥)

लवण रसभूयिष्ठ होते हैं ऐसे द्रव्य पित्तकां अभिवृद्धि करते हैं । तिक्त, कषाय, व मधुररसके मंदशीतगुणभूयिष्ठ द्रव्य पित्तका प्रशमन करते हैं । ५१-५२ ॥

[४३] श्लेष्माके वृद्धिक्षयकारक द्रव्य ।

श्लेष्माकी वृद्धि मधुर, अम्ल व लवण रसके तथा शीत, गुरु, मन्द व स्निग्ध गुणभूयिष्ठ द्रव्योंसे होती है । लघु, रुक्ष व उष्ण गुणभूयिष्ठ कषाय कटु व तिक्त रसके द्रव्योंसे श्लेष्माका उपशम होता है । ५३-५४ ॥

[४४] वातादि दोषोंकी अभिवृद्धिकर आहारमात्राके भेद ।

हीनमात्र भोजन (अथवा अभोजन - उपवास) वातकी वृद्धि करता है । अतिमात्र भोजन श्लेष्मवृद्धिकर होता है, और मिथ्याशन (विरुद्धाशन - समशन - अध्यशन - विषमाशन आदि अविधियुक्त भोजन) पित्तका प्रकोप करता है । मिथ्याशनके पचनकार्यमें विदग्धत्व निर्माण होता है । और वही पित्तका प्रकोप करता है । ५५ ॥

[४५] वातादिदोषाभिवर्धनं शारीरं कर्म (विहारः) ।

अतिव्यवायव्यायामश्रमाद्या देहकर्मणाम् ।

प्रवृत्तिरधिकाऽस्वापो वातपित्तविवर्धनम् ॥ ५६ ॥

साहसं कर्म विषमाश्चेष्टा वातप्रकोपणम् ।

आस्यास्वप्नसुखालस्यादिकं श्लेष्मविवर्धनम् ॥ ५७ ॥

अतिव्यवायादिका देहकर्मणाम् शारीरक्रियाणाम् । अधिका प्रवृत्तिः अतियोग इति । वातपित्तविवर्धनम् अतिव्यायामादिकं रौक्ष्यौष्ण्यलाघवादिगुणवर्धनात्सामान्येन वातपित्तयोरभिवर्धनम् । साहसं कर्म अतिबलयोगा बलवद्विग्रहादयः । विषमाश्चेष्टाः हस्तपादाद्यवयवानां स्वभावविरुद्धसंचालनाद्याः । वातप्रकोपणम् । आस्यास्वप्नसुखालस्यादिकमिति अकर्मण्यत्वम् । श्लेष्मविवर्धनम् । (५६ - ५७ ॥)

[४६] दोषाभिवृद्धिकराणि मानसकर्माणि ।

चिन्ताशोकादिकं वातपित्तयोरभिवर्धनम् ।

श्लेष्मक्षयकरं हेतुः श्लेष्मवृद्धौ न मानसः ॥ ५८ ॥

चिन्ताशोकादिकं मनःक्लेशकरमिति । मनस्यनवस्थिते आहारनिद्रादीनां मिथ्यात्वं ततश्च वातपित्ताभिवर्धनम् । श्लेष्मक्षयश्च । मनः क्षोभकराणां भावानामभावे स्वास्थं मनसः शरीरस्वास्थ्याभिवर्धनं तच्च श्लेष्मवृद्धिकरम् । मनःस्वास्थादेव संभाव्यं कदाचिदालस्यादिकं श्लेष्मवृद्धिहेतुः शारीरो न मानसः । (५८ ॥)

[४५] दोषवृद्धिकर विहार (शारीरकर्म) ।

अतिव्यायाम, अतिव्यवाय, (अतिमैथुन) अतिश्रम, आदि शारीरक्रिया-ओंकी अतिप्रवृत्ति, जागरण आदिसे वायु और पित्तकी अभिवृद्धि होती है । साहस याने सामर्थ्यसे अधिक श्रम, एवं हस्तपादादि अवयवोंकी विषम चेष्टायें, विशेषतः वातवृद्धिकर होती हैं । अतिनिद्रा, शारीरिक श्रमका अभाव आदिसे श्लेष्माकी वृद्धि होती है । ५६-५७ ॥

[४६] दोषवृद्धिकर मानसिक कर्म ।

चिन्ता, शोक, क्रोध आदि मनोविकारोंसे वात व पित्तकी वृद्धि होती है और श्लेष्माका क्षय होता है । चिन्ता शोक आदि क्षोभकारणोंके अभावमें समाधान आदि कर्म श्लेष्मवृद्धिकर नहीं होते अतः मानसिक कर्मोंसे श्लेष्माका अभिवर्धन हो नहीं सकता । मानसिक समाधानसे संभवनीय आलस्य श्लेष्मवृद्धिकर हो सकता है, किंतु उसका समावेश शारीरकर्मोंमें होता है, मानसिक कर्मोंमें नहीं । ५८ ॥

(४७) दोषाणां त्रिविधा विकृतिस्तल्लक्षणं च ।

वृद्धिः क्षयः प्रकोपश्च दोषाणां विकृतिस्त्रिविधा ।

अभिवृद्धिर्भवेत् वृद्धौ यथास्वं गुणकर्मणाम् ॥ ५९ ॥

ऋासे हानिः प्रकोपे च विविधव्याधिसम्भवः ।

वृद्ध्यादिस्वरूपा वातादीनां त्रिविधा विकृतिर्वैषम्यम् । वृद्धौ यथास्वं वातादीनाम् । गुणकर्मणाम् गुणा रूक्षोष्णस्निग्धादयः कर्माणि चलनपचनपोषणादीनि तेषाम् । अभिवर्धनम् । ऋासे क्षये । हानिः अल्पत्वम् । प्रकोपे च विविधव्याधिसम्भवः ज्वरातिसारादीनां व्याधीनामुत्पत्तिर्भवेत् । (५९ ॥)

(४८) वृद्धेः प्रकोपस्य च स्वरूपम् ।

वृद्धिश्चयो वा स्थानेषु दोषाणामभिवर्धनम् ॥ ६० ॥

उन्मार्गेणाभिगमनं प्रकोपः परिकीर्तितः ।

वातादीनां स्थानेषु पूर्वोक्तेषु । अभिवर्धनम् । स्वाभाविकप्रमाणादभिवृद्धिः । वृद्धिश्चयो वा वृद्धिसंज्ञया चयसंज्ञया वोपदिष्टः । यथोक्तमष्टांगहृदये—चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव । इति । उन्मार्गेण अयथामार्गेण । अभिगमनं प्रवृत्तिः । प्रकोपः प्रकोपसंज्ञः । कोपस्तून्मार्गगामिता । इत्यष्टांगहृदये । (६० ॥)

[४७] दोषोंकी तीन प्रकारकी विकृति और उनका लक्षण ।

वातादि दोषोंकी स्वाभाविक प्रमाणसे अधिक वृद्धि (वृद्धि) स्वभाविक प्रमाणसे क्षीणता (क्षय) और प्रकोप (अस्वाभाविक प्रवृत्ति) इस प्रकार तीन प्रकारकी विकृति होती है । वृद्धावस्थामें दोषोंके गुण और कर्मोंकी वृद्धि होती है, क्षयावस्थामें गुणकर्मोंकी हानि होती है और प्रकोप अवस्थामें नानाविध व्याधिओंकी उत्पत्ति होता है । ५९ ॥

[४८] वातादि दोषोंके वृद्धि व प्रकोपका स्वरूप ।

अपने २ स्वाभाविक स्थानोंमें दोषोंके वृद्धिको वृद्धि अथवा चय संज्ञा दी गयी है । और अस्वाभाविक मार्गसे होनेवाली अस्वाभाविक प्रवृत्तिको प्रकोप संज्ञा है । ६० ॥

[४९] वातवृद्धिलक्षणानि ।

वृद्धे समीरणे रौक्ष्यं बलहानिः कृशांगता ॥ ६१ ॥

अन्तःकूजनमाध्मानं निद्राहानिः शकृद्ग्रहः ।

समीरणे वृद्धे रौक्ष्यादीनि लक्षणानि भवन्ति । बलहानिः कृशत्वात् । निद्राहानिः निद्राल्पत्वमानिद्रता वा । शकृद्ग्रह इति पुरीषस्यावरोधः शुष्कत्वं च । (६१ ॥)

[५०] वातक्षयलक्षणम् ।

चेष्टाहानिस्तथा गात्रसादः क्षीणे समीरणे ॥ ६२ ॥

समीरणे क्षीणे च चेष्टाहानिः चलनाल्पत्वात् । गात्रसाद इत्युत्साहहानिः । (६२ ॥)

[५१] कुपितस्य वायोर्लक्षणानि ।

शूलभेदाश्च विविधास्तोदभेदव्यधादयः ।

स्तम्भः कम्पो वेष्टनं च वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा ॥ ६३ ॥

आक्षेपायामशोषाद्याः कुपितेऽथ समीरणे ।

समीरणे कुपिते शूलभेदास्तोदादयः । स्तम्भः पेशीनां स्नाय्वां ततश्च मन्यास्तंभ-जिह्वास्तम्भादयो व्याधयः । कम्पः कम्पनं शरीरस्याखिलस्यांगविशेषाणां वा । वेष्टनं वस्त्रादिभिरावेष्टित इव व्यथा स्थानविशेषेषु मांससंशोषादिति । श्यावोऽरुणो वा वर्ण इति

[४९] वातवृद्धिके लक्षण ।

शरीरमें वायुकी वृद्धि होनेसे शरीर बलकी हानि, शरीरमें कृशता, अंत्रोंमें शब्द, आध्मान, (पेटमें याने अंत्रोंमें वायुकी वृद्धि, शूल व शब्द इस विकृतिको आध्मान-संज्ञा दी गयी है) निद्रानाश, मलावरोध आदि लक्षणोंकी उत्पत्ति होती है । ६१ ॥

[५०] वातक्षयलक्षण ।

वायु स्वाभाविक प्रमाणसे क्षीण होनेके कारण शरीरमें सुस्ति और शारीरिक अवयवोंके चेष्टाओंमें हानि-मंदता उत्पन्न होती है । ६२ ॥

[५१] वातप्रकोपलक्षण ।

वायु प्रकुपित होनेसे तोद, भेद, व्यध आदि (जिनका स्पष्टीकरण शरीर — तत्त्वदर्शन उत्तरार्ध चतुर्थ दर्शनमें किया गया है) शूलके प्रकार, शरीर अवयवोंका स्तंभ याने स्तब्धता, कंप, वेष्टन (शरीरके एक अथवा अनेक अवयव वस्त्र आदिसे

स्थानान्तरेषु क्षीणानां हिनसत्त्वानां धात्वंशानां श्यावत्वं प्रपीडितेष्वरुणत्वं चावभासते । आक्षेपा-
यामशोषाद्या व्याधिविशेषाः । आक्षेपलक्षणं चरकसंहितायामुपवर्णितं यथा—मुहुराक्षिपति कुट्टो
गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः । पाणिपादं च संशोष्य सिराः सस्नायुकण्डराः । आयामलक्षणं च — अन्त-
रायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तम्भ्यते भृशम् । दन्तानां दंशनं लाला पृष्ठाक्षेपः शिरोग्रहः । जृम्भावदन-
संगश्चाप्यन्तरायामलक्षणम् ॥ पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः शोषयित्वा शिरा बली । वायुःकुप्यीद्धनुस्तम्भं
बहिरायामलक्षणम् ॥ शोषो बाहुशोषः सक्थिशोष इत्यादि । (६३ ॥)

[५२] पित्तवृद्धिलक्षणानि ।

पित्तेऽभिवृद्धे देहोष्मवृद्धिस्तीक्ष्णाग्निता भवेत् ॥ ६४ ॥

पित्तस्याभिवृद्धौ देहोष्मणः शरीरगतस्योष्मणः । वृद्धिस्तथा तीक्ष्णाग्निता पाचक-
पित्तस्य धात्वग्नीनां च तीक्ष्णता भवेदिति । (६४)

[५३] पित्तक्षयलक्षणानि ।

मन्दाग्निता तथा क्षीणे पित्ते मन्दोष्मताऽपि च ।

पित्ते क्षीणे स्वमानाद्धीने मन्दाग्निता मन्दोष्मता चेति । (६४ ॥)

[५४] पित्तप्रकोपलक्षणानि ।

पित्ते प्रकुपिते दाहः पाकः कोथश्च जायते ॥ ६५ ॥

वेष्टित जैसे प्रतीत होना) श्याव अथवा अरुण वर्ण (रोगस्थानमें) आक्षेप (एक
तीव्र वातविकार; जिसमें रोगी शरीरावयवोंको बारंबार पटकता है) आयाम (एक
विशिष्ट वातविकार; जिसमें कंठ पृष्ठआदिका विशिष्ट प्रकारका स्तम्भ होता है)
शोष (एक अथवा अनेक अवयवोंकी शुष्कता,) इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं ।
६३ ॥

[५२] पित्तवृद्धिलक्षण ।

शरीरमें पित्त अभिवृद्ध होनेसे जठराग्नि तीव्र होता है । और सर्व शरीरमें
उष्माकी वृद्धि होती है । ६४ ॥

[५३] पित्तक्षयलक्षण ।

पित्तका क्षय होनेसे जठराग्निमें मंदत्व उत्पन्न होता है । और शरीरगत
उष्मा कम होता है । ६४ ॥

[५४] पित्तप्रकोपलक्षण ।

पित्तका प्रकोप होनेसे दाह, ओष्ठ जिह्वा मुख आदिमें पाक, कोथ एवं

दाहात्मकाः कुष्ठरक्तपित्ताद्या व्याधयस्तथा ।

रक्तहारिद्रहरितवर्णत्वं कटुवक्त्रता ॥ ६६ ॥

पित्ते प्रकुपिते दाहादीनि लक्षणानि भवन्ति । औष्ण्याधिक्यादसहमानत्वं दाहः । दाहयुक्तमवदारणं जिह्वौष्ठादीनां पाकः । कण्ठवक्त्रादिगतानां कलानां विदारणं दाहयुक्तं पाकसंज्ञयाऽख्यायते । कोथो विशीरणं विशेषतो मांसमयेष्ववयवेषु । कुष्ठरक्तपित्तादिषु दाहादीनामन्यतमस्य प्राधान्येऽपि दाहमूलत्वात्सर्वेषां दाहात्मका इत्याख्यातम् । (६६)

[५५] श्लेष्मवृद्धिलक्षणम् ।

वृद्धे मन्दाग्निताऽलस्यं शैत्यं श्लेष्मणि गौरवम् ।

श्लेष्मवृद्धौ आलस्यमित्युत्साहाल्पत्वम् । शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते । इत्यालस्यलक्षणं सुश्रुतसंहितायाम् । शैत्यं बहिरन्तः शीतावभासता । गौरवमंगेषु जडत्वम् । (६६ ॥)

[५६] श्लेष्मक्षयलक्षणम् ।

क्षीणैऽङ्गानां विशेषणं पर्वणां चावसादनम् ॥ ६७ ॥

श्लेष्मणि क्षीणे सति अङ्गानामवसादनं सर्वावयवानां मान्यं क्रियाविशेषेषु । पर्वणामवसादनमिति सन्धीनां श्रुतत्वमिव । (६७ ॥)

रक्तपित्त कुष्ठ आदि अनेक दाहात्मक विकारोंकी उत्पत्ति होती है । सर्व शरीरमें अथवा रोगस्थानमें लाल-पीला अथवा हारा वर्ण उत्पन्न होता है । मुखमें कटुता उत्पन्न होती है । ६६ ॥

[५५] श्लेष्मवृद्धिलक्षण ।

शरीरमें श्लेष्माकी अभिवृद्धिके कारण अग्निमांद्य, आलस्य (शरीरमें सामर्थ्य होनेपरभी कार्य करनेके उत्साहके अभावको आलस्य कहते हैं) शरीरमें शीतत्व एवं जडत्व उत्पन्न होता है । ६६ ॥

[५६] श्लेष्मक्षयलक्षण ।

शरीरस्थित श्लेष्माका उचित प्रमाणसे क्षय होनेके कारण सर्व शरीरमें दौर्बल्य व संधिओंमें शिथिलत्व उत्पन्न होता है । ६७ ॥

[५७] श्लेष्मप्रकोपलक्षणानि ।

शोथः स्तम्भश्चावरोधो भवन्ति कुपिते कफे ।

विकारा विविधाः क्लेशोथसामान्यलक्षणाः ॥ ६८ ॥

श्लेष्मणः प्रकोपे शोथः सर्वदेहगतः प्रादेशिको वा । स्तम्भः ग्रीवाहन्वादीनामंगविशेषाणां चलनाक्षमत्वम् । अवरोधः स्रोतोरोधः । विकाराश्च क्लेशोथसामान्यलक्षणा इति मेहगण्डार्बुदादयः (६८ ॥)

[५८] दोषाणां संसर्गसन्निपातस्वरूपम् ।

वृद्धाः क्षीणाः प्रकुपिता यदा वातादयो द्विशः ।

यौगपद्येन संसर्गः सन्निपातः समस्तशः ॥ ६९ ॥

वातादिदोषाणां संसर्गसन्निपातसंज्ञं समवायं निरूपयति । द्विशः वातपित्ते, पित्तकफौ, कफ-वाताविति । समस्तश इति वातादयः सर्व एव । यौगपद्येन एकसमयम् । वृद्धाः क्षीणाः प्रकुपिता वा दोषा भवन्ति तदा क्रमात्संसर्गः सन्निपातश्च परिकीर्तितः । द्वयोर्वाताद्यन्यतमयोरेककालं वृद्धिः क्षयः प्रकोपो वा संसर्गसंज्ञः । सर्वेषां च सन्निपातसंज्ञ इति । (६९ ॥)

[५९] संसर्गसन्निपातकर्माणि ।

यथास्वं कर्मवैषम्यं संसर्गे दोषयोर्द्वयोः ।

सन्निपाते च विकृतिः सर्वेषामपि कर्मणाम् ॥ ७० ॥

[५७] श्लेष्मप्रकोपलक्षण ।

शोथ, स्तम्भ याने एक अथवा अनेक अवयवोंमें स्तब्धता, स्रोतसोंका अवरोध और क्लेश याने विशेष आर्द्रता और शोथ सामान्य लक्षण जिनमें रहता है ऐसे प्रमेह, गलगंड, अर्बुद आदि अनेक व्याधि श्लेष्माके प्रकोपके कारण उत्पन्न होते हैं । ६८ ॥

[५८] संसर्ग और सन्निपातका स्वरूप ।

एकसमय (और एकही स्थानमें) दोन दोष वृद्ध, क्षीण अथवा कुपित होते हैं उसको संसर्ग कहते हैं । इसी प्रकार एक समय तीनों दोषोंके वृद्धि, क्षय व प्रकोपको सन्निपात कहते हैं । ६९ ॥

[५९] संसर्गसन्निपातके कर्म ।

संसर्गमें जिन दोषोंकी वृद्धि, क्षय अथवा प्रकोप रहता, है उन दोषोंके वृद्धि

संसर्गे वातादीनाम् । यथास्वमिति दोषानुसारं वृद्धिक्षयप्रकोपानुसारं च दोष-
द्वयस्य कर्मवैषम्यम् । सन्निपाते च सर्वेषां दोषकर्मणां विकृतिर्भवेदिति । वृद्धदोषसंसर्गे वृद्धिरूपा
क्षीणयोः संसर्गे क्षयरूपा, प्रकुपितयोः संसर्गे च प्रकोपरूपा कर्मविकृतिः । सन्निपातेऽप्येव-
मेवेति । (७० ॥)

[६०] दोषाणां भेदाः

संसर्गसन्निपातानां तारतम्यविकल्पनात् ।

भेदास्त्रिषष्टिसंख्याकास्तन्त्रकृद्भिर्रुदाहृताः ॥ ७१ ॥

तारतम्यविकल्पनादिति वृद्धयावस्थास्वपि न्यूनाधिकत्वकल्पनया । त्रिषष्टि-
संख्याकाः दोषाणां भेदा उदाहृता आख्याताः । (७१ ॥)

[६१] दोषभेदानां-त्रिषष्टिसंख्याकानां निरूपणम् ।

वृद्धास्त्रयस्त्रयः क्षीणाः प्रत्येकमिति षट् स्मृताः ।

वायुःपित्तं कफःपित्तं श्लेष्मा वायुरिति त्रयः ॥ ७२ ॥

संसर्गाः समवृद्धया षट् तारतम्यविकल्पनात् ।

तावन्तः क्षीणदोषाणामष्टादश इति स्मृताः ॥ ७३ ॥

क्षय, व प्रकोपके अनुसार कर्मका वैषम्य होता है । और सन्निपातमें वृद्धि, क्षय व
व प्रकोपके अनुसार तीनों दोषोंकी विकृति रहती है । ७० ॥

[६०] दोषोंके भेद ।

दोषोंके संसर्ग व सन्निपात एवं तारतम्य याने न्यूनाधिकत्वकी कल्पनाके
अनुसार ६३ भेद तंत्रकारोंने वर्णन किये हैं । ७१ ॥

[६१] ६३ दोषभेदोंका स्पष्टीकरण ।

वातादि दोष एकैकशः अभिवृद्ध व एकैकशः क्षीण इस प्रकार एकदोषीय
विकृतीके भेद ६ संसर्गके भेद १८ जैसे दोन दोषोंके समवृद्धिसे ३
१ वायुपित्त २ कफपित्त और ३ कफवायु । तारतम्यकी कल्पनाके अनुसार
भेद ६ । (१) वृद्धवायु पित्त अतिवृद्ध । (२) वृद्धकफ पित्त अतिवृद्ध । ३ वृद्ध-
वायु कफ अतिवृद्ध । (४) पित्त वृद्ध वायु अतिवृद्ध । (५) पित्त वृद्ध कफ अतिवृद्ध ।
(६) कफ वृद्ध वायु अतिवृद्ध । इस प्रकार वृद्धावस्थामें संसर्गके प्रकार ९ । और

त्रयश्चैकस्यातिशयात् द्वयोरतिशयात् त्रयः ।

षडेव तारतम्यानुरोधतश्च भवन्ति षट् ॥ ७४ ॥

समवृद्धिश्चैक एवं सन्निपातास्त्रयोदश ।

तावन्त एव क्षीणाणां षड्विंशतिरिति स्मृताः ॥ ७५ ॥

भेदाश्चैकक्षयद्वंद्ववृद्ध्या षट् सविपर्ययाः ।

एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् समुदाहृताः ॥ ७६ ॥

द्वादशैव सन्निपाताश्चाष्टविंशद्भवन्ति हि ।

भेदश्चैकः समावस्था सर्वेषां स्वास्थ्यलक्षणैः ॥ ७७ ॥

त्रिषष्टिरेवं दोषाणां प्रभेदाः परिकल्पिताः ।

वायुः पित्तं कफश्चेति प्रत्येकशो वृद्धास्त्रयः त्रयश्च क्षीणा इति षट् । अष्टादश संसर्गभेदाः । यथा - समवृद्धनां संसर्गास्त्रिसंख्याः । वायुःपित्तं, कफःपित्तं, श्लेष्मा वायुरिति । वृद्धानां तारतम्यविकल्पनात् षट्संख्या यथा - वृद्धो वायुः पित्तं वृद्धतरं, कफो वृद्धः, पित्तं वृद्धतरं, वायुर्वृद्धः श्लेष्मा वृद्धतरः, पित्तं वृद्धं वायुर्वृद्धतरः, पित्तंवृद्धं कफो वृद्धतरः । श्लेष्मा वृद्धो वायुर्वृद्धतर एवं वृद्धावस्थायां नव भेदाः । एवमेव क्षीणावस्थावस्थितानां नव भेदास्ते यथा - समक्षीणतया त्रयो भेदाः । वायुःपित्तं, कफःपित्तं, श्लेष्मा वायुरिति । षट् च तारतम्यान् यथा - वायुःक्षीणःपित्तं क्षीणतरम् । कफःक्षीणःपित्तं क्षीणतरम् । श्लेष्मा क्षीणो वायुः क्षीणतरः । पित्तं क्षीणं वायुःक्षीणतरः । पित्तं क्षीणं कफः क्षीणतरः । वायुःक्षीणः श्लेष्मा क्षीणतर इति । एवमष्टादश

इसी प्रकार क्षीण आवस्थामें संसर्ग भेद ९ । सन्निपातके भेद ३८ । जैसे वृद्धावस्थामें एकदोषसे अतिशयसे ३ । (१) वायुपित्त वृद्ध कफ वृद्धतर । (२) पित्तकफ वृद्ध वायु वृद्धतर । (३) कफवात वृद्ध पित्त वृद्धतर । दोनदोषोंके अतिशयसे भेद ३ । (१) वायु वृद्ध पित्तकफ वृद्धतर । (२) पित्त वृद्ध, कफवात वृद्धतर (३) श्लेष्मा वृद्ध वातपित्त वृद्धतर । वृद्धदोषोंके तारतम्यानुसार भेद ६ । (१) वायुवृद्ध पित्तवृद्धतर श्लेष्मा वृद्धतम । (२) पित्तवृद्ध श्लेष्मा वृद्धतर वायु वृद्धतम [(३) कफ वृद्ध वायु वृद्धतर पित्त वृद्धतम । (४) वायु वृद्ध कफ वृद्धतर पित्त वृद्धतम । (५) पित्त वृद्ध वायु वृद्धतर कफ वृद्धतम । (६) कफ वृद्ध पित्त वृद्धतर वायु वृद्धतम । सर्व दोषोंके समान वृद्धिका प्रकार १ । वृद्धदोषोंके उक्त १३ प्रकारके अनुसारही क्षीण दोषोंके प्रकार १३ एवं २६ । एक दोषका क्षय और दोनोंकी अभिवृद्धि एवं एककी वृद्धि और दोनोंका क्षय इस प्रकार सन्निपातके भेद ६ । (१) वायु क्षीण पित्त कफवृद्ध । (२) पित्त

संसर्गभेदाः । सन्निपातभेदाश्च अष्टत्रिंशत्संख्यास्ते यथा — वृद्धावस्थावस्थितानां एकस्यातिशयात् त्रयः । यथा वृद्धे वातपित्ते श्लेष्मा वृद्धतरः । वृद्धौ पित्तकफौ वायुर्वृद्धतरः । वृद्धौ श्लेष्मवातौ पित्तं वृद्धतरमिति । त्रयश्च द्वयोरतिशयाद्भवन्ति । यथा — वायुर्वृद्धः पित्तकफौ वृद्धतरौ । पित्तं वृद्धं कफवातौ वृद्धतरौ । श्लेष्मा वृद्धः वातपित्ते वृद्धतरे इति । वृद्धानां तारतम्यानुरोधतश्च षट् भवन्ति । ते यथा — वातो वृद्धः पित्तं वृद्धतरं श्लेष्मा वृद्धतमः । पित्तं वृद्धं श्लेष्मा वृद्धतरो वायुर्वृद्धतमः । श्लेष्मा वृद्धो वायुर्वृद्धतरः पित्तं वृद्धतमम् । वातो वृद्धः कफो वृद्धतरः पित्तं वृद्धतमम् । पित्तं वृद्धं वातो वृद्धतरः कफो वृद्धतमः । कफो वृद्धः पित्तं वृद्धतरं वातो वृद्धतमः । सर्वेषां समवृद्ध्या च एक इति । एवं त्रयोदश । एवमेव क्षीणावस्थानां त्रयोदश भेदाः । एवं षड्विंशतिः । एकक्षय-
द्वंद्ववृद्ध्या सविपर्ययया षट्संख्या यथा—वायुःक्षीणः पित्तकफौ वृद्धौ । पित्तं क्षीणं कफवातौ वृद्धौ । श्लेष्मा क्षीणः वातपित्ते अभिवृद्धे । वायुर्वृद्धः पित्तकफौ क्षीणौ । पित्तं वृद्धं वातकफौ क्षीणौ श्लेष्मा वृद्धः वातपित्ते क्षीणे । एवं षट् । एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट्संख्या यथा — वायुर्वृद्धः पित्तं समं श्लेष्मा क्षीणः । पित्तं वृद्धं वायुः समः कफः क्षीणः । श्लेष्मा वृद्धः वायुः समः पित्तं क्षीणम् । पित्तं वृद्धं कफः समः वायुः क्षीणः । श्लेष्मा वृद्धः पित्तं समं वायुः क्षीणः । वातो वृद्धः श्लेष्मा समः पित्तं क्षीणम् । इत्येवं षट्संख्याः । एवमष्टत्रिंशत्सन्निपातभेदाः । भेदकल्पनयाऽनया एकैकशः षट्, संसर्गा अष्टादश, अष्टत्रिंशत्सन्निपातभेदां द्विषष्टिदोषभेदानाम् । सर्वेषां समावस्थाव-
स्थितः स्वस्थलक्षणस्वरूपोश्च भेदश्चैक इति दोषभेदानां त्रिषष्टिः । (७२ - ७७ ॥)

[६२] संसर्गसन्निपातेषु दोषलिङ्गानां तारतम्यम् ।

संसर्गसन्निपातेषु तारतम्यानुसारतः ॥ ७८ ॥

क्षीण कफवात वृद्ध । (३) कफ क्षीण वातपित्त वृद्ध (४) वायु वृद्ध पित्त-
कफ क्षीण । (५) पित्त वृद्ध वात व कफ क्षीण । (६) कफ वृद्ध वात-
पित्त क्षीण । एक दोषकी वृद्धि, एककी समता और एकका क्षय इस कल्पनाके
अनुसार भेद ६ । (१) वायु वृद्ध पित्त सम श्लेष्मा क्षीण । (२) पित्त वृद्ध
वायु सम कफ क्षीण । (३) कफ वृद्ध वायु सम पित्त क्षीण । (४) पित्त
वृद्ध कफ सम वायु क्षीण । (५) श्लेष्मा वृद्ध पित्त सम वायु क्षीण । (६)
वायु वृद्ध श्लेष्मा सम पित्त क्षीण । इन १२ प्रकारोंके सहित सन्निपातके भेद
३८, और तीनोंकी समस्थिति जो स्वास्थ्यलक्षण होता है-भेद १ एवं दोषोंके
६३ भेद होते हैं । ७२-७७ ॥

[६२] संसर्ग और सन्निपातमें दोषलक्षणोंका तारतम्य ।

संसर्ग एवं सन्निपातके प्रकारोंके वृद्ध, क्षीण, अथवा प्रकुपित दोषोंके संबन्धके

यथास्वं दोषलिंगानां तारतम्यसमुद्भवः ।
 वृद्धो वायुस्तथा पित्तमतिवृद्धं यदा भवेत् ॥ ७९ ॥
 व्याधावन्यतरे शूलात्तदा दाहोऽधिको भवेत् ।
 वृद्धं पित्तं तथा वायुरतिवृद्धो भवेद्यदा ॥ ८० ॥
 व्याधावन्यतरे दाहाद्भवेत् शूलोऽधिकस्तदा ।
 सन्निपातोद्भवे व्याधौ सर्वलिंगसमन्विते ॥ ८१ ॥
 लिंगं प्रवृद्धदोषस्य भवेत्सर्वेषु चाधिकम् ।
 वातपित्तकफाधिक्याद्विकारे सन्निपातजे ॥ ८२ ॥
 शूलो दाहस्तथा शोथश्चाधिको भवति क्मात् ।
 कर्मणां चलनादीनां हीनयोगानुसारतः ॥ ८३ ॥
 व्याध्यन्तरेषु दोषाणामनुमेयश्च संक्षयः ।
 दोषलक्षणभेदानां तारतम्यमनेकधा ॥ ८४ ॥
 यथावदधिगन्तव्यं यत्नादोषविचक्षणैः ।

संसर्गसन्निपातेष्विति संसर्गसन्निपातभेदेषु । तारतम्यानुसारतः वृद्धेः क्षयस्य वा न्यूनाधिकत्वानुसारेण । यथास्वमिति वातादिदोषानुसारमुपवर्णितानां दोषलिंगानां शूल-
 दाहादीनां तारतम्यसमुद्भव इति । यथा—यदा वृद्धो वायुः पित्तं चातिवृद्धम् । व्याधावन्यतर
 इति ज्वरगुल्मादौ । शूलात् दाहोऽधिकः । यदा च पित्तं वृद्धं वायुश्चातिवृद्धस्तदा दाहात् शूलस्याधिक्यं
 संसर्गसम्भवेषु व्याध्यन्तरेषु । सन्निपातोद्भवे च प्रवृद्धदोषस्येति इतरदोषापेक्षयाऽतिवृद्धस्य । लिंगं
 शूलादिकमधिकं भवेत् । यथा वातपित्तकफाधिक्यान् क्मात् शूलो दाहः शोथश्च अधिक इति ।
 स्वाभाविककर्मक्षयानुसारेण दोषाणां संक्षयोऽनुमेयः । यस्य वातादेर्दोषस्य कर्म चलनादिकं क्षीणं
 भवेत् तस्य दोषस्य-क्षयोऽधिगन्तव्य इति । दोषलक्षणभेदानामिति दोषाणां दोषलक्षणानां च

अनुसार लक्षणोंकाभी तारतम्य रहता है । उदाहरण जब वायु वृद्ध और पित्त अति
 वृद्ध होता है, रोगमें शूलसे दाह अधिक प्रमाणमें होता है । जब पित्त वृद्ध
 और वायु अतिवृद्ध होता है दाहसे अधिक शूल प्रतीत होता है, सन्निपातोद्भव
 व्याधिमें सर्व दोषोंके लक्षण होते हुएभी जिस दोषका प्राधान्य अधिक रहता है,
 उसका शूल दाह अथवा शोथ लक्षण अधिक प्रमाणमें रहता है । दोषोंके चलन
 पचन पोषण इन कर्मोंकी क्षीणताके अनुसार विकारोंमें दोषोंके क्षयका अनुमान
 हो सकता है । दोष और उनके लक्षणके भेदोंका अनेक प्रकारका तारतम्य दोषज्ञ
 चिकित्सकोंने प्रयत्नसे समझ लेना चाहिये । ७८-८४ ॥

तारतम्यं वृद्धिक्षयरूपमनेकधा पूर्वोक्तप्रकारम् । दोषविचक्षणैः वातादिदोषविशेषैः ।
यत्नात् सूक्ष्मावलोकनादधिगन्तव्यमिति । (७८-८४ ॥)

[६३] वृद्धिक्षयसाम्यावस्थावास्थितानां दोषसंसर्गाणां स्वरूपम् ।

दोषाणां क्षीणवृद्धानां समानां समवायतः ॥ ८५ ॥

भेदा द्वादश तेष्वध्याः संसर्गसमरूपिणः ।

षडन्ये च पृथग्वैषम्यसमलक्षणाः ॥ ८६ ॥

क्षीणवृद्धानां समानां समवायात् इति एकक्षयद्वंद्ववृद्धया सविपर्यया षट् ।
एकैकवृद्धिसमताक्षयैश्च षट् । एवमुक्ताः । भेदा द्वादश इति पूर्वमुपदिष्टास्तपु आद्या एकक्षयद्वंद्व-
वृद्धया त्रयः तद्विपरिताश्च त्रिसंख्या इति षट् संसर्गसमरूपिणः दोषभेदोपाख्याने समवायस्व-
रूपेणोपदिष्टेष्वपि षट्संख्येन्वेतेषु केषुचित् द्वयोरभिवृद्धिः क्षयश्च केषुचित् द्वयोरिति । दोषद्वयादेव
क्षीणादभिवृद्धाद्वा विकारसम्भव इति संसर्गसमरूपत्वमेतेषाम् । दोषद्वितयेऽभिवृद्धे क्षीणत्रितीयः
क्षीणशक्तित्वाद्विकारोत्पादनेऽसमर्थ इति । एवमेव क्षीणे दोषद्वये कर्मद्वयस्य संक्षयात् व्याधिप्रभवः ।
एकैकवृद्धिसमताक्षयैः कल्पितेषु च वृद्ध एव विकारोत्पादकः न तथेतरो । समः समत्वात्क्षीणः क्षीण-
सामर्थ्यादिति । एवं सन्निपातत्वेनोपदिष्टाश्चैते द्वादश दोषभेदा न केवलं सन्निपातस्वरूपा
इति । (८५-८६ ॥)

[६३] वृद्धि क्षय व सम अवस्थाके दोषसंसर्गका स्वरूप ।

क्षीण व वृद्ध दोषोंके समवायसे तथा क्षीण वृद्ध व सम दोषोंके समवा-
यसे जो दोषोंके १२ भेद बतलाये गये हैं उनमेंसे पहिले ६ भेद (१ क्षीण व दो
वृद्ध प्रकारसे ३ व एक वृद्ध दो क्षीण प्रकारसे ३ एवं ६ संसर्ग स्वरूपही प्रतीत
होते हैं । कारण इन भेदोंमें दोनोंकी वृद्धि अथवा क्षय बतलाया गया है । और
इसीकोही संसर्ग कहते हैं ।) तथा एक वृद्ध एक सम और एक क्षीण इसप्रकार
बतलाये हुये ६ प्रकार वास्तावमें एक दोषविकृतिस्त रूपही होते हैं । कारण समदोष
रोगोत्पादक नहीं होता और जो वृद्ध होता है उसके विरुद्ध गुणका क्षीणदोषभी
क्षीणसामर्थ्यके कारण विकृतिको निर्माण नहीं कर सकता । इसप्रकार सन्निपातके
प्रकारोंमें निर्दिष्ट होनेपरभी इन १२ भेदोंका स्वरूप सन्निपातसदृश प्रतीत नहीं
होता । ८५ । ८६ ॥

[६४] दोषभेदानुसारं व्याधिविशेषलक्षणानि ।

शोषशूलात्मकाः प्रायो विकारा वातकोपजाः ।

दाहकोथात्मकाः प्रायः पित्तकोपसमुद्भवाः ॥ ८७ ॥

शोथस्तम्भात्मकाः प्रायः श्लेष्मकोपसमुद्भवाः ।

स्थानसंस्थानभेदाद्भिन्नेषु विकारेषु दोषविशेषदर्शको रूपभेदो यथा—शोषशूला-
त्मका इति शोषशूलप्रधाना विकारा वातप्रकोपजाः । एवं दाहकोथात्मकाः पित्तप्रकोप-
समुद्भवाः श्लेष्मकोपसमुद्भवाश्च शोथस्तम्भात्मका इति । दोषतारतम्यानुसारेण लक्षणान्तरसमुद्भव-
मुद्दिश्य प्राय इति पदं सर्वत्र । यथा—वातकोपसमुद्भवेषु केषुचिद्विकारेषु शोथः, शोथेषु श्लेष्म-
कोपसमुद्भवेषु शूलस्य सम्भवः कदाचित् । ८७ ॥

[६५] औषधानां प्रधानं स्वरूपम् ।

शोधनं शमनं चेति दौषाणामौषधं द्विधा ॥ ८८ ॥

दौषाणां विकारोत्पादकानां शोधनं शमनं चेति द्विधा द्विप्रकारमौषधम् । बहुत्वेऽप्यौष-
धानां सर्वेषां शोधने शमने चान्तर्भाव इति । शोधनशमनस्वरूपविशेषश्च प्रागभिहितः ।
(शारीरतत्त्वदर्शन उत्तरार्धे नवमदर्शने) (८८ ॥)

[६४] दोषभेदके अनुसार व्याधिओंके विशिष्ट लक्षण ।

प्रायः वातप्रकोपजनित व्याधि शोषशूलात्मक होते हैं । याने वातोद्भव
व्याधिओंमें शोष और शूल इनका प्राधान्य रहता है । पित्तप्रकोपसे उत्पन्न विका-
रोंमें दाह और कोथका प्राधान्य एवं कफप्रकोपोद्भव व्याधिओंमें शोथ और स्तम्भ
इनका प्राधान्य रहता है । ८७ ॥

[६५] औषधके मुख्य भेद ।

औषधके प्रमुख भेद दोही होते हैं । (१) शोधन (२) शमन ।
(इनका स्पष्टीकरण शा. त. दर्शन उत्तरार्धके ९ दर्शनमें किया गया है) नाना-
विध विकारोंके अनुसार औषधोंके विविध प्रकार होते हुएभी उनका समावेश
शोधन और शमनमेंही होता है । ८८ ॥

[६६] शोधनशमनयोरुपयोगविशेषः ।

अल्पेषु शमनं दोषेष्वभिवृद्धेषु शोधनम् ।

अल्पेष्विति अल्पप्रमाणेनाभिवृद्धेषु । न क्षीणेषु । क्षीणदोषेषु बृंहणोपयोगो विहितः ।

शमनं शमनसंज्ञं सप्तविधं प्रागभिहितम् । अतिवृद्धेषु च शोधनं वमनादि पंचविधं प्रागुपदिष्टम् । प्रयोज्यमिति शेषः । (८८ ॥)

[६७] दोषभेदानसारं शोधनशमनविशेषाः ।

वाते पित्ते कफे वस्तिर्विरेको वमनं क्रमात् ॥ ८९ ॥

शोधनं शमनं वायोः स्नेहनं स्वेदनं तथा ।

स्वाद्वस्त्रलोष्णं पटु स्निग्धं द्रव्यमाहार्यमौषधम् ॥ ९० ॥

मन्दशीतगुणं द्रव्यं स्वादुतिक्तकषायकम् ।

आहार्यमौषधं वाऽपि पित्तस्य शमनं भवेत् ॥ ९१ ॥

कटुतिक्तरसं रूक्षमुष्णं तीक्ष्णं च भेषजम् ।

द्रव्यमाहार्यमथवा श्लेष्मप्रशमनं भवेत् ॥ ९२ ॥

वात इत्यादि । वातपित्तकफेषु क्रमात् वस्तिर्विरेको वमनमिति शोधनं प्रधानम् । शमनं च वायोः स्नेहनं स्वेदनं, स्वाद्वस्त्रलोष्णरसभूयिष्ठं स्निग्धोष्णवीर्यं आहार्य-मौषधं वा द्रव्यम् । तथा मन्दशीतगुणं स्वादुतिक्तकषायरसभूयिष्ठमाहार्यमौषधं वा द्रव्यं पित्तस्य

[६६] शोधन और शमनका विशिष्ट उपयोग ।

वातादि दोषोंकी वृद्धि अल्प प्रमाणमें रहती है ऐसी अवस्थामें शमन व दोषोंकी वृद्धि विशेषप्रमाणमें होती है ऐसी अवस्थामें शोधनका उपयोग करना चाहिये । ८८ ॥

[६७] वातादि दोषोंके अनुसार शोधन और शमन ।

वायु पित्त व कफ इनका अनुक्रमसे वस्ति, विरेचन व वमन प्रमुख शोधन बतलाया है । स्नेहन (घृत तेल आदि स्नेहपानसे शरीरमें विशिष्ट स्निग्धत्वका निर्माण करना) स्वेदन, मधुर, अम्ल, लवण, और विशेषतः स्निग्ध व उष्णगुणका आहाररूप अथवा औषधरूप द्रव्य वायुका शमन करना है । मंद और शीत गुण जिसमें विशेषरूप रहते हैं और जिसका रस मधुर, तिक्त अथवा कषाय होता है ऐसा आहाररूप अथवा औषधरूप द्रव्य पित्तका प्रशमन कर सकता है । जिसका स्वाद कटु व तिक्त होता है, और जो विशेषतः रूक्ष, उष्ण व तीक्ष्ण गुणका

शमनम् । श्लेष्मणश्च कटुतिक्तरसप्रायं रूक्षोष्णतीक्ष्णगुणं द्रव्यमाहार्यमौषधं वा प्रशमनं भवेदिति । (८९-९२)

[६८] वातादीनां सर्वश्रेष्ठानि शमनद्रव्याणि ।

वातप्रशमनं तैलं पित्तप्रशमनं घृतम् ।

सर्वप्रधानमाख्यातं श्लेष्मप्रशमनं मधु ॥ ९३ ॥

वातपित्तश्लेष्मणां क्रमात्तैलं घृतं मधु चेति सर्वप्रधानं प्रशमनमाख्यातम् । तन्त्रकृद्भिरिति शेषः । यथोक्तमष्टांगहृदये — “ वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण । ” इति । चरकसंहितायां तैलादीनां दोषद्वयोपशमकारित्वमाख्यातं यथा — तैलं वातश्लेष्मप्रशमना-
नाम्, सर्पिर्वातपित्तशमनानां, मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानामिति । (९३)

[६९] वातादीनां सामान्या चिकित्सा ।

वातपित्तकफा दोषाः प्रदुष्टा व्याधिहेतवः ।

तेषां प्रशमनं हेतुविपरीतं चिकित्सितम् ॥ ९४ ॥

प्रदुष्टा वाताद्या एव व्याधिहेतवः । यथोक्तमष्टांगहृदये — दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम् । इति । अतस्तेषां दोषाणां प्रशमनं चिकित्सितं हेतुविपरीतं नाम । (९४ ॥)

[७०] स्थानान्तरेषु प्रदुष्टानां वातादीनां प्रशमनम् ।

स्थानान्तरेषु दोषाणां विकृतिर्व्याधिकारिणी ।

भवेत् व्याधिप्रशमनं प्रभावान्वितमौषधम् ॥ ९५ ॥

रहता है इसप्रकारका आहार्य अथवा औषधरूप द्रव्य श्लेष्माका प्रशमन करता है । ८९-९२ ॥

[६८] वातादि दोषोंके सर्वश्रेष्ठ शमन द्रव्य ।

वातादि दोषोंके बहुसंख्य शमनद्रव्योंमें तेल वायुका, घृत पित्तका और मधु श्लेष्माका सर्वश्रेष्ठ प्रशमन याने प्रशमकारक द्रव्य तंत्रकारोंने बतलाया है । ९३ ॥

[६९] वातादि दोषोंकी सामान्य चिकित्सा ।

अनेकविध और बहुसंख्य व्याधिओंके कारण प्रकुपित वातादि दोषही होते हैं । अतः उनका प्रशमन यही सामान्यतः चिकित्सा होती है । ऐसी चिकित्साको हेतुविपरीत चिकित्सा कहते हैं । ९४ ॥

[७०] विशिष्ट स्थानोंमें प्रकुपित दोषोंकी चिकित्सा ।

शरीरके भिन्न व विशिष्ट स्थानमें विशेष स्वरूपमें विकृत दोष विशिष्ट

स्थानान्तरेष्विति—आमपकाशयादिस्थानेषु । दोषाणां विकृतिर्व्याधिकारिणी
ज्वरगुल्माद्यन्यतमव्याधिविशेषोत्पादनी । व्याधिप्रशमनमिति व्याधिविशेषविनाशनम् ।
औषधं प्रभावान्वितमिति व्याधिविशेषोपशमकारिणा गुणविशेषेण प्रभावाख्येनान्वितम् ।
स्थानान्तरेषु प्रकुपितानां व्याधिविशेषोत्पादकानां वातादीनां प्रशमनार्थं न केवलं सामान्यतो
दोषप्रशमनं प्रमवेद्विषयम् । अपि तु स्थानविशेषपरिणामकारिणा प्रभावेणान्वितमिति । (९५॥)

[७१] वातादीनां साम्यं स्वास्थ्यकारणम् ।

ऋहासनादतिवृद्धानां क्षीणानामभिवर्धनात् ।

समत्वमभिरक्ष्यं स्याद्दोषाणां स्वास्थ्यकारणम् ॥ ९६ ॥

समावस्थावस्थितैर्वातादिभिरेव स्वास्थ्यं सम्पाद्यत इति वृद्धानां ऋहासनात् क्षीणानां
च तेषामभिवर्धनात् । स्वास्थ्यकारणं समत्वमभिरक्ष्यमिति । यथोक्तं वाग्भटेनाष्टांगहृदये—य
एव देहस्य समा विवृद्धये त एव दोषा विषमा वधाय । यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयादिवृद्धेरिव
रक्षणीयाः । (९६ ॥)

इति समासतो वातादिविज्ञेयविषयदर्शनं नाम द्वादशं दर्शनम् ।

॥ इति द्वादशं दर्शनम् ॥

व्याधिकी उत्पत्ति करते हैं । अतः ऐसे विशिष्ट व्याधिओंका प्रशमन विशेष प्रभा-
वशाली औषधिद्वयही कर सकते हैं । इस प्रकारकी चिकित्साको व्याधिविपरीत
चिकित्सा कहते हैं । ९५ ॥

[७१] स्वास्थ्यकारण वातादिदोषोंकी समता ।

शरीरमें वातादि दोष समावस्थामें—अविकृत अवस्थामें रहते हैं जब स्वास्थ्यमें
बाधा उत्पन्न नहीं हो सकती । अतः वृद्ध वातादि दोषोंका ऋहासन [क्षय] और
क्षीण दोषोंका संवर्धन करनेसे स्वास्थ्यका प्रमुखसाधनीभूत दोषोंकी समावस्थाका
संरक्षण करना चाहिये । ९६ ॥

संक्षेपमें वातादि दोषोंका विज्ञेयविषय नामक द्वादश दर्शन समाप्त ।

शरीरतत्त्वदर्शन ग्रंथका उत्तरार्ध समाप्त ।

उक्तार्थसंग्रहः

वातादीनां सर्वदेहव्यापित्वेऽपि विशेषतः ।
 स्थानान्तराश्रयः कर्मभेदः स्थानान्तरोद्भवः ॥ १ ॥
 प्रत्येकं पंचभेदाश्च स्थानान्तरसमाश्रिताः ।
 स्वरूपं विविधं तेषां विविधाश्च क्रिया अपि ॥ २ ॥
 वातादीनां क्रियाः स्वाभाविकाश्च त्रिविधात्मिकाः ।
 नानाविधानां त्रिविधं स्वरूपं कर्मणामपि ॥ ३ ॥
 क्रियाविशेषाः प्रमुखाः पचनोत्सर्जनादयः ।
 नानाविधानां व्याधीनामवस्थानां च कारणम् ॥ ४ ॥
 त्रिविधं कर्मवैषम्यं व्याधयश्च तदुद्भवाः ।
 व्याधिभेदाश्च विविधा दूष्यस्थानविभेदतः ॥ ५ ॥
 अशीनिर्वर्तजा रोगाश्चत्वरिंशच्च पित्तजाः ।
 श्लेष्मजा विंशतिस्तेषां स्वरूपं विविधात्मकम् ॥ ६ ॥
 संसर्गः सन्निपातश्च व्याध्यवस्थास्तदुद्भवाः ।
 शूलो दाहश्च शोथश्च त्रिविधं व्याधिलक्षणम् ॥ ७ ॥
 दोषानुबन्धाह्लिगेषु नारतम्यसमुद्भवः ।
 संशोधनाः संशमना वातादीनामुपक्रमाः ॥ ८ ॥

उपसंहारः.

शारीरतत्त्वदर्शन ग्रंथके उत्तरार्धमें प्रतिपादित विषयोंका संक्षेपमें निर्देश
 याने उपसंहार—(१) वातादिदोषोंका विशिष्ट स्थानाश्रय । (२) स्थानभेदोंके अनुसार
 कार्यविशेष । (३) वातादीके प्रत्येकशः ५ भेद । (४) दोषभेदोंके विशिष्ट स्थान ।
 (५) दोषभेदोंका स्वरूप । (६) दोषभेदोंके विशिष्ट कर्म । (७) दोषोंके चलन, पचन व
 पोषणसंज्ञक मुख्य कर्म । (८) सर्व शारीरकर्मोंका त्रिविध स्वरूप । (९) पचनोत्स-
 र्जनादि कर्म व उनका प्राधान्य । (१०) नानाविध व्याधि और उनकी अवस्था-
 ओंका कारण तीन प्रकारका क्रियावैषम्य । (११) धातु व स्थानभेदके अनुसार
 व्याधिओंके भेद । (१२) चरकोक्त ८० वातविकार । (१३) चरकोक्त
 ४० पित्तविकार । (१४) चरकोक्त २० श्लेष्मविकार । (१५) दाषोंके संसर्ग

हेतुव्याधिप्रत्यनीकस्वरूपे व्याध्युपक्रमे ।

अनुबन्धस्तथाऽहायौषधानामुपवर्णने ॥ ९ ॥

समासतश्च विज्ञेयविशेषाणां समुच्चयः ।

इति वातादिदोषानुसम्बद्धं विशदीकृतम् ॥ १० ॥

आयुर्वेदीयतन्त्राणामभिप्रायानुरोधतः ।

यथावदुत्तरार्थेऽस्मिन् शरीरे तत्त्वदर्शने ॥ ११ ॥

शरीरतत्त्वदर्शनोत्तरार्थे प्रतिपादिनां विषयाणां समासतःपरिसंख्यानं यथा-(१) वातादि-
दोषाणां स्थानविशेषाश्रयः । (२) स्थानविशेषानुसारं क्रियाविशेषः । (३) प्रत्येकं पंच भेदाः । (४)
स्थानान्तराश्रिता दोषभेदा इति दोषभेदानां स्थाननिर्देशः । (५) तेषां दोषभेदानां
स्वरूपम् । (६) तेषां दोषभेदानां क्रियाः । (७) दोषाणां त्रिविधात्मिकाः चलनपचनपोष-
णाख्याः क्रियाः । (८) नानाविधानामिति स्थानान्तरानुरोधाद्विविधस्वरूपाणाम् कर्मणां त्रिविधं
स्वरूपम् । (९) पचनेत्सर्जनादयः प्रमुखाः क्रियाविशेषा इत्येतेषां प्राधान्यम् । (१०)
व्याधीनां अचस्थानामिति व्याध्यवस्थानां कारणं त्रिविधम् । कर्मवैषम्यात् चलनादिकर्मत्रि-
तयस्य वैषम्यात् । (११) दूष्यस्थानविभेदत इति दूष्याणां रसकृतादिधातूनां स्थानानां च
पक्वमाशयादीनां भेदानुसारेण व्याधिभेदाः शुल्मज्वरादयः । (१२) अशीतिर्वातजा रोगाः
चरकसंहितायामुपवर्णिताः । (१३) चत्वारिंशत्पित्तजाश्चरकोक्ताः । (१४) विंशतिः श्लेष्मजाश्चरकोप-
दिष्टाः । (१५) दोषसंसर्गः । (१६) दोषाणां सन्निपातः । (१७) तदुद्भवाः संसर्गसन्निपातो-
द्भवा व्याधयः । (१८) शूलदिकं त्रिविधं व्याधिलक्षणमिति विविधस्थानसंस्थानानामपि
विकाराणां शूलदाहशोथेष्वन्तर्भावः । (१९) दोषानुबन्धान् लिंगेषु व्याधिलक्षणेषु तारतम्यं
सौम्यतातीव्रतादिरूपं न्यूनाधिकत्वम् । (२०) वातादीनां संशोधनाः शोधनसंज्ञा वमनाविरेचनाद्या
उपक्रमाः । (२१) संशमनाः संशमनसंज्ञाः दीपनपाचनाद्या उपक्रमाः । (२२) व्याध्यु-
पक्रमे रोगचिकित्सायां दोषानुबन्धः । (२३) आहार्यौषधानामिति आहार्याणामौषधरूपाणां
च द्रव्याणाम् । उपवर्णने गुणवर्णने दोषानुबन्धः । (२४) समासतो विज्ञेयविषयाणां

(१६) दोषोंके सन्निपात । (१७) संसर्गसन्निपातोद्भव व्याधि । (१८)
नानाविध व्याधिओंमें शूल, दाह, शोथ इन तीनोंका प्राधान्य । (१९) व्याधि-
लक्षणोंमें वातादि दोषोंके अनुसार तारतम्य याने न्यूनाधिकत्व । (२०) वातादि
दोषोंके शोधन उपाय । (२१) वातादि दोषोंके संशमन उपाय । (२२)
व्याधिचिकित्साओंमें दोषोंका संबन्ध । (२३) आहार्य व औषधिद्रव्योंके गुणवर्णनमें
दोषसंबन्ध । (२४) वातादिदोषोंके संबन्धमें विज्ञेय विषयोंका संक्षेपसे संग्रह । इस
प्रकार वातादि दोषोंके संबन्धमें विज्ञेय विषयोंका विवेचन शरीरवत्त्वदर्शन नामक-

वातादिसम्बन्धिनां समुच्चयः संग्रहः । इति उपर्युक्तप्रकारेण वातादिदोषानुसम्बद्धं वातादिदोषसम्बन्धि विज्ञेयमिति । आयुर्वेदीयतन्त्राणां विशेषतश्चरकसुश्रुतवाग्भटप्रणीतानाम् । अभिप्रायानुरोधतः अभिप्रायानुसारेण । शारीरतत्त्वदर्शने शारीरतत्त्वदर्शनाभिधेयस्मिन् ग्रंथे उत्तरार्धे यथावद्विशदीकृतमिति । (१-११)

दोषा एव हि सर्वेषां कर्मणां कारणं समाः ।

विषमाश्च विकारणां श्लेष्मपित्तानिलास्त्रयः ॥ १ ॥

सर्वेषां कर्मणामिति शरीरसम्बन्धिनां स्वाभाविकानां कर्मणाम् । दोषा वातपित्तः श्लेष्माणः । समाः स्वप्रमाणावस्थिता अविकृता इति यावत् । कारणम् । विषमाः विकृतिमापन्नाः । विकारणां कारणमिति । शरीराणां क्रियाणां विक्रियाणां च क्रमात् अविकृता विकृताश्च दोषा वातपित्तश्लेष्माणस्त्रय एव कारणं प्रधानमिति । यथोक्तं सुश्रुतसंहितायाम् - वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः । तैरेवाव्यापन्नेः शरीरमिदं धार्यते । त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः । चरकसंहितायां च - सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति । प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवर्णप्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि । इति ।

स्वस्थानुरहितस्यायुर्वेदोक्तस्यावबुद्धये ।

श्लेष्मपित्तानिलाः सम्यगवबोध्याश्चिकित्सकैः ॥ २ ॥

स्वस्थानुरहितस्येति स्वस्थानां स्वास्थ्यसंरक्षणस्य आतुराणां व्याधिपरिहारस्य चेति । आयुर्वेदोक्तस्य आयुर्वेदीयतन्त्रेषूपदिष्टस्य । अवबुद्धये यथावदवबोधार्थम् । चिकित्सकैः श्लेष्मपित्तानिलाः सम्यगवबोध्याः । वातपित्तश्लेष्मणां स्वस्थानुरशरीरगतकर्मकरत्वात्तेषां यथावदवबोधात्स्वस्थानुरहितं सम्यक् सम्पादनीयं चिकित्सकैरिति । (२ ॥)

ग्रंथके इस उत्तरार्धमें आयुर्वेदीयग्रंथोंके विशेषतः चरक सुश्रुत-वाग्भटप्रणीत ग्रंथोंके अभिप्रायके अनुसार किया गया है । (११)

वातादिदोषही आरोग्य व अनारोग्यके कारण होते हैं ।

सम याने अविकृत अवस्थामें वातादि दोष सर्व शरीर क्रियाओंके कारण होते हैं । वैसेही विषम अवस्थामें याने विकृत अवस्थामें वेहि नानाविध व्याधिओंके उत्पादक होते हैं । (१)

दोषज्ञानकी अवश्यकता ।

आयुर्वेदमें उपवर्णित स्वस्थ व रोगीके हितसंबंधी यथावत् ज्ञानार्थ चिकित्सकोने वायु पित्त व कफ इनको यथार्थरूपमें समझ लेना चाहिये । (२)

स्वस्थानामातुराणां च जनानां हितदर्शनम् ।

साध्यं तत्साधनं भूयात् शारीरं तत्त्वदर्शनम् ॥ ३ ॥

स्वस्थातुराणां जनानां हितदर्शनं हितचिन्तनम् । साध्यमायुर्वेदस्येति । शारीर-
तत्त्वदर्शनं नाम ग्रंथोऽयं तत्साधनं स्वस्थातुरहितदर्शनसाधनम् । भूयादिति ।

। इति शारीरं तत्त्वदर्शने उक्तार्थम् ।

शारीरं तत्त्वदर्शनं समाप्तम् ।

स्वस्थ व रोगीजनका हितसाधन यह आयुर्वेदका—वैद्यक शास्त्रका साध्य
है । उस साध्यका साधन करनेमें यह ' शारीर तत्त्वदर्शन ' नामक ग्रंथ योग्य
साधन हो । (३)

। शारीरतत्त्वदर्शन ग्रंथ समाप्त ।



शारीरतत्त्वदर्शनव्याख्यायां समीक्षाख्यायां प्रमाणत्वेनोल्लिखितानि तन्त्रान्तरीयाणि वाक्यानि (आकारादिक्रमेण) ।

[अ. ह. = अष्टांगहृदयम् । अ. सं. = अष्टांगसंग्रहः । च. सं. = चरकसंहिता । मा. नि. = माधवनिदानम् । सु. सं. = सुश्रुतसंहिता । अ. = अध्यायः । अनु. = अनुक्रमः अध्यायगतवाक्यानाम् ।]

[अ]

- (१) अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा । (. सं. उ. स्था. अ. ६५ अनु. ३४ तन्त्र-युक्तिवर्णने)
- (२) अन्यानि शास्त्राणि आयुर्वेदादपराणि व्याकरणादीनि तेषु असामान्या असाधारणा तत्र अननुगता स्वशास्त्रेष्वेव प्रयोजनवतीऽत्यर्थः ।
(श्रीडल्हणाचार्यकृतं व्याख्यानं - सु. सं. उ. स्था. अ. ६५ अनु. ३४)
- (३) अवष्टम्भः पुरीषस्य मूत्रस्य क्लेदवाहनम् । (अ. ह. सू. स्था. अ. ११ श्लो. ५ दोषधातुमलानां स्वाभाविकक्रियावर्णने ।)
- (४) अवष्टम्भ इति देहधारणाख्यं कर्म । (श्रीमदरुणदत्तकृतं व्याख्यानम् - अ. ह. सू. स्था. अ. ११ श्लो. ५)
- (५) अम्भःपृथिवीम्यां श्रेष्ठमा । (अ. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. २ वातादिदोषाणां पांचभौतिकत्वविवरणे)
- (६) अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः । (तर्कसंग्रहः)
- (७) अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते । (च. सं. शा. स्था. अ. १ अनु. ७६)
- (८) अन्नस्य पक्ता पित्तं तु पाचकारव्यं पुरेरितम् ।
दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम् ॥
तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता ।
स्थिता पक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गार्गलेव सा ॥
भुक्तमामाशये रुध्वा सा विपाच्य नयत्यधः ।
बलवत्यबलात्वनमाममेव विमुञ्चति ॥ (अ. ह. शा. स्था. अ. ३ श्लोक ४९ । ५१ । ५२ ग्रहणीवर्णने)

- (९) अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्सस्य प्रपाकतः । (च. सं. चि. स्था. अ. १५
अनु. ९ आहारपचनावस्थासु दोषाभिवृद्धिक्रमविवरणे)
- (१०) अधोगतास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति । (सु. सं. शा.
स्था. अ. ९ अनु. ७ धमनीविवचने)
- (११) अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता ।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तर्मः ॥ (च. सं. सू. स्था. अ. २८
अनु. ९ रसादिदोषजन्यविकारोपवर्णने ।)
- (१२) अधिमांसार्बुदं कीलगलशालूकशुण्डिकाः । (च. सं. सू. स्था. अ. २८
अनु. १४ मांसदोषजन्यविकारोपवर्णने)
- (१३) अहोरात्रादहोरात्रात्स्थानात्स्थानं प्रपद्यते ।
ततश्चामाशयं प्राप्य दोषः कुर्याज्ज्वरं नृणाम् ॥ (सु. सं. उ. स्था. अ. ३९
अनु. ५३ अन्येद्युष्कादिविषमज्वरवर्णने)
- (१४) अल्पहेत्वग्रूपरूपोऽनुपद्रवः । अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः (सुखसाध्यः)
(अ. ह. सू. स्था. अ. १ श्लो. ३० व्याधीनां साध्यासाध्यत्वविवेचने ।)
- (१५) अनुपक्रम एव स्यात्स्थितोऽत्यंतविपर्यये । (अ. ह. सू. स्था. अ. १
श्लो. ३२)
- (१६) अयथाबलमारंभं वेगसंधारणं क्षयम् ।
यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् ॥ (च. सं. चि. स्था. अ. ८
अनु. १३)
- (१७) अबद्धमिति असंहतम् - (चक्रपाणिव्याख्या च. सं. नि. स्था. अ. ४ अनु. ७
प्रेमहविकारेषु दूष्यविवेचने)
- (१८) अम्भोभिः पूर्णवृत्तिवत्क्षोभं याति सरुड्मृदुः (मा. नि. वृद्धिनिदाने श्लो. ६
मूत्रवृद्धिलक्षणे ।)
- (१९) अधः प्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः समाश्रितः ।
उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥
शुष्को वा सकफो वापि कसनात्कास उच्यते । (च. सं. चि. स्था. अ. १८
अनु. ७-८ काससंप्राप्तिविवेचने ।)
- (२०) अनुबन्धे तु सति हेतुविपर्ययम् ।
त्यक्त्वा यथायथं वैद्यो गुंज्यात् व्याधिविपर्ययम् । (अ. ह. सू. स्था. अ.
६ श्लो. २३ चिकित्सामेदोपवर्णने)

[३]

- (२१) अपथ्यं लवणं प्रायश्चक्षुषोः । (अ. ह. सू. स्था. अ. १० श्लो. ३४ मधुरादि-
द्रव्यवर्गीणां गुणविशेषविवेचने)
- (२२) अमीमांसान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः ।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः (सु. सं. सू. स्था. अ. ४० अनु.
१९ द्रव्यप्रभाववर्णने ।)

[आ]

- (२३) आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रसरंजनात् । (अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो.
१३ पित्तभेदोपवर्णने)
- (२४) आन्तरिक्षास्तु शब्दः शब्देंद्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च । (सु. सं.
शा. स्था. अ. १ अनु. १९ शरीरांगादीनां पंचभूतांशविशेषविवेचने)
- (२५) आगमापगमक्षोभमृदुतावेदनोष्मणाम् ।
वैषम्यं तत्रतत्रांगे तास्ताः स्युर्वेदनाश्चलाः (अ. ह. नि. स्था. अ. २ श्लो.
११ वातज्वरवर्णने)
- (२६) आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमुत्पा-
दयति । (च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. ७)

[इ]

- (२७) इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः ॥
यस्मात्समुपलभ्यन्ते लिंगान्येतानि जीवतः ।
न मृतस्यात्मलिंगानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥
शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ।
पंचभूतावशेषत्वात्पंचत्वं गतमुच्यते ॥ (च. सं. शा. स्था. अ. १ अनु.
७२-७३-७४-शरीरस्यात्माधिष्ठानत्ववर्णने)

[उ]

- (२८) “ उपस्तब्धः स शङ्कता केवलं वर्तते क्षयी । (अ. ह. नि. स्था. अ.
५ श्लो. २२)

- (२९) ' उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च ।
नानात्मकमपि द्रव्यमग्निषोमौ महाबलौ ॥
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् । (अ. ह. सू. स्था. अ. ९ श्लो. १७-१८)
- (३०) ' उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः ।
सम्यगगत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च ॥
अनुगृण्हात्यविकृतः पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः ।
शुचृद्भुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः ॥
श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसन्धिवन्धक्षमादिभिः । [अ. ह. सू. स्था. अ. ११ श्लो. १-२-३-४]
- (३१) ' उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टाधातुगतिः समा ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माधिकारजम् ॥
दर्शनं पक्वितरूष्मा च शुचृष्णा देहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माधिकारजम् ॥
स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माधिकारजम् ॥ [च. सं. सू. स्था. अ. १८ अनु. ४९-५०-५१]
- (३२) ' उपक्रम्यस्य हि द्वित्रिवा द्विधैवोपक्रमो मतः ।
एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥
बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायाबुदाहृतौ । (अ. ह. सू. स्था. अ. १४ श्लो. १-२)
- (३३) ' उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः । (च. सं. वि. स्था. अ. १८ अनु. १५)
- (३४) ' उपाचरेत्स्नेहभवं हि रूक्षणैः प्रकल्पयेत्स्नेहविधिं च रूक्षजे ।
घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तं कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः ॥ (च. सं. वि. स्था. अ. १२ अनु. १८-१९ श्रययुचिक्रितिते)

- (३५) ' ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥ (अ. ह. सू. स्था. अ. १४ श्लो. १५)
- (३६) ' ऊष्मा पित्तादृते नास्ति । (अ. ह. वि. स्था. अ. १ श्लो. १६)

[५]

[ए]

(३७) ' एवं प्रकुपितास्तांस्तन् शरीरप्रदेशानागम्य तांस्तान् व्याधीन् जनयन्ति । ते यदा उदरसन्निवेशं कुर्वन्ति तदा गुल्मविद्रध्युदराग्नि-संगाऽनाहविसूचिकाऽतिसारप्रभृतीन् जनयन्ति । बस्तिगताः प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूत्रदोषप्रभृतीन् । वृषणगता वृद्धीः । मेढ्रगता निरुद्धप्रकाशोपदंशशूकदोषप्रभृतीन् । गुद्गता भगन्दाराशः प्रभृतीन् । ऊर्ध्वजन्तुगतास्तूर्ध्वजान् । त्वङ्मांसशोणितस्थाः क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि विसर्पाश्च । मेढ्रगता ग्रंथ्यपच्यवृद्गलगण्डालजीप्रभृतीन् । (सु. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु. ३३)

(३८) ' एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम् । (मा. नि. व्रणशोधनिदाने श्लो. १)

(३९) ' एवमन्यानपि व्याधीन्स्वनिदानविपर्ययात् । चिकित्सेत् । (अ. ह. सू. स्था. अ. ८ श्लो. २२)

[ओ]

(४०) ' ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रांतानां परं स्मृतम् । निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः । यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति ॥ [अ. ह. सू. स्था. अ. ११ श्लो. ३७-३८ ओजोवर्णने]

[क]

(४१) ' कफः पित्तं मलः स्त्रेणु प्रस्वेदो नखरोम च । स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः ॥ [अ. ह. शा. अ. ३ श्लो. ६४]

(४२) ' कफस्य सुतरामुरः । [अ. ह. सू. स्था. अ. ११ श्लो. ३]

(४३) ' कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे । अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥ [सु. सं. शा. स्था. अ. २ अनु. ५८]

(४४) ' करोति तत्र सौषिर्यमस्थनां मध्ये समीरणः । [च. सं. वि. स्था. अ. १५ अनु. ३१ धातूपत्तिवर्णने]

- (४५) ' कलाः खल्वपि सप्त सम्भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादा इति । [सु. सं. शा. स्था. अ. ४ अनु. ५]
- (४६) ' कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु । क्षीयन्ते धातवः सर्वे [सु. सं. उ. स्था. अ. ४१ अनु. १० राजयक्ष्मवर्णने]
- (४७) ' कषायमधुरैः पित्ते विरेकः कटुकैः कफे ।
स्निग्धोष्णलघुणैर्वाया । [अ. ह. सू. स्था. अ. १९ अनु. ३५ दोषविशेषानुसारं विरेचनद्रव्यविशेषवर्णने]
- (४८) ' कषायं प्रायशः शीतं स्तम्भनं च । [अ. ह. सू. स्था. अ. १० श्लो. ३६ रसविशिष्टद्रव्यवर्गाणां गुणविशेषवर्णने]
- (४९) ' कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुण्ठाति तद्वपुः ।
प्रपद्य धातून् व्याप्यान्तः सर्वान्संक्लेद्य चावहेत् ॥
सस्वेदक्लेदसंकोथान् कृमीन्तूक्ष्मान्सुदारुणान् । [अ. ह. नि. स्था. अ. १४ श्लो. ४-५ कुष्ठस्वरूपवर्णने]
- (५०) ' किट्टमक्षस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः ।
पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥
स्यात्किट्टं नखरोमास्थनो मज्जः स्नेहोऽक्षिविद्वत्त्वचाम् । [च. सं. चि. स्था. अ. १५ अनु. १८-१९ मलसंख्यानं]
- (५१) ' किट्टात्स्वेदमूत्रपुरीषवातश्चेष्टमाणः । [च. सं. सू. स्था. अ. २८ अनु. ४ आहारकिट्टोद्भवद्रव्याणामुत्पत्तिविवरणे]
- (५२) कुष्ठवीसर्पपिडाकारकतपित्तमसृग्दरः । [च. सं. सू. स्था. अ. २८ अनु. १० रक्तदोषजन्यविकारवर्णने]
- (५३) ' कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिसर्पताम् ।
यत्र संगः स्ववैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ [सु. सं. सू. स्था. अ. २४ अनु. १० स्थानवैगुण्यस्य व्याधिहेतुत्ववर्णने]
- (५४) ' कोपस्तून्मार्गगामिता ।
लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः । [अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. २३ वातादीनां प्रकोपवर्णने]
- (५५) " कृतं मृदण्डचक्रैश्च कुम्भकारद्वेसे घटम् ।
कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहाकाराद्विना गृहम् ॥
यो वदेत्स वदेद्देहं सम्भूय कारणैः कृतम् ।
विना कर्तारमज्ञानाद्युक्त्यागमबहिष्कृतः ॥ [च. सं. शा. स्था. अ. १ अनु. ४३-४४ आत्मनः कर्तृत्वोपाख्यानं]

[७]

- (५६) ' कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ।
स्वेदासृक्स्त्रावणश्चापि पंचधा चेष्टयत्यपि ॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशःसर्वदेहगान् । [सु. सं. नि. स्था. अ. १
अनु. १७-१८ वातकर्मविवेचने]
- (५७) " कृष्णमेवंगुणं गात्रे सुखे वा नीलिकां विदुः [मा. नि. क्षुद्ररोगनिदाने
श्लो. ४०]

[ख]

- (५८) ' खर्जूरं पिप्पली वांशी श्वङ्गदू चेति पंच ते ।
घृतक्षौद्रयुता लेहाःश्लोकार्धैःपित्तकासिनाम् ॥ [च. सं. चि. स्था. अ.
१८ अनु. ८९ कासचिकित्सिते]
- (५९) ' खादयश्चेतना पट्टा धातवः पुरुषःस्मृतः । [च. सं. शा. स्था. अ. १
अनु. १६ शरीरोत्पादकद्रव्यविशेषवर्णने]

[ग]

- (६०) " गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः ।
पंचभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधिष्ठानभूतः । (च. सं. शा.
स्था. अ. ४ अनु. ६)
- (६१) " गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थि-
वानि । (च. सं. सू. स्था. अ. २६ अनु. ११ पार्थिवादिद्रव्यविशेषवर्णने]
- (६२) " गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपि-
च्छिलश्लक्ष्णखरस्थूलसूक्ष्मसान्द्रद्रवाः शरीरधातुगुणाः संख्या-
सामर्थ्यकराः । [च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. १० शरीरगुणसंख्याने]
- (६३) " गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः ।
गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥ [अ. ह. सू. स्था. अ. १
श्लो. १८ शरीरौषधद्रव्याणां गुणसंख्याने]
- (६४) " गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन ।
[च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. १७ प्रसादरूपधातुगुणविवेचने]
- (६५) " गौरवं शीतमुत्कृष्टो रोमहर्षोऽतिनिद्रता । [सु. सं. उ. स्था. अ. ३९
अनु. ३३ श्लेष्मज्वरवर्णने]

[८]

[घ]

(६६) घृतद्वेमगुडाक्षोडमोचचोचपरूपकम् । [अ. ह. सू. स्था. अ. १० श्लो. २२
मधुरद्रव्यवर्गवर्णने]

(६७) घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमल्पाभिप्यन्दि स्नेहनमित्यादि ।
[सु. सं. सू. स्था. अ. ४५ अनु. १६ घृतगुणवर्णने]

[च]

(६८) “ चलनात्मकं कर्म । [तर्कसंग्रहः]

(६९) ‘ चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते ।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेऽत्यभिधीयते । (च. सं. सू. स्था. अ. ९
अनु. ५)

(७०) ‘ चूर्णादिपिण्डीभावद्वेतुर्गुणःस्नेहः । [तर्कसंग्रहः]

(७१) चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः । [च. सं. शा. स्था. अ. १ अनु. १६]

(७२) ‘ चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निश्च्यते । (च. सं. शा. स्था. अ. २
अनु. ७६)

[ज]

(७३) ‘ ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ।

शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छंद एव च ॥

कासः कण्ठस्य चोर्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥ (सु. सं. उ. स्था. अ. ४१
अनु. १२-१३)

(७४) ‘ ज्वरभ्रमद्वथुपिपासागलतालुमुखशोषप्रमोहविड्भेदाश्चैनमुप-
द्रवन्ति । (च. सं. चि. स्था. अ. ३ अनु. ९)

[त]

(७५) “ तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा ।

विकारजातं त्रिविधं (त्रीन् दोषान्नातिवर्तते) (अ. ह. सू. स्था. अ. १२
श्लो. १३-१४)

(७६) “ तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चभूतविकारसमुदाया-
त्मकम् । [च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. ४]

- (७७) “ तत्र संयोगापेक्षी लोकशत्रुः । [च. सं. शा. स्था. अ. ५ अनु. ७]
 “ तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणे गुणग्रहणाय प्रवर्तते । [च. सं. शा. स्था. अ. ४ अनु. ८]
- (७८) “ तत्र द्रव्यं गुरु स्थूलं स्थिरं गन्धगुणोल्बणम् । पार्थिवम् । (अ. इ. सू. स्था. अ. ९ श्लो. ६)
- (७९) “ तत्स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरम् । (सु. सं. सू. स्था. अ. ४१ अनु. १)
- (८०) “ तत्र वा गतिगन्धनयोरिति धातुः, तप् सन्तापे, श्लिप् आलिङ्गने एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति । [सु. सं. सू. स्था. अ. ११ अनु. ५]
- (८१) “ तत्रास्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः ।
 श्लेष्मा शेषेषु तेनैवामाश्रयाश्रायिणां मिथः ॥ [अ. इ. सू. स्था. अ. ११ श्लो. २६]
- (८२) “ ततः (शुक्रात्) पुनः पच्यमानादत्र मलो नोत्पद्यते, सहस्रधा ध्मातसुवर्णवत् । न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः । [ङल्हणाचार्य-व्याख्या सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. १०]
- (८३) “ तत्राच्छं किट्टमन्नस्य मूत्रं विद्यादधनं शकृत् । [अ. इ. शा. स्था. अ. ३ श्लो. ६१]
- (८४) “ तत्र इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छिल-विशदाः । [सु. सं. सू. स्था. अ. ४१ अनु. ११]
- (८५) “ तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः । [अ. इ. सू. स्था. अ. १ श्लो. ११]
- (८६) “ तत्र पांचभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यत्याष्टविध-वीर्यस्य वा अनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजो-भूतः सारः परमसूक्ष्मः स ‘ रस ’ इत्युच्यते । स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते । [सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. ३]
- (८७) “ तत्र पक्वामाशयमध्यगम् । पंचमूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात् । त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम् । [अ. इ. सू. स्था. अ. १२ श्लो. ११—१२]

- (८८) “ तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम् । [च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. ८]
- (८९) “ तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि । तत्र स्थाने चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति अस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा । [सु. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु. १०]
- (९०) “ तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थितः । बुद्धीन्द्रियहृदयमनोधमनीधारणष्टीवनक्षवधूद्गारश्वासोच्छ्वासान्नप्रवेशादिक्रियः । [अ. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. ११]
- “ तत्र प्राणवहाणां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च । [च. सं. वि. स्था. अ. ५ अनु. ८]
- (९१) “ तस्य (रसस्य) च हृदयं स्थानम् । स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दशचाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा । [सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. ३]
- (९२) “ तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा । कफधास्त्रां च शेषां यत्करोत्यवलम्बनम् । अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा । [अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. १६]
- (९३) “ तत्र मन्दोष्मता त्वक्स्वर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुपदिष्टम् । दह्यते पच्यते इव चाग्निक्षाराभ्यां ओषधोपपरीदाहाश्च भवन्ति । ज्वरदाहपिपासाभक्तासुचिश्च पच्यमानलिंगमिति । [सू. सं. सू. स्था. अ. १७ अनु. ५]
- (९४) “ तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते । (च. सं. चि. स्था. अ. १६ अनु. ३४)
- (९५) “ तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते । लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते । तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदैव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात्तदैव लोहितं दूषयति । [च. सं. नि. स्था. अ. ५ अनु. ३]
- (९६) “ तद्यदा प्रकुपितमामाशयादूष्माणमुपसृज्याद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्वेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय—शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति । [च. सं. नि. स्था. अ. १ अनु. २०]

- (९७) “ तत्राल्पे लघनं पथ्यं मध्ये लघनपाचनम् ।
प्रभूते शोधनं तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान् ॥ [अ. इ. सू. स्था. अ. १
अनु. २०]
- (९८) “ तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिनिविकाशीनि औषधानि स्ववीर्येण
हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य सम्यग्युक्त्या स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं
शरीरगतं दोषसंघातं आग्नेयत्वात् विष्यन्दयन्ति तैक्ष्ण्याद्विच्छिन्दन्ति
स विच्छिन्नः परिलुप्तः स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव
क्षौद्रमसज्जन् अनुप्रवणभावादामाशयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाग्वा-
त्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते सलिलपृथिव्यात्मक-
त्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः प्रवर्तते । उभयतश्चोभयगुणत्वात् ।
[च. सं. क. स्था. अ. १ अनु. ५]
- (९९) तत्र वातः श्रोणिगुदसंश्रयस्तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशय-
मध्यं पित्तस्य आमाशयः श्लेष्मणः । [सु. सं. सू. स्था. अ. ११ अनु. ५]
- (१००) “ तास्तु पित्ताशयमभिप्रपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्यात्
विवेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति । [सु. सं. शा. स्था. अ. १ अनु. ७]
- (१०१) “ तिक्तं कटु च भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम् । [अ. इ. सू. स्था. अ.
१० श्लो. ३५]
- (१०२) “ तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ । [सु. सं. सू. स्था. अ. ४२ अनु. ११]
- (१०३) “ ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च । [च. सं. सू. स्था. अ.
२८ अनु. ४ धातुद्वैविध्यवर्णने]
- (१०४) “ तेषु ये गुरवस्ते गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यसमानैराप्याय्यन्ते
लघवश्च नृहसन्ति । लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते गुरवश्च नृहसन्ति ।
[च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. १० शारीरधातूनां वृद्धिक्षयहेतुवर्णने]
- (१०५) “ त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः । [सु. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु. ३
वातपित्तानिलानां श्रेष्ठत्वोपवर्णने]
- (१०६) “ तैस्तैर्भावैः शोचतोऽलराशनस्य बाष्पावेगः पक्वित्माविश्य जन्तोः ।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तम् । [सु. सं. उ. स्था. अ. ४० अनु. १४
शोकातिसारवर्णने]
- (१०७) “ तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानां, सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानां, मधु श्ले-
ष्मपित्तप्रशमनानाम् - [च. सं. सू. स्था. अ. २५ अनु. ४०]
- (१०८) “ तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वम् [सु. सं. सू. स्था. अ. ४२ अनु. ११
गुणानां भूताधिक्योपवर्णने]

- (१०९) “ त्रिविधं बलम् । [च. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु १४ शारीरबलभेदसंख्याने]
 “ त्रिकं शिरोबाहुद्वयसन्धानस्थानमिति [उल्हणाचार्यव्याख्या सु. सं. शा. स्था. अ. ५ अनु. १६]
- (११०) “ त्रिमिर्वा पीडितं लिङ्गैः कासश्वासासृगामयैः ।
 जह्याच्छोषार्दितं जन्तुम् । [सु. सं. उ. स्था. अ. ४१ अनु. १५ राज-
 यक्ष्मण असाध्यत्वोपवर्णने]
- (१११) “ त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते ।
 [सु. सं. सू. स्था. अ. १७ अनु. ३]
- (११२) “ त्वङ्मांससंश्रयम् ।
 उत्सेधं संहतं शोफं तमाहुर्निचयादतः । [अ. ह. नि. स्था. अ. १३
 श्लो. १२ शोफवर्णने]
- (११३) “ त्वङ्मांसशोणितलसीकाश्च भुर्धा दोषोपधातविकृता इति -
 [च. सं. नि. स्था. अ. ५ अनु. ३ कुष्ठोत्पत्तिवर्णने]

[६]

- (११३) “ दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा ।
 संहता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम् ॥
 स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम् ।
 निरस्य बहिरूष्माणं पक्वितस्थानाच्च केवलम् । [सु. सं. उ. स्था. अ.
 ३९ अनु. १६-१७ ज्वरोत्पत्तिविवेचने]
- (११५) “ देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम् ।
 गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा । [च. सं. वि. स्था. अ. १८
 अनु. ९ व्यानवायुवर्णने]
- (११६) “ दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य । [अ. ह. सू. स्था. अ. ११ श्लो. १]
- (११७) “ दोषधातुमलमूलं हि शरीरम् । [सु. सं. सू. स्था. अ. १५ अनु. ३]
- (११८) “ दोषाः क्षीणा वृंहयितव्याः कुपिताः प्रशमयितव्याः वृद्धा निर्ह-
 र्तव्याः समाः परिपाल्याः । [सु. सं. वि. स्था. अ. ३३ अनु. ३ सामा-
 न्यतो दोषोपक्रमवर्णने]
- (११९) “ दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम् ।
 क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं । [च. सं. सू. स्था. अ. १७ अनु. ६२ वातादीनां
 वृद्धिक्षयलक्षणोपवर्णने]

[१३]

- (१२०) “ दोषोऽहोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् । सु. सं. उ. स्था. अ. ३९
अनु. ६६ विषमज्वरोत्पत्तिवर्णने]
- (१२१) “ दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च भयात् शोकाच्च षड्विधः ।
अतिसारः । [अ. ह. ति. स्था. अ. ८ श्लो. १]
- (१२२) “ दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम् । [अ. ह. सू. स्था. अ. १२
श्लो. ३२]
“ दोषा दुष्टा रसैर्धातून्दूषयन्त्युभये मलान् [अ. ह. सू. स्था. अ. ११
श्लो. ३२ वातादिविकृतेर्व्याधुत्पातिकमवर्णने]
- (१२३) “ द्रवत्वं पृथिवीजलतेजोवृत्ति । [तर्कसंग्रहः]
- (१२४) “ द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावात् गुणप्रभावात् द्रव्यगुणाप्रभावाच्च
तस्मिन् तस्मिन् काले तत्तदधिकरणमासाद्य तां तां च युक्तिमर्थं च
तंतमभिप्रेत्य यत्कुर्वन्ति तत्कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्, यत्र कुर्वन्ति
तदधिकरणम्, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यत्साधयन्ति तत्फलम् ।
[च. सं. सू. स्था. अ. २६ अनु. १३ द्रव्यकर्मवर्णने]
- (१२५) “ द्विधा स्वपरतन्त्रत्वाद् व्याधयोऽन्त्याः पुनर्द्विधा ।
पूर्वजाः पूर्वरूपाख्या जाताः पश्चादुपद्रवाः । [अ. ह. सू. स्था. अ. २१
श्लो. ६० व्याधिभेदोपवर्णने]
- (१२६) “ व्यंगुले दक्षिणे पार्श्वे बास्तिद्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्रस्रोतः पथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥ [सु. सं. शा. स्था. अ. ४
अनु. २२ शुक्रधरायाः कलाया उपवर्णने]

[ध]

- (१२७) “ धातवो हि धात्वाहाराः [च. सं. सू. स्था. अ. २८ अनु. ३]
- (१२८) “ धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलक्ष्यते । [सु. सं. उ. स्था.
अ. ३९ अनु. ६५ लीनज्वरवर्णने]
- (१२९) “ धात्रीफलाम्लीकामातुलुंगाम्लवेतसम् । [अ. ह. सू. अ. १०
श्लो. २५ अम्लद्रव्यवर्गसंख्याने]

[न]

- (१३०) “ नवांजलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः यं रस इत्याचक्षते ।
(च. सं. शा. स्था. अ. ७ अनु. १५ शरीरधानूनां परिमाणोपदेशे)

[१४]

- (१३१) “ न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते आग्नेयत्वात्पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेष्वग्निवदुपचारः क्रियतेन्तराग्निरिति ।
 (सु. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु. ९ अग्निपित्तयोर्भेदोपवर्णने)
- (१३२) “ न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।
 समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सधा ॥ (अ. ह. सू. स्था. अ. १४ श्लो. ६ शमनचिकित्साभेदोपवर्णने)
- (१३३) “ न केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति । (च. सं. सू. स्था. अ. २६ अनु. १३)
- (१३४) “ नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः ।
 अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते ॥ (च. सं. वि. स्था. अ. २ अनु. १३)
- (१३५) “ नासानाभिगलांश्चरेत् । (अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. ५ उदानवायु-वर्णने)
- (१३६) “ नात्युष्णगात्रता छर्दिरंगसादोऽविपाकिता । (सु. सं. उ. स्था. अ. ३९ अनु. ३४ कफज्वरवर्णने)
- (१३७) “ नाभिरामाशयः खेदो लसीका रुधिरं रसः ।
 दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥ (अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. २)
- (१३८) निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।
 चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ (च. सं. सू. स्था. अ. १ अनु. ५६)
- (१३९) “ निश्चेष्टः कारणं गुणः । (च. सं. सू. स्था. अ. १ अनु. ५१)

[५]

- (१४०) पटोली त्रायन्ती वालकोशरिचन्दनम् । [अ. ह. सू. स्था. अ. १० श्लो. २८]
- (१४१) “ परस्पराविपर्ययात्मकान् द्वंद्वान् दशगुणान् दर्शयित्वा तेषां च द्रव्यसम्बद्धानां शृंगग्राहिकया कर्माह । [चक्रपाणिव्याख्या च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. १७]
- (१४२) “ पक्वामाशयमध्यस्थमिति नाभिस्थं । [डल्हनाचार्यव्याख्या सु. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु. १०]

- (१४३) “ पथ्याऽक्षं शिरीषः खदिरो मधु । (अ. इ. सू. स्था. अ. १० श्लो. ३१ कषायद्रव्यवर्गोपदेशे)
- (१४४) “ पक्वाधानालयोऽपानः । [सु. सं. नि. स्था. अ. १ अनु. १९ अपानवायु-वर्णने]
- (१४५) “ पार्थिवं गौरवस्थैर्यसंघातोपचयावहम् । अ. इ. सू. स्था. अ. ९ श्लो. ५ पार्थिवद्रव्यगुणविशेषवर्णने]
- (१४६) “ पार्श्वस्थितेनेव बन्धिना पीडा । (ओषः) (च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. १४ चक्रपाणिद्व्याख्या)
- (१४७) “ पित्तस्य औष्ण्यं तैक्ष्णं लाघवं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुण-वर्जो गंधश्च विस्त्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं चेति । [च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. १५ पित्तगुणवर्णने]
- (१४८) “ पित्तादेवोष्मणः पाक्तिर्नराणामुपजायते ।
तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥
प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
स चैवोजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥
सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां मतः ।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुद्ध्यते ॥ (च. सं. सू. स्था. अ. १७ अनु. ११६-१७-१८ वातपित्तश्लेष्मणां कर्मविकर्मोपवर्णने)
- (१४९) “ पित्तं रक्तस्य विकृतेः संसर्गाद्वृषणादपि ।
गन्धवर्णानुवृत्तेश्च रक्तेन व्यपदिश्यते ॥ (अ. इ. नि. स्था. अ. ३ श्लो. ३ रक्तपित्तविवेचने)
- (१५०) “ पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकज्वरार्तः ।
(सु. सं. उ. स्था. अ. ४० अनु. ११ पित्तातिसारवर्णने)
- (१५१) “ पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते ।
पित्तालान्यन्नपानानि तस्य पिरां महाबलम् ।
कुर्याद्रक्तातिसारं तु । (च. सं. वि. स्था. अ. १९ अनु. ७४ रक्ता-तिसारवर्णने)
- (१५२) “ पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः । (अ. इ. सू. स्था. अ. १२ श्लो. २ पित्तस्थानोपवर्णने)
- (१५३) “ पुरुषः प्रलये चैष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ।
अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्तां तथा ॥
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत्परिवर्तते । (च. सं. शा. स्था. अ. १ अनु. ६७-६८)

- (१५४) “ पुरीषं यत्नतो रक्षेत् शुष्यतो राजयक्ष्मिणः ।
सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ॥ (अ. ह. वि. स्था. अ. ५ श्लो. ७३)
- (१५५) “ पुरीषवद्धानां स्रोतसां पक्काशयो मूलं स्थूलगुदं च । (च. सं. वि. स्था. अ. ५ अनु. ८ [६]
- पुष्करमूलं हिकाश्वासकासपार्श्वशूलहराणां, काश्मर्यफलं रक्त-
संग्राहकं रक्तपित्तप्रशमनानां, गोशुरको मूत्रच्छानिलहराणां,
खदिरः कुष्ठघ्नानां, रास्ना वातहराणां, विडङ्गं कृमिघ्नानाम् ।
(च. सं. सू. स्था. अ. २५ अनु. ४०)
- (१५६) “ पुसां पेशीशतानि च । (अ. ह. शा. स्था. अ. ३ श्लो. १७)
“ पंचभूतशरीरिसमवायः पुरुषः । स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधि-
कृतः । (सु. सं. शा. स्था. अ. १ अनु. १६)
- (१५७) “ पंचभूतात्मकं तत्तु [द्रव्यम्] (अ. ह. सू. स्था. अ. ९ श्लो. १)
- (१५८) “ पंचानां महाभूतानां विकारा रसादयः शरीरारम्भकाः ।
[चक्रपाणिव्याख्या-च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. ४]
- (१५९) “ पृथिव्यप्तेजो वायुराकाशं ब्रह्ममच्चाव्यक्तमिति षड्धातवः
समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते । (च. सं. शा. स्था. अ. ५ अनु. ४)
- (१६१) “ पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणा कृतः ।
स्वरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम् ॥ (च. सं. वि. स्था. अ. १५ अनु. ३०)
- (१६२) “ पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति ।
(च. सं. शा. स्था. अ. ४ अनु. १२ पार्थिवानां शारीरभावानामुपवर्णने)
- (१६३) “ पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव द्रव्याणि ।
(तर्कसंग्रहः)
- (१६४) “ पृथिव्यादीनां चतुर्णां परमाणवः आकाशादिपंचकं च नित्य-
द्रव्याणि । (नित्यानित्यद्रव्यवर्णने-तर्कसंग्रहः)
- (१६५) “ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, क्षितिसमीरणगुणभूयिष्ठं वैशद्यं,
तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वम् । [सु. सं. सू. स्था. अ. ४१ अनु. २१
स्निग्धादिगुणानां भूतविशेषत्वोपवर्णने]
- (१६०) “ पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद्द्रव्यामिनिर्वृत्तिः ।
[सु. सं. सू. स्था. अ. ४१ अनु. ३]

- (१६६) “ पृथक् त्रीन् विद्धि संसर्गस्त्रिधा तत्र तु तान्नव ।
त्रयोदश समस्तेषु ।
पंचविंशतिमित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतः ।
एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते पुनश्च षट् ॥
एकक्षयद्वंद्ववृद्ध्या सविपर्यययाऽपि ते ।
भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टास्त्रिषष्टः स्वास्थ्यकारणम् । [अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. ७४ । ७५ । ७६ दोषभेदोपवर्णने]
- (१६७) “ प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम् । सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः शरीर-
धातुव्यूहकरः सन्धानकरः शरीरस्य । [च. सं. सू. स्था. अ. १२ अनु. ८ वातवर्णने]
- (१६८) “ प्रस्पन्दनोद्धहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पंचधा प्रविभक्तः
शरीरं धारयति । (सु. सं. सू. स्था. अ. १५ अनु. १ वातवर्णने)
- (१६९) “ प्राणोऽत्रमूर्धगः ।
उरःकण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक् । [अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. १४ प्राणवायुवर्णने]
- (१७०) “ प्रकुपितास्तु खलु प्रकोपणविशेषा ध्व्यविशेषाश्च विकारविशेषा-
नभिनिर्वर्तयन्त्यपरिसंख्येयान् । (च. सं. वि. स्था. अ. ६ अनु. ७ वातादीनां व्याधिविशेषोत्पादकत्ववर्णने)
- (१७१) “ प्रायोऽऽलं पित्तजननम् । (अ. ह. सू. स्था. अ. १० श्लो. ३४ अम्ल-
वर्गगुणवर्णने)
- (१७२) “ श्लेष्मः किंचिद्दहनमिव । [चक्रपाणिव्याख्या च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. १४]
- (१७३) “ ग्रीहाऽटोपात्रकूजनाविपाकोदावर्तागमर्दमन्याशिरःशंखशूलवध्न-
रोगाश्चैनमुपद्रवन्ति । [च. सं. नि. स्था. अ. ३ अनु. ७ गुल्मवर्णने]

[व]

- (१७४) “ बलासः बलक्षयः मन्दञ्जरित्वं स्थूलांगता वा । (चक्रपाणिव्याख्या
च. सं. सू. स्था. अ. १० अनु. १७ श्लेष्मविकारोपवर्णने)
- (१७५) “ बद्धवद्धं मेदो मांसं शरीरजःक्लेदःशुक्रं शोणितं वसा मज्जा
लसीका रसश्चौजः संख्यात इति दूष्यविशेषाः । (च. सं. नि. स्था. अ. ४ अनु. ७)

[१८]

- (१७६) “ वस्तिर्विरको घमनं । (अ. ह. सू. स्था. अ. १ श्लो. २५)
- (१७७) “ बाहुपाश्वर्वासकक्षासु कृष्णस्फोटं सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत् ॥ (सु. सं. नि. स्था. अ. १३ अनु. १६)
- (१७८) “ बाह्याः शिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः । तैर्बद्धमार्गः स तदा विर्सपन्तुस्सेधलिंगं श्वयथुं करोति ।
(च. सं. चि. स्था. अ. १२ अनु. ८)
- (१७९) “ बिसानामिव सूक्ष्माणि दूरं प्रविस्तृतानि च ।
द्वाराणि स्रोतसां देहे रसो यैरुपचीयते ॥ [अ. ह. शा. स्था. अ. ३ श्लो. ४६ सूक्ष्मस्रोतोवर्णने]
- (१८०) “ वृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् ।
भाराध्वोरक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान् ॥
गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि ॥ [अ. ह. सू. अ. १४ श्लो. ८१९ वृंहणोपक्रमवर्णने]

[म]

- (१८१) भूम्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः । [सु. सं. सू. स्था. अ. ४२ अनु. ११ द्रव्य-
गुणवर्णने]
- (१८२) “ भौतिकानि चन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः ।
[सु. सं. सू. स्था. अ. १ अनु. १४ इन्द्रियाणां तदर्थानां च भौतिकत्वोपवर्णने]

[म]

- (१८३) “ मधुरं लवणं किञ्चिदशीतोष्णमसंहतम् । [अ. ह. सू. स्था. अ. २७ श्लो. १ शुद्धासृग्वर्णने]
- (१८४) “ मज्जमेदोवसामूत्रपित्तश्लेष्मशकृन्त्यसृक् ।
रसो जलं च देहेऽस्मिन्नेकैकांजलिचर्धितम् ॥
पृथक् स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तष्करेतसाम् ।
द्वावंजली तु स्तन्यस्य चत्वारो रजसः स्त्रियाः ॥
समधातोरिदं मानम् । [अ. ह. शा. स्था. अ. ३ श्लो. ८० । ८१ । ८२ शरीरधातूनां परिमाणोपवर्णने]
- (१८५) “ मधुरं श्लेष्मलं प्रायः । (अ. ह. सू. स्था. अ. १० श्लो. ३३)

- (१८६) “ मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति ।
 (१८७) उरःस्थः कफमुद्भूय हिकाश्वासान् करोति सः ॥ (च. सं. वि. स्था. अ. १७ अनु. १७ हिकाश्वासविवेचने)
 (१८८) “ मूलात्खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत् ।
 स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥ (सु. सं. शा. स्था. अ. १० अनु. १३ स्रोतोव्याख्याने)
 (१८९) “ मूत्रवहानां स्रोतसां वस्तिर्मूलं वंक्षणौ च । (च. सं. वि. स्था. अ. १५ अनु. ८ [५])
 (१९०) “ मुहुराक्षिपति क्रुद्धो गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः ।
 पाणिपादं च संशोष्य सिराः सस्नायुकण्डराः ॥ (च. सं. वि. स्था. अ. २८ अनु. ५०)
 (१९०) “ मन्दो यात्राकरः स्मृतः । (सु. सं. सू. स्था. अ. ४६ अनु. ५२१)
 (१९१) “ मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः पेशीऽत्युच्यते । (सु. सं. शा. स्था. अ. ५ अनु. ३७ डल्हणाचार्यव्याख्या)
 (१९२) “ मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः । तथा लोहितं लोहितेन मदे मेदसा वसा वसया अस्थि तरुणाश्चा मज्जा मज्जा शुक्रं शुक्रेण गर्भस्त्वामगर्भेणेति । (च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. १० धातूनां समानगुणाभिवर्धनविवेचने)

- (१९३) “ यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् ।
 तद्द्रव्यम् । [च. सं. सू. स्था. अ. १ अनु. ५१]
 (१९४) “ यत्राशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति । (अ. इ. सू. स्था. अ. ११ श्लो. ३८ ओजोवर्णने)
 (१९५) यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन ।
 मुंचन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥ [सु. सं. शा. स्था. अ. २ अनु. ४७]
 (१९६) “ यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा ।
 शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्विषग्वरः ॥ [सु. सं. शा. स्था. अ. ४ अनु. २१ शुक्रधातुवर्णने]

- (१९७) “ यथा धातूस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः ।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात्सन्तते ज्वरे ॥ [च. सं. वि. स्था. अ. ३
अनु. ५६ संततज्वरवर्णने]
- (१९८) “ यत्कुर्वन्ति तत्कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम् । (च. सं. सू. स्था. अ.
२६ अनु. १३ द्रव्यरसादिवर्णने)
- (१९९) “ यद्यपि चात्मैव चेतनो न शरीरं नापि मनः । सलिलौष्ण्यवत्सं-
युक्तसमवायेन शरीराद्यपि चेतनम् । इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदि-
न्द्रिययोगे सति ज्ञानशालित्वम् । सेंद्रियत्वेन वृक्षादीनामपि चेतनत्वं
बोद्धव्यम् । (च. सं. सू. स्था. अ. १ अनु. ४८ चक्रपाणिव्याख्या)
- (२००) “ यथाबलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते ।
रूपाणि जहति क्षीणाः । (अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. ४४ दोषाणां
वृद्ध्यादिलक्षणोपवर्णने)
- (२०१) “ यदामपक्वाशयमध्यस्थं पंचभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणतत्कर्षात्क्ष-
पितसोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभावम् । (अ. सं. सू. स्था. अ. २०
अनु. २५)
- (२०२) “ यत्तु यकृत्प्लीन्धोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा । (सु. सं.-
सू. स्था. अ. २१ अनु. १०)
- (२०३) “ यत्पित्तं हृदयसंस्थं तस्मिन्साधकोऽग्निरिति संज्ञा । (सु. सं. सू. स्था.
अ. २१ अनु. १०)
- (२०४) “ यस्त्वामाशयसंस्थितः ।
क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनात्) (अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. १६
क्लेदकश्लेष्मवर्णने)
- (२०५) “ यात्राकर इति शरीरस्थावित्वाद्देहस्य यात्रां वर्तनं करोति ।
(डल्हणाचार्यव्याख्या सु. सं. सू. स्था. अ. ४६ अनु. ५२१)
- (२०६) “ युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते ।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम् ।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥
च. सं. वि. स्था. अ. ३ अनु. ३० । ३१ आयुर्मानविवेचने)
- (२०७) “ ये रसा यैर्गुणैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा तेतानभिबर्ध-
यन्ति विपरीतगुणास्तु विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्ति (च. सं.
वि. स्था. अ. १ अनु. ७ द्रव्यरसानां धातुवृद्धिक्षयकरवोपवर्णने)

- (२०८) “ य एव देहस्य समा विवृद्धयै त एव दोषा विषमा वधाय ।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ॥ (अ. ह. सू.
स्था. अ. ११ श्लो. ४५)
- (२०९) “ योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शतितकृत्सोमसंयुतः । (च. सं. वि. स्था. अ. ३
अनु. ३८ वायोर्योगवाहित्ववर्णने)

[१]

- (२१०) “ रसबहे द्वे तयोर्मूलं हृदयम् । [सु. सं. शा. स्था. अ. १० अनु. १२]
- (२११) “ रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलम् [च. सं. नि. स्था. अ. ५ अनु. ४]
- (२१२) “ रस गतौ अहरहर्गच्छतीति रसः [सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. १३]
- (२१३) “ रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थो मज्जा ततःशुक्रं शुक्राद्रर्भः प्रजायते । [अ. ह. शा. स्था. अ. ३
श्लो. ६२ धातूनां क्रमोत्पत्तिवर्णने]
- (२१४) “ रसादीनां शुकान्तानां धातूनां यत्परं तेजः तत्खलु ओजः । तदेव
बलमित्युच्यते । [सु. सं. सू. स्था. अ. १५ अनु. ४१]
- (२१५) “ रसबोधनात् बोधको रसनास्थायी । [अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो.
१७ बोधकश्लेषवर्णने]
- (२१६) “ रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।
[अ. ह. सू. स्था. अ. १ श्लो. १३]
- (२१७) “ रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा ।
[च. सं. सू. स्था. अ. २८ अनु. १७ मज्जदोषजन्यव्याधिवर्णने]
- (२१८) “ रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जातःशुक्रसंभवः । [सु. सं. सू. स्था. अ.
१४ अनु. १० धातूनां क्रमोत्पत्तिविवरणे]
- (२१९) “ रसास्तावत्षट् मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः । ते सम्यगुप-
यज्यमानाः शरीरं यापयन्ति । मिथ्योपपुज्यमानास्तु खलु दोष-
प्रकोपायोपकल्पन्ते । [च. सं. वि. स्था. अ. १ अनु. ४]
- (२२०) “ रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपच्यते । [च. सं. वि. स्था. अ. ८
अनु. ५८ राजयक्ष्मविवेचने]

[२२]

- (२२१) “ रसोऽप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव तु । [अ. ह. नि. स्था. अ. ५ श्लो. २२ राजयक्ष्मवर्णने]
- (२२२) “ रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम् । [अ. ह. सू. स्था. अ. ९ श्लो. २६ द्रव्यप्रभाववर्णने]
- (२२३) “ रागपक्त्यौजस्तेजोमेधोष्मकृत्पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति । [सु. सं. सू. स्था. अ. १५ अनु. २]
- (२२४) “ रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।
वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः ॥
कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक् त्रिंशत्पलाद्रसे ।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वन्द्दिदीपनः ॥ (च. सं. वि. स्था. अ. १८ अनु. ३२-३३-३५)
- (२२५) “ रोगस्तु दोषवैषम्यम् । [अ. ह. सू. स्था. अ. १ श्लो. २०]
- (२२६) “ रोगस्तु [विकारो] धातुवैषम्यम् । [च. सं. सू. अ. ९ अनु. ४]
- (२२७) “ रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्तत्वं चेति । (वायोर्गुणाः च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. १२)
- (२२८) “ रंजितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् ।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ [सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. ५]

[ल]

- (२२९) “ लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः । [अ. ह. सू. अ. २ श्लो. १० व्यायामगुणवर्णने]
- (२३०) “ ल्हादनः स्तम्भनः शीतः । उष्णस्तद्धीपरीतः स्यात्पाचनश्च विशेषतः । दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्वावणः । [सु. सं. सू. अ. ४६ अनु. ५४]

[व]

- (२३१) “ वयस्त्वाषोडशाद्वालं तत्र धात्विन्द्रियौजसाम् ।
वृद्धिराप्यन्तेर्मध्यं तत्रावृद्धिः परं क्षयः ॥ [अ. ह. शा. स्था. अ. ३ श्लो. १०५ वयोवस्थाविशेषविवरणे]
- (२३२) “ वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमसिन्काले । [च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. २९]

- (२३३) “ वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तद्धि आदित एव आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्म-
मूलमुत्क्षिपति । तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्म-
विकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते । विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते
प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः । तद्धि आदित एव आमाशयमनु-
प्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलं चापकर्षति । आस्थापनानु-
वासनं तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः ।
तदादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं
छिनात्ति [च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. १९-१६-१३]
- (२३४) “ वर्चो मुंचत्यल्पमल्पं सफेनं रुक्षं श्यावं सानिलं मासुतेन । [सु. सं.
उ. स्था. अ. ४० अनु. १० वातातिसारवर्णने]
- (२३५) “ वरं सौवर्चलं कृष्णं विडं सामुद्रमौद्भिदम् । [अ. ह. सू. स्था.
अ. १० श्लो. २७ लवणद्रव्यवर्णने]
- (२३६) “ वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः । तैरेव अव्यापन्नैः
शरीरमिदं धार्यते । (सु. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु. ३)
- (२३७) “ वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः ।
रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।
मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च । (अ. ह. सू. स्था. अ. २ श्लो. १३)
- (२३८) “ वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम् । (च. सं. सू.
स्था. अ. १२ अनु. ८)
- (२३९) “ वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च
शारीर्यः । (च. सं. शा. स्था. अ. ४ अनु. १२ वाय्वात्मकानां शारीरभावाना-
मुपवर्णने)
- (२४०) “ वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यम् । (सु. सं. सू. स्था. अ. ४१ अनु. ११
गुणानां पांचभौतिकत्वोपवर्णने)
- (२४१) “ वायोरात्मैवात्मा पित्तमाग्नेयं श्लेष्मा सौम्य इति । [सु. सं. सू.
स्था. अ. ४२ अनु. ५]
- (२४२) “ वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तं, अम्भःपृथिवीभ्यां
श्लेष्मा — [अ. सं. सू. अ. २० अनु. १]
- (२४३) “ वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः । (च. सं. सू. स्था.
अ. १ अनु. ५७)

- (२४४) “ वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः । [अ. ह. सू. स्था. अ. १२ अनु. ६ उदानवायुवर्णने]
- (२४५) “ वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ।
विकृताऽविकृता देहं गन्ति ते वर्तयन्ति च ॥ (अ. ह. सु. स्था. अ. १ श्लो. १६)
- (२४६) “ वातजातिसारेऽपि विड्भेदो वातज एव । (च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. ११ चक्रपाणिव्याख्या)
- (२४७) “ वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः ।
स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः ॥ (मा. नि. आमवात-
निदाने श्लो. ३)
- (२४८) “ वायुर्महास्रोतसि संप्रवृद्ध उक्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन् ।
आमाशयोक्लेशकृतां च मर्म प्रपीड्यंश्छर्दिमुदीरयेत्तु ॥ [च. सं. चि. स्था. अ. २० अनु. ८ छर्दिविवेचने]
- (२४९) “ वातापित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत् । (अ. ह. सु. स्था. अ. २ श्लो. ११० व्यायामवर्जनाहोपदेशे)
- (२५०) “ वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं
तैलं समर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण ।
एतत् ब्रह्मा भाषते ब्रह्मजो वा
का निर्मन्त्रे वृक्तृभेदोक्तिशक्तिः ॥
[अ. ह. उ. स्था. अ. ४० श्लो. ८५]
- (२५१) “ विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिशद्धर्पमुप-
दिष्टम् । [च. सं. वि. स्था. अ. ८ अनु. १२२]
- (२५२) “ विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वगः सर्वतन्त्राणां विधाता विभुर्विष्णु-
र्वायुरेव भगवान् । [च. सं. सू. स्था. अ. १२ अनु. ८ वायोऽश्रेष्ठत्वोपवर्णने]
- (२५३) “ विसर्गदानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥
[सु. सू. स्था. अ. २१ अनु. ८]
- (२५४) “ विभुत्वादाशुकारित्वाद्वलित्वादन्यकोपनात् ।
स्वातन्त्र्याद्बहुरोगत्वादोषाणां प्रबलोऽनिलः ॥
(अ. ह. शा. स्था. अ. ३ श्लो. ८४)

- (२५५) “ विदग्धं स्वगुणैः पित्तं विदहत्याशु शोणितम् ।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥
[सु. सं. उ. स्था. अ. ४५ अनु. ५]
- (२५६) “ विज्जलमामं विप्लुतमवसादि रुक्षं द्रवं सशूलमामगन्धमीषच्छद्र-
मशब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं वातात् ।
(च. सं. चि. स्था. अ. १९ अनु. ६)
- (२५७) “ विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य सः स्मृतः ।
[च. सं. सू. स्था. अ. २६ अनु. ६७ द्रव्यप्रभाववर्णने]
- (२५८) “ विर्यलंघा गुणा येऽष्टौ । [सु. सं. सू. स्था. अ. ४० अनु. १७]
- (२५९) “ वीर्यं शक्तिरुत्पत्तिविशेषः सामर्थ्यं प्रभाव इत्यनर्थान्तरम् ।
(डल्हणाचार्यव्याख्या सु. सं. उ. स्था. अ. ४० अनु. १७)
- (२६०) “ वीर्यं शक्तिः सा च द्रव्याणां गुणस्य वा ।
(चक्रपाणिव्याख्या - च. सं. सू. स्था. अ. २६ अनु. १३)
- (२६१) “ वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राऽल्पत्वं तथा वमिः ।
[सु. सं. उ. स्था. अ. ३९ अनु. ३१ पित्तज्वरवर्णने]
- (२६२) “ वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।
[सु. सं. उ. स्था. अ. ३९ अनु. २९ वातज्वरवर्णने]
- (२६३) “ वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च ।
दोषधातुमलादीनां परिमाणं न विद्यते ॥
(सु. सं. सू. स्था. अ. १५ अनु. ४० दोषधातुमलानामनियतपरिमाणोपदेशे)
- (२६४) “ व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥
क्षिप्यमाणः स्वैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः ।
तस्मिन्विकारं कुरुते । [अ. ह. शा. स्था. अ. ३ श्लो. ६८।६९]
- (२६५) “ व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः । [अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. ७]
- (२६६) “ व्यंगमेव स्थानान्तरेण वर्णान्तरेण च नीलिकेत्यन्ये ।
[डल्हणाचार्यव्याख्या सु. सं. नि. स्था. अ. १३ अनु. ४६]
- (२६७) “ व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयः स्थबलशालिनाम् ।
विरोध्यपि न पीडायै (अ. ह. सू. स्था. अ. ७ श्लो. ४६)
- (२६८) “ व्यवायशोकस्थाविर्यव्यायामाध्वोपवासतः ।
व्रणोरक्षतपीडाभ्यां शोषानन्ये वदन्ति हि ॥ [सु. सं. उ. स्था. अ. ४१ अनु. १६ शोषमेदोपवर्णने]

- (२६९) “ वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः । [अ. इ. सू. अ. १ श्लो. १४]

[श]

- (२७०) “ शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्ति । (च. सं. शा. स्था. अ. ७ अनु. १७)
- (२७१) “ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ।
पञ्चभूतावशेषत्वात्पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ [च. सं. शा. स्था. अ. १ अनु. ७४ शरीरस्य चेतनामूलत्वोपवर्णने]
- (२७२) “ शरीरगुणाः पुनर्द्विविधाः संग्रहेण । मलभूताः प्रसारभूताश्च । तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्याबाधकराः स्युः । शरीरच्छिद्रपूपेदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च घातवः प्रकुपिताश्च घातपित्त-श्लेष्माणः ये चान्येऽपि शरीरे तिष्ठन्ते भावाः तान्सर्वान् मले संचक्ष्महे । इतरांस्तु प्रसादे, गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन । [च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. १७ शरीरद्रव्याणां द्वैविध्योपवर्णने]
- (२७३) “ शब्दरूपगन्धास्तु परादिवत् वृद्धौ ऋहासे च नातिप्रयोजना इति नोक्ताः । [चक्रपाणिव्याख्या च. सं. शा. स्था. अ. ६ अनु. १०]
- (२७४) “ शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च । (च. सं. शा. स्था. अ. ४ अनु. १२ शरीरस्थानां नाभसभावानामुपवर्णने)
- (२७५) “ शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्ति । तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च । [च. सं. शा. स्था. अ. ७ अनु. १७]
- (२७६) “ शस्त्रादिसाधनः कृच्छ्रः संकरे च ततो गदः । (अ. इ. सू. स्था. अ. १ श्लो. २९ व्याधीनां कष्टसाध्यतावर्णने)
- (२७७) “ शरीरशैथिल्यात्स [श्लेष्मा] विसर्पन् शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति । स मांसं मांसप्रदोषात्पूतिमांसपिडिकाः शराविकाद्याः संजनयतीति । (च. सं. नि. स्था. अ. ४ अनु. ८ प्रमेहपिडिकावर्णने)
- (२७८) “ शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते । (सु. सं. शा. स्था. अ. ४ अनु. ५२)

- (२७९) “ शास्त्राश्चतस्रो मध्यं पंचमं षष्ठं शिर इति षडंगम् । मस्तकोदर-
पृष्ठनाभिललाटनासाचिवुकवस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः । कर्णनेत्र-
भ्रूशंखांसगण्डकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्फिग्जानुबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे
विंशतिरंगुल्यः स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि । एवं प्रत्यंगविभाग उक्तः ।
[सु. सं. शा. स्था. अ. ५ अनु. ३-४ अङ्गप्रत्यङ्गविभेचने]
- (२८०) “ शिरोन्तराधिद्वौ बाहू सक्थिनी च समासतः ।
षडंगमंगं प्रत्यङ्गं तस्याक्षिहृदयादिकम् ॥ (अ. इ. शा. स्था. अ. ३
श्लो. १ अंगप्रत्यंगवर्णने)
- (२८१) “ शीतरूपश्वेत्यः आपः । (तर्कसंग्रहः)
- (२८२) “ शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्ममिश्रं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः ।
(मा. नि. अतिसारनिदाने श्लो. ७)
- (२८३) “ शुष्कोरः कण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ।
शुष्ककासः कफं शुष्कं कर्षन्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् ॥ [च. सं. चि.
स्था. अ. १८ अनु. १२]
- (२८४) “ शूलं नर्तेऽनिलाद्वाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात् । [अ. इ. सू. स्था.
अ. २९ श्लो. ६]
- (२८५) “ शोणितं स्वाग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतम् ।
तदेव मांसं जानीयात्स्थिरं भवति देहिनाम् ॥ (च. सं. चि. स्था. अ.
१५ अनु. २९)
- (२८६) “ श्रीपर्णी चन्दनोशीरपरूपकमधूकजः ।
शर्करामधुरो हन्ति कषायः पैत्तिकं ज्वरम् ॥
पीतं पित्तज्वरं हन्यात्सारिवाद्यं सशर्करम् । [सु. सं. उ. स्था. अ. ३९
अनु. १७५—१७६]
- (२८७) “ श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामीति । [च. सं. सू. स्था. अ. २०
अनु. १८ श्लेष्मस्वरूपवर्णने]

- (२८८) “ षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकशब्दः । (च. सं. शा.
स्था. अ. ५ अनु. ७)
- (२८९) षड्धातुविभागो वियोगः स जीवापगमः । [च. सं. शा. अ. ५
अनु. ८]
- (२९०) षष्ठी-पित्तधरा नाम सा चतुर्विधमन्नपानमुपभुङ्क्तमामाशयात्प्रच्युतं
पक्वाशयोपस्थितं धारयति । [सु. सं. शा. स्था. अ. ४ अनु. १८]

[२८]

[स]

(२९१) “ स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति । [सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. ४ आहारसपाकवर्णने]

(२९२) स शद्वार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेण अनुधावत्येव केवलं शरीरम् । [सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. १६ रसाभिसरणविवेचने]

(२९३) “ स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पंचदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते । एवं मासेन रसः शुक्नीभवति । स्त्रीणां च आर्तवम् । [सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. १४ अन्नरसाद्वातुपोषणक्रममिवर्णने]

(२९४) “ स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यश्नतस्त्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टेदुक्तेन कर्मणा । [सु. सं. सू. स्था. अ. १४ अनु. ३ रसाभिसरणोपवर्णने]

(२९५) “ स तत्रस्थ एव (आमाशयस्थ एव) स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य द्यौदककर्मणाऽनुग्रहं करोति [सु. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु. १४ अबलम्बकश्लेष्मवर्णने]

(२९६) “ स चतुर्विधस्याहारस्याधारः । स च तत्रोदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति । (सु. सं. सू. स्था. अ. २१ अनु. १२ आमाशयोपवर्णने)

(२९७) “ सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नर्थे । (च. सं. सू. स्था. अ. २६ अनु. १०)

(२९८) “ सर्वदेहप्रविसृतान्सामान्दोषान्न निर्हरेत् । [अ. ह. सू. स्था. अ. १३ श्लो. २८ दोषसंशोधनविधिवर्णने]

(२९९) “ स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून् ॥

[च. सं. सू. स्था. अ. १८ अनु. ४५]

(३००) “ स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।
स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरुते बहून् ॥

(अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. ६२)

(३०१) “ सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणाणां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातंकविपरीतमेवावचारयेद्यथास्वम् ।

[च. सं. वि. स्था. अ. २ अनु. १३]

(३०२) “ समानोऽग्निसमीपस्थः । (अ. ह. सू. स्था. अ. १२ श्लो. ८)

- (३०३) “ समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम् ।
वायुना बलिना क्षिप्तं संप्राप्य धमनीर्दश ॥
प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम् ।
प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत् ॥
पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान्विधुविधांस्त्वचि ।
स पाण्डुरोग इत्युक्तः । (च. सं. वि. स्था. अ. १६ अनु. ९।१०।११।१२)
- (३०४) “ सर्वधातुप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत् ।
लीनान् धातुष्वनुत्किष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः ॥
[अ. ह. सू. स्था. अ. १३ श्लो. २८।२९]
- (३०५) “ सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः । [मा. नि. पंचनिदान-
लक्षणे श्लो. १४)
- (३०६) “ सन्ति च पुनराधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः ।
[च. सं. वि. स्था. अ. ८ अनु. १२२]
- (३०७) “ संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।
व्यक्तं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक् ॥
[सु. सं. सू. स्था. अ. १२ अनु. ३६]
- (३०८) “ संशम्यापां धातुरन्तः कृशानुं
वर्चोमिश्रो मारुतेन प्रणुनः ।
वृद्धोऽतिबाधः सरत्येष यस्मात्
व्याधिं घोरं तं त्वतीसारमाहुः ॥
[सु. सं. उ. स्था. अ. ४० अनु. ६]
- (३०९) “ संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपतः ।
[अ. ह. सू. स्था. अ. १ श्लो. १२]
- (३१०) “ संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् । [सु. सं. उ. स्था. अ.
१ अनु. २५]
- (३११) “ सान्द्रं सपाण्डु संस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् । [च. सं. वि.
स्थो. अ. ४ अनु. ११]
- (३१२) “ स्तैमित्यं स्तिमितो वेगः । (मा. नि. जरनिदाने श्लो. १२)
- (३१३) “ स्थानं प्राणस्य मूर्धोरः कण्ठजिह्वास्यानासिकाः । (च. सं. वि. स्था.
अ. २८ अनु. ६)
- (३१४) “ स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः । [अ. ह. सू. स्था.
अ. १२ श्लो. १]

- (३१५) “ स्थिता पक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गाग्लेव सा ।
भुक्तमामाशये रुद्धा सा विपाच्य नयत्यधः । (अ. ह. शा. स्था.
अ. ३ श्लो. ५१-५२)
- (३१६) “ स्थूलसरसान्द्रमन्दस्थिरकठिनं गन्धबहुलमीषत्कायं प्रायशो
मधुरमिति पार्थिवम् । (सु. सं. सू. स्था. अ. ४१ अनु. १)
- (३१७) “ स्थूलसूक्ष्ममलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवास्त्रिधा ।
स्वःस्थूलोऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः । (सु. सं. सू. स्था. अ.
१४ अनु. १० डल्हणाचार्यव्याख्या)
- (३१८) “ स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः । [सु. सं. शा. स्था.
अ. ४ अनु. १३]
- (३१९) “ स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लेष्मणो मृत्स्नः स्थिरः कफः ।
पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्त्रं सरं द्रवम् ॥
तत्र रुक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः । (अ. ह. सू. स्था.
अ. १ श्लो. १०—११)
- (३२०) “ स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनु-
बद्धशूलमल्पाल्पममीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं श्लेष्ममत्तिसारे ।
(च. सं. वि. स्था. अ. १९ अनु. ११)
- (३२१) “ स्नेहशैत्यशौक्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्न्यानि श्लेष्मण
आत्मरूपाणि । (च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. १८)
- (३२२) “ स्नेहो जलमात्रवृत्तिः । (तर्कसंग्रहः)
- (३२३) “ स्नेहह्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा
स्नेतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः ।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं
नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्हियन्ते ॥
(अ. ह. सू. स्था. अ. १७ श्लो. २९)
- (३२४) “ स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च द्रवत्वं च गुरुत्वकम् ।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥ [न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिः]
- (३२५) “ स्मृतिवुद्ध्यग्निशुक्रौजः कफमेदोविवर्धनम् ।
(च. सं. सू. स्था. अ. २७ अनु. २३१ धृतगुणवर्णनै)
- (३२६) “ स्यंदनासमवायि कारणं द्रवत्वम् । पृथिवीजलतेजोवृत्तिः । (तर्कसंग्रहः)
- (३२७) “ स्रोतसामेव समुदायं पुरुषमिच्छन्ति । (च. सं. वि. अ. ५
अनु. ४)

[३१]

- (३२८) “ स्वधातुवैषम्यानिमित्तजा ये विकारसंघा बहवः शरीरे ।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्यः (च. सं. सू. स्था. अ. १९ अनु. ६)
- (३२९) “ स्वभावतो जन्मतः (उल्हणाचार्यकृतं व्याख्यानं सु. सं. सू. स्था. अ. ४०
अनु. १९ द्रव्यगुणविवेचने)
- (३३०) “ स्वस्थानस्थस्य कायश्लेष्मा धातुषु संश्रिताः ।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः । [अ. ह. सू. स्था.
अ. ११ श्लो. ३४]
- (३३१) “ स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि ।
[च. सं. सू. स्था. अ. २० अनु. ८]

[ह]

- (३३२) “ हरिद्रां चित्रकं निम्बमुशीरातिविषे वचाम् ।
कुष्ठमिन्द्रयवान्मूर्वा पटोलं चापि साधितम् ॥
पिवेन्मरिचसंयुक्तं सक्षौद्रं कफजे ज्वरे ॥ (सु. सं. उ. . स्था. अ.
३९ अनु. १८९/९०)
- (३३३) “ हिंगुमरिचकृमिजित्पंचकोलकम् । [अ. ह. सू. स्था. अ. १०
श्लो. ३० कटुद्रव्यवर्गवर्णने]
- (३३४) “ हृदि तिष्ठाति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् ।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥
(च. सं. सू. स्था. अ. १७ अनु. ७४)

[क्ष]

- (३३५) “ क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः । [च. सं. सू. स्था.
अ. १७ अनु. ११२]
- (३३६) “ क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंज्ञितः । [सु. सं. उ. स्था. अ.
४१ अनु. ४७]
- (३३७) “ क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते । मा. नि. पंचनिदान-
लक्षणे श्लो. १८)
- (३३८) “ क्षिप्यमानः स्ववैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः ।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ॥ (च. सं. चि. स्था. अ. १५
अनु. ३७)

- (३३९) “ क्षीणा वर्धयितव्या वृद्धा न्हासयितव्याः । (सु. सं. चि. स्था. अ. ३३ अनु. ३)
- (३४०) क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमभ्वगाः ।
 “ स्त्रीमद्यानित्या ग्रीष्मे च वृंहणीया नराः स्मृताः ॥
 शोषार्शोग्रहणीदोषैर्व्याधिभिः कर्षिताश्च ये ।
 तेषां क्रव्यादमांसानां वृंहणा लघवो रसाः । (च. सं सू. स्था. अ. २२ अनु. २६ । २७)
- (३४१) क्षमामधिष्ठाय जायते
 (द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठं ते हि तदाश्रयाः ।
 पञ्चभूतात्मकं तत्तु क्षमामधिष्ठाय जायते ॥)
 (अ. ह. सू. स्था. अ. ९ श्लो.)



ग्रंथगतानां मुद्रणदोषाणां संशोधनम् ।

[पंक्तिसंख्यानिर्देशश्चात्र ग्रन्थपद्यपंक्तीनां व्याख्यापंक्तीनां च
समाहाराद्विहितः ।]

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
९	१२	दोषधातुमलाख्यः	दोषधातुमलाख्यः
१८	१	कथिताश्रयुर्वेदे	कथिताश्रयुर्वेदे
१९	१२	क्रियावत्त्वम्	क्रियावत्त्वम्
२३	१३	धारद्धातवः	धारणाद्धातवः
२८	१०	सामर्थ्यान्तरेणाश्रित	सामर्थ्यान्तरेणाश्रित
३५	१६	द्रव्यस्वरूपावेतो	द्रव्यस्वरूपावेतो
३७	१६	सत्मीकरणम्	सात्मीकरणम्
४२	५	प्रस्तुतम्	प्रसुतम्
४३	११	पुराषाद्या	पुरीषाद्या
४८	५	द्रव्यत्वम्	द्रव्यत्वम्
५०	१३	वोपपद्यते	वोपपद्यते
५१	३	हेतुत्वादाकर्षणार्थेनेत्यूहम्	हेतुत्वादाकर्षणार्थेनेत्यूहम्
५२	५	भूतनाम्ना	भूतनाम्ना
५३	१	भूतांशा	भूतांशाः
५९	१६	पचननान्ना	पचननान्ना
६०	४	गुणकर्माभिः	गुणकर्मभिः
६५	१६	शारीरपदार्थोत्पादनसमर्थो	शारीरपदार्थोत्पादनसमर्थो
९०	६	धातूनामुत्पादनसमय	धातूनामुत्पादनसमय
९२	४	पोषणाख्यानं	पोषणाख्यानं
९४	७	एकीभावसागताः	एकीभावमागताः
९४	९	शक्ति कार्यानुमेया	शक्तिः कार्यानुमेया
९५	८	शब्दज्ञै	शब्दज्ञैः
१०६	६	धातवश्च	धातवश्च
१०९	३	येतो	यतो
१०९	४	यस्मिस्तिष्ठति	यस्मिस्तिष्ठति
१०९	७	सामर्थ्यातिशयसम्पन्नस्यौजसो	सामर्थ्यातिशयसम्पन्नस्यौजसो
१०९	१६	धातुमला	धातुमलाः
११२	५	भवन्त्यगानि	भवन्त्यगानि

शृङ्खलम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
११५	११	मंजा	मञ्जा
१२२	१४	परीकीर्तितम्	परिकीर्तितम्
१२६	५	विभागकाल	विभागकाल
१३५	५	पृथियापस्तेजो	पृथिव्यापस्तेजो
१३७	८	रपशो	स्पर्शो
१४४	६	मिष्ठा	मिष्ठाः
१४६	१२	वाय्वधितोय	वाय्वधितोय
१५३	८	संघरूपा	संघरूपाः
१५५	१	गुणसमुदायाः	गुणसमुदायाः
१५९	४	स्नेहशैत्यशौक्ल्य	स्नेहशैत्यशौक्ल्य
१५९	१६	तत	ततः
१६०	७	स्निग्धत्वे	स्निग्धत्वे
१६६	१०	सृष्टिर्जायत	सृष्टिर्जायत
१६७	३	इत्याभिधानात्	इत्याभिधानात्
१७३	५	पुरुषमंसकः	पुरुषसंज्ञकः
१७४	७	तदार्थानाम्	पदार्थानाम्
१७८	६	यतस्वात्मा	यतस्वात्मा
१८४	४	षोडशाब्दालं	षोडशाब्दालं
१८५	१२	गुणसमुदायस्वरूपाणां धातूनां	गुणसमुदायस्वरूपाणां दोषणां
१८६	१२	चोत्क्रान्तौ	चोत्क्रान्तौ
१८८	१३	संयोजनचैकम्	संयोजनं चैकम्
१८९	१२	समवायसमुद्भवस्य	समवायसमुद्भवस्य
१८९	१४	सामर्थ्यस्य	सामर्थ्यस्य
१९०	१२	विश्लेषणकर्मकर्ता	विश्लेषणकर्मकर्ता
१९०	१५	(श्लोकसंख्या) ४१	४३
१९४	१२	संज्ञेऽयं	संज्ञेयं
२०५	१	तिस्रः	तिस्रः
२०७	१	स्वामाविकानां विकृतीनाम्	स्वामाविकानां कर्मणां विकृतीनाम्
२०८	७	पित्तस्य	पित्तस्य
२१०	९	उत्साहोच्छ्वासनिश्वास	उत्साहोच्छ्वासनिःश्वास
२१२	३	दोषणामाश्रयाः	दोषणामाश्रयाः
२१२	८	रसरक्तवद्रवरूपम्	रसरक्तवद्रवरूपम्
२१३	४	द्रवेस्वरूपेऽपि	द्रवस्वरूपेऽपि

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२१४	३	विश्लेषणाख्यम्	संश्लेषणाख्यम्
२१४	८	श्लेषस्थानम्	श्लेषस्थानम्
२१५	४	सारकिट्टाशानामिति	सारकिट्टाशानामिति
२१५	५	तेयोर्विभाजनम्	तयोर्विभाजनम्
२१५	८	आस्थीनि	अस्थीनि
२१६	५	परस्परालिङ्गनेनेति	परस्परालिङ्गनेनेति
२१६	११	शीणशक्तयः	क्षीणशक्तयः
२१८	८	प्राणं	प्राणं
२१८	१०	अष्टांगहृदयेऽभिहितानि	अष्टांगहृदयेऽभिहितानि
२१९	७	सूक्ष्मानुसूक्ष्म	सूक्ष्मानुसूक्ष्म
२१९	१३	ह्येमेऽत्यामाशयानुद्बो	ह्येमेऽत्यामाशयानुद्बो
२१९	१५	पिपासास्थानमित्यनुमानमुलभम्	पिपासास्थानमित्यनुमानं सुलभम्
२२१	१	श्रोणिसंस्थिविचालनम्	श्रोणिसंस्थिविचालनम्
२२१	३	बाह्यपदार्थानाम्	बाह्यपदार्थानाम्
२२२	२	मूष्मेऽत्यात्रेयशासनम्	मूष्मेऽत्यात्रेयशासनम्
२२३	१२	द्रवत्वभागसं	द्रवत्वमागतं
२२४	४	प्रथमाधारश्चैको	प्रथमाधारश्चैको
२३२	११	कर्मभेदेतः	कर्मभेदेतः
२३८	७	किञ्चिदभिवक्ता	किञ्चिदभिव्यक्ता
२४०	५	पाचकादीनाम्	पाचकादीनाम्
२४२	९	द्रवं स्वरूपं	द्रवं द्रवरूपम्
२४२	१०	यकृद्गुह्योर्निर्देशः	यकृद्गुह्योर्निर्देशः
२४५	५	अवलम्बकारुयास्य	अवलम्बकारुयास्य
२४६	१५	मुखस्थस्थ द्रव्यस्थ	मुखस्थस्थ द्रव्यस्थ
२५३	११	पेशस्तु नाम	पेशस्तु नाम
२५६	१२	स्नावः	स्नावः
२५७	९	सम्यग्विपक्वेन	सम्यग्विपक्वेन
२६२	२	कद्वल्लत्वात्	कद्वल्लत्वात्
२६२	३	कद्वल्ल	कद्वल्ल
२६४	१६	शकृत्	शकृत्
२६७	१४	वाऽवाकाशानाम्	वाऽवाकाशानाम्
२७१	११	शरीरान्तर्गतस्य	शरीरान्तर्गतस्य
२७१	१३	किं नामाश्वसनमिति	किं नामाश्वसनमिति

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७३	७	समन्ततः	समन्ततः
२७३	७	फुफ्फुसपिण्डयोः	फुफ्फुसपिण्डयोः
२७७	१५	रसनान्नोऽपदिष्टः	रसनान्नोपदिष्टः
२८२	१५	प्रथमम्	प्रथमम्
२८३	१०	प्रभावणौण्यकारित्वम्	प्रभावणौण्यकारित्वम्
२८६	४	श्लेष्मणि	श्लेष्मणि
२८६	४	सन्धिऽप्यंगेषु	सन्धिऽप्यंगेषु
२८७	८	मन्दाशित्वादयो	मन्दाशित्वादयो
२९०	१५	लिप्तत्वमिव	लिप्तत्वमिव
२९१	१२	सर्वविकाराणाम्	सर्वविकाराणाम्
२९२	३	क्रुद्धेन वायुना	क्रुद्धेन वायुना
२९२	९	स्रोतसमवरोधात्	स्रोतसमवरोधात्
२९२	१६	सन्दूषयेत्पित्त	सन्दूषयेत्पित्त
२९४	५	हीनत्वादल्पतात्	हीनत्वादल्पत्वात्
२९४	९	विमिश्रलक्षणाः	विमिश्रलक्षणाः
२९६	१०	छादविकृत्यैः वामः	तद्विकृत्यैः वामः
२९७	७	अविपक्वद्वयश्रयार्थः	अविपक्वद्वयाश्रयार्थः
२९८	१	दोषोऽप्योहितसम्भूतो	दोषोऽप्योहितसम्भूतो
२९८	११	पौनरुक्त्यम्	पौनरुक्त्यम्
३०४	११	धातुषु	धातुषु
३०४	१३	धातुस्थेनाम्भणा	धातुस्थेनाम्भणा
३०६	६	शकृन्मूत्रस्वेदना	शकृन्मूत्रस्वेदाना
३११	८	पार्श्वविमर्दकः	पार्श्वविमर्दकः
३१४	५	गन्धग्रहणाक्षमत्वम्	गन्धग्रहणाक्षमत्वम्
३१९	७	इत्याख्याया	इत्याख्याया
३२०	१	ग्रीवामन्यादिष्विति	ग्रीवामन्यादिष्विति
३२१	१०	रुद्धगतिर्जायते	रुद्धगतिर्जायते
३२२	१४	स्नेहाल्पत्वात्	स्नेहाल्पत्वात्
३२४	४	पेशीस्रोतोगतानाम्	पेशीस्रोतोगतानाम्
३२५	१४	धगधगइति	धकधकइति
३३०	२	द्रवहीनपृष्णत्वम्	द्रवहीनपृष्णत्वम्
३३०	६	विदग्धत्वमिति	विदग्धत्वमिति
३३२	५	शीतामिता	शीतामिता

पृष्ठम् पंक्तिः अशुद्धम्

शुद्धम्

३३२	७	विशतिः
३३४	७	रुक्षणे
३३४	१४	कफाच्च
३३६	१	सम्यग्गत्या
३४५	१०	पोष्यद्रव्यांश्च
३४८	२	कोथोद्भवाश्च
३५०	१२	धातुसंज्ञिता
३५०	१५	प्युजायते
३५७	२	सिरादिषु
३५९	६	लिङ्गैरेवंविधैर्मांसा
३५९	७	प्रेमेहाणां
३६०	२	धिसर्पन्
३६२	१३	पृष्ठादीना
३६२	१५	मांसाश्चये
३६५	१६	दूष्यचतुष्टयवैषम्यम्
३७२	१२	संसर्गे
३७६	१०	गतिवैषम्यजाः
३७६	१०	वाजजाः
३८०	१०	नामहि तद् द्रव्यम्
३८१	६	समुदाहृताः
३८२	२	तेषूपकल्पते
३८९	१३	निम्नोन्नतो
३९५	१५	वर्णनादत्र
३९६	३	दधिगम्यते
३९७	७	स्थानान्तरोद्भवाः
३९८	६	व्याधिन्यथास्वम्
३९९	७	परिकीर्तितः
३९९	९	वातादिदुष्टि
३९९	११	तीव्रत्वावबोधो
४०५	२	व्याधिशेषेषु
४०५	३	मुपपद्यते
४०७	९	आहारादेरपक्वस्य
४०७	९	शुद्धिर्वा

विशतिः	
रुक्षणे	
कफाच्च	
सम्यग्गत्या	
पोष्यद्रव्यांश्च	
कोथोद्भवाश्च	
धातुसंज्ञिताः	
प्युपजायते	
सिरादिषु	
लिङ्गैरेवंविधैर्मांसा	
प्रेमेहाणां	
विसर्पन्	
पृष्ठादीना	
मांसाश्चये	
दूष्यचतुष्टयवैषम्यम्	
संसर्गे	
गतिवैषम्यजाः	
वातजाः	
नामहि तद् द्रव्यम्	
समुदाहृताः	
तेषूपकल्पते	
निम्नोन्नतो	
वर्णनादत्र	
दधिगम्यते	
स्थानान्तरोद्भवाः	
व्याधिन्यथास्वम्	
परिकीर्तितः	
वातादिदुष्टि	
तीव्रत्वावबोधो	
व्याधिविशेषेषु	
मुपपद्यते	
आहारादेरपक्वस्य	
शुद्धिर्वा	

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४०८	३	रोगोत्पादकस्य	रोगोत्पादकस्य
४०८	४	वममन	वमन
४१०	७	रनेहनाख्येन	स्नेहनाख्येन
४१४	१३	सर्वोपक्रमेभ्यः प्रधानतमम्	सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमम्
४२४	११	पित्तकफानिलेभ्यः	पित्तकफानिलेभ्यः
४२५	—	पंचमं दर्शनम्	दशमं दर्शनम्
४२८	४	श्वासनादिकम्	श्वसनादिकम्
४३०	७	नुबन्धद्रूक्षे	नुबन्धाद्रूक्षे
४३३	२	व्याधिपरीतचिकित्साया	व्याधिविपरीतचिकित्साया
४३७	१३	वृद्धिः समानैः	वृद्धिः समानैः
४४१	५	समधातुशरीरामिवर्धन	समधातुशरीरामिवर्धन
४४८	८	प्रभावामिचो	प्रभावमिचो
४४९	११	वाहराणाम्	वातहराणाम्
४५२	२-३	दोषारोधेन	दोषानुरोधेन
४५४	१	कफवाताघ्नी	कफवातघ्नी
४५६	५	भवन्ति	भवन्ति
४५९	२	अपानदेशः	अपानदेशः
४६२	१३	रसविक्षेपण	रसविक्षेपण
४६३	२	कर्माणाख्यातानि	कर्माण्याख्यातानि
४६८	६	प्रभावकर्म्	प्रभाववर्णकरम्
४६८	८	स्निग्धत्वा	स्निग्धत्वा
४७०	८	तिद्रता	निद्रता
४७२	३	समवातः	समवातः
४७३	१	दोषामिवृद्धिः	दोषामिवृद्धिः
४८०	५	पृष्ठमन्याश्रिता	पृष्ठमन्याश्रिता
४८१	१०	सुश्रुतसंहितायाम्	सुश्रुतसंहितायाम्
४८१	१०	शीतावमासता	शीतत्वानुभूतिः
४८४	११	समवृद्धानाम्	समवृद्धानाम्
४८५	१६	स्वस्थलक्षणस्वरूपाश्च	स्वस्थलक्षणस्वरूपाश्च
४८६	९	क्रमात्	क्रमात्
४८७	६	पृथग्दोषवैषम्य	पृथग्दोषवैषम्य
४८७	९	तद्विपरीताश्च	तद्विपरीताश्च
४८८	६	पित्तप्रकोपः	पित्तप्रकोपः

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४९२	९	व्याधयश्च	व्याधयश्च
४९३	६	दुत्तरार्धेऽस्मिन्	दुत्तरार्धेऽस्मिन्

तन्त्रान्तरीयवाक्यसंग्रहे—

१	२	आकारादि	अकारादि
४	२६	श्रययुचिकित्सिते	श्रययुचिकित्सिते
५	४	वृद्धीः	वृद्धीः
६	६	वाया	वायौ
६	२०	पिडका	पिडिका
८	८	चिकित्सेऽत्यभिधीयते	चिकित्सेत्यभिधीयते
९	२	तच्च	तत्र
१०	१५	शेषणाम्	शेषाणाम्
१२	१	अ. २१ अनु. १४	अ. ११ अनु. ३४
१४	५	तच्च सप्तधा	तच्च सप्तधा
१६	१६	ब्रह्मचाव्यक्त	ब्रह्मचाव्यक्त
१७	१६	प्रकोपणविशेषाः पूर्यविशेषाश्च	प्रकोपणविशेषाः पूर्यविशेषाश्च
१८	६	विसर्प	विसर्प
३१	२२	धातुसंज्ञितः	धातुसंज्ञिताः
३१	२६	क्षिप्यमाणः	क्षिप्यमाणः



R43.1,PRA-M



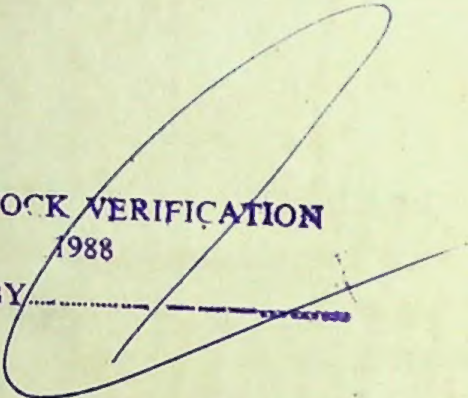

37519

RECEIVED BY THE OFFICE OF THE

SECRETARY OF THE ARMY

1904

SAMPLE STOCK VERIFICATION
1988

VERIFIED BY  

ARCHIVES DATA BASE
2011-12

103

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

